



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



श्रीहरि:

‘कल्याण’के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१—कल्याणका ‘सदाचार-अङ्क’ पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंकी पाठ्यसामग्री है। सूची आदिके ८ पृष्ठ अतिरिक्त हैं। यथास्थान कई बहुरंगे चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन सज्जनोंके रूपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क जानेके बाद ही शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनीआर्डर कार्ड तुरंत लिखकर भेज दें, जिससे वी० पी० भेजकर ‘कल्याण’ को व्यर्थ हानि न उठानी पड़े।

३—मनीआर्डर-कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या स्पष्टस्तरसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या सरण न रहनेकी विधिमें ‘पुराना ग्राहक’ लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो ‘नया ग्राहक’ लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर ‘व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय’के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—ग्राहक-संख्या या ‘पुराना ग्राहक’ न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा। इससे आपकी सेवामें ‘सदाचार-अङ्क’ नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे उसकी वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रूपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी विधिमें आपसे प्रार्थना है कि आप पी० वी० लौटायें नहीं, कृपापूर्वक प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी भी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका ‘कल्याण’ व्यर्थ डाक-व्यवहारकी हानिसे बचेगा और आप ‘कल्याण’के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—‘सदाचार-अङ्क’ सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग शीघ्रातिशीघ्र भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सभी ग्राहकोंको भेजनेमें लगभग ४-५ सप्ताह तो लग ही सकते हैं। ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहक हमें क्षमा करेंगे। उससे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी प्रार्थना है।

६—आपके ‘विशेषाङ्क’के लिफाफे (या रैपर)पर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये और उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

७—‘कल्याण-व्यवस्था-विभाग’ तथा ‘व्यवस्थापक गीताप्रेस’के नाम अलग-अलग पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, वीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल ‘गोरखपुर’ ही न लिखकर ‘पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)’—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८—‘कल्याण-सम्पादन-विभाग’, ‘साधक-सङ्घ’ तथा ‘नाम-जप-विभाग’को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)—इस प्रकार पूरा पता लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०



श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ-रज्जु हैं। दोनों ही एसे प्रासादिक एवं आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-गठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण कर सकता है। इनके खाध्यायमें वर्ण, आथर्व, जाति, अवस्था आदिकी कोई वाश्व नहीं है। आजके नाना भयसे आक्रान्त, भोग-तमसाच्छब्द समयमें तो इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है, अतः धर्मप्राण जनताको इन मङ्गलमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुदेश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंको—जिनकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है—श्रीगीताके छः प्रकारके, श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके एवं उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टेश्वके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणीमें यथाक्रम रखा गया है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सन्त्रेणण दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होवें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)।

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये सदाचार, सत्यता, सरलता, निष्कपटता, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, छेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्य-मात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३० वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-घरनोंको ४५ दैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। सभी कल्याणवामी झीं-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये। संघसे सम्बन्धित सब प्रकारका पत्रव्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये।

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण' सम्पादकीय-विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर (उ० प्र०)।

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवन-ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारसे लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी इष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रवन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें वैठनेवाले लगभग वीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)।

‘सदाचार-अङ्क’ की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१—सदाचारगूर्ति भगवान् आगगेश विश्वका कल्याण करे [पण्डितराज जगन्नाथ] ...	१	२८—स्वामी श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज)	२८
२—सदाचारन्प मङ्गलमय भगवान्का शुभस्वतन [संकलित] ...	२	१७—व्यवहारमें पालनीय सटाचरण [संकलित] ..	३२
३—वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णयक (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी-आरदापीठाधीश्वर जगदुरुगंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनव-विद्वातीर्थजी महाराजका आशीर्वाद) ..	३	१८—सदाचार—धर्मव्यवस्थाका अन्यतमं अङ्क (महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वती)	३३
४—सदाचारका प्रागम्भिक सोपान (अनन्तश्रीविभूषित जगदुरुगंकराचार्य पश्चिमाम्नाय श्रीद्राकाशारदापीठाधीश्वर श्रीअभिनव-सच्चिदानन्दतीर्थ स्वामीजी महाराजका शुभाशीर्वाद) ..	४	१९—सदाचार एव ज्ञालका स्वरूप, परिभाषा एव-महत्व (प० श्रीतारिणीशजी जा, व्याकरण वेदान्ताचार्य) ..	३४
५—सदाचारसे भगवत्प्राप्ति [मानव-जीवनका उद्देश्य] (अनन्तश्रीविभूषित जगदुरुगंकराचार्य पूर्वाम्नाय गोवर्धनपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरङ्गनदेवतीर्थजी महाराजका आशीर्वाद) ..	५	२०—सदाचारके लिये क्या सीखे ? [संकलित] ..	३५
६—विश्वके अभ्युदयका मूल स्रोत—सदाचार (अनन्तश्रीविभूषित जगदुरुगंकराचार्य ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीमुमेशपीठाधीश्वर स्वामी श्रीगंकरानन्द सरस्वतीजी महाराजका प्रसाद) ..	६	२१—वैदिक सदाचार (श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवघर्मा, विद्यार्थी, एम० ए०, एल्-एल० बी०, पी-एच० डी०) ..	३६
७—दैनिक सदाचार (अनन्तश्रीविभूषित जगदुरुगंकराचार्य तमिळनाडु-क्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर स्वामी श्रीचन्द्रशेखररेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका आशीर्वाद) ..	७	२२—गीतोक्त सदाचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीराम-नुगदासजी महागज) ..	४१
८—सदाचारके वाधक वाहर दोष [संकलित] ..	८	२३—सदाचारकी आधार-गिला (गोरक्षपीठाधिपति श्रद्धेय महन्त श्रीअवेदनाशजी महाराज) ..	४६
९—धर्म और सदाचार (अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ..	९	२४—अङ्कुत सदाचरण—सहज-आहिता (पारसमणि)	४७
१०—दीन-आत्मके सेवा-सदाचारसे पृथ्वीभाव[संकलित]	१०	२५—सदाचारके सूत्र (पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज) [प्रेषक—श्रीवटस्त्रीहीन राणपुरी] ..	४८
११—अनाचारकी हैत्या और सदाचारकी उपादेयता (ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयनदका) ..	११	२६—सदाचार—मानवका सहज धर्म (स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज) ..	४९
१२—गृहस्थोंका सदाचार [संकलित] ..	१२	२७—सदाचारमयी जान-दृष्टि [संकलित] ..	५१
१३—स्वयम और सदाचारसे मानवका कल्याण (नित्यलोलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोदार) ..	१३	२८—आचार, विचार और संस्कार (श्रीवज्रगवलीजी ब्रह्मचारी) ..	५२
१४—सदाचारके लक्षण और परिभाषा (श्रीवैष्णवपीठाधीश्वर आचार्य श्रीविट्टलेशजी महाराज) ..	१४	२९—सदाचार-विचेच्छन (डॉ० श्रीविद्याधरजी धसाना, एम०ए०, एम०ओ०एल०, पी-एच०डी०) ..	५४
१५—सदाचार-जननी भारत-संस्कृतिकी जय हो ! [कविता] (रचयिता—महाकवि श्रीवनमालिंदासजी शास्त्री) ..	१५	३०—इन्द्रियसंयम—मनका सदाचार [संकलित] ..	५६
१६—सदाचारके मूल तत्त्व (श्रीमद्रामानुजाचार्य	१६	३१—सदाचारका वास्तविक स्वरूप और उसका प्रतिदान (प० श्रीदीनानाथजी शर्मा, सारस्वत, विद्यावाचस्पति, विद्यावागीश, विद्यानिधि) ..	५७
Hinduism Discord Server https://dsc.gg/dharma MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi		३२—सदाचारका महत्व (याजिकसमाइ प० श्रीविणीरामजी शर्मा, गौड, वेदाचार्य) ..	६०
		३३—सदाचारका स्वरूप-तत्त्व (श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्यव्याकरण-संस्कृति-तीर्थ) ..	६२
		३४—दुराचारका कुफल [संकलित] ..	६३
		३५—सदाचारका स्वरूप और महत्व (डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०) ..	६४
		३६—सदाचारके मौलिक सूत्र (आचार्य श्रीतुल्सीजी)	६७

३७—संयम—सर्वजयी (तैलङ्ग स्वामी)	...	६८	व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्राचार्य)	...	११३
३८—सदाचारके मौलिक तत्त्व (आचार्य श्रीरेवानन्द- जी गौड़)	...	६९	५९—महाभारतमें सदाचार-विवेचन (श्रीगिरिधरजी योगेश्वर, एम्० ए०)	...	११८
३९—सदाचारकी महिमा (पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी मिश्र, वी० ए०, वी० एल्०, वी० एड्०)	७१	६०—श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचारका सिद्धान्त (श्रीमत्यरमहं सपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय व्रहनिष्ठ श्री १०८ स्वामी ईश्वरानन्दगिरिजी महाराज, वेदान्तमार्तण्ड, आयुर्वेदाचार्य, महामण्डलेश्वर)	१२२		
४०—सदाचार-मीमांसा (पं० श्रीरामकृष्णजी द्विवेदी, 'वेदान्ती')	७३	६१—महात्मा विदुरकी सदाचार-शिक्षा (श्रीगिरिधर- चरणजी अग्रवाल, अवकाशग्रात न्यायाधीश)	१२३		
४१—सदाचारः परो धर्मः (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिवदरी)	७६	६२—श्रीमद्भगवत्तमं वर्णित साधु-संतोंका शील- सदाचार (प्रो० पं० श्रीमैरवदत्तजी उपाध्याय)	१२४		
४२—संतका सदाचार [कविता] (श्रीभाईजी)	७९	६३—उपपुराणोंमें सदाचारकी अवधारणा (डॉ० श्रीसिंघारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम्० ए०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)	१२८		
४३—सदाचारकी गरिमा (साधुवेषमें एक पथिक)	८०	६४—असहाय प्राणियोंकी रक्षा सदाचरणीय [संकलित]	१३४		
४४—वेदोक्त सदाचार (आचार्य श्रीउमाकान्तजी 'कपिष्वज', एम्० ए०, काव्यरत्न)	८१	६५—श्रीमद्देवीभागवतमें सदाचार (महामहोपाध्याय आचार्य हरिश्चकर वेणीरामजी शास्त्री, कर्मकाण्ड- विगारद, विद्याभूषण, सस्कृतरत्न, विद्यालंकार)	१३५		
४५—वेदोंमें सदाचार (स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह)	८४	६६—सदाचारी कौन ? [संकलित]	१३७		
४६—अथर्ववेदमें सदाचार (डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)	८६	६७—श्रीमद्भगवत्तमें सदाचार-वैशिष्ठ्य (श्रीरतन- लालजी गुप्त)	१३८		
४७—उपनिषदोंमें सदाचार (श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, शास्त्री, एम्० ओ० एल्०)	८८	६८—सेवक-सेव्यका कृतज्ञता-भाव	१४२		
४८—सत्कम्पर भी गर्व नहीं—साधुताकी कसौटी	९२	६९—आगम-ग्रन्थोंमें सदाचार (डॉ० श्रीकृष्णारंकर- जी शुक्ल, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	१४३		
४९—उपनिषदोंमें सदाचार-सूत्र (श्रीअनिस्तुद्वाचार्य देंकटाचार्यजी महाराज, तर्कशिरोमणि)	९३	७०—सदाचारी जीवनका सुफल [संकलित]	१४४		
५०—सदाचारकी रक्षा सदा करनी चाहिये [संकलित]	९३	७१—वैदिक गृहसूत्रोंमें संस्कारीय सदाचार (डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच० डी०)	१४५		
५१—न्राज्ञ एवं आरण्यक-ग्रन्थ और सदाचार (साहित्यरत्न पं० श्रीगुरुरामायारेजी अग्नि- होत्री, एम्० ए०)	९४	७२—वैधायन-सूत्रोंमें सदाचार-निरूपण (श्रीसुवाराय गणेशजी भट्ट)	१४७		
५२—ऐतरेयब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा (डॉ० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आ॑, एम्० ए०, एल्० एल्० वी०, साहित्यरत्न, आर० एम्० पी०)	९६	७३—दैनिक सदाचार [संकलित]	१४८		
५३—श्रुति-स्मृति-गुरुणोंमें सदाचार-दृष्टि (डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच० डी० (द्वय), डी० लिट्०)	९८	७४—आयुर्वेदीय सदाचार (डॉ० श्रीरविद्तत्तजी त्रिपाठी, वी० ए०, एम्० एस०, डी० ए० वाई० एम्०, पी-एच० डी०)	१४९		
५४—मनुस्मृतिका सदाचार-दर्शन (श्रीअनूपकुमार- जी, एम्० ए०)	१०१	७५—सदाचारके सात पुष्प [संकलित]	१५०		
५५—मनुस्मृतिप्रतिपादित सदाचार (आचार्य प० श्रीविश्वभरजी द्विवेदी)	१०३	७६—आयुर्वेदमें सदूचृत या सदाचार (डॉ० श्रीशिव- शंकरजी अवस्थी, शास्त्री, एम्० ए०, पी- एच० डी०)	१५१		
५६—श्रीराम-कथामें सदाचार-दर्शन (श्रीविन्देश्वरी प्रसाद सिंहजी, एम्० ए०)	१०७	७७—प्राचीन भारतमें सत्य, परोपकार एवं सदाचार- की महिमा (प्रो० पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०)	१५४		
५७—आर्य-नारीकी आदर्श सदाचार-निष्ठा (वाल्मीकीय रामायण) ['संकलित']	११२	७८—आचारके प्राचीन नियम (पं० श्रीवल्लभ-			
५८—वाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामके सदाचारसे शिक्षा (पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी,					

रामजी शर्मा, खाण्डल्य)	१६०
७९—शुभाचार ही सदाचार [संकलित]	१६२
८०—भारतीय धर्म और सदाचारकी विश्वको देन (पं० श्रीगोपालप्रसादजी दुवे, एम० ए०, साहित्यरत्न)	१६३
८१—शिवोपासना और सदाचार (श्रीहीरचिंहजी राजपुरोहित)	१६५
८२—विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण (राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)	...	१६६	
८३—मध्यगौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें सदाचार (डॉ० श्रीअवधिविहारीलालजी कपूर, एम० ए०, डी० फिल०)	१७१
८४—श्री-(रामानुज-) सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त (अनन्तश्री जगदुरु रामानुजाचार्य वैदान्त- मार्तण्ड श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डीस्वामीजी महाराज)	१७७
८५—आचरणरहित शास्त्रज्ञान—शिल्पमात्र [संकलित]	१७९
८६—श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचार (अनन्त- श्रीविभूषित जगदुरु श्रीनिम्बार्काचार्य 'भीजी' श्रीराधार्मवेदवक्षरशरणदेवाचार्यजी महाराज)	...	१८०	
८७—सदाचारसतक [कविता] (श्रीभवदेवजी ज्ञा, एम० ए०, गांधी)	१८१
८८—चल्लम-सम्प्रदायमें सदाचार (पं० श्री- धर्मनारायणजी ओझा)	१८२
८९—श्रीरामानन्दसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त (पं० श्रीअवधिकिशोरदासजी वैष्णव, 'प्रेमनिधि')	१८४
९०—वैखानस-स्त्रमें वर्णश्रम-धर्मरूप सदाचार (चल्लपल्लि भास्कर श्रीरामकृष्णमायार्युल्लु, एम० ए०, वी० एड०)	...	१८६	
९१—भारतीय संस्कृति और सदाचार (पं० श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम० ए०)	...	१८९	
९२—रामराज्य और सदाचार (श्रीशंकरदयालजी मिश्र, एम० काम०, विद्यावाचस्पति)	...	१९१	
९३—वाणीका सदाचार [संकलित]	...	१९३	
९४—मानसमें श्रीरामका सदाचार (मानसरत्न डॉ० श्रीनाथजी मिश्र)	...	१९४	
९५—सदाचार-यज्ञ (पण्डित श्रीलक्ष्मणजी शास्त्री)	१९६		
९६—सांख्य-योगीय सदाचार (डॉ० श्रीगङ्गाधरकेशव 'गुर्जर' एम० ए०, 'आनन्द')	...	१९९	
९७—सदाचारके दो पहल—यम और नियम (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशादत्तजी शर्मा, इन्द्र, डी० लिट०)	...	२०२	
९८—सदाचारारी पुस्तक क्या करे ! [संकलित]	...	२०३	
९९—मानसिक सदाचार (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	२०४		
१००—सदाचारका स्वरूप-चिन्तन (श्री कौ० अवतार शर्मा)	...	२०६	
१०१—सदाचारकी श्रेष्ठता और फल (श्रीओरीसन स्वेटमार्डन)	...	२०८	
१०२—सदाचारकी आवश्यकता (श्रीगुलावसिंह 'तागर' एम० ए०, एल० टी०)	...	२०९	
१०३—सदाचारकी मान्यता (श्रीवेदप्रकाशजी द्विवेदी, 'प्रकाश', एम० ए०, साहित्यरत्न)	...	२११	
१०४—आचार परम धर्म है (श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम० ए०, वी० एल०, सम्पादक 'ट्रूथ')	...	२१३	
१०५—अचिन्त्य भेदाभेद-मतमें सदाचार (प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)	...	२१७	
१०६—वैष्णव-सदाचार (श्रीगुरुराजकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)	...	२१९	
१०७—बीरशैव-मतमें पञ्चाचार और सदाचार (जगदुरु श्रीअनन्दानीश्वर महास्वामीजी महाराज)	...	२२०	
१०८—सदाचारके साक्षी भगवान् (संत वसवेश्वर)	...	२२२	
१०९—नाथ-सम्प्रदाय और सदाचार (श्रीशिं० भ० देवमुख)	...	२२३	
११०—वौद्ध-सदाचार (डॉ० श्रीमाहेश्वरीसिंहजी महेश, एम० ए०, पी-एच० डी०)	...	२२४	
१११—सहनशीलता (जातकमाला)	...	२२६	
११२—धर्मपदमें प्रतिपादित सदाचार-पद्धति (डॉ० श्रीनाथ्यूलालजी पाठक)	...	२२७	
११३—जैन-धर्मग्रन्थोंमें सदाचार (जैनसाध्वी श्रीनिमलजी, एम० ए०, साहित्यरत्न, भाषारत्न)	...	२३०	
११४—सदाचार-संजीवनी (ब्रह्मलीन श्रीमग्नलल हरिभाईजी 'व्यास')	...	२३३	
११५—संत कवीरका सदाचारोपदेश (श्रीअभिलापदासजी)	...	२३४	
११६—'विनय-पत्रिका'—सदाचारकी संहिता (प्रो०			

श्रीरामकृष्णजी शर्मा)	२३८	१४३—महापुरुषोंके अपमानसे पतन...	२७५
२१७—सदाचारके आठ गत्रु-मित्र [कविता] (स्वामी श्रीभोलेवावाजी)	२४१	१४४—सदाचारके कतियाय प्रसद्द (डॉ० श्रीमोतीलाल-जी हुस, एम० प०, पी-एच० डी०, डी० निट०)	...	२७६
११८—रामस्तेही राध (सदाचारी) का लक्षण और सङ्ग (श्रीहरिनागयगजी महाराज, शास्त्री, रामस्तेही-सम्प्रदायाचार्यपीठाधिपति, रामधाम)	२४२	१४५—श्रृंगियोंका अन्यतम मटाचार—अपग्रिद (श्रीवसन्तशेषगिरावजी कुलकर्णी)	...	२८०
११९—समर्थ-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त (डॉ० श्रीकेशव विष्णु मुले)	२४३	१४६—सदाचारके प्रतिष्ठापक—भूषिं-महर्पि— (१) सनकादि कुमार	२८८
१२०—आर्यसमाजसे सदाचार (कविराज श्रीश्रावजूरामजी शर्मा, शास्त्री, विद्यावाचस्पति)	२४५	(२) ब्रह्मर्पि वसिष्ठका ऋमा-प्रसङ्ग	२८९
१२१—सिख-धर्म और सदाचार (प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम० ए०)	२४८	(३) महर्पि गौतम	२८५
१२२—पारसीधर्ममें सदाचार (श्रीमती खुरशेदबानू जाल)	२४९	(४) महर्पि वान्मीकि और सदाचार (श्रीहरिगमनाशंजी)	२८६
१२३—दानशीलता (महात्मा जरथुम्ब्र)	२५१	(५) भगवान् वेदव्यास	२८७
१२४—महात्मा ईसा और उनकी सदाचार-शिक्षा	२५२	(६) महात्मा विदुर और उनका सुदाचार-पदेश (न्वामी श्रीदीगमनन्दजी)	२९१
१२५—सेवा और परोपकार (महात्मा ईसा)	२५३	(७) परमज्ञानी श्रीशुक्देवजीकी सत्सङ्घनिष्ठा २९३	...	२९५
१२६—इस्लाम-धर्ममें सदाचार (प्रेयक—श्रीवद्वहीन राणपुरी दादा)	२५४	(८) महर्पि पतञ्जलि	२९६
१२७—संयम सदाचारका वल	२५५	१४७—शुभानार [गंकलित]	२९६
१२८—संतोका सदाचरण [कविता] (श्रीनारायण स्वामी)	२५६	१४८—सदाचार—अतुल महिमान्वित (श्रीअश्विनी-कुमारजी श्रीवास्तव 'अनल')	...	२९७
१२९—सदाचार ही जीवन है (श्रीरामदासजी महाराज शास्त्री, महामण्डलेश्वर)	२५७	१४९—सदाचारसे परम लक्ष्यकी प्राप्ति (श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य, साहित्यभूषण)	...	२९९
१३०—अहिंसाका प्रभाव	२५८	१५०—सदाचारसे अन्तोत्थान (प० श्रीवारूरामजी द्विवेदी, एम० ए०, वी० एड०, साहित्यरत्न)	...	३०२
१३१—सदाचार—व्रत, तत्र और सर्वत्र (श्रीहर्षदराय प्राणगकरजी वधेका)	२५९	१५१—सदाचार अर्थात् जीवनका धर्ममें प्रवेश (श्रीगमन्मुखजी मन्त्री)	३०४
१३२—संतकी सरलता	२६१	१५२—धार्मिकता सदाचारद्वारा प्रकट होती है (डॉ० श्रीगमन्नराजजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०)	..	३०७
१३३—आचार परमावश्यक (डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य)	२६२	१५३—जीवनका अमृत—सदाचार (कलाकार श्रीकमलाभाकरसिंहजी)	३०८
१३४—चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये	२६३	१५४—किसीके कट्टकी उपेक्षा उचित नहीं	३११
१३५—प्रजा-पालनका सदाचार	२६४	१५५—सदाचार मानव-मनकी महानुभावता है (प० श्रीजगदीशजी पाण्डेय, वी० ए०, वी० एड०)	...	३१२
१३६—सत्-तत्व और सदाचार (प० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)	२६५	१५६—सतका वन्यवाद ! (पारसमणि)	३१२
१३७—आचार-धर्म (प० श्रीगदाधरजी पाठक)	२६७	१५७—कर्णकी दानशीलता	३१३
१३८—ईश्वरीय पश्चका सदाचार (आचार्य गंकर)	२६८	१५८—सदाचारकी महिमा [कविता] (रचयिता—श्रीमदनजी साहित्यभूषण, विश्वारद, शास्त्री, साहित्यरत्न)	...	३१४
१३९—सदाचारका आधार सदिचार (श्रीशिवानन्दजी)	२६९	१५९—सदाचारके प्रश्न—	...	३१४
१४०—आर्थ-नारीकी सदाचार-निष्ठा	२७०	(१) भगवान् आद्यशक्तराचार्य	३१५
१४१—सदाचारका प्रगति व्रत (साध्वी श्रीकनक-प्रभाजी)	२७१	(२) स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य (श्रीक्रजकिशोर-प्रसादजी साही)	३१६
१४२—वन्य तीर्थस्थलीमें सदाचारकी एक झलक (दू० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय, शास्त्री)	२७२			

(३) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	... ३१८	१७७—भजनमार्गके वाधक (सत ज्ञानेश्वर)	... ३५९
(४) राष्ट्रगुरु श्रीसर्मर्थ स्वामी रामदासजी		१७८—सदाचारकी प्रेरणा-भूमि—सत्सङ्ग (श्रीमती	
(डॉ० श्रीकेशवचिक्षणुजी मुखे)	... ३२०	डॉ० धनवतीजी)	... ३६०
(५) संत पुर्दरदासके विचार [सदाचार— जीवन-मार्गके कण्ठक और निवारण]		१७९—स्वावलम्बन	... ३६१
(डॉ० ए० कमलनाथ 'पङ्कज' एम० ए०, पी-एच० डी०)	... ३२२	१८०—पुरुषार्थचतुष्प्रयका मूल सदाचार (अनन्त- श्रीविभूषित पूर्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)	... ३६२
(६) भगवान् महावीर और सदाचार (डाचार्य श्रीतुलसी)	... ३२४	१८१—सदाचार और पुरुषार्थ (श्रीरामनन्दप्रसाद- सिंहजी, एम० ए०, डिप० इन० एड०)	... ३६५
(७) सदाचारके अद्भुत प्रहरी स्वामी दयानन्द (डॉ० श्रीसुरेशब्रतजी राय, एम० ए०, डी० फिल०, एल०-एल० बी०)	... ३२६	१८२—सदाचारी वालक श्रव	... ३६७
१६०—सूक्तियोमे सदाचार (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	... ३२७	१८३—दयाकी प्रतिमूर्ति राजा रन्तिदेव	... ३६९
१६१—परोपकारके आदर्श—महर्षि धर्मीचि	... ३२८	१८४—सदाचारका आदर्श—सादा जीवन उच्च विचार	
१६२—सदाचार-पथ (श्रीपरमहस्यजी महाराज, श्रीरामकृष्णजी)	... ३२९	(डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित, एम० एस- सी०, पी-एच० डी०)	... ३७०
१६३—सुखी वननेके उपाय (रामकृष्ण परमहंस)	३२९	१८५—सदाचार और शिष्याचार (प० श्रीउमेशा- कुमारजी शर्मा, गौड़)	... ३७१
१६४—सदाचार-विवेचन (प० श्रीरामाधारजी दुवे)	३३०	१८६—परनिन्दा गर्हित-कर्म (चेस्टर फैलड)	... ३७२
१६५—सदाचार और उसका मनोवैज्ञानिक धरातल (प० श्रीरामनन्दजी दुवे, साहित्याचार्य)	३३७	१८७—पड़ोसीवर्म और सदाचार (प० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	... ३७४
१६६—सदाचार और मानसिक स्वास्थ्य (डॉ० श्रीमणिभाई भा० अमीन)	... ३४१	१८८—सदाचार-मूर्ति—श्रीहनुमानजी (साहित्य- वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव एम० ए०, एल० टी०, एल०-एल० बी०)	... ३७८
१६७—सुख-समृद्धि एवं आरोग्यका मूलधार— सदाचार (आचार्य श्रीबृजमोहनजी धर्मीच)	३४३	१८९—चारित्र्य और सदाचार (श्रीरामाश्रयप्रसाद सिंहजी)	... ३८०
१६८—प्रबोध [कविता] (श्रीसूरदासजी)	... ३४४	१९०—आधुनिक वेष-भूषा और विद्यासितासे चारित्रिक ह्रास	... ३८१
१६९—शास्त्रोका निष्कर्षर्थ—सदाचार (प० श्रीसूरजचंद्रजी 'सत्यप्रेमी' डॉगीजी)	... ३४५	१९१—सर्वथा सुखी एव सदाचारी वननेके लिये आचरणीय कर्तव्य (श्रीगान्तिचन्द्र जैन)	... ३८२
१७०—मनुष्य और पशु [संकलित]	... ३४६	१९२—चरित्र-निर्माणका प्रेरणा-स्रोत—'श्रीरामचरित- मानस' (प० श्रीरामप्रसादजी अवस्थी, एम० ए०, शास्त्री, 'मानस-व्यास')	... ३८३
१७१—सदाचार और स्सकार (कुमारी मञ्जुश्री, एम० ए०, साहित्यरत्न, रामायण-विज्ञारट)	... ३४७	१९३—सदाचार-सजीवन (महात्मा तिरुबल्लुवर)	... ३८४
१७२—सहिष्णुता और सदाचार (कु० निर्मल गुप्ता, प्राव्यापिका)	... ३५०	१९४—सदाचार (पूर्यपाद महात्मा ठाकुर श्रीश्री- सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)	... ३८५
१७३—सदाचार—भक्तिका एक महान् साधन (श्री के० बी० भातखण्डे, बी० ए०, बी० टी०)	३५३	१९५—साधुके लक्षण (संत दादूजी)	... ३९०
१७४—सदाचारका सर्वोत्तम स्वरूप—भगवद्भजन (श्रीराजेन्द्रकुमारजी धनव)	... ३५५	१९६—सदाचार और भक्ति (आचार्य डॉ० श्रीसुवा- लालजी उपाध्याय, 'शुकुरत्न', एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री)	... ३९१
१७५—असत्-मार्गका त्याग (दासबोध)	... ३५६	१९७—श्रीरामस्तेहि-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त (श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री, रामस्तेहि-	
१७६—सदाचार और भक्ति (आचार्य डॉ० श्रीसुवा- लालजी उपाध्याय, 'शुकुरत्न', एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री)	३५७		

सम्प्रदायाचार्य लेङ्पा)	३१३	(६) सन्यग्रनिष्ठ पिण्डार्थ वीथा	...	४०५
१९८—सदाचारन्याती (रामस्नेही-सम्प्रदायके उंत द्वामी श्रीरामचरणजी महागज)	३१४	२०२—गदात्मा भीमला मदानार घोंपदेश	...	४०८
१९९—हमारे राष्ट्रिय जीवनकी आधारगिला— सदाचार (प० श्रीभग्नन्दनजी मिश्र)	३१५	२०३—गदागज सुभिष्ठि हीक्षणे गदानार ही आःर्व शिक्षा (असर्वीन र्हीष्मन्दगदानारी भास्त्र ला)	...	४०९
२००—सदाचारका अनिवार्य पद—‘अनुशासन’ (प्र० श्रीदेवेन्द्रजी व्याप, एम० ए०, हिंदी, संस्कृत)	३१६	२०४—प्रयाणिनी मदानार (ए० श्रीम० राजमहारी गां, एम० ए०, ए० ए० ए०)	...	४११
२०१—सदाचारसेवी कुछ आदर्श शासक तथा राजनुरूप— (१) आत्मगानी मराराज अद्यपति	३१८	२०५—सदाचार और भगवान् (ए० श्रीम० राजमहारी शिराटी, एम० ए०, ए० ए० ए०)	...	४१३
(२) मुख्यवादी गजा द्विश्वन्द्र	३१९	२०६—दूसित अनन्दा प्रभार	...	४२४
(३) गो-नेत्रो-वनी महागज दिलीप	४०१	२०७—नुशीला नारीयी नियमी [कर्ता]	...	४२४
(४) सर्वस्व दानी मराराज रघु	४०२	२०८—नारी और मदानार (श्रीम० राजमहारी गां, एम० ए० (हिंदी, अंग्रेजी) ए० ए०)	...	४२५
(५) प्रेमप्रवण विदेहराज जनक	४०३	२०९—बदाचारका तुमरिज्ञाम	...	४२०
—	—	—	—	२१०—शुभार्थसा	...	४२१
—	—	—	—	२११—श्रमा-प्रार्थना और नम्र निर्देश	...	४२२

चित्र-सूची

(वहुरंगे)		
१—सदाचारके आदर्श	...	(आवरण-मुस्तकूष)
(१) गीतोक्त सदाचारके उपदेष्टा श्रीकृष्ण	...	
(२) विग्रहका श्रीरामको सदाचारोपदेश	...	
(३) प्रह्लादका सदाचारोपदेश	...	
(४) सदाचारी भ्रुवपर विष्णुकी कृषा	...	
(५) नर्जिं जनक और शुकदेवजीका सदाचार-विमर्श
२—सदाचारके मातृत्वप्रदाता भगवान् गगपति	...	?
३—आश्रमीय सदाचार	...	३५

- ४—सदाचारके परम आदर्श (श्रीराम, भगवान्, लक्ष्मण तथा श्रीलीलाजी)
- ५—आदर्श सदाचारके उद्देश—उन दृश्यमानको ३१८
- ६—सदाचारी भ्रुवर भगवान् विष्णुमा अनुग्रह ३६५
- ७—परम सदाचारी श्रीनुभान् ३७८
- ८—गुरुजियोंके सदाचारण ४२४
- ९—भोगेष्या—असदाचारण(दृश्य दुर्गचार) और वरिगत ४२८

(रेखाचित्र)

- १०—सदाचारीय अनुष्ठान तथा उसके भ्रुव भगवान् श्रीलीलाराम, लक्ष्मण
- ...
- (प्रथम आवरण-मुस्तकूष)

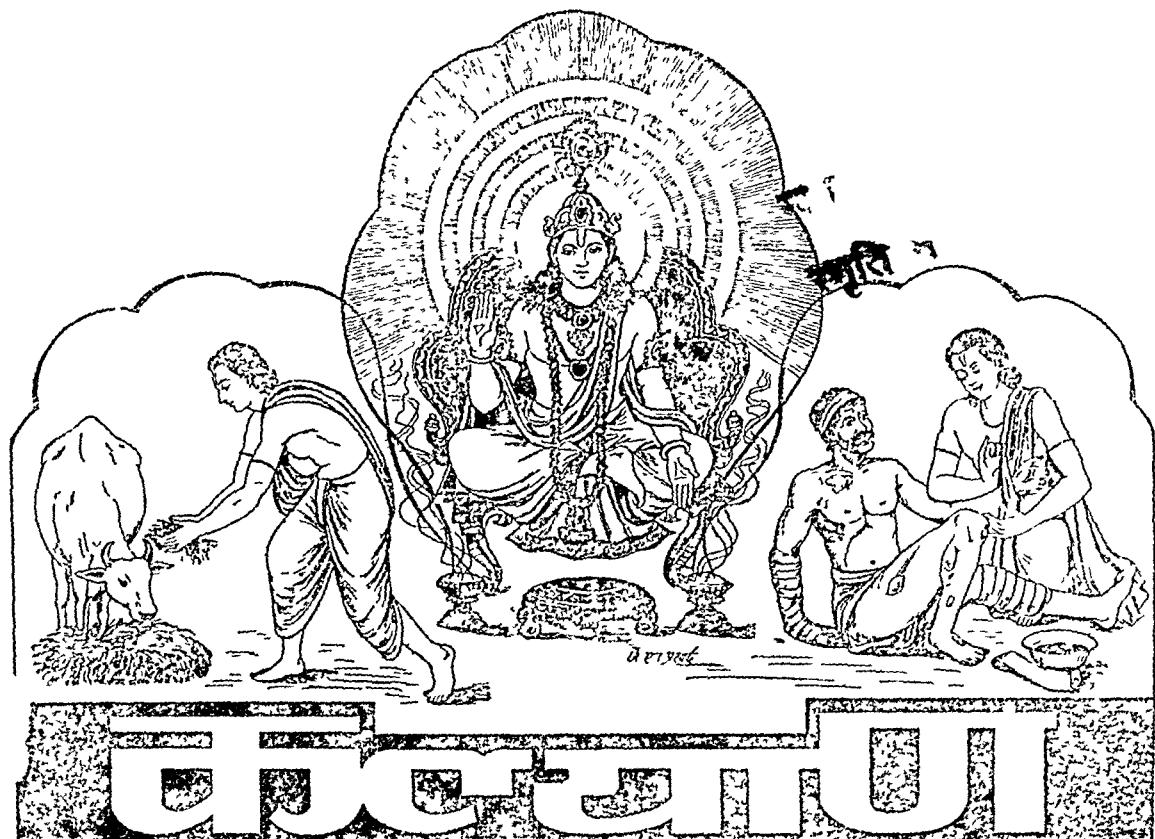


कल्याण



सदाचार के मांगल्य प्रदाता - भगवान् गणपति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावश्यते ॥



श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गपर्वगदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, जनवरी १९७८ } संख्या १
} पूर्ण संख्या ६१४

सदाचारमूर्ति भगवान् श्रीगणेश विश्वका कल्याण करें

कल्याणं वो विधत्तां करटमदधुनीलालकल्लोलमाला-
सोलद्रोलस्वकोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालान्तरालम् ।
प्रत्नं वेतण्डरत्नं सततपरिचलत्कर्णतालप्ररोहद्-
वाताङ्गुराजिहीर्पादरविवृतफणाम्बज्जभूपामुजङ्गम् ॥

(पण्डितराज जगन्नाथकृत महागणपति-स्तोत्र)

‘जिनके कर्ति-कपोलो (गण्डस्थलों) से निरन्तर (सात्त्विक) मदप्रवाहकी परम्परा (धारा) प्रस्तुति होती रहती है और जिनके चारों ओर मँडराते हुए भौरोके मधुर गुंजनसे दसों दिशाएँ मुखरित रहती हैं, जो अनादि-सिद्ध प्राचीन गजरत्न हैं, जिनके गजकणोंके सदा हिलते रहनेसे उत्पन्न वायुका उनके आमृणभूत सर्प किंचित् फण फैलाकर पान वरना चाहते हैं, वे मङ्गलमय, सदाचारमूर्ति श्रीगणेशजी आप सब लोगोंका सभी प्रकार कल्याण करें।’

सदाचाररूप मङ्गलमय भगवान् का शुभस्तवन

ॐ तत्पुरुषाय विद्वहे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्मो दन्ती प्रचोदयात् ॥

(तैत्तिरीयारण्यक १० । १ । २४)

‘हम उन प्रसिद्ध श्रेष्ठ परमपुरुष गणपति देवताका ध्यान करते हैं; वे हमें सदाचारकी ओर प्रेरित करें, सत्पथपर लगायें ।’

ॐ नारायणाय विद्वहे वासुदेवाय धीमहि । तन्मो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

(तैत्तिरीयारण्यक १० । १ । २५)

‘हम परमपुरुष नारायणका ध्यान करते हैं, वे भगवान् विष्णु हमारी बुद्धिको सदाचारकी ओर प्रेरित करें, हमें सन्मार्गपर चलायें ।’

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इपव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् । दोषध्री धेनुर्वेणानड्वानाशुः ससिः पुरञ्चिर्योपा जिष्णू रथेष्टाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओपधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (शृङ्खल्यजुः, वाजसनेयिं ० २२ । २२)

‘ब्रह्मन् ! यज्ञादि उत्तम कर्मशील हमारे इस राष्ट्र (भारत)मे ब्रह्मवर्चसी—तेजस्वी ब्राह्मण, लक्ष्यवेद्यक और महारथी तथा अख-शस्त्रमें निपुण क्षत्रिय उत्पन्न हो । गायें प्रभूत दूध देनेवाली और वैल वल्यान् (वोजा ढोने आदिमें क्षम), हृष्ट-पुष्ट तथा अश्व वेगवान् हो । सुन्दरी लियाँ नागरी (संस्कार-सदाचार-सम्पन्न बुद्धिमती) हो और युवक वीर, जयी, रथी तथा सभाके लिये उपयुक्त सभासद सिद्ध हों । हमारे राष्ट्रमें पर्जन्य (मेघ) प्रकाम वर्षा वरसायें और ओपवियाँ और फसलें) फलवती होकर पकें—अन्न और फल पर्याप्त सुलभ हो । हमारे योग-क्षेम चलते रहें—अप्राप्तकी उपलब्धि और उपलब्धकी रक्षा होती रहे ।’

कल्याणोद्धाससीमा कल्यतु कुशलं कालमेघाभिरामा
काचित् साकेतधामा भवगहनगतिकलान्तिहारिप्रिणामा ।
सौन्दर्यहीणकामा धृतजनकसुतासादरापाङ्गधामा
दिक्षु प्रख्यातभूमा दिविपदभिनुता देवता रामनामा ॥

(शार्ङ्गधरपद्धति)

‘परम कल्याण और उल्लासके मर्यादास्वरूप, श्यामल मेघके समान सुन्दर कान्तिवाले तथा साकेत—अयोध्यामें निवास करनेवाले, प्रणाममात्रसे संसारके कठिन क्लेशों (जन्म-मरणादि दुःखो)को दूर करनेवाले, अपने अनन्त सौन्दर्यसे कामदेवको लजित करनेवाले एवं जनकनन्दिनी भगवती सीताके नेत्रोंमें सदा निवास करनेवाले, देवताओंद्वारा अभिवन्दित एवं दसों दिशाओंमें प्रख्यात व्यतिवाले देवाधिदेव (परब्रह्म) भगवान् श्रीराम सदाचारपरायण समस्त विश्वका मङ्गल करें ।

वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक

[अनन्त श्रीविभूषित दक्षिणाम्नायशृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवविद्वातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद]

वेदोंमें ही आया है कि यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदोंमें पारंगत हो, पर यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करेंगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही परित्याग कर देते हैं, जैसे पक्षादि सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्ष-शावक अपने घोंसलेका त्याग कर देते हैं। प्राचीन ऋषियोंने अपनी स्मृतियोमें वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आप्रहूर्वक यह विधान किया है कि जो कोई इन नियमोंका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमोंके पालनसे अन्तमें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। परंतु व्यवहार-जगतमें इस बातका एक विरोध-सा दीख पड़ता है। जो लोग सदाचारी नहीं हैं, वे सुखी और समृद्ध दिखते हैं और जो सदाचारके नियमोंका तत्प्रताके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दुःखी और दरिद्र दिखते हैं। परंतु थोड़ा विचार करने और धर्मतत्त्वको अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिंदू-धर्म पुर्नजन्म और कर्मविपाकके सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग सदाचारका पालन न करते हुए भी जो सुखी-समृद्ध दीख पड़ते हैं, इसमें उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म कारण हैं और कुछ लोग जो दुःखी हैं, उसमें उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्ममें जो पाप या पुण्य कर्म वन पड़ेंगे, उनका फल उन्हें इसके बादके जन्मोंमें प्राप्त होगा। —

इस समयका कुछ ऐसा रखैया है कि बड़े-बड़े गम्भीर प्रश्नोंके निर्णय उन लोगोंके बहुमतसे किये-कराये जाते हैं, जिन्हे इन प्रश्नोंके विषयमें प्रायः कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। औरकी बात तो अलग, राजनीतिक जगदसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोमें भी यह पद्धति सही कसौटी-

पर खरी सिद्ध नहीं होती। फिर धर्म और आचारके विषयमें ऐसी पद्धतिसे काम लेनेका परिणाम तो सर्वथा विनाशकारी ही होगा। जो आत्मा चक्षु आदिसे अलक्षित और भौतिक शरीरसे सर्वथा भिन्न है, साथ ही अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयमें संदेह उठे तो उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लेनेसे कैसे हो सकेगा? ऐसी शङ्काका निराकरण तो वेदोंके द्वारा तथा उन सद्-ग्रन्थों एवं सद्युक्तियोंके द्वारा ही हो सकता है, जो वेदोंके आधारपर रचित हैं।

इसी प्रकार यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतके बलपर निर्णय कर दें कि अमुक वात धर्म है तो उतनेसे कोई बात धर्म नहीं हो जाती। सदाचार वह है, जिसका वेद-शास्त्रोंने विधान किया है, जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं। तथा जिनका जो लोग ऐसे सदाचारका आचरण करते हैं, उन्हें यह सदाचार सुख-सौभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है, जो वेद-विरुद्ध हैं तथा जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देते हैं। जो लोग ऐसे अनाचारमें रत रहते हैं, उनका भविष्य कभी अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययनको सम्पन्नकर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होनेको होते हैं, तब गुरु उन्हे यह उपदेश देते हैं—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा चृत्सविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणः समर्पितः युक्तां आयुक्ताः, अल्दक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तन्, तथा तत्र वर्त्तयाः। (तैत्तिरीयोपनिषद्, शीकावल्ली)

‘तुम्हें यदि अपने कर्मके विषयमें अथवा अपने आचरणके विषयमें कभी कोई शङ्का उठे तो वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हो, जो अनुभवी,

स्वतन्त्र, सौम्य, धर्मकाम हों, उनके जैसे आचार हों, तुम्हें उन्हीं आचारोंका पालन करना चाहिये ।'

यह बहुत ही अच्छा होगा, यदि वचोंको वचपनसे ही ऐसी बुरी आदते न लगने दी जायें, जैसे मिथीवी गोलियोंसे खेलना या ढाँतोंसे अपने नख काटना । विशेषतः बड़ोंके सामने बच्चे ऐसा कभी न करे । मनु (३ । ६३—६५) का कथन है कि ऐसे असदाचारी लोगोंके कुटुम्ब नष्ट हो जाते हैं । हमारे ऋषि संध्यावन्दन और सदाचारमय जीवनके कारण अमृतव-को प्राप्त हुए । इसी प्रकार हम लोग भी अपने जीवनमें

सदाचारका पालन करके मुख्यसमृद्धि और दीर्घजीवन लाभ कर सकते हैं । सदाचारके नियम मूल्यतः वेदोंमें हैं ।

अन्तमें यहाँ हमें हिंदूओंके, वैदिक और लोकिया—इस प्रकार जो भेद किये जाते हैं, उसके विषयमें भी दो शब्द कहने हैं । वह यह कि इस प्रकारका वर्गीकरण बहुत ही भद्दा और गव्य है । हिंदू-धर्ममें ऐसा कोई वर्गभेद नहीं है । सभी हिंदू वैदिक हैं और सबको ही सदाचारके उन नियमोंका पालन करना चाहिये, जो वर्ण और आश्रमके अनुसार मूल वेदग्रन्थोंमें विनित हैं ।

सदाचारका प्रारम्भिक सोपान

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीअंकरान्नार्थ पश्चिमाम्नाय श्रीदारकाशारदा पीठानीधर श्रीअग्निवम्पिदानन्दतीर्थ स्वामीजी महाराजका आशीर्वाद]

सर्वांगमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।

आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

‘जीवनमें आचारका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । अतएव ‘आचारः परमो धर्मः’ कहा गया है और ‘आचारहीनं न पुनर्न्ति वेदाः’ ‘यद्यप्यधीताः सह पड्भिरङ्गैः’ इः अङ्गोंके साथ चार वेदोंको पढ़ा हो, परंतु सदाचारी न हो, उस वेदपाठीको वेद भी पावन नहीं कर सकते हैं । ‘आचारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ चित्तकाग्रता, ततः साक्षात्कारः’ इस न्यायसे आध्यात्मिकादि सर्वशुद्धिके लिये सदाचार प्रथम सोपान है ।

खेद है, इधर कई सदियोंसे संस्कारहीनोंके आक्रमण, शासन, शिक्षा-प्रचार, सम्पर्क-विशेष आदिसे भारतमें दिनोदिन आचारका हास हो रहा है । कई संस्थाओंमें महात्माओंके उपदेश, प्रवचन आदि तो होते हैं, परंतु वे मात्र मोक्षकी शास्त्रिक वातोंके ऊपर ही बल देते हैं, प्रारम्भमें सदाचारके स्वरूप कर्मनुष्ठानकी तरफ अज्ञुलिनिर्देश भी नहीं करते । आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, सिनेमा, टेलीविजन आदिमें निमग्न जनताका सदाचारकी

ओर ध्यान भी नहीं जाता है । शीघ्रगामी यातायान-साधन, विविव देशवासियोंका वट्ठता हुआ सम्पर्क—इत्यादिसे भारतमें प्रायः जीवनके सभी श्रेणीमें महान् परिवर्तन या विकृति आ रही है । आचारके सम्बन्धमें भी वे ही वातें देखी जाती हैं । काई वातोंमें तो ‘अथर्वं धर्ममिति या मन्यते तत्साकृता’ गीता (१८।३२)के इस वचनानुसार कुछ लोगोंको सदाचारको दुराचार या मूर्खाचार मानते हुए भी देखा जाता है, यह कलिकी ही विडम्बना है और कुछ नहीं । आस्तिक लोगोंको तो ‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते’ ‘यः शास्त्रविधिमुत्सूज्य वर्तते कामकारनः ।’ (१६।२४) इन्यादि गीतोक्त श्रीभगवान् के ही वचनोंके अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये । यही श्रेयोमार्ग है । सदाचरण-तत्परता चारों वर्णोंकी विशिष्टशृंपत्से शारोक्त कर्मानुसार लागू होता है । प्रकृत विषयमें ‘सदाचरणतत्परः’ यह छोकांश अर्थार्थित है ।

कल्याणका “सदाचार-अङ्क” सबके लिये प्रेरणादायी तथा उपयोगी सिद्ध हो, यह हार्दिक शुभ कामना है ।

सदाचारसे भगवत्प्राप्ति

[मानव-जीवनका उद्देश्य]

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु गकराचार्य पूर्वम्नाय गोवर्धनपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजका आगीर्वाद]

जीवनमें शान्ति भगवत्प्राप्तिसे ही हो सकती है और यह होती है—निष्काम भावयुक्त सदाचारके अनुष्ठानके द्वारा चित्तकी शुद्धि, उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रता तथा ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर। श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार मनसे होता है। मनमें मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष हैं। पहला दोष मनकी 'मलिनता' (मल) है, जिसका कारण है—जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमें किये गये शुभाशुभ कर्मोंही वासना। मैले कपड़ेको साबुन या क्षारसे धोनेपर जैसे उसमें सच्छिता आती है, ठीक वैसे ही मनके मलिन संस्कारोंको धोनेके लिये निष्कामभावसे शास्त्रविहित सदाचार-सद्गमके अनुष्ठानकी आवश्यकता है।

मनका दूसरा दोष है—'विक्षेप' अर्थात् चित्तकी चञ्चलता। उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय है, शुभाचारयुक्त भगवान्‌की भक्ति—दूसरे शब्दोंमें श्रीभगवान्‌में शुद्ध प्रेम। प्रेम उसी अस्तुमे उत्पन्न होता है, जिसके रूप और गुणोंका ज्ञान हो। लौकिक पदार्थोंमें भी उनके रूप और गुणोंका ज्ञान होनेपर ही प्रेम उत्पन्न होता है, इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न करनेके लिये भगवान्‌के रूप और गुणोंका ज्ञान आवश्यक है और भगवद्रूप तथा गुणोंके ज्ञानका साधन है—इतिहास-पुराणहारा भगवान्‌के पवित्र चरित्रका श्रवण अथवा पठन। भगवान्‌के चरित्रका जितना ही अधिक श्रवण अथवा पठन होगा, उतना ही अधिक भगवान्‌में प्रेम बढ़ता चला जायगा। जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे ही भगवान्‌में मन भी लगने लगेगा। स्त्री-पुत्रादिमें भी प्रेम बढ़नेसे ही मन लगता

है और प्रेम बढ़ानेका उपाय—जिसमें प्रेम हो, उसके रूप और गुणोंका ज्ञान ही है। अतः रामायण-महाभारत आदि इतिहास तथा पुराणोंके श्रवण अथवा पठनके द्वारा भगवान्‌के रूप और गुणोंके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। भगवच्चरित्र ही भगवद्गति एवं सभी सदाचारोंकी जननी है—

जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल व्रत धरम नेम के ॥
(रामच० मानस १ । ३१ । २)

भगवच्चरित्र-श्रवणसे भक्ति और सदाचार दोनों बढ़ते हैं। सदाचार-हित भक्तिसे भी भगवान् प्रसन्न नहीं होते और भक्तिहीन सदाचार भी अकिञ्चित्कर है (नारदपुराण पूर्वभाग)। सदाचारपूर्ण भक्ति ही भगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन है।

इस तरह सदाचारके विना भगवद्गति भी नहीं हो सकती और भगवद्गतिके विना चित्तकी चञ्चलता नहीं मिटती। भक्ति और सदाचार—इन दोनों साधनोंसे चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्तके एकाग्र हो जानेपर शान्त मनमें विषयोंके प्रति उपराम हो जाता है। फिर सुख-दुःख, भूख-प्यास और सर्दी-गरमीके सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। क्रमशः गुरु और शास्त्रोंके वाक्योंमें श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होने लगते हैं, जिनसे चित्तका समाधान हो जानेपर मोक्षकी इच्छा होती है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप सदाचारके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर शाश्वत शान्तिर्णी प्राप्ति हो जाती है।

यही प्राणीके जीवनका मुख्य उद्देश्य है, जिसमें सदाचार सर्वत्र परम सहायक है।

विश्वके अभ्युदयका मूल स्रोत—सदाचार

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य उच्चाभ्याय श्रीकाशीमुमेश्वीठार्थीश्वर म्यामी श्रीअंकरानन्द सुग्रन्थनीजी महाराजका प्रसाद]

सदाचार व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके अभ्युदयका मूल स्रोत है। यदि समाजमें सदाचार अप्रतिष्ठित हो जाता है तो राष्ट्रमें कदाचार स्वभावतः वढ़ जाता है। सदाचार तथा कदाचार परस्परविरुद्ध हैं। सदाचारका परिणाम परस्परविश्वास, सौमनस्य, सुख एवं शान्ति है। कदाचारका परिणाम समाज या राष्ट्रमें सर्वत्र परस्पर अविश्वास, कलह, दैन्य तथा अशान्ति है। वर्तमानमें हमारा राष्ट्र शनैःशनैः कदाचार-रोगसे ग्रस्त होता जा रहा है। परिणाम भी सुस्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। अधिकतर धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ असदाचारसे ग्रस्त हैं, अतः राष्ट्रकी शान्ति भी उत्तरोत्तर भद्व होती जा रही है। कहींपर स्थिरता या मर्यादाका अस्तित्व नहीं रह गया है। सर्वत्र स्वार्थका नान-ताण्डव हो रहा है। इस अवसरपर 'गीताप्रेस' द्वारा 'सदाचार-अङ्ग'का प्रकाशन अत्यन्त सामर्यिक एवं समुचित है।

सदाचार शब्दका शाखसम्मत अर्थ—शाश्वोंके अनुसार सज्जनोंके आचारका नाम सदाचार है—'सतां सज्जनानामाचारः—सदाचारः।' अयत्वा सत् परमात्माके प्राप्त्यर्थ शाखसम्मत सज्जनोंके आचरणका नाम सदाचार है। दूसरे शब्दमें शाखसम्मत जिन आचरणोंके करनेपर आत्मा, मन-वाणी तथा शरीरको सुसंस्कृत कर सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्माकी उपलब्धिकी ओर उन्मुख कर असत्-रूप जगत्के राग-द्वैप-कलह आदि आसुरभावोंसे विमुक्त होकर प्राणी अभ्युदय तथा शान्तिमय वातावरणका निर्माण करता है—कर सकता है, वे कर्म, आचरण या व्यापार 'सदाचार' हैं।

विद्वेषरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने।
विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्वृद्धाः॥
(स्कन्दपुराण, काशीखं. अ० ३५, श्लोक २५)

शरजन्मा स्कन्द अगस्त्यजीसे कहने हैं—‘मुने ! असूया-राग-ट्रेपादि दोपोंसे विमुक्त संत एवं विद्वज्ञ जिन आचरणोंका अनुष्ठान करते हैं, पण्डितलोग उन आचरणोंको धर्ममूल एवं सदाचार मानते या समझते हैं।’ सदाचारके पालन न करनेसे मानव निन्दनीय, रोगी, दुःखी और अल्पायु हो जाता है—

दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चाभिमूर्येत सदाल्पायुः सुदुःखभाक्॥
(स्कन्दपुराण काशीखं. ३५। २८)

इस विषयपर पाश्वात्य विद्वान् जे० मिल्ट सेवर्न नामके विचार भी मननीय हैं। वे कहते हैं—

'That one may attain to the age of one hundred years or more is no visionary statement. According to physiological and natural laws the duration of human life should be atleast five times of the period, necessary to reach full growth. This is a prevailing law, which is fully exemplified in the brute creation. The horse grows five years and lives to about twenty-five or thirty, the dog two and a half and lives to about twelve or fourteen. The camel grows eight years and lives forty. A man grows about twenty or twenty five years, hence if accidents could be excluded, his normal duration of life should not be less than one hundred.'

(live to Hundred, Kalpaka)

‘मानव सौ वर्ष या उससे अधिक आयुतक जीवित रह सकता है, यह कोई काल्पनिक वर्णन नहीं है। शरीर-विज्ञान तथा प्राकृतिक नियमानुसार मानव-

शरीर-अवयवोंकी पूर्णता जितने वर्षोंमें होती है, उससे कम-से-कम पाँच गुनी आयु मानवकी होनी चाहिये। यह सिद्धान्त या नियम पशु-जगत्‌के निम्नलिखित उदाहरणोंसे प्रमाणित होता है—अश्व ५ वर्षोंतक बढ़कर पूर्णविवरसम्पन्न हो जाता है और वह लगभग २५ या ३० वर्षोंतक जीवित रहता है। कुत्ता २॥ वर्षोंतक बढ़ता है और लगभग १२ या १४ वर्षोंतक जीवित रहता है। ऊँट आठ वर्षोंतक बढ़ता है और लगभग ४० वर्षोंतक जीवित रहता है। इसी प्रकार मानव-शरीरकी अवयवपूर्णता २० या २५ वर्षोंतक होती है, अतः यदि दैवात् कोई विन्द या हुर्घटना उपस्थित न हो तो मानवकी आयु सौ वर्षसे कम न होनी चाहिये।

परंतु हम देखते हैं, कोई विरल पुण्यवान् भाग्यशाली ही सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। आदिराज मनु कहते हैं—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारचान् भवेत् ।
श्रद्धानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

* (४। १५२-५३)

‘सदाचार-पालन करनेसे आयु तथा कान्तिकी प्राप्ति होती है। सदाचारी इहलोक एवं परलोकमें कीर्तिको प्राप्त करता है। यदि कोई विशेष गुण न भी हो; परंतु असूयारहित भगवदीय विधानपर श्रद्धालु है, सदाचारी है तो ऐसा व्यक्ति शतवर्षजीवी होता है। वेदोंके अनभ्याससे, आचारोंकी शून्यतासे, आलस्य एवं अन्नदोषसे मृत्यु विप्रोंको मारनेकी इच्छुक होती है।’

‘धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुच्चमम्’, ‘शरीर-मायं खलु धर्मसाधनम्’ आदि सदुक्तियोंके आवापर

हम कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थप्राप्तिके लिये मनुष्यका स्वस्थ रहना अनिवार्य है। स्वास्थ्यका मूल हृदयकी पवित्रता है और हृदयकी पवित्रताके लिये जीवनमें सदाचार भी परमावश्यक है। अतएव मनु भगवान् कहते हैं—‘आचारः प्रथमो धर्मः’—सदाचार ही प्रथम धर्म है। महर्षि वसिष्ठके अनुसार साङ्ग वेदका अध्येता व्यक्ति भी यदि सदाचारहीन है तो उसे वेद पवित्र नहीं कर सकते। सदाचारहित व्यक्तिका वेद वैसे ही अन्तमें परित्याग कर देते हैं, जैसे पंख उग जानेपर पक्षी अपने घोंसलेका त्याग कर देते हैं। कपटी-मायावीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं कर सकते। किंतु दो अक्षर भी यदि सदाचारितासे अवैत हों तो उसे (अध्येताको) वे पवित्र करते हैं। अतः स्वाध्यायके साथ तदनुकूल आचरण परमावश्यक है।

सारांश यह कि सदाचारके बिना प्राणीका ऐहिक एवं पारलैकिक अभ्युदय सर्वथा अवरुद्ध रहता है। निःश्रेयस तो अनन्त कोश दूर है। जिस कर्म या व्यवहारसे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रमें राजस-तामस वृत्तियाँ समाप्त हों, भय, कलह, विद्वेष आदि न रहें, सज्जनों-द्वारा परिपालित वे सब कर्म या व्यापार सदाचार हैं। कुछ निम्नलिखित आचार तो अवश्य पालनीय हैं। प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रात्याग—स्नानोत्तर जप-संध्या आदि ईश्वराराधन, पवित्र भगवत्प्रसादग्रहण, सत्य-सम्भाषण, पर-क्षी-पर-द्रव्य-हिंसा-त्याग आदि। रात्रिमें भोजन प्रकाशमें करे। बिना मुख धोये जलपान न करे, शव्यापर या दूसरेके हाथसे जल न पिये। गुरु एवं माता-पिताकी आज्ञा माने। दुराचारियोंकी संगतिसे बचे और सत्पुरुष विद्वान्‌की यथायोग्य सेवा करे।

दैनिक सदाचार

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य तपिलनाडु-क्षेत्रस्थ काञ्जीकामकोटिवीटार्धाना खार्गी श्रीचन्द्रगंगारंग]
सरस्वतीजी महाराजका आशीर्वाद]

वेदादि शास्त्रोंमें दो प्रकारके धर्मोंका उपदेश किया गया है। उनमें एक है—प्रवृत्तिर्धर्म और दूसरा है निवृत्तिर्धर्म। निवृत्तिर्धर्म ज्ञानमार्गके लिये कहा गया है। प्रवृत्तिर्धर्म तो जीवन और संसारकी वातोंके विपर्यमें कहा गया है। जो संसारमें हैं, उनको ठीक तौरपर हरेक काम करनेके तरीके प्रवृत्तिर्धर्म वताता है। सबेरे साढ़े चार वजेके बाद ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर दोनों हाथोंको आँखोंसे लगाकर हाथोंको देखना चाहिये। वैसे देखते समय हुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वतीटेजीका ध्यान करना चाहिये। बादको शौच-कार्यके लिये अर्यात् मल-मूत्र-विसर्जनके लिये जाना चाहिये। उसके बाद दाँत साफ करके स्नान करना चाहिये। बादको कपड़े पहनकर भालमें विभूति या चन्दनतिलिक धारण करना चाहिये। उसके बाद संथा-जप, औपासन होम, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ, विष्णुमन्दिरमें जाकर दर्शन करना आदि कार्य करने चाहिये। हमारे घरपर जो अतिथि आते हैं, उनको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करना, तदनन्तर धर्मशाख, रामायण, महाभारत-जैसे इतिहासोंको पढ़ना आदि कार्य कर्तव्य हैं। फिर थोड़ी देर ध्यान

कर अगले दिनके कर्तव्योंके लिये भी तंयरी कर्ना चाहिये। शामको संथा-जप, औपासन अथवा अग्निहोत्र, शिवजीके मन्दिरमें जाकर शिवजीका दर्शन, रातको मिन भोजन, भगवचिन्तन अथवा शुभविचारोंमें साथ लेटकर सोना आदि कार्य ही मानवके लिये दैनंदिन कर्तव्योंकी तरह बरनेके कर्तव्य धर्मशास्त्रमें कहे गये हैं। इन वासीको बरनेके लिये अधिक-से-अधिक तम्भरता सी आवश्यकता है। यही सदाचारकी कामप्राप्त-परम्परा गी है।

आचार दो प्रकारका होता है। एक बाध्य और दूसरा आन्तर। बाध्य आचारके अन्तर्गत दाँत साफ करना, स्नान करना, साफ कपड़े पहनना आदि हैं। आन्तर आचारमें किसीको नुकसान पहुँचानेका ध्यान न रखना, किसीको कष न पहुँचाना, सत्य बोलना, हृदयमें श्रीगगवान्-का सदा ध्यान करना, खुशीके साथ रहना, सबके साथ सदृश्यवहार करना आदि आते हैं। इस तरहके बाध्य और आन्तराचार शुद्धिके साथ नित्य कर्मोंको अच्छी तरह करना चाहिये। यही मानवको मानसिक शुद्धताके साथ चित्त-शुद्धि उत्पन्न कर आत्मज्ञानकी प्राप्ति करता है। अतः प्रत्येक सदाचारयुक्त मानवको अपना-अपना नित्यकर्म अच्छी तरह पवित्रतासे सम्पन्न करना चाहिये।

सदाचारके बाधक बारह दोप

क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्साकृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोपा चर्ज्याः सदा छाददैते नरणाम् ॥
एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजपर्भ । लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुभ्यकः ॥
(महा० उ० प० अ० ४३ । १६ १७)

‘काम, क्रोध, लोभ, मोह, असंतोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोप सदा ही त्याग देने योग्य हैं। नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याध मृगोंको मारनेका अवसर देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोप मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण कर देते हैं।’

धर्म और सदाचार

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र—किं वहुना अखिल विश्वके धारण, पोगण, संघटन, सामझस्य एवं ऐकमत्यका सम्पादन करनेवाला एकमात्र पठार्थ है—धर्म। धर्मका सम्यग् ज्ञान अधिकारी व्यक्तिको अपौरुषेय वेद-वाक्यों एवं तदनुसारी आर्पधर्मग्रन्थोद्घारा सम्पन्न होता है। सभी परिस्थितियोंमें सभी प्राणी धर्मका शुद्ध ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। राजर्षि मनुका कहना है कि सज्जन विद्वानोद्घारा ही धर्मका सम्यग् ज्ञान एवं आचरण हो सकता है। जिन सज्जनोंका अन्तःकरण राग-द्वेषसे कलुषित है, वे परिस्थितिवशात् धर्मके यथार्थ स्वरूपका अतिक्रमण कर सकते हैं, अतः ऐसे सज्जन—जिनके अन्तःकरणमें कभी राग-द्वेषादिका प्रभाव नहीं पड़ता, वे ही सही मानेमें धर्मका तत्त्व समझ सकते हैं। किंतु उनका आचरण (कर्म) भी कभी-कभी किसी कारणसे धर्मका उल्लङ्घन कर सकता है, इसलिये ऐसे सज्जन विद्वान् जिनका हृदय राग-द्वेषसे कभी कलुषित नहीं होता, वे हृदयसे वेदादिसम्मत जिस कर्मको धर्म मानते हैं, वे ही असेली धर्म हैं। मनुका वचन इस प्रकार है—

**विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुश्वातो यो धर्मस्तं निवोधत ॥**
(मनु० २ । १)

इसके अनुसार उपर्युक्त सज्जनोंके आचरणको ही सदाचार कहा जाता है—‘आचारप्रभवो धर्मः’ (महाभारत अनु० पर्व १४९ । ३७)। यहाँ उसी सदाचार-धर्मका कुछ सामान्यतः दिग्दर्शन कराया जा रहा है। मीमांसककुलकमलदिवाकर कुमारिलमट्टके अनुसार वे धर्म या आचार भी वेदानुमोदित ही प्रशस्त होते हैं। सर्वत्र—सभी देशोंकी परम्परा भी प्रशस्त नहीं होती, किंतु जहाँ अनादिकालसे वर्णाश्रम, गुणधर्म आदि सभीका पालन होता

आ रहा है, उसी देशकी सदाचारकी परम्परा प्रशस्त मानी गयी है। इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं—

**तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥**

(मनु० २ । १८)

‘सरखती और हृषद्वती—इन देवनदियोंका अन्तराल (मध्यभाग) विशिष्ट देवताओंसे अविछित रहा, अतः यह देवनिर्मित देश ‘ब्रह्मवर्त’ कहा जाता है। यहाँ तथा आर्यवर्तमें उत्पन्न होनेवाले जनोंका अन्तःकरण पवित्र नदियोंके विशिष्ट जल पीनेके कारण अपने प्राचीन पितृ-पितामह, प्रपितामहाद्वारा अनुष्ठित आचारोंकी ओर ही उन्मुख होता है, अतः वर्णाश्रमवर्म तथा संकर-जातियोंका धर्म यहाँके सभी नियासियोंमें यथाकृत था। यहाँ उत्पन्न होनेपर भी जिन लोगोंका अन्तःकरण प्राचीन परम्पराप्राप्त धर्मकी ओर उन्मुख नहीं हुआ और वे लोग मनमानी नयी-नयी व्यवस्था करने लगे तो उनका भी आचार धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता; अतः परम्परा भी वही मान्य होगी, जो अनादि-अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंसे अनुमोदित, अनुप्राणित हो ।

मनुष्योंको सदा ही सदाचारका पालन और दुराचारका परित्याग करना चाहिये। आचारहीन दुराचारी प्राणीका न इस लोकमें कल्याण होता है, न परलोकमें। असदाचारी प्राणियोद्घारा अनुष्ठित यज्ञ, दान, तप—सभी व्यर्थ जाते हैं, कल्याणकारी नहीं होते। इधर सदाचारके पालनसे अपने शरीरादिमें भी वर्तमान अलक्षण दूर होते हैं, अपना फल नहीं देते। सदाचाररूप वृक्ष चारों पुरुषार्थोंका देनेवाला है। धर्म ही उसकी जड़, अर्थ उसकी शाखा, काम (भोग) उसका पुण्य और मोक्ष, उसका फल है—

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखाः
पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः ॥
 (वामनपुराण १३)

यहाँ इस सदाचारके खखपका कुछ वर्णन किया जाता है—सर्वप्रथम ब्राह्मसुहृत्में उठकर भगवान् शंकरद्वारा उपदिष्ट प्रभात-मङ्गलका स्मरण करना चाहिये । इसके द्वारा देवग्रहादि-स्मरणसे दिन मङ्गलमय बीतता है और दुःखप्नका फल शान्त हो जाता है । वह सुप्रभातस्तोत्र इस प्रकार है—

शङ्खा मुरारिक्षिपुरान्तकारी
 भानुः शशी भूमिसुतो दुधश्च ।
 गुरुः सशुक्रः सह भानुजेन
 कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
 सनकुमारः सनकः सनन्दनः
 सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ।
 सप्तखराः सप्त रसातलाश्च
 कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
 सप्तर्णवाः सप्तकुलाचलाश्च
 सप्तर्णयो द्वीपवराश्च सप्त ।
 भूरादिकृत्वा भुवनानि सप्त
 कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥

इस प्रकार इस परम पवित्र सुप्रभातके प्रातःकाल भक्तिपूर्वक उच्चारण करनेसे, स्मरण करनेसे दुःखप्नका अनिष्ट फल नष्ट होकर सुखप्नके फलरूपमें प्राप्त होता है । सुप्रभातका स्मरण कर पृथ्वीका स्पर्शपूर्वक प्रणाम करके शथ्या त्याग करना चाहिये । मन्त्र इस प्रकार है—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
 विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमख मे ॥

फिर शौचादि कर्म करना चाहिये । शौच जानेके बाद मिट्ठी और जलसे इन्द्रियोकी शुद्धि कर दन्तधावन करना चाहिये । तदनन्तर जिह्वा आदिकी मलिनता दूर कर त्सान करके संध्योपासन करना और सूर्यार्थ देना चाहिये । केवल जननाशौच और मरणाशौचमें ही वाह्यसंध्याका परित्याग निर्दिष्ट है । उसमें भी मानसिक

गायत्री-जप और सूर्यार्थ विहित है । किंतु अन्यत्र इन कार्योंका परित्याग कभी नहीं होता । ब्रह्मचर्य, गार्हस्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये चार आश्रम त्रायणोंके लिये ही विहित हैं । शत्रियके लिये संन्यास द्वोद्वारा तीन आश्रमोंका विचार है । वैश्यके लिये ब्रह्मनर्य और गार्हस्य—दो ही आश्रम विहित हैं तथा शूद्रके कल्याणके लिये केवल एक ही आश्रम गार्हस्य ही बहु गता है—

गार्हस्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं वयो मताः ।
 शत्रियस्यापि गदिता य आचारो छिजस्य हि ॥
 ब्रह्मचर्यं च गार्हस्यमाश्रमद्वितयं विशः ।
 गार्हस्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य श्वणदाचर ॥

(वामनपुराण १४ । ११६-१९)

प्रायः ये ही वाते वैद्यानस आदि धर्म-सूत्रों एवं सार्वत-सूत्रोंमें निर्दिष्ट हैं । सदाचारी व्यक्तियों अपने तर्णानुसार और आश्रमानुसार धर्मका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये । जो धर्मका परित्याग कर देना है, उसके ऊपर भगवान् भास्कर (सूर्य) कुपित हो जाते हैं । उनके कोपसे प्राणीके देहमें रोग बढ़ता है, कुलका विनाश प्रारम्भ हो जाता है और उस पुरुषका शरीर ढीला पड़ने लगता है—

स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणीह न हापयेत् ।

यो हापयति तस्यासौं परिकुप्यति भास्करः ॥

कुपितः कुलनाशाय देहरोगविवृद्धये ।
 भानुर्वै यतते तस्य नरस्य श्वणदाचर ॥

(वामनपुराण १४ । ११९-२०)

महाभारतके (आश्वमेविकपर्वके) अन्तमें धर्मकी ही जय होती है, अर्धमकी नहीं; सत्यकी विजय होती है, झूठकी नहीं । अमाकी जय होती है, क्रोककी नहीं, अतः सभीको—विशेषतया ब्राह्मणको सदा क्षमाशील रहना चाहिये—

धर्मो जयति नार्थमः सत्यं जयति नानृतम् ।

क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

सदाचारणके लिये क्षमाशीलताके साथ-साथ गो-भक्ति-परायणता, गो-सेवा तथा गो-मातापर दयाकी प्रबृत्ति भी अत्यन्त आवश्यक है । गौका महत्व सुनकर—उनमें भी

कपिलाका अत्यधिक महत्व जानकर महाराज युविष्टिरके प्रश्नके उत्तरमे भगवान् श्रीकृष्णने कहा था—‘कपिल गौ अग्निसे उत्पन्न हुई है। उसकी कान्ति अग्निज्वालाके समान होती है। लोभवशात् यदि कोई द्विजेतर कपिलाका उपयोग दूधके लिये करता है तो वह पतित हो जाता है और वह अत्यन्त नीचके समान है। ऐसे लोगोंसे जो ब्राह्मण दान लेता है, उसे भी उसी प्रकार दूर रखना चाहिये, जैसे महापापीको दूर रखा जाता है। कपिल गौके शृङ्गाम्रमें ब्रह्माजीकी आज्ञासे सभी तीर्थ प्रतिदिन निवास करते हैं। कपिल गौके शृङ्गका जल जो अपने सिरपर धारण करता है, उसके तीन वर्षोंतकके किये हुए पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्नि तृणको जलाकर नष्ट कर देती है—’

आदावेवाग्निमव्यात्मु मैत्रेयी ब्रह्मनिर्मिता ।
शृङ्गाम्रे कपिलायास्तु सर्वतीर्थानि पाण्डव ॥
ब्रह्मणो हि नियोगेन निवसन्ति दिने दिने ।
प्रातस्त्वत्याय यो मर्त्यः कपिलशृङ्गमस्तकात् ॥
न्युता आपस्तु शीर्पेण प्रयतो धारयेच्छुचिः ।
वर्षत्रयकृतं पापं प्रदहत्यग्निवत्तणम् ॥

(महाभा० आश्वमेधिकपर्व १०२)

प्रातःकाल कपिलाके मूलसे स्नान करनेसे तीस वर्षों-तकका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। उसे प्रातः एक मुट्ठी धास देनेसे तीस दिन-रातका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। भक्तिर्पूर्वक परिक्रमा करनेसे पृथ्वी-परिक्रमाका फल होता है। उसके पञ्चग्रन्थ (गोमय, गोमूत्र, दधि, दुध और घृतके मिश्रण) द्वारा स्नान करनेसे गङ्गादि सभी तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त होता है। कपिलाके शृङ्गाम्रमें विष्णु और इन्द्र, शृङ्गके मूलमें चन्द्र और इन्द्र, शृङ्गके मध्यमे ब्रह्मा, दोनों कानोंमें अश्विनीकुमार, दोनों नेत्रोंमें चन्द्रमा और सूर्य, दन्तोंमें मरुत्, जिह्वामें सरस्वती, निःश्वासमें छहों अङ्ग; पद और क्रमसहित वेद, नासामें गन्ध तथा सुगन्धित पुष्प, अधरोष्में वसु, मुखमें

अग्नि, कक्षमें साध्यदेवता, ग्रीवामें पार्वती, पृष्ठमें नक्षत्रगण, ककुद्में आकाश, अपानमें सभी तीर्थ, गोमूत्रमें गङ्गा, गोवरमें सुप्रसन्न लक्ष्मी, नासिकामें ज्येष्ठादेवी, श्रोणीस्थानमें पितर, लाङ्गूलमें रमादेवी, दोनों पाख्योंमें विश्वदेव, वक्षःस्थलमें परमप्रसन्न कुमार कार्तिकेय, जानु-जड्डा और ऊरमें प्राण-अपान आदि पाँच वायु, सुरोंमें गन्धर्व, सुराप्रमें सर्प और पशोधरमें चारों परिमूर्ण समुद्र निवास करते हैं। एक वर्षतक प्रतिदिन विना भोजन किये दूसरेकी गायको एक मुट्ठी धास देनेसे भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गो-सेवाकी महिमा अनन्त है।

मेरे हुए अनाथ ब्राह्मणको ढोकर श्मशान ले जानेमें पद-पदपर अश्वमेधका फल होता है और जलमे स्नान-मात्र कर लेनेसे उनकी तत्काल शुद्धि हो जाती है। ब्राह्मण-द्रव्य, देवद्रव्य, दरिद्रका द्रव्य और गुरुका द्रव्य चुरानेसे प्राप्त सर्वभोग भी नष्ट हो जाता है और प्राणी नरकमें गिर जाता है। तपस्त्री, संन्यासी आदिको छोड़कर जो दूसरे लोग सठा सर्वत्र खड़ाऊँपर ही चलते हैं, उनको देखनेसे भी पाप लगता है। उन्हें देखकर भगवान् भास्करका दर्शन करना चाहिये। * बुटनेतक पैर और केहुनीतक हाथ धोकर आचमन करके तब ब्राह्मण और अग्निका पूजन करना चाहिये।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् भूतभावन विश्वनाथका पूजन—मिट्ठीके ढेले, धूलि अथवा मिट्ठीसे ही शिवलिङ्गका निर्माण कर पूजन-अर्चन करनेसे भक्तलोग रुद्ध-पद पाते हैं। इसलिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थोंको देनेवाला भगवान् भूतभावन विश्वनाथका स्थान है। उसका निर्माण सर्वप्रथलनसे करना चाहिये। जलको वस्त्रसे छानकर उससे मन्दिरका एक बार अनुलेपन करनेसे एक वर्षभर चान्द्रायण-त्रतका पुण्य होता है। द्रव्य शिवलिङ्ग जिस स्थानमें प्रकट या प्रतिष्ठित होता है, वहाँसे

* अग्निहोत्री तपस्त्री च श्रोत्रियो वेदपारगा। एते वै पादुकैर्यान्ति शेषान् दण्डेन लाडयेत्। आदिमें अग्निहोत्री, तपस्त्री, वेदोंके ज्ञाता श्रोत्रियके सिवाय अन्योंके लिये पादुका धारण निपिद्ध है। (आङ्गिरसस्मृति, मोरसं० १। ६१, ६३, पूर्वांस० मैलोक-सं० १०७, आपस्तम्भ० १२०)।

चारों ओर आध कोसतक 'शिवक्षेत्र' कहा जाता है। शिवक्षेत्रमें प्राण छोड़नेसे शिवभगवानका सायुज्य प्राप्त होता है। यह परिमाण स्वयम्भूलिङ्ग और बाणलिङ्गके विपर्यमें है। ऋषिस्थापित शिवलिङ्गमें शिवक्षेत्र बाणसे आधा और मनुष्यस्थापित शिवलिङ्ग-स्थलसे शिवक्षेत्र ऋषिस्थापित-की अपेक्षा भी आधा माना गया है। शिवक्षेत्रमें अग्नि स्थापित कर उसमें भगवान् भूतभावन विश्वनाथका पूजन कर अपने शरीरका हवन कर देनेसे परम पद प्राप्त होता है। वाराणसीमें शरीर त्याग करनेसे प्राणी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता। मोक्षार्थीको तो अपना दोनों पैर तोड़कर (स्थिर होकर) शिवक्षेत्रमें निवास करना चाहिये और उससे बाहर जानेका कभी विचार भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे प्राणी शिवखलरूप ही हो जाता है। दूरसे शिवक्षेत्र-दर्शनसे जो पुण्य होता है, उसकी अपेक्षा सैकड़े गुना पुण्य शिवक्षेत्रमें प्रवेश करनेसे होता है। शिवलिङ्गका स्पर्श और उसकी परिक्रमा करनेसे प्रवेशकी अपेक्षा हजारों गुना पुण्य होता है। उसकी अपेक्षा हजारों गुना पुण्य जल-स्नान करनेसे, उसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूधसे स्नान, दधिसे स्नान, धीसे स्नान, मधुसे स्नान और शर्करासे स्नान करनेमें करोड़ों गुनातक पुण्य होता है। प्रातः, मध्याह, सायंकाल कभी भी शिवलिङ्गका दर्शन करनेसे अश्वमेघ आदि यज्ञोंका फल होता है। भगवान् शंकरके मन्दिरमें जाकर पवित्र होकर तीन प्रदक्षिणा करनेसे पद-पदपर अश्वमेघका फल होता है—

प्रदक्षिणघ्रयं कुर्याद् यः प्रासादं समंततः।
पदे पदेऽश्वमेघस्य यज्ञस्य फलमाप्नुयात्॥
(शिवपुराण)

भगवान् शिवकी परिक्रमा भी दो प्रकारकी कही गयी है—(१) सव्यापसव्य और (२) सव्य—

'प्रदक्षिणप्रकारस्तु द्विविधो वेदसम्मतः।'

(श्रीतत्त्वनिधि)

पश्चिमाभिमुख लिङ्ग होतो प्रागद्वारपर वृप (नन्दी)की और नैऋत्यकोणमें चण्डकी स्थापना होती है। पूर्वाभिमुख लिङ्ग हो तो चण्डका स्थान ईशानमें होता है। महेशके उत्तर तरफ सोमसूत्र (प्रणाली) होता है। पश्चिमाभिमुख लिङ्गमें सोमसूत्र पूर्वकी ओर रहता है। जहाँ चण्डकी स्थापना होती है, वहाँ वृपस्थानपर बैठकर फिर वहाँसे चण्डस्थान जाना चाहिये। फिर वृपस्थान आकर सोमसूत्रतक जाना चाहिये। पुनः वृपतक जाकर वहाँसे चण्डेशनक जाना चाहिये। फिर वहाँसे वृपतक आकर सोमसूत्रतक जाना चाहिये और उसका उल्लङ्घन न करते हृषि चण्डस्थान आकर वृपतक जाना चाहिये। यह एक प्रदक्षिणा हुई। इसका नाम सव्यापसव्यप्रदक्षिणा है।

सर्वदिक्षु महाभाग विभोः कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
सोमसूत्रादिनियमो नास्ति विद्वेश्वरालये॥

काशी विश्वनाथ-मन्दिरमें सव्य ही परिक्रमा है। वहाँ 'सोमसूत्रादि'का नियम नहीं है। सूतसंहिताका वचन है—

ज्योतिर्लिङ्गे रत्नलिङ्गे स्वयम्भुवि तथैव च।
द्रव्यचण्डादिनियमः सुरेश्वरि न विद्यते॥
(स० यज्ञवैभवरत्नं)

'ज्योतिर्लिङ्गमें, रत्नलिङ्गमें, स्वयम्भुलिङ्गमें चण्डका अधिकार न होनेसे वहाँ सीधी-सीधी परिक्रमा है।' मन्दिरका मार्जन आदि वस्त्रपूत जलसे ही करना चाहिये। जल फेनरहित हो और वस्त्र क्षालित हो तो वह पवित्र होता है। अतः सभी कार्य वस्त्रपूत जलसे ही करना चाहिये। भगवान् शंकरका पूजन कमल और विल्वपत्रसे सदा करना चाहिये। सुवर्णनिर्मित कमल बराबर चढ़ाना चाहिये। सुवर्णके अभावमें चाँदीका कमल और उसके अभावमें ताम्रका कमल भी प्रयुक्त हो सकता है। ये कमल नित्य चढ़ानेपर भी निर्माल्य नहीं होते। इन्हें धोकर बराबर ही चढ़ाया जा सकता

है। विव्यपत्रमें लक्ष्मीका निवास सदा रहता है, अतः विव्यपत्रसे भगवान् शंकरका पूजन निय करना चाहिये। विना विव्यपत्रके भगवान् शंकरका पूजन नहीं करना चाहिये। भगवान् शंकरका पूजन न्यायोपार्जित द्रव्यसे करना चाहिये—

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्धेयुर्यानि भारत ।

अनुपायप्रयुक्तानि मा च तेषु मनः कृथाः ॥

(महाभारत, उद्योग ० विदुरप्रजागर)

‘महाराज धृतराष्ट्र ! जो काम झूठ बोलनेसे वन रहा हो, अथवा जो सम्पत्ति झूठ बोलनेसे मिल रही हो अथवा जो सम्पत्ति असत्-उपायसे मिल रही है, ऐसी सम्पत्तिकी ओर आँख उठाकर देखनेकी तो वात दूर, मनसे भी उसे नहीं प्रहण करना चाहिये। ऐसी सम्पत्तिके

सम्पर्कसे प्राणी अशुचि हो जाता है। अशुचि होकर देवपूजा, पितृपूजा, यज्ञ, दान आदि कभी नहीं करना चाहिये। किंतु जल और मिठीकी पवित्रता मुख्य पवित्रता नहीं, अपितु पैसेकी पवित्रता मुख्य पवित्रता है—

योऽर्थं शुचिर्हि स शुचिर्न् मृद्धारिशुचिः शुचिः ।

(मनु० ५ । १०६)

अतः सदा पवित्र होकर ही पवित्र कर्मोद्धारा अर्जित धनसे शुभ-पुण्य कार्य करना चाहिये। थोड़ा भी ऐसा करनेसे प्राणी बहुत बड़े पुण्यका भागी बनता है। (वस्तुतः भीतरी-वाहरी शुद्धि रखते हुए वेद-स्मृति, पुराणादि-प्रतिपादित आचार-धर्मका पालन हीं सदाचारका वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकारके सदाचारसे सबका कल्याण होता है।)

दीन-आर्तके सेवा-सदाचारसे पुण्य-लाभ

श्रासमात्रं तथा देयं श्रुधार्ताय न संशयः ।

दत्ते सति महत्पुण्यममृतं सोऽश्नुते सदा ॥

दिने दिने प्रदातव्यं यथाविभवविस्तरम् ।

वचनं च तृणं शश्यां गृहच्छायां सुशीतलाम् ॥

भूमिमापस्तथा चान्तं प्रियवाक्यमनुत्तमम् ।

आसनं वसनं पादं कौटिल्येन विवर्जितः ॥

आत्मनो जीवनार्थाय नित्यमेवं करोति यः ।

इत्येवं मोदते॒ऽसौ वै परत्रेह तथैव च ॥

(पद्मपु० भूमि० १३ । ११-१४)

‘भूखसेपीडित मनुष्यको भोजनके लिये अन्न अवश्य देना चाहिये। ऐसे दीनोको अन्न देनेसे महान् पुण्य होता है। इससे दाता मनुष्य सदा अमृत (सुख-सौभाग्य)का उपभोग करता है। अपने वैभवके अनुसार प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। सहानुभूतिपूर्ण मधुर वचन (खागत-वचन) तृण (काष्ठादि भी), शश्या, घरकी शीतल छाया, पृथ्वी, जल, अन्न, आसन, वस्त्र या निवासस्थान और पाद (पैर धोनेके लिये जल)—ये सब वस्तुएँ जो सदाचारी आतिथेय प्रतिदिन अतिथिको सौजन्यके साथ सरलतासे अर्पित करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी आनन्दका अनुभव करता है।’

अनाचारकी हेयता और सदाचारकी उपादेयता

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यहाँ पेहिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ही विचार किया जाता है। यहाँके धर्म, आचार-व्यवहार, यहाँकी राजनीति, समाजनीति, युद्धनीति, समाजव्यवस्था, शिक्षापद्धति, शासनपद्धति, रहन-सहन तथा वेश-भूषा, आहार-विहार—सब कुछ आध्यात्मिकभित्तिपर स्थित है। हमारी आध्यात्मिकताका आधार जीवनका सदाचार है। अतः मनुष्यको अपना जीवन सदाचारमय बनाना चाहिये। यह मानव-जीवन बड़ा ही अमूल्य है। यदि इसे हम सदाचारमय बनाकर अपना उद्धार नहीं कर लेते तो हम अपने शत्रु हैं। यदि हम अपना पतन नहीं होने देना चाहते तो हमें अपना उद्धार अपने धाप करना चाहिये। वस्तुतः हम अपने-आपके मित्र और शत्रु भी हैं। भगवान्‌ने भी यही कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(गीता ६ । ५)

परंतु आजकल हमारी प्रवृत्ति अधिकतर पतनकी ओर ही होती जा रही है। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे हमारा उत्तरोत्तर पतन होता जा रहा है और वर्तमानकालमें तो बहुत ही पतन हो गया है। लोगोंमें झूठ, कपट, चोरी, वैदेशीनी और चोरवाजारी इतनी बढ़ गयी कि प्रतिशत एक व्यक्ति भी शायद ही इससे अदृता रहा हो। भ्रष्टाचारका बोलवाला हो चला है। यह शुभ लक्षण नहीं है। अतः यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बुराइयोंपर विचार किया जाता है, जिनका त्याग समाजके लिये आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियोंसे परम आवश्यक है।

रहन-सहन—समय, वातावरण तथा परिस्थितिके अनुसार रहन-सहनमें परिवर्तन तो होता ही है, परंतु ऐसी कोई वात नहीं होनी चाहिये, जो हमारे लिये घातक हो। इस समय हम देखते हैं कि समाजकी रहन-सहन बहुत तीव्र गतिसे पाश्चात्य ढंगकी होती चली जा रही है। पाश्चात्य रहन-सहन बहुत अधिक खर्चीली होनेसे हमारे लिये आर्थिक दृष्टिसे तो घातक है ही, हमारी सम्यता और सदाचारके विरुद्ध होनेसे आध्यात्मिक और नैतिक पतनका हेतु भी है। उदाहरणके लिये— जूता पहने घरोंमें धूमना, एक साथ बैठकर खाना, खानेमें कॉटे-चूरीका उपयोग करना, टेबुल-कुर्सियोंपर बैठकर खाना, जूतियोंके कई जोड़े रखना, रोज चर्वामिश्रित साबुन लगाना, खाने-पीनेकी चीजोंमें संयम न रखना, भोजन करके कुल्ले न करना, मल-मूत्र-त्यागके बाद मिट्टीके बदले साबुनसे हाथ धोना या बिल्कुल ही न धोना, फैशनके पीछे पागल रहना, बहुत अधिक कपड़ोंका सप्रह करना, बार-बार पोशाक बदलना आदि हैं। इन सबका त्याग करना आवश्यक है। इन सबके कारण सदाचार भूल्ता जा रहा है और उपेक्षित हो रहा है।

खान-पान—खान-पानकी पवित्रता और संयम आर्यजातिके लोगोंके जीवनके प्रधान अङ्ग हैं। आज इनपर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। रेलोंमें देखिये, हर किसीका जूठा सोडावाटर, लेमन पीना और जूठा खाना आमतौरपर चलता है। इसमें अपवित्रता तो है ही, एक दूसरेकी बीमारीके कीटाणु और दो विचारोंके मिल परमाणु भी एक दूसरेके बंदर प्रवेश कर जाते हैं। होटल, हल्वाईंकी दूकान या चाटवाले खोमचेके सामने, जूते पहने, खड़े-खड़े खाना, हर किसीके हाथसे खा लेना, मांस-भूषका आहार करना, लहसुन-

प्याज-अण्डोंसे युक्त विस्कुट, बाजारकी चाय, तरह-तरहके पानी, अपवित्र आइसक्रीम और बर्फ आदि चीजें खाने-पीनेमें आज बहुत ही कम हिचक रह गयी है। सोचनीय बात है कि निरामिपमोजी जातियोंमें भी डाकटरी दवाओंके द्वारा और होटलों तथा पार्टियोंके संसर्ग-दोषसे अण्डे और मांस-मध्यका प्रचार हो रहा है। मांसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। मांसाहारियोंकी बुद्धि तामसी हो जाती है और सभाव क्रूर बन जाता है, नाना प्रकारके रोग तो होते ही हैं। फिर भी अधिकतर लोग अपने आचार खोते चले जा रहे हैं और पश्चिमी रहन-सहनमें अपनी सदाचारी आदर्श संस्कृतिको तिलाङ्कलि दे रहे हैं।

इसी प्रकार आजकल बाजारकी मिठाइयोंके बननेमें भी बड़ा अनर्थ होने लगा है। असली धी तो मिलना कठिन है ही, बेजिटेबुल (नकली धी) भी असली नहीं मिलता, उसमें भी मिलवट शुरू हो गयी है। खोबा, बेसन, मैदा, चीनी, आटा, मसाले, तेल आदि बस्तुएँ भी शुद्ध नहीं मिलतीं। हल्वाईलोग भी अधिक पैसोंके लोभसे खाद्य पदार्थोंमें नकली चीजें बरतते हैं। समाजके स्वास्थ्यका ध्यान न तो उन दूकानदारोंको है, न हल्वाईयोंको। हो भी कैसे और क्यों? जब बुरा बतानेवाले ही बुरी चीजोंका लोभवश प्रचार करते हैं, तब बुरी वातोंसे कोई कैसे परहेज रख सकता है। आज तो लोग आप ही अपनी हानि करनेको तैयार हैं। यहीं तो मोहकी महिमा है।

अन्यायसे कमाये हुए पैसोंका अपवित्र तामसी बस्तुओंसे बना हुआ, अपवित्र हाथोंसे बनाया और परोसा हुआ, अपवित्र स्थानमें रखा हुआ, हिंसा और मादकतासे युक्त, विशेष खर्चाला, अस्वास्थ्यकर पदार्थोंसे युक्त, सड़ा हुआ, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन, धर्म, बुद्धि, धन और स्वास्थ्य तथा सम्यता और संस्कृति—सभीके लिये हानिकर होता है। इस

विषयपर सबको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। परंतु खेद है कि इसे उपेत्य समझा जा रहा है।

वेष-भूषा—वेष-भूषा सादा, कम खर्चाला, सुरुचि उत्पन्न करनेवाला, पवित्र और संयम बढ़ानेवाला होना चाहिये। आजकल ज्यो-ज्यों फैशन बढ़ रहा है, त्यों-त्यों खर्च भी बढ़ रहा है। सादा मोटा बख्त किसीको पसंद नहीं है। जो खादी पहनते हैं, उनमें भी एक तरहकी बनावट आने लगी है। बछोंमें खच्छता और पवित्रता होनी चाहिये। विदेशी और मिलोंके बने बछोंमें चर्चाकी माँड लगती है। यह बात सभी जानते हैं। देशकी हाथकी कारीगरी मिलोंकी प्रतियोगितामें नष्ट होती जा रही है। इससे गरीब मारे जा रहे हैं। इसलिये मिलोंके बने बख्त नहीं पहनने चाहिये। विदेशी बछोंका व्यवहार देशकी दरिद्रताका प्रधान कारण है। रेशमी बख्त जीवित कीड़ोंको उवालकर उनसे निकाले हुए सूतसे बनता है, वह भी हिंसायुक्त होनेसे अप्रयोजनीय है। बछोंमें सबसे उत्तम हाथसे काते हुए सूतकी हाथसे बनी खादी है। परंतु उसमें फैशन नहीं आना चाहिये। खादी हमारे संयम और स्वाल्प व्ययके लिये है—फैशन और फिज्लूखर्चीके लिये नहीं। खादीमें फैशन और फिज्लूखर्ची आ जायगी तो इसमें भी अपावनता आ जायगी। मिलोंके बने हुए बछोंकी अपेक्षा तो मिलोंके सूतसे हाथ-करघेपर बने बख्त उत्तम हैं; क्योंकि उसकी बुनाईके पैसे गरीबोंके घरमें जाते हैं और उसमें चर्चा भी नहीं लगती। अतः भरसक खादी और खादी न हो सके तो हाथ-करघेके बछोंका ही प्रयोग करना चाहिये।

विवाह आदिमें शालीय प्रसङ्गोंको कायम रखते हुए जहाँतक हो सके, रसें कम-से-कम रखनी चाहिये और वे भी ऐसी, जो सुरुचि और सदाचार उत्पन्न करनेवाली हों, कम खर्चकी हो और ऐसी हों जो साधारण गृहस्थोंके द्वारा भी आसानीसे सम्पन्न की जा

सके। अवश्य ही, देनेके बल और अलंकार भी ऐसे हों, जिनमें व्यर्थ धन व्यय न हुआ हो। सौ रुपयेकी चीज किसी भी समय अस्सी-नब्बे रुपये कीमत तो दे ही दे। दस-चीस प्रतिशतसे अधिक धाटा हो, ऐसा गहना गढ़ाना तो जान-बूझकर अभाव और दुःखको निमन्त्रण देना है। इसके साथ अन्य वस्तुएँ भी अधिक संख्यामें न हो और फैशनसे बची हुई हों। सादगी और मितव्ययता रहनी चाहिये।

गुजरात और महाराष्ट्रमें विवाहके अघसरपर हरि-कीर्तनकी बड़ी सुन्दर प्रथा है। हरिकीर्तनमें एक कीर्तनकार होते हैं जो किसी भक्तचरित्रिको गा-गाकर सुनाते हैं—बीच-बीचमें नाम-कीर्तन भी होता रहता है। सुन्दर मधुर स्वरके वायोका सहयोग होनेसे कीर्तन सभीके लिये रुचिकर और मनोरञ्जक भी होता है, उससे बहुत अच्छी शिक्षा भी मिलती है। उत्तर और पश्चिम भारतके धनी लोग भी नाचकी प्रचलित, कुप्रथाओंको छोड़कर इस प्रथाको अपनावें तो बड़ा अच्छा हो। (भगवान् शंकरके विवाहादि प्रकरणके आधारपर नाम-संकीर्तन कितना सुन्दर हो सकता है।)

चरित्रगठन और खास्थ्य—असंयम, अमर्यादित खान-पान और गंदे साहित्य आदिके कारण हमारे समाजके चरित्र और खास्थ्यका बुरी तरहसे हास हो रहा है। थोड़ी-सिगरेट पीना, दिनभर पान खाते रहना, दिनमें पाँच-सात बार चाय पीना, भाँग, तंबाकू, गाँजा, चरस आदिका व्यवहार करना, उत्तेजका पदार्थोंका सेवन करना, विज्ञापनी वाजीकरण दवाएँ खाना, मिर्च-मसाले, चाट तथा मिठाइयाँ खाना, कुरुचि उत्पन्न करनेवाली गंदी कहानियों और उपन्यास-नाटकोंका पढ़ना, शृङ्गारके काव्य-नाटक, उपन्यास और कोकशास्त्रादिके नामसे प्रचलित काम-सम्बन्धी साहित्य एवं पुस्तकोंको पढ़ना, गंदे समाचार-पत्र पढ़ना, अश्लील चित्रोंको देखना, पुरुषोंका लियो और लियोका पुरुषोंमें अमर्यादित आना-जाना, सिनेमा देखना,

शृङ्गारी गाने सुनना और प्रगाढ़ी, विश्यी, अनाचारी-व्यभिचारी तथा नास्तिक पुरुषोंका सदृश बरना आदि कई दोष समाजमें आ गये हैं। बुद्ध पुराने तो थे ही, बुद्ध नये भी सभ्यताके नामपर आ द्युस्मै हैं। जो समाजमें धुनकी ताह ल्याकर उसका सर्वनाथ बन गए हैं। सिनेमा देखना, मिनेमों युनिट्युनियोंके शृङ्गारका अभिनय करना और निःसंकोच एक साथ रुक्ना तो आजकल सभ्यताका एक निर्दोष अद्भुत माना जाता है। कल्याणके नामपर जितना भी अनर्थ हो जाय, ननी अम्म माना जाता है।

लड़कपनसे ही बालक-वालियोंका भी शानदार हरना, अच्छे संसारमें न रहना, स्कूल-कालेजमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, यांत्रेज-जीवनमें छात्रावासोंमें असंयमपूर्ण जीवन निताना आदि चरित्रनाशमें प्रधान कारण हो रहे हैं। और आजके युगमें इन्हींका विस्तार देखा जाता है। आश्वर्य तो यह है कि ऐसा करना आज समाजको उन्नतिके लक्षणोंके अन्तर्गत माना जाता है। पर ये सब हमारी संखृति और आदर्श सदाचारके लिये कदापि शुभ नहीं हैं।

रातभर जागना, प्रातःकालसे लेकर दिनमें नौ-दस बजेतक सोना, चाहे सोकर खाना, ऐश-आरामकी सामग्रियों जुटाने और उपभोग करनेमें ही लगे रहना, विलासिता और अमीरीको जीवनका अद्भुत मानना, भड़ी दिल्लगियों करना, केशों और जूतोंको सजानेमें ही बंटो विता देना, दाँतोंसे नख काटते रहना, ईश्वर और धर्मका मखौल उड़ाना, संत-महात्माओंकी निन्दा करना, शालों और शाल्यनिर्माता ऋषि-मुनियोंकी आलोचना करना, संध्या-प्रार्थना करनेका नाम भी न लेना, माता-पिताको कभी भूलकर भी प्रणाम न करना, केवल शरीरका आराम चाहना, मेहनतका काम करनेसे जी चुराना और उससे लजाना, थोड़ी देरमें ही हो जाने लायक

काममें अधिक समय बिता देना, कर्तव्यकर्ममें आलस्य करना और व्यर्थके कामोमें समय नष्ट कर देना आदि दोष जहाँ समाजमें फैल रहे हों, वहाँ चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-लाभ, धर्म और आत्मोन्नतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? अतः इन सब दोषोंको छोड़कर समाज—जनता संयम और सदाचारके पथपर चले। इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये। इन बातोंके दोष बतलाने चाहिये और स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना चाहिये। केवल वाणीसे कहना छोड़कर यदि लोग स्वयं आचरण करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी सफलता मिल सकती है। सदाचार उपदेशकी अपेक्षा आचरणकी वस्तु है।

कुचिचारोंका प्रचार—‘ईश्वर नहीं है, ईश्वरको मानना ढोग है, ईश्वरमत्ति मूर्खता है, शास्त्र और पुराणोंके रचयिता दम्भ और पाखण्डके प्रचारक थे, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति केवल कल्पना है, खान-पानमें छुआछूत और किसी नियमकी आवश्यकता नहीं, वर्णभेद जन्मसे नहीं, केवल कर्मसे है। शास्त्र न माननेसे कोई हानि नहीं है, पूर्वपुरुष आजके समान उन्नत न थे, जगत्की क्रमशः’ उन्नति हो रही है, अवतार उन्नतविचारकों, महापुरुषोंका ही नामान्तर है, माता-पिताकी आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है, खीको पतिके त्यागका और नवीन निर्वाचनका अधिकार होना चाहिये, खी-पुरुषोंका सभी क्षेत्रोंमें समान कार्य होना चाहिये, परलोक और पुनर्जन्म किसने देखे हैं, पाप-पुण्य और नरक-खगादि केवल कल्पना है, ऋषि-मुनिगण स्वार्थी थे, ब्राह्मणोंने स्वार्थसाधनके निमित्त ही ग्रन्थोंकी रचना की, पुरुषजातिने शियोंको पददलित बनाये रखनेके लिये ही पातिक्रत और सतीत्वकी महिमा गायी, देवतावाद कल्पना है, उच्च वर्णोंनि निम्न वर्णोंके साथ सदा अत्याचार ही किया, विवाहके पूर्व लड़के-लड़कियोंका सच्छन्द और अश्लील रहन-सहन अनाचार नहीं है, सबको अपने मनके अनुसार सब

कुछ करनेका अधिकार है’—आदि ऐसी-ऐसी बातें आजकल इस ढंगसे फैलायी जा रही हैं, जिससे भेले-भाले नर-नारी ईश्वरमे विश्वास खोकर धर्म, कर्म और सदाचारका त्याग कर रहे हैं। यह नितान्त चिन्तनीय बात है। इस ओर सभी विचारशील पुरुषोंको ध्यान देना चाहिये। इस प्रकारके सदाचारविरोधी और चारित्रिक अवनति करनेवाले प्रचारको रोकनेके लिये प्रयास होना चाहिये। ऐसा न करनेसे अनर्थ बढ़ता जायगा।

व्यवहार-वर्ताव—प्रायः अनेक जगहोंमें मालिक-लोग नौकरों और मजदूरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार नहीं करते, उन्हे पेट भरने लायक बेतन नहीं देते, बात-बातपर अपमान और तिरस्कार करते हैं। नौकर और मजदूर भी भले मालिकोंको कोसते और उनका दुरा चाहते हैं। भाई अपने भाईके साथ दुर्व्यवहार करता है। पिता पुत्रके साथ अच्छा वर्ताव नहीं करता। पुत्र माता-पिताका अपमान करता है। सास अपनी पुत्रवधूको गालियाँ बकती है, तो अधिकाराखड़ पुत्रवधू अपनी सासको कष पहुँचाती है। नन्द-भौजाइमें कलह रहता है। माता अपनी ही संतान—पुत्र और कन्याके साथ भेदयुक्त वर्ताव करती है। धनी और गरीबोंमें, शासक और शासितमें, अविकारी और अधिकृतमें, व्यवसायी और उपभोक्तामें—कहीं भी सौजन्य, शिष्टाचार नहीं रह गया है। सर्वत्र असामझस्य और असंतोष व्याप्त है। ब्राह्मण निम्नवर्णोंका अपमान करते हैं और निम्न वर्गके लोग नाश्वरणोंको कोसते हैं। पड़ोसी-पड़ोसीमें भी दुर्व्यवहार और कलह है। जगत्मे इस दुर्व्यवहार और कलहके कारण दुःखका प्रवाह वह चला है। प्रायः सभी एक-दूसरेसे शङ्कित और भीत हैं। यह दशा वस्तुतः वड़ी ही भयावनी है। इसपर भी हम प्राचीन आदर्श, आचार-विचारसे दूर हटते चले जा रहे हैं। यह चिन्त्य है। इसपर विशेष विचार करके इसका सुधार करना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन वर्तमान समयकी थोड़ी-सी कुरीतियों, फिजूलखर्ची और दुर्ब्यसनोंका एक साधारण दिग्दर्शन-मात्र है। इनके अतिरिक्त देश, समाज तथा जातिमें और भी जो-जो हानिकर, धातक तथा पतनकारक दुर्ब्यसन, फिजूलखर्ची एवं बुरी प्रथाएँ प्रचलित हैं उनको हटानेके लिये, नैतिकता, शिष्टाचार तथा सदाचारके प्रचार करनेके लिये प्रत्येक अंतर्में सब लोगोंको विवेक-पूर्वक तत्परताके माथ जी-जानसे प्रयत्न करना चाहिये।

(२)

सदाचारके सामान्य नियम

यहाँ सदाचारके कुछ सामान्य नियम वरलाये जा रहे हैं, जिनके पालनसे प्रचलित चर्चित बुराइयाँ दूर होकर चरित्र-निर्माण और आध्यात्मिक उन्नतिमे बड़ी सहायता मिल सकती हैं—

(१) एक मिनट भी निष्फल नहीं खोना चाहिये, समयका पूरा ख्याल रखें। शरीरसे सेवा, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप, मनसे परमात्माका ध्यान—ये तीनों क्रियाएँ साथ चलें तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो सकता है। (२) अपने शरीरपर खर्च बहुत कम करे। जो व्यय कम करेगा, उसे रूपयोंका दास नहीं होना पड़ेगा और जो रूपयोंका दास न होगा, उसे पाप क्यों करना पड़ेगा? लोभ पापका जनक है। यदि हम सांसारिक पदार्थोंसे आसक्ति हटा दें, अपनी आवश्यकताएँ घटा दें तो लोभ ही क्यों होगा? कर्माई आपके वशमें नहीं, पर खर्चा तो आप घटा ही सकते हैं। शरीर-निर्वाह कम-से-कम ग्वर्चेंमें हो जाय—यह ध्यान रखें, ऐसी ही चेता करें। मितव्ययना एक अच्छा गुण है।

(३) अपने शरीरका काम जहाँतक हो, आप ही करें, दूसरोंके परावीन न हो। परावीनता बहुत ही नीचे दर्जेकी चीज है। ऋषि-महर्पिं स्ययं सब कुछ करते थे—‘स्ययं दासाम्नपस्तिनः।’ (४) प्रत्येक व्यक्तिके साथ व्यवहारमें, प्रत्येक वातमें स्वार्थके त्यागका ख्याल

रखें। इससे मनुष्यका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है। खाना, पीना, सोना, व्यापार-व्यवहार—प्रत्येक काममें स्वार्थ-त्याग करें। अपने आरामका त्याग करके दूसरोंको आराम देना आरामके स्वार्थका त्याग होता है। रूपयोंके व्यवहारमें अपने ‘कसर न्या लेना’—घाटा सह लेना—प्रहृ रूपयोंमें स्वार्थ-त्याग होता है। अपनी अपेक्षा दूसरोंकी सुविधाका ध्यान रखना त्याग है। सदाचारमें त्यागकी महत्ता बहुत है।

(५) मन, इन्द्रियोंके साथमें सङ्ग न हो। विषयोंके सङ्गमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति आनिक अवनतिका मूल है। (६) श्रद्धा बहुत उच्चकोटिकी चीज है। परलोक, परमेश्वर और शास्त्रोंमें श्रद्धा वढ़ानी चाहिये। श्रद्धालृ पुरुष सौं वर्षोंकी आयु पाता है—‘श्रद्धालुरनुस्तूयश्च शतं वर्षाणि जीवन्ति।’ (७) उत्तम धार्मिक कोई कार्य हो तो उसमें भाव और प्रेम वढ़ाना चाहिये। छोटा कार्य भी उत्तम भावसे ऊँचा बन सकता है। क्रिया प्रवान नहीं, भाव प्रवान है। उससे निम्न क्रिया भी ऊँची बन सकती है। (८) संसारसे मोह तोड़कर परमात्मामें प्रेम वढ़ाना चाहिये। ईश्वरके समान प्रेमके मूल्यको अन्य कोई नहीं चुका सकता प्रसिद्ध है—‘जानत प्रीति रीति रघुराई।’ (९) प्रमाद कभी न करे। प्रमाद सक्रिय और अक्रिय दो तरहका होता है। जैसे उद्दण्डता आदिसे उद्भूत दुर्गुणमूलक सब प्रकारकी चेष्टाएँ—पापोंकी गिनतीमें ही हैं। करनेयोग्य कामका तिरस्कार कर देना अक्रियात्मक प्रमाद है। जो नित्यकर्म कर्तव्य कर्म है, उनकी अवहेलना करना प्रमाद है। श्राद्ध-तर्पणादि कर्म न करना प्रमाद है। प्रमाद साक्षात् मृत्यु है—‘प्रमादो वै मृत्युः।’ अतः प्रमादसे बचना चाहिये। (१०) संसारके भोगोंमें फँसकर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिये। विषयोंके भोग भोगनेमें तो अमृततुल्य लगते हैं, पर परिणाममें वे विपत्तुल्य हैं—‘परिणामे विघमिव।’ (११) छः धंटेसे

अधिक नहीं सोना चाहिये । यदि कभी किसी कारणवश बहुत कम सोना पड़े तो दूसरे दिन कुछ अधिक सोनेका समय निकाल ले, जिससे भजनमें नींद न आये । अधिक सोना प्रमाद, आल्प्स्यका घर होता है ।

(१२) किसी समय काम, क्रोध, लोभ—ये आ करके दबायें तो भगवान्‌से प्रार्थना (पुकार) करनी चाहिये । जैसे डाकू घरमें आते हैं तो पुलिस्को या अन्य लोगोंको पुकारते हैं और उन लोगोंके आते ही डाकू भाग जाते हैं, ऐसे ही काम-क्रोधादि भगवन्नाम सुनकर भाग जाते हैं । (१३) नियप्रति संध्यावन्दन, पूजापाठ और तुलसीजीका जलसे सिंचन करे तथा अतिथिसेवा और सत्सङ्ग करे । (१४) भगवदर्पण और वल्लिश्वदेव करके ही भोजन करे, तभी वह अमृत है: नहीं तो इन दोनों क्रियाओंके बिना वह पापभोजन है । गीता (३। १३)में कहा है—‘भुजते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।’

१५—जहाँतक हो सके झूठ कभी न बोले । दुर्गुण-दुराचारोंका दूरसे ही परित्याग कर दे—जैसे प्लेन-जैसी महावीमारीका कर देते हैं । प्लेनके रोगाणु यदि न मिटें तो प्राण ले सकते हैं और इन दुर्गुण-दुराचारोंकी वीमारी तो यदि इस जन्ममें रह जाती है तो इन दोपवालोंको अनेकानेक नारकीय योनियोंमें भटकाती रहती है । अतः भारी-से-भारी कठिनाई आनेपर भी दुर्गुण-दुराचारको न अपनाये । दुर्गुण-दुराचार करनेवालेका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये । नास्तिक, पापी, अत्याचारी दुष्टोंके सङ्गका सदा परहेज (त्याग) करना चाहिये ।

१६—सदगुण, सदाचारोंको हृदयमें धारण करे । सदाचार शरीरसे होनेवाले शुभ कर्म हैं और सदगुण हैं । बाणीसे सत्य, प्रिय, हितकारी वचन बोलने चाहिये । हाथोंसे माता-पिता दुखियोंकी सेवा करना, सबसे प्रेमका व्यवहार करना और यज्ञ, दान, तप, तीर्थ

करना—ये सब सदाचार हैं । श्रीभगवान्‌की भक्ति भी सदाचारसे उत्तम है । भक्ति क्या है ? भगवान्‌के विषयकी वातें कहनी-सुननी एवं कीर्तन-नमस्कार—ये सब भक्तिके अङ्ग हैं और तीर्थ, त्रै, उपवास, परोपकार आदि ये उत्तम कर्म हैं । उत्तम कर्म करना और उत्तम गुण धारण करना चाहिये । जैसे दया, क्षमा, शान्ति, ज्ञान आदि उत्तम भाव है, सदगुण हैं—इन्हें सदा बढ़ाना चाहिये ।

१७—सब जगह व्याप्त भगवान्‌के मुखारविन्दकी तरफ देखता रहे । ‘श्रीभगवान्‌ कैसे प्रेमका व्यवहार कर रहे हैं, हँस-हँसकर भगवान्‌ मुझसे बोल रहे हैं’ मनमें इस प्रकारके भाव करके आगे बढ़ता रहे । अपने कर्तव्य-कर्मोंको भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करता रहे । (१८) रात्रिमें सोनेके समय विशेष रूपसे भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला—इन सबकी वातें करते हुए सोये । भगवत्-चरित्र-चिन्तन अथवा गीताका पाठ करता हुआ सोये । सोनेसे पूर्व विष्णुसहस्रनामका पाठ करनेसे बड़ा लाभ होता है—इसका निजी अनुभव है । रात्रिमें पानी पीने, लघुशङ्का करने उठे तो इसकी सँभाल रखे कि नामजप या पाठ भगवान्‌का हो रहा है या नहीं । (१९) अपने नित्यकर्मको दामी (सूल्यवान्) बनाता रहे । गीता तथा स्तोत्रादिके पाठमें भावकी ओर विशेष ध्यान रखे । (बिना भावका पाठ—‘तोता-पाठ’ मात्र होता है ।) (२०) किसी भी व्यवहार-कार्यको हँस-हँसकर (प्रसन्नता पूर्वक) प्रेम-सहित, दूसरेका अनिष्ट न चाहते हुए करना चाहिये । (२१) वस्त्र मोटा, सादा, बिना नीलका पहने । इससे वैराग्य होता है और पवित्रता आती है । जो मरते समय नीलका कपड़ा पहने रहता है, उसकी दुर्गति होती है । यज्ञोपवीत, त्रै, उत्सव आदि धार्मिक अनुष्ठानोंमें—नील वस्त्र या नीलयुक्त कपड़ेका व्यवहार नहीं करना चाहिये । सनातन संस्कृतिमें नील रंग वर्जित है ।

२२—चमड़ेकी वस्तुओंका व्यवहार तो कभी करे ही नहीं। उन्हें घरके भीतर न आने दे, आजकल विस्तरबंद, बक्सा, घड़ीका फीता और जूता आदि प्रायः हरेक चीजोंमें चमड़ेका व्यवहार होता है। जो चमड़ा कोमल होता है दुर्भाग्यवश आजकल वह अधिकांश जीवित गौओंकी यातनापूर्ण हिंसाद्वारा ही प्राप्त होता है। अतः चमड़ेका व्यवहार बहुत ही बुरा और पापको बढ़ावा देनेवाला है। उससे सदा बचना चाहिये। (२३) सौभाग्यवती खियोको खर्ण या काँचकी चूड़ी पहननी चाहिये, हाथी-डॉत या लाखकी चूड़ी नहीं पहननी चाहिये। इनसे भी जीवहिंसा जुड़ी है। (२४) भोजन एक बार ही, बार-बार नहीं तथा मौन होकर करे। भोजनमें तीन चीजसे अधिक न ले, दोसे काम चला ले तो और भी अच्छी बात है। (२५) इसी प्रकार वस्त्रोंका संग्रह भी अधिक न करे, अत्यावश्यक हो उतना ही रखे। भोग-पदार्थोंका संग्रह न

करे। ईश्वरपर यह विश्वास रखे कि भगवान् उसे समयपर अपने-आप देंगे। (२६) शृङ्गार-गौकीनी आदि वस्तुओंका एकदम त्याग कर दे। ये नरकमें ले जानेवाली हैं। सौभाग्यवती सी पतिकी उच्छाके अनुसार उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी उपस्थितिमें ही कुछ शृङ्गार कर ले, पर उसकी अनुपस्थितिमें उसे शृङ्गार नहीं करना चाहिये।

२७—दूसरेकी वस्तु (आवश्यकता दोनेमर भी विना मांगे या विना उसके दिये) कभी नहीं नेनी चाहिये। चोरी बहुत बुरी चीज है। अपनी वस्तु या पदार्थ दूसरोंको देनेका ध्यान रखना चाहिये, पर दूसरेमे लेनेकी भावना कभी न रखे। यह चरित्रके लिये उत्तम बात नहीं है।

अच्छे काम करने और बुरे काम लागनेका अभ्यास करना चाहिये। ये सदाचारके कुछ सामान्य नियम हैं। इनका पालन निष्ठासे प्रत्येकको करना चाहिये। इससे आत्मकल्याणमें वड़ी सहायता मिल सकती है।

गृहस्थोंका सदाचार

नित्यं सत्यं रतिर्यस्य पुण्यात्मा सुष्टुतां ब्रजेत् ।
ऋतौ प्राप्ते ब्रजेश्वारों स्तीयां दोपविचर्जितः ॥
स्वकुलस्य सदाचारं कदा नैव विमुञ्चति ।
पतते हि समाख्यातं गृहस्थस्य द्विजोत्तम ॥
ब्रह्मचर्यं मया प्रोक्तं गृहिणां मुक्तिदं किल ॥
(पद्म० भूमि० १३ । २-४)

(सुमना अपने पतिसे कहती हैं)— ‘हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! सदा सत्यभाषणमें जिसका अनुराग है, जो पुण्यात्मा होकर साधु-शीलताका आश्रय लेता है, अतुकालमें ही, अपनी (ही) सीके साथ संगत होता है, स्वयं दोपोंसे दूर रहता है और अपने कुलके सदाचारका कभी त्याग नहीं करता, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। यह मैने गृहस्थके ब्रह्मचर्यका वर्णन किया है। यह ब्रह्मचर्य गृहस्थोंको सदा मुक्ति प्रदान करनेवाला है।’

संयम और सदाचारसे मानवका कल्याण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

हमारा प्राचीन समाज शाखीय नियमोपर ही निर्भित हुआ था । हिंदूशास्त्र प्रायः प्रत्येक मानवको व्रक्षचर्य, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि तपका ही आदेश देते हैं । ये परिणाममे मधुर और मङ्गलमय हैं । यही कारण था कि पूर्वकालके वड़े-वड़े वैभवशाली राजपर्व अपनी लौकिक सुख-समृद्धिपर लात मारकर इनकी साधनाके लिये बनाए चले जाते थे । वे जानते थे कि इस संसारका जीवन क्षणिक है, यहाँके सुख-भोग नश्वर है । वे जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके चक्रमें फँसानेवाले हैं । इन भोग-विलासोंके मोहमें पड़कर नारी और नर ऐसे पाप-पङ्कमें निमग्न हो जाते हैं, जिससे उनका उद्धार होना कठिन हो जाता है । वे प्रायः सूख-कूकर और कीट-पतंग आदि योनियोंमें पड़नेकी स्थितिमें आ जाते हैं ।

सुख तो वही चाहने योग्य है, जो मिलकर फिर कभी खो न जाय, जो नित्य, सनातन और एकरस हो । ऐसे सुखके निकेतन हैं—एकमात्र मङ्गलमय भगवान् । अतः प्रत्येक खी-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परम प्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये । वे संयम और सदाचारपूर्वक प्रेमनिष्ठासे ही प्राप्त होते हैं और उनसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है । इसीलिये शाश्वत संयम और सदाचारपर अधिक बल देते हैं; क्योंकि इन्हींमें जीवका कल्याण भरा है । वह प्रारम्भिक अनुष्ठानमें कठिन और दुःखसाध्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें परम कल्याणकारी है । अतः इनकी साधनासे साध्य प्रभुकी संनिधि प्राप्तकर शाश्वत-सुखकी प्राप्तिका प्रयास करना चाहिये ।

कहा जाता है कि नयी अवस्थामें सुख-भोग और उम्र ढलनेपर धर्मका सेवन करना चाहिये, किंतु यह

कौन कह सकता है कि किसकी आयु कव समाप्त हो जायगी? काल नयी और पुरानी अवस्थाका विचार करके नहीं आता । उसकी दृष्टि शिशु, तरुण, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध सबपर समानरूपसे पड़ती है । आयुके समाप्त होनेपर वह किसीको एक क्षण भी अधिक जीनेका अवसर नहीं देता । फिर धर्मका कव संचय होगा और कैसे नित्य-सुखकी प्राप्ति होगी? जन्मान्तरमें पुनः मानवशरीर मिलेगा या नहीं, कौन कह सकता है? दूसरे किसी शरीरसे आत्माके लिये कल्याणकारी धर्मोंका सम्पादन सम्भव नहीं है । अतः खी-पुरुष समीको अपने, सबके परमपति परमेश्वरका स्मरण-ध्यान करते हुए संयम एवं सदाचारपूर्ण जीवन विताना चाहिये । इसके लिये वे सद्गृह्यन्यका स्वाध्याय करें, गुरुजनोंकी यथायोग्य और यथाशक्ति सेवा करें । उस सेवाको भगवान्‌की सेवा मानें । धर्मके वाल्कोंका लालन-पालन करें और सदा भगवान्‌का चिन्तन करते रहे । उन्हे भोग-विलासके साधनों तथा भड़कीले वस्त्रभूषणोंसे सदा दूर रहना चाहिये । इन्द्रियके घोड़ोंपर लगाम कसे रहना चाहिये । मनोनिग्रहपर सदैव सतर्क रहना चाहिये ।

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और खदेशप्रेम सभी आवश्यक है; यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये, परंतु ऐसा न होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और खदेशके प्रेममें अन्य देशोंके प्रति धृष्णा हो । सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये, जब अपने हितके साथ दूसरोंका हित मिला हुआ हो । जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे

हमारा हित कभी नहीं हो सकता। भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोंके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके जीवनरूपमें भगवान्की ही भगवत्ता काम कर रही है। इस तथ्य बातको ध्यानमें रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठाका विचार रखकर अपने कुदुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये। किसीको दुःख पहुँचाकर अथवा किसीको दुःखी देखकर सुखका अनुभव करना बहुत बड़ी भूल है।

मनुष्यका शरीर इसलिये नहीं मिला है कि वह अन्यायसे, पापसे और झूठ-कपटसे धन इकट्ठा करनेका प्रयत्न करके अपने भावी जीवनको नरककी प्रचण्ड अग्निमें झोक दें। दयासागर दीनबन्धु भगवान्ने जीवको मानव-जीवन देकर यह एक अवसर प्रदान किया है। जीव मानव-शरीरको पाकर यदि सत्कर्ममें लगता और भगवान्का भजन करता है तो वह सदाके लिये भववन्धनसे मुक्त हो परमानन्दमय प्रभुके नियधाममें चला जाता है। (और यही तो मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य अथवा चारितार्थ है।) यदि भोगोंकी आसक्तिमें पड़कर वह सारा जीवन पापमें विता देता है तो नरकोंकी प्रचण्ड ज्वालामें झुल्सनेके पश्चात् उसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ता है। यह मानवका महान् पतन है। क्षणिक विषय-सुखके लिये बहुत-बहुत जन्मोंतक दुःख और कष्टमें जलते रहना कहाँकी बुद्धिमानी है? परंतु हम इसके ऐसे भयंकर परिणामको जानते हुए भी ऐसी भूल क्यों करें? धर्मका पालन उस भूलका सुधार है। सदाचार और संयमका जीवन ही धर्मका पालन है। सदाचारमें सब कुछ आ जाता है—सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा, अस्तेय, शौच आदि-आदि; और संयममें इन्द्रियमनोनिप्रह, धैर्य, दम, धी-विद्या आदि-आदि।

सभी भोग नश्वर और क्षणिक हैं। यह दुर्लभ मानव-शरीर भी पता नहीं, कब हाथसे चला जाय। यह समझकर अब भी चेतना चाहिये। जो समय प्रमादमें बीत गया, सो तो बीत गया, अब आगे नहीं बीतना चाहिये—‘अबलौं नसानी अब न नसैहौं। राम-कृष्ण भव-निसा सिरानी, जाने फिरि न डसैहौं॥’ (विनयप०) ऐसा निश्चय करके बुरे कर्मोंकी ओरसे मनको खींचे। इन्द्रियोंपर, मनपर नियन्त्रण करें।

अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना चाहिये। ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये कि मन कभी धोखा न दे सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रह सके, साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन न किया जाय, चाहे वह छोटा-से-छोटा ही क्यों न हो। इस प्रकार प्रयास करनेपर अपने दोष मिटाए रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बंद हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगानेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आयगी। इसी बातको प्रकट करते हुए कवीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

अतएव ग्रन्थेको मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेषरूपसे करना चाहिये, जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। स्वयंके सदाचारका प्रभाव अतुलनीय होता है। यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो जाय, जो नासमझीके

कारण जगत्के लिये हानिकर हो । इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं, जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें । ख्यात सञ्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

‘श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वे अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है ।’

इससे पता लगता है कि श्रेष्ठ पुरुषोंपर कितना बड़ा दायित्व है और उन्हे अपने दायित्विका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये एवं किस प्रकारसे ख्यात आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये । सत्पुरुषोद्घारा आचरणीय सदाचार इस प्रकार हैं—

मनका सदाचार—(१) कभी किसीका बुरा न चाहे, बुरा होता देखकर प्रसन्न न हो । (२) व्यर्थ चिन्तन, दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन, काम-क्रोध-लोभ आदिके निमित्तका चिन्तन न करे । (३) किसीकी कभी हिंसा न करे (किसीको किसी प्रकार कष्ट पहुँचाना हिंसा है) । (४) विषयोंका चिन्तन न करके भगवान्का चिन्तन करे । (५) भगवान्की कृपापर विश्वास रखें । उनकी लीलाका, उनके नाम, गुण, तत्त्वका चिन्तन करे । संतोके चरित्रोंका, उनके उपदेशोंका चिन्तन करे । (६) पुरुष श्री-चिन्तन और श्री पुरुष-चिन्तन न करे (यह सदाचार नहीं है) । (७) नास्तिक, अधर्मी, अनाचारी, अत्याचारी तथा उनकी क्रियाओंका चिन्तन न करे । (उनकी आलोचनाओंसे भी सूक्ष्म चिन्तन हो जाता है, अतः उनसे भी वचे) ।

वाणीका सदाचार—(१) किसीकी निन्दा-चुगली न करे । यथासाध्य परचर्चा तो करे ही नहीं । किसीकी भी व्यर्थ आलोचना न करे । आलोचक दूसरेको तो सुधारता है, पर ख्यात दोष-दृष्टिका अभ्यासी बनकर विगड़ता जाता है । (२) झट न बोले । असत्य पापोंका वाप है और नरकका खुला द्वार है । (३) कटु शब्द, अपशब्द न बोले । किसीका अपमान न करे । किसीको शाप न दे । अश्लील शब्दका उच्चारण न करे । अश्लील शब्दके उच्चारणसे सरस्वती कुपित होती है । (४) नम्रतायुक्त मधुर वचन बोले । मीठा वचन वशीकरण मन्त्र कहा गया है । मधुर वचनसे चारों ओर सुख उपजता है । सुख ही तो मनुष्यका साध्य है न ? (५) हितकारक वचन बोले । वाणीसे भी किसीका अहित न करे । वातसे ही बात विगड़ती है । (६) व्यर्थ न बोले । अभिमानके वाक्य न बोले । अनर्गल, अहंकारकी वाणी बोलनेवालेकी महिमा घटा देती है ।

(७) भगवद्गुण-कथन, शास्त्रपठन, नामकीर्तन, नामजप करे । पवित्र पद-गान करे । खस्तिवाचन, मङ्गल-पाठ आदि सदा कल्याणदायक होते हैं । (८) अपनी प्रशंसा कभी न करे । आत्मश्लाघा अपने आपको तिनकासे भी हल्का बना देती है । आत्मप्रशंसककी सर्वत्र निन्दा होने लगती है । (९) जिससे गौ-त्राहणकी, गरीबकी या किसीके भी हितकी हानि होती हो, ऐसी बात न बोले । यह प्रयत्न करे कि जो हितकर और प्रिय हो उसे ही बोले । (१०) आवश्यकता होनेपर दूसरोंकी सच्ची प्रशंसा भले ही करे, किसीकी भी व्यर्थ खुशामद न करे । प्रशंसा या स्तुति अच्छे गुणों और कायोंमें प्रवृत्ति कराती है और खुशामद झूठी महिमाको उत्पन्नकर दम्भको उभारती है । (११) गम्भीर विषयोंपर विचारके समय बिनोद न करे । ऐसा हँसी-मजाक न करे, जो दूसरोंको बुरा लगे या जिससे किसीका अहित होता हो । व्यर्थ हँसी-मजाक तो करे ही नहीं । हँसी-मजाकमें भी अशिष्ट एवं अश्लील शब्दोंका प्रयोग न करे । हँसी-मजाक भयंकर अनर्थके कारणतक बन जाते हैं ।

शरीरका सदाचार—(१) किसी प्राणीकी हिंसा न करे । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न दे । (२) अनाचार-व्यभिचारसे बचे । ये दोनों समाजसे और खर्गसे गिरा देते हैं । (३) सबकी यथायोग्य सेवा करे । सेवा धर्म है और सेवासे मेवा (परम सुख) मिलता है । (४) अपना काम अपने हाथसे करे । खावलम्बित्व आत्मशक्तिका सहुपयोग है । (५) गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करे । अभिवादनसे आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं । (६) पवित्र स्थानोंमें, तीर्थोंमें, सत्संगोमें संतोंके दर्शन-हेतु जाय । इससे संयम और सदाचारका बल मिलता है । (७) मिट्ठी, जल आदिसे अपने शरीरको पवित्र रखे । शुद्ध जलसे स्नान करे । (८) पाखानेमें नंगा होकर न जाय । टबमें बैठकर अथवा नंगा होकर स्नान न करे । यह सब हमारे शिष्टाचारके विरुद्ध हैं । (९) मलत्यागके लिये बाहर जाय तो नदी या तालाब आदिके किनारे भूलकर भी मलत्याग न करे । मलपर मिट्ठी, बालू आदि डाल दे, जिससे दुर्गन्ध न फैले । शौचाचारकी यह भारतीय पद्धति अत्यन्त उत्तम है । (१०) मल-मूत्रका त्याग करके भलीभौति हाथ-पैर धोये, कुल्ला करे । (११) खड़ा होकर पेशाव न करे । खड़ा होकर पेशाव करनेका स्वभाव पशुओंका होता है । (१२) जहाँ-तहाँ थूके नहीं, अपवित्र, दूषित पदार्थोंका स्पर्श न करे । (१३) रोगकी, जहाँतक हो, आयुर्वेदिक चिकित्सा कराये । आयुर्वेद-चिकित्सा अपने देशकी जल-न्याय और संस्कार-संस्कृतिके अनुरूप है । (१४) देशी दवाइयोंमें भी तथा आवश्यक होनेपर एलोपैथिक आदि दवा सेवन करनी पड़े तो उनमें भी जिनमें कोई जान्त्र पदार्थ हो, उनका प्रयोग बिल्कुल ही न करे । प्राकृतिक चिकित्सापर, खान-पानके संयम आदिपर विशेष ध्यान रखें । रामनामकी दवा ले । जब नाम भवरोगका नाशक है तो सावारण रोगकी तो बात ही क्या ? पर इसके लिये नाम-प्रभावपर अदृट नैष्ठिक विश्वास होना चाहिये ।

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटने दर नहीं लगती । फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते हैं कि ‘मेरे समान पापी जगत्मे दूसरा कोई नहीं है ।’ एक बार महात्मा गौधीजीसे किसीने पूछा था कि ‘जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाने नहीं, इसमें क्या कारण है ?’ महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि ‘पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमारी दूसरी है ।’ सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते न थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे । मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्‌की विस्मृति हो गयी और जगत्का कोई दृश्य मनमें आ गया, वस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।

जिन तनु दियो ताहि विसरायो ऐसो नमक हरामी ॥

X X X

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और धंटे-धंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें भन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौन-से दोष बने हैं और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्‌के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे ऐसा बल दें ।

यह हमेशा याद रखना चाहिये कि जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता ! अतः सबके कल्याणकी भावना करते हुए इन्द्रियों और मनपर संयमका नियन्त्रण रखकर सबके साथ साधु-शिष्ट व्यवहार करना संयम और सदाचार है । इसीसे मानवका कल्याण हो सकता है ।

सदाचारके लक्षण और परिभाषा

(देखक-श्रीवैष्णवपीठाधीश्वर आचार्य भीविठ्ठलेश्वरी महाराप)

इस लोकमें यश और परलोकमें परम सुख देनेवाला एवं मनुष्योंका महान् कल्याण करनेवाला आचार ही प्रथम धर्म है। आचारसे ही श्रेष्ठता प्राप्त होती है, आचारसे ही धर्मलाभ होता है, धर्मसे ज्ञान और भक्ति तथा इन दोनोंसे मोक्ष एवं भगवत्प्राप्ति होती है—ऐसा मनु, यज्ञवल्क्य आदिका मत है। आचार ही व्राहण-क्षत्रिय-वैदेय और शूद्र चारों वर्णोंके धर्मका ग्रहीर है। आचार-न्रष्ट पुरुषोंसे धर्म-विमुख हो जाता है।

ब्रह्मामपि वर्णान्नामाचारो धर्मपालकः ।
आचारस्तपुदेहानां भवेद् धर्मः पराङ्मुखः ॥
(पराशर० १ । ३७)

अतः आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचारसे क्या नहीं सिद्ध होता—

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः ।
आचारः परमं ज्ञानयाचारात् किं चु साध्यते ॥

इसप्रकार अन्यथ-व्यतिरेकसे आचार ही ऐहलैकिक-पारलौकिक श्रेयका हेतु सिद्ध होता है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें वतलाया है कि आचारसे आयु, लक्ष्मी और कीर्ति उपलब्ध होती है। इसलिये जो अपना वैभव चाहे, वह आचारका पालन करे। आचार-लक्षण धर्म है, संत भी आचार-लक्षणसे लक्षित होते हैं। अतः साधुओंका व्यवहार ही आचारका लक्षण है। सदाचारसे विपरीत वर्ताव करनेको दुराचार कहते हैं। जैसे सृष्टिकी विचित्र रचनाविषयक और उसके कर्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके अस्तित्व-विषयक ज्ञान होनेसे मनुष्य आस्तिक बन उनकी शरण होकर शान्तिरूप सुखको प्राप्त करता है, उसी प्रकार सदाचारको जानकर तदनुसार व्यवहार करनेसे वह अपने जीवनमें

उत्तम प्रतिष्ठा पाकर मरणानन्तर सद्गतिको प्राप्त होता है। साधुलोग निर्दोष होते हैं। सदाचारमें सत्त्वशब्द शिष्टका बाचक है। उनका जो आचरण है, वह सदाचार कहलाता है। 'हारीत-सृति'में कहा गया है—

साधवः क्षीणद्रोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेपामाचरणं चतु लदाचारः स उच्यते ॥

शिष्टोंका स्वरूप वौधायनने इस प्रकार वतलाया है—

'शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकारा छुम्मी-धान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभसोद्भ्रोदविवर्जिताः ।'
(वौधायनधर्मसू० १ । १ । ५)

'ईर्ष्य-डाहसे रहित, थाहंकारविहीन, छः मास (या एक वर्ष) भरके उपयोगी धान्यके संप्रही, लोलुपतारहित, पाखण्ड, अहंकार, लोभ, मोह और क्रोधसे जो अमुख हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं। इसकी पुर्ण महामारतके अरण्यपर्वसे भी होती है—

अकृध्यन्तोऽनसुयन्तो निरहंकारमत्सराः ।
मानवाः शमसरपन्नाः शिष्टोचारा भवन्ति ते ॥
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ।
गुलशुश्रूपयो दान्ताः शिष्टोचारा भवन्ति ते ॥
. (महाभा० वनप०)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि दया-दाक्षिण्य-विनयादि गुणोंसे युक्त व्यक्ति शिष्ट कहलाते हैं। श्रुति-सृति-सदाचार एवं आत्माकी प्रसन्नता अर्थात् जहाँ विकल्प हो, वहाँ जिसमें अपनी रुचि हो, वही धर्म-धर्मका उत्पादक है। यह चार प्रकारका धर्मका लक्षण ऋग्यियोंने बताया है। इसको साक्षात्कर्मका लक्षण कहते हैं। धर्ममें चार वार्ते प्रमाण हैं—

श्रुतिः सृतिः सदाचारः स्वत्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥
(याज० १ । १ । ७)

जो मनुष्य धन और विश्वोकी आकाङ्क्षामे गहित हैं, उनके लिये धर्मका यह उपदेश है और जो पर्याप्त कामनाकी चेष्टासे संसारमें पुरुषार्थ करते हैं, उनको धर्मका फल प्राप्त नहीं होता। धर्मके जिज्ञासुओंके लिये श्रुति ही मुख्य प्रमाण है। इसे ही मनुजीने सर्वोत्तम कहा है। इसो श्रुति और एतिके अनुकूल ही सदाचार एवं धर्मका आदर करना चाहिये—

शुनिरमृतिविरोधे तु शुनिरेव पर्यायसी ।
शविरोधे सदा कार्यं स्तृतं ददित्तम् सताम् ॥

(जानालिमृति, भीगायातनवार्तिक)

महर्षि जैमिनिने ‘नीमांसादर्शन’में वत्त्वाया है कि श्रुति-विरोधमें सृष्टिके वाक्यमूलक श्रुतिका अनुसारान करना चाहिये और जविरोधमें सृष्टिके मूल वेदका अनुमान होता है। जो बातें देखने न दीजें और सृष्टिमें लिखी हों, उसे भी वेदमूलक मानना चाहिये; क्योंकि वेदोंकी किसी द्रुत शास्त्रमें उसका प्रमाण रहा होगा। और जो पुरुष शास्त्रोंके पठने और अवण करते—दोनोंमें असमर्थ हो तो उनके लिये सत्युरोक्त आचार ही प्रमाण है; अर्थात् जगद्मे जो वसिष्ठ, जनक, व्यास, युविष्ठि आदि धर्मात्मा भृत्युपर हुए हैं तथा जो इस कालमें दर्भ-कपटमें गहित शुद्ध चरित्रवाले वर्मात्मा विद्वान् लोग पृथ्वीपर विद्यमान हैं, उनके जो वर्म-विषयक आचरण हैं, उनको भी वर्ममें प्रमाणहृपमें जानना चाहिये—‘सदाचाराद्धा’ (वैद्या० धर्मग्रन्थ १८)। तैत्तिरीय उपनिषदमें भी वत्त्वाया गया है कि यदि कभी तुमको कर्मके विषयमें या आचरणके विषयमें संदेह हो तो उस कालमें उस देशमें जो व्रातण विचारशील, शुभकर्मोंमें छो हुए, शान्त वित्तवाले और धर्मकी कामनावाले हो वे जैसा उस विषयमें आचरण करते हों वैसा ही तुमको भी करना चाहिये।

ऋषिमुनि आदि दर्शमालोंके हृदयम व आँखोंमें तथा उनके धर्म-निषयम आरप्तीहो तो निराकुर्तीमें प्रदण करना चाहिये और जो कोई प्राचुर दर्भके सोगसे उनके अनुभिन आनंदग दी तो उनकी थोर आन नहीं देना चाहिये।— गान्धर्वस्त्वायं सुवर्णिनानि तानि त्वयोपाम्ब्रानि जो इतराज्ञि (तंत्रि०)। अर्थात् देव शिष्य। हमारे जो अच्छे आचरण हों, उन्हींका प्रदण-आचरण तुम्हारा कर्तव्य है, दूसरोंका नहीं। अतः जिस मार्गसे हुआरे तिर्ता-नितामृद्द-र्त्ति गो है, उसी मार्गसे नहीं जो दुर्गतिरी प्राप्ति नहीं होगी। अतः सदा समर्पण-पर हो चलना चाहिये। इसमें अवर्मनागति व अन्यवाच्य धर्महृता गतिजननवा भय नहीं होता—

यत्वाम्य पितरो यत्ता नेत्र याताः सिमायतः ।
तेऽ यायात् रत्नां मार्गं नेत्र गच्छत् रिष्वते ॥
(गमुस्ति ४ । १७८)

कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीयोपनिषद्की शीत्यानन्त्रीमें यज्ञ है कि जो कुछ अनिन्दित कर्म हो, उन्हींको करना चाहिये और जो निनित कर्म है, उन्हें नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोकते जिनिति कर्म वर्णनेवाला सुयशा तथा मन्त्रारक्षो जैव निनिति कर्म करनेवाला अपयद तत्त्व निरन्कारक्षो प्राप्त होता है। जिसकी लोकमें निन्दा नहीं होनी—ऐसा सदाचरण अनिन्दित है और उसके विस्त्र जो असदाचरण है, कर निनित कर्म कहा जाता है। हिंसा न करना, सत्य बोलना, जोरी न करना, पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको क्षमामें रखना, परोपकार करना, इया रखना, मनको नियमित रखना, क्षमा रखना, किसीसे द्वेष न करना, यो-पुरुषोंको नेत्रसे रहना, कुटुम्बको क्लेश न देना, उनका पालन-पोषण करना, नाश्वरोंकी रक्षा करना, उनको सब प्रकारसे शिक्षित बनाना, उनके ऊपर क्रूर न होना तथा उनका अल्पायु एवं असमतामें विवाह न करना,

परखी-गमन न करना, शरीरको खच्छ रखना, निश्छब्द रीतिसे आचरण करना, वृद्धजनोंकी प्रतिष्ठा रखना, छोटोंसे प्रेम करना, राज-नियमके अनुसार चलना, दूर्जनोंका सङ्ग न करना, रोगिजन तथा पङ्कुओंका उपहास न करना, उनके ऊपर दया रखना, रोगीके अपंगपनेका तथा किसीके मरनेका ताना न मारना, प्रिय वचन बोलना, भली प्रकारका उपयुक्त उद्यम करते जाना, वृथा आक्षेप न करना, वादविवाद न करना, अपनी शक्तिके अनुसार वरतना, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा न करना, देववत् माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा करना, गर्व-अभिमान न करना, देशकालके अनुसार चलना, जिह न करना, अभिमान न रखना, अतिथि-सल्कार करना, किसीके भी उत्तम गुणोंको ग्रहण करना, दुर्घुण न ग्रहण

करना इत्यादि सदाचरण आनन्दित कर्म कहलाते हैं । आचारवान् पुरुष ही आयु, धन, पुत्र, सौभ्य, धर्म तथा शाश्वत भगवद्गाम एवं यहाँपर विद्वत्समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ।

आचारवत्तो मनुजा लभन्ते
आयुश्च विच्चं च सुतान् च सौभ्यम् ।
धर्मं तथा शाश्वतमीरालोक-
मत्रापि विद्वज्जनपूज्यता च ॥

इसलिये जिससे अपयश और कुराति हो तथा जिससे पुण्य नष्ट हो जायें, ऐसा कर्म कभी न करे—
श्यशः प्राप्यते येन येन शापगतिर्वेत् ।
पुण्यं च धश्यते येन न तत्कर्म लमच्चरेत् ॥
वस्तुतः इन्हींमें सदाचारकी परिभाषा चरितार्थ होती है ।

सदाचार-जननी भारत-संस्कृतिकी जय हो ।

(रचयिता—महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्री)

यामास्थाय समस्तमस्तकमजिर्येत जीवोऽध्यये
यस्या रक्षणरक्षितो विमलधीः स्वर्गोऽपि सम्पूज्यते ।
पारे व्योम्नि विराजते च सततं यस्याः समालोचनात्
सैषा भारतसंस्कृतिर्विजयतामित्यन्तराशास्त्रे ॥

‘हम सभी भारतीयजन अपने अन्तर्दृष्टयसे इस बातकी सदैव अभिलाषा करते रहते हैं कि हमारी यह लोकोत्तर भारतीय संस्कृति (सदाचारकी परिपाठी) सदैव विजय (उत्कर्ष)को ग्राप्त करती रहे । जिसको भलीभाँति अङ्गीकार करके अधम जीव भी समस्त जनोंका शिरोमणि बन सकता है एवं जिसकी सुरक्षासे सुरक्षित होकर निर्मल त्रुदिवाला सर्वांमें भी प्रजित होता रहता है तथा जिसके निरीक्षण—ध्यान रखने एवं प्रचारके कारण वैकुण्ठमें भी निरल्लर विराजमान रहता है, ऐसी सदाचारमयी भारतीय संस्कृतिकी सदैव जय-जयकार हो ।

सदाचारके मूल तत्त्व

(श्रीमद्रामानुजाचार्य खासी श्रीकृष्णचार्याचार्य राजाचार्यजी महाराज)

मीमांसादर्शनके अनुसार 'सदाचार' शब्दसे ऋषि-मुनि-देवता एवं मनुष्योंके सत् (श्रेष्ठ) आचरणोंका समुदाय ही अभीष्ट है। दूसरे शब्दोंमें धर्मानुकूल (प्राकृतिक नियमानुकूल) शारीरिक, मानस, वौद्ध एवं आत्मीय क्रिया-कलापको 'सदाचार' कहते हैं। अथवा यों कहिये कि प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें सोनेतक जिन शारीरिक, मानस, वौद्ध और आत्मीय चेष्टाओंके करनेसे शरीर, मन, बुद्धि और आत्माकी पर्याध उत्तरि हो सकती है, उनका नाम 'सदाचार' है। प्रकृतिके नियमानुकूल चलनेसे ही खास्य-रक्षा, मनस्तुष्टि एवं आत्मीय शान्ति, उत्तरि आदि हो सकती है। संक्षेपमें इन सदाचारोंका परिगणन इस प्रकार हुआ है—उत्थापन, इष्ट-देवतास्तवन, पृथ्वी-प्रार्थना, शौचकर्म, दन्तधावन, स्नान, वज्रपरिधान, संधादि नित्यकर्म, भोजनकार्य, व्यवहार, शिवाचार, अर्थोपार्जन, सायंतनकर्म, शयन आदि। इनमेंसे हम यहाँ केवल कुछ सदाचारों और उनके मूल तत्त्वोंका ही प्रतिपादन करेंगे।

प्रबोध एवं शश्यात्मान—

सदाचारका सबसे पहला नियम ब्राह्ममुहूर्तमें उठना है। शारीरिक खास्यकी इष्टिसे तो सूर्योदयसे प्रथम उठना उपकारक है ही, इसके अतिरिक्त जो प्रातःस्वनीय देवता ब्राह्ममुहूर्तमें हमें दिव्य शक्तियाँ प्रदान करते हैं, उनका लाभ भी एक महाफल है। सविता, अश्विनीकुमार, ब्रह्मा, ऊपा आदि 'प्रातर्यावाण' देवता अपनी प्रेरणा, चक्षुबल, ज्ञानबल, उत्साहबल बाँटते हुए त्रैलोक्यमें रश्मिप्रसार करते हैं। बुद्धियुक्तप्रधान मन ही इन प्राकृत शक्तियोंका ग्राहकपात्र है। शाश्व कहते हैं—

'ग्राहे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुपः ।'
(महा० १३ । १०४, भावप्रका० दिनचर्या०)

प्रातःमुहूर्तका निर्णय निर्णयापूर्त इस प्रकार करना है—
तत्त्वेत्य पद्धिमं यामे मुहूर्तो वस्तुतीयकः ।
स ग्राह इति विग्राहतो विहितः सम्प्रयोग्यने ॥

इस शास्त्रवचनके अनुसार रात्रिका अन्तिम प्रहरका तीसरा या अहोरात्रका ५५वाँ मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। इसके बादकी पिछली दो घण्टियाँ रोदमुहूर्त हैं। द्वादश घण्टीका एक घटा होता है। सूर्योदयके लगभग डेढ़ घण्टा प्रथम ब्राह्ममुहूर्त होता है। उस समय उठ जाना आवश्यक है।

इष्टदेवत-स्त्रंसरण—

प्रातः: उठकर सर्वप्रथम हमें अपने इष्टदेवता स्त्रण करना चाहिये, जिनके अनुप्राहसे स्तुति प्रत्योपलापित तपोनहुया रात्रिके वरुणपाशसे निकालकर सुषिके पुण्याद्वाकालमें हम एक नवीन जीवन-धारा प्रवाहित करनेके लिये प्रवृत्त हो रहे हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

**प्रातः स्त्रामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै
नारायणं गरुडवाद्वत्समङ्गाभ्यम् ।**

प्राहाभिभूतवरवारणसुक्षिष्ठेतुं

घकागुधं तरुणवारिजपद्मप्रस्त्रम् ॥

सप्तर्णवाः सप्त कुलाच्चलाच्च

सप्तर्षयो द्र्गपराश्र्व सप्त ।

सप्तस्वराः उपरस्त्वानलानि

कुर्वन्तु सर्वं मम उपभातम् ॥

'संसारके भय एवं क्लेशनाशके लिये मैं कमलनाम, गरुडवाहन भगवान् नारायणका स्त्रण करता हूँ, जिन्होंने ग्राहसे गजकी रक्षाके लिये चक्र धारण किया था और जिनके नेत्र तरुण कमलके सपान रक्ताभ हैं। उसकी कृपासे क्षीरादि सातों सगुद्र, महेन्द्रादि सातों कुछ पर्वत, सातों चूपि, सातों हीप, सातों स्वर और सातों पाताल प्रातःकालको हमारे लिये मङ्गलमय बनाये ।'

शौचकर्म—

इष्ट देवता-स्मरणान्तर शौचकर्म (मूत्र-पुरीगोत्सर्ग)-का अनुगमन आवश्यक है। यथासम्भव दिनमें शौच करते समय मुख उत्तर दिशाकी ओर और रात्रिमें दक्षिण दिशाकी ओर करना आवश्यक है। दूसरा नियम शिरोत्तेष्ठनका है। मस्तक किसी नियत वक्षसे ढककर ही शौच जाना आवश्यक है। तीसरा नियम है—मौनव्रत और चौथा नियम यज्ञोपवीत-को दक्षिण कर्णपर चढ़ाकर शौच जाना। इनका मूलतत्त्व यह है कि वेदोदित इन्द्रिय-विज्ञानके अनुसार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन—ये पाँच इन्द्रियाँ मानी गयी हैं। दर्शनशाखामें स्त्रीकृत इतर इन्द्रियोंका भी इन्हीमें अन्तर्भाव है। अग्निसे वार्गन्दियका, वायुसे प्राणेन्द्रियका, आदित्यसे चक्षु इन्द्रियका भावावर (चमकदार स्थानबद्ध) सायंतन चन्द्र (सोम)से मनका और निरायतन सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित अतएव दिक् नामसे प्रसिद्ध सोमसे श्रोत्रेन्द्रियका विकास हुआ है। इन देवताओंसे उत्पन्न इन्द्रियोंमें दिव्य प्राण सूक्ष्मरूप विद्यमान रहते हैं। फलतः पवित्र सोममय श्रोत्रेन्द्रिय गोलकोंसे भी पवित्र सौम्य प्राणका गमनागमन सिद्ध होता है। पुरुषका वामाङ्ग सोमप्रधान है और दक्षिणाङ्ग अग्निप्रधान है। दक्षिण कर्ण आग्नेय होनेसे अति पवित्र है। अतः वह सर्वदेवोंकी जावासूमि भी है, इसलिये यज्ञोपवीतकी पवित्रताकी रक्षाके लिये उसे दक्षिण कर्णपर चढ़ानेका प्रादेश है। बृहस्पति कहते हैं—

आदित्य वस्त्रो छदा वायुरस्थित्वं धर्मराद्।
विग्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति वै यतः ॥
पराशारका भी यही मत है—

प्रभासादीनि तीर्थानि गद्गद्या सरितस्तथा ।
विग्रस्य दक्षिणे कर्णे निवसन्ति हि सर्वदा ॥
मूत्र-पुरीगोत्सर्ग कभी खड़े-खड़े नहीं करना आहिये। देवाद्योंके समीपकी भूमि, हरित वासयुक्त भूमि,

चतुष्पथ, राजमार्ग, विदीर्ण भूमि, नदीतट, पर्वतमस्तक, प्राणिसंकुल स्थान, भूमियिल, वल्मीकिस्थान, भस्य, तीर्थ-तटों आदि स्थानोंसे दूर शौच करना चाहिये। ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौके सामने भी शौच न करे। ‘ग्रलभाण्डं न चालयेत्’ आदि आदेशको लक्ष्यमें रखते हुए शौच-कर्ममें कभी वलप्रयोग न करे।

स्नान—

नित्य नैमित्तिक काम्यादि छः स्नान कर्मोंमें प्रथम नित्य स्नानके सात विभाग माने गये हैं। ये मन्त्रस्नान, मृत्तिकास्नान, अग्निस्नान, वायुस्नान, दिव्यस्नान, जलस्नान, मानसस्नान—इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इनमें ‘अपवित्रः पवित्रो वा’ आदि मन्त्रोंका उच्चारण कर भस्म-(यज्ञभस्म) लेप कर लेना अग्निस्नान है। गोरजका लेप कर लेना वायुस्नान है और आतप वर्षमें स्नान कर लेना दिव्यस्नान है। साक्षात् जलसे स्नान कर लेना वाह्ण-स्नान है तथा अन्तर्जगत्में इष्ट देवताका स्मरण करते हुए स्नानकी भावना कर लेना मानस-स्नान है। स्नान एक धर्म अत्यावश्यक कर्म है। केवल ब्राह्मणविशेष ही इसका मुख्य लक्ष्य नहीं है, अलएव इसे नित्य कर्म माना गया है। परंतु रोगादि दशामें जल-स्नान निषिद्ध है। ऐसी दशामें स्नान न करनेसे प्रत्यवाय सम्भाव्य है। इस दोषके परिहारके लिये ही अशक्त रोगार्त मानवोंके लिये इनका (मन्त्र-ज्ञानादिका) विवान है। स्नान-कर्मके सम्बन्धमें निम्नलिखित अवान्तर सदाचारोंका ध्यान रखना भी आवश्यक है।

प्रातः सूर्योदयसे पहले ही स्नान करे। नग्न होवार, अजीणविद्युतमें, रात्रिमें तथा दूसरेकी गीली धोती, सिल्क-फटे-मैले आदि वस्त्र पहनकर भी स्नान न करे। वर्षाकृतुमें गद्गादि पवित्र नदियोंको छोड़कर अन्यत्र स्नान न करे। नदी न हो तो तालाबमें और तालाब न हो तो कूपपर स्नान करे। इसमेंसे कोई भी साधन उपलब्ध न हो तो घरमें ही स्नान करे। यथा-

समय शीतल जलसे ही स्नान करें। जनन, परणाशौचोंमें, संक्षान्ति-प्रहणादि पर्योपर, जन्मदिनमें, भारपृथ्वी संपर्श होने-पर उप्पन् जलसे स्नान न कर शीतल जलसे ही स्नान करना चाहिये। एक वस्त्र (केवल धोती) पहनकर तथा भोजन वस्त्रके स्नान न करे। जिस नदी या तालुक आदिकी गहराईका पता न हो, उसमें भी स्नान न करे। मन्त्र, सर्प, घड़ियाल आदिसे युक्त नदनदियों तथा सरोवरोंमें भी स्नान न करे। स्नानारम्भमें यथाशक्ति 'दूर्मं मे गङ्गे' प्रभृति गन्त्रोका पाठ करना चाहिये।

स्नान-सदाचारके खूल तत्त्व-प्रातःस्नान करनेसे रूप, बठ, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दृख्यप्ल-नाश, तप और मेधा—इन दश गुणोंका लाभ होता है। इन दश गुणोंके लाभ करनेमें चन्द्र और सूर्य ही कारण हैं। रात्रिभर चन्द्रामृतसे जल पुष्ट रहता है और सूर्योदयके बाद सूर्यकिरणद्वारा वह अमृत आकृष्ट हो जाता है। अतः सूर्योदयसे पूर्व नहानेनेपर वह अमृत स्नान करनेवालेको प्राप्त होगा। इसी प्रकार दिनभर सूर्यरशिमके द्वारा जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है, वह रात्रिकी ठंडकके कारण जलमें ही रह जाती है। इसी कारण शीतकालमें प्रातः-काळ जल गरम रहता है, उस जलमें सब जल्दियोंमें विशेषकर शीत-श्रृङ्खलमें स्नान करनेसे त्वचापर जरा-सा प्रभाव नहीं होता तथा विविध लाभ होते हैं। रोगके कीटाणु प्रायः जलमें ही रहते हैं, सूर्योदयके पहले वे कीटाणु गम्भीर जलमें चले जाते हैं, अतः प्रातःस्नान करनेपर रोग कीटाणुका संसर्श भी नहीं होता। अतः बुद्धिमान् जनोंको प्रातःकाल ही स्नान कर लेना चाहिये। स्नानके बाद संध्या, तर्पण और जपादि करना चाहिये।

भोजन-कर्म—

नियकर्मोंके अनन्तर आवश्यक कर्म है भोजन। प्रजापतिने देवता, पितर, अमूर, पशु और गनुप्प

नामकी धापना। पोन्प्रजाओंके लिये भोजनकी अवश्यकता हुए मनुष्योंको यह आदेश दिया कि तुम अहोरात्रमें सायं-प्रातः दो बार ही भोजन करो। इस देवके आदेशके अनुसार हमारा यह अनुसृत वर्तन्य हो जाता है कि प्रातु अथवा प्रवृत्तिमें, अनुसृत सायं-प्रातः नियत समयपर दो बार ही भोजन कर, पशुओं या छानुगोंकी तरह दिन-रात इत्यतः अथागमद प्राप्तोंका पेयण न करते रहें। भोजन ही हमारे स्थूल-भूम्बल कारण शरीरोंकी प्रतिश्वास बनता है। इसीलिये भोज्य पदार्थोंमें बार भोजन-पद्धतिमें साक्षात् रखना चाहिये।

भोजन-कर्ममें सम्बद्ध अवान्तर सदाचारोंमें भी ध्यान देना आवश्यक है। दो दाय, दो पांच, एक मुख—इन पाँचोंको आर्दका (धोका) ही भोजन करे। म्लेच्छ, पतित, अन्त्यज, कृष्ण, वैद्य, गणिन, गण (सामूहिक भोज), रोगी, नास्तिक, दूराचारी, हीनाश्च, अधिकारी, जुवारी, शिवारी, पण्ड, कुल्या जी, प्राड्विवाक्, (जज) राजकर्मवारी, विविक आदिसे न तो विसी प्रकार परिप्रह ले और न इनका छन खाय। शुद्र वस्त्र पहनकर और उत्तरीय लेवर ताथ-पंग और मुँह धोकर पीठासनपर बैठकर गोप्राप्त निकालकर अपना मस्तक ढककर, दक्षिणकी ओर मुख वस्त्रके भोजन करे। पतित (पापी) सूक्त, खान, कुकुकुट, रजखला, नपुंसकाकी दृष्टिके सामने और आईं सात बीत जानेपर ठीक दोपहरमें, प्रातःस्नायंकी संथाओंमें, गीले वस्त्र पहनकर, धोतीको ऊर्ध्वांश लपेटकर तथा एकवस्त्र होकर भोजन न करे। जलमें वैठकर, उकड़ बैठकर, पैरपर पैर रखकर और जूते पहने-पहने और हथेली टेककर भोजन न करे। भोजन करते समय रुक्ष, पुत्र, माता-पिता आदिसे बाद-विवाद न करे। पाँच फैलाकर, गोदमें भोजन-पात्र रखकर, ही तथा पुत्रोंके साथ एक थालीमें भोजन न करे। भोजन

करते समय अङ्गहास न करे, न मस्तकपर हाथ रखे और न उसे छुजलाये। जगत्की स्तुति करके भोजन आरम्भ करे। भोजन-सामग्री सामने आ जाय तो उसे देखकर मुँह न बिचकाये। क्रोधवश भोजन-थालीको बीचमें ही छोड़कर उठ खड़ा न हो। समयपर रुखा-सूखा जैसा भी भोजन सामने आ जाय उसे साक्षात् अनन्दल मानकर उद्देशरहित होकर प्रहण करे। देवताओंको निवेदन किये बिना भोजन न करे। गुड़-खड़े अथवा चन्दे-चलते, झूलमें बैटकर, बिना आनन्दके, नह या कार्यसिके आसनपर बैटकर भोजन न करे। अनेक भनुष्योंकी दृष्टिके सामने अथवा किमी एक व्यक्तिके देखते हुए अनेक व्यक्ति भी भोजन न करे। हयेलीमें स्वकर घौर-सोला-तोला भोजन न करे। गरिबारके अन्नकर व्यक्तियोंको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करे। यथासम्भव अनियिको भोजन कराकर भोजन करे। यदि पदोन्नयमें निर्णी गो-वाहणोंपर कोई संकट आया हो तो उनकी यथाशक्ति राहायता करके ही भोजन बरे। चन्द-मूर्य-ग्रहण तथा अजीर्णविष्यमें भी भोजन न करे। दूटे, छौंह एवं उत्सम हीन वर्तनमें भोजन न करे। शाक, धीर आदिके छोटे पात्रोंको बड़ी थालीमें न रखे। धन-सामर्थ्य रहते निन्द्य भोजन न करे। द्विजाति व्यक्ति रुक्ष, याज, लहसुन, मसूर तथा रात्रिमें तेल, दाढ़ि न खायें। उच्छिष्ट अन्नादिमें वृत न खाये। भोजन करते समय सूर्य, चन्द्र और तारोंको न देखे तथा वेदगन्त्रोंका उच्चारण न करे। भोजनके आदि-अन्त तीन-तीन बार आचमन करे। हाथसे हयेलीमें लवण (नमक) न ले। तौबेके पात्रमें दूध या गन्नेका रस न पीये। नारियल-का पानी और मधु कँसी एवं तौबेके वर्तनमें न पीये। श्रावणमें शाक, भाद्रमें दही, आश्विनमें दूध, कार्तिकमें दल और माघमें मूँछी न खाये। बायें हाथसे जल न पीये। प्रतिपदाके दिन दुःखड़ा खानेसे अर्थनाश तथा

धण्डीके दिन नारियल खानेसे बुद्धि नष्ट होती है। चतुर्दशीके दिन उड़द खानेसे आमा मलिन होता है। कुकुट, शान, मूकर, रजस्तला और नपुंसक-की दृष्टिके सामने भोजन न करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि इनकी दृष्टिमें विष रहता है, जो अन्नमें संकरित हो जाता है। इससे अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है। परंतु पिता-माता, बन्धु, दैद, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस चक्रतेकी दृष्टिमें भोजन उत्सम है, इनकी दृष्टिसे भोजनका दोष दूर हो जाता है, इनकी दृष्टि अमृतमयी है। अन्नकी स्तुति करके भोजन करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि वेद-विज्ञानके अनुसार उपने मनोभावोंका परिणाम प्रकृतिपर भी होता है, अतः अन्नपर भी अनेकी स्तुति और निन्दाका परिणाम होना अनिवार्य है। निन्दासे अन्नगुणोंका अभिभव तथा तुलितसे उसके गुणोंका उद्देश होता है, अतः उसकी स्तुति करके भोजन करे।

सूर्य-चन्द्र, प्रहृणमें भोजन न बरे—इस सदाचारका मूल तत्त्व यह है कि सूर्य और चन्द्र-प्रहृणमें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें पार्थिव छायाके सम्पर्कसे विषमय हो जाती हैं, उनसे सम्पूर्ण सब पदार्थोंमें वह विष संकाल्प हो जाता है। अन्नके साथ वह विष हमारे शरीरमें चल्य जाता है, जो सात पीढ़ीतक दुधिकिस्य कैसर, कुष्ठ, भगांदर, अस्फीव्रण, अन्यन्त्र आदि रोगोंका जनक हो जाता है। शाक, धीर आदिके छोटे पात्रोंको (कठोरी आदिको) बड़ी थालीमें न रखनेका मूल तत्त्व यह है कि वेद-विज्ञानके अनुसार जड़ पदार्थोंमें भी शूण-ज्ञान और स्पर्धा प्रतिष्ठित है, उनका ज्ञान एक अथवा 'उदाम' है। 'उदाम' यह ज्ञान सच्चिका माप है। वड़े पात्रमें जब छोटे पात्रोंको रखेंगे तो उन्हें परस्पर स्पर्धकि कारण पदार्थोंमें भी स्पर्धागत्वा उत्पन्न हो

जाता है, जिसके भोजनसे भोक्ताके मन, बुद्धि आदिमें स्पर्धाभाव प्रतिष्ठित होता है। अतः छोटे पदार्थोंके धात्रीके बाहर रखकर भोजन करना चाहिये। देवताओं (श्रीभगवान्)को निवेदन किये बिना भोजन न करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि भोग्य पदार्थोंको भगवान्‌के समर्पण करनेसे उनमें दिव्यभाव जागृत होते हैं, प्रसाद-बुद्धिसे स्वीकार किया हुआ भोज्य कर्मवन्धनको काटता है। परमात्माके दिये हुए पदार्थोंको जो उनको समर्पण न करके पाता है, वह रत्न (चोर) है—‘तैर्यात्म-प्रसादैभ्यो यो खुड़के रत्ने एव लः ।’ (गीता ३।१२)

शयन-विधि

शारीरके अङ्ग-प्रत्यक्ष और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वे चल नहीं सकते। निद्रा-अवस्थामें उन्हें शान्ति मिल जाती है। अतः निद्रा प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। पशु-पक्षी भी निद्रा लेते हैं। अर्धचेतन वृक्ष भी सो जाते हैं। रात्रिमें वारुणभावके कारण चेतना (ज्ञान) बीस अंश गिर जाती है। शारीरिक तीन स्तम्भोंमें निद्रा भी एक स्तम्भ है, परंतु अतिनिद्रा एक रोग है। किस प्रकार तथा किस समय सोये इसका भी विवार आर्यशास्त्रोंमें किया गया है। पाँव गीले करके न सोये। उत्तर दिशा और पश्चिम दिशाकी ओर मस्तक करके न सोये। दूटी, शिथिल, अग्नि-दग्ध, विद्युतसे दग्ध, मलिन, फटी खट्टा (शब्दा) पर न सोये।

हाथोंका तकिया बनाकर, उन्हें छातीपर रखकर, पैरों-को सिक्कोषकर और सिरधाने तथा पैरोंके पास ईश्वारीं समीप दीपक रखकर न सोये। पुण्यमाला लेन्दर, श्लृङ्खालको अतिरिक्त समयमें द्वीपे साथ न सोये। दिनमें, प्रातः-सायं और संध्यावाह्यमें न सोये। सब घड़ पहनकर अथवा नग्न होकर भी न सोये। अङ्गशार्दि लेता हुआ न सोये। पर्वत-मस्तकपर, नदीतटपर, नौकामें, आर्द्ध स्थानपर, रात्रिमें वृक्षके नीचे तथा गवाक्षयार्ग, शुद्धमार्ग आठिका अदरोध करके न सोये। शशानभूमि, शून्यगृह, देवताओंमें और खीसमुदायमें भी न सोये। शास्योपहासरत, चपड़ व्यक्तियोंके मध्यमें, खुली छतपर, अग्नुचि प्रदेशोंमें, पशुशालामें, प्रहणके समय, असाध्य एवं हुःसाध्य रोगीकी परिचर्या करते हुए और वृद्ध-पूज्य कुटुम्बियों-से प्रथम न सोये। केश, कपाल, अस्थि, भस्म, बाह्यर आदिसे युक्त स्थानोंमें न विश्राम करे, न सोये। प्राणियुक्त गर्तादिके समीप, बल्मीक या चतुष्पक्षके समीप भी न सोये। नोनेसे पहले अपने दिनभरके शुगाशुभ कर्मोंका निरीक्षण, विहंगावलोकन करते हुए, अग्नुभ कर्मोंके लिये परिताप एवं शारोंसे ऐसे कर्मोंको न करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए ईश्वरका संस्मरण करना चाहिये। तदनन्तर सुखशायी भगवान् शेष नारायणका स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक सो जाना चाहिये।

व्यवहारमें पालनाय शदाचरण

यदन्यैविहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुपः ।
न तत् परेषु कुर्वात जानन्नप्रियमात्मनः ॥

(महा० शान्तिपूर्व २५९। २०)

(भीष्मजी कहते हैं—) ‘मनुष्य दूसरोंके द्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा वर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो वर्ताव अपने लिये अग्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी ग्रिय नहीं हो सकता।

सदाचार—धर्मव्यवस्थाका अन्यतम अङ्ग

(ले०—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी उस्तुती)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यन्न मोहिताः ।
(गीता ४ । १६)

‘क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी निर्णय नहीं कर पाते,’ तब फिर कोई सासारिक मनुष्य—जिसने धर्मशास्त्रोंका स्पर्शतक भी नहीं किया है वह, अपने कर्तव्यका निर्णय कैसे कर सकेगा ? ऊपरका वाक्य श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है। श्रीकृष्ण-जैसे उपदेशक गुरुके मिलनेपर ही अर्जुन भी कर्मका निश्चय कर सके थे। सामान्य मनुष्यके सामने फिर भी कर्तव्य-अकर्तव्यका प्रश्न कैसे ही खड़ा रहता है। समस्या केवल अर्जुनके सामने आयी हो, ऐसा भी नहीं है। उपनिषद्‌में दीक्षान्त उपदेश करते समय शिष्यके सामने इस तरहके उठनेवाले प्रश्नोंका समाधान करनेका प्रयास किया गया है।

‘अथ यदिते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्ता धर्मकामा स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेन् तथा तत्र वर्त्तेथाः।’ (तैत्ति० उप० १ । ११ । ३-४)

अर्थात् ‘जब तुम्हें कर्मके अथवा जीविकाके सम्बन्धमें कुछ संदेह हो तो वहाँके ओभरहित, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें, तुम भी उसी तरहका व्यवहार करना।’ तात्पर्य यह कि विभिन्न देशभेद, कालके भेदसे आपत्काल आदिमें बहुत-से ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जिनके विषयमें धर्मशास्त्रकार मौन-से हैं। ऐसे अवसरोंपर केवल सदाचार (वहाँके शिष्ट पुरुषोंका व्यवहार) ही धर्मका निर्णायक होता है। उदाहरणके लिये—बलात् धर्म-परिवर्तन किये गये व्यक्तियोंको पुनः उसी धर्मी लेनेका प्रश्न। इस सम्बन्धमें स्मृतिकारोंके त्पष्ट निर्देश न होनेपर भी मध्यकालके संतों-महापुरुषोंके द्वारा डाली गयी परम्पराओंके आधारपर आज व्यवस्था दी जाती है कि शुद्धिपूर्वक इस तरहके व्यक्ति प्राप्ति हैं।

जैसे धर्मके निर्णायक वेद और सृतियाँ हैं, वैसे ही सदाचार भी है। यह वेद और सृतिसे किसी भी तरह कम नहीं है। युधिष्ठिरने भी—‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’ (महाभा० बन० ३ । ११३—११७) कहकर सदाचारको ही अनुसरणीय बतलाया था।

देशकी करोड़ों निरक्षर जनता सदाचारको ही (जो परम्पराके रूपमें उसे प्राप्त है अथवा समाजमें जिसे वह देखती चली आ रही है,) धर्म मानती है। यदि इस देशमें पूर्वजोंको श्रेष्ठ मानकर उनके-बैसा आचरण करनेकी प्रवृत्ति न होती तो पता नहीं यह समाज आज कहाँ पहुँचा होता। हमारा समाज मुख्यतया सदाचारपर ही आधृत है। प्रथेक समाजमें कुछ महापुरुष होते हैं, जिनके व्यवहार वहाँ सदाचारमें गिने जाते हैं। जहाँ किसी सदाचारको मान्यता नहीं, वहाँकी उच्छृङ्खल पीढ़ी हिप्पी-समाजके रूपमें देखी जूँ सकती है, जो किसी नियमके अंदर नहीं रहना चाहती। त्रिटेनका संविधान प्रायः परम्पराओंपर ही निर्भर है, अर्थात् पूर्व पुरुषोंके व्यवहारसे वे कानून-जैसे विषयोंतकका भी निर्णय करते हैं।

सत् अथवा शिष्टकी अनेक प्रन्थोंमें विभिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं। संक्षेपमें उन सबका सार इतना ही है कि राग-द्वेष आदिसे शून्य महापुरुष ही सत् या संत हैं। आचारके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि विना किसी विशेषणके भी आचार शब्द अच्छे आचरणके लिये ही व्यवहारमें आता है—जैसे ‘आचारः परमो धर्मः’ आदिमें है। आचारकी शिक्षा देनेवालेको आचार्य कहा जाता है। ‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’ आदिमें केवल आचार शब्दसे सृतियोंमें प्रतिपादित आचरणका

ही प्रहण होता है। इस तरहका व्याख्यासे एक बात और स्पष्ट होती है कि शास्त्रप्रतिपादित व्यवहार आचार है और परम्पराओंके रूपमें चला आनेवाला अष्ट व्यवहार सदाचार। इसे ठीकसे समझनेके लिये एक बात छें। जैसे शास्त्रोंमें कहा गया—‘मातृवत् परदरेषु’(पद्मपुराण १।१९।३५६, गरुडपु ० १।११।१२, पञ्चत० २।४३५, चा० नी० ६।१२, तितेप० १।१४)—परखीमें माताकी बुद्धि रखो, यह

कैसे होगा? इस विषयमें कोई उदाहरण निर्दिष्ट नहीं है। इस सम्बन्धमें रामायणादि इतिहासोंमें महापुरुषोंके व्यवहार (सदाचार) हमें शिक्षा देते हैं। उदाहरणार्थ लक्ष्मणने १३ वर्षतक बनमें साथ रहते हुए भी सीताजीके मुख्यकी ओर नहीं देखा। कोई भी व्यक्ति द्वियोंके मुख्यकी ओर दृष्टि न रखकर चरणोंपर दृष्टि डाले तो स्वयमेव मातृदुद्धि-का उदय होगा, यही सदाचारकी व्यवस्थात्मक शिक्षा है।

सदाचार एवं शीलका स्वरूप, परिभाषा एवं महत्व

(लेखक—पं० श्रीतारिणीश्वरी ज्ञा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य)

‘सदृ+आचार=सदाचार’ (सन् चासौ आचारः) इस विप्रह-वाक्यके अनुसार ‘सदाचार’का अर्थ है—उत्तम आचरण या अच्छा व्यवहार। शास्त्रकारोंकी व्याख्याके अनुसार इस सदाचारके कई भेद हैं। सूनिकार द्वारीतने सदाचार या शीलके तेरह भेद बतलाये हैं—१—ब्रह्मण्यता (ब्राह्मणोंकी भक्ति), २—देवपितृभक्ति, ३—सौम्यता, ४—अपरोपतापिता (दूसरेको न सताना), ५—अन्मूल्यता, ६—मृदुता, ७—अपारुप्य (कठोर न होना), ८—सुखी, ९—मधुरभाषण, १०—छृतज्ञता, ११—शरण्यता (शरणागतकी रक्षा), १२—कृत्यारुप्य और १३—प्रशान्ति। इन भेदोंसे युक्त शीलचारका महत्व शास्त्रोंमें बहुधा वर्णित है। महाभारतमें द्वुर्योधनसे शीलकी महिमा बताते हुए धृतराष्ट्रने कहा—‘तीनों लोकोंमें ऐसी कोई बस्तु नहीं, जो शीलवान्को प्राप्त न हो सके। शीलसे तीनों लोक जीते जा सकते हैं; इसमें संदेह नहीं—

शीलेन हि ब्रयोलोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किंचिद्दसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १२४। १५)

शीलके बलसे कई राजाओंने पृथ्वीको एक, तीन, सात दिनोंमें ही स्वायत्त किया था—

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जलमेजयः।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे॥
एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो द्यान्विताः।
भतस्तेषां गुणकीता वसुधा स्वयमगता॥

(महा० १२। १२८। १६-१७)

इस शील-सदाचारका संक्षेपमें लक्षण यह है कि मनुष्यका ऐसा स्वभाव होना चाहिये जिससे वह सबका प्रशंसा-भाजन बन सके। प्राणिमात्रके प्रति अद्वेष-की भावना, अनुग्रह एवं दान करनेका स्वभाव होना शील कहा गया है—

अद्वेषः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च शीलभेतत् प्रशस्यते॥

(वही, श्लोक ६६)

यद्यपि संसारमें इसके विपरीत भी कहीं कभी देखा जाता है कि शीलरहित दुराचारी लोग भी बहुत धन एवं सुख प्राप्त कर लेते हैं, किंतु इसका उत्तर महाभारतकारने ही दे दिया है—

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्तुवन्ति श्रियं क्वचित्।

न भुञ्जते चिरं तात सखूलाश्च न सन्ति ते॥

(वही, श्लोक ६९)

‘दुःशील लोग भले लक्ष्मीको पा जायें, पर वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते और सूख

नष्ट हो जाते हैं।' ऐसा विचारकर मनुष्यको शीलवान् बननेका ही पथल करना चाहिये।

मनुष्यके लिये यह शील नामक आचार जितना आवश्यक है, उतना ही स्नान-ध्यान-पूजा-पाठ आदि और शाश्वोक शारीरिक आचार भी आवश्यक है। यम-नियमके लक्षण भी कुछ ऐसे ही हैं—

अहिंसासत्यास्तेयप्रहृष्ट्यापित्रिहा यमाः ।
शौचसंतोषतपःस्वाव्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

अर्थात्—‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिह—ये यम हैं तथा पवित्रता, संतोष, तप, स्वाव्याय और ईश्वरमे दृढ़ विश्वास—ये नियम हैं।

सदाचारका फल बताते हुए गम्भुने कहा है—

आचाराद्भूमते द्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हृष्ट्यलक्षणम्॥
(४। १५६)

‘मानव आचारसे आयुको प्राप्त करता है, आचारमें अभीष्ट पुत्र-पौत्र आदि संतान प्राप्त करता है, आचारसे कभी नष्ट न होनेवाले धनको प्राप्त करता है, इतना ही नहीं, आचारसे वह अपने अनिष्टका निवारण भी कर लेता है।’ पर,

दुरुचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।

दुःखमाणी च सततं व्याधिनोऽल्पायुरेव च ॥

(४। १५७)

अर्थात्—‘दुरुचरणवाला पुरुष निश्चय ही समाजमें निन्दा प्राप्त करता है, दुःखका भागी होता एवं व्याधियुक्त होता है और अल्पायु भी होता है।’

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।

अद्यथानोऽनसूयश्च रातं वर्षाणि जीवति ॥

(मनु ४। १५८, महा ० १३। १०५)

अर्थात्—‘समस्त शुभ लक्षणोंसे हीन होनेपर यी जो पुरुष सदाचारी तथा अद्वार्पूण और ईर्ष्यारहित है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।’

अन्यत्र भी कहा है—

आचाराद् विच्युतो विष्णो न वेदफलमद्दुते ।

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥

‘सदाचारसे हीन त्राहण वेदका फल नहीं पाता, परं सदाचारी होनेपर उसे सम्पूर्ण फल मिल जाता है।’

अतएव मानव-जीवनमें सदाचारका विवेयप्रभु

स्त छंकि अमार्ति

सदाचारके लिये क्या सीखें ?

स्त्री मे जट-

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्वा यथोचितम् ॥
शौचं तपस्तितिशां च मौतं स्वाध्यायमर्जवम् ।
व्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। २३-२४)

‘पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखें, फिर भगवान्-के भक्तोंसे प्रेम कैसे करना चाहिये—यह सीखें। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपटभावसे शिक्षा प्रहण करें। मिद्दी-जल आदिसे वाह्य शरीरकी पवित्रता, छङ्कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौत, स्वाव्याय, सरलता, व्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विनादसे रहित होना सीखें।’

वैदिक सदाचार

(लेखक— श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा, विद्यार्णव, एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०, पी-एच० डी०)

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्तार्त एव च ।

(मनु० १ । १०८)

श्रुति और सृष्टिद्वारा प्रतिपादित आचार ही उत्कृष्ट धर्म है ।

आचाराद् विच्युतो विष्णो न वेदफलमश्चुते ।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥

(मनु० १ । १०९-११०)

‘आचारहीन ब्राह्मण वेदका फलभागी नहीं होता । समस्त तपस्याका मूल उत्कृष्ट आचार ही कहा गया है । सदाचार अर्थात् साधु-शिष्ट और धार्मिक लोगोंका आचार ही साक्षात् धर्मका लक्षण है ।’ मनुका निर्दर्शनात्मक देश-प्रक लक्षण यह है—

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्तमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

(वही २ । १८)

“सरस्वती और दृष्टिती इन दोनों देवनदियोंके सम्बन्धमें स्थित देवनिर्मित ‘ब्रह्मावर्त देश’ है । ‘उस देशमें पूर्वलित ब्राह्मणादि चार वर्णों एवं अवान्तर जातियोंका जो परम्परागत आचार है, वही सदाचार है ।’ मनुने स्वगौरव धोषणा की है—

पतद्वेशप्रसूतस्य सकाशाद्ग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(वही २ । २०)

‘इस आर्यवर्तमें जन्म लेनेवाले ब्राह्मणलोगोंसे पृथ्वीके अन्य सब लोग अपने-अपने आचार-व्यवहारकी शिक्षा लेते थे ।’

आससुद्रात्मु वै पूर्वादाससुद्रात्मु पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योर्यार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

(वही २ । २२)

‘हिमालय और विन्ध्यके बीच पूर्वसे पश्चिम समुद्रतक विस्तृत पुण्य भूमिको पण्डितलोग आर्यवर्त कहते हैं ।’ नवम शताब्दीके मेधातिथिने मनुभाष्यमें कहा है—

‘आर्या वर्तन्ते तत्र पुनःपुलरुद्भवन्ति । आक्रम्या-
कस्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति ।’

‘आर्यवर्तमें आर्यलोग रहते हैं । म्लेच्छ या अनार्यगण वार-वार इस देशपर शाकमण करके भी यहाँ चिरस्थायी नहीं हो पाते ।’ क्या ये भविष्यद्वाक्रेव वचन नहीं हैं ? शक, हूण लोग प्रारम्भमें आकर यहाँसे चले गये । इसके पश्चात् अरब, पठान, तुर्की, मुगल, अंग्रेज और दूसरे यूरोपनिवासियोंने इस देशपर आक्रमणकर इसपर कुछ समयके लिये अधिकार तो किया, पर अन्तमें एक दिन उन्हें भी जाना ही पड़ा है ।

‘आर्य’ का अर्थ है—‘सत्कुलोऽङ्गव’ (अमरकोश) किंतु ‘सदाचारेणैव नरणामार्यत्वं न धनेत न च विद्यया’, अर्थात् धनवान् या विद्वान् होनेसे ही कोई आर्य नहीं हो सकता, महाकुलकी कुलीनताके साथ सदाचार ही आर्यके आर्यत्वका प्रधान लक्षण है । म्लेच्छ या अनार्यके आचरणको सदाचार नहीं कहा जा सकता । आजके विद्यालयोंमें पढ़ाया जाना है कि हमारे पूर्वपुरुष आर्यलोग अनुमानिक १५०० से १००० ई० पूर्व बाहरके किसी स्थानसे इस देशमें आये थे; किंतु यह बात विल्कुल झटी है । ऋग्वेदके अनुसार तो अनार्यगण कीकट^१ देशके ही रहनेवाले थे और वे यज्ञादि कभी नहीं करते थे । भगवान्ने गीतामें कहा है कि असुर-प्रकृतिके लोगोंमें सत्य, शौच, आचार प्रभृति कुछ नहीं होता ।

धर्मका मूल और रक्षक आचार ही है

अनेक वर्ष पहलेकी बात है । कलकत्ता यूनिवर्सिटीके इन्सिट्यूटहालमें (The University Institute Hall)

१—‘किं ते क्रृष्णन्ति कीकटेषु गावः’ इत्यादि । (ऋक् सं० ३ । ५३ । १४)

कीकटदेश अनार्य-निवास है, वह महर्षि यास्कका वचन है । (निरुक्त ३ । ३२)

‘कल्युगके व्यास’ पञ्चानन तर्करत्म महाशयकी सृष्टिसमां में
खर्गायि महामहोपाध्याय दुर्गचरण सांख्य-वेदान्ततीर्थ-
जीने कहा था—‘आचारके विना धर्मका रहना असम्भव
है।’ इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—‘जिस
प्रकार धानकी रक्षा उसके तूष (छिल्का)के विना असम्भव
है, उसी प्रकार धर्मकी रक्षा आचारके विना असम्भव
है। केवल चावलके बोनेसे कभी धानका पौधा नहीं
उगता।’ पाश्चात्य विचारधारायुक्त आधुनिक कालके पढ़े-
लिखे लोग वहूधा व्यङ्ग्य करते हैं कि हिंदुओंका आचार
एक विचित्र कट्टरतायुक्त असत्य और व्यर्थका क्रियानुष्ठान
(Meaningless ritual of orthodoxy) है। ख्यं
विवेकानन्दजी भी कहते थे कि ‘हमारा धर्म आज रसोईके
बर्तनमें प्रवेश कर गया है। (Religion has entered
the cooking pot)’ किंतु हमारे आचार और विचार
सिद्धान्त-सिद्ध एवं अत्यन्त सावधानीसे स्थिर किये गये
हैं। हाँ, उनपर गम्भीरतापूर्वक विचारकी आवश्यकता है।

मूलतः वर्णाश्रमी भारतीय जातिके पुरुपार्थ चार हैं
—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शास्त्रके अनुसार
धर्मके अविरुद्ध ही काम और अर्थप्राप्ति हैं। इस
चतुर्वर्गका चरम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् जन्मान्तरके बैडेसे
मुक्त होना है। यह अत्यन्त कठिन कार्य है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
स्फूर्नां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
. वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । ३, १९)

अन्य धर्मोंमें जन्मान्तर या मोक्षकी बात नहीं
दीखती। कई धर्म तो खीमें आत्मा ही नहीं मानते,
फिर उनका मोक्ष वे क्यों मानने लगे? पर सनातनधर्मके
अनुसार अनेक जन्म-जन्मान्तरकी साधनाके फलस्वरूप
करोड़ोंमें एक मनुष्य मोक्ष लाभ करता है—जैसा कि
उपर्युक्त श्लोकोंमें वर्णित है।

आहारशुद्धि मोक्ष-प्रापक

आहार-शुद्धि वैदिक धर्मके सदाचारकी एक मुख्य
विशेषता है। श्रुति कहती है—

‘आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।’
(छान्दोग्योप० ७ । २६ । २)

देह शुद्धिके लिये शुद्ध आहार अत्यावश्यक है।
आहारसे ही रक्त, मांस, हड्डी, मेद, मज्जा आदि बनते
हैं। अतः शुद्ध देहके विना मन या चित्त किस प्रकार
शुद्ध रह सकते हैं? मनके शुद्ध होनेसे तैलथारावद् सदा
‘ध्रुवा स्मृति’ अर्थात् श्रीभगवान् का स्मरण होता रहता
है। यह मोक्ष लाभ करनेमें परम सहायक और एकमात्र
उपाय है। इसलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये आहार-
शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है*। इसे कट्टरता नहीं कहा
जा सकता। ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनके ‘अथाधाच्य’
(३ । ४ । २९) सूत्रमें भोजनके नियमोंकी रक्षापर
बल दिया गया है। केवल प्राणात्म्यके समय यानी
जीवन-भय होनेपर ही भक्षणाभक्षणके नियम-कानून
जरूरतके अनुसार शिथिल किये जा सकते हैं
(मनु० १० । १०४)।

उच्छिष्ट या अमेघ्य भोजन निषिद्ध

श्रीभगवान् ने गीतामें कहा है—

यातयाम गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेघ्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(१७ । १०)

‘अधपका, रस-रहित और दुर्गन्धयुक्त तथा वासी और
जड़ा एवं अपवित्र भोजन तामसी जनको प्रिय होता है।’

मनुने भी कहा है—

शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ।
(४ । २११)

‘उच्छिष्टादं सुक्तावशिष्यम्, अमेघ्यं यद्वार्द्वम्।’* उच्छिष्टका अर्थ है—अन्यके भोजनका अवशिष्ट और धर्मपूजका अर्थ है—यज्ञके लिये अयोग्य। महाभारतमें अनेक नवाह उच्छिष्टभोजनकी निन्दा की गयी है। ‘परन्य रथर्दीद्वद्वद्व भुक्तोऽज्ज्वतं च’ (मेवातिथि)। यहाँ तो दूसरोंके स्पर्शद्वारा अशुद्ध होनेको भी ‘उच्छिष्ट’ होना कहा गया है।

वैदिक जातिका आहार नी पक यज्ञ है। ब्राह्मण लोग अपने भोजनके पूर्व ‘खाहा’ मन्त्रद्वारा पञ्चप्राणप्रभृतिको आहूति देते हैं। ‘अमेघ्य’का अर्थ है—जो द्रव्य भावानन्दके भोगके लिये अर्पण नहीं किया जा सकता, अर्थात् अपवित्र। अतः वह आहार—शास्त्रमें निषिद्ध है। प्याज, लहसुन, कदम्ब, कुकुट आदि खाद्य अमेघ्य और भोजनके योग्य नहीं हैं (मनु० ५। १९)। वेदाङ्गमें कुकुट-भक्षणका निर्धन्व है। किसी दूसरे मनुष्यको स्पर्श करके भोजन करनेसे भी वह उच्छिष्ट हो जाता है, यही भारतवर्षकी चिरचरित नीति है। किसी अन्य स्त्रीके साथ ही नहीं, बल्कि, अपनी धर्म पत्नीके साथ भी एक पात्रमें भोजन करना भी शास्त्रमें निषिद्ध है। यहाँतक कि स्त्रीको भोजन करने देखना भी मना है। मनु कहते हैं—

शास्त्रीनान् भार्या सार्थं नैनासीक्षेत चाक्षनोम्।
(४।४३)

पाठ्यात्य देशोंमें अवश्य ही वियोंके सहित देवुलपर भोजनका नियम है। पर हमारे यहाँका यह आचार नहीं है।

हड्डिया-रसमयतामें उच्छिष्ट-ग्रस्तद्व

वर्तमान समयमें भी अगर कोई हिंदू एक बार मिट्टीके दरतनको मुँह लगाता है तो वह जूठा और अशुद्ध हुआ ही समझा जाता है, लाख धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता। रेलगाड़ीमें भ्रमणके समय या होटलमें

~ उच्छिष्ट अब बेदमें भी अन्य अर्थमें है। व्याज रहे अर्थवैद ११। ७ आदिके उच्छिष्ट सूक्तादिमें उच्छिष्टका अर्थ उत्तर्व्यागमें अवशिष्ट परमात्मा ही है, जिसके अन्तर्गत सभी नामरूप काल-कर्मादि निर्मित हैं।

मिट्टीके हुंडे (चूकाइ) चाय पीनेके पश्चात् फेंक दिये जाते हैं। यह हिंदूसमाजका एक साधारण आचार है। पृथ्वीके और किसी देशमें यह धारणा या प्रचलन नहीं है। पर भारतमें यह प्रथा पाँच सहस्र वर्षोंके भी पूर्वसे प्रचलित थी, इसके प्रान्तिक ग्रन्थाण भी मिले हैं। मोहन-जो-दडो आदि प्राचीन नगरके धर्मसाक्षेपमें सर्वसाधारणके प्रयोगके योग्य अनेक पक्के कुपँ (इटों-द्वारा बने) पाये गये हैं। उन कुओंके पास मिट्टीके हजारों वर्तन (कुण्डे) पड़े हुए पाये गये हैं। यूरोपीय ग्रन्थकोंके अनुसार उन दिनों भी वर्तमान कालके न्याय (उच्छिष्ट-वोध) लोगोंमें था और इसी कारण एक बार जल्पानके पश्चात् वे फेंक दिये जाते थे।

पाणिनि-व्याकरण

पाणिनि व्याकरण वेदाङ्ग है। इसके ‘शृङ्गाराननि-रचसितानाम्’ (२। ४। १०) मूत्रमें वहिष्वत्-अवहिष्वत् व्यक्तियोंके स्पर्शस्पर्शका उल्लेख है। भोजन बनानेमें प्रयोग किये गये वर्तनोंको माँजकर शुद्ध कर देनेकी प्रथा आज भी प्रवलित है।

शेगाल्यनीजका निवारण

ई०प०० चौथी शताब्दीमें यूनानी राजदूत मेगास्थीज सप्त्राट् चन्द्रगुप्तके समय पाटिल्पुत्र नगरमें निवास करता था। उसने इस देशके लोगोंको अला बैठकर खाते देखकर आश्र्वय प्रवाट किया था; क्योंकि उन दिनों भी यूनानके लोगोंमें एक साथ बैठकर खानेकी प्रथा थी।

स्पर्शदोष या वोध क्रमशः शिथिल हो रहा है

वर्तमान कालमें अनेक प्रकारसे उच्छिष्ट, अमेघ्य द्रव्य या आहारका व्यवहार बढ़ रहा है और इसीके साथ-साथ प्राचीन नियम भी शिथिल होते जा रहे हैं। आधुनिक कालमें चाय, काफी, पान, डबलरोटी, अंडा,

केक आदिका बाहर-व्यवहार तथा होटल, रेस्टोरेंट, रेलगाड़ी और मेजपर खानेके नियमोंके चल पड़नेसे पुराने पवित्र नियम समाप्त होते जा रहे हैं। पाश्चात्य देशोंके नियमोंको हमारे देशकी जनताने आज प्रहृण कर लिया है।

अहिंसा साधारण धर्म—वेदका आदेश

वैदिक वर्णाश्रमी समाजमें अहिंसा सभी वर्ण और जातिके एक विशिष्ट साधारण धर्मके रूपमें परिचित है। श्रुतिका आदेश है—‘मा हिस्यात् सर्वाभूतानि’ महाभारतमें अहिंसाकी बहुत प्रशंसा है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।

अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥

(अनुग्रासनप० ११५ । २५)

यह अहिंसाकी भावना सदाचारका एक अङ्ग है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी जीवका जी न दुखाना अहिंसा है।

दैहिक-शौचाचार

देहके शौच अन्तःशौच तथा वित्तशुद्धिके लिये आनिवार्य हैं। इसलिये गल-मूत्र-त्यागके पश्चात् जल और मिट्टीका व्यवहार वैदिक रीति या विशिष्ट प्रथा है। मलत्यागके उपरान्त सबसा स्नान कर्तव्य है। पूर्वकालमें ग्राहणोंके लिये तीनों संध्याओंमें तीन वार स्नानके नियम (त्रिपवण स्नान) चालू रहा। मलत्यागके पश्चात् जल-मिट्टीका व्यवहार पृथ्वीभरमें दूसरे और किसी देश अथवा धर्ममतमें नहीं है। कल्कत्तानिवासी सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० श्रीनलिनीरङ्गन सेन गुप्त, एम० डी० ने—जो एक महापुरुष थे, नानाप्रकारके विज्ञान-सम्मत प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया है कि कागज- (Toilet paper) द्वारा जो पाश्चात्य जातिके लोग व्यवहारमें लेते हैं, मलस्थानोंकी पूरी सफाई नहीं होती, कुछ मैल सूखमसूपसे रह ही जाती है।

स्नान वैदिक प्रथा है

अति प्राचीन कालसे ही भारतमें स्नान प्राचीन-कालीन नित्यकर्म है। तेल लगानेकी प्रथा तो स्नानमें भी पहले अभिज्ञात है। आयुर्वेदमें इन दोनोंकी अनुप्रेष्ठा निःसंदिग्ध प्रतिपादित है। मोहन-जो-दड़ोमें आविष्कृत हइप्पा सम्यताकी प्राचीन नगरीमें प्रायः प्रत्येक गृहमें स्नानागारकी सुव्यवस्था थी, इसके कई प्रमाण मिले हैं। वहाँपर तेल लगानेकी प्रथाके भी लक्षण प्राप्त हुए हैं। टैलाभ्यङ्ग और स्नान हमारे आचारके अङ्ग हैं*।

पाश्चात्य देशोंमें बहानेके नियम विरले हैं

आर्थर्यकी बात यह है कि तथावतित सुसम्य पाश्चात्य जातियोंमें आज भी रोज नहानेकी प्रथा नहीं है। इंग्लैंडके राजप्रासाद वकिलम पैलेसमें रानी विक्टोरियाके अभियेककाल (१८३७ ई०) तक कोई स्नानागार न था। इंग्लैंडके प्रधानमन्त्रीके वासस्थानमें सर्वप्रथम स्नानागारका निर्माण १८९५ ई० में हुआ।

रवीन्द्रनाथके विचार

विश्वकर्मान्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरने मात्र १७ वर्षकी आयुमें इंग्लैंड यात्रा की थी। उनका ‘यूरोप प्रवासीन पत्र’ ‘भारती’ पत्रिकामें (आनुमानिक १८७८ ई०में) इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—“सुना गया कि विलायत देशमें नहाना फैशन हो गया है। किंतु यह बहुत कम दूरतक प्रसारित हो पाया है। हाथका जो अंश बाहरमें रहता है और मुख एवं गल-देश इनको सीमन्तिनीगण अनेक बार अति यत्नसे धोते हैं। परंतु वाकी अङ्गोंकी सफाईके विषयमें वे उतना आवश्यक ध्यान नहीं देपाती हैं। कारण कि वे मुखके सिवाय अन्य अङ्गोंकी सफाईका महत्व नहीं समझती। एक मासमें दो बार स्पंज बाथ (Sponge Bath) तथा घ्यालसे धोषे समझा जाता है। स्पंज बाथ

* Every house had its bathing place. The present custom of the Hindus is a survival of one that was practiced in India, some five thousand years or more ago. (Meekay, Further Excavations in Mohenjodaro I, 167)

(Sponge bath) का अर्थ है—एक भिगे हुए गम्फेसे शरीर पोछ लेना, और कुछ नहीं।

“एक बार मैं कुछ दिन एक अंग्रेज परिवारके साथ रहा। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं नहाता हूँ तो वे अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये। उनके पास स्नानका कोई साधन था ही नहीं। मेरे लिये उनको सब कुछ उधार लाना पड़ा था। इतना विपद् रहा।”

(शतवार्षीकी सं० १० | २१७-१८ पृ०)

सन् १८९५ ई० में स्खामी विवेकानन्दको फ्रान्सकी राजधानी पेरिस (Paris) के होटलमें स्नानागार न होनेके कारण सर्वसाधारणके लिये स्नानागारका व्यवहार करना पड़ा था। लार्ड कर्जन जब भारतके गवर्नर जनरल थे, तब उन्हें पुर्णगाल सरकारके आमन्त्रणपर गोआ जाना पड़ा और वहाँ वे गवर्नर जनरलके प्रासादमें अतिथि थे। उन्होंने अपनी पुस्तक—‘A Viceroy’s Notebook’ में लिखा है कि स्नानघरकी तो बात दूर, स्नानके टब (Bathing Tub) तक भी लोगोंको ज्ञात न था। इसलिये उनके बैठकखानेमें शराबके पीपे-जैसे एक वर्तनमें पानी रखा गया था। वह पानी भी पीपेमें छेद होनेके कारण चू कर निकल गया। इंग्लैंडके विगत सप्ताह एडवर्ड अष्टम (Edward VIII) अपनी जीवनीमें* लिखते हैं कि जब १९१२ ई० में उन्हें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटीके माग्डलेन कालेज (Magdalen College) में दाखिल किया गया, तब वहाँपर कोई स्नानागार न था। उनके लिये (क्योंकि वे युवराज थे) केवल एक बाथ टब (Bathing Tub) उनके कमरेमें ला दिया गया था।

सर देवप्रसाद सर्वाविकारी १९१० | १८ ई० में विद्यायत-प्रमणपर रहे थे। उन्होंने लिखा है कि उनके कमरेमें विछे कम्बलके ऊपर बाथटबमें नहानेका पानी संरक्षित किया गया था। वैसे आजकल पाध्यात्म देशोंमें दिनोंदिन स्नानागारकी व्यवस्था हो रही है। हमारा स्नानाचार दूसरे देशोंके लिये आदर्श बन रहा है।

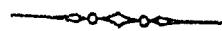
नग्नस्नान निपिद्ध है

शास्त्रमें नग्नस्नान निपिद्ध है, पर जापानमें श्री-पुरुष निर्वल्ल होकर एकत्र स्नान करते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इसे छोटी बात समझी है; क्योंकि उनके मतानुसार जापानके मनुष्य देहसम्बन्धी वासनासे मुक्त हैं, अतः उन्होंने इस स्नानमें किसी पापका परिदर्शन नहीं किया। पर साहित्य-सम्पादक सुरेश समाज-पतिने इसकी तीव्र आलोचना की है। (जापानयात्री, रवीन्द्र-रचनावली १०, पृष्ठ ५१६)

वस्तुतः श्री-पुरुषोंके एकत्र वा एकदम निर्वल्ल स्नान भारतीय सम्यता एवं आचारके सर्वथा विरुद्ध है।

उपसंहार

सदाचार एक महत्वपूर्ण गुण है। इस निवन्धमें इसके अंशमात्रपर ही प्रकाश ढाला गया है। संसारके सबसे प्राचीन तथा सर्वश्रेष्ठ इस देशकी वैदिक वर्णाश्रिती सम्यता इसी सदाचारके ऊपर प्रतिष्ठित है। यह वैदानु-मोदित मानव-जीवनके चरम लक्ष्य मोक्षका धारक और प्रापक है। इसको नष्ट करनेकी लगातार कोशिशें हो रही हैं, जो विज्ञान एवं बुद्धिके भी विरुद्ध है। श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रार्थना है कि वे हमारे सदाचार और सनातनधर्मकी रक्षा करें।



* And I had a bath-tub and the first under ground-bathroom. I believe, to be installed at the college. (A King's Story p. 96)

श्रीतोल्ल सदाचार

(छेषः—धर्मे दामीदी श्रीरामद्वालकारी महाराय)

श्रीभगवान् ने 'शोकसंविग्नमना' एवं 'धर्मसंमुद्देश' र्द्धुर्णको निमित्त बनाकर हमलोगोंको सदाचारयुक्त जीवन शनाने तथा दुर्गुण-दुराचारोंके व्यागनेकी वनेक शुक्लियाँ श्रीभगवान्नदीतामें बतलायी हैं। वर्ण, आश्रम, खभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यद्यकाचर्ति श्रेष्ठस्त्वचेष्टतये यतः ।

(गीता ६ । २१)

'ऐषु पुरुष जो-जो धाचरण करते हैं, वन्य पुरुष नीं ईसा-वैसा ही धाचरण करते हैं।' वर्त्तुतः मनुष्यके धाचरणसे ही उसकी वास्तविका स्थिति जानी जा सकती है। धाचरण दो प्रकारके होते हैं—(१) दाढ़े धाचरण, जिन्हें सदाचार कहते हैं और (२) पुरे धाचरण, जिन्हें दुराचार कहते हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्गुणसे सदाचार प्रकट होता है और सदाचारसे सद्गुण दृढ़ होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण-दुराचारका भी परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सद्गुण-सदाचारके सत् (परमामा) होनेसे वे प्रकट होते हैं। 'प्रकट' वही तत्त्व होता है, जो पहलेसे (अदर्शनखण्डसे) रहता है। दुर्गुण-दुराचार मूलमें ही नहीं, वे केवल सांसारिक कामना और अभिमानसे उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण-दुराचार खयं मनुष्यने ही उत्पन्न किये हैं। अतः इनको दूर करनेका उत्तरदायित्व भी मनुष्यपर ही है। सद्गुण-सदाचार कुसङ्गके प्रभावसे दृढ़ सकते हैं, परंतु नष्ट नहीं हो सकते—जब कि दुर्गुण-दुराचार संसज्जादि सदाचारके पालनसे सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। सर्वथा दुर्गुण-दुराचारहित सभी हो

सकते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति सर्वथा सद्गुण-सदाचारसे रहित नहीं हो सकता।

यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मनुष्य सदाचारी होनेपर सद्गुणी और दुराचारी होनेपर दुर्गुणी बनता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सद्गुणी होनेपर ही व्यक्ति सदाचारी और दुर्गुणी होनेपर ही दुराचारी बनता है। जैसे—द्वयरूप सद्गुणके पद्धात् दानरूप सदाचार प्रकट होता है। इसी प्रकार पहले चोरपने (दुर्गुण)का भाव अहंता (मैं)में उत्पन्न होनेपर व्यक्ति चोरीरूप दुराचार करता है। अतः मनुष्यको सद्गुणोंका संग्रह और दुर्गुणोंका स्वाग दृढ़तासे करना चाहिये। दृढ़ निष्ठय होनेपर दुराचारीसे दुराचारीको भी भगवत्यात्मरूप सदाचारके चरम दक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते भास्तन्यभाव् ।

साधुरेव समातव्यः सम्यस्त्वजस्तितो हि सः॥

(गीता ९ । ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भज्ञ होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निष्ठयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निष्ठय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' वर्तमानमें साधु आचरण न होनेपर भी श्रीभगवान् विजेयरूपसे जाज्ञा देते हैं कि 'वह साधु ही मानने योग्य है'; क्योंकि उसने ऐसा पक्षा निष्ठय कर लिया है कि किसी प्रवालके प्रलोभन अथवा विपत्तिके आनेपर भी अत वह विचलित नहीं किया जा सकता। साधक तभी अपने ऐय-दक्ष्यसे विचलित होता है, जब वह असत्—संसार और शरीरको 'है' अर्थात् सदा रहनेवाला मान लेना है। असत्की लक्षण सत्ता न होनेपर भी भूलसे मनुष्यने उसे सत् मान किया।

दौर प्रेम-संग्रहकी ओर आङ्गाट हो गया । मतुष्य जाय-
एक वस जसद (संसार)को नहीं पकड़ पाया और न
फसी पकड़ पायेगा, किर भी आधर्य है कि धोखेमें आकर
दूर अपना पतन करता है । अतः असत्—संसार, शरीर,
परिवार, रूपये-पंसे, जमीन, मान, वड़ईसे विमुख होकर
(धर्यालू इन्हें अपना मानकर इनसे न सुख लेना और न
झुख लेनेकी इच्छा ही रखनी है, ऐसा होकर) इनका यथायोग्य
दण्डयोग मात्र करना है तथा सत् तत्त्व (परमात्मा)को
ऐ अपना मानना है । श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार असत्
(संसार)की सत्ता नहीं है और सत् तत्त्व (परमात्मा)—
जो यथात् नहीं होता—

દાસનો વિચટે ભાખો નામાંથો વિધ્યતે રહતાં ।
 (ગીતા ૨ । ૧૬)

जिस वार्ताविक तत्त्वका कभी अभाव ध्यानवा नाश
नहीं होता, उसका धनुषय हम सबको हो सकता है।
इनारा ध्यान उस तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर न होनेसे ही
धू धग्राम-सा हो रहा है। इस सद-तत्त्वका विवेदन
गीतामें श्रीभगवानने पाँच प्रकारसे किया है—

(६) लक्ष्मी (गीता १५ । ८४)

(२) लाभुभावे च लदित्येतत् प्रयुज्यते ।
 (गीता १७ | ३६)

(३) प्रशास्ते कर्मणि तथा रच्छब्दः पार्यं शुञ्चते ॥
 (गीता १७। २६)

(४) यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सद्वितीयो व्यते ।
 (गीता १७ । ३५ ।

(५) कर्म चेद तदर्थायं सदिन्येवाभिर्घते ॥
 (गीता १३ । ३५ ।

यह सदृश्य ही सटुगो और सदाचारका मूल धारा है। अतः उपर्युक्त सदृश्यका थोड़ा विस्तारसे विचार करें।

(१) सद्गुणे—सद्गुव कहते हैं—परमात्माके अस्तित्व या सदा होनेप्रको। प्रायः सभी आल्पिक

यह धारा तो मानते ही है कि सर्वोपरि सर्वजिज्ञासा कोई विलक्षण शक्ति-सत्र दास है पौर वह प्रभुत्वना है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदल रहा है, उसे ही अर्थात् स्थिर कैसे कहा जाय? यद्य सौ नदी के जलके प्रवाहकी तरह निरन्तर वह रहा है। जो बदलना है, वह ही कैरे कहा जा सकता है। कर्तों कि इन्द्रियों, बुद्धि आदि से जिसको जानते, देखते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी रहेगा नहीं—यह समीक्षा अनुभव है। किंतु भी आश्र्य वह ही कि 'नहीं' होते हुए भी वह 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विलक्ष्य हैं। 'वह' होता, तब यो बदलना नहीं, और बदलता है तो 'है' अर्थात् इन नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यह 'होनेपन' संसार-शरीरादिवा नहीं है, प्रभुत सत्त्व (परमात्मा) नहीं है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार भी है, दीक्षित है। परमात्मा के होनेपनका याव इह होनेपर सदाचारका पालन रुपः होने लगता है।

‘श्रीभगवान् हैं—ऐसा हठाते से माननेपर न पढ़,
जन्माय, द्वाचार होने व्हीर न चिन्ता, भव आदि नहीं।
ग्रामः लोग परमात्माको मानते हुए भी नहीं मानते
अर्थात् निपिंड्र आचरण करते हुए हठते नहीं। ऐसे
देश परमात्माको भी मानते हैं और द्वाचार भी कहते
हैं। जो गच्छे हठयसे मर्यादा परमात्माकी सत्ता मानते
हैं, उनसे दोष-पाप हो ली कैसे सकते हैं? परम
दयालु, परम सुहृद् परमत्मा सर्वत्र हैं, ऐसा माननेपर न
भय होगा और न चिन्ता नीगी। भय लगने अवका
चिन्ता होनेपर— ‘मैंने जगननको नहीं माना’—इस प्रकार
विपरीत धारणा नहीं करनी चाहिये, किन्तु भगवान्तके
रहते चिन्ता, भय वैसे आ सकते हैं—ऐसा माने,
अर्थात् भगवान्नैनसे भय और चिन्ता आदि दोपांको
हटाना चाहिये। दैवी सम्पत्ति (सदाचार)के छब्बीस
छक्षणोंमें प्रथम ‘अपय’ है। (गीता १६।१)।

(२) साधुभावे च सदित्येतन्मयुज्यते—अन्तः-करणके श्रेष्ठ भावको साधुभाव कहते हैं। यह परमात्माकी प्राप्तिका हेतु होनेसे परमेश्वरके 'सत्' नामका बाचक हो जाता है। जितने भी श्रेष्ठभाव अपने अन्तःकरणमें दीखें, उन्हें दैव—(भगवान्)की सम्पत्ति माननेसे अभिमान नहीं होना चाहिये; क्योंकि अच्छापन (सदाचार)के उद्गमस्थानके आवार परमकृपालू परमात्मा ही हैं। सद्गुण-सदाचारको अपना माननेसे अभिमान हो जाता है कि 'कोऽन्योऽस्मि रुद्धये गच्छ' (गीता १६ । १५) मेरे समान दूसरा कौन है ? अभिमान आनेसे श्रेष्ठ भाव—सदाचार भी दुर्गुण-दुराचारका कारण बन जाता है, जो आसुरी सम्पत्ति है—

दत्त्वोऽभिमानश्च क्रोधः पारुप्यसेव च ।
अज्ञानं आभिजातस्य पर्य लम्पदमासुरिम् ॥
(गीता १६ । ४)

है पर्य ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं। सद्गुण-सदाचार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकते; क्योंकि जो सद्गुण-सदाचार एक व्यक्तिमें है, वे ही दूसरे अनेक व्यक्तियोमें हो सकते हैं। सद्गुण-सदाचार यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति होते तो एक अक्लिक्षेपके स्थागी-वैरागी अथवा दानी, ज्ञानी होनेपर दूसरा व्यक्ति दैसा धर्षात् उसके समकक्ष नहीं हो सकता था, किंतु वह नियम नहीं है। धतः श्रेष्ठभावको भगवद्यद्य लार्वजनिक सम्पत्ति मानना चाहिये ।

अन्तःकरणमें सद्गुण-सदाचारोंके प्रकट होनेसे अभिमान नहीं आता, किंतु सद्गुण-सदाचारोंमें जो कमी दृष्टी है, उस रिक्त स्थानमें दुर्गुण-दुराचार रहते हैं (भले ही आपको जानकारी न हुई हो), उनसे ही अभिमान उत्पन्न होता है। जैसे सत्य बोलनेका अभिमान

नभीतक होता है, जबतक अन्तःकरणमें असत्यताका कुछ अंश रहता है । तात्पर्य—आंशिक असत्यके रहनेसे ही सत्य बोलनेका अभिमान आता है; अन्यथा सत्यकी पूर्णतामें अभिमान आ ही नहीं सकता । अतः परमात्माकी प्राप्तिके साधन श्रेष्ठभावको व्यक्तिगत मानवर अभिमान नहीं करना श्रेष्ठ सदाचार है ।

(३) प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छद्वः पार्थ युज्यते—'तथा है पर्य । उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ।' क्षमा, दया, पूजा, पाठादि जितने भी शाखाविहित शुभ कर्म हैं, वे खंडं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं, किंतु इन प्रशस्त कर्मोंका श्रीभगवान्के साथ सम्बन्ध नहीं रखनेसे—'सत्' न कहलाकर बोल शाखाविहित कर्म मात्र रह जाते हैं । यद्यपि दैत्य-दानव प्रशंसनीय कर्म तपत्यादि करते हैं, परंतु असद् भाव—दुरुप्रयोग करनेसे इनका परिणाम विपरीत हो जाता है—

मूढज्ञाहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परत्येन्तसद्वर्त्य वा तत्त्वमस्मुदाहृतम् ॥
(गीता १७ । ११)

'जो तप मूढतापूर्वक मुठसे, मन, वाणी और शरीरवीं पीड़िकों सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ।' बल्लुतः प्रशंसनीय कर्म वे होते हैं, जो खार्ध, अभिमान लागपूर्वक 'लव्यस्थूतहिते रत्नः' भासके किये जाते हैं । इसी प्रकार जिस पुरुषमें साझता होती है, वह सप्तूष बहलाता है और उसके पाचरणोंके द्वारा सब शब्द शुद्ध जानेसे सदाचार कहलाता है । यह प्रशंसनीय कर्मोंका सत्त्वके साथ सम्बन्ध होनेजा प्रभाव है । ऐसे प्रदाता कर्मोंके उपद्धमज्जा भी वाश दर्ही होता (गीता २ । ४०) । इस कर्मयोगमें आरम्भका वर्याद्यु-वीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है । बल्कि इस धर्मका शोड़ान्ता भी साधन जन्म-

मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है। श्रीभगवान्‌के लिये प्रशस्ति कर्म करनेवाले सदाचारी पुरुषका भी कभी नाश नहीं होता—

पर्यं नैवेह नायुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि ज्याणद्वयं कठिन्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गीता ६ । ४०)

‘हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धारकों लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला (कल्याणकारी) दोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।’

(४) यद्युपस्थिति दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते—
(गीता १७ । २७) ‘तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी ‘सत्’—कही जाती है।’ सदाचारमें यज्ञ, दान और तप—ये तीनों प्रधान हैं; किन्तु इनका सम्बन्ध श्रीभगवान्‌से होना चाहिये। यदि इन (यज्ञादि) में मनुष्यकी दृढ़ स्थिति (निपात) हो जाय तो खण्डमें भी उसके द्वारा दुराचार नहीं हो सकता अर्थात् खयं (अहं) मैंमें सदाचारका भाव हो जानेपर किसी प्रकारके कदाचारका प्रभाव नहीं हो सकता। ऐसे दृढ़-निश्चयी सदाचारी पुरुषके विषयमें ही कहा गया है—

निर्यद्वितोऽपि यतु दुद्दमतीद्युपदः ।

‘इनको पेरनेपर भी उसमेंसे मीठा रस ही प्राप्त होता है।’ इसी प्रकार सदाचारी पुरुषद्वारा भी प्रत्येक परिस्थितिमें मधुर रसेह-रस ही प्राप्त होता है, अर्थात् सदाचारमें स्थित पुरुषसे वाम-ही-काम होता है। ऐसे पुरुषकी क्रिया श्रीभगवान्‌के लिये दी देती है।

(५) कर्म चेष्टा तद्वर्त्यं त्वदिव्येष्यसिद्धीयते—
(गीता १७ । २८)

‘आर उस परमात्माके लिये क्रिया हुआ कर्म निश्चय-पूर्वक सत्—ऐसे कहा जाना है।’ अपना कल्याण

चाहनेवाला निपिद्ध आचरण तो कर ही नहीं सकता। जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण-दुराचारका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ज्ञान-ध्यानकी ऊँची-ऊँची बातें बनाता रहे, उसे सत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। निपिद्ध और विहित कर्मेकि त्याग-प्रहणके विषयों श्रीभगवान् कहते हैं—

तत्त्वाच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यकार्यव्यवस्थितौ ।
शत्र्वा शास्त्रविधानोक्तं कार्यं कर्तुमिहार्दसि ॥
(गीता १६ । २४)

‘इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।’ निपिद्ध आचरण त्यागके बाद जो भी क्रियाएँ होंगी, वे सब भगवदर्थ होनेपर सत्-आचार (सदाचार) ही कहलायेंगी। भगवदर्थ कर्म करनेवालोंसे एक बड़ी भूल यह होती है कि वे कर्मांके दो विभाग कर लेते हैं। (१) संमार और शरीरके लिये क्रिये जानेवाले कर्म अपने लिये और (२) पूजा-पाठ, जप-ध्यान, सत्सन्धादि सात्त्विक कर्म श्रीभगवान्‌के लिये मानते हैं; जब कि होना यह चाहिये कि—जैसे पतित्रता घरका काम शरीरकी क्रिया, पूजा-पाठादि सब कुछ पतिके लिये ही करती है, वैसे ही साधकज्ञों भी सब कुछ केवल भगवदर्थ ही करना चाहिये। भगवदर्थ त्रुगमसापूर्वक कर्म करनेके लिये पाँच बातें—(पञ्चमूर्ति) द्वैष्व यद रसपी चाहिये—(१) मै भगवान्‌का हूँ, (२) भगवान्‌के घर (दरवार) में रहता हूँ, (३) भगवान्‌के घरका कास करता हूँ, (४) भगवान्‌का दिया दूजा प्रसाद पाता हूँ और (५) भगवान्‌के जलों (परिपार) की सैवा करता हूँ। इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म करनेपर सदाचार खतः पुष्ट होगा। श्रीमहगवदीतामें श्रीभगवान् आदा देते हैं—

यत्करोपि यदशासि यज्जुहोपि ददासि यत् ।
यन्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(१ । २७)

‘हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।’ यहाँ यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त ‘यत्करोपि’ और ‘यदशासि’—ये दो क्रियाएँ और आयी हैं । तार्पण्य यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त हम जो कुछ भी शाखाविहित कर्म करते हैं और शारीर-निर्बाहके लिये खाना, पीना, सोना आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब श्रीभगवान्-के अर्पण करनेसे ‘सत्’ हो जाती हैं । साधारण-से-साधारण खाभाविक-व्यावहारिक कर्म भी यदि श्रीभगवान्-के लिये क्रिया जाय तो वह भी ‘सत्’ (आचार) हो जाता है । श्रीभगवान् कहते हैं—

खदर्पणा तमभ्यर्थ्यं सिद्धिं चिन्दति यानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

‘अपने खाभाविक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।’ जैसे—एक व्यक्ति प्राणियोंकी साधारण सेवा केवल भगवान्-के लिये ही करता है और दूसरा व्यक्ति केवल भगवान्-के लिये ही जप करता है । यथापि खस्तपसे दो प्रकारकी छोटी-बड़ी क्रियाएँ दीखती हैं, परंतु दोनों

(सावकों) का उद्देश्य परमात्मा होनेसे वस्तुतः उनमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण हैं—वे जैसे जप-क्रियामें हैं, वैसे ही साधारण सेवा-क्रियामें भी हैं ।

भगवान् ‘सत्’ खस्तप हैं । अतः उनसे जिस किसीका भी सम्बन्ध होगा, वह सब कुछ ‘सत्’ ही जायगा । जिस प्रकार अग्निसे सम्बन्ध होनेपर लोहा, लकड़ी, इंट, पत्थर, कोयला—ये सभी एक-से चमकने लगते हैं, वैसे ही भगवान्के लिये (भगवत्त्रासिके उद्देश्यसे) किये गये छोटे-बड़े सब-के-सब कर्म ‘सत्’ हो जाते हैं, अर्थात् सदाचार वन जाते हैं । इसके विपरीत—परमात्माके सम्मुख हुए बिना किसी भी व्यक्तिके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्यके वलपर सदाचारका पालन कर पाना कठिन है; क्योंकि केवल गुणों और आचरणोंका आश्रय रखनेपर प्रलोभन अथवा आपत्ति-कालमें पतन (कदाचार) होनेकी आशङ्का रहती है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचार-सूत्रं यदी बतलाया गया है कि यदि मनुष्यका लक्ष्य (उद्देश्य) केवल सत् (परमात्मा) हो जाय, तो उसके समस्त कर्म भी ‘सत्’ ‘आचार’ (अर्थात् सदाचार) खस्तप ही हो जायेंगे । अतएव सत्-खस्तप एवं सर्वत्र परिपूर्ण सचिदानन्दवन परमात्माकी ओर ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिये, फिर सद्गुण, सदाचार खस्तः प्रकट होने लगेंगे ।

१—यद्यपि गीता सर्वशास्त्रमयी है और उसमें छहैं सदाचारकी ही घट्टी है, फिर भी श्रीभगवान्-के क्रपाकर इतने छोटे अन्यमें अनेक प्रकारसे कई दास्तेपर इकायारी पुष्टिके लक्ष्योंता विभिन्न रूपोंमें वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित स्थल प्रमुख हैं—(१) दूधे अम्बावसे ५५वें श्लोकसे ७१वें श्लोकतक खितमध्य-द्यावारीका वर्णन, (२) दारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भज्जदावारीका वर्णन, (३) दोहर्ये अध्यायके ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक शानके नामसे सदाचारका वर्णन, (४) चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकसे २५वें श्लोकतक गुणातीय सदाचारीके लक्षण-आचरण और प्राप्तिके उपायका वर्णन और (५) सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकनक देवी (भगवान्-की) सम्पत्तिरूप सदाचारका वर्णन । ये प्रकरण सदाचारकी ही विभिन्न दृष्टिकोणोंसे व्याख्या करते हैं।

सदाचारकी आधार-शिल्प

(लेखक—गोरक्षनाथपीठाधिपति अद्वैत महान् श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

योग जीवनके प्रक्रियात्मक दर्शन (प्रेक्टिकल
फिलासफी)की आचार-संहिता है, चाहे वह अद्याह्नयोग
हो या पड़न् । महर्षि पतञ्जलि एवं भगवान् गोरक्षनाथ
प्रमृति सभी योगाचार्योंने योगके प्रक्रियात्मक स्वरूपका
ही अपनी-अपनी पृथक् शैली द्वारा प्रतिपादन किया है ।
जीवनके सद्प्रयोगका पर्याय सदाचार है तथा इस
सदाचारकी आधार-शिला है—सत्समागम तथा सद्विचार ।
इन दोनोंके अभावमें सदाचार निष्ठायोजन एवं निष्ठाण
हो जाता है । वस्तुतः सदाचार आत्म-साक्षात्कारके प्रमुख
लक्ष्य मोक्षकी प्राप्तिका सुगम प्रशास्त राजपथ है ।
इसीके लिये योगके यम-नियमोंके पालन और अभ्याससे
आत्म-संस्कार किया जाता है । यम-नियम-सम्पन्न सदाचार
आत्म-संरक्षकारका सुष्टु एवं सुगम उपाय है । इसके द्वारा
शरीर, मन और प्राणोंकी शुद्धि होती है । फिर योगद्वारा
चित्तको समाधिमें संस्थित कर तथा अन्तःकरणको शुद्ध
अथवा पवित्रकर मोक्षपदमें रमण सम्भव हो जाता है ।
महर्षि गौतमका सत्र है—

तद्यथं यमलियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म-
विध्युपायैः । (न्यायदर्शन ४ । २ । ४६)

सदाचारके पूर्ण अनुष्ठानकी सम्पत्ता हो जानेसे
मोक्ष अथवा कैवल्यपद सहज ही प्राप्त हो जाता है।
मोक्षमें न विरति है, न स्फुरति; वहाँ न भोग है, न जरा-सत्यु,
छौर न रोग है। वहाँ वाणी तो क्या, वाणीके सूक्ष्म सत्त्व
झृण्कारतकक्षा भी प्रवेश नहीं है। भगवान् गोक्षणायै
दण्ड है—

क्षिरति न सुरति जोनं न भ्रोनं जगा-मरण नदी तदीं देवां।
क्षोरख वोले पकंकारं नहि तदैं वाचाओंकारं ॥

(गोरखद्वानी संबंधी ११०)

सदाचारकी पूर्णल सत्-समागम (सत्सङ्घ) तथा
सद्विचारसे संनिहित है । शास्त्रोंके परिशीलन और
खाध्यायसे विदित हो जाता है कि अस्तव्यें रातकी
खीड़गिन्से मुक्त होना ही संसङ्घ है । अरातकी सन्ता
नहीं है, पर उसमे व्यागोहित हाकर हम वेव जाते हैं ।
सदाचारके द्वारा इस बन्धनसे ह्रुटपारा ही सत्-सङ्घका
परम फल है । सत्-परिवर्तन नहीं होता, किन्तु अस्तव्य
परिवर्तनशील तो है ही, नयर भी है । सत्सङ्घके वैषयिक
मुखोंके भोग-खादरो उत्पन्न बन्धनसे ह्रुटपारा सत्सङ्घने
ही हो पाता है । जो उस बन्धनसे मुक्त है, वही
सदाचारी है, सत्यधर्मका वर्षी अभ्या पालन करनेवाला
है । इस बन्धन-निवृत्तिका एकमात्र उपाय (छल एवं
आसक्तिरहित) पर्याय है, जो सत्सङ्घ एवं सद्विचारसे
प्राप्त होता है—

तत् परं पुरायातेर्यणवित्तप्यम् ॥

(योगदर्शन ३। १६)

पुरुषके ज्ञानसे, सत्यके साक्षात्कारसे दायरा
न्वाचारसे प्रकृतिके गुणोंमें तुष्णाका रुवंथा अभाव इनी
मन वैराग्य है। यह सदाचारका मूल धर्म है। सत्सनामगत
प्रेरणा देता है कि अनाम, असत् पदार्थोंका
तत्त्व मोहगय है—दुःखका कारण है। इसका
त्यागकर मुक्तिके कारण आत्मानन्दखलरूपका चिन्तन
ना ही सत्य जीवन है, सदाचार है। असत्में सत्त्वके
असंधानसे, आत्मविवेककी दृष्टिसे अनात्मज्ञान मृगतृष्णा-
समान सदा अद्वय और धोशल होता जायगा।
के प्रकाशमें असत्त्वका अन्धकार ठहर नहीं सकता,
चारके राज्यमें अर्धम और पापके लिये, अनाचार
दुराचारके लिये अवकाश ही नहीं रहता।

निःसंदेह न तो लासदका अस्तित्व है और न सदका अभाव ही है—

लासदो विद्यते भाषो लभाषो विद्यते सतः ।
(गीता २।१६)

सत्सङ्गकी महिमा थपार—जचिन्त्य है । यह सदाचार-ही आधारशिलाओंमें शीर्पस्थानीय है । सत्सङ्गकी ही तरह सदाचारमय जीवनके लिये सद्विचारका भी उत्साधारण महत्व है । योगसाधना ही नहीं, किसी भी तरहकी धर्मपालन, सदाचार और अभ्यासके पथपर सद्विचारकी पद-पठपर महती आवश्यकता है । विचार-हीनता अथवा विचारशून्यताके स्तरपर मनुष्यका सदाचार-परायण होना दुर्लभ और दुख्कर ही नहीं, नितान्त घटसम्भव भी है । सद्विचार आत्मज्ञानकी प्राप्तिकी दिशामें प्रकाशका ग्रनीक है । इस प्रकाशमें यात्रा वही कर पाता है, जो सदाचारी होता है । योगसाधनाके नामपर विचारहीनता अथवा विवेकसे सिद्धि-प्राप्तिके मार्गमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है । सदाचारका पक्ष लिये बिना मन योगसाधनामें सफलता नहीं पा सकता है । सदाचार बन और हृदयकी शुचिताका साधन है—जैसा कि कहा जा चुका है ।

आजकल विश्वमानव मानसिक तनावसे पीड़ित होकर हिमालयकी ओर आशान्वित हृषिरो देख रहा है । वह

सदाचारकी ज्योत्त्लासे आत्मतृप्तिके लिये आकुल और उद्धिन है । अपरोक्षानुभूति अथवा सत्यके साक्षात्कारके लिये सदाचारके पथपर चलनेका उपाय सद्विचार है । सद्विचार और सत्सङ्ग दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, दोनों एक-दूसरेके पूरक रूपमें सदाचार-पाठ्यमें महत्वकी भूमिका निभाते हैं । आचरित सदाचार उत्तःसिद्ध प्रकाशसे प्रकाशित परमपदकी प्राप्तिका एकगात्र उग्रम उपाय है । इसीसे खसंवेद बनते होता है ।

भगवान् गोरञ्जनायका कथन
परमपदयिति खसंवेदमत्यन्तभास्त्वनामात्मगमयम् ॥
(सिङ्गसिद्धान्तपठिति ५।२)

सद्विचारके प्रकाशमें प्राणी मनकी प्रतिकूलतां और अनुकूलतामें हर्षित और क्षुब्ध हुए बिना ही अनुकूलपदमें सदाचारके ही सहारे स्थस्थ रहता है । निर्मल भृत्योंऔर सदाचारसे युक्त प्राणी सत्त्व, रज और तमोगुणसे विवर्जित, पाप-पुण्यसे परे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है । सत्सङ्ग और सद्विचारसे उपोद्धारित सदाचार जीवनको अवदात बना देता है । दोनोंका मणिकाञ्जन-योग हमें पापसे दूर रहना, सदा पुण्य सच्चय करने रहना, साधु-सज्जन पुरुषोंके व्यवहारको अपनाना सिखाकर कल्याणकारी जीवनमें रहनेका अभ्यासी बना देता है । यही जीवन सदाचारकी आधारशिला होकर आदर्श बन जाता है ।

अद्भुत सदाचरण—सहज-आहिता

एक व्याचिक ग्रन्थी लाग्ने सेंत थे । जब वे लगार्नें जाने, तो घालक उन्हें पत्थर मारते । वे उनसे कहते—‘भर्ती ! छोटे-छोटे पत्थर भारो; क्योंकि यदि धड़े पत्थरसे मेरी दाँगोंसे विशेष लक्षित निकल, तो मैं ईश्वरकी धार्थना (लमाज)के समय खड़ा न हो सकूँगा ।’

मलिक दीमार नामसे एक दूसरे सेंत थे । उनसे एक खीने कहा—‘तुम कपटी हो ।’ तब वे दोले—‘मेरा नाम यही था, दर इस लगारके लोगोंओं इसका पता नहीं था, अब तुमने इसे प्रसिद्ध कर दिया, इसके लिये तुम्हें धन्यवाद !

सदाचारके सूक्ष्म

(पूर्ण श्रीबोगरेखी महाराज)

धन्तनसाय सुधारना हो तो प्रतिष्ठण छुधारो ।

जीवनके अन्तिम इवासतक सत्कर्म करते रहो ।

षष्ठिको ऐसी गुणमयी यन्नाओ, जिससे किसीके दोष थीखे ही नहीं ।

तन और मन दोनोंको सदैव सत्कर्ममें प्रवृत्त रखो ।

प्रेषपर ग्रेमसे विजय प्राप्त की जा सकती है ।

संसारमें दूसरेको मत रखाओ, रुलनेवालेहो स्वयं होना परूप है ।

जिसका सभाव अत्यधिक उन्नदर होता है, वह भगवान्को प्यारा होता है ।

दूसरेका अपमान करनेवाला स्वयं अपनी जातिका अपमान करता है ।

अधिक छुछ न पन सके तो उदास बैठे दुष्को हँसाओ ।

शरीरको नीरोग रखनेके लिये कम जाओ ।

मनको नीरोग रखनेके लिये गम जाओ ।

अतिशय साधा जीवन व्यतीत करो। जिसका जीवन सादा है, वही नच्चा साधु है ।

दूसरेको टगनेवाला स्वयं डगा जाता है ।

किसीका अपमान मत करो, मान-जान सबको दिय है ।

उत्तिवक आहारके विना सहनशक्ति नहीं आती ।

निन्दा और निद्रापर विजय प्राप्त करके ही भजन किया जा सकता है ।

तुम्हारी कोई निन्दा करे तो तुम शान्तिसे सहन करो ।

फैशन और व्यसनके पीछे समय और सम्पत्ति नष्ट मन करो ।

सेवा करनेवालेपर संत और भगवान्की कृपा दरसती है ।

जहाँ नीति, वहाँ नारायण, जहाँ परोपकार—वहाँ प्रभु-कृपा है ।

काम करते समय भगवान्को मत भूलो ।

किसीका आशीर्वाद प्राप्त करो तो हानि नहीं; परंतु किसीका अन्तःकरण दुखितकर शाप तो मत लेना ।

(प्रेपक—श्रीबद्रहीन राणपुरी)

सदाचार—मानवका सहज धर्म

(देखक—स्वामी श्रीसत्त्वातनदेवजी महाराज)

सदाचार मानवका खाभाविक धर्म है। संसारमें जितने भी जीव हैं, उनमें धर्माधर्मका विवेक केवल मनुष्यमें ही है। मानवको भगवान्की यही सबसे बड़ी देन है। इसी विवेकके कारण वह अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। इस संसारमें अविकृत मस्तिष्कका ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा जिसमें यह विवेक न हो, किंतु विवेकका आदर करनेवाले बहुत कम मनुष्य मिलते हैं। विवेकका आदर करना ही साधन है और इसका आदर न करना ही असाधन है। ये साधन और असाधन मनुष्यमें ही पाये जाते हैं। मनुष्येतर जितने प्राणी हैं, वे न साधक हैं न असाधक। अन्य प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन हैं और उसके अनुसार उन्हें जो करना चाहिये वही करते हैं। खाधीनतापूर्वक अच्छा या बुरा समझकर कुछ भी करने या न करनेकी उनमें योग्यता नहीं है। इसलिये उनकी भोग-योनियाँ कही जाती हैं। मनुष्य-योनि कर्म-योनि कही जाती है।

पशुओंमें अपने-परायेकी बुद्धि भी नहीं होती। उन्हें भूख हो और चारा मिल जाय तो वे अपनेको उसे खानेसे रोक नहीं सकते और पेट भर जानेपर चारा रहते हुए भी उसे नहीं खाते। मनुष्यको भूख हो और सामने भोजन भी हो, किंतु उसपर अपना अधिकार न हो अथवा उसे उपवास करना हो, तो वह उसे नहीं खायगा तथा यदि उसपर अधिकार हो और उपवास करना न हो तो आसक्तिवश भूखसे अधिक भी खा सकता है। इस प्रकार विवेकका आदर और अनादर करनेमें मनुष्य सतत्र है। इस खातन्त्रके कारण ही उसका हास या विकास होता है। यदि वह विवेकका आदर करता है तो पुण्यका भागी होकर

विकसित होता है और यदि उसका आदर नहीं करता तो पापका भागी होकर हासको प्राप्त होता है। यदि वह पूर्णतया विवेकका आदर करे तो निर्मम और निष्काम होकर पूर्णकाम हो सकता है तथा अपने एकमात्र सच्चे सम्बन्धी प्रभुमें आत्मीयभाव स्थापित कर उनका मधुमय प्रेम प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत यदि देहास्तिके कारण वह विवेकका अनादर करता रहा तो नरकगामी भी हो सकता है। एक ओर विवेकका आदर करनेवाला व्यक्ति यदि देवदुर्लभ गविका अधिकारी हो सकता है तो दूसरी ओर विवेकका अनादर करनेवाला पशुसे भी गयी-बीती गतिको प्राप्त हो सकता है।

यह कितने भ्रम और दुःखकी बात है कि प्रभुका इतनी उदारता होनेपर भी आजका मनुष्य निरन्तर अधोगतिकी ओर जा रहा है। उसे विवेकका आदर अस्वाभाविक और अत्यन्त कठिन जान पड़ता है और विवेक-विरुद्ध कार्य करना उसे अपना खाभाव-सा दिखायी देता है। किसी भी नगर या गाँवमें जाइये, वहाँ आपको हजारों और लाखों रुपये चन्द्रमें मिल सकते हैं, कोई उत्सव या सांस्कृतिक कार्यक्रम करना हो तो अनेक सहयोगी मिल सकते हैं, परंतु ऐसे कितने आदमी मिलेंगे जो आजन्म असत्य न बोलनेकी प्रतिज्ञा कर उसे निभा सके! मनुष्य धन दे सकते हैं और परिश्रम भी कर सकते हैं तथा यदि किसी प्रकारका यश या पुरस्कार मिलनेकी सम्भावना हो तो बड़ी-से-बड़ी आपत्ति और प्राण-संकटका भी सामना कर सकते हैं, परंतु सत्य या ईमानदारीके लिये प्रतिज्ञावद्व होना उन्हें असम्भव-सा जान पड़ता है। यह कैसी विडम्बना है!

अब देखना यह है कि क्या विवेकका आदर करना कोई कठिन बात है? यदि थोड़ा भी विचार करें तो

माल्हम होगा कि कठिनता तो विवेक-विद्वद् चलनेमें है। यदि मनुष्य न करनेयोग्य काम न करे तो कर्तव्य-निष्ठा तो वह है ही। न करनेके लिये किसी शक्ति या बलकी आवश्यकता नहीं होती और न करनेसे बढ़कर कोई भी करना नहीं हो सकता। यदि हम बाहर-भीतर सर्वथा निष्क्रिय हो जायें तो हम अपनेमें ही स्थित हो जायेंगे और अपनेमें स्थित होकर हम उसे पा लेंगे, जो सबका सब कुछ है। अब हम कुछ ऐसी बातोंका उल्लेख करते हैं जिनसे यह निष्क्रिय होता है कि मनुष्यके लिये अकर्तव्य (कदाचार) की अपेक्षा कर्तव्य (सदाचार) ही सुगम और स्वाभाविक है।

१—मनुष्य सर्वदा सदाचारनिष्ठ रह सकता है, किंतु उससे किसी भी कदाचार या पापका आचरण सर्वदा नहीं हो सकता। जैसे—सत्य सदा बोला जा सकता है, किंतु असत्य सर्वदा नहीं बोला जा सकता। इसी प्रकार अहिंसा, अस्त्रय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी कर्तव्योंका आचरण सर्वदा हो सकता है, किंतु इनके विपरीत हिंसा आदिका आचरण सर्वदा नहीं हो सकता। अतः सदाचार सनातन है और कदाचार आगन्तुक।

२—पुण्यका आचरण सभीके प्रति हो सकता है; किंतु पापका आचरण सबके प्रति नहीं हो सकता। अतः पुण्य (कर्तव्य) विमु है और पाप (अकर्तव्य) अल्प।

३—कर्तव्यनिष्ठा निर्भय होता है, उसे अपना आचरण छिपानेकी आवश्यकता नहीं होती; किंतु अकर्तव्य कर्तव्य-की ओट लेकर किया जाता है। मनुष्य अपनेको सच्चा दिखलाते हुए ही झूठ बोलता है, ईमानदारी दिखाते हुए ही वेर्डमानी करता है और विश्वासपात्रता दिखाते हुए ही विश्वासघात करता है। अतः कर्तव्यनिष्ठा स्वतन्त्र है और अकर्तव्य परतन्त्र।

४—कर्तव्यपालनमें किया और बनावट नहीं होती, जब कि अकर्तव्यमें किया और कृत्रिमता होती है।

चोरी करनेके लिये कुछ करना पड़ता है और हिंसा आदिमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। चोरी न करने, ब्रह्मचर्य रखने और अहिंसामें न कोई क्रिया है और न बनावट। अतः पुण्य कर्म स्वाभाविक है और अर्धम कृत्रिम। पुण्यकी परम्परा है, अर्धम अर्जित है।

५—आचारनिष्ठाके लिये किसी साधन या सामग्री-की आवश्यकता नहीं होती, जब कि अनाचारके लिये अन्य साधन या सामग्रीकी आवश्यकता होती है। चोरी करनेके लिये कोई सामान चाहिये, व्यभिचारके लिये कोई अन्य खी या पुरुष होना चाहिये तथा हिंसा करनेके लिये कोई जीव होना चाहिये। परंतु अस्त्रेय, ब्रह्मचर्य या अहिंसाके लिये किसी भी अन्य वस्तु या व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार धर्मनिष्ठा स्वाश्रित है और अर्धम पराश्रित।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका सहज धर्म कर्तव्य वर्यात् सदाचार ही है। अकर्तव्य या दुराचार तो उसने स्वार्थ और आसक्तिके कारण स्वयं ही खड़ा कर लिया है। यह अपने पैरोंमें स्वयं ही डाली हुई बैड़ी है। परंतु आज उससे इसका इतना मोह हो गया है कि उससे छुटकारा पाना उसे असभ्व जान पड़ता है—किंतु यह है उसकी भान्ति ही। जरा सोचिये तो एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति क्या बड़े-से-बड़े कष्ट या प्रलोभन होनेपर भी झूठ बोल सकता है या एक निरामिपभोजी प्राण-संकट उपस्थित होनेपर भी क्या मांस भक्षण कर सकता है? और एक अहिंसक क्या अत्यन्त विपरीत परिस्थितिमें भी किसीका गला काट सकता है? साथ ही कोई झूठ व्यक्ति सर्वदा झूठ नहीं बोल सकता, कोई भी मांस-भोजी सर्वदा मांस खाकर रहना पसंद नहीं करता और कोई भी हिंसक सबका गला काटना स्वीकार नहीं

कर सकता। इस प्रकार सोचिये तो सही कि कठिनता सदाचारके ल्यागनेमें है या दुराचारसे बचनेमें?

फिर भी कारण क्या है कि आजका मनुष्य दुराचारमें ही अधिक प्रवृत्त होता है? यह केवल उसकी स्वार्थप्रता और भ्रान्ति ही है। वह किसी-न-किसी सुखके लोभ या दुःखके भयके कारण ही अवर्तन्यमें प्रवृत्त होता है। किंतु क्या ऐसा करनेसे वह दुःखसे बच सकता है अथवा सुखको बनाये रख सकता है? संसारमें अवतक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ, जिसके जीवनमें केवल सुख या केवल दुःख ही रहा हो। सभीको न्यूनाधिकरूपमें समय-समयपर सुख और दुःख दोनोंका अनुभव करना ही पड़ा है। जिस प्रकार दिन और रात्रिके आवरणमें ही कालकी गति छिपी हुई है तथा अन्धकार और प्रकाशके द्वारा ही आकाशका स्वरूप आवृत है, उसी प्रकार प्राणीका जीवन सुख-दुःखके भोगेसे ही व्याप्त है। परंतु स्वरूपतः जिस

प्रकार काल दिन-रातसे तथा आकाश अन्धकार और प्रकाशसे असङ्ग है, उसी प्रकार यह जीव भी सुख-दुःखसे असङ्ग है। अतः जीवनमें सुख-दुःखकी प्रतीति होती है तो होने दीजिये। उस प्रतीतिकी आप निवृत्ति नहीं कर सकते। किंतु वास्तवमें आप उससे असङ्ग हैं। उससे सङ्ग स्वीकार करनेके कारण ही आप सब प्रकारके अन्योंसे बँव जाते हैं। लौकिक दृष्टिसे यदि उनका आना-जाना अनिवार्य ही है तो उनसे डरना या बँधना क्यों? उन्हे आने-जाने दीजिये और आप उनसे असङ्ग रहकर अपने स्वरूपमें स्थित रहिये। फिर तो आपका स्वभाव ही होगा सदाचार। वह तो अब भी आपका स्वभाव ही है, केवल भ्रान्तिसे ही आपने उससे विमुख होकर अपने जीवनको अनेक आपत्तियोंसे ग्रस्त बना लिया है। आप चाहे तो इसी क्षण अपनी दिशा परिवर्तित करके अपने वास्तविक लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकते हैं।

सदाचारमयी ज्ञान-दृष्टि स्व

प्राचीन कालमें सिंहलद्वीपके अनुराधापुर नगरसे बाहर एक टीला था, उसे चैत्यपर्वत कहा जाता था। उसपर महातिष्ठ नामके एक वौद्ध भिक्षु रहा करते थे। वे एक दिन भिक्षा माँगने नगरकी ओर जा रहे थे। मार्गमें एक युवती ली मिली। वह अपने पतिसे झगड़ा करके अपने पिताके घर भागी जा रही थी। उस लीका आचरण संदिग्ध था। भिक्षुको देखकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये वह हँसने लगी।

भिक्षु महातिष्ठ वरावर चिन्तन करते रहते थे कि मनुष्य-शरीर हड्डी-मांसका पिंजड़ा है। उस लीके हँसनेपर भिक्षुकी दृष्टि उसके दाँतोंपर गयी। लीके सौन्दर्यकी ओर उनकी चिन्तवृत्ति नहीं गयी, मात्र यह भाव उनके मनमें आया कि यह एक हड्डियोंका पिंजड़ा जा रहा है।

ली आगे चली गयी। थोड़ी दूर जानेपर नगरकी ओरसे आता एक पुरुष मिला। वह उस लीका पति था। अपनी पत्नीको वह हँसने निकला था। उसने भिक्षुसे पूछा—‘महाराज! इस मार्गसे गहने पहने हुए किसी सुन्दरी युवती लीको जाते हुए आपने देखा है?’

भिक्षु बोले—‘इधरसे कोई पुरुष गया या ली, इस वातपरतो मेरा ध्यान नहीं गया; किंतु इतना मुझे पता है कि इस मार्गसे अभी एक अशिष्पञ्चर गया है।’ (भिक्षुकी यह दृष्टि ज्ञान-भूमिकी सदाचारमयी दृष्टि है।)

आचार, विचार और संस्कार

(लेखक — श्रीवजरंगबलीजी ब्रह्मचारी)

खस्थ सामाजिक अथवा आध्यात्मिक जीवन व्यतीन करनेके लिये सदाचार और सद्विचार—ये दोनो ही रथके द्विनक्तकी भौति अत्यावश्यक तथा परम उपयोगी हैं। विचार और आचारकी समरसता एवं एकरूपतासे ही मानव-जीवनके अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। सद्विचारोंको सदाचारमें परिणत करके ही सुदृढ़ व्यक्तित्वका निर्माण और राष्ट्रका सर्वाङ्गीण कल्याण किया जा सकता है। इसीलिये हमारा यह पुरातन सत्य सनातन धर्म, सद्विचार और सदाचार दोनोंसे सम्पुटित होकर ज्ञान और कर्मकी समानरूपसे शिक्षा देता है। भारतीय प्राचीन गुरुकुल-शिक्षापद्धतिकी यह विशेषता रही है कि गुरुजन शिष्योंको अपने उन्हीं विचारोंको अपनानेकी सीख देते थे, जो सदाचारकी कसौटीपर कसे जा चुके थे, दूसरेकी नहीं—

‘यान्यस्याकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो
इतराणि ।’ (तैत्तिरीयोपनिषद्, शीक्षावही)

यही उनकी सीख थी।

सद्गुरुका ‘आचार्य’नाम भी सर्वथा अन्वर्थक था। महर्षि आपस्तम्बने अपने धर्मसूत्रमें आचार्यका यह लक्षण बतलया है कि शिष्यगण जिसके चरित्रसे प्रभावित होकर अपने धर्मका, सदाचारका संचय करें—उस चरित्रवान् विद्वान्को ‘आचार्य’ कहा जाता है—

यस्याद् धर्मान् आचिनोति स आचार्यः । ॥

(१।१।१४)

* अन्यत्र भी कहा गया है—

स्वयमाचरते यस्तु आचारे स्यापयत्वपि । आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते ॥

(लिङ्गपुराण २।२०।२०)

† वस्तुतः रावण, विभीषण आदिकी माता राक्षसी थी, इसीलिये वे राक्षस थे। Ethnology तथा अमरकोश-के अनुसार राक्षसयोनि देवयोनिके ही अन्तर्गत है। †रक्षो गुह्यकः सिढो भूतोऽमी देवयोनयः। वाल्मी० उत्तर० ४। १३में जलकी रक्षा करनेके कारण ही प्रजापतिने इन्हे राक्षस कहा था। कालान्तरमें यह देवयोनि नहीं रही।

‡ वाल्मीकीयरामायण (३। ७३। २६)के अनुसार शब्द खामोंके समान शब्दी व्यक्तिवाचक नाम था, जाति नहीं—‘भ्रमणा शब्दी नाम काळुत्स्य चिरपीडिनी ।

महर्षि याज्ञवल्क्यने शिष्योंको शौच और सदाचारकी प्रनिवार्य शिक्षा देना आचार्यका मुख्य कर्तव्य बतलया है— उपर्नीय गुरुः शिवं महाव्याहृतिपूर्वकम् । वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेन् ॥ (याज्ञवल्क्यम् १। १५)

महाभारतमें कहा गया है कि मनुष्यको सबसे अधिक ध्यान अपने आचरणपर रखना चाहिये। वित्त तो आता है और चन्द्र भी जाता है। वित्त कीण हो जानेपर भी वृत्त अर्थात् आचरण यहि ठीक हो तो मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती। परंतु वृत्तसे हीन हो जानेपर तो उसका सर्वनाश ही हो जाता है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्तः क्षीणो वृत्तनस्तु इतो दृतः ॥

(शान्तिपर्वं)

देखा गया है कि विपुल सम्पत्तिके स्वामी और अनेक वेद-वेदाङ्कका ज्ञाता होनेपर भी सदाचार-रहित होनेके कारण रावण राक्षसां वन गया और सुयोधन दुर्योधन वन गया। सदाचारके त्यागसे कंसको कसराई कहा गया और दक्षको दम्भी कहा गया। सदाचार-युक्त स्वल्पज्ञानसे ही विभीषण राक्षस होते हुए भी राम-दास वन गया और शवरीं भिलनीसे वन गयी भासिनी। दासी-पुत्र नारद अगले जन्ममें देवर्पि वन गये और सदाचारकी ओर लौटते ही वाल्मीकि व्यायसे वन्दनीय आदिकवि वन गये। सदाचार-समन्वित तप एवं पुरुषार्थके द्वारा ही वृहस्पति देवगुरुके पदपर प्रतिष्ठित हुए और पवनपुत्र

रामदूत बनाये गये। इसी प्रकार कुवेर धनाध्यक्ष और यमराज धर्मराज बने। दूसरी ओर सदाचारका उपहास-परिहास करनेके कारण ही इदासन-जैसा सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न आसन प्राप्त करके भी यथातिका पतन हुआ और सहस्र-मुजाधारी अर्जुनको द्विमुज परशुरामसे पराजित होना पड़ा। यह सब क्यो? इन सबका कारण यही है कि 'धर्म'के (जो सबका धारक और उद्धारक माना जाता है उसके) मूलमें स्थित सदाचारकी इनके द्वारा उपेक्षा और अवहेलना की गयी थी। जैसे पर्वतसे नदियाँ निकलती हैं और सूर्यसे प्रकाश निकलता है, उसी प्रकार सदाचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति कही गयी है—‘आचारप्रभवो धर्मः।’ इसीलिये महाराज मनु सदाचारको सावधानीपूर्वक दृढ़तासे पालन करनेका निर्देश करते हैं—

धर्ममूलं निषेचेत् सदाचारमतन्द्रितः।
(मनु० ४। ४५)

आचार, विचार और संस्कारका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें संस्कारोपर बहुत बल दिया गया है। उनकी विभिन्न संख्या धर्मशास्त्रोंमें मिलती है। गौतमधर्मसूत्रमें अड़तालीस संस्कार वतलाये गये हैं और सुमन्तुने पञ्चीस संस्कार वतलाये हैं। परंतु भगवान् व्यासने अपनी स्मृतिमें इस युगके उपयोगी मुख्य सोलह संस्कारोंका ही वर्णन किया है। ये ही अधिक प्रसिद्ध तथा व्यवहार्य हैं।

संस्कारोंसे आचार-विचारमें शुद्धता और सुदृढता आती है। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—
(१) मलापनयन, (२) अतिशयाधान और
(३) न्यूनाङ्गपूरक। ससारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं, प्राकृत और संस्कृत। जिन्हे प्रकृतिने उत्पन्न किया है, वे प्राकृत कहे जाते हैं; किंतु वही प्राकृत पदार्थ लोकोपयोगी बनाने-हेतु संस्कारित किये जानेपर संस्कृत

बन जाते हैं और उनकी सत्ता, महत्ता तथा उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणके लिये अनाजको लीजिये। प्रकृति जिस दशामें अनाजको उत्पन्न करती है, वह उसी दशामें हमारे लिये उपयोगी नहीं हो सकता। यदि हम उसे उसी दशामें खाने लगें तो हमारे दॉत ही छिन्न-मिन्न हो जायें और हमारे उदरकी जठरानि भी उसे पचान सके। सचि और खादकी तो बात ही जाने दीजिये, शरीर-पोषण भी ठीक प्रकारसे नहीं हो सकेगा। इसीलिये अनुपयुक्त वस्तुएँ—भूसी, तुप आदि निकालनेके लिये जो संस्कार करना पड़ता है, उसे 'मलापनयन' संस्कार कहते हैं। उस दोपरहित अनाजमें कुछ विशेषताएँ लानेके लिये कुटाई-पिसाई, घृत, जल-मिश्रण और अग्नि-पाकद्वारा किये गये संस्कारको 'अतिशयाधान' कहते हैं। इस प्रकार अनाजके भोज्य पदार्थ बन जानेपर दाल, शाक, घृत आदि वस्तुएँ अलगसे लाकर मिलाकर उसके हीन अङ्गोंकी पूर्ति की जाती है, जिससे वह अन्न रुचिकर स्वादिष्ट और पौष्टिक बन सके। इस तृतीय संस्कारको 'न्यूनाङ्गपूर्ति' कहते हैं। इसी प्रकार वज्ञादिके अन्यान्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

जब बिना संस्कार किये हुए प्राकृतिक पदार्थतक उपयोगी नहीं बन पाते, तब फिर मनुष्यके संस्कारोंकी महिमाको कैसे नकारा जा सकता है? वृहदारण्यक उपनिषद्‌में एक प्रसङ्ग आया है कि यदि कोई अपने पुत्रको पण्डित बनाना चाहे तो अमुक प्रकारका संस्कार करे और यदि वीर बनाना चाहे तो अमुक प्रकारका संस्कार करे—इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यके आचार-विचारमें उपयुक्त गुण लाकर उन्हें समाजोपयोगी बना देना ही संस्कारोंका प्रमुख-उद्देश्य रहा है। संस्कारोंकी समुचित व्यवस्था और सम्पन्नतासे ही आचार-विचारमें दृढ़ता और पूर्णता आती है और दृढ़ आचार-विचारवाला व्यक्ति ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस—उभय प्रकारकी उपलब्धि कर मानव-जीवनके परस लक्ष्य-की प्राप्ति कर सकनेमें सक्षम और समर्थ बन पाता है।



सदाचार-विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धसमाना, पम० ए०, पम० ओ० पल०, पी-एन्स० टी०)

च्युत्पत्ति, परिभाषा और स्वरूप

आडू उपर्सग पूर्वक 'चर्' धातुसे तथा श्रेष्ठके पर्याय-वाचक 'सद्' शब्दके पूर्वसंयोगसे सदाचार शब्दकी निष्पत्ति होती है। वैयाकरणोंने 'चर्' धातु (भादि ५५२)का मुख्यतः प्रयोग गति और भक्षण अर्थमें ही किया है; किंतु धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं; * इसलिये 'चर्' धातु कर्म करनेमें भी प्रयुक्त होता है। वैदिक ऋषिने कर्म और आचारमें अभेद देखते हुए कहा—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।

(ब्रह्म० उ० ४ । ४ । ५)

जैसा करनेवाला व्यक्ति, जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। अपने शारीरकभाष्यमें आचार्य शंकरने कर्म और आचारको समानार्थक मानते हुए लिखा है—

चरणमनुष्टानंकर्मत्यनर्थान्तरम् । (ब्रह्म० ३ । १ । ११)

'चरण, अनुष्टान और कर्म—ये पर्यायवाचक शब्द हैं'। मूल सूत्रकार वादरि आचार्यने आचरणके अन्तर्गत पुण्य और पाप दोनों ही प्रकारके कर्म वर्तलाये हैं—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ।

(ब्रह्म० ३ । १ । ११)

मनुने सदाचारसे मनुष्यको उत्तम आयु, अभीप्सित संतान और पुष्कल धन प्राप्त होने तथा शारीरिक अमङ्गलके मिटानेकी वात कही है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।

आचाराद् धनमक्षयमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

(४ । १५६)

और, उन्होंने ब्रह्मार्वत देशके निवासियोंके परम्पराग्राप्त आचारको ही सदाचारका स्वरूप वर्तलाया है।

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स नदाचार उच्यते ॥
(२ । १८)

'उस (ब्रह्मार्वत) देशमें स्वर्णोंसे लेपर संकीर्ण जातितकके लोगोंका जो परम्परामें प्राप्त आचार है, वही सदाचार कहलाता है।' विष्णुपुराणमें और्ध्वे गजा सगरसे कहा था—

साधवः शीणदोपास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥
(३ । ११ । ३)

'सत् शब्द साधुका वाचक है, साधु लोग दोप-रहित होते हैं, इसलिये उनका आचरण ही सदाचार कहा जाता है।' इसके तृनीय थंशके ग्यारहवें और बारहवें अध्यायोंमें विस्तारसे गृहस्थादिके लिये जिन कर्तव्यक्रमोंका वर्णन किया गया है, उनको सदाचारकी संज्ञा दी गयी है। शंकराचार्यने शील और सदाचारमें अभेद वर्तलाते हुए लिखा है—

चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् । १

(ब्रह्म० ३ । १ । ९ पर शांकरभाष्य)

महर्षि हारीतने अपनी सृष्टिमें तेरह प्रकारके शीलका उल्लेख किया है। वे आजकी महर्षिवंपु या बृद्धहारीतसृष्टिमें नहीं मिलनेपर भी कुद्दकमङ्गकी मन्त्र्य-मुक्तावली २ । ६ में उपलब्ध हैं। वे हैं—

आस्तिकता, देव-पितृभक्ति, सज्जनता, किसीको कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, कोमलता, कूर व्यवहार न करना, सबसे मैत्री करना, शिथ बोलना, कृतज्ञ होना, शरण देना, दया और चित्तकी शान्ति ।

* १० । २१०का चर् धातु सभ्य अर्थमें भी पठित है। पर यहाँ 'कर्माचरण' अर्थ अभीष्ट है।

† शारीरकशांकरभाष्यके अनुसार चरण, चारित्र, आचार और शील पर्यायवाचक शब्द हैं।

महाभारतमें सदाचारको धर्मका रूप माना गया है।
वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्॥

(वनपर्व २०७ । ८२)

वेदोंमें वर्णित प्रथम, धर्मशास्त्रमें वर्णित द्वितीय और सज्जनोंके सदाचारमें तृतीय—ये धर्मके तीन स्वरूप हैं। कर्ण और अर्जुनके युद्धके अवसरपर कर्णका रथ जब कीचड़में धैंस गया तो उसने क्षत्रिय-धर्मके सम्बन्धसे अर्जुनको कुछ देर रुकनेको कहा, तब भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके साथ उसके द्वारा पहले किये गये अत्याचारोंका स्मरण दिलाते हुए उसे बहुत कुछ खरी-खोटी सुनायी। उसी प्रसङ्गमें उन्होंने सदाचारके लिये धर्म शब्दका प्रयोग किया—

क्ते धर्मस्तदा गतः। (म० भा० क० प० ९१ । ३ । ६)

‘तब तेरा धर्म अर्थात् सदाचार कहाँ चल गया था।’ वस्तुतः यहाँ ‘सदाचार’ समुदाचारके अर्थमें प्रयुक्त है। तस्य धर्म्यम् (इस पाणिनि ४ । ४ । ४७) सूत्रके स्पष्टीकरणमें ‘काशिका’-वृत्तिमें धर्मका अर्थ न्यायोचित एवं ‘आचारयुक्त’ किया गया है* और आचार तथा धर्मको अभिन्न माना गया है। इस विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचारका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। जिस प्रकार बुद्बुद, तरंग और झाग जलके ही रूपान्तर होते हैं, उसी प्रकार शुभ कर्म, पुण्य, शील और धर्म सभी सदाचारके ही विभिन्न रूप हैं।

उद्गम स्रोत—

शास्त्रकारोंने वेद, पुराण, सूति, संतोंके आचार तथा शुद्ध मनको सदाचारके स्रोत बतलाये हैं। आचार्य शंकरने मनके विषयमें लिखा है—

* धर्म्ये न्यायाचारयुक्तमित्यर्थः। (काशिका वृत्ति) ।

तीनों कालोंकी वस्तुओंको प्रहण करनेवाला मन एक है, किंतु उसकी वृत्तियाँ अनेक हैं। वृत्तिके मेदसे वह भिन्न नामोंसे कहा जाता है—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, मनके ही रूपान्तर हैं। वैदिक ऋषिने कहा है—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिर-
धृतिर्हीर्धीर्धीरित्येतत् सर्वं मन पवः।

(बृहदा० उ० १ । ५ । ३)

‘काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मनके ही आवर्त हैं।’ श्रद्धाके साथ जब अलौकिक प्रेम परिपक्व होता है तो वही भक्तिरसमें परिणत हो जाता है। हृदयकी उसी रसमयी स्थितिमें इन्द्रियाँ सात्त्विक विषयोंमें प्रवृत्त होकर सदाचारको जन्म देती हैं। उसी द्रवित हृदयके वातावरणमें समस्त दैवी प्रकृति जागरूक हो जाती है और आसुरी वृत्तियोंका उन्मूलन हो जाता है। वास्तवमें भक्ति और सदाचार एक दूसरेपर आश्रित हैं। धर्मराजके अनुसार जो सदाचारी है, वही भक्त बन सकता है और जो भक्त है, वही सदाचारी हो सकता है—

अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्तः

सततमनार्यकुशीलसङ्गमतः ।

अनुदिनकृतपापवन्धयुक्तः

पुरुषपशुर्न हि चासुदेवभक्तः ॥

(विष्णुपुराण ३ । ७ । ३१)

‘जो दुर्बुद्धि व्यक्ति निरन्तर असत्कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है, दुश्श्रित्र व्यक्तियोका साथ करता एवं मत्त रहता है, वह पुरुष-पशु प्रतिदिन बन्धनोंमें बँधता ही जाता है, और भगवान् वासुदेवका भक्त नहीं हो पाता। यदि भक्ति और सदाचार-को एक ही पदार्थके दो पहल्ल कहें तो वह अधिक संगत होगा। हृदयस्थित भाव या भक्तिका ही वाय्यकर्मात्मकरूप सदाचार है। चाहे किसी भी सम्प्रदायका मनुष्य हो,

किंतु उसके सदाचारी होनेमें आस्तिकता नितान्त आवश्यक है। ईश्वरकी सत्ता और जगतपर उसके नियन्त्रणका विश्वास करनेवालोंके द्वारा अनुष्ठित कार्य ही सदाचार है। भक्तिके सम्बन्धमें यह अवश्य बोद्धन्वय है कि जहाँ वह वाह्य रूपमें कर्मको शुद्ध और पूर्ण करके सदाचारमें ठालनी है, वहाँ वह आन्तरिक रूपमें ज्ञानमें परिणत होकर ब्रह्मके साक्षात्कारमें साधन सिद्ध होती है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याग्यु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । ३२ । २३)

‘भगवान् वासुदेवकी भक्तिसे वैराग्य और उससे ब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाले ज्ञानका विकास होता है।’

सदाचारकी आवश्यकता—

नाविरतो दुश्चरिताज्ञाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनमाप्नुयात् ॥
(कठोप १ । २ । २४)

‘प्राणी जवतक दुराचारसे निवृत्त नहीं होता, इन्द्रिय-दमन नहीं करता और उसका चित्त शान्त नहीं होता, तबतक वह केवल ब्रह्मज्ञानसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर सकता।’ तात्पर्य यह कि गृहस्थसे लेकर संन्यासीतकके

लिये सदाचारका अनुष्ठान करना परमावश्यक है। अमृत-पानेके लिये जब देवता और दानवोंने सामूहिक प्रयास किया तो उसके परिणाममें समुद्र-मन्थन सम्पन्न हुआ। सुना जाता है कि देवताओंकी अपेक्षा दानव अधिक बली एवं उद्योगी थे, फिर भी वे अमृत-पान इसलिये न कर सके कि उन्हें भगवान्का आश्रय नहीं था (श्रीमद्भा० ८ । ९ । २८)। इस पौराणिक उपाख्यानको आजका बुद्धिवादी मानव भले ही हँसीमें टाल दे, किंतु इसके अन्तर्निहित इस शाश्वत सत्यका साक्षात्कार किया जा सकता है कि भक्ति या सदाचारके विना कोई भी अमृत-पान नहीं कर सकता तथा वह अपने द्वारा किये गये परिश्रमका फल भी नहीं प्राप्त कर सकता।

सदाचारके सोपानपर चढ़कर मानव दानवतापर अधिकार प्राप्त कर सकता है। यदि मानव आचारको तृण मानकर स्वच्छन्द कर्म करता है तो उसके वे कर्म पाशविकचर्यासे भिन्न नहीं हैं। उसके बाह्य व्यवहारमें हस्तीके दन्तसे प्रदर्शनके दम्भ, बुद्धिमें शृगाल-सा प्रवञ्चनात्मक चारुर्य और भाषणमें सर्पकी-सी दो जिह्वाओंके व्यापार भले ही विद्यमान हों, पर अन्तर्हृदयमें निर्मलता और सच्ची श्रद्धा आदि सदाचारके वीज वर्तमान नहीं हैं और वह सच्चे अर्थमें मानव या मनुष्य नहीं हैं। वस्तुतः सदाचारका अनुष्ठान मानवके अन्तर्हृदयसे अत्यावश्यक है।

इन्द्रियसंयम—मनका सदाचार

अवान्तरनिपातीनि पौरुषेणेन्द्रियाण्याग्यु	स्वारूढानि संयम्य	मनोरथम् । समतां नय ॥
---	----------------------	-------------------------

(योगवासिष्ठ)

‘मनोमय रथपर चढ़कर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वीचमें ही पतनके गर्तमें गिरनेवाली हैं, अतः प्रवल पुरुषार्थद्वारा इन्हें शीघ्र अपने वशमें करके मनको समतामें ले जाइये।’

सदाचारका वास्तविक स्वरूप और उसका प्रतिदान

(लेखक—७० श्रीटीनानाथजी गार्मी, सारस्वत, विद्यावाचस्पति, विद्यावारीग, विद्यानिधि)

धर्मके लक्षणोके बतलाते हुए सर्वमान्य (भार्गवीय)
‘मनुसंहिता’में कहा गया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥
(२ । १२)

वेद, धर्मगाथ, सदाचार और वैकल्पिक विषयोमें
अपनी आत्माकी प्रियता---ये चार धर्मके माक्षात्
लक्षण हैं ।

यहाँ मनुजीने धर्मके चार प्रकारके लक्षण बतलाये
हैं । इनमें पहला है—वेद, दूसरी है स्मृति, तीसरा है
सदाचार और चतुर्थ वह है—जो अपने आत्माको
प्रिय है । किंतु आत्माको प्रिय तो निपिद्ध बत्तुरुँ मी हो
मक्ती है, अत यहाँ इसका वास्तविक तात्पर्य कुछ और
है । बत यह है कि धर्ममें कभी-कभी कई विकल्प भी
हुआ करते हैं, जैसे—स्मृतियोमें कहा गया है कि ब्राह्मणका
यज्ञोपवीत जन्मसे एवं वर्षमें भी किया जा सकता है
और गर्भसे एवं वर्ष भी—गर्भाष्टमेऽष्टमेवाऽच्छेब्राह्मण-
व्योपनायनम् । (याज्ञवल्क्य १ । २ । १४) ।
मनुके ‘आत्मप्रिय’का तात्पर्य इन दो वैकल्पिक धर्मोमें
जो आत्माको प्रिय हो, उसीके अनुसरण करनेसे है,
सर्वथा मनकी मौजसे नहीं—‘स्वस्य च प्रियमात्मनः’का
यही रहस्य है । इसे याज्ञवल्क्यस्मृतिकी ‘मिताक्षरा’
आदि व्याख्याओंमें विस्तारसे देखा जा सकता है । *

धर्मके साक्षात् लक्षणोमें वेद एव स्मृतिके बाद
तृतीय स्थान ‘सदाचार’को दिया गया है । ‘सदाचार’
की दो प्रकारकी व्युत्पत्तियों हैं—(१) ‘सत्तम् आचारः
सदाचारः (सत्पुरुषोका आचार) तथा (२) ‘सत् (अ०)
आचारः (अच्छा आचार) सदाचारः । अच्छे आचारसे

भी श्रुति-स्मृतिसे अविरुद्ध आचार ही इष्ट है । भद्र कुमारिल
आठिके अनुसार सत्पुरुषोके जिस-किसी भी आचारके
‘सदाचार’ होनेपर भी शाश्वतिरुद्ध होनेकी दशामें वह
अनुसरणीय नहीं माना जाता । इसिलिये सत्पुरुष युधिष्ठिर-
द्वारा आचरित धूत श्रुति-स्मृतिरित्युद्ध होनेसे आचरणीय
नहीं माना गया । सदाचारको मनुस्मृति आठिमें ‘आचार’
शब्दसे भी कहा गया है । इस आचारका गौरव मनुस्मृति-
के निम्न श्लोकोमें भी देखिये—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्तं एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥
(१ । १०८)

यहाँपर श्रुति तथा स्मृतिसे समर्थित होनेपर ही
आचारको अनुसरणीय कहा गया । यदि यहाँ ‘श्रुत्युक्तः
स्मार्तं एव च’ न कहा जाता तो पाण्डव सत्पुरुष थे,
अत एक लीसे पॉच्चोंका विवाह भी सबके लिये
अनुसरणीय हो जाता, पर ऐसा नहीं किया जाता ।
अब विलोमतासे भी आचारकी प्रशंसा देखिये ।

आचाराद् विच्चयुतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥
(१ । १०९)

यहाँ कहा गया है कि ‘आचारसे पतित ब्राह्मण वेदके
फलको प्राप्त नहीं होता ।’ क्या रावण वेदका विद्वान्
न था ? अवश्य था, परंतु उसने आचारकी
अवहेलना कर दी थी । अतः उसका कहीं भी आदर
नहीं रहा । किसी भी सत्समाजमें उसका नाम प्रशासासे
नहीं लिया जाता । इसिलिये कोई भी पुरुष अपने लड़केका
नामतक ‘रावण’ नहीं रखना चाहता । आचारसे युक्त

* स्वस्य चात्मनः प्रिय, वैकल्पिके विवाहे, यथा—‘गर्भाष्टमेऽष्टमेवाऽद्वै ।’ (याज्ञ० १ । १५की मिताक्षरा)

पुस्पकी सर्वत्र प्रशंसा होती है । उसको वेदके समग्र कल्की प्राप्ति कही गयी है । उपसंहारमे मनुजी इसको अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

पवमाचारतो द्विष्ठा धर्मम् सुनयो गनिम् ।
सर्वस्य तपस्मो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥
(१ । १०)

यहाँपर आचारको मुनिलोगोद्वाग सब तपस्याओका मूल बताया गया है । तपस्याकी महिमा आओंमें इस प्रकार आयी है—

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यद् दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
(मनु० ११ । २३८, विष्णुस्मृति १५ । १७, विष्णुशर्मा०
महाप० ३ । २६६ । ३०, महा० १३ । १२० । ७) ।

भाव यह है कि जिस ग्रहदोपसे सूचित आपत्तिको पार नहीं किया जा सकता, तपस्या उसे तार सकती है । जिस पठार्थका मिळना सर्वथा दुर्लभ है, तपस्या उसे भी सुलभ करा सकती है । जिस सुमेह-पर्वतपर दुःखसे जाया जा सकता है, तपस्या वहाँ सुखसे पहुँचा सकती है और जिसका आचरण करना बड़ा कठिन है, तपस्या उसे सुकर बना देती है; परंतु तपस्याका अतिक्रमण कभी नहीं किया जा सकता । माथ ही ऐसी तपस्या भी आचारसे ही प्राप्त होती है । यदि आचारहीनता हो जाय तो वह तपस्या भी विघ्नस्त हो जाती है । यह सुप्रसिद्ध है कि शाप भी तपस्यामे दिया जा सकता है, पर वही तपस्या एक निरपराधको शाप देनेपर धस्त हो जाती है । इस प्रकार निरपराधादिको शापदान भी एक प्रकारसे सदाचारका अतिक्रमण है । अतः किसीको शाप देना उचित नहीं है । पुराणोंमें इसपर पर्याप्त मीमांसा है ।

रावण बड़ा विद्वान् था, पर उसने सदाचारका परित्याग कर दिया था, अतः वह असदाचारी माना गया; और अन्तमे उसकी बड़ी दुर्दशापूर्ण मृत्यु हुई । इसी प्रकार कस, शिशुपाल, दुर्योधन, हिरण्यकशिष्यु आदिको देखिये—सभी इसी आचारहीनताके उदाहरण हैं ।

वे किस दुर्दशासे ग्रस्त नहीं हुए । तभी तो यह कथन प्रसिद्ध है कि पठ्ठोमहित अधीत वेद भी आचारहीनको पवित्र नहीं करते और वे मृत्युकालमें उन्हें उसी प्रकार श्वेड देते हैं, जैसे पव निकल आनेपर पक्षी वोमलेको श्वेड देते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा

यद्यप्यर्थीताः सह पठभिरह्नौ ।

उन्द्रांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति

नीडं शकुन्ता इव जातपश्चा ॥

(वसिष्ठवर्ममूल ६ । ३, महाभा० ६ । ३५, ८०,
८३, ५, आपस्यधर्ममूल, देवीभा० २१ । २ । १,
बृहद्योगियाजवत्क्य ८ । ७१ आदि)

अग्रेजीमें भी एक प्राचीन कहावत प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है— When your wealth is lost, nothing is lost, when your health is lost, something is lost, but when your character is lost, your everything is lost

(यदि तुम्हारा बन नष्ट हो गया है तो समझो कि तुम्हारा कुछ भी नष्ट नहीं हुआ । यदि तुम्हारा स्वास्थ्य नष्ट हुआ है तो समझो कि तुम्हारा कुछ नष्ट हुआ है, पर यदि तुम्हारा आचार नष्ट हो गया है तो समझ लो कि तुम्हारा सब कुछ नष्ट हो गया ।) यह यीक भी है; क्योंकि आचारहीनका कोई विद्वासु नहीं करता । उसे तो कोई अपने साथ भी नहीं बैठाना चाहता, बल्कि उसे समाजसे भी दूर रखना जाता है । यहाँतक कि उसकी स्वतन्त्रताका भी हरण करके उसे कारागारमे ढाल दिया जाता है । चोर, डाकू, उचकके बुरे क्यों समझे जाते हैं? — इसीलिये कि उन्होंने आचारकी अवहेलना कर रखी है ।

सत्य आचार है, पर असत्य कदाचार है । सत्यसे बहुत लाभ होते हैं और असत्यसे अपार हानियाँ होती हैं । सभ्या एक श्रेष्ठ आचार है, जिसके लिये श्रीमनुजीने कहा है—

ऋग्योऽदीर्घसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवामयुः ।
प्रश्नां यशश्च कीर्ति च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥
(मनु० ४ । १४)

‘ऋग्याण दीर्घकालतक सध्याका अनुष्ठान करते थे, इसीसे उनकी आयु लम्बी होती थी । सध्यासे बुद्धि प्राप्त होती है, यश मिलता है, कीर्ति प्राप्त होती है और ब्रह्मनेज भी प्राप्त होता है ।’ इससे यह भी सिद्ध हुआ कि कदाचारसे आयु बढ़ती है, सम्मान नहीं मिलता, अनादर होता है और ऐसे पुरुष पृथिवी की दृष्टिसे देखे जाते हैं । चोर, जार, डाकू आदि क्यों बुरी दृष्टिसे देखे जाते हैं ? कारण यही है —सदाचारका परित्याग ।

जब अर्जुन महादेवजीसे ‘पाशुपत’-अल्प प्राप्त कर इन्द्रलोकमें आये, तब इन्द्रने अर्जुनके आगमनके उपलक्ष्यमें उर्वशी अप्सराका नृत्य कराया । उर्वशी अर्जुनपर मुख्य हो गयी । रातमें अर्जुन जिस समय अपने कमरेमें अकंक्षे थे, उसी समय उर्वशीने अर्जुनका द्वार खटकटाया । अर्जुनके यह पूछनेपर कि ‘तू कौन है, क्या नाहती है ?’—उसने उत्तर दिया कि ‘मैं उर्वशी हूँ ।’ पर अर्जुन कदाचारी नहीं, सदाचारी थे; अतः उन्होने उसे इन्द्रकी पत्नी ओर अपनी माता मानकर उसका वेंसा अनुरोध स्वीकार नहीं किया । इस प्रकार उर्वशी झेप गयी और वापस चली गयी । फलतः सदाचारकी विजय हुई । अर्जुनके सदाचारकी पूरी परीक्षा हो गयी । महाकवि कालिदासने ठीक ही कहा है—

विकारहंतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।
(कुमारसभव १ । ५९)

‘विकृतिके कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्त विकारप्रस्त नहीं होते, वास्तवमें वे ही वीर हैं ।’ यही है—सदाचार । कहते हैं । शिवाजीपर एकवार एक मुसलमान-स्त्री

मोहित हो गयी थी । पर शिवाजी सदाचारी थे, उन्होने उसको किसी तरह टाल दिया । क्यों ? वही कारण थहों भी था—उत्कृष्ट कोटिका सदाचार । शिवाजी सच्चे अर्थमें ‘धीर’ वीर थे । इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण इतिहासोके पृष्ठोमें भरे पड़े हैं, जिनमें सदाचारी पुरुषोने सदाचारवतकी रक्षा ‘असिवारा-त्रत’की भाँति सम्पन्न कर हमारे लिये आदर्श उपस्थित कर दिये हैं । सदाचार धर्मका एक विशेष अङ्ग है । मनुजीने द्विजातियोंके लिये धर्मके ये सामान्य लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दृशकं धर्मलक्षणम् ॥
(६ । १२)

‘धीरज, सहनशक्ति, शम, चोरीसे दूर रहना, पवित्रता, इन्द्रियोका सयम, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना—ये धर्मके दस सामान्य लक्षण हैं ।’ सदाचार इन्हीं धर्मोंका अङ्ग हुआ करता है । (आचरणमें आ जानेपर ये ही सदाचार हो जाते हैं ।)

जो इस ससारमें सुप्रसिद्ध एव सुखी हैं, उनकी प्रसिद्धि एव सुखका कारण सदाचार ही है । जो पुरुष ससारमें बदनाम (कलहित) एव अन्तर्हृदयसे दुखी हैं, उसका मूल कारण है—कदाचार या अनाचार । सदाचार अनुष्ठेय है और कदाचार वर्जनीय । यहाँ थोड़े शब्दोमें सदाचारके स्वरूप तथा उसके परिणामपर प्रकाश ढाला गया है । वस्तुतः अल्प-अल्प वेद-पुराण, वर्मशास्त्रादिमें सदाचारके इतने अधिक प्रसङ्ग एवं प्रकारण प्राप्त होते हैं, जिनकी सूची भी बहुत लम्बी होगी, पर आजके लोग उधर ध्यान ही नहीं देते, यही व्यष्टि एवं समष्टिके क्लेशोका कारण दीखता है । भगवान् हमें सद्बुद्धि दे, जिससे हम सदाचारका अनुसरणकर अतीतका गौरव प्राप्त करें, यही उनके चरणोमें प्रार्थना है ।

सदाचारका महत्व

(लेखक —याजिकसम्राट् प० श्रीविष्णुगमन्त्री शर्मा, गोदा, उदाचार्य

✓ महाभारतके अनुसार 'सदाचार ही धर्मका रूप है और मत भी वे ही कहे गये हैं, जो चरित्रवान् हैं। इस प्रकार साधुओंका चरित्र ही सदाचारका लक्षण है'—

**आचारलक्षणोऽधर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः ।
साधुनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥**
(मदाभागत अनुशासनपर्व १०८।९)

**अनाचारस्तु मालिन्यमन्याचारस्तु मूर्खता ।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम् ॥**
(बोधसार)

'अनाचारमें मनुष्यक चित्तमें प्रक्षिप्त होती है और आवश्यकतामें अविक आचार करना मूर्खता (या दम्भ), कहा गया है। अत. ✓ विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।' हिंदू-जाति और हिंदू-वर्मी सदाचारका वहूत ही महत्वपूर्ण स्थान है। सदाचार ही हिंदू-जाति और हिंदू-धर्मका जीवन है। सदाचारके बिना उसकी रक्षा मर्वथा असम्भव है। आजकी विकट परिस्थितिमें भी हिंदू-वर्म और हिंदू-जातिके जीवित और रक्षित रहनेका एकमात्र कारण यही है कि हिंदू-जातिके सभी कार्य सदाचारपरक और धर्मपरक होते हैं। हिंदू-वर्ममें वाल्कोंको सदाचारकी शिक्षा देनेकी प्रथा अनादिकालसे प्रचलित है। माता-पिताके द्वारा छोटी अवस्थासे ही वाल्ककी शिक्षा घरमें प्रारम्भ हो जाती है और जब वह गुरुकुलमें प्रवेश करता है तो उसे वहाँ गुरु-(आचार्य)-के द्वारा सदाचारकी शिक्षा मिलती है। गुरुकुलमें रहते हुए ब्रह्मचर्यविस्थामें ही वाल्कको गुरुके द्वारा—'आचार्यवान् पुरुषो वेद (ऋचोऽयोपनिषद् ६। १४।२) इत्यादि की सदाचारपरक अनेकानेक महत्वपूर्ण शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। इनसे ब्रह्मचारी वाल्कका जीवन 'अथ'से 'इति' तक कर्तव्यशील एवं आनन्दमय और परिपूर्ण बन जाता है। पश्चात्

वह माता-पिता और गुरुपदिष्ट मदाचार-शक्तिके बलम् अपना इहलोक और परलोक,—दोनों मुम्बद, मुन्दर और सुदृढ बना पाता है।

सदाचारका क्षेत्र वहूत विस्तृत है, जैसे- मूर्खोदयम् पूर्व प्रानः प्रब्रोच, स्नान, मध्या, तर्पण, वस्त्रवस्त्रदेन, वेद-स्वाध्याय, देवदर्शन, नीरथ्यात्रा, ईश्वर-भक्ति, मानूषितुसेवा, गुरुसेवा, अनियिसेवा, दोमेवा, गोपका, सत्यभाषण, मधुर-भाषण, मिन-भाषण और आश्रमभर्म पालन आदि सदाचारके ही अन्तर्गत कहे गये हैं। अत मनुष्यको इस क्षेत्रके अन्तर्गत भयमन सदाचारोक्त वथानियम्, यथार्थित और यथार्थकृत पालन करना चाहिये। जो मनुष्य सदाचारके भयमन नियमोक्ता पालन और रक्षण करता है, उसे जीवनमें कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती और न उसपर कभी किसी प्रकारकी आपत्ति ही आनी है। गजर्णि मनुका कथन है-

**महलाचारस्युक्ताना नित्यं च प्रयत्नात्मनाम् ।
जपतां जुहतां चेव विनिपातो न विद्यते ॥**

(१।६५)

'जो मनुष्य माझलिक आचरणसे युक्त रहते हैं, जो नित्य अपनेको समर्पित रखते हैं और जो जग एवं हवनमें प्रवृत्त रहते हैं—उनका पनन नहीं होता।' मानव-जीवनमें सदाचारकी विशेष आवश्यकता है। प्राचीन कालके ऋषि, महर्षि, सानु, महात्मा, तपस्वी, विद्वान्, लेखक और धर्मोपदेशक आदिका मम्मान उनकी सदाचारशीलतापर ही विशेष निर्भर था। आज भी इस हासके युगमें जिन लोगोंका सदाचार मुन्दर होता है, उन्हींकी सर्वत्र प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है। अत मनुष्यको सर्वदा सदाचारके पालन और रक्षणपर विशेष

ध्यान देना चाहिये । सदाचारके पालनसे मनुष्यमें शील, सौजन्य, मंतोप, सद्ग्राव, विनय, परोपकार, दया, नम्रता और धार्मिकता आदि सद्गुणोंका समावेश होता है । प्रगतान् मनु और महर्पि वसिष्ठने—‘आचारः परमो धर्मः’ कहकर इसके रक्षण और पालनपर विशेष वल दिया है । महर्पि वसिष्ठका तो यहौतक कहना है कि साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन कर लेनेपर भी जो द्विज मदाचारहीन है, उसे वेदाध्ययनका फल प्राप्त नहीं हो सकता और उसकी रक्षा वेद नहीं करते । आचरणके विना वेदादिके ज्ञानका भी क्या उपयोग हुआ । इसीलिये क्रियारहित ज्ञान भार कहा गया है । (वसिष्ठस्थृति ६ । ३) स्पष्ट है कि मदाचारके विना वेदज्ञ विद्वान्को वेदोदित ज्ञान भी व्याग देता है, जिससे वह वेदाध्ययनके ग्रास्तविक फलसे सर्वदा वञ्चित रहता है । मनुस्मृति (१ । १००.) भी कहती है कि—‘आचारसे रहित ब्राह्मण वेदके फलको प्राप्त नहीं करता और आचारवान् ब्राह्मण वेदके सम्पूर्ण फलको प्राप्त करता है ।’ शाश्वते मदाचारहीन मनुष्यके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसके समस्त कार्य विफल होते हैं । अतः मनुष्यको मर्वान्मना अमदाचरणका व्याग करना चाहिये ।

भगवान् मनुने मनुष्यकी असामिक मृत्युके विशेष कारणोंका उल्लेख करते हुए ‘आचारस्य च वर्जनात्’ (मनुस्मृति ५ । ४) कहकर सदाचारके व्यागको मी मृत्युका एक प्रधान कारण बतलाया है, क्योंकि इससे ओज, तेज और वृद्धिका हास होने लगता है और वीरे-धीरे उसकी आयु क्षीण होती जाती है । इसलिये आयु आदिकी वृद्धिके लिये सदाचारी वनना आवश्यक है । प्राचीन समयमें मनुष्य सदाचारको ही अपना परम धन और धर्म समझते थे । वे सदाचारके बलपर ही अपना और ससारका कल्याण करते थे । हमारे प्राचीन

ऋषि-मुनियोंने तपस्याके मूलभूत सदाचारको ही अपना परम धर्म घोष्य और इष्ट स्वीकार कर उसे अपनाया था—
‘सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जग्युहुः परम् ।’
(मनुस्मृति १ । ११०)

हमारे प्राचीन वर्माचार्योंने केवल दूसरोंके लिये ही सदाचारका उपदेश नहीं दिया है, किंतु सब भी उन्होंने सदाचारका पालन करके मानवमात्रके कल्याणार्थ अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है । हमारे वर्मप्रन्थोंमें सदाचारकी प्रशंसा और दुर्गचारकी निन्दा की गयी है । महाभारतमें कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कौर्तिमामोति पुरुषः प्रेत्य नेह च ॥
दुर्गचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥
तस्मात् कुर्याद्विद्वाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ।
अपि पापशारीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(अनुग्रासन १०५ । ६-८)

प्रायः यही वात मनुस्मृति (४ । १५६-५८)में भी कही गयी है, जिसका भाव है कि ‘मनुष्य आचारसे आयुकी और लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है । आचारसे परलोकमें तथा इस लोकमें कीर्ति फैलती है । दुर्गचारी मनुष्य इस लोकमें दीर्घायु को प्राप्त नहीं कर सकता । दुर्गचारीमें सब लोग डरने हैं और उसका तिरस्कार करते हैं । अत जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे इस लोकमें सदाचारका पालन करना चाहिये । यदि कोई पापी मनुष्य भी मदाचारका पालन करता है, तो उसके समस्त अशुभ लक्षण नष्ट हो जाते हैं ।’

सर्वलक्षणहीनोऽपि य. सदाचारवाचरः ।
श्रद्धानोऽनस्ययश्च शतं वर्षाणि जीवनि ॥
(महा० अनुग्रासन १०५ । ३५)

‘समस्त लक्षणोंसे हीन होता हुआ भी जो सदाचारी और श्रद्धालू है और जो दूसरोंपर टोपारोपण नहीं करता, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ।’

ये कामकोधलोभानां वीतरागा न गोचरे ।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्भृता मही ॥

गीतामें भगवान्ने सदाचार और दुराचारको दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाके नामसे अभिहित किया है । श्रीभगवान्‌क कथनानुमार जो रागदेपसे रहित अपनी आनंदमामें ही रमग करते हैं, सुख-दुःखादि द्रन्दोसे पीड़ित या आनन्दित नहीं होते, वे ही महात्मा हैं । वे मुझे अजन्मा और अविनाशी जानकर दैवी प्रकृतिको प्रहण करके अनन्य-भावसे मेंग भजन करते हैं । वे महात्मागण मनुष्य-का शरीर धारण करनेके कारण भ्रममें नहीं पड़ते कि गम और कृष्ण आदि भी सावरण मनुष्यकी तरह जन्म लेनेवाले और मरनेवाले हैं । सदाचारी मनुष्योंका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि इन दैवी सम्पदावाले मनुष्योंके शरीरमें एक तरहका तेज होता है, जिससे दूराचारी मनुष्य उसको देखते ही सहम जाते हैं, उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं होता । सदाचारी मनुष्यमें धृति अर्थात् धैर्य रहता है, वह बिना सोचे-विचारे सहसा किसी कामको नहीं कर बैठता । उसमें श्रम रहती है, अपराध करनेपर भी ढण्ड देनेका भाव नहीं होता । उसमें शौच अर्थात् अभ्यन्तर और वायु दोनों तरहकी शुद्धि रहती है । किसीको कष्ट देनेका भाव न होना, सबको सुख पहुँचाने-का विचार होना, स्नानादिसे अन्तःकरणकी और वाय

शरीरकी शुद्धि होती है । ये दोनों तरहकी शुद्धि सदाचारीमें होती है । पैंचवाँ गुण मदाचारीका है—अद्वैत अर्थात् किसीसे शक्तिका भाव न रखना, साथ ही मैत्रीका भाव रखना । सदाचारीमें अभिमान भी नहीं होता । सदाचारी मनुष्य अपनी जाति, धन, विद्या आदिके कारण किसी-से अपनेको बड़ा नहीं समझता तथा मवसे सम्मान प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखता । इसके विपरीत दम्भ वरना—किसी प्रकार दूसरेसे धन ठग लेना और सम्मान करना, दर्प करना अर्थात् अपनी विद्या, धन और गुण आदि-के द्वारा दूसरेको अपमानित करना, अभिमान करना अर्थात् अपनी जाति, विद्या, धन और बलका दृश्यप्रयोग करना, क्रोध करना अर्थात् तुच्छ वातोपर आगवबूद्धि होकर अपशब्द बकला और प्रहार कर बैठना, पारुप्य अर्थात् कठोरता—निर्दयतासे किसीको पीटना और अज्ञानवज्ग किसी वातको ठीकसे न समझना अर्थात् सत्यको असत्य, भलेको दुरा, छोटेको बड़ा और बड़ेवालों छोटा, पवित्रको अपवित्र, अपवित्रको पवित्र समझना—यह आसुरी सम्पदा है ।

इन बुरे कर्मों या असदाचरणसे प्राणी नस्कर्में जाते हैं, अन भक्तिमूलक सदाचारका आचरण मानवजीवन-की चरितार्थताके लिये परम आवश्यक है तथा यह प्राणी !

स्व हृषीमहेत्यस्योहन् प्रसादि सदा

स्मृति ५ शे ट- चंद्र-

दुराचारका कुफल

मार्गमें एक धायल सर्प तड़फड़ा रहा था । सहचरों चौंटियाँ उससे चिपटी थीं । पाससे एक साधु-पुरुष शिष्यके साथ जा रहे थे । सर्पकी दयनीय दशा देखकर शिष्यने कहा—‘किनना दुःखी है यह प्राणी !’

गुरु घोले—‘कर्मफल तो सबको भेगना ही पड़ता है ।’

शिष्य—‘इस सर्पने ऐसा क्या पाप किया कि सर्पन्योनिमें भी इसे यह कष्ट ?’

गुरु—‘तुम्हें स्मरण नहीं कि कुछ वर्ष पूर्व इस सरोवरके किनारेसे हम लोग जा रहे थे तो तुमने पक मछुपको मछली मारनेसे रोका था ।’

शिष्य—‘वह तो मेरे रोकनेपर मेरा ही उपहास करने लगा था ।’

गुरु—‘यह सर्प वही है जिसने उन मछलियोंको मारा था । आज उन्हें अरना बदला लेनेका अवसर मिला है । वे मछलियाँ ही चौंटियाँ होकर उत्पन्न हुई हैं । सर्प स्वकून कर्मका कुफल भोग रहा है ।’

सदाचारका स्वरूप और महत्त्व

(लेखक—जॉ. श्रीवेदप्रकाशजी गार्भी, एम० ए०, पी.एन० ट्र०, ड०. एस० ग०)

सदाचारके वास्तविक रूपके परिज्ञानके लिये यद्यपि सनातनधर्मका सर्वाङ्गीण परिज्ञान परमावश्यक है, तथापि सामान्य जनके अवबोधनार्थ कहा जा सकता है कि देवता और दानवोंके मध्यमें अवधित मानवको देवतवकी ओर अप्रसा करनेके उद्देश्यसे सनातनधर्ममें वर्णाश्रमके अनुसार विभक्त कर उनके जो आचार एवं कर्तव्य निर्दिष्ट हृष हैं वे ही सदाचार हैं । इनका अनुसरण कर मानव देवतवकी ओर अप्रसा हो सकता है । अतः नत्यवेत्ता पनीपियोने इन्हें ही सनातनधर्मका मुख्य स्वरूप प्रतिपादित किया है । सनातनधर्मके मूल्यान् प्रन्थोंमें दक्षीकी महत्त्वाका प्रतिपादन एवं स्थापन हुआ है । सनातन-धर्मके प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ महाभारतमें ‘आचारः प्रथमो धर्मः’ (१३ । १४०)से सदाचारको दी मानवका मुख्य धर्म माना गया है, जिसका ज्ञान वेद और स्मृतियोंके द्वारा होता है । द्विजोंके लिये श्रुति तथा स्मृति दोनों दो नेत्रोंके ममान निर्दिष्ट हैं । इनमें से एकसे हीनको काना कहा जाता है तथा दोनोंसे हीन-को अनधा—

भूतिः स्मृतिश्च विप्राणां नवने ह्वे प्रकीर्तिं ।
काणः स्यादेकहीनोऽपि द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तिः ॥
(अविलहिता १ । ३५-३२)

अब प्रश्न उठता है कि ‘आचार’—जिसे महाभारत परमधर्म अथवा प्रथमधर्म कहता है तथा स्मृतिकार जिसे जीवनका अनिवार्य अङ्ग मानते हैं, वस्तुतः है क्या ? उसका स्वरूप, उसकी परिभाषा क्या है ? शास्त्रोंके अनुशीलनसे इस मध्यमें निम्न वचन उपलब्ध होते हैं—

सद्विग्राचरितः पन्थाः सदाचारः प्रचक्षते ।

अर्थात् ‘सज्जन व्यक्तियोद्वाग जिस मार्गका अनुसरण किया जाता है, उसे सदाचार कहते हैं ।’

सज्जन किस मार्गका अनुसरण करते हैं ? म प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि जिस मार्गमें अनुसरणमें दूसरे व्यक्तिया तथा व्यय उनकी आपावृत्ती आजन्तव्यी अनुभूति एवं गमनोऽपि प्राप्त होता है, तभी मन्मार्ग अथवा सदाचारका स्थापन है । दूसरे शब्दोंमें श्रुति-स्मृति-अनुमोदित मार्ग, जो ऋष्याण्यका विनाश्य हो ‘सदाचार’ है और इसके निर्माता अमदान्तर, इस मंदर्मणे कहा गया है कि—

श्रुतिस्मृतो मर्मवादं यस्तु उद्घास्य यत्तेत ।
आज्ञान्तेष्टी मम द्वेर्षी मद्वक्तोऽपि न वैष्णवः ॥

(वाधूलम्भनि १ । १८०, प्राचीन ६ । ३०)

वेद, वंशान्वय में (श्रीमलाग्रामणे, अङ्गास्त्रम्), उनके विद्वन् प्रवर्तित होनेवाले आचारण असद्-कोटिमें परिगणित होते हैं और इसका अनुकर्त्ता ‘असद्’ कहलाता है । वह मेरी आज्ञाको छिन्न ग्रनेवाला मेंग द्वेषी है तथा नक्ष होने हृष वी वंशाव व कहलाने योग्य नहीं है । इसके विपरीत भवत्के स्वरूपका दिग्दर्शन करते हृष गीतामें (१७ । २६में) सदाच, माधुभान तथा प्रशस्त कर्मके लिये मद् गच्छका प्रयोग दिखाया गया है । जीवनमें सदाचारकी क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर देने हृष शास्त्रज्ञानेने कहा है कि—
वेदानि समस्त अवीत विद्याओंके प्रतिष्ठानार्थ सदाचार आवश्यक है

सर्वाः प्रजाः सदाचयतनाः सन्प्रतिष्ठा, तस्यै किमायतनम् ? वेदाः सर्वाङ्गाणि सन्यमायतनम्, तस्यै तपो दृमः कर्मेति प्रतिष्ठा । (ढान्दो० ६ । ८ । ६)

इस सदाचारके मध्य-विधायक अङ्ग हैं—दान, क्षमा और कर्म, जिनका कभी व्याप न करना चाहिये यज्ञो दानं तपः कर्म न व्याप्तं कार्यमेव तत् ॥

शालोंमें दानादि धर्मचिरण, सत्य, स्वाध्याय, देवर्पिं-
पितृपूजनको सदाचार माना गया है और 'अक्षैर्मा-
दीव्यः कृषिमित् कृपस्व' (ऋग्वेद १०।३४।१३)
से जूएका परित्यागकर कृपिके आधारपर जीवनयापनका
परामर्श दिया गया है और 'न परत्वियमुपेयात्'
(तैत्तिरीय० १।१।८।९) आदि द्वारा
परखीसे सदा दूर रहनेको कहा गया है। इसी
प्रकार 'मा हिंस्यात् पुरुपान् पश्चून्थ' (अर्थव० ६।
२।२८।५) — निरपराव पुरुओं और पशुओंकी
हिंसा न करो, 'मा गामनागामदिर्ति वधिष्ठ' (ऋग्वेद
६।८७।४) — गाय निरपराव है, उपकारक है, उसकी
हिंसा मत करो, 'न मांसमश्चीयात्' (तैत्तिरीय०
१।१।९।७) — मांस भक्षण न करे; 'न सुरां
पिवेत्' (तैत्तिरीय० १।१।९।७) मध्यपान
न करे और 'मा गृथः कस्य स्विद्धनम्' (यजु०
४०।१) 'आदिसे पराये धनके प्रति लालच न करनेकी
सदाचारमूलक कर्तव्यकी आज्ञा दी गयी है।

अनेक प्रकारके तप भी सदाचार ही है। बाय एवं अन्तर्-
इन्द्रियोंको वशमें रखना तप है। इसी प्रकार सुपात्रको दान
देना तप है। यज्ञ करना तप है। भूर्, भुवः और
स्वर् — ये तीनों लोक ब्रह्ममय हैं—ऐसा समझकर सब
जीवोंका हित करे, यह सबसे बड़ा तप है।
इतना ही नहीं, व्यक्तिको अपने पारिवारिक परिवेशमें भी
क्तिपय सदाशयपूर्ण व्यवहारोंका प्रतिपादन, अनुसरण,
प्रतिपालन करना चाहिये, जिससे न केवल परिवारमें
शान्ति और सौजन्य बना रहे, अपितु अनुवर्तियोंके लिये
भी आदर्शका मार्ग प्रशस्त हो। इसके लिये आचरणीय
कर्तव्योंका विद्यान इस प्रकार हुआ है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

स० ल० ९—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत खसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अर्थव० ३।३०।१-२)

'पुत्र पिताका आज्ञाकारी बने और वह मातासे
श्रद्धाभक्तियुक्त व्यवहार करनेवाला हो। पती पतिके लिये
मधुर वाणीका प्रयोग करे तथा दम्पतिमे शान्ति, संतोष
एवं प्रेम बना रहे। भाई-भाईमे, वहन-वहनमें तथा भाई-
बहनमें भी परस्पर द्वेषरहित व्यवहार हो। सभी एक
दूसरेके प्रति आदरभाव रखते हुए अपने-अपने धर्मका
पालन करनेवाले हो और परस्पर कल्याणकारिणी मर्यादा-
सम्पन्न वाणीका प्रयोग कर अपने जीवनको शान्तिधारा-
बनानेकी दिशामे अप्रसर हो।' सदाचारमें अहिंसा,
दया, दान, साम, शान्ति आदिका विशेष महत्त्व है—
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिद्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति० १।१२२)

'अहिंसा—मन, कर्म, वाणीसे किसी प्राणीको
दुःख न देना, सत्य—सच्चा व्यवहार रखना, अस्तेय—
दूसरोंकी वस्तुको न चुराना, न छीनना, शौच—तन-
मनसे पवित्र रहना, इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको वशमें रखना,
दान—सत्पात्रको सात्त्विक दान देना, दया—प्राणि-
मात्रपर कृपाभाव रखना, दम—मनको वशमें रखना,
शान्ति—सहनशील होना—ये नौ गुण सर्वसाधारणके
लिये धर्म या सदाचारके साधन हैं।'

सदाचारका सुन्दर विधान महाभारतके आश्वमेधिक-
पर्वमें प्राप्त होता है, जहाँ वतलाया गया है कि दान,
त्रित, ब्रह्मचर्य, शालोक रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह,
शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता,
दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियों-
का मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा;
देवता, अतिथि और गुरुकी पूजा; दया, पवित्रता,
इन्द्रियोंको सदा वशमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार

करना सदाचार कहलाता है। इनके पालन करनेसे व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सदाचारकी शिक्षा कहाँसे, किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवत्के (७।११-१४) सदाचारके उपदेश ध्यान देने योग्य हैं। भारहवें सत्त्वधर्ममें भी कहा गया है कि जो व्यक्ति सदाचारका पाठ प्रहण करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह सातु-पुरुषों, भक्तजनों आदिद्वारा सेवित तीथेमें निवास करे तथा देव, अल्पुर और मानवोंमें होनेवाले भगवद्गत्कोंचरित्रोंका अनुसरण करे—

देशान् पुण्यानाश्रयेत् मद्भक्तेः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुप्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥
(११।२९।१०)

‘सदाचारी व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह भक्ति आदि साधनोद्वारा विवेकसम्पन्न होकर सर्वत्र प्रभुके ही दर्जन करे’—

मामेव सर्वभूतेषु वहिरन्तरणावृतम् ।
ईक्षेत्रात्मनि चात्मानं यथा खमग्न्याशयः ॥
(११।२९।१२)

‘समदर्शित तभी सार्थक है, जब ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, ब्राह्मणभक्त, सूर्य, चिनगारी, अक्षर (कोमल) तथा कूर (कठोर) स्वभाव सभीकें प्रति सम ईश्वर-दृष्टि हो; और ‘तभी व्यक्ति पण्डित कहलानेका अधिकारी भी बन सकता है।

ब्रह्मणे पुलकसे स्तेने ब्रह्मण्येऽकें स्फुलिङ्कके ।
अक्षरे कूरके चैव समद्वक् पण्डितो मतः ॥
(११।२९।१४)

सबके प्रति ईश्वरीय भाव आ जानेपर साधकके चित्तसे स्पद्धा, ईर्पा, निरस्कार अहंकार आदि दूर हो जाते हैं और वह तत्त्वतः सदाचारी या भागवत-संज्ञाका अधिकारी पात्र बन जाता है—(यथापि स्मार्तदृष्टिसे यह भाव कठिन लगता है।)

लंगन्यामीक्षणं मद्भावं पुंसो भावयतोऽनिगत् ।
स्पर्धासूत्रानिरस्कारः नाशकार वियन्ति हि ॥
(११।२९।१५)

इस दशामें पहुँचते ही व्यक्ति शान्तिम, भास-आपसानकी भावनाएँ मुक्त हो जाता है। पांच उगली मावना तभी मार्घक होती है, जब वह अपना उपायम देने देवकर तथा शारीरिक वाप्र आदिकों वीर्यम् भयानक अस्त्र, चाण्डालादिकों पक्षा देखरका स्वयं मननर उन्हें पृथ्वीपर दण्डकर गिरकर नगस्तार तक बरने लगता है—
विसूज्य स्मयमानान् भ्यान वृशं वीर्यां च देविकीम् ।
प्रणमेद् दण्डघद् भूमावाश्वचाणडालगोत्तरम् ॥
(११।३०।१६)

मदाचारकी आवश्यकता

जीवनमें सदाचारका महत्वपूर्ण स्थान है। इसके पालनसे व्यक्ति सम्य और सुख-शुद्धि होता है और परिवार-समाजमें सुख्यवस्था पूर्वं शान्ति लानेमें महत होता है। भारतमें सदाचारका अन्यथिक प्रचार रहा है। की वह भूमि है, जहाँ शृनिसेतुके ग्रामार्थ भगवान् भी अपना लेने हैं और उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। वन्दे संत्वत्तर और सद्-आवरण ही श्रेष्ठ जीवनकी नींव होते हैं। हमें आजकी पनपती हृदै विदेशी सम्यनामें भी अपने प्रम्परागत आचारको नुरक्षित रखने हुए अपने देशमा मान बढ़ाना चाहिये। इसी प्रेरणा-हेतु द्विष्णुपुराणमें देवताओंका यह गीत वहत प्रसिद्ध है। जिसमें वे भारतमें जन्म लेनेके लिये तरसते हुए कहते हैं कि भारतमें जन्म लेनेवाले धन्वं हैं—

गायन्ति देवाः क्रिल गीतकानि
धन्वाल्तु ते भारतभूमिभागो ।
स्वर्गापवर्गास्पद्देहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरन्वात् ॥

इस उक्तिकी अन्वर्थकता तभी हो सकती है, जब हम सदाचरणको अपने जीवनमें पूरी तरह उतार लें।

सदाचारके मौलिक सूत्र

(लेखक—आचार्य श्रीबुलसीजी)

‘आचारः प्रथमो धर्मः’—इस उक्त वाक्यमें आचार शब्दका प्रयोग श्रेष्ठ आचरणके अर्थमें है। इससे यह ज्ञात होता है कि आचार शब्द अपने-आपमें भी सदाचारका ही धोतक है। इसलिये प्रस्तुत संदर्भमें श्रेष्ठ आचारको ही सदाचारके नामसे अभिहित किया गया है। वस्तुतः सदाचार एक व्यापक और सार्वभौम तत्त्व है। देश-कालकी सीमाएँ इसे न तो विमक्त कर सकती हैं और न इसकी मौलिकताको नकार सकती हैं। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सबके लिये है, उसी प्रकार सदाचारके मूलभूत तत्त्व मानवमात्रके लिये उपयोगी हैं। कुछ व्यक्ति अपने राष्ट्र, कुल या परम्परागत आचारको विशेष महत्त्व देते हैं, किंतु यह स्व-परका व्यापोह है। ‘जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वही सदाचार है’, इस धारणाकी अपेक्षा व्यक्तिको ऐसी धारणा छुट्ट करनी चाहिये कि जो सत्-आचरण है, वह मेरे लिये करणीय है। सदाचारी व्यक्ति नीतिनिष्ठ होता है। वह किसी भी स्थितिमें नीतिके अतिक्रमणके लिये अपनी स्त्रीकृति नहीं दे सकता। एक संस्कृत कविने नीतिनिष्ठ व्यक्तिके लक्षण बतलाते हुए बहुत ठीक लिखा है—

अभ्यं मृदुता सत्यमार्जवं करुणा धृतिः ।
अनासक्तिः स्वावलम्बः स्वशासनसहिष्णुता ॥
कर्तव्यनिष्ठता व्यक्तिगतसंग्रहसंयमः ।
प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युर्नातिमानुच्यते हि सः ॥

‘जिस व्यक्तिमें अभ्य, मृदुता, सत्य, सरलता, करुणा, धृत्य, अनासक्ति, स्वावलम्बन, स्वशासन, सहिष्णुता, कर्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगतसंग्रहका संयम और प्रामाणिकता होती है, वह नीतिमान् कहलाता है।’

अभ्य—जो व्यक्ति सत्यके प्रति समर्पित होता है, अन्यायका प्रतिकार करते समय भयभीत नहीं होता, अपनी भूल ज्ञात होनेपर उसे स्वीकार करनेमें संकोच नहीं करता और कठिन-से-कठिन परिस्थितिका सामना करनेके लिये तत्पर रहता है, वही अभ्यका साधक है।

मृदुता—कोमलताका नाम मृदुता है। यह सामूहिक जीवनकी सफलताका सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्तिके जीवनमें सरसता रहती है। मृदु स्वभावमें लोच होती है। इस स्वभाववाला व्यक्ति किसी भी वातावरणको अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासनसे जो काम नहीं होता, वह मृदुतासे हो जाता है।

सत्य—सत्यका अर्थ है यथार्थता। जो तथ्य जैसा है, उसे वैसा ही जानना, मानना, स्वीकार करना और निभाना सत्य है। सत्यकी साधना कठिन है, पर है आत्म-तोष देनेवाली। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने किसी भी स्वार्थकी सिद्धिमें असत्यका सहारा नहीं लेते। राजा हरिचन्द्र-जैसे सत्यन्रती व्यक्ति आज भी मानव-संस्कृतिके गौरव समझे जाते हैं।

आर्जव—आर्जव सरलताका पर्यायवाची शब्द है। सरलता सदाचारकी आवारभूमि है। इसी उर्वरामें सदाचारका पौधा छलता-फलता है। परंतु मायावी व्यक्ति कभी सदाचारी नहीं हो सकता।

करुणा—करुणा सदाचारका मूल है। जिस व्यक्तिके अन्तःकरणमें करुणा नहीं होती, वह अहिंसाके सिद्धान्तको नहीं समझ सकता। अहिंसाके बिना समताका विकास नहीं होता। समता या अहिंसा ही

व्यक्तिको आत्मौपम्यकी बुद्धि देती है। आत्मौपम्य-भावना व्यक्तिको दूसरोंका अहित करनेसे रोकती है।

धृति—धृति वह तत्त्व है, जो व्यक्तिके मनमें सदाचार-के प्रति आस्थाको ढढ़ करती है। सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीत्र ही उसका सुफल नहीं मिलता तो वह दुराचारकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। किंतु जिस व्यक्तिमें धैर्य होता है, वह परिणामके प्रति उदासीन रहता हुआ सक्रियाका अनुष्ठान करता रहता है।

अनासक्ति—अनासक्तिका अर्थ है—लगावका अभाव। भौतिक पदार्थोंके प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हें ग्रास करनेके लिये असदाचरण करनेमें संकोच नहीं करता। किंतु जिस व्यक्तिकी आसक्ति हट जाती है, वह असदका चिन्तनतक भी नहीं करता।

खावलस्वन—परावलम्बी व्यक्ति अपनी शक्ति, सम्पदा या सत्ताके बलपर दूसरोंके श्रमका शोषण करता है। पर जिस व्यक्तिका खावलस्वनमें विश्वास होता है, वह किसीका शोषण नहीं कर सकता।

स्वशासन—अपनेपर अपना अनुशासन—शासन-तन्त्रकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वशासनका भाव विकसित होनेके बाद व्यक्ति सहजभावसे संयत हो जाता है। फिर वह बिलासी और प्रमादी जीवनसे मुङ्कर सदाचरणमें प्रवृत्त हो जाता है।

सहिष्णुता—सहनशीलता भी एक ऐसा ही तत्त्व है जो व्यक्तिको सदाचारके पालनमें सहयोग देता है।

असहिष्णु व्यक्ति सब और असदका विवेक करनेमें भी झूल कर देता है।

कर्त्तव्यनिष्ठा—कर्त्तव्यनिष्ठा सदाचारकी प्रेसिया शक्ति है। कर्त्तव्यनिष्ठ अपने कर्तव्यके प्रति सदा जागरूक और अकरणीय कर्मसे विरत रहता है। जब कभी उसके चरण प्रमादकी ओर बढ़ते हैं, तब कर्तव्यकी प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्संकल्प कर लेता है।

व्यक्तिगत संग्रह-संयम—मनुष्यको असदाचारी बनानेवाला सबसे बड़ा हेतु है—व्यक्तिगत संग्रहका असंयम। असंयमके भावका कारण है—असीम आवाह्नाएँ। आकाह्नाओंपर संयमके अंकुश लगनेसे ही वे नियन्त्रित हो सकती हैं।

प्रामाणिकता—सदाचारकी फलधृति है—प्रामाणिकता। कौन व्यक्ति कितना सदाचारी है, यह उसके व्यवहारोंसे ज्ञात होता है। जिस व्यक्तिके जीवनमें प्रामाणिक संस्कार रहते हैं, वह किसीको धोखा नहीं दे सकता, किसीका अहित नहीं कर सकता तथा मानवीय मूल्योंकी अवैलना नहीं कर सकता। ये तेरह सूत्र सदाचारके मौलिक सूत्र हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी वार्ते हैं, जो सदाचारमें अन्तर्निहित हो जाती है। किंतु ये वार्ते ऐसी हैं, जिनका आचरण न तो असम्भव है और न देश, धर्म, वर्ग आदिके नामपर इनका विभागीकरण हो सकता है। सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन तत्त्व ही हर व्यक्तिके लिये समान रूपसे आदर्श बन सकते हैं।

संयम-सर्वजयी

इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी धोर शत्रु हैं। आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है। विक्योगमें प्रेसासक्ति ही बन्धन है। सदा संतुष्ट रहना ही सबसे बड़ा धन और मनको जय करनेवाला ही सर्वजयी होता है।

—तैलंग स्वामी

सदाचारके मौलिक तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड)

आजके भौतिक युगमें बड़ा आदमी वही कहा जाता है, जो ऐश्वर्यशाली हो अर्थात् ‘कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ’ हो। कुछ खार्यों चाटुकार अपनी कुसित कामना-पूर्तिके लिये उनकी मिथ्या प्रशासा करके उन्हें फुसलगते रहते हैं। नीतिकार भर्तृहरि वडे रम्य शब्दोंमें कहते हैं—

यस्यास्ति विन्तं स चरः कुलीनः

स पण्डिनः स श्रुतवान् गुणहाः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः

सर्वे गुणाः काञ्छनमात्रयन्ति ॥

(भर्तृहरिनीतिश ० ३२, पु० चि० १६४)

इस प्रकार भौतिक जगतमें धनवान् सर्वोपरि है; परंतु आध्यात्मिक जगतमें ऐसे तथाकथित वडे आदमीको आरण्यक पशुके समान कहा है। वस्तुतः मानवताका मापदण्ड धन नहीं, अपितु शील है—

येषां न विद्या न तपो न दानं

न चापि शीलं न गुणो न धर्मः ।

ते मर्त्यलोके भुवि भारमृता

मनुष्यरूपेण सृष्टाश्वरन्ति ॥

(नीतिश ० १३, चाणक्यनीति, पुत्त ० १३७)

मनुष्यमें शील ही प्रधान है, धनादि अन्य वस्तुएँ तो तुच्छ हैं, वे आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं; आज हैं कल नहीं, जो कल नहीं तो परसो आ भी सकती हैं, परंतु शील, सौजन्य आदि एक बार नष्ट हो गये तो उनके पुनः बापस आनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् विन्तमेति च यति च ।

अक्षीणो विन्ततः शीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

(महाभा० ५ । ३५)

अथात्-जगतमें महापुरुषका अर्थ—अतिमानव हृष्ट-

पुष्ट, लम्बा-चौड़ा, मोटा-तगड़ा नहीं, प्रत्युत मानवता-

पोपक विशिष्ट गुणगण-सम्पन्न मानव है। मनुष्यमें यदि शील है, आगे-पीछेका ध्यान है, छोटे-बड़ेकी मर्यादा है तो मनुष्यमें मनुष्यता है। इसी शीलके अभावमें मानव दानव हो जाता है। जिसने अपनी साख खो दी, सदाचारको लात मार दी, यम-नियमके पालनमें स्वेच्छाचारिता वर्ती, वह मानव दानव बन गया। शीलके अभावमें दया, दान-दाक्षिण्य आदि गुणोंके होनेपर भी मनुष्यका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो शीलमें है—

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।

न तस्य जीवितेनाथो न कुलेन धनेन च ॥

(महाभा० ५ । ३५)

सदाचार एक ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसमें दैवी सम्पत्ति, अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञान, योग, व्यवस्थिति इत्यादि सभी गुणोंका समावेश है। लोकमङ्गलकी कामना, ‘जीओ और जीने दो’ की भावना और सह-अस्तित्वकी साधना शीलका स्वरूप है। भगवान् बुद्धका पञ्चशील प्रसिद्ध है।

संसारमें मनुष्योंकी कमी नहीं, सुरसाके मुखकी भाँति जनसंख्या प्रतिदिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। परंतु मानवताकी कसौटीपर खेरे उतरने-वाले मानव कम हैं। सदाचारके प्रमुख आधार-स्तम्भ गुणोंकी चर्चा करना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। ‘सत्ये सर्वे प्रतिष्ठितम्’के अनुसार सत्यमें सब कुछ है। केवल ब्रह्म ही सत्य है—‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’। भगवान् शिव कहते हैं—

उमा कहड़ में अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना ॥

(मानस ३ । ३८ । ३)

जीवनमें यदि सत्यको जान लिया तो सब कुछ जान लिया, यदि उसे नहीं जाना तो वड़ी हानि है। सत्यका विवेचन

सूक्ष्मा और गहन है। वस्तुतः सत्यका खलूप गुण है। केनोपनिषद् कहती है—

इह चेद वेदीदय सत्यमस्ति

न चेदिहवेदीन्महती विनष्टिः ।

‘यदि इस मनुष्यजीवनमें परब्रह्मको जान लिया तब तो कुशल है, किंतु यदि इस जीवनके रहते-रहते नहीं जान पाये तो महान् विनाश है।’

शाण्डिल्योपनिषदमें सत्यकी व्याख्या कुछ ऐसी है—

सत्यं नाम मनोवाक् क्वायकर्मभिः सर्वभूतहितं यथार्थमभिभाषणम् ।

मनसा-वाचा-कर्मणा प्राणिमात्रकी हित-भावनासे यथार्थ और श्रेयस्कर आख्यान ही सत्य है। मनुष्य-जीवनमें शान्दिक सत्य ही सब कुछ नहीं, उसमें व्यवहार सत्य भी अपेक्षित है। शान्दिक सत्यमें व्यावहारिकताकी एक-खलूपताका होना आवश्यक है। भारतीय संस्कृतिमें सत्यभाषणको ही महत्त्व नहीं, उसमें एक सीढ़ी और है, वह है—‘सत्यं ब्रूयात् प्रियं चूयात्।’ सत्य प्रिय होना चाहिये। सत्य-साधकमें सत्य सिद्ध करनेकी क्षमता होती है। भयवश सत्यगोपन-को वह पाप समझता है। वह सत्यकी धर्म तथा ईश्वरत् उपासना करता है।

अहिंसा—सत्य एक सिद्धान्त है तो अहिंसा उसका व्यावहारिक रूप है, जो मानव-जीवनमें सर्वथा साथ्य है। सदाचारी अहिंसाको मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाता है। शब्दसे किसीको मारना ही हिंसा नहीं, अपितु किसीके अन्तःकरणको ठेस पहुँचाना, कटुवाणीद्वारा भर्मान्तक पीड़ा पहुँचाना, असहायके स्वत्वका अपहरण और सम्भावित व्यक्तिके प्रति ‘तू’ शब्दका प्रयोग भी हिंसा है। मनुष्य जब किसी मृतमें प्राण नहीं डाल सकता तो उसे किसी निरीह प्राणीके प्राणके अपहरणका क्या अधिकार है? हिंसक मनुष्यके लिये यह कितने कलङ्ककी

वात है कि वह अपने एक जीवनके लिये कितने जीवोंकी हत्या करता है! यह कैसी आत्मविद्यमना है आजके मांसाहारी मनुष्यनागवारी ‘जन्तु’की!

जिस साधकने अहिंसाके खलूपको आत्मगत किया, उसने विश्ववन्मुत्त्वकी भावनाको मुरक्कित रखा, ‘समोऽहं सर्वभूतेषु’को जीवित रखा। अहिंसामें महान् चमत्कार है। जहाँ सच्चा अहिंसाका पुजारी रहता है वहाँ तो उसके प्रभावने स्वैंकार दिसक पशु भी अपनी हिंसक वृत्तिको छोड़ देते हैं। पारस्परिक वै-भावको छोड़कर प्रेमभावसे रहते हैं। योग-दर्शन कहता है—

‘अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ ईरन्द्यागः ।

जैसे हाथीके पैरमें सबके पर समा जाते हैं, वैसे ही अहिंसामें सभी प्रमुख गुण पाये जाते हैं—

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।

सर्वाण्येताभिर्धायन्ते पदजानानि कौञ्जे ॥

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिर्धायते ।

(महा० गान्ति० २४९ । १८-९)

आत्मैपम्यदृष्टि—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसका पालन-पोषण, रहन-सहन, परिवार तथा समाजमें हुआ है। अतः सभीके प्रति उसका आत्मीय भाव है। वह व्यक्तिकी नहीं, समष्टिकी मङ्गलकामना करता है और सबमें वह भगवान्को देखता है—

‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पद्यति स पण्डितः ।’

‘सदाचारीकी आत्मीयता तथा मैत्री व्यापक और सर्वभौम है।

मित्रस्य मा चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥

(शुक्लवज्ञःसंहिता ३६ । १८)

अर्थात् सभी प्राणी मुझे मित्र-दृष्टिसे देखें तथा मैं (भी) सभी प्राणियोंको मित्र-दृष्टिसे देखूँ। यही दृष्टि सदाचारकी आधारशित्र है।

सदाचारकी महिमा

(लेखक—प० श्रीकृष्णचन्द्रजी मिश्र, वी० ए०, वी० एल०, वी० एड०)

सत् (अव्यय) और आचारके योगसे सदाचार शब्द निष्पत्त होता है। (आड्+चर्+धज्=) 'आचार' शब्दका अर्थ है—व्यवहार, चरित्र। आचार व्यक्तिकी कसौटी है, उसकी पहचान है। आचारका न्योत है—विचार, किंतु विचार सब समय लक्ष्यमे नहीं आता। इसलिये किसीका आचरण या आचार ही स्पष्ट कर देता है कि वह कैसा व्यक्ति है। आचार ही किसीको असुर बनाता है, किसीको देव, किसीको अधम, किसीको उत्तम।

भारतीय धर्ममें सदाचारको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। यदि इसे नेक जीवनका, देवोपम जीवनका, धर्मस्य जीवनका मूलधार कहे तो अत्युक्ति न होगी। सदाचार शब्दके अर्थ कई प्रकारसे किये जा सकते हैं। यदि सत्का अर्थ 'अच्छा' लें तो सदाचारका अर्थ होगा—अच्छा आचार, अच्छा आचरण। इस अर्थमें यह कदाचार, भ्रष्टाचार, दुराचार और अत्याचारका विपरीतार्थक होगा। यदि सत्का अर्थ 'सज्जन' लें तो सदाचारका अर्थ है—सज्जनोका आचार, सज्जनोंद्वारा किया जानेवाला व्यवहार। सत्का अर्थ 'सत्य' समझा जाय तो सदाचारका अर्थ है—सत्याचरण, सत्यपर आश्रित व्यवहार, विना छल-कपटका आचरण। मुनः यदि सत्का अर्थ 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' लें, तब सदाचारका अर्थ है—वह आचार जो सत्की, ब्रह्मकी प्राप्ति करा सके—वह आचार जो मोक्षप्रद हो, मोक्षदायक हो। इन भिन्न-भिन्न अर्थोंमें या इनमेंसे अन्यतम अर्थमें सदाचार युगोंसे भारतवासियोंका उज्ज्वलतम प्रकाशस्तम्भ रहा है। यह इस भवसागर-पथमें सनातनधर्मियोंका सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक रहा है। यों तो उच्चकोटिके व्यक्तियोंके लिये चार मुख्य पथ-प्रदर्शक माने गये हैं—

‘श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।’

किंतु जो श्रुति-स्मृतिको नहीं मानते और जिनका सम्यक् आत्मविकास भी नहीं हुआ है, वे भी सदाचारका

लोहा मानते हैं, सदाचारके सामने नतमस्तक हो जाते हैं, सदाचारको जीवनपथ-प्रदर्शक, विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक सहर्ष स्वीकार करते हैं। दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो श्रुति और स्मृति भी इसीलिये विशेष समादृत हैं कि उनके द्वारा सदाचारका प्रतिपादन होता है, उनसे सदाचारकी प्रेरणा मिलती है।

सत्य-युगमें—जब प्रायः सभी व्यक्ति सदाचारी होते तथा कलियुगमें भी थे—जब अधिकांश मनुष्योंकी प्रवृत्ति दुराचार, अत्याचार, कदाचार और भ्रष्टाचारकी ओर है—सदाचारने मनुष्योंकी सब श्रेणियोंको, जीवनकी प्रत्येक अवस्थाको, प्रत्येक वर्णको, प्रत्येक आश्रमको, प्रत्येक धर्मको, प्रत्येक सम्प्रदायको, मनुष्यके प्रत्येक कार्य-क्षेत्रको व्याप कर रखा है और सब देशोंमें, सब राष्ट्रोंमें इसे सर्वोपरि स्थान प्राप्त है—उच्च महत्त्व प्राप्त है।

स्थूल ही नहीं, स्थूलतर दृष्टिसे देखनेपर भी संसार-में मनुष्योंकी साथी सुख-शान्ति-सम्पत्ताके लिये सदाचारके सिवा और सदाचारसे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। किसी मनीषीने ठीक ही कहा है कि 'संसारमें कोई भी व्यक्ति सबको सब समयके लिये धोखा नहीं दे सकता; अर्थात् सब मनुष्योंके साथ सदाके लिये किसीका कपट-व्यवहार नहीं चल सकता है; परंतु सब मनुष्य सब समय सबके साथ सदाचारका पालन आसानीसे कर सकते हैं।'

सदाचारमें इतना गुरुत्व है, वह स्वयमेव इतना बहुमूल्य है कि व्यक्तिगति भी चाहता है कि उसकी पली सदाचारिणी हो, भ्रष्टाचारी मालिक भी चाहता है कि उसका नौकर सदाचारी हो, अत्याचारी शासक भी चाहता है कि शासित सदाचारी हो,

चोर भी चाहता है कि उसका साथी उसके प्रति सदाचारी हो, अपराधी भी चाहता है कि उसके न्यायकर्ता सदाचारी हों, बन्दी भी चाहता है कि कारागारके पदाधिकारी सदाचारी हों। स्पष्ट है कि सदाचारीके सज्जकी कामना सब करते हैं, सदा करते हैं, जब कि दुराचारी, भ्रष्टाचारी या अत्याचारीको कुछ लोग सिर्फ़ किसी कुत्सित स्वार्थकी सिद्धिके लिये यदा-कदा ही चाहते हैं।

जब सदाचार प्रकाशकी ओर अप्रसर कराता है, तब वह अमरत्वकी ओर ले चलता है, देवत्वके पश्चकी ओर आगे बढ़ता है, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है, सुख-शान्ति-सम्पन्नता देता है, मोक्षका कारण होता है और भव-वन्धनसे मुक्त कराता है। फिर मनुष्य सदाचारसे विमुख क्यों होता है, दुराचारकी ओर क्यों पग बढ़ता है? वही सनातन प्रश्न सामने आ जाता है, जो कभी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
(गीता ३।३६)

इस प्रश्नका उत्तर भी शाश्वत सत्य है। सदाचार चित्तकी विशुद्धताके बिना सम्भव नहीं है। चित्त स्वभावतः बहुधा काम-क्रोधसे, संकीर्ण स्वार्थ और लोभसे दूषित रहता है। वे ही मनुष्यके परम शत्रु हैं। वे चित्तकी निर्मलता नष्ट कर देते हैं, ज्ञानपर काफी मोटा पर्दा डाल देते हैं, ‘दिए लोभ चसमा चमनि, लघु पुनि चड़ो लखात’ जिससे दृष्टि विकृन हो जाती है; माता बैरी, पिता शत्रु प्रतीत होने लगता है, अपना पराया बन जाता है, पाप धर्म मालूम पड़ने लगते हैं; दुःखमें सुखका ध्रम होने लगता है, अतः इनपर कावू पाकर सदाचारका अवलम्बन नितान्त अपेक्षित है।

सदाचारसे सिर्फ़ सदाचारी व्यक्तिका ही कल्याण नहीं होता है, अपितु उसके परिवारका, प्रतिवेशका, गाँधका, समाजका, राष्ट्रका और मानवगत्रका कल्याण होता है। किसी राष्ट्रकी वास्तविक शक्ति उसके

अणुवमों या सांशानिक अन्न-शस्त्रोंमें नहीं, सैन्यवलमें नहीं, बल्कि उसके सदाचारी नागरिकोंमें सनिद्धित है। शिक्षाका असली महत्व व्यक्तिको साक्षर बनानेमें नहीं, उसे सदाचारी बनानेमें है; क्योंकि सदाचारविद्वान् साक्षरता मनुष्यको रक्षासता प्रदान करती है। देव और असुरमें यही असली अन्तर है कि सदाचार मानवको देव बनाता है और असदाचार अथवा दुराचार मानवको रक्षास बना देता है।

शिक्षा, जप, तप, यज्ञ, ज्ञान, योग, तीर्थ, धर्म, संयम-नियम सबका एक ही लक्ष्य है, एक ही उद्देश्य है—मानवके चित्तको निर्मल रखना, मनुष्यको सदाचारी बनाना, मनुष्यको मर्त्यलोकसे ऊपर उठाकर सुरलोक अथवा वैकुण्ठके पश्चात् आगे बढ़ाना। भाग्य सदाचारके इस अवर्णनीय गौरवको अच्छी तरह जानता था। इमन्दिये युग-युगसे सत्की, सत्यकी उपासना करता आ रहा है, सत्को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति समझता है, सत्यको ही नारायण समझता है, उसकी उपासना और ध्यानको, उसके साथ एकाकार होनेकी जीवनकी सार्थकता समझता है। सदियों बाद आज भी इस नव स्वतन्त्र भारतका विजय-उद्घोष है—‘सन्यमेव जयते’, (मुण्डकोप०) ‘यतो धर्मस्ततो जयः’में भी उसी तथ्यको दृश्यरेश द्वोंमें दुहराया गया है। सत्य सदाचारका मूल है।

कोई भी दृढ़ संकल्पके बलपर सदाचारी बन सकता है; क्योंकि सदाचारी बननेके लिये एम० ए०, आचार्य होना जरूरी नहीं है। इसके लिये न राजा या करोड़पति होना आवश्यक है, न सेनापति या राष्ट्रपति होना जरूरी है, न रूपवान् या बलवान् होना जरूरी है; जरूरत है—सिर्फ़ निर्मल चित्त, विमल बुद्धिके होनेकी, दैवी सम्पदाको अपनानेकी और त्यागमय अनासक्त जीवनकी दृष्टिकी। अतः आइये, हम सब प्रतिदिन शुद्ध-शान्त चित्तसे सदाचारणका, सदाचारका संकल्प करें और निर्मल चित्त, विमल बुद्धि अथवा दैवी सम्पदाकी प्राप्तिके लिये भगवत्प्रार्थनापूर्वक हृदयसे प्रयत्न करें।

सदाचार-सीमांसा

(लेखक—पं० श्रीगम्भुर्णजी हिंदौरी, 'विदान्ती')

मनन-शील मनुष्यका कर्तव्य है कि यह परम प्रश्नार्थी मोक्षकी ओर अप्रसर हो। उसकी विशेषता पशुत्वसे इसी दिशाकी ओर चलना है। वही उसका एक प्रकारसे जागरण है। इसीका उपदेश उपनिषदें देती हैं—‘उच्चिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निवोधत ।’ (कठ० १।३।१४) यह मनुष्यत्वका जागरण सहसा भी सम्भव हो सकता है और क्रम-विकाससे भी सम्भव है।

मनुष्यत्वकी रक्षा, दिव्यत्वकी जागृति और पशुत्वकी निष्पृतिके लिये एक ऐसे निर्दिष्ट पथकी जावश्यकता है, जो केवल मनको प्रिय लानेवाले विषयोंकी परिधिमें ही सीमित न हो, प्रत्युत ज्ञानके विश्वव्यापी आलोकसे देदीप्यमान हो और जिसमें पद-पदपर दिव्यभावकी छाँकी एवं उसकी ओर अप्रसर होनेके प्रत्यक्ष निर्दर्शन प्राप्त होते हो। यही सदाचारका वह दिव्य राजपथ है जिसपर चलते रहनेसे (मुण्डकोपनिषद् ३।१।५; २।४ के अनुसार) यह आत्मा सुपुष्ट चरित्र, मनोवल एवं आत्मवलके सहारे सत्य, ब्रह्मचर्य, तप तथा सम्मग्नज्ञानसे प्राप्त हो जाता है।

जीवके अस्तित्वमें भौतिक स्थूल शरीर प्रथम है, और आचारका साक्षात् सम्बन्ध स्थूल शरीरके साथ ही है। इसीके पवित्र होनेसे सूक्ष्म शरीर आदि-का आध्यात्मिक पवित्रता-साधन होता है, इसलिये आचारको शाखोंमें प्रथम धर्म कहा है। बिना आचारवान् हुए कोई भी आत्मोन्नति फलवती नहीं होती। इसके लिये वेदों तथा सूत्रियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए अपने कर्मोंमें धर्मसूलक सदाचारका सर्वदा निरालस होकर पालन करना चाहिये। धर्मसूलक सदाचार किसीकी स्थितिका विरोधी नहीं होता, अपितु उच्चायक होता

है। शासने इसीसी महियका वर्षा लक्ष्य प्रकारसे जिता है—

धर्मोऽस्य मूलान्यस्यः प्रजाः
विचान्ति शासनाच्छादनानि कामाः ।
वद्यांसि पुण्याणि फलं च दृग्य-
वस्तु लक्ष्यात्तर्तर्महीयात् ॥

(वामनत्राण)

‘सदाचारखपी प्रहान् एक्षका मूल धर्म है। काण्ड (तना) आयु है, शाश्वा भन है, पर कामना है, पृथ्य यश है और फल पुण्य है। इस प्रकार यह कल्पतरु महामहीयान् है।’

स्वेच्छाचारकी निरद्वय प्रसृति जब बढ़ने लगती है, तब मनुष्योंमें देवमाव विकसित नहीं हो पाता, ऐसे दोनों पशुभावके दास होकर मनुष्य-जन्मको नष्ट कर देते हैं। सदाचारके अनुशासनसे मनुष्यकी अनर्गल वृत्ति नियमित होती है, अतः वह यथेच्छ आहार-विहार करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। नियमितरूपसे सब कार्य धर्मसूलक करते रहनेसे आप-ही-आप संयमका अभ्यास हो जाता है और मनुष्यमें देवमाव उत्पन्न होकर जीवन सफल हो जाता है। वह भगवान्की ओर स्वयं बढ़ता चला जाता है, उसका जीनन शतदल—(कमङ्) की तरह विकसित होकर भगववरणारविन्दोमें समर्पित होता है और उसका धर्ममय यशःसौरभ दिग्दिग्नतको आमोदित करता है। इसीसे धर्मको सदाचारका मूल कहा गया है। सदाचारखपी वृक्षका काण्ड (पेड़ी) आयु है, अर्थात् सदाचारके पालनसे आयुवृद्धि होती है। आयुको बढ़ानेवाले जितने उपाय हैं, उनमें संयम मुख्य है। सब इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंके संयम करनेसे आयु बढ़ती है। सदाचार जीवनयात्रा-की सब प्रकारकी अनर्गलताओंका निषेध कर तपस्या

और दंडक, दफ्टेष्ठ, घरता हुया पहुँचता। शायुन्
पृष्ठमें गुह्यता करता है। मूँगे लदाचारी नहरहुं
दीर्घिय, शनाकु ऐहे हैं।

सदाचारतरुनों जाता था है। सदाचार यह
प्रकारसे धन-संप्रदाये अनुकूल है। जातावाणिया धन-
धनको लीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं; बथ—
धनका धर्जन, संरक्षण और संवर्द्धन। सदाचार-
पालनसे शरीर, बुद्धि, चिन्ता और स्वभावमें धनोपार्जनके
सभी गुण उत्पन्न होते हैं, जिससे धनोपार्जन सुखम हो
जाता है। सदाचारसे शरीर सुदृढ़ और कार्यशाम,
कुट्टियाँ, अनोद्वचित्त, स्थिर उत्साहसम्पद एवं उसका
स्वाधाव विवासयोग्य तथा लोकप्रीतिकर होता है, जिससे
धन-धर्गादिका उपार्जन करना अव्यन्ता सुखम हो जाता
है। भोगेभ्योंके संयम तथा विज्ञानियोंके धनसे और
दायाड्वयको कम करनेसे धनका संरक्षण होता है। इस
प्रकार सदाचार-पालन धनांदि संरक्षणके भी अनुकूल
है। गितव्ययिता, परिणामदर्शिता, सामाजिक सुव्यवस्था
आदिके द्वारा धन-धर्म-सुखका संवर्धन होता है। सदाचार-
पालनसे ये सभी गुण आते हैं, अतः धन-मुल-संवर्धनके
लिये भी सदाचार-पालन आवश्यक है।

सदाचारतरुके पत्ते कामनाएँ हैं। कामनाओंका
सावारण खखूप यह है कि जैसे अग्निमें घृत छोड़नेसे
वह भक्त उत्ती है, वैसे ही भोगोंके द्वारा कामनाएँ
भी वल्वती होती जाती हैं। इस प्रकार अनर्गलभावसे
विषय-वासनाओंकी वृद्धिके द्वारा संसारमें जीव बड़ा
दुःख पाता है। कामनाओंके संयमसे ही मनुष्य
कामनाजुनित यथार्थ सुखोंका अनुभव कर सकता है।
सदाचार-पालनसे कामनाओंका संयम होकर उनका
निरङ्कुश भाव घटता है। इसीसे शास्त्रमें कामनाओंको
सदाचारतरुका पत्र कहा गया है।

सदाचारवृक्षका पुण्य यश है, अर्थात् सदाचार-
परायण व्यक्ति संसारमें यशस्वी होता है। संसारमें

धनता, धीरज, परिवार, यज्ञस्थिता, जीव आदि
सुर्खें ही यह शब्द दोता है। चिन्हों ये एह यह
होते हैं, ऐ लहरा है। रास्तामारण, दिन-घरती है।
प्रातुष तर छेत्र है। रुधि-पादे जला नहुलमें उठ-
गुपाता ही इन्हें दिल तोही है। जला उठायते पालनों
द्वितीय वशोव्याप ऐसा शास्त्रादित है। इस सदाचारवृक्षी
सूक्ष्मता का पृथ्वी है, जिससे प्राप्त पुण्यके परिवार,
निर्मलता, निष्पापता, निरागुरी, स्वन्त्रतेवर्ती, निरुत
सान्दिकता, जामुरभावादित देवताका ग्राहकर्त्ता, परुमात्म-
द्वितीय धार्यादित इतनि आदि जरूर होते हैं।
शरीरकी जलता, बुद्धिकी अद्वयता, मात्रती उत्तमता
और प्रदिव्युद्धीं संज्ञादे वास्तव्यतियोंका जल होता
है। उन्होंनें शाश्वत करनेवाले दुर्गांगोंसे स्वान्तर इन्हीं
दूर करता है। भगवान्सुनिते इस सदाचार-परायण
वर्णन निष्ठ प्रकारसे दिता है—

आचारस्मूलं थुलिशारात्मित-
माचारप्रशास्त्रा । नद्यन्तवृत्यग् ।
आचारपर्णानि हि नदि से ।
आचारपुण्याणि रजोधनादि ॥
आचारन्तुःश्वय फलं हि शर्व-
स्वस्माद्य तुर्यादुनस्त्रा चुक्तिः ।
तस्मादनन्तं फलदं तु नद्य-
आचारमेवात्मग्य शत्नर्वृद्धन् ॥
(त्रृत्यप्रायरम्भत द । ३०७०८)

‘वेद-शास्त्र, सूति तथा पुण्यादिका जात आचार-
वृक्षका मूल है। उन आग्रोंमें विहित कर्म ही इसकी
शास्त्राएँ हैं। उनमें प्रवृत्ति ही आचारके पत्ते हैं। यश
एवं धन आचारके पुण्य हैं। यर्ग इस आचार-वृक्षका
कथित फल है। उस सर्गस्त्रय फलमें अति भीठे तस्वाली
'मुक्ति' है। इसलिये अनन्त फल देनेवाले इस आचार-
वृक्षका अवश्य सेवन करना चाहिये।'

शास्त्रोंमें सदाचारके साथ परमपरारूपसे परमतत्त्व
व्रक्षका सम्बन्ध दिखाया गया है। इससे प्रमाणित

होता है कि सदाचारपरायण होनेसे जीव ब्रजज्ञानके पथपर सामाविकरूपसे अग्रसर हो सकता है। सदाचारपालनके प्रभावसे मनुष्यका ज्ञानपथ आप ही परिष्कृत हो जाता है।

संस्कृतिका मूल शास्त्रमें सदाचार ही वतलाया गया है। प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण और कर्म-मेदसे संस्कृतियोकी सृष्टि हुई है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियोके विभिन्न सदाचार होते हैं। अपनी-अपनी संस्कृतिके अनुसार सदाचारपालन करनेसे उसकी रक्षा होती है। सांस्कृतिक जीवनका मेरुदण्ड सदाचार ही है। सदाचारपालन किये जिना कोई राष्ट्र अपने जातीय जीवनको अक्षुण्ण और कमोक्षत नहीं रख सकता। अतः अपने राष्ट्रगत, संस्कृतिगत भावोंकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है; क्योंकि जिस प्रकार अन्तःप्रकृतिका परिणाम वहि:प्रकृतिधर होता है, उसी प्रकार बाध्य आचारोंसे अन्तःप्रकृतिका गठन होता है। यदि हम अपने आचारोंको छोड़कर दूसरोंके आचारोंको प्रहण करेंगे तो फिर संसारसे हमारा धर्मित्व ही उठ जायगा या हम जिस संस्कृतिके लोगोंके आचारोंको प्रहण करेंगे, उसीमें मिल जायेंगे या एक नयी संस्कृतिका निर्माण कर बैठेंगे। लम्बे कालतककी पराधीनतामें भी हमने अपनी संस्कृतिके आधार आचारको सँभाल रखा। इसीसे खात्त्व्यका उदय हुआ।

सर्व-साधारण प्रायः 'अदूरदर्शी' होते हैं, अतः कालमाहात्म्यसे किसी समय किसी संस्कृतिके चमक नानेपर उसीका अनुकरण करने लगते हैं। परंतु ऐसा अन्धानुकरण राष्ट्रिय एवं संस्कृतिक जीवनको नष्ट कर देता है। मनुष्यकी प्रवृत्ति नवीनताकी ओर अधिक आकृष्ट होती है। अपनी उत्तम वस्तु भी अति परिचित होनेके कारण दूसरोंकी नवीन वरतुके सामने फीकी लगती है। ऐसी अवस्थामें विवारवान् मनुष्योंको सोचना चाहिये कि जो सनातन है, वही अनन्त वाल्तक एहुए। दयी-नदी कालीनी परत्तुर्णे पितॄ उत्पन्न होकर

विलीन होती रहती हैं, उनपर प्रेम करनेसे लाभ ही क्या है? अतः यदि हमें अपनी राष्ट्रियताको बनाये रखना है तो अपने देश, संस्कृति एवं वर्णश्रमके सदाचारोंके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

'आचारः शास्त्रमूलकः'के अनुसार आचारका मूल शास्त्र है। आर्यसंस्कृतिके सदाचारशास्त्रमें स्थिर किये हुए होनेसे आर्य-सदाचारोंका मूल शास्त्र ही है। 'वेदवाक्यं शास्त्रमूलम्'—'अर्थात् शास्त्रोंके मूल वेदवाक्य हैं।' हम सबोंका विश्वास है कि वेद अपौहस्त्रे हैं। जीवके कल्याणार्थ श्रीभगवान् ने वेदोंको प्रकट किया है। भारतीय सनातनधर्मके जितने शास्त्र हैं, वे सब वेदानुयायी हैं। निकालदर्शी महर्पियोंने अपनी अन्नान्त बुद्धिकी सहायतासे वेदमत-प्रतिपादनार्थ नाना (धर्म-)शास्त्रोंकी रचना की है।

वर्णान निवन्धका विषय आर्य-सदाचार है। प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतक किस-किस प्रकार शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शारीरकी पर्याप्त उत्तमि और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, यह नित्यका सदाचार है। मनुके अनुसार ब्रह्मावर्त देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अवान्तर जातियोंका परम्परागत क्रमबद्ध जो आचार है, वही 'सदाचार' कहलाता है (मनु० २। १८)। इस सदाचारका वर्ण एवं जाति-धर्मसे बहुत निकट सम्बन्ध है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अवान्तर जातियोंको अपने-अपने वर्ण और जातिके धर्म-कर्मका पालन अवश्य करना चाहिये। जो अपने वर्ण या जातिके कर्मोंका त्याग कर अन्य वर्ण या जातिके धर्मोंको अङ्गीकार करता है, वह अपना ही नहीं, बरन् समस्त देश और प्रजाका अहित करनेवाला होता है। इसलिये राग-द्वेषके अधीन होकर अथवा आळस्य, प्रमाद, मोह और अज्ञान आदिके कारण भी सर्वां तथा अवान्तर जातियोंको श्रमला-लपना सदाचार-

रूपी धर्मकर्म त्याग कर देना और पराया धर्म प्रहण करना ठीक नहीं। अत्रिसृष्टि (१८) के अनुसार अपने धर्ममें स्थित होकर शूद्र भी खर्ग प्राप्त करता है—‘आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोऽपि खर्गमद्दनुते ।’ अतः अपने-अपने वर्ण, संस्कृति और कुलप्रभरणगत कार्योंका आचरण कर प्रत्येक मनुष्यको सदाचारकी रक्षा करना अव्यन्त आवश्यक है; क्योंकि भीतरी और बाहरी सम्पत्ति, शाश्वत सुख तथा स्थायी शान्ति मुख्यतः सदाचारपर ही निर्भर है। महर्षि वसिष्ठके अनुसार ‘आचारसे हीन मनुष्यको साङ्घोपाङ्ग वेद और उनके छः अङ्ग भी दौन-सा सुख प्रदान कर सकते हैं ; भला अंवेको सुन्दर ही कैसे दीखेगी ।’

आचारहीनस्य तु ग्राहणस्य
वेदाः षडङ्गास्त्वाखिलाः सयशाः ।
कां ग्रीतिमुत्पादयितुं समर्था
अनधस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥
(वसिष्ठधर्मशास्त्र ६ । ४)

वस्तुतः आचारका फल धर्म है, और धर्मसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। आचार दुष्ट लक्षणोंका नाश करता है। मनु (४ । १५७) के अनुसार दुराचारी मनुष्य लोकमें निन्दित, सदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है, इसलिये जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये। जो दोषयुक्त निपिद्ध कर्म हैं, उनका भूलकर भी आचरण नहीं करना चाहिये।

सदाचारः परो धर्मः

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिवदी)

‘सदाचार’ शब्दकी व्याख्या करनेमें वैदिक महर्षियोंने अपना समस्त जीवन ही अर्पित कर दिया तथा हजारों वर्के चिन्तन एवं अनुभवोंके आधारपर उन्होंने सदाचार-के जिन मूल तत्त्वोंका अन्वेषण किया, उन निष्ठाङ्कितका पालन कर आज भी मानव पूज्य बन सकता है।

तृष्णाका त्याग—मानवतापर आज जो धना अँवेरा छाता जा रहा है, उसके समस्त कारणोंके मूलमें मानवकी असीम तृष्णा है। कल्कत्ता-जैसी महानगरीमें मैंने हर व्यक्तिको दौड़ने देखा। वह यानाखद है तो भी दौड़ रहा है और पैदल है तो भी दौड़ रहा है। आखिर कहाँ जाना चाहता है मानव : अहंकी तुष्टिके प्रसारका परिसीमन न होनेमें सदाचार विकलाङ्ग होता जा रहा है। श्वेताश्रत, ऋषिने ठीक ही कहा है कि ‘मानव आकाश-को भले ही चमड़ेकी भाँति लपेट कर रख दे, किंतु अपने अन्तःस्य प्रक्षत्याशय सत्ताको जाने विना उसके हुए जीना रहता है।’

यदा चर्मवदाकाशं वेष्यिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविश्याय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
(श्वेताश्रतरोप ६ । २०)

तृष्णाकी चिरकाङ्क्षापर अङ्गुश न लगाया जाय तो वह मानवीय गुणोंको निगल जाती है। जीवन अनियन्त्रित हो जाता है और इन्हीं अनियन्त्रित मस्तिष्कों-की भीड़ पाश्चात्य युवापीढ़ीकी समस्या बन गयी है। तृष्णा-परित्यागके इसी अपरिही सदाचारतत्वने कलिङ्गविजेताको तथागतके चरणोंमें तलवार रखकर प्रियदर्शी बना दिया। अमरवेलिकी भाँति तृष्णा निरन्तर स्वयं पछुवित होती रहती है और धीरे-धीरे अपने आश्रय-दातापर भी पूरी तरह छा जाती है। कुप्रवृत्तियोंका कोई भाग उससे अछूता नहीं रहता। तृष्णातुर मानव स्वयं ही देहाभिमानी हो जाता है। मनकी आकाङ्क्षा विभिन्न प्रकारके विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु वह वृत्त पइनेसे अधिके समान निरन्तर अविकाधिक बढ़ती ही जाती है—‘हृचिषा छुप्णवर्त्मेव भूय पूर्वाग्रिवर्धते ।’ (मनु० २ । ९२)।

जो अपने पास है, उसकी कीमत न समझना और जो अपने पास नहीं है, उसकी कामना करना और इस तरह जीवनमें अभाव और असंतोष अनुभव करते रहना—यह है हमारा सभाव ! धर्मविमुख निलासपूर्ण जीवनवृत्ति और संसारको चलानेके लिये अधिक तृष्णाकी चेष्टा उच्चताके लक्षण नहीं कहे जा सकते । महर्षि अथवकने ठीक ही कहा है—

यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारं चिद्गत्वं तत्र है ।
(अष्टावक्रगीता १० । ३)

‘जहाँ तृष्णा है, वहीं संसारी नर दुःखी है ।’ किंतु ‘जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान ।’ की पुष्टि करते हुए तुलसीदासजी भी संतोषके बिना शुखकी कामनाको धरतीपर नौका-चालन-जैसी सुर्खता छी सिद्ध करते हैं । वे कहते हैं—

कोड शिश्राम कि पाव तान सहज संतोष विनु ।
घरै कि जल विनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिमि ॥

(मानस, उत्तरकाण्ड ८९, दोहावली २७५)

मनोनिग्रह—शुक्र यजुर्वेद (३४ । १—६)में ‘शिव-संकल्प’ सूक्त है । इसके प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें ‘तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु’—आता है । ‘मेरा मन कल्याणकारी शुभ संकल्पोवाला हो ।’ परंतु क्या हम अपने दृष्ट विचारोंको इतना नम्र बना पाये हैं कि मस्तिष्कके द्वाराग्रही हथौड़े उसे पीट-पीटकर विकृत नहीं बना पायेंगे ? ‘मन से बड़ा न कोष’ का अर्थ लगाकर आज तो यहाँ परिस्थितियाँ ही ऐसी निर्मित की जा रही हैं, जिनसे हमारे मनके विकृतभावोंका निरन्तर पोषण होता रहे । चलचित्र, टेलिविजन, रेडियो और अश्लील साहित्यकी प्रतिसंर्धा मनके निग्रहको पीछे ढकेलनेमें जागरूक है । दूसरे शब्दोंमें इसे हम चारित्रिक पतन भी कह सकते हैं । ‘विश्वकी तुलनामें हमारा चरित्र ऊँचा रहा है—केवल इतने मानवीसे संतोष कर लेनेसे सदाचारका पोषण नहीं होगा, वरन् हमें अब अपनी नैतिक मुद्राका अधिक अवगूल्यता रोकना ही होगा । राष्ट्रों चरित्रोन्नतिकी

बात तो हम तब कर सकते हैं, जब हमारा व्यक्तिगत जीवन निखरे, हम खयं नैतिक हो जायें ।

मनके निग्रहके विषयमें उपनिषदें चेतावनी देती हुई कहती हैं—‘जिस प्रकार धैर्यपूर्वक कुशके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको भी ढलीचा जा सकता है, उसी प्रकार खेदशून्य रह (खिन्नताका त्याग) कर ही मनका निग्रह किया जा सकता है’—

उत्सेक उद्देश्यद्वात् कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वज्ञवेदपरिसेदनः ॥
(माण्डूक्यकारिणा ४१)

ऋषियोंने इसी प्रकारके संकल्पसे आत्माको दीक्षित किया और जीवनको यज्ञ बनाकर उस सत्यको उपलब्ध किया जो ब्रह्माण्डको धारण करनेवाला मध्य विन्दु है । महाराजा धृतराष्ट्रकी उद्दिग्रता शान्त करते हुए विदुर अपने नीतिपूर्ण प्रवचनोद्वारा मनोनिग्रहको सर्वोपरि बताते हुए कहते हैं—‘राजन् ! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और इन्द्रियों इस रथके घोड़े हैं । इसको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमे किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक यात्रा करता है’—

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
शात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य ब्राह्मणः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदृश्ये-
द्वन्तैः सुखं याति रथीय धीरः ॥
(विदुरनीति ३४ । ५९)

सदाचारकी भित्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये हमें मनोनिग्रहरूप इस नींवके पत्थरको यथावत् रखना होगा । विचार कीजिये, हमारा चारित्रिक धरातल कहाँ-तक धैंस गया है ? जीवनका कोई भी क्षेत्र अनिचारित्रिक उन्नतिकी ओर अग्रसर होता प्रतीत नहीं होता । व्यापारमें मिलावट, कार्यालयोंमें भ्रष्टाचार, सम्मानके प्रति अवहेलना, शिक्षासंस्थाओंमें उच्छ्वसुलता, मातृशक्तिका दात्त,

पारिवारिक कल्ह, राष्ट्रिय भावनाकी उपेक्षा, धार्मिक अनास्था आदि सभी ओर गिरावट आ गयी है।

सत्य—जिन दिनों सत्य शब्दका प्रचार कम था, उन दिनों सत्य शब्दका व्यापक प्रभाव तथा प्रसार था; परंतु जबसे सत्य शब्द विशेष प्रचारित हुआ, तबसे उसका मूल्य घटता जा रहा है। 'मैं सत्य बोलूँगा और सत्यके अतिरिक्त कुछ नहीं कहूँगा'—जैसी शपथ-प्रणालियाँ न्यायमन्दिरोंकी केवल परम्पराभर रह गयी हैं। विश्वकी सबसे बड़ी सत्ता परमात्माकी शपथका सहारा लेकर बुद्धिवादी कहलानेवाले सभी दावेदारोंके सामने 'सत्य' उनौंती बनकर खड़ा हो गया है। इस सर्वव्यापक शब्दकी अपनी व्याख्या तो सुविधानुसार भले ही करें; परंतु अर्थवेदके मन्त्रभागके अन्तर्गत आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि शौनकके प्रस्तका आचार्यप्रबर अङ्गिराने प्रत्युत्तर देकर सत्य शब्दकी जो महिमा बतायी थह उपेक्ष्य नहीं है। देखिये—

सत्यमेव जयति जागृतं
सत्येन पन्था विततो देवयातः ।
येनाक्रमन्त्यृपयो ह्यासकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। १। ६)

'सत्य ही विजयको प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं। सत्यसे देवयानमार्गका विस्तार होता है जिसके द्वारा आसकाम क्रृपिण उस पदको प्राप्त होते हैं, जहाँ वह सत्यका परम निधान (कोप) वर्तमान है।' स्पष्ट है कि मानव यदि अपने जीवनमें असफल होता है या राष्ट्रोंको पराजयका मुख देखना पड़ता है तो इसकी जड़में अवश्य ही कहीं-न-कहीं सत्यका गला खोटा गया है। शैव्याके थाँचलके नीचे छिपे उस सत्यको प्रतिष्ठित करनेहेतु हमें इमशान-रक्षकके चक्षुओंको खोलकर देखना ही होगा। सच तो यह है कि सदृश धर्मेष्वकी धरपेटा भी दृश्यका प्रश्न छाँधिक है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुल्याधृतम् ।
अश्वमेधसहस्राञ्जि सत्यमेकं विशिष्यते ॥
(महा० आदि० १ | ७४ | १०३)

मन्त्र-ब्राह्मणके उस द्रष्टकी भाँति हमे भी अपने संकल्पको दृढ़ करना होगा जो कहता है—'हे व्रतपति सूर्य ! आजसे मैं अनृत (असत्य)से सत्यकी ओर, अज्ञानसे प्रकाशकी ओर जानेका व्रत ले रहा हूँ । मैं उसे निभा सकूँ, उस मार्गपर आगे बढ़ सकूँ, इसकी सूचना आपको दे रहा हूँ । आप मुझे सहारा दें ।'

अहिंसा—विश्वके समस्त धर्म हिंसाकी भर्त्सना वरते हैं। गोखामी श्रीतुलसीदासजीने भी—'परम धर्म श्रुति विद्वित अहिंसा' कहकर 'प. पीडा नम नहिं धरमाद्व' का प्रतिपादन किया है।

प्रभुप्रदत्त इस सत्यशामला धरतीको, जिसे प्राप्त करने-में हमने तनिक भी प्रयास नहीं किया है, कितनी बार द्वकरञ्जित बनाया। हमने तो जल और वायु-जैसी प्राणदायी कस्तुओंको भी दूषित करनेमें कसर नहीं छोड़ा है। इन सबके पीछे हमारा क्या अभिप्राय है ? विश्वके सभी क्लूर शासक खाली हाथ ही तो गये। किंतु जैनसरप्रदायकी दैनिक उपासनाविधि 'प्रतिक्रमण'के क्षमायाचना अध्यायकी प्रार्थना कितनी उदात्त है—मैं सभी जीवोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ तथा अपनी ओरसे सभीको क्षमाप्रदान (अभ्यदान) करता हूँ। पृथ्वीके समस्त जीवोंके प्रति मेरा मैत्रीभाव है,—

त्वामेषि सत्वे जीवा सत्वे जीवा ज्ञासन्तु ये ।
मिति मे सत्वे भूषण वैरंयज्ञंनकेणर्ह ॥
(प्रतिक्रमणसूत्र)

सफल और सुव्यवस्थित जीवन-हेतु अहिंसाधर्म अनिवार्य है। अहिंसामे वर्म, अर्थ—सब कुछ है—

सर्वमहिंसायां धर्मार्थपिधीयते ।
शस्त्रात् ल नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥
(महाभारत, गोदार्धा २४५ | १६)

प्रतिशोध भी हिंसकी ली एक झुण्ड याखा है। अपने पिताहारा मृत्युको सौप हिथे नहे लचिकेतासे जब यम उसकी अडिग लिटाके प्रतिदानरूप असीष वर भाँगनेको कहते हैं तो सबसे पहला वरदान वह गद्दी माँगता है कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प (प्रतिशोधरहित) होकर प्रसन्नचित्त मुझसे बातें करें और मुझे वहाँ जानेपर पहचान लें। दोनों पक्षसे प्रतिशोधशमनका वरदान। कैसी भावना है॥

'क्षमा वीरस्य भूपणम्' कहकर हसीलिये तो क्षमाकी महत्ता दर्शायी गयी है। वीरोंद्वारा क्षमादानके प्रसङ्गसे हमारे अन्य भरे पड़े हैं।

द्वाविदौ पुरुषौ राज्ञः सर्वात्मोपरि तिष्ठतः।
प्रभुल रागया शुजो द्विजः प्रदावद्वाच्॥
(विदुरग्रन्थ ३५ ६३)

'एजन् । निर्धन होकर भी दानी और शक्तिशाली होकर भी क्षमादान—दोनों ही अपवाहके अधिकारी होते हैं।' मर्यादापुरुषोत्तम राम खयं अहिसाधर्मके विषयमें अपनी मा कौसल्यासे कहते हैं—'मा ! अन्य उपायोंके अतिरिक्त अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मगोगसे भी मेरी भक्ति सम्भव है।' (अथ्योत्तमरा ३० ६८)

प्रोधका परिणामी द्वद्वावारका एक अन्न है। दद्वावारके बलपर्वमें शुक्राचार्य-देवतानी-संवादके दार्त्तात्री श्रोध न करनेदाले पुरुषको उससे भी नष्टन् बताया है, जो अश्रान्त सौ वर्षतक मङ्ग करता रहे।

यो वलेष्वरिआन्तो मासि मासि दाते समाः।
न कुञ्जयेद् यश्च सर्वस्य तयोरक्तोधनोऽधिकः॥

क्रोध, लोभ, धृहंकार तथा कपटका परिवार सदाचारी बननेके लिये शावशक मात्य शर्त है। अपने हृदयमें सदाचारी गुणोंके पूर्ण विकास-हेतु खाद्याय भी एक ऐसा मार्ग है, जो सेतुका कार्य वर सकता है। अज्ञानसे हृष्टकारा पाना और ज्ञानयोगी द्वारा जगत्के खरूप तथा खयंको पहचानता मानवका होताय लक्ष्य है। इसी पुरुषार्थको गोष्ठ कहते हैं। जीवन-मृत्युसम्बन्धी दुष्प्रियाका मुठशाब खोलद्वारा मानवको अपनी मुक्ति अपने ही अंदर और अपने ही परिवेशमें खोजना सिखाकर वैदिक ग्रन्थियोंने जो उपकार किया है, उससे उत्तम तभी हुआ जा सकता है, जब हम उनके विचारोंको केंचल पढ़ भर न लें, वरन् उनपर चिन्तनकर चलने भी लग जायें।

संतका सदाचार

पर-निरदा मिथ्या करि मानै, सुनै न कहै काहू तै वात ।
सुरी लगै परखंसा अपनी, परकी सुनत सदा हरणात ॥
छोटन तै लिज्जता बरतै, करै बड़न कौ सुन्हि सत्कार ।
निज सुख भूल, देत सुख पर कौ होय परम सुख-सहज उदार ॥
सहज दयालु रहै दीनलपर, करै सुखि सौ लिद्धल ग्रेम ।
करै न किंचित कपट निभावै, सुख सरलता कौ नित नेम ॥
घाचा-वाढ रखै नित वसमै, रहै परियह-संयह-हीन ।
करै न रति जगके परपंचनि, रहै लदा हरि-सुमिरल लील ॥
निज-हित पर तै जैसों चाहै, करै सुखि सौ सो व्यदहार ।
देखै सदा लदनियै हरि कौ, यहै संतको धर्माचार ॥

सदाचारकी वारिया

(देखद—जागुरोपमें पहल प्रथिक)

सर् कही है, जो नित्य है. जिन्हारे हैं। जो इसद्वारा, अन्यता गणना एवं धर्मपादकी शिल्पनियोगेवर इत्यका परमाश्रव है, उने श्री परमात्मा करते हैं। वही आनन्दमय है, परम शान्तिमय, धर्मशिक्षिमय है, वह सत्-परमात्मा उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनसे रन्ति अल्पण अनन्त परम तत्त्व है। उम सत्-परमात्माको ध्यान-ज्ञानमें रखते हुए जो आचरण मनुष्यद्वारा आचरित होता है, उसे ही धूति-सृष्टिमें सदाचार कहा गया है। सदाचारकी पूर्णतामें शाश्वत शान्ति एवं अग्रण धर्मान्दकी त्रुमुत्ति है। दुराचारको क्षणिक सुखके पीछे भागते हुए पन्तमें पशान्तिज्ञ दुःख भोगना गडता है। जसदाचारी निलग्रास सद्-खल्प गरमात्मासे विमुख रहकर अनिय दंगारिक वस्तुओंके सामुन रहता है, इसीलिये वह मोही, लोभी, अभिभानी, कामी आदि बना रहता है।

सदाचारको पूर्ण करना अपने-आप तथा जगत्के प्रति भी कल्याण करना है। सदाचारके द्वारा ही आसुरी वृत्तियोंको दमन किया जाता है और दर्शकों नष्ट करनेवाले वेगोका शमन किया जाता है। सदाचार-के सहारे ही क्रांतः कोयको धमासे तथा छोभको उठारतासे एवं मोहको विवेकसे, अभिभानको विनम्रतासे और अनियसुखके प्रभावको नित्य सद्ज्ञानसे पराजित किया जाता है। सदाचार ही मानव-जीवनमें उच्छति, सद्गति, परमगति, परमशान्ति ग्रास करनेके लिये भूमिका है। सदाचारकी पूर्णतामें ही दिव्यताका अवतरण होता है और दुराचार पतनकी भूमिका है। सदाचार मनुष्यको शान्तिके समुख करता है तो दुराचार मनुष्यको अशान्तिकी परिधिमें आवृद्ध रखता है। मानव-समाजमें लाखों धनवान्, बलवान्, व्यक्ति हैं

उम कई भाषणों, विद्वान् थीं। उनमें दर्शकों शासुन-प्रसंगाग समाजमें इनका विवरण नहीं आते हैं, परंतु सदाचारकी पूर्णतामें जिन धर्मका सुनन् जनपाना चाहिया ही है।

जग गावके जिन दृग्गुप्त नेर राजन द्वारा ही पश्चिमे मनाम् । सदाचारके जिन ही मनुष्यों द्वारा मध्यसे क्षमामें दृग्गोका शोषण करता है। गताचार-दीन पदाविज्ञारी सद्याचार, दानको समाज निर्वदेशोंको सदानेवाय दीत है। सदाचारमें दृग्ग पर्माला धर्म-यामाजका छिंटी होता है। सदाचारी दीत है, जो भाष्यदश मनुष्य अनकी त्रुप्ता तथा जातकी त्रुप्ता एवं मुग्नोपभेदकी त्रुप्ताको पूर्ण करनेके लिये दृग्गिकी भाँति अधीर है, तबतक वह सदाचारका पालन नहीं कर पाता। मुग्नासक्ति, वनामन्ति, सम्मान्यासक्ति, असिक्ताग-सक्ति मनुष्यको दृग्चारी बनाये रहती है। भर्मग्रंथी मनुष्य ही आसक्तियोंसे मुक्त हो पाता है। जानमें सत्-असत्, तथा विप-अमृतका निरीक्षण करनेवाला विरक्त हो जाता है। आसक्त व्यक्तिके लिये मोह, ममता आदि दोनोंसे विरक्ति और अनासक्त व्यक्तिके लिये सदाचार-नहमें दृग्ग रहना अनिवार्य है। कामी-कोशी-लोभी व्यक्ति किनना ही विद्वान् क्यों न हो, किर भी वह मुग्नासक्तिके कारण सदाचारसे विचलित हो जाता है।

दया, क्षमा, उदारता, सहिष्णुता, विनम्रता, सरलता तथा सद्, आनन्द, धर्मधर्मका विवेक एवं निष्ठाम प्रेम आदि दैवी सम्पदा सदाचारतामें नित्य सद्घायक हैं। दैवी सम्पदाको बद्धनेके लिये प्रत्येक मनुष्य

खतन्त्र और सांसारिक भूमि, भवन, धन बढ़ानेके लिये परतन्त्र है; किंतु कुसंस्कार एवं कुसङ्गके कारण दैवी सम्पदा बढ़ानेका संकल्प हर एक मनुष्य नहीं करता। लोभी, अभिमानी, कामी, असज्जनकी संगतिसे उसे असदाचारकी ही प्रेरणा मिलती है। पापग्रस्त मनुष्य जो सदाचारका पालन ख्यां नहीं करता, वह भी अपने प्रति सदैव सदाचारका ही वर्तीव चाहता है। मानव-समाजमे जहाँतक परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, कलह,

क्रोध, निन्दा-घृणाके साथ हिंसात्मक व्यवहार चल रहा है, यह सब सदाचारके द्वारा समाप्त हो सकता है। मनुष्यको धन, वैभव, भूमि, भवन, ऐश्वर्य आदिके द्वारा जितनी भी सुखद सुविधाएँ सुलभ होती हैं, उन्हें दुराचारयुक्त प्रवृत्ति नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। परमात्मा ज्ञान, प्रेमरूप तथा सभी सद्गुणोंसे परिपूर्ण है। उसके योगसे साधकको भी पूर्णता प्राप्त होती है। और, यह पूर्णताप्राप्ति जीवनका परम लक्ष्य है। यही सदाचारकी सिद्धि है।

वेदौक्त सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीउमाकान्तजी 'कपिष्वज', एम० ए०, काव्यरत्न)

मनुष्यके चरम विकासका अजस्रस्रोत धर्म ही है। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, सत्-आचरण, प्राणिमात्रके साथ सदाशयता एवं कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धिको ही धर्मका मूल बताया गया है। भारतीय दर्शनिकोने वारंवार सभी जीवोंमें आत्मवत् दर्शनका उपदेश देकर दूसरोंके कष्टों, व्यथाओं और दुःखोंको अपनी अनुभूति बनानेका उपदेश दिया और, 'आत्मवत् प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—(श्रीविष्णुधर्मो० ३ । २५३ । ४४) का निदेश दिया। ख्यांके विपरीत कोई भी कार्य दूसरोंके लिये भी न करे। दूसरे शब्दोंमें यही 'सदाचार' है। इसके पालन करनेकी हमसे नैतिक अपेक्षा की जाती है। निदान, सत्य बोलना, चोरी न करना, माता-पिता एवं गुरु-जनोंकी आज्ञा शिरोधार्य करना, खदेश-प्रेम होना, दीन-दुःखियोंपर दया करना, दिया हुआ वचन नहीं तोड़ना आदि नियमोंके समूहसे 'सदाचार'का कलेवर निर्मित है।

'सदाचार' मानव-जीवनमें उस कीर्ति-स्तम्भके समान है, जो मनुष्यको उसके जीवनकालमें तथा मृत्युके पश्चात् भी उसके यशस्वी शरीरको अमर बनाये रखता है। विष्णुपुराणमें सदाचारकी परिभाषा बतलाते हुए महर्षि और्व कहते हैं 'सत्'* शब्दका अर्थ साधु है और साधु वही है, जो दोषरहित हो। उस साधु (श्रेष्ठ) पुरुषका जो आचरण होता है, उसीको 'सदाचार' कहते हैं। स्कन्दपुराणमें भी कहा गया है कि 'राग' और 'द्वेष'से रहित उत्तम बुद्धिवाले महापुरुष जिसका पालन करते हैं, उसीको धर्मसूलक 'सदाचार' कहते हैं। †

वस्तुतः 'सदाचार'के आदिस्रोत हमारे वेद ही हैं। अथर्ववेद (११ । ५ । १९)में ऋषि कहते हैं कि परमपिता परमात्माने अपने पुत्र मनुष्यको आदेश दिया है कि वह परस्पर सहानुभूति, उदारता और निर्वैरता धारण करें, जिसप्रकार गौ अपने तल्कालके उत्पन्न बछड़ेकी गर्भस्थ

* साधवः क्षीण दोप्रास्तु सन्छब्दः साधु वाचकः । तेषामाच्चरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥ (३ । ११ । ३)

† (क)—अचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः ।

(ख) यस्तदारचमल्कारः सदाचारविद्वावान् । स निर्याति जगन्मोहनम्गोन्दः पञ्चवादिव ॥

(योगवाचिष्ठ मु० ६ । २८)

मछिनताको अपने मुखसे चाटकर उसे स्वस्थ और सच्छ बना देती है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक दूसरेके कल्याणसाधनमें रत रहें। वहीं (१९ । १५ । ५ में ।) यह भी कहा गया है कि उच्चशिखराखड़ राष्ट्रों एवं जातियोंके मानवोंको उचित है कि वे वडोंका सम्मान करें, सोच-विचारकर कार्य करें, कार्यसिद्धिपर्यन्त अथक परिश्रम करनेवाले हों, अपने लक्ष्यके प्रति दत्तचित्त हों, परस्पर वैर-विरोधका भाव न रखें, प्रेमपूर्वक भाषण करें तथा सभी मानवोंको ऐसा ज्ञान दें कि जिससे सबके मन शुद्ध हों। ऋग्वेदमें कहा गया है कि सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित रहकर संघटित बनें। सब मिलकर अम्बुदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्योंको ही बोलें तथा परस्पर सबके मन, सुख-दुःख-दिल्लप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें (१० । १९१) जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादि देव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्माणिको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करें—अन्यायसे अन्यके भागको ग्रहण न करें। इसी संदर्भमें वेद भगवानका आदेश है कि पापकी कमाई छोड़ दो। पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है। पुण्यसे ही कमाया हुआ वन सुख देता है। (अर्थव० ७ । ११५ ।)

‘वसुधैव कुदुम्बकम्’की भावना ‘सदाचार’का प्रधान अङ्ग है। इसके अभावमें मानव-जीवन अधूरा-सा प्रतीत होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो सब मानवोंको समान रूपसे देखता है, वही सच्चा मानव है। मनुष्यकी दृष्टि जब सर्वत्र समान हो जाती है, तब

उसके सारे राग-द्वेष, सारे क्षोभ, सारे विकार स्वयमेव दूर हो जाते हैं। इस स्थितिमें आकर उसका चरित्र अपने-आप उदार हो जाता है। उसके लिये फिर सारी दुनिया अपने कुदुम्बका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है। उसके लिये ‘यह मेरा’, ‘वह तेरा’का भाव समाप्त हो जाता है तथा वह परखीको माताके तुल्य, परदब्यको मिट्टीके तुल्य एवं समस्त भूतोंको आत्मवत् ही समझने लगता है। *

‘ऋग्वेद’के एक मन्त्रमें प्रभु परमेश्वर सब जीवोंकी समानता बतलाते हुए परस्पर मिलकर ही उन्नत होनेका आदर्श उपस्थित करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि जो अपनेको हीन मानकर दिन-नात रोनेमें ही व्यतीत नहीं करते, वे ही सुदिन देखते हैं। इतना ही नहीं, वेद आगे कहते हैं—‘प्रभु परमेश्वरके अमृत-पुत्रोंमें न कोई बड़ा है न छोटा और न मध्यम। इस प्रकारकी भावना रखनेवाले मनुष्य ही उत्तम और कुलीन कहे जाते हैं। जो मातृभूमिके सच्चे अर्थमें पुजारी हैं, वे ही दिव्य मनुष्य हैं, उनका स्थागत है। (ऋक्० ५ । ५९६ और ५—६०, ५ ।)

‘तैत्तिरीयनाशण’ आदिमें भी इसी प्रकार मनुष्योंको वियम भावकी समाप्ति कर समभावका सदुपदेश दिया गया है। १ इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदिमें परोपकारकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—‘परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेल करते हैं। परंतु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके

* मातृवत् परदारांश्च परदब्याणि लोष्टवत् । आत्मवत् सर्वभूतानि वः पश्यति स पश्यति ॥
(आपस्तम्बस्मृति १० । ११, हितोपदेश १ । १३, पञ्चतन्त्र ३ । ३१, पद्मपू० १ । १९ । ३५६, गच्छपू० १११ । १२)

+ ॐ समानी व आकृतिः समाना दृढ़यानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुखदासति ॥
(ऋक्संहिता १० । १११ । ४, अथव०६ । ६४ । ३, तै० ब्रा० २ । ४ । ४ । ५)

हृदयमें विराजमान भगवान्की परम आराधना है। परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महापुरुषोंकी गौरव-गाथासे भारतका इतिहास देदीप्यमान है। नागोंकी प्राण-रक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कवूतरकी प्राण-रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले राजा शिवि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदारमना कर्ण, गो-रक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले महाराज दिलीप, सुर-समुदायके हितार्थ अपनी अस्थियोंका दान करनेवाले महर्षि दधीचि और स्वयं भूखे रहकर (भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी) भूखी आत्माओंको अन्न-जलका दान करनेवाले महाराज रन्तिदेव आदिके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे? उन्होंने श्री-भगवान्द्वारा वर-याचनाकी अनुमति पानेपर भी यही माँगा कि मैं अष्टसिद्धियों, खर्ग-मोक्षादिकी कामना नहीं करता, मेरी तो यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगूँ। * कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यही सदाचारका रहस्य है। सबके जीवनके साथ मिलकर ही हम अपने जीवनको परिपूर्ण कर सकते हैं। अपने विचारोंको संकुचित करके हम अपने 'स्व'का—अपने आत्माका ही हनन करते हैं, उसको अपेक्षाकृत क्षुद्र दीन-हीन बना देते हैं, जब कि वह स्वरूपसे अनन्त है। आत्माकी विश्वाल्ताको सतत चरितार्थ करना ही सदाचारका अर्थ

है, और इसीसे निःश्रेयसकी, पूर्णताकी, मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने सदाचारी मनुष्यके लिये पालनीय सप्त मर्यादाओंका बारंबार उपदेश दिया है। उनका सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण एवं मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेदके एक मन्त्रमें कहा गया है कि 'हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मध्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पाप-सहायक दुष्ट—इनका वर्जन ही सप्त-मर्यादा है।' इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-धातक है, यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव बनकर रहता है। (ऋग्वेदसं० १०।५।६।) इतना ही नहीं, मनुष्यको प्रवल्लतम पापोंसे बचनेके लिये भी बहुत ही सरस-भूधर एवं साहित्यिक उपदेश देते हुए कहा गया है कि 'हे मनुष्य! तू साहसी बनकर गहड़के समान घमंड, गीधके समान लोभ, चकवेके समान काम, श्वानके समान मत्सर, उद्धकके समान मोह और भेड़ियेके समान क्रोधको समझकर उन्हें मार भगा।' †

सम्भ्रति, यह कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि हमारी वैदिक मान्यताएँ और आदर्श निःसंदेह मनुष्यको सदाचारी बनने तथा अपना गन्तव्य सुधारनेकी दिशामें बहुत ही सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती रही हैं। उनका पालन करना प्रत्येक भारतीयका परम कर्तव्य है।

* श्रीमद्भा०-८। ७। ४४, ६। १०। ८, मानव ७। ४०-१। २, ३। ३०। ४-१। २७, वही ९। २१। १२।

† सप्त मर्यादा: कवयस्तत्क्षुस्तासमेकामिद् स्यहुरो गात्। आयोह्स्कम्भ उपमस्य नीले पथा विसर्गे वर्षणेषु तस्यो।

(ऋग्वेदसं० १०।५।६)

‡ उद्धकयाहूँ शशुल्क याषुं जहि श्यातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत ग्रन्थयादुं, दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋग्वेदसं० ७। १०४। ३२)

वेदोंमें सदाचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह)

ऋतस्य गोपा न दभाय सुकरु-
लोपपवित्रा हृद्यन्तरादधे ।
विद्वान् त्स विश्वा भुवनाभि-
पद्यत्यवाजुग्रान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥
(ऋग्वेदसं० ९ । ७३ । ८)

‘ऋतस्य गोपा’ सत्य (सदाचार)का रक्षक (सुकरुः) सुकर्मा (दभाय न) दबनेके लिये नहीं हैं, (सः हृदि अन्तः) उसने हृदयके भीतर (त्रीष्पवित्रा आदधे) तीन पवित्राओंको धारण किया है । (स विद्वान्) वह सर्वज्ञ प्रभु (विश्वा भुवना अभिपश्यति) सब लोकों—धारों—स्थानोंको देख रहा है । वह अवाजुग्रान् अव्रतान्—असेवनीय, असदाचारी अव्रतियोंको (कर्ते अव विध्यति) गतिमें—गढ़ोंमें गिरा देता है ।’

अनृत दुराचार है, ऋत सत्य या सदाचार है । सत्य परम तत्त्व है । अनृत अथवा दुराचारका जो व्यवहार करते हैं, वे दस्तु हैं । ऋत अथवा सदाचारका जो व्यवहार करते हैं, वे आर्य हैं । सत्य अथवा परम तत्त्वमें संस्थित होकर जो व्यवहार करते हैं, वे देव हैं । उपर्युक्त मन्त्रमें ऋत और ऋताचारी, सदाचार और सदाचारी आर्यका सुन्दर विश्लेषण है । उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार ऋत-सत्य-सदाचारका रक्षक किसीसे न दबता है, न डरता है और न किसीके आतङ्कसे आतङ्कित ही होता है । सदाचारकी रक्षा करनेवाला, सदाचारके पथपर चलनेवाला सदा अदब्ध और अदम्य रहता है । कोई उसे कितना भी दबाये, कितना भी सताये, कितना भी छकाये, कितना भी आतङ्कित करे, उसकी परेशानीपर सज्जे नहीं पड़ती । वह तो बड़े-से-बड़े कटोंको भी सहजतया सँझ लेता है । वह बड़े-से-बड़े आपत्तियोंको पुण्यहातकी भाँति सहार लेता है । बड़े-से-बड़े संकट उसे विचर्णित नहीं कर पाते । सहयोगका, साधन और

अर्थका अभाव उसे पीछे नहीं हटा सकता । प्रलोभन उसे विमुग्ध नहीं कर सकते । कनक और कामिनी उसके ईमानको डिगा नहीं सकते । वैर-विरोधके सामने वह दृढ़ताके साथ डटा रहता है । ईर्षा-द्वेष उसका स्पर्श नहीं करते और विकार उसे विकृत नहीं कर पाते । भोग-विलास, विषय-वासना, दुःख-विषाद उसे निढाल (शिथिल) नहीं करते । वह तो हर अवस्थामें अचल और निर्द्वन्द्व रहता है । अदब्धता—अदम्यता ऋताचारका लक्षण है । कभी किसीसे किसी भी प्रकार न दबना सदाचारिताका चिह्न है । ऋताचारी सुशील और शालीन तो होता ही है, पर दब्बू नहीं होता । सदाचारी विनम्र और लचकीला होता है, पर साहसी और निर्भीक होता है । ऋताचारके अभिमानी, सदाचारके स्वाभिमानी एक क्षणको भी यह न भूलें कि सदाचारकी रक्षा करनेवाला दबाये नहीं दबता है । ‘ऋतस्य गोपा न दभाय’—यह वैदिक सूक्ति कितनी सुन्दर और प्रेरणाप्रद है ।

काल, समय, अवस्था, परिस्थिति, ऋतु, विधि और हालातकी क्या मजाल है कि सदाचारीको दबा सकें, दुर्बटनाओं और अनाचारियोंका क्या मजाल है कि सदाचारीका मुख मोड़ सकें । चाहे पर्वत उच्चट-उच्चट कर उससे टकरायें, चाहे ब्रह्माण्ड उसपर टूट पड़े, चाहे सारी सृष्टि उससे रुठ जाये, चाहे श्री, किंवा लक्ष्मी सदा के लिये उससे रुष्ट हो जाय, चाहे विधि उसके विरुद्ध हो जाय, चाहे अभिकी ज्वालाएँ उसे जलाने लग जायें, चाहे अपने-पराये सब उससे मुख मोड़कर चले जायें, चाहे चक्रवर्तीं सम्राट् उसका शत्रु बन जाय; पर सदाचारका धनी नहीं दबेगा, कदापि नहीं दबेगा, नहीं ठिठकेगा, नहीं शिखकेगा, वह ऋतके पथसे अपना पग न छाँटायेगा ।

ऋतके गोपाकी महिमा और सुनिये । ऋतका रक्षक सुकर्मा होता है । सदाचारी निःसंदेह सुकर्मा होता है । सदाचारी सदा सुकर्म ही करता है । सदाचार और सुकर्मका जोड़ा है । ये दोनों सदा एक दूसरेके साथ रहते हैं । जहाँ सदाचार होगा, वहाँ सुकर्म अवश्य होगा । सुकर्म वहीं होगा, जहाँ सदाचार होगा । सदाचारके साथ कुर्कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है । कुर्कर्म तो दुराचारका बन्धु है । कुर्कर्म दुराचारका सहगामी है अथवा यों कहिये—कुर्कर्म दुराचारकी छाया है और सुकर्म सदाचारकी । सदाचारी प्राण त्याग देगा, किंतु सुकर्मका त्याग नहीं करेगा । सदाचारी सर्वनाशकी ज्वालामें जल जायगा, किंतु कुर्कर्मका आश्रय लेकर अपनी रक्षा कदापि नहीं करेगा । सदाचारिणी हँसते-हँसते चितामें जीवित जल जायेगी, किंतु अपावन कुर्कर्मको अपने जीवनका स्पर्शतक न करने देगी । सदाचारी अपने बाल-बच्चोंसहित भूखा मरना स्वीकार करेगा, पर कुर्कर्मसे पेट भरनेका सम्पर्में भी विचार न करेगा । सदाचारी सानन्द भूत्युका आलिङ्गन कर लेगा, पर कुर्कर्मको निकट न आने देगा । सदाचारी पराजय स्वीकार करेगा, पर कुर्कर्मसे विजय-सम्पादन कदापि न करेगा । सदाचारिणी नंगे गात रहेगी, किंतु कुर्कर्मद्वारा अपने शरीरको भूषित कदापि न करेगी । इस छोटी-सी सूक्ष्मिये कितनी सुन्दर और कैसी दिव्य शिक्षा अन्तर्निहित है कि ‘ऋतस्य गोपा-सुकर्तुः’—ऋतका रक्षक सुकर्म ही करेगा !

ऋतका रक्षक न देवेगा, न कुर्कर्म करेगा; क्योंकि उसने हृदयके भीतर तीनों पवित्रताओंको धारण वर लिया है । हृदयमें धारणीय तीन पवित्रताएँ हैं—आत्माकी पवित्रता, चित्तकी पवित्रता, मनकी पवित्रता । कुर्कर्म कोई तब करता है, जब उसके मन-चित्त और आत्मामें मलिनता होती है । कोई किसीसे तभी दबता है, जब वह कुर्कर्म करता है । मनुष्य सुकर्म कव-

करता है ?—जब उसका मन-चित्त और आत्मा निर्मल होना है । मनुष्य अदम्य और निर्मय कव रहता है ?—जब वह सुकर्म-ही-सुकर्म करता है । कुर्कर्म दबता है । कुर्कर्मको दबना पड़ता है । सुकर्म किसीसे क्यों दवेगा ? जब मानव अपने मन, चित्त और आत्मासे नितान्त पवित्र हो जाता है, तब उसके विचार भी निर्मल हो जाते हैं । विचारोंके निर्मल हो जानेपर वह सदा सुकर्म ही करता है । सुकर्मसे अदम्यता और निर्भयताकी स्थापना होती है ।

अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता—इन तीनोंके संयोग-का ही नाम ऋत अथवा सदाचार है । सदाचारके तीन आधार हैं, अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता । सदाचारीके तीन लक्षण हैं, सदाचारी अदम्य होगा, सुकर्म होगा, पवित्र होगा । पवित्रता, सुकर्म और अदम्यता सदाचारके अनिवार्य और सुसंगत अङ्ग हैं । यदि किसीमें इन तीनों अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका भी अभाव है तो समझ लेना चाहिये कि वह सदाचारी नहीं है । ऋतका रक्षक, सदाचारका प्रहरी समझता है कि वह सर्वज्ञ प्रभु समस्त मुक्तोंको, अखिल लोकोंको, अखिल लोकोंमें सकल धार्मों और स्थानों-को सर्वतः देख रहा है । किसी भी लोक और स्थानमें जब उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानकी दृष्टि उसे देख रही है, तब वह कहीं किसीसे क्यों दबने और डरने लगेगा ? वह सदाचारका पुतला लावारिश तथा अनाथ नहीं है, फिर वह अदम्य क्यों न हो । फिर उसे किसी प्रकारका भय या किसी प्रकारकी शङ्का हो ही कैसे सकती है ? ऋत-का प्रेमी जब यह विश्वास रखता है कि वह सर्वदा उसके मनके संकल्प और उसके मस्तिष्कके विचारतकको जान लेता है तो उस सर्वज्ञकी सुदृष्टिमें वह किसी कुर्कर्मका विचारतक नहीं कर सकता । जब वह उस सर्वज्ञकी सर्वव्यापिनी सर्वज्ञतामें निष्ठा रखता है तो उसके हृदयमें और उसके जीवनमें अपवित्रता कैसे ठहर सकती है ?

ईश्वरकी सर्वव्यापि और सर्वज्ञताकी भावना ही सदाचारका उद्गम है। जिस मनुष्यको इस बातमें विश्वास नहीं है कि वह न्यायकारी प्रभु सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है तथा वह अन्तर्यामी रूपसे सबको देख रहा है, वह मनुष्य सदाचारी नहीं हो सकता। जिसे उस सर्वज्ञके न्याय-नियममें विश्वास है, वही सदाचारी होगा। सदाचारके पुजारीको विश्वास होता है कि सच्ची, स्थायी और शाश्वत विजय सदाचारकी ही होती है। वह सदाचार-सम्बन्धी सारे त्रितोको धारण किये रहता है तथा सर्वदा अद्यताका व्रत लिये रहता है। वह जानता है कि अद्यताके विना सदाचारके व्रतका पालन नहीं हो सकता। सदाचारकी रक्षामें पदे-पदे आपदाओंका सामुद्ध्य करना होगा। इस कारण उसने संमारसागरमें अद्यताके साथ जूझनेका व्रत ले लिया है। उसने सदा सुकर्म करनेका व्रत धारण कर लिया है; क्योंकि वह जानता है कि यदि उसने भूलकर भी कभी कोई कुकर्म किया तो उसके सदाचारको बड़ा लग जायगा।

उसने पवित्रताका व्रत लिया है; क्योंकि वह जानता है कि पवित्रताके विना सदाचारके साथ एक क्षण भी न निभ सकेगी। वह जानता है कि अपवित्रताका जरा-सा भी स्पर्श उसके सदाचारके भव्य-भवनको क्षण-भरमें धड़ामसे ढाह देगा। इसीसे उसने व्रत लिया है कि वह अपने हृदयको, मनको, चित्तको सदा पवित्र रखेगा। उसने व्रत लिया है कि वह अपने विचार, वचन, व्यवहारको निरन्तर विशुद्ध रखेगा। उसने व्रत कर लिया है कि वह अपनी दृष्टि, श्रुति, संस्पर्शको नितान्त शुद्ध रखेगा।

सदाचारकी रक्षा सर्वोपरि और सर्वातिशय कठिन साधना है। जो इस साधनाको अपने जीवनकी साध बना लेता है, जो इस साधनामें संसिद्धि प्राप्त कर लेता है, वह सत्यको प्राप्त करता है, सत्यस्वरूपमें संस्थित होकर विश्वमें सत्य और सदाचारकी ज्योति जगमगाता है और शरीर त्यागनेपर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

अथर्ववेदमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी० लिट०)

भारतीय संस्कृति विश्ववन्दनीया है। यह प्रत्येक भारतीयके गौरवकी बात है कि वह उस संस्कृतिका अधिभाज्य अङ्ग माना जाता है, जिसे विश्वसंस्कृतियोंका मुकुटमणि कहा जाता है। इस संस्कृतिकी अनुपम विशेषताओंमें एक विशेषता सदाचार भी है। साधारणतः सदाचार दो शब्दोंसे बना है—सद्-आचार—‘सदाचार’। किंतु सदाचारका ‘अच्छा व्यवहार’ मात्र इतना अर्थ मनीषियोंको संतोषप्रद नहीं रहा; फलतः वेद-व्यासजीने विष्णुपुराणमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की—

साधवः क्षीणदोपास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यतु स सदाचार उच्यते ॥
(३ । ११ । ३)

‘दोपरहित साधुका वाचक है—सत् शब्द और उनका

आचरण है ‘सदाचार’।’ कामाचारमें सदाचार भाग जाता है—जैसे—

सदाचार जप जोग विराग। सभय विदेक कक्षु सतु भाग॥

(मानस १ । ८३ । ४)

किसी देशकी उन्नति वहाँके सदाचारसे जानी जाती है। समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें सदाचारकी महत्ता है। सदाचारी व्यक्ति विद्वान् हो तो महान् है। पर वह विद्वान् न भी हो, किंतु सदाचारी हो तो भी वह सम्मान्य होता है। सदाचार केवल लोककी वस्तुमात्र है, ऐसी बात नहीं, अपितु यह वेदवर्णित महिमामण्डित है—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले नदूकम्।

(अथर्वदे १ । ३४ । २)

इसमें प्रार्थना की गयी है कि मेरी जिह्वामें मधुरता हो और जिह्वाके मूलमें अर्थात् मानसमें मधुर रसका संनिवेश

हो ।' विचार करके देखा जाय तो वह सुस्पष्ट है कि सदाचारीकी जिह्वामें माधुर्य रहता है और वह मनसे भी मधुर होता है । जिह्वाद्वारा ही संसारमें संधि-विग्रह होते रहे हैं । जिह्वाकी मधुरतापर कूरेंको भी क्रता त्यागकर साधुओंका मार्ग प्रहण करना पड़ा है । जो आर्य है, वह यही कामना करता है कि मैं वाणीसे, मनसे मधुर बनूँ । मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपनेको सर्वप्रिय बनानेका प्रयत्न करे । वरमें आना या जाना, वार्तालाप करना या नेत्रोद्वारा किसीको देखना—सब कुछ मधुर हो । देखनेमें कुछ लोग मधुर हो सकते हैं; पर उनका वार्तालाप या अवलोकन मधुर नहीं होता । गृहस्थ व्यक्तिको शिक्षा देते हुए वेदभगवान्‌का कथन है कि वह पल्लीको ऐसी प्रेमभरी दृष्टिसे देखे कि वह प्रेमकी मधुरताके बश हो स्वप्नमें भी किसी परपुरुषकी कामना न करे—

परि त्वा परित्पुनेषुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥

(अथर्व० १ । ३४ । ५)

'हम परस्पर एक दूसरेके प्रति एक हृदय, एकचित्त तथा द्वेषरहित होकर रहें । एक दूसरेके प्रति ऐसा प्रेम करें, जैसे गाय बछड़ेसे प्रेम करती है । हम तुम्हे ईखसे घेरते हैं, इससे तुम्हारा व्यवहार मधुर एवं द्वेषरहित हो । पुत्रको चाहिये कि वह सर्वदा पिताकी आज्ञाको माने । * पति-पल्ली परस्पर शान्तिदायक वचनोका प्रयोग करें । भ्राता भ्रातासे द्वेष न करें । वहनें भी वहनोंसे स्नेह करें तथा परस्पर कल्याण और सुखदायी वचनोंका प्रयोग करें । समस्त प्रजा भी आपसमें मनोहर वचनोंको व्यवहारमें लायें ।' उक्त एक कथनको भी आज व्यवहारमें लाया जाय तो देशकी अनेक समस्याओंका न केवल समाधानमात्र ही हो जाय, अपितु उनकी उत्पत्तिका स्रोत भी नष्ट हो जाय—वाचा वदामि मधुमद्र भूयासं मधुसंदृशः । (अथर्व० १ । ३४ । ३ ।)

(इस ऋचाको ऋग्वेदमें १० । २४ । ६में भी स्त्वपान्तरसे देखा जा सकता है ।)

पापका परित्याग

वेद भगवान्‌का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य संकल्प करे कि मैं कभी दूसरोंको कष्ट देनेवाले कार्य न करूँ । वह पापोंसे मुक्ति-हेतु ईश्वरकी उपासना भी करे— व्यूहं सर्वेण पापमना विग्रहमेण समायुषा

(अथर्व० ३ । ३१ । ११)

पापका अर्थ मानसिक बुराइयाँ हैं । अतः मनसे शुद्ध रहना बहुत बड़ा स्वास्थ्यवर्धक-(सदाचार-) प्रयोग है । वि शकः पापकृत्यया' (अथर्व० ३ । ३१ । २ ।) शक परमात्मा पापोंसे दूर रखे ।

वेदभगवान्‌का कथन है कि सदाचारी पुरुषोंको सर्वदा सहृदय होना चाहिये । सदाचारके कतिपय उपदेश इस प्रकार हैं—(१) मिलकर एकचित्त होकर परस्पर प्रेमसे रहो । (२) किसीसे द्वेष न करो, किसीका अहितचिन्तन न करो । (३) जल, अन्न, बन्धन समान भावमें हो । (४) द्रव्यमें सबका समान भाग करो । (५) एक-जैसा भोजन करो । (६) सायंकाल-प्रातःकाल निर्मलचित्त बनो । (७) ईश्वरसे प्रार्थना करो, वह पापकी ओर न जाने दे । (८) उधोग करो, प्राणवान् बनो । मृत्युके ग्रास मत बनो और (९) रोगोंको संयमसे दूर करो अथवा ओषधियोंकी सहायता लो—।

उदायुपा समायुपोदोपधीनां रसेन

(अथर्व० ३ । ३१ । १०)

(१०) सब प्रकारसे उच्चतिको प्राप्त करो ।

'उदस्यामामृता वयम्' (अ० ३ । ३१ । ११ ।)

(११) गृहस्थाश्रम-यज्ञ अन्य यज्ञोंसे महान् यज्ञ है, इसका सावधानीसे प्रयोग करो—

'एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो' (अ०४ । ३४ । ५ ।)

(१२) दान करो, आनन्दमें रहो, सद्-आचरण करो ।

इस प्रकार सदाचारकी शिक्षाओंसे वेद कल्याणका मार्ग दिखला रहे हैं ।

* अनुश्रुतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ (अथर्व० ३ । ३० । २)

† मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वया । (वही ३ । २० । ३ ।)

उपनिषदोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, शास्त्री, एम्० ओ० एल्०)

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सदाचारका 'सत्' शब्द ब्रह्म, सङ्घाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ, तप एवं दानका वाचक है। इनकी सिद्धि अथवा प्राप्तिके लिये किया गया धर्म भी 'सत्' शब्द द्वारा उक्त या अभिव्यक्त होता है। (१७ । २३-२७ ।) इस प्रकार सद् ब्रह्मकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर, इन्द्रियौं, वाणी, मन, हृदय एवं बुद्धिद्वारा की गयी प्रत्येक भली चेष्टा एवं भाव सदाचार हैं। शास्त्रोंमें ब्रह्मको 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इनमें 'सत्' शब्द ब्रह्मके सत्यमें प्रतिष्ठित स्वरूपका निर्देशक है। इस शुद्ध सत्तावान्, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही वेद शास्त्रोंका ज्ञान, तप एवं ब्रह्मचर्यादि सदाचारका पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रह्मोमित्येतत् ॥
(कठोप० १ । २ । १५)

उपनिषदोंका कहना है कि जो दुश्चरित्रि हैं, जिनका मन अशान्त और विक्षिप्त है, वे प्रज्ञान द्वारा भी ब्रह्मको नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसे लोगोंको बार-बार इस संसारमें आना पड़ता है—

नाविरतो दुश्चरिताचाशान्तो नास्तमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेन्नमाप्नुयात् ॥
(कठ० १ । २ । २४, १ । ३ । ७ आदि)
खदारीरे खर्यं उद्योतिः खरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाद्वृताः ॥
(पशुपतोपनिषद्, उ० का० ३३)

शास्त्रोंद्वारा प्रनिपादित स्वाच्छरण एवं भगवन्दरणोंकी पूजा तथा भक्ति पवित्र करनेवाली है और सभी प्रकारके पापोंका नाश करनेवाली है—

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमराति तरेम ॥
(महानारायणोप० १ । ५१, तैत्तिरीय० वा० ३ । १२ । ३ ।)

सामान्यरूपसे 'पातञ्जल्योगसूत्र'में प्रोक्त पाँच यम एवं पाँच नियमोंमें सभी प्रकारके सदाचारका अन्तर्भव हो जाता है, किर भी अविक स्पष्टता एवं मुमुक्षुके लिये पालनीय व्रतोंकी निश्चितताके लिये शापिडल्पादि उपनिषदोंमें इनकी संख्या दस-दस बतायी गयी है। इनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धृति, मिताहार और शुचिता—ये दस यम हैं तथा तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, शास्त्रीय सिद्धान्तका श्रवण, लज्जा, मति, जप एवं व्रत—ये दस नियम। (शापिडल्योपनिषद् १ । २ ।) 'मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद्' (२ । १ । ३)के अनुसार शीतोष्णाहार-निद्रापर विजय, सर्वदा शान्ति, निश्चलता तथा विषये-नियन्त्रित्रह—ये यम हैं तथा गुरुमक्ति, सत्यमार्गनुरक्ति, सुखागतवस्तु (ब्रह्म)का अनुभव एवं उस अनुभवसे प्राप्त तुष्टि, निःसङ्गता, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, कर्मफलकी अभिलाषाका न होना तथा वैराग्य—ये नियम हैं। (१ । १ । ४ ।) 'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' (२८, २९)में देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको 'यम' तथा परतत्त्वमें अनुरागको 'नियम' बताया है।

सदाचारके रूपमें पालनीय धर्मोंका वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था, जाति, लिङ्ग आदि भेदसे बहुत प्रकारसे विस्तार हो सकता है, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी सदाचरण सत्यमूलक है। सत्यनिष्ठा, सत्यव्रत एवं सत्याचरणके अभावमें सभी व्रत, कर्म एवं आचरण निष्फल हो जाते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'के अनुसार 'सत्य' ही ब्रह्म है, सत्य ही धर्म है। इस सत्यधर्मसे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है—

सत्यं है व ब्रह्म। (४।१।१)
धर्मात् परतरं नास्ति यो वै धर्मः सत्यं वै तत्।
(१४।१४)

जैसे भूमिमें गड़ी या दवी हुई निविका ज्ञान उक्त भू-प्रदेशके ऊपर धूमने-फिरनेवाले व्यक्तिको नहीं होता, इसी प्रकार नित्यमें सुषुप्त-दशामें ब्रह्मके समीप जानेवाली प्रजाको भी अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे वास करनेवाले ब्रह्मका ज्ञान असत्यसे आच्छादित होनेके कारण नहीं होता—

एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकं न चिन्दन्त्यनुतेन हि प्रत्यूढाः॥
(छान्दोग्योप० ८।३।२)

केनोपनिषद्-(४।८)का कहना है कि सत्य ब्रह्मविद्याका आयतन (गृह) है। सत्यमें ब्रह्मविद्या निवास करती है। मुण्डकोपनिषद्-(३।१।६) के अनुसार सदा सत्यकी ही जय होती है, झूठकी नहीं। देवयानका विस्तार सत्यके द्वारा ही हुआ है—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्थाविततो देवयानः॥
‘सत्य जीवनका मूल है, जीवनबृक्षको संवर्धित करनेवाला रस है। जो झूठ बोलता है, उसका जीवन समूल शुष्क हो जाता है’—

समूलो वा एष परिशुद्ध्यति योऽनृतमभिवदति॥
(प्रश्नोप० ६।१)

ब्रह्मलोक उन्हींको ग्रास होता है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है तथा जो तप एवं ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपेण पालन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं। सत्यधर्मका साक्षात्कार करनेके लिये प्रत्येक वस्तुमें निहित निर्भान्त शुद्ध सत्यको जानने एवं पानेके लिये बाहरसे आपाततः रमणीय एवं हितकर दिखायी देनेवाले पदार्थ-रूपोंके प्रति आसक्त तथा लोभका परित्याग अपरिहार्य है। रूपोंकी चकाचौंधसे रमणीयता एवं लोभ-तृष्णाके आकर्षणसे सत्यका मुख आच्छादित हो जाता है। इस

आच्छादनको दूर किये बिना सत्यका दर्शन कैसे हो सकता है? (ईशोप० १५।) सत्यमें वायु, सूर्यादि देवता प्रतिष्ठित हैं। सत्यमें ही वाणीकी प्रतिष्ठा है। सत्य मोक्षका परमसाधन है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि।
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति॥ (महानारायणोप० ७९।१।)

सत्यके अतिरिक्त तप, ब्रह्मचर्य (दम), ईश्वरार्पित कर्म, सम्यज्ञान, श्रद्धा एवं नित्योपासना (ध्यान) भी सुमुक्षुके द्वारा अनुष्ठानके योग्य प्रमुख सदाचार-त्रत हैं।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ (केनोप० ४।८)

परा, विद्या भी सत्य, तप, वेदान्तज्ञान, ब्रह्मचर्यादिसे ही प्राप्त होती है—

एवं रूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मर्मलभ्या वेदान्तवर्त्मना॥
(पाण्डुपत्तोप० ३० का० ३२)

छान्दोग्योपनिषद्-(३।१७।४)में तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचनको आत्मज्ञकी दक्षिणा बताया गया है। इस उपनिषद्‌के अनुसार धर्मरूपी वृक्षके तीन मुख्य स्कन्ध हैं। प्रथम स्कन्ध है—यज्ञ, अध्ययन एवं दान। द्वितीय स्कन्ध है—तप और तृतीय स्कन्ध है—नैषिक ब्रह्मचर्य। तपके सम्बन्धमें महानारायणोपनिषद्‌में एक स्थान (७८।२) पर अनशनको (उपवास अथवा धर्मानुष्ठानके लिये काय-क्लेशके सहनेको) तथा अन्यत्र बुद्धि एवं चित्तकी निर्मलता तथा संयमादिको भी तप कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।९) ‘यस्य ज्ञानमयं तपः’ कहकर सर्वदा चैतन्यभावसे युक्त रहने एवं सत्यज्ञानमें स्थितिको ‘तप’ स्वीकार करती है। महानारायणोपनिषद् परमात्म-ज्ञानके प्रति उपकारक होनेके कारण ऋत, सत्य, वेदज्ञान, प्रशान्तचित्तता,

शम, दम, दान, तप एवं ब्रह्मोपासनाको तपरूपमें स्वीकार करती है—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो
दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्युधः
सुव्यव्र्ह्णैतदुपास्वैतत्पः (१०।१)

तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि कुछ ऋषि अपनी अभिरुचि, संस्कार एवं अनुभवके आधारपर केवल एक ही गुणको तपरूपमें अपनाकर उसी गुणका जीवनमें सतत अभ्यास करनेपर वल देते हैं; यथा सत्यवादी 'राथीतर' सत्यको ही तप मानते हैं, तपोनिष्ठ पौरुषिष्ठि 'तप' पर ही वल देते हैं, मौदगल्यनाक स्वाध्याय-प्रवचनको ही तप मानते हैं। परंतु तैत्तिरीय उपनिषद् (९। १)के प्रवक्ताका मत यह है कि ऋत, सत्य, तप, दम, शम, यज्ञ एवं अग्निहोत्र, अतिथि-सेवा, मानवकल्याणके कर्म, संतान-पालन, वंशकी रक्षा एवं वृद्धि आदि सभी तपः-कर्मोंको करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचनका नित्य एवं नियमित अभ्यास करना चाहिये ।

तैत्तिरीय उपनिषद्-(१। ११)में स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए कहा गया है—'सत्य वोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद न कर। आचार्यके लिये अभीष्ट धन लाकर (उनकी आङ्गासे छीपरिप्रह कर और) संतान परम्पराका छेदन न कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्ममे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (धर्म, लोक एवं मोक्षके लिये उपयोगी) शुभकर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मों एवं सम्पदा-संग्रहसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू मातृदेव (माता ही जिसकी देवता है, ऐसा वने अर्थात् मातामें देवता-बुद्धि रखकर उसकी पूजा, सत्कार एवं देवा करे), पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, अतिथिदेव

हो । जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये—दूसरोंका नहीं। हमारे (हम गुरुजनोंके) जो शुभ आचरण हैं, तुमे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये—दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं ।

जो कोई (आचार्यादि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण) हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ग्राहण हैं, उनका आसनादि दानके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुसार (समाजमें अपनी शोभा, प्रतिष्ठाके लिये इष्टापूर्त कर्मोंके लिये भी) दान देना चाहिये। (इच्छा न होनेपर भी आग्रह एवं दवावपूर्वक माँगे जानेवाले दानमें अपनी मर्यादाकी रक्षा-हेतु) लज्जापूर्वक देना चाहिये। (राजा, राजकर्मचारी आदिको) भय मानते हुए देना चाहिये। संवित्—(मैत्री आदिके कार्यके निमित्तसे एवं वचनपूर्ति)के लिये देना चाहिये ।

यदि तुझे कर्म या आचारके विग्रहमें कोई संदेह उपस्थित हो तो वहाँ विचारशील, सावधान, कर्ममें नियुक्त, निष्पक्षपाती, अनुभवी, स्वतन्त्रचेता, मृदु, सरलमति धर्माभिलापी ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर। यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है, यह अनुशासन है, इसी प्रकार व्यक्तिको अपने जीवनको अनुशासित करना चाहिये तथा इन सब वातोंको भलीभाँति जानकर एवं इन्हें जीवनके आचरणमें लाकर आमसाधालाकारके लिये उपासनामें लग जाना चाहिये।' सदाचारके ये ही मूलमन्त्र हैं। इनको जीवनमें उतारना ही सिद्धि है ।

उपासनाके द्वारा पापका अपनोदन, अन्तःकरणकी शुद्धि एवं ब्रह्मकी प्राप्ति—ये तीनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं। मनुष्य दिवारात्रिमें, जाग्रत्-स्वप्न-सुपुत्रिकी दशाओंमें

देवगण, पितृगण, मनुष्य, अन्य प्राणियों तथा स्थान अपने प्रति भी अनेक पापकर्म करता है। उसे अहनिंश कृतपापका नाश करनेकी तथा अपनेको अधिकाधिक पवित्र बनानेकी आवश्यकता है। साधक सायं एवं प्रातःकी संघोपासना तथा गायत्रीजपके द्वारा दिवारात्रिकृत पापोंसे मुक्त हो जाता है—

यदह्ना कुरुते पापं तदह्नात् प्रतिमुच्यते ।
यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्मतिमुच्यते ।

(महानारायणोप० ३४।२)

संघोपासनाके अतिरिक्त मन्त्रविहित कर्म यज्ञ, नित्य एवं नैमित्तिक अग्निहोत्र, अतिथिसल्कार एवं वैश्वदेव यज्ञका नित्य अनुष्ठान भी अत्यन्तावश्यक है। ये पञ्चमहायज्ञ नित्य अनुष्ठान करनेपर पुण्यके जनक तो नहीं होते हैं, परंतु न करनेपर सात पीढ़ियोंका नाश कर देते हैं। अतिथिको वैश्वानर अग्निका रूप बताया गया है तथा उसे अर्थ-पाद्य देकर सन्तुष्ट करनेका संकेत दिया गया है। (कठोप० १।१।७।)

किसी भी गृहस्थके घरमें व्राह्मण अतिथिका विना भोजन किये रहना अत्यन्त अमङ्गलकारी है तथा उसकी आशा-अभिलाषा, इष्टापूर्तके पुण्यकर्म एवं पुत्र, पशु आदि सभीका नाश करनेवाला है—

आशाप्रतीक्ष्ये संगतःसून्तुतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूःश्च सर्वान् ।
एतद् वृडके पुरुपस्यात्परमेद्यस्तो
येस्यानश्नन् वसति व्राह्मणो गृहे ॥

(कठोप० १।१।८)

उपनिषदने यह भी संकेत दिया है कि मनुष्यकी प्रकृतिमें जिस दोषकी प्रधानता हो उसे दूर करनेके लिये अपनेमें उक्त दोषके विपरीत प्रकृतिके गुणको बढ़ानेका अभ्यास करना चाहिये। कामलिष्ठाप्रधान व्यक्तिको दम (संयम) का, क्रूर प्रकृतिवालेको 'दया'-व्यक्तिको दम (संयम) का, क्रूर प्रकृतिवालेको 'दया'-का एवं धनलोलुप व्यक्तिको 'दान' देनेका अभ्यास

करना चाहिये। इन तीनों प्रकारके व्यक्ति क्रमशः देव, असुर एवं मानवजातिकी प्रकृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात वृहदारप्यकोपनिषद्के पञ्चम अध्यायके खिलकाण्डमें वर्णित प्रजापतिद्वारा अपने पुत्रों—देव, असुर, मानवोंको केवल एकाक्षर 'द' के द्वारा उपदेश देनेकी लघु कथामें स्पष्ट रूपस्ते प्रतिपादित की गयी है। वस्तुतः दुर्गुणोंमें काम, क्षोध एवं लोभ सबसे अधिक प्रवल हैं। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता (१६।२१)में इन्हें नरकके तीन द्वार बताकर इन तीनोंको परित्याग देनेका उपदेश दिया गया है। ये सदाचारके भी शास्त्र हैं।

सदाचार एवं कदाचार व्यक्तिगत भी होता है एवं सामाजिक भी। व्यक्ति स्वतन्त्र ईकाई नहीं है, वह कर्म-रज्जुद्वारा अपनी वंशापरम्परा तथा समुदायसे बँधा हुआ है। अतएव वह वंश तथा समुदायमें किये गये पाप-पुण्यमें सहभागी होता है तथा अपने सुकर्म एवं दुष्कर्मसे अपनी आगली-पिछली पीढ़ीको तथा अपने समाजको भी प्रभावित करता है। अतएव शास्त्रोंमें पापी, अपराधी व्यक्तियोंकी संगति करनेका तथा उनका अक्ष ग्रहण करनेका निषेध मिलता है। व्यक्ति, कुल एवं समाजपर पड़नेवाले अनिष्टकर प्रभावके तारतम्यके अनुसार इन दोषोंकी महापातक एवं लघुपातकों रूपमें गणना की गयी है। महानारायणोपनिषद्के अनुसार स्वर्णकी चोरी, ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीसे व्यभिचार महापाप हैं तथा इन पातक कर्म करनेवालोंके साथ व्यवहार करनेवाला भी महापातकी है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्त्वप्यावसन्
ब्रह्महाश्चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमद्वाचावरः स्तैरिति ।
(५।१०।९)

इसी उपनिषद्के एक अन्य स्थल (१।६८)में शाश्वतिरुद्ध कार्य, ब्रह्मचर्यव्रतका भंग, चौर कर्म एवं भ्रूणहत्याको तथा अन्यत्र (६५।२) गौकी चोरी,

चोरके अचका प्रहण, एकोदिष्ट श्राद्धमें भोजन-प्रहणको गम्भीर पाप माना गया है।

सत्युग, त्रेता आदिमें समाज सदाचारकी दृष्टिसे अत्यन्त उन्नत था। राजा प्रजाहितकी दृष्टिसे राज्यकी व्यवस्था इस प्रकारसे करते थे कि प्रजा खबरणश्रमधर्मका निष्ठासे पालन करनेवाली एवं विद्या तथा सदाचारसे सम्पन्न होती थी। केक्य देशके राजा अश्वपति वैश्वानर-विद्याके ज्ञाता थे। इस विद्याको सीखनेके लिये आये हुए ऋषियोंको उन्होंने स्पष्टरूपसे कहा था कि मेरे राज्यमें एक भी चोर, मधप, कृपण, अविद्वान्, अनाहिताग्नि (यज्ञ-होम न करनेवाला) एवं व्यभिचारी पुरुष या छोटी नहीं है—

न मे स्तेनो जनपदे न कद्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नयज्ञा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(शान्दो० ५ । ११ । ५)

आजके युगमें ऐसे विद्या, धर्म एवं सदाचारसे सम्पन्न राज्यकी कल्पना भी अविश्वसनीय लगती है।

किंतु, सदाचारसम्बन्ध भारत एक दिन इसी वारण 'भा-रत' था। उपनिषदें कर्मफलमें विश्वास करती हैं तथा यह मानती हैं कि मनुष्य गुभाचरणके द्वाराशीघ्र ही उत्तम योनिमें तथा कुत्सित आचरणके द्वारा निष्ठित योनिमें जन्म प्रहण करता है। मनुष्यकी ऊर्ध्वगति या अयोगति उसके ही सुझत एवं दुष्टतपर निर्भर है। (शान्दो० ५ । १० । १७ ।)

महानारायणोपनिषद्का कहना है कि जैसे पुण्यित वृक्षकी सुगन्धका दूरसे ही पता लग जाता है, इसी प्रकार पुण्यकर्मका भी दूरसे ही उसकी सल्कीर्तिकी गन्धद्वारा ज्ञान हो जाता है—

यथा वृक्षस्य सम्पुण्यितस्य दूरादवगन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति ।

करुणामय भगवान् ऐसी कृपा करें कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी अपनी मानव-प्रजाके सदाचार एवं सुकर्मकी पुण्यान्धसे सदैव सुवासित होती रहे।

सत्कर्मपर भी गर्व नहीं—साधुताकी कसौटी

देवराज इन्द्र अपनी देवसभामें श्रेणिक नामके राजाके साधु-स्वभावकी प्रशंसा कर रहे थे। उस प्रशंसाको सुनकर एक देवताके मनमें राजाकी परीक्षा लेनेकी इच्छा हुई। देवता पृथ्वीपर आये और राजा धाहरसे घूमकर, जिस मार्गसे नगरमें आ रहे थे, उस मार्गमें साधुका वेश घनाकर एक तालाबपर बैठकर मछली मारनेका अभिनय करने लगे।

राजा उधरसे निकले तो साधुको यह चिपरीत आचरण करते देखकर बोले—‘अरे। आप यह क्या अपकर्म कर रहे हैं?’ साधुने कहा—‘राजन् ! मैं धर्म-अधर्मकी वात नहीं जानता। मछली मारकर उन्हें बेचूँगा और प्राप्त धनसे जाहोंके लिये एक कम्बल खरीदूँगा।’ आप कोई जन्म-मरणके चक्रमें भटकनेवाले प्राणियोंमेंसे ही जान पढ़ते हैं—यह कहकर राजा अपने मार्गसे चले गये।

देवता स्वर्ग लौट आये। पूछतेर उन्होंने देवराजसे कहा—‘सचमुच वह राजा साधु है। समत्वमें उसकी बुद्धि स्थिर है। पापी, असदाचारकी निंदा करना तथा उनसे घृणा करना भी उसने छोड़ दिया है; इसका अर्थ ही है कि उसे अपने सत्कर्मपर गर्व नहीं है।’

क्रियाहीनं कुसाधुं च द्व्या चित्ते न यश्लेत् ।
तेषां दृढं तु सम्यक्त्वं धर्मे श्रेणिकमूपवत् ॥

उपनिषदोंमें सदाचार-सूत्र

(लेखक—श्रीअनिष्टाचार्य वैकटाचार्यजी महाराज तर्कशिरोमणि)

'उपनिषद् केवल आत्ममूलक परलोक शास्त्र ही नहीं है' प्रत्युत इनमें निर्दिष्ट सदाचारोंके पालनसे हम ऐह-लौकिक जीवनमें भी—अपने व्यक्तिगत जीवन, कुटुम्ब-जीवन, समाज-जीवन एवं राष्ट्रजीवनमें भी महान् उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। औपनिषद् शिक्षासूत्रके नियन्त्रणमें रहता हुआ मानव अधिकार-योग्यतानुसार अपने लक्ष्यमें पहुँच सकता है। उसके लिये उपनिषदोंमें सदाचार-सम्बन्धी आदेश इस प्रकार दिये गये हैं—

- (१) मातृदेवो भव—माताके भक्त बनो ।
- (२) पितृदेवो भव—पिताके भक्त बनो ।
- (३) आचार्यदेवो भव—आचार्यके भक्त बनो ।
- (४) यानि अनवद्यानि कर्मणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि—सबके सद्गुणोंका ही ग्रहण करो । दुर्गुणोंका नहीं। (५) अतिथिदेवो भव—अतिथियोंका सल्कार करो । (६) वृद्धसेवया विश्वानम्—वृद्धोंकी सेवासे दिव्य ज्ञान होता है । (७) सत्यं वद—सदा सत्य भाषण करो । (८) धर्मं चर—धर्मका आचरण करो । (९) मा हिस्यात् सर्वाभूतानि—किसीकी हिंसा मत करो, अर्थात् किसीको कष्ट न दो । (१०) देवकार्यात् प्रमदितव्यम्—देवकार्यको कभी विस्तृत मत करो । (११) मा गृथः कस्य स्विद् धनम्—किसीकी सम्पत्तिपर नीयत मत विगड़ो । (१२) कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतःसमाः—कार्य करते हुए सौ वर्पोंतक जीवित रहनेकी इच्छा रखो ।

(१३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः—स्वाध्यायसे प्रमाद न करो । (१४) भूत्यै न प्रमदितव्यम्—सम्पत्तिका दुरुपयोग न करो । (१५) नैषा तर्केण मतिरापनेया—कुतक्षिरारा वेद-पुराणोंका खण्डन मत करो ।

(१६) असन्नेव स भवति असद्वैतेति वेद चेत्—जो ईश्वरको नहीं जानता-मानता, वह नष्ट हो जाता है । (१७) अस्तीत्येवोपलब्धव्यः—ईश्वर सदा सर्वत्र है, ऐसा सोचकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये । (१८) ऋतून् न निन्द्यात् तद्वत्तम्—किसी भी ऋतुकी निन्दा न करे, यह व्रत है । (१९) ब्राह्मणात् निन्द्यात् तद् व्रतम्—ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, यह व्रत है । (२०) अनन्त न निन्द्यात् तद् व्रतम्—अननकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, यह व्रत है । (२१) स्त्रीणां भूपणं लज्जा—स्त्रियोंकी शोभा लज्जा है । (२२) विग्राणां भूपणं वेदः—त्रावणोंका भूपण (सौन्दर्य) वेद है । (२३) सर्वस्य भूपणं धर्मः—सबका भूपण धर्म है । (२४) सुखस्य मूलं धर्मः—सुखका मूल धर्म है । (२५) धर्मस्य मूलमर्थः—यज्ञ, दान, इष्ट, आपूर्त आदि धर्मका मूल धन है । (२६) इन्द्रिय-जयस्य मूलं विनयः—इन्द्रियोंकी जयका मूल विनय है । (२७) विनयस्य मूलं वृद्धसेवा—विनयका मूल वृद्धोंकी सेवा है । (२८) विद्या पुनः सर्वमित्याह गुरुः—विद्या ही सर्वकुछ है, ऐसा देवाचार्य वृहस्पतिका मत है ।

सदाचारकी रक्षा सदा करनी चाहिये

श्रेष्ठ पुरुष पापाचारी (दूसरोंका अहित करनेवाले) प्राणियोंके पापकर्मोंका प्रतिसरण नहीं करते—अर्थात् घदलेमें उनके साथ वैसा वर्ताव नहीं करते । वे उत्तम सदाचारसे विभूषित होते हैं। सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूपण है; अतः पेसे उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये ।

—भगवती सीता (वाल्मीकि० रा० ६ । ११३ । ४३)

ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थ और सदाचार

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

आपस्तम्ब आदिके ‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’
 (आपस्तम्बश्रौतमूल २४ । १ । ३१, सत्यापादश्रौत ० १ ।
 १ । ७, शु० य० प्रा० प्र० १ । २ आदिके) इस
 सिद्धान्तानुसार वेदोंके मन्त्र और ब्राह्मण—ये दो विभाग हैं ।
 वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ और कर्मकाण्डके आधार-स्तम्भ हैं ।
 किसी भी धर्मकी विशेषता कर्मकाण्डका क्रियात्मक रूप ही
 होता है । मन्त्र और ब्राह्मण एक दूसरेके पूरक होते हैं—
 ‘मन्त्रब्राह्मणात्मकोवेदः’ के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण
 मिलकर वेद होते हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें विधि, अर्थवाद और
 उपनिषद्—ये तीन खण्ड होते हैं । विधिभागमें कर्मका
 विधानात्मक विषय है, जब कि अर्थवादमें प्ररोचनात्मक
 और उपनिषद्में तत्त्वाभिव्यक्तिका प्रकरण प्रतिपादित किया
 गया है । ब्राह्मण-ग्रन्थ संस्कृति और सदाचारके मूलतत्त्व
 माने गये हैं । मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अलग-अलग
 ११३० अनुवृत्तियोंका पता चलता है, जिनमें आज
 मन्त्रानुवृत्तिकी केवल ११ संहिताएँ और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके
 १८ अनुग्रन्थ ही उपलब्ध हैं । इन ग्रन्थोंमें सदाचार और
 संस्कृतिके भी अनेक विषय हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मुख्यतः
 यज्ञकर्मकी महत्त्वाका प्रतिपादन हुआ है । ‘यज्ञो वै
 श्रेष्ठतमं कर्म’ (शतपथब्रा० १ । ७ । १ । ५) के अनुसार
 यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है और यही सदाचार है । जो कुछ
 संसारमें कर्म हो रहा है, उसका उत्तमांश यज्ञ ही है ।
 यज्ञसे मानव-कल्याण होता है—पाप्मानं ह्येष हन्ति
 यो यज्ञते (पठ्ठिंशब्रा० ३ । १ । ३)

सर्वस्यात् पाप्मानं निर्मुच्यते

य एवं विद्वानश्चिह्नोत्रं युहोति

(शतपथब्रा० २ । २ । ३ । ६)

सर्वो वै पापकूल्यां सर्वो ब्रह्महत्यामपमृजन्ति

योऽश्वमेधेन यज्ञते (शतपथब्रा० १३ । ५ । ४ । १)

‘यज्ञ करनेवाला पापका विनाश करता है,
 अग्निहोत्र यज्ञ करनेवाला पापोंसे मुक्त हो जाता है और
 जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह पाप और ब्रह्महत्यासे भी
 मुक्त हो जाता है । ‘पाप’ अर्थात् दुरे कर्म न करना
 ही सदाचार है—

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं चदति

(शतपथब्रा० ३ । १ । ३ । १८)

झूठ बोलनेवाल्को अपवित्र कहा गया है । ब्राह्मण-
 ग्रन्थोंमें सत्य-भाषणपर बड़ा जोर दिया गया है । सत्य
 बोलना, सत्य संकल्पमें लीन रहना, सत्य-कर्म करना
 ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उद्देश्य हैं—

एतद्वाचशिछ्द्रं यदनृतम् । (ताण्डवब्रा० ८ । ६ । १३)

असत्य भाषण करनेवालेका तेज नष्ट हो जाता है ।
 सत्यवादको अजेय माना गया है । द्वेष करनेवाला भी
 पापी माना गया है । चोरी करना, हत्या करना, डाका
 डालना आदि-आदि दुष्कर्मोंकी श्रेणीमें गिनाये गये हैं और
 अभिमानको पतनका द्वार कहा गया है—

तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ।

(शतपथब्रा० ५ । १ । १ । १)

ब्राह्मणग्रन्थ मानव-जीवनके लिये बड़े ही उपादेय हैं ।
 सदाचारके जो उपदेश इन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, वे
 संसारके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वथा अप्राप्य हैं । वस्तुतः
 ब्राह्मण-ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके आधार और ज्ञानके
 अथाह सागर हैं । सदाचार-सम्बन्धी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म
 विचारोंका प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है ।

आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी ही भाँति आरण्यकोंकी भी मान्यता
 है । ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंका अन्योन्य-सम्बन्ध दोनों
 एक दूसरेके पूरक हैं ।



आश्वसीथ सदाचार

बौधायनधर्मसूत्र-(३ । ७)में आरण्यक-ग्रन्थोंको ब्राह्मण-ग्रन्थ भी कहा गया है । उदाहरणार्थ काष्ठ माध्यंदिन शतपथब्राह्मण और वृहदारण्यकोपनिषद् । इसमें उपनिषद्, आरण्यक तथा ब्राह्मण तीनों सम्मिलित हैं । आरण्यक-ग्रन्थोंमें रहस्यानुभूतिका विशेष प्रतिपादन किया गया है । इसीलिये इन्हें रहस्य-ग्रन्थोंकी भी संज्ञा दी जाती है । बानप्रस्थावस्थामें घोर निर्जन जंगलोंमें निवास करनेवाले ऋषि-मुनियोंने जिसका गुरुओंसे अव्ययन किया था और अव्याख्यानका संग्रह जिन ग्रन्थोंमें किया, वे ही आरण्यक-ग्रन्थ हैं । मुख्यतः वनमें पढ़ाये जाने योग्य होनेसे उनका नाम आरण्यक हुआ—‘आरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते ।’ जिस प्रकार गृहस्य-जीवनके कार्योंका विश्लेषण ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें है, उसी प्रकार बानप्रस्थ-आश्रमवासियोंके लिये यज्ञ, महाव्रत, सत्र आदिका सूक्ष्म विश्लेषण भी है ।

इन ग्रन्थोंमें वर्णाश्रमका भी पूर्ण विकास संष्ट द्वारा है । यज्ञानुभूतिकी दर्शनिक व्याख्या आरण्यकोंमें पायी जाती है । आरण्यकोंमें सकाम कर्मके साथ ही कर्मफलके प्रति श्रद्धाके भावका अभाव है । खर्गक्षय होनेके कारण सत्, चित्, आनन्दका मूल स्रोत कर्म-साधनामें नहीं है, वल्कि ज्ञान-मार्ग ही उसका एकमात्र साधन माना गया है । आरण्यकोंमें अङ्गुरित होकर ज्ञानकर्मका सर्वोच्च सिद्धान्त उपनिषदोंमें पल्लवित और पुष्पित हुआ है, जो सदाचारका आवारभूत तत्त्व है ।

सदाचारका जो रहस्यात्मक विश्लेषण आरण्यकोंमें मिलता है, वह सर्वथा मौलिक और चिन्तनीय है । ब्राह्मणग्रन्थोंकी तरह आरण्यकोंकी भी संख्या १, १३० ही आनुमानित है, किंतु वर्तमान समयमें थोड़ेसे ही आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक तथा कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक अधिक प्रसिद्ध हैं । वृहदारण्यकोपनिषद्में संन्याससम्बन्धी सदाचारका महत्वपूर्ण वर्णन है—

एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव ग्रन्थाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रवजन्ति । एतद्द स्म वै तत्पूर्वे

विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते । किं प्रजाया करिष्यामः येषां नोऽयमात्मायं लोकः । (४ । ४ । २२)

‘आत्माको जान लेनेपर साधक मुक्त हो जाता है । ब्रह्मलोककी कामना करनेवाले संन्यास-मार्गपर आते हैं । प्राचीन विद्वान् प्रजाकी इच्छा नहीं करते और कहते हैं कि आत्मा और लोक ही उन्हे इष्ट हैं । सदाचारकी इससे बढ़कर दूसरी कोई युक्ति नहीं है । यह आत्म-संयमका सुन्दर संकेत है, यद्यपि आजका मानव सदाचारकी इन अलौकिक अनुभूतियोंसे नितान्त अनभिज्ञ हो गया है ।

इस तरह ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंमें सदाचारका चूडान्त विकास हुआ है । लौकिकतासे परे जो आचरण होता है, वही सदाचार है । यह सदाचार आत्म-कल्याणका एक प्रशस्त मार्ग है, जिसका अनुगमन करनेपर मानव लौकिकतासे त्राण पा जाता है । सदाचारके अलौकिक सूत्रोंसे वेदका भण्डार भरा हुआ है । ‘आचार्यदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव’ आदि सदाचारकी सूक्तियोंके सिवा ध्यानावस्थित होकर ऋषियोंने जिन मूलोंका विन्यास किया है, वे आदर्श ही नहीं, चिन्तनीय एवं अनुकरणीय हैं और ये ही हैं—नासदीयसूत्र, दानसूत्र, श्रद्धासूत्र आदि सभ्याचरणके मूल स्तम्भ । पुरुषसूत्र इन सबसे महत्वपूर्ण है ।

ऋग्वेदमें—‘उत देव उत हितं देवा उत्तमथा पुनः’ (१० । १३७ । १) ‘देवो ! मुझ पतितको उठाओ,’ ‘एनो मा निमाम’ (१० । १२८ । ४) मै पापोंसे लिस न हूँ । क्योंकि ‘ऋतस्य पन्था न तरति दुष्टतः’ (९ । ७३ । ६) दुष्टर्मा व्यक्ति सत्यका पथ पर नहीं कर सकते । अतः ‘स्वस्ति पन्थामनुचरेम’ (५ । ५१ । १५) हम कल्याणकारी पथके पथिक हों इत्यादि ।

यजुर्वेदमें—ऋतस्य पन्था प्रेत (७ । ४५)-सत्यके पथपर चलो, ‘इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि (१ । ५)

मैं असत्यसे बचकर सत्यका अनुगामी बनूँ। 'मित्रस्य
चक्षुपा समीक्षामहे' (वाजस० ३६ । १८) हमसब
आपसमें मित्रकी दृष्टिसे देखें, इत्यादि सदाचारकी अमूल्य
सूक्तियाँ हमें सदाचारकी दिशाकी प्रेरणा दे रही हैं ।

अथर्ववेदमें—‘मा जीवेभ्यः प्रमदः’ (८ । १ ।
७) प्राणियोंकी उपेक्षा मत करो। ‘शतहस्तात् समाहर
सहस्रेभ्यश्च संकिर’—सैकड़ों हाथोंसे धन इकट्ठा
करो और हजारों हाथोंसे बॉटो, ‘सर्वंमव शमस्तु नः’
(१९ । ९ । १४) हमारे लिये सभी कल्याणकारी
हों, इत्यादि सूक्तियोंमें भी सदाचारके उपदेश दीक्षमान्
हो रहे हैं ।

सदाचारके विषयमें ये महत्वपूर्ण मन्त्र हैं । वेदोंके
अध्ययन-मनन और चिन्तनसे स्थृत है कि सदाचार ही
अनादिकालसे मानवजीवनका महत्वपूर्ण त्रन रहा है ।
सदाचारसे ही किसी भी जाति या देशकी संस्कृतिका
निर्माण होता है । सदाचारके अभायमें संस्कृतिका कोई
स्थायित्व नहीं होता । संवारमें एकमात्र भारतीय संस्कृति-
की ही अक्षण्णता रही है; क्योंकि यह सदाचारनिष्ठ है ।

ब्राह्मण और आरण्यक वेदोंके अभिन्न अद्भुत हैं । यही
कारण है कि इन प्रन्थोंमें जिन शाश्वत सदाचारके
सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे आज भी
मौलिक और अनुकरणीय माने जाते हैं । भारतीय
संस्कृति सदाचारके इन्हीं अमूर्ख सिद्धान्तोंसे गृहीत
और संदर्भित है ।

ऐतरेयब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रदेवयिहंजी अर्थ, एम० ५० एल्प्ल० वी०, गाहिल्वर्तन, आर० एम० वी०)

ब्राह्मणग्रन्थोंमें सदाचारके अनेक प्रेरणास्रोत हैं,
ऐतरेयब्राह्मणका हरिश्चन्द्रोपाल्यान वैदिक साहित्यका
अमूल्य रूप है । इसमें इन्द्रने रोहितको जो शिक्षा दी है,
उसका टेक (Refrain) है—‘चर्वेति’ ‘चर्वेति’—
चलते रहो, बढ़ते रहो, इस उपाल्यानके अनुसार सैकड़ों
खियोंके रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्रके कोई संतान न
थी । उन्होंने पर्यंत और नारद इन दो ऋषियोंसे इसका
उपाय पूछा । देवर्पि नारदने उन्हें वरुणदेवकी आराधना-
की सलाह दी । राजाने वरुणकी आराधना की और पुत्र-
प्राप्तिपर उससे उनके यजनकी भी प्रतिज्ञा की । इससे
उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा ।
कुछ दिन बाद जब वरुणने हरिश्चन्द्रको अपनी प्रतिज्ञाका
समरण कराया तो उन्होंने उत्तर दिया—जवतक शिशुके
दाँत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेय रहता है,
अतः दाँत निकलनेपर यज्ञ करना उचित होगा ।
(ऐतरेय० ७ । ३३ । १-२)

वरुणने बच्चेके दाँत निकलनेपर जब उन्हें पुनः
समरण दिलाया, तब हरिश्चन्द्रने कहा—‘अभी तो
इसके दूधके ही दाँत निकले हैं, यह अभी निरा बचा
ही है । दूधके दाँत गिरकर नये दाँत आ जाने दीजिये,
तब यज्ञ करँगा । फिर दाँत निकलनेपर वरुणने
कहा—‘अब तो बालकके स्थायी दाँत भी निकल आये;
अब तो यज्ञ करो ।’ इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—‘यह
क्षत्रियकुलोपन बालक है । क्षत्रिय जनतक कवच धारण
नहीं करता, तवतक किसी यज्ञीय कार्यके लिये उपयुक्त
नहीं होता । वस, इसे कवच-शश धारण करनेके योग्य
हो जाने दीजिये, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ
करँगा ।’ वरुणने उत्तर दिया—‘वहुत ठीक ।’ इस
प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षोंका हो गया और शश-
कवच भी धारण करने लगा । तब वरुणने फिर
टोका । हरिश्चन्द्रने कहा—‘अच्छी वात है । आप कल

पधारें । सब यज्ञीय व्यवस्था हो जायेगी । (ऐतरेय०
(७ । ३३ । १४)

हरिश्चन्द्रने रोहितको बुलाकर कहा—तुम वरुण-
देवकी कृपासे मुझे प्राप्त हुए हो, इसलिये मैं तुम्हारे
द्वारा उनका यजन करँगा । किंतु रोहितने यह बात
खीकार नहीं की और अपना धनुष-वाण लेकर बनमें
चला गया । अब वरुणदेवकी शक्तियोंने हरिश्चन्द्रको
पकड़ा और वे जलोदर रोगसे ग्रस्त हो गये । पिताकी
व्याधिका समाचार जब रोहितने अरण्यमें सुना, तब
वह नगरकी ओर चल पड़ा । पर बीच मार्गमें ही इन्द्र
पुरुषका वैप धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए और
प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोकद्वारा उपदेश देते रहे ।
यह उपदेश पाँच वर्षोंमें पूरा हुआ और तबतक रोहित
अरण्यमें ही घासकर उनके उपदेशका लाभ उठाता रहा ।
इन्द्रके पाँच श्लोकोंका वह उपदेश-गीत इस प्रकार है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृपद्वरो जन इन्द्र इच्छरतः सखा चैवेति ॥

(ऐतरेय ब्रा० ७ । ३३ । १५ । १)

‘रोहित ! हमने विद्वानोंसे सुना है कि श्रमसे
थककर चूर हुए बिना किसीको धन-सम्पदा प्राप्त
नहीं होती । बैठे गाले पुरुषको पाप धर दवाता है ।
इन्द्र उसीका मित्र है, जो वरावर चलता रहता है—
थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता । इसलिये
चलते रहो ।’

शुद्धिष्यौ चरतो जड्ये भूष्णुरात्मा फलश्रहिः ।
शैर्येऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति ॥ २ ॥

‘जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी धिडलियों (जाँघे)
फूल देती है (अन्योंद्वारा सेवा होती है) । उसका आत्मा
वृद्धिगत होकर आरोग्यादि फलका भागी होता है और
धर्मर्थ प्रभासादि तीयोंमें सतत चलनेवालेके अपराध और
पाप थककर सो जाते हैं । अतः चलते ही रहो ।

आस्ते भग आसीनस्योर्जस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते लिपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥ ३ ॥

‘बैठनेवालेकी किस्मत बैठ जाती है, उठनेवालेकी
उठती, सोनेवालेकी सो जाती और चलनेवालेका भाग्य
प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है । अतः चलते ही रहो ।’
कलिः शन्यलो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरञ्चरैवेति ॥ ४ ॥

‘सोनेवाला पुरुष मानो कलियुगमें रहता है, आँगडाई
लेनेवाला व्यक्ति द्वापरमें पहुँच जाता है और उठकर
खड़ा हुआ व्यक्ति ब्रेतामें आ जाता है तथा आशा
और उत्साहसे भरपूर होकर अपने निश्चित भागपर
चलनेवालेके सामने सतयुग उपस्थित हो जाता है ।
अतः चलते ही रहो ।’

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वाङ्मुदम्भरम् ।
सर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरञ्चरैवेति ॥

(ऐत० ७ । ३३ । १५ । ५)

‘उठकर कमर कसकर चल पड़नेवाले पुरुषको ही
मधु मिलता है । निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट
फलोंका आनन्द प्राप्त करता है; मूर्यदेवको देखो जो
सतत चलते रहते हैं, क्षणभर भी आळस्य नहीं
करते । इसलिये जीवनमें भौतिक और आध्यात्मिक
मार्गके पथिकोंचाहिये कि वाधाओंसे संघर्ष करता
हुआ चलता ही रहे, आगे बढ़ता ही रहे ।

इस सुन्दर उपदेशमें रोहितको इन्द्रने वरावर चलते
रहनेकी शिक्षा दी है, जो उन्हे किसी ऋषवेत्तासे प्राप्त हुई
थी । गीतका मूल उद्देश्य आत्माका उद्वोधन है, जिसमें
बताया गया है कि क्या अन्युदय और क्या निःश्रेयस—
दोनोंकी उन्नतिके पथिकोंको बिना थके आगे बढ़ते
रहना चाहिये; क्योंकि चलते रहनेका ही नाम जीवन है । ठहरा हुआ जल, रुका हुआ वायु गंदा हो जाता
है । बहते हुए झरनेके जलमें ताजगी और जिन्दगी

५ यह मन्त्र खत्यान्तरसे मनुस्मृति (१ । ३०२)में भी प्राप्त होता है ।

रहती है, प्रवाहशील पवनमें प्राणोंका भंडार रहता है। कोटिशः वपोंसे अनन्त आकाशमें निरन्तर चलते हुए गुर्योदेवपर दृष्टि डालिये, वह असंख्य लोक-न्योकान्तरोंका धर्मण करता हुआ हमारे द्वारपर आकर हमें निरन्तर उपदेश दे रहा है। वेद भगवान् कहते हैं—‘स्वस्ति पथामनुनरेम सूर्याचन्द्रमसाचिव’ अर्थात् कल्याणमार्गपर चलते रहो, चलते रहो—जैसे सूर्य और चन्द्र सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी कह रहा है—‘चरैवेति, चरैवेति।’ आत्मा उनका ही वरण करता है जो अपने मार्गमें आगे कदम उठाते बढ़ते जाते हैं। भगवान् उनका कल्याण निश्चित रूपसे स्वयं करते हैं।

अन्तमें रोहितको बनमें ही अजीर्ण मुनि अपने तीन पुत्रोंके साथ भूम्बसे संतस दृष्टिगोचर हुए। रोहितने उनके एक पुत्र शुनःरोपको उन्हें सौ गायें देकर

पहांके किये मोल ले लिया। इस्तिष्ठका यज्ञ आरम्भ हुआ। उमके बजामें विश्वामित्र दोना, जागतिन अर्घ्यर्यु, वसिष्ठ ग्रामा और अयन्य उड्गाना चले। शुनःरोपने विश्वामित्रके निर्देशसे ‘करय नूनम् अपित्यवैद्य’ इत्यादि गन्त्रमें प्रजापति, राजिना और वसुण आदि देवोंकी स्तुति और प्रार्थना की। इसमें वह समस्त वर्णनोंमें गुला दी गया। वरणदेवने भी संतुष्ट होकर राजा इस्तिष्ठको गोपसे मुक्ति प्रदान की। इस प्रकार इन्हें उपदेशमें देवोंकी स्तुति, प्रार्थना और उपायना तथा बजानी समझाये रोहितका जीवन भी सफल और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। निदान ऐतरेय व्रायणका निष्कार्प यह है कि सदाचारके मार्गभ सदा चलते रहना चाहिये। ‘चरैवेति-चरैवेति’ सदाचारवा शाश्वत नदेश है।

श्रुति-स्मृति-पुराणमें सदाचार-हृष्टि

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम० ए०, पी एच० डी० (दय), डी० हिन्द०)

मनुका आदेश है कि वेद तथा स्मृति-वाच्यमें प्रतिपादित अपने विहित कर्मोंमें धर्मसूलक सदाचारका निरालस्यभावसे पालन करना चाहिये। इस सदाचारके पालनसे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति होती है। उनका यह आदेश विश्वके अशेष सम्प्रदायोंमें किसी-न-किसी रूपमें अनुसृत होता है। विश्वमें कोई भी ऐसा आस्तिक सम्प्रदाय नहीं है जिसमें सदाचारको अनुपादेय माना जाता हो—चाहे वह सम्प्रदाय जैन हो, बौद्ध हो, सिक्ख हो, पारसी हो, ईसाई हो या मुस्लिम आदि जो भी हो। सदाचारकी आदर्शरूपसे प्रायः सर्वत्र अधिमान्यता है। वह नीति या प्रवृत्ति जो जीवात्माके तप्तस्से ज्योतिकी ओर या मृत्युसे अमृतकी ओर और संसारसे ब्रह्मकी ओर गमन करनेमें मूक प्रेरक हो, सदाचार है। पठङ्ग

वेद, अशेष स्मृतियाँ, पुराण, जैन सूत्राः, बौद्ध विप्रिटक, अद्येत्ना, गुरुग्रन्थ साहेब, बाइबिल एवं कुरान-शरीफ आदि विष्णुके समस्त आस्तिक वाच्यमें विष्णु आठर्गस्त्वपसे सदाचारकी ही शिक्षा देते हैं और तद्रिपरीत बदाचार या दग्धनाको परित्याज्य बनलाते हैं। क्या भारतीय या जन्म, सभी सम्प्रदाय अन्तःकरणसे बदाचारकी उपेक्षा जरते हैं।

अपरा एवं परा दोनों विद्याओद्वारा भी सदाचारणका ही निर्देश है। अपरा विद्या निर्गुण परमतत्त्वके साथ-साथ यज्ञानुग्रान आदि विहित कर्मकलापोंके द्वारा सगुण परमेश्वर या स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्तिमें सहायिका है और परा विद्या—उपनिषद्, गीता आदि—निर्गुण, निरञ्जन, अक्षर-नत्यके साथ संयोग वरा देती है। धर्म और सदाचार—दोनों एवं दूसरेके पर्यायवाचक शब्द

हैं। धर्म सदाचार है और सदाचार धर्म है; दोनों परस्परमें अभिन्नार्थी हैं। मनुके अनुसार धर्मके चार लक्षण हैं। उनमें सदाचार अन्यतम है। सदाचारके पालनसे श्रौत-स्मार्त-धर्मका पालन स्वयमेव हो जाता है और श्रुति, स्मृति आदि सच्चाखोंमें निष्णात होनेपर भी यदि मनुष्य व्यवहारतः सदाचारी नहीं हुआ तो अज्ञ ही है। विश्वके धर्मोंका मूल उद्गम वेद ही है। वेदके ही सिद्धान्तोंका प्रतिपादन प्रकारान्तरसे सर्वत्र हुआ है। जो सिद्धान्त वेदमें विहित हैं, वे ही विश्वके दूसरे साहित्योंमें भी हैं और जो वेदमें नहीं हैं, वे किसी भी साहित्यमें नहीं हैं। समस्त धर्म वेदमूलक हैं।

वेद और सदाचार—एकान्त जितेन्द्रिय एवं मनोजयी कृष्णपि-मुनियोंके श्रुतिगोचर होनेके कारण वेद 'श्रुति' शब्दसे अभिहित होता है। 'विद् ज्ञाने'—धातुसे निष्पत्ति होनेके कारण वेद ख्यय भी ज्ञानका पर्यायी है। वेदज्ञान है और ज्ञान वेद है। एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। पुनः वेदोत्त सिद्धान्तोंके स्मरणके कारण धर्मशास्त्रका नाम स्मृति है। आत्महितैषी पुरुषोंके लिये स्मार्त आदेश सदा स्मरणीय हैं। ये दोनों शास्त्रपतिकूल तर्कों योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन श्रुति-स्मृतियोंसे ही धर्मकी प्रादुर्भूति हुई है। इस शास्त्रद्वयमें कहीं भी अर्धर्मकी विवेयता अनुमोदित नहीं हुई है। अर्धर्म ही असदाचार है।

वैदिक साहित्यमें पराविद्यासम्बन्धी सिद्धान्तका भी यत्न-तत्र दर्शन होता है। ताण्डयनाक्षण (४।४।३) के अनुसार वाक्-रूप एकाक्षर अर्थात् शब्द-प्रद्युम्न ही सृष्टिमें सर्वप्रथम प्रकट हुआ। यह वागेवी 'ऋतसत्त्व' की प्रथमजा है। मह वाक् वेदो—अनन्त ज्ञान-विज्ञानकी माता और अमृतकी नामि है। वहाँ प्रार्थना की गयी है कि यह प्रसन्न होती हुई हमारे वाग्-यज्ञ अर्थात्

यज्ञवेदीपर पधारे और इसे निर्विन्न सफल करनेके लिये हमारी वन्दना सुने—‘देवी सुहवा मेऽरतु।’ (तैत्तिरीय ब्राह्म ०२।८।८)

सदाचार और दीर्घायुष्य—सदाचारके पालनसे मनुष्य दीर्घायु होता है, अभिलम्पित संतान (पुनःपौत्रादि) को प्राप्त करता है, अक्षय धन-सम्पत्ति पाता है। सदाचरण सभी अनिष्ट लक्षणोंको नष्ट कर देता है। यदि मनुष्य वर्ण, विद्या, विभवादि समस्त सल्लक्षणोंसे रहित होकर भी सदाचारगुणसे सम्पन्न है तो वह शास्त्रोंके अनुसार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। (मनु ४।१५६, १५८) किंतु तद्विपरीत अर्थात् दुराचारी मनुष्य वर्ण, विद्या, विभव, सौन्दर्यादि सुलक्षणोंसे सम्पन्न होनेपर भी समाजमें निन्दाका पात्र बनता है। वह विविध दुःखभागी, रोगग्रस्त एव अल्पायु हो जाता है।*

जो सदाचारशील मनुष्य चौबीस, चौबालीस अथवा अड़तालीस वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए यज्ञादिका अनुष्ठान करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्ष-पर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक होते हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अवीन होती है। महिदास (या महीधर) नामक एक ब्रह्मोपासक ज्ञानी हो गये हैं, जो कई सौ वर्षोंतक जीवित रहे। अतः जो चिरजीवी होना चाहते हैं, उन्हे ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी चाहिये। दीर्घायुष्य सदाचारका अन्यतम फल है।

पुराण और सदाचार—सदाचारोंके आचरण करनेसे इहलोक और परलोक—दोनों जगह पतनका सामना नहीं करना पड़ता। सदाचारी पुरुष दोनों लोकोंमें विजयी होते हैं। पुराणके अनुसार 'सत्' शब्दका अर्थ साधु है और साधु वही है, जो दोषरहित हो। उस साधु पुरुषका जो आचरण होता है, उसीको सदाचार कहते हैं।' सदाचारी बुद्धिमान् पुरुषको स्वस्य चित्तसे ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर अपने धर्म तथा धर्माविरोधी अर्थका

* दुराचारे हि पुरुषों लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

चिन्तन करना चाहिये तथा जिसमें धर्म और अर्थकी क्षति न हो ऐसे कामका भी चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार दृष्टि और अदृष्टि अनिष्टकी निवृत्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम—इस विर्गके प्रति समान भाव सखना चाहिये। धर्मविश्व अर्थ और काम दोनोंका ल्याग कर देना चाहिये। ऐसे धर्मका भी आचरण नहीं करना चाहिये, जो उत्तरकालमें दुःखमय अथवा समाजविश्व सिद्ध हो। निय कर्मके सम्पादनके लिये नदी, नदाग, पर्वतीय झरनोमें अथवा कुएँसे जल खींचकर उसके पासकी भूमिपर स्नान करना चाहिये।

तर्पणरूप सदाचार—स्नान करनेके अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण कर देवता, ब्रह्मणि और पितृगणका तर्पण भी अवश्य करना चाहिये। तर्पणकालमें देव ब्रह्म प्रजापति तथा पितृगण और पितामहोंकी तृप्तिके लिये तीन-नीन बार जल ढोड़ना चाहिये। इसी प्रकार प्रपितामहोंको संतुष्टकर मातामह (नाना) और उनके पिता प्रमातामह (परनाना) तथा उनके पिता (बृद्ध प्रमातामह)को भी सावधानतापूर्वक पितृतीर्थसे जलदान करना चाहिये। इसके साथ ही माता, मातामही, प्रमातामही, गुरु, गुरुपत्नी, मामा, मित्र, राजा और इच्छानुसार अभिन्नप्रति अन्य सम्बन्धीके लिये भी जलदान करना चाहिये। तदनु देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूपमाण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, वायुमक्षक आदि—सभी प्रकारके जीवोंको दृप्त करना चाहिये। नरकोंमें यातना भोगनेवाले प्राणियोंको, बन्धु एवं अबन्धुओंको, जन्मान्तरके बन्धुओंको और क्षुधा-तृप्णासे व्याकुल जीवोंको तिलोदक देकर दृप्त करना चाहिये। तर्पण सद्वावका सदाचरण है।

अतिथि-सत्कार—गृहस्थके लिये अतिथि-पूजनका भी आदेश है। यदि कोई अतिथि घरमें आ जाय और उसका आतिथ्य स्वागत न किया जाय तो वह अतिथि पाप देकर और नदाचरित पुण्य लेकर लौट जाता है। उस दागत अतिथियों सावधारण पुरुषमात्र न समझना

चाहिये; क्योंकि धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण और अर्यमा—ये समस्त देवगण अतिथिमें प्रविष्ट होकर अन्न भोजन करते हैं। अतः मनुष्यको सदा अतिथि-पूजाके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष अतिथियों भोजन कराने विना भोजन करता है, वह तो केवल पाप ही भोग करता है। गृहस्थाश्रमके पुरुषके लिये दोनों समय संध्यावन्दन तथा अग्निहोत्रादि-कर्मके साथ नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, मिहगण, वयोवृद्ध पुरुष नथा आचार्यकी पूजाको करना अनिवार्य है। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें आश्वुदायिक आदि अनुष्ठेय विविध श्राद्धोंका विविध विधि-विधानोंके साथ साझोपान्न विवेचन हुआ है। श्राद्धकर्ममें विहित-अविहित वस्तुओंके साथ पात्रापात्रका भी पूर्ण विचार है। उन्हें उनी प्रकार आचरित करना चाहिये। श्राद्ध श्रद्धाका सदाचार है।

वर्णधर्म—चारुवर्धन्यकी मृष्टिके पश्चात् उन वर्णोंके लिये विहित कर्मोंका विधान किया गया है; यथा—त्राहणका कर्तव्य है कि वह दान, यजन और स्वाव्याय करे तथा वृत्तिके लिये अन्योंसे यज्ञानुष्ठान कराये, पढ़ाये और न्यायानुसार प्रनिप्राही बने। क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणोंको यथेच्छ दान दे, विविध यज्ञोंका अनुष्ठान और सच्चाल्योंका अध्ययन करे। शास्त्र-धारण और पृथ्वीका पालन उसका उत्तम कर्तव्यकर्म है। नोकपितामह ब्रह्माने वैद्यके लिये पशुपालन, दाणित्य और कृषि—ये तीन कर्म आजीविकाके त्वरित समयमें करताये हैं। अध्ययन, यज्ञ और दान आदि कर्म भी उस (वैद्य)-के लिये विहित हैं। शूद्रके कर्तव्यमें द्विजातियोंकी प्रयोजनसिद्धिमें यथोचित सहयोगरूप कर्म विवेय कहा गया है। उसीसे शूद्र अपना पालन-पोषण करे अथवा वस्तुओंके ध्रय-विक्रय तथा शिल्प कर्मोंसे निर्बाह करे एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा करे। वर्णवर्मोंकी उपादेयतामें कला गया है कि इनके स्मरणमात्रसे भी मनुष्य अपने पापपुण्यसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकारके शास्त्र-विहित वर्ण-वर्म सदाचारके ही रूप हैं, जिनका यथोचित पालन होना चाहिए।

मनुस्मृतिका सदाचार-दर्शन

(लेखक—श्रीअनूपकुमारजी एम० ए०)

राजविं मनुस्तुत भगुप्रोक्त 'मनुसंहिता' प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं विश्व-विधि-साहित्यकी अमूल्य निधि है। इसमे सभी वर्णाश्रमोंके प्रत्येक क्षेत्रसे सम्बद्ध विधि-निपेदोंका वर्णन मिलता है। अतः इसमें सदाचारका वर्णन होना स्थाभाविक है। 'सदाचार' शब्दका सीधा-सादा अर्थ है—'अच्छा आचरण'। सदाचारी व्यक्ति देवता या संत कहलाता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति दृष्ट या 'दानव'की संज्ञा पाता है। सदाचारी सुकर्मा और दूराचारी कुकर्मा कहलाता है। मनुस्मृतिमें सर्वत्र सदाचारकी ही वाते हैं। ध्यानसे देखा जाय तो इसके दूसरे अध्यायमें ब्रह्मचारीके सदाचार, इसे ५ अध्यायोंमें गृहस्थके, ६ अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासीके, ७-८ अ०में राजाके तथा ५ एवं ९, १० अ०में खियो तथा विग्रकीर्ण, वर्ग-जाति आदिके सदाचार निर्दिष्ट हैं। यहाँ उनका अत्यन्त संक्षेपमें ही उल्लेख किया जा रहा है।

ब्रह्मचारी या विद्यार्थीका सदाचार
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादैग्राह्यौ गुरुः सदा।
संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माज्ञिः स्मृतः॥
(२ । ७१)

'शिष्यको चाहिये कि वह वेदपाठके पूर्व तथा पश्चात् भी नित्य श्रद्धा-भक्तियुक्त चित्तसे गुरुके चरणोंका सादर स्पर्श कर प्रणाम करे और तत्पश्चात् दोनों हाथोंको जोड़कर अध्ययन करे। इसीका नाम ब्रह्माज्ञिः है।'

द्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरुः।
स्वदेव स्वयःस्वस्त्रव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(वही २ । ७२)

नित्य ही व्यस्त हाथोंसे गुरुके चरणोंको रपर्श करे। इस प्रकार वाये हाथसे गुरुके वायें पैर तथा दाहिने हाथसे दाहिने पैरका स्पर्श करे।'

प्रतिश्रवणसम्भापे शयानो न समाच्चरेत्।
नासीनो न च भुजानो नातिष्ठन्त पराङ्मुखः॥
(वही २ । १९५)

'लेटे हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए अथवा गुरुकी ओर पीठ किये हुए खड़े-बैठे गुरुकी आज्ञाका सुनना या वार्तालाप करना ब्रह्मचारीके योग्य नहीं।'

गुरुका सदाचार
अहिंसयैव भूतानां कर्त्य श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्षणा प्रयोज्या धर्मस्मिच्छत॥
(वही २ । १५९)

शिष्योंके हितके हेतु किया हुआ अनुशासन सर्वथा हिंसाशून्य होना चाहिये। धार्मिक गुरुओंका धर्म है कि शिष्योंसे प्रेमपूर्वक कोमल वचन बोले। गुरुका यह कर्तव्य है कि वह नित्य निरालस्य होकर सगुणिन समयपर शिष्यको पढ़नेकी आज्ञा प्रदान करे और पाठकी समाप्तिपर 'अलम्'—'अब बस करो' इस प्रकार कहकर पढ़ाना स्थगित करे। (मनु २ । ७३)

ब्राह्मणके लिये सदाचार
न लोकवृत्तं चर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्वामशार्वं शुद्धां जीवेद् ब्राह्मण जीविकाम्॥
(वही ४ । ११)

'ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वह अपनी जीविकाके हेतु लोकवृत्त-(मिथ्या, किंतु प्रिय भाषण-)सा कुस्तित कार्य कदापि न करे। अपनी मिथ्या बड़ाई, दम्भ (घमण्ड) स्था कपट-व्यवहार (सूद खाने)को परिव्यागकर वह सात्त्विक एवं शुद्ध धृति (धाजीविका) धारणकर ही अपना जीवननिर्वाह करे। ब्राह्मणको चाहिये कि वह नृत्य या गायनकी जीविकासे तथा शास्त्र-विस्त्रद्ध (अनविकारीको यज्ञ कराने आदिके) कर्मसे सम्पत्ति संचय न करे। इसी प्रकार विस्ती पापीसे भी धंन लेकर कदापि

संग्रह नहीं करे । चाहे अपने पास धन हो अथवा न भी हो ।' (मनु० ४ । १५)

स्थियोंके सदाचार और फल

लास्ति खीणां पृथग् यज्ञोन व्रतंनाष्टुपोपणम् ।
पर्ति शुश्रूपते देन तेन स्वर्गं महीयते ॥
(मनु० ५ । १५५)

'धर्मशास्त्रमें स्थियोंके हेतु न तो पृथक् कोई यज्ञ निर्दिष्ट है, न व्रत और न उपवास ही विहित है । उनको तो केवल अपने पतिदेवकी शुश्रूपा (सेवा)से ही इन मवक्ता फल अर्थात् स्वर्ग प्राप्त हो जाता है ।' 'जो सती नारी अपने पतिदेवके प्रतिकूल मन, वचन तथा कर्मसे भी कभी आचरण नहीं करती, वह पति-लोकमें जाकर पुनः अपने उसी पतिको प्राप्त करती है और इस लोकमें प्रतिव्रता कहलाकर लोगोंमें पूजनीय होती है ।' (मनु० ५ । १६५ ।)

सदके लिये सामान्य सदाचार
नास्तुदः स्यादान्तोऽपि न परद्वोहकर्मधीः ।
यन्मात्योऽज्ञतेवाचानालोक्यांतासुदीर्घेत् ॥
(वही० २ । १६१)

'मनुष्यका कर्तव्य है कि दुःखी अवस्थामें भी वह यथासम्भव किसीको र्ममेदी कड़वी वाणीसे उसका हृदय न दुखाये. किसीसे अकारण द्वेष-भाव न रखें तथा उद्देजक वात कहकर किसीका मन उद्धिर्ण न करे ।' साथ ही वह 'ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल (मामा), अतिथि, सूत्य (दास), बाल, वृद्ध, सूर्य, वैद्य, दामाद, सम्बन्धी तथा माताके कुलके लोगोंके साथ, माता, पिता, भगिनी, वृहू, भ्राता, पुत्र, पुत्री, द्वी एवं दास-दासियोंके सङ्ग भी कभी किसी प्रकारका कल्प न उपस्थित होने दे ।' (मनु० ४ । १७९-८० ।)

राजाका सदाचार

आत्मणान् पर्युपासीत प्रातस्तथाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धाद् विद्युपस्तिष्ठेत् तेयां च शासने ॥
(वही० ७ । ३७)

'राजाका कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन प्रातः काल उठकर तीनों वेदोंके ज्ञाता, नीतिशास्त्रविशारद विद्वान् व्राह्मणोंके पास जाकर परामर्श करे एवं उनकी आज्ञाके अनुकूल राज्यका शासन कार्य किया करे ।' 'विनय तथा शीलयुक्त भी वह राजा 'सर्वदा द्विजश्रेष्ठोंसे विनय एवं शीलकी शिक्षा ग्रहण किया करे; क्योंकि जो राजा विनयशील होता है, वह कभी नाशको नहीं प्राप्त होता ।' (मनु० ७ । ३९)

यहाँ विस्तार-भयके कारण संक्षेपमें कुछ थोड़ेसे सदाचारका वर्णन किया गया है । अतः यह भ्रम न उत्पन्न होना चाहिये कि इन वर्णनोंसे सृत्युक्त सम्पूर्ण सदाचारके वर्णनकी इतिश्री हो गयी । इसके लिये तो वस्तुतः मनु तथा आज्ञाकी प्राप्त प्रायः एक सौ सृतियों तथा इसपर आधृत सभी सैंकड़ों निवन्ध ग्रन्थोंका भी आलेकन-पर्यवेक्षण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि इन सभीका प्रमुख वर्णन विपय सदाचार ही है ।

सदाचारका महत्व

श्रुतिसृत्युदितं सम्बद्धं निवद्धं स्वेषु कर्मपु ।
धर्मसूलं लिपेवेन सदाचारमतन्द्रितः ॥
(वही० ४ । १५५)

'वेद तथा सृतिकथित जो सदाचार है, जो अपने निजके कर्ममें भली-भौति निवद्ध है तथा जो धर्मकी जड़ है, उस सदाचारका सदैव निरालस होकर प्रतिपालन करना चाहिये ।' क्योंकि, सदाचारमें तत्पर रहनेसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, सदाचारसे ही सकल मनोरथ सफल होते हैं, सदाचारसे ही अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती है, इसी प्रकार कुलक्षणोंसे उत्पन्न हुए अरिष्टको भी सदाचार नष्ट कर देता है ।' अतः सर्वात्मना सदाचारके पालनका प्रयत्न करना चाहिये । (वही० ४ । १५६)

मनुस्मृतिप्रतिपादित सदाचार

(लेखक—आचार्य प० श्रीविश्वभरजी द्विवेदी)

✓ श्रुतिस्मृती ममैवाहे यत्त उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यडनिवद्धं स्वेषु कर्मणु ।
धर्मयूलं निषेवेत् सदाचारमन्द्रितः ॥

(४ | १५५)

सदाचार और व्यवहार

‘वाधूलस्मृति’ (१ | ४१५) के—‘श्रुति और स्मृति खर्य मेरी ही आज्ञाएँ हैं, इनका उल्लङ्घन करनेवाला न तो मेरा भक्त ही है और न वैष्णव कहलाने योग्य है’—इस भगवद्गच्छनके अनुसार श्रुतिस्मृतिको साक्षात् भगवद्गच्छन ही कहा गया है। मनुकी प्रशंसा करती हुई साक्षात् श्रुति भी कहती है—

यद्यै मनुरवदत् तद् भेषजम् ।

(तैत्तिरीय स०)

यह सर्वथा वेदमूलक कि वा वेदासुगमिनी स्मृति है। यः कथित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तिः ।
स लब्धोऽभिहितो वेदे सर्वशानमयो हि सः ॥

(मनु० २ | ७)

बृहस्पतिने तो यहाँतक कहा है कि ‘मनुस्मृतिके विपरीत कर्मादिका प्रतिपादन करनेवाली स्मृति श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि वेदार्थके अनुसार रचित होनेके कारण मनुस्मृतिकी ही प्रधानता है।’

मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्वं प्रशास्यते ।
वेदार्थोपनिवच्छत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ॥

मनुस्मृतिकी इस प्रकार महत्ता एवं प्रामाणिकताको जान लेनेके बाद उसमें प्रतिपादित शाश्वत सदाचारकी प्रामाणिकता एवं उपयोगिताके विषयमें हमें लेशमान भी संशय नहीं रह जाता। मनुस्मृतिका सदाचार असंदिग्ध रूपसे मानव-जीवनको क्रमशः उसके स्वभावानुरूप स्तरोपर ले जाते हुए अन्तमें मोक्षपदमें पहुँचा देता है, जो हमारे जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।

सदाचारका लक्षण

मनुके अनुसार राग और द्वेषसे रहित जिस मार्गपर धार्मिक श्रेष्ठ विद्वान् एकमत होकर चलते हों, वही सदाचार है।

हमारे लोक-जीवनका अनुभव हमें बताता है कि व्यवहारके प्रत्येक पगपर सदाचार और शिष्टाचारकी आवश्यकता है। जहाँ हमने व्यवहारमें सदाचारका ही सहारा ढीला किया अथवा उसे छोड़ दिया, तत्काल वहाँ पतन हो गया। सामाजिक जीवनकी सफलता खतरेमें पड़ जाती है। यहाँतक कि उच्चकोटिके विद्वान् अथवा प्रचुर धनसे सम्पन्न व्यक्तिको भी सदाचार-विहीन व्यवहारके लिये समाज क्षमादान नहीं देता। इस सदाचारके बिना सामाजिक व्यवस्था ही भग्न होने लगती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अन्य लक्षणोंसे हीन होनेपर भी सदाचारी होता है, वह कल्याण प्राप्त कर लेता है। उदाहरणके लिये विद्वानोंके मतमें प्रिय वचन बोलना, वाणीद्वारा सामाजिक शिष्टाचारका पालन, वाचिक सदाचार है। प्रिय वचन बोलनेमें कोई गरीबी भी नहीं आती; क्योंकि कुछ खर्च तो करना नहीं है—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तु व्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥

(चाणक्यनीति १६ | १७)

इसपर भी यदि कोई व्यक्ति स्वभावतः दुरभिमानी होनेसे अथवा प्रिय वचनको सब जगह चाटुकारी अथवा चापल्सी-का नाम देकर उसे ठुकरा देता है और सदा सबसे कठोर वचन ही बोलता है तो इस अशिष्टाचार अथवा वाचिक दुराचारका समाजमें उसे कठोर दण्ड भी भुगतना पड़ता है।

सामाजिक अव्यवस्था एवं सामाजिक दुर्व्यवस्थासे वचनेके लिये ही भागवान् मनुने न केवल सम्पूर्ण मानव-

जीवनका अपितु उसके समग्र व्यवहारका भी देश, काल, अवस्था, गुण, कर्म तथा परिस्थितिके अनुसार वर्गीकरण कर दिया है और प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक स्तरके लोगों-के लिये नैतिक अनुशासनसे नियन्त्रित आचारकी व्यवस्था कर दी है। इसी प्रकार सत्य-भाषण, हितकर-भाषण, गुरुजनोंका आदर, परिवारके प्रति व्यवहार, पड़ोसके प्रति व्यवहार, सर्वसाधारणके प्रति व्यवहार, वालों-एवं नारियोंके प्रति व्यवहार इत्यादि—ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जिनके लिये हमारे वाचिक, मानसिक और शारीरिक सदाचारकी आवश्यकता है; क्योंकि इसी सदाचारकी धूगिकापर हमारे सभी सामाजिक सम्बन्ध स्थिर हैं। समाज सम्बन्धोंका जाल है। अतः उस जालके नाने-वानेकी रक्षाके लिये हमें अपने प्रत्येक व्यवहारको सदाचारके करघेसे सँभाले रखना होगा; अन्यथा वह सम्बन्धोंके जालसे बना समाज विखरकर छिप-मिन्न हो जायगा। वेद, तदनुसारिणी सृष्टि, ग्रहण्यता आदि तेरह प्रकारके शील, राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओंका आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता—ये सब धर्मके मूल हैं।

राजपि मनु साक्षात्-धर्मका प्रमाण वेद मानकर ‘काल’को उसका निर्देशक मानते हैं। आशय यह है कि वेदोंकी अपौरुषेयता एवं धर्मका प्रमापक होना और धर्मका वेदमूलक होकर सदाचारका आधार बनना—ये दोनों कालतत्त्व सापेक्ष हैं। अर्थात् इन दोनोंका साक्षी कालतत्त्व ही है। इसलिये राजपि मनुने कहा है कि सत्ययुगमें धर्म चतुष्पाद (चार पौरोहित्य) था अतः अधर्मके द्वारा कोई भी विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं करता था—सभी धर्मान्तरणरत थे।

चतुष्पाद् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।

नाधर्मेणागम्यः कष्ठित्यनुरायान् प्रति वर्तते॥

(मनु० १ । ८१)

अन्य युगोंमें सत्ययुगके विपरीत परिस्थितियोंका आविर्भाव होनेपर धर्मके पूर्वोक्त पादों (चरणों) का हास भी होता गया। यथा—

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादरास्त्वद्वरोपितः ।
चौरिकान्त्रुतमायाभिधर्मश्चापैति पादशः ॥
(वही १ । ८२)

मनुके अनुसार कालतत्त्वके इस साक्ष्यका मूल रहस्य यही है कि यद्यपि धर्मका नाश तो कभी नहीं होता, किंतु भिन्न-भिन्न युगोंके अनुसार उसमें हास और विकास अवश्य होते रहते हैं। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि धर्म जिस-जिस स्थान, काल अथवा वस्तुको छोड़कर हटता जाता है, उन सबमें अर्धमें अपना अधिकार करता चलता है। आज हम युगधर्मके नामपर जो वार्मिक हास देखते हैं, उसका संकेत भगवान् मनुकी कल्पनामें आजसे शताव्दियों पूर्व ही विद्यमान था।

युगके अनुसार धर्मके हास-विकासको मानते हुए भी मनु, ‘आचार’ पर अत्यधिक वल देते हैं। उनका मत है कि धर्मकी गति यद्यपि अति तीव्र, गम्भीर तथा अखण्ड होती है, मानव साधारणतया उसके साथ अनुपद चलनेमें असमर्थ-सा रहता है, तथापि वह यदि अपने वर्ण और आश्रमकी परम्परासे प्राप्त आचारका पालन करे, तो धर्मके तथोक्त हास और विकाससे उसकी कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये वे आत्मवान्-के लिये आचारको धर्मसे भी अधिक परम धर्म मानते हैं। (१ । १०८) आत्मवान् शब्दका अर्थ जितेन्द्रिय है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, ऐसा आचार-भ्रष्ट द्विज वेदके फलसे बच्चितं रह जाता है (१ । १०९)। इस प्रकार आचारसे धर्मलाभ देखकर महर्षियोंने तपस्याके श्रेष्ठ मूल आचारका ग्रहण किया है (१ । ११०)। वैसे धर्म या आचारमें विप्रतिपत्ति प्रतीत होनेपर श्रुति ही शरण है। (२ । १३)

सदाचार तथा अर्थ और काम

शास्त्रके लिये निर्दिष्ट धृति, धी, विद्या आदि धर्मके दस अङ्गोंमें शौचका भी एक स्थान है। (मनु० ६ । ९२ के) शौचसे तात्पर्य ईमानदारी अथवा भावनामूलक शुद्धतासे है। इस शुचिता (ईमानदारी) की आवश्यकता सामान्यतः जीवनके प्रत्येक पाणपर ही है, परंतु अर्थ और काम (विषयभोग)के संदर्भमें इसका सर्वाधिक महत्व है। शुचिताके बिना अर्थ और काम सदाचारके अङ्ग नहीं बन सकते। यही कारण है कि भगवान् मनु सब प्रकारकी शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (अर्थशौच) को सर्वाधिक महत्व देते हैं—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्वर्तं सृद्धारिशुचिः शुचिः॥

(मनु० ५ । १०६, विष्णुध० सू० २२ । ८९, याज० ३ । ३२)

'सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धनका होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है। जो धनमें शुद्ध है, अर्थात् जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया है, वही पूर्ण शुद्ध है। जो केवल मिट्टी, जल आदिसे शुद्ध है, परंतु धनसे शुद्ध नहीं है, अर्थात् अन्याय अथवा वैईमानीसे, जिसने किसीका धन ले लिया है—वह शुद्ध नहीं है।' इस प्रकार सदाचारसे अर्थका सम्बन्ध न केवल मनु, याज्ञवल्क्यादिने ही स्वीकार किया है, अपितु भगवान् व्यासने भी इसकी ओर संकेत किया है; क्योंकि अर्थ-शौच ही आगे चलकर अपरिहका रूप ले लेता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽपिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८)

✓ 'जितनेसे अपना पेट भर जाये, वस उतनेपर ही अपना अधिकार है, इससे अधिकपर जो अपनेपनका अभिमान करता है, वह चोर है, और वह दण्डके योग है।' यह अपरिहका आधार है। आजकल अर्थ-पुरुषार्थप्रधान इस युगमें अर्थके कारण जो वेकारी,

स० अ० १४—

मँहगाई और गरीबी आदि अनेक अनर्थ समाजको पीड़ित कर रहे हैं, उससे बचनेके लिये मन्वादि-प्रतिपादित अर्थ-शौचकी नितान्त आवश्यकता है। इससे श्रम और योग्यताके अनुकूल समाजमें धनका समान वितरण होगा तथा अतिरिक्त पूँजी राशियोंजनाओंमें विनियुक्त होकर 'वहुजनहिताय' और 'वहुजनसुखाय'में परिवर्तन हो सकती है। इन्द्रियजयके अभ्यासके लिये मनुने अत्यन्त सावधानीसे सदाचारपालन-का उपदेश किया है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमुच्छ्लत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धि नियन्त्रिति ॥

(मनु० २ । ९३)

वे यहाँतक कहते हैं कि हमे इस कामसम्बन्धी सदाचारके पालनके लिये कभी माँ-ब्रह्म अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें नहीं रहना चाहिये; क्योंकि यह इन्द्रियोंका समूह कभी-कभी विद्वान् (समझदार)को भी आकृष्ट कर लेता है।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
घलवानिन्द्रियग्रामो विडांसमपि कर्पति ॥

(२ । २१५)

महाभारतकारने भी धर्मके प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण दो मेद कहकर प्रवृत्ति-लक्षण धर्मके अन्तर्गत अर्थार्जन, अर्थविभाजन तथा अर्थके विनियोगमें एक अत्यन्त हितकर प्रेरणा दी है और अन्तमें यह भी कहा है कि अर्थ और कामको धर्मनुकूल बनाकर ही उनका सेवन करना हितकर है। यदि अर्थ और काम क्रमशः लोभ और मोहके अनुगामी हो तो उन्हें पीछे छोड़ देना चाहिये। जो विद्वान् सर्वदा और सर्वथा निश्चयात्मक रूपसे अर्थ और कामको धर्मनुकूल ही बनाकर स्वीकार करते हैं, केवल उन्हींसे अर्थ और काम-से सम्बन्धित शुद्धता एवं सदाचारके सम्बन्धमें पूछना चाहिये और वे लोग जो परामर्श दें, उसीका आचरण करना चाहिये। लौकिक जीवनके व्यवहारमें अर्थ और काम प्रत्यक्ष

सदाचार के परम आदर्श



— लक्ष्मण
श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा श्रीसीताजी

गुरुसेवा—ये मोक्षसाधक श्रेष्ठ छः कर्म हैं, तथापि इन शुभ कर्मों (सदाचारो)में भी मानवके लिये एक सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है, जिसके लिये ही समग्र सदाचार अथवा शुभकर्म किये जाते हैं। वह सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है—‘त्रहज्ञानमूलक मोक्ष’—

वेदाभ्यासस्तपेक्षानभिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम् ॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किञ्चिन्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्वयग्रथं सर्वचिद्यानां ग्राप्यते हामृतं ततः ॥
(मनु० १२ । ८३-८५)

इस प्रकार सम्पूर्ण वेदोक्त एवं सूत्युक्त सदाचार मोक्षरूप साध्य (फल)की प्राप्तिका साधन ही कहा जाना चाहिये। सदाचारके द्वारा हमें अपने मन, बाणी और शरीरपर कोई ऐसा विवेकपूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये, जिससे कि हम सामाजिक जीवनमें धुलमिळकर भी त्रिदण्डी (सन्यासी)के समान राग-ट्रेपसे दून्य रहते हुए सर्वभूत-हितैषी तथा सर्व-हितकारी वन सकें। सदाचारका सर्वेत्तम फल यही है कि समाजके सभी लोग सुखी, स्वस्थ एवं कल्याणदर्शी वन सकें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पद्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत् ॥

श्रीराम-कथामें सदाचार-दर्शन

(ले०—श्रीविन्देश्वरीप्रसादजी सिंह, एम० ए०)

‘सदाचार एवं सञ्चरिता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी कसौटी है। श्रेष्ठ पुरुष जो वर्ताव या व्यवहार करते हैं, वही सदाचार कहा जाता है। (महाभा० १०४ । ९।) वसिष्ठस्मृति (१ । ४)में सदाचारको परमधर्म कहा गया है। वाल्मीकि रामायणका श्रीगणेश श्रेष्ठ पुरुषकी जिज्ञासासे हुआ है। उसके आदि, मध्य और अन्तमें ‘तप’ शब्द भरा है। तपस्त्री श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, अतः वाल्मीकिरामायण स्वतः सदाचार-शास्त्र हो जाता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सदाचारकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे धर्मके विग्रह हैं—‘रामो चित्रहच्चान् धर्मः।’ उनका अनुसरण तथा अनुकरण करनेवाले सभी तपस्त्री तथा सदाचारकी मूर्ति हैं। रामायणरचयिता स्वयं वाल्मीकि हजारो वर्षोंतक तपस्या कर जब ज्ञान-तपसे पवित्र हो गये, तब उन्हे सप्तरिष्योंने वाल्मीकिसे निकाला और उनका वाल्मीकि नाम-करण किया। महर्पि वाल्मीकिने मुनिपुंगव नारदसे इस समयके गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता,

आदि गुणयुक्त एक या अनेक पुरुषोंकी जिज्ञासा की थी। इसपर नारदजीने उन्हें एक श्रीराममें ही सभी गुणोंको वताते हुए उनकी जिज्ञासा शान्त की और संक्षेपमें उनका चरित्र भी कह दिया। वाढमें महर्पि वाल्मीकि स्नानार्थ तमसा-नटपर गये, जहाँ क्रौञ्च-वध तथा क्रौञ्चीके कन्दनसे शोकार्त एवं अप्रसन्न होकर निषादको यह शाप दिया—

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्कौञ्चिमियुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥५॥

(वाल्मी० १ । २ । १५)

उनके मुँहसे सहसा निकले इस श्लोकपर चिन्नामग्न महर्पिको स्थान प्रभु ब्रह्माजीने राम-कथा रचनेका आदेश दिया। ब्रह्माजीके चले जानेपर महर्पिने योग-वलसे ध्यान-द्वारा उक्त चरित्रका अन्वेषण किया तथा अपने एवम् उनके परिवारके सारे इतिवृत्त तथा चेष्टाओंको यथावत् जान लिया। तब उन्होंने श्रीरामचरित्रकी रचना चौबीस हजार श्लोकों एवं छः काण्डोंमें की तथा उत्तरकाण्ड और भविष्य-वर्णन कर कुश और लक्ष्मीको कण्ठस्थ कराया।

* यह श्लोक चम्पूरामायण १ । ६, उत्तररामचरि० २ । ५ आदिमें भी प्राप्त होता है।

रामायणमें मुख्यतः राम-चरित ही है। पर इसके कल्पकाण्ड में संबोधप्रे सभी इक्ष्याकुंवरेशी राजाओंकी नर्चा तथा इनिदाम सी है। इनमें धर्म, अर्थ और कामका वर्णन किया गया है। वैश्वदत्त मनुसे लेकर दशरथके जितने गजा है, सब तपस्त्री तथा सदाचार-परायण थे। महाचार इस वृंशपुरम्पराकी विद्येपता रही है। यह एक व्यक्ति या प्रकाश पीड़ियोंकी उपलब्धि नहीं है। पुरुषों कामनामें गजने अद्वेष्य तथा पुत्रेष्यद्वय समादन के योनिश्चेष, आयुष्योम, अग्नित्रित् और विद्वनित् वज्र भी सम्पन्न किया और द्वीता, अर्थर्थ, उद्गता तथा क्रृत्यजोको प्रचुर दक्षिणा दी। सभीने संतुष्ट होकर राजाको फिर आशीर्वाद दिया। अन्तमें ऋष्यशृङ्गने पुरेषि यज्ञ करवाया। कल्प-भूत्रोक्त-विधिमें अग्निमें आहृतिया पड़ी। ब्रह्माजी तथा सभी देवतागण भाग लेने आये। भगवान् श्रीविष्णु भी वहाँ पवारे और देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने आश्वासन दिया कि वे नगरतार लेकर रावण-वध आदि करेंगे। अग्निदेवने भगवान्की आज्ञासे राजा दशरथको पायस दिया। पायसका वितरण राजा ने धर्मानुसार तीनों राजियोंमें किया। यजके पूरे एक वर्ष बाद राजाके चार अनुपम पुत्र-रत्न-उत्पन्न हुए। इस तरह 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'का वचन सर्वविव आचरित हुआ।

श्रीरामादि-जन्मोत्सवके अवसरपर विविध दान दिये गये। सदाचारमें संस्कारोंका पालन भी संनिहित है। अतः राजा ने पुत्रोंके जातसंस्कार आदि सब कर्म कराये। चारों भाई महर्षि वसिष्ठकी शिक्षादीक्षामें वेदविद् वीर, सब लोगोंके कल्याणमें तप्तर, ज्ञानसम्पन्न और सभी गुणोंसे युक्त हुए। महाराज दशरथको अब उनके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों महातेजस्वी मुनि विश्वामित्र अयोध्या पवारे। राजा ने यथोचित स्वागत एवं पूजाके बाद उनसे कहा— 'मुझे! आप कार्य बनायें, मैं सब कुछ करूँगा', पर श्रीरामकी माँग करते ही राजा मुकर गये। इसपर

विश्वामित्रको कोश आ पड़ा, धगतल कौप उठा, ऐक्षम दर गये, पर वर्मिषुने सैमाया और लोह-दुर्बल वार मिली नानकी प्रतिका करके उसे न पूरा करनेमें इश्वर और अपूर्वके फल नहीं हो जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र भानी शून्यिगम भव और महात्म यदन्वी हैं। उनके साथ गमनों भेजनेमें अनेह लक्ष्म है। इनमें राजा राजी हो गये। यह और विश्वामित्रके माय पैदल विश्वास्थम नहीं पहुँचे। एती नारक, दुर्वष्ट आदिका वयस्तु, विश्वामित्रके यहाँ हो गयिय सकलक बरुआ। यह विश्वास्थम ही वह शब्द था, जहाँ भगवान् विश्वामित्र भी नष्ट किया था।

अब विश्वामित्रजे माय श्रीराम और लक्ष्मण उनके पुर पहुँचे। गुम्ने महाराज उनके श्रीरामको भद्रुर दिक्षानेको करा। श्रीरामने हैसी-लोकमें ही उसे तोड़ डाला। तदनन्तर महाराज दशरथको दुर्लभता गया और वे वारातके साथ आये। गोत्रोचारस्त्रित नारों भाइयोंका विवाह सम्पन्न हुआ। राजा दशरथने गोदान आदिकी विधि सम्पन्न की। राजा उनको भगवनी भीतारों दुर्लभ कर देवता, अथि तथा रामके सम्मुख विश्वा और कला—हे रुचाय! मैंनी पुत्री सीता आजसे आपकी सहवर्षिणी बन रखी हूँ। आल अपने हाथसे इसका हाथ पकड़कर इसे अपनाइये। यह पवित्रता कन्या छायाकी भौंति सदा आपका अनुसरण करेगी।' वहाँ दिनोंतक उनका सुख-खृण रहवार वारात अयोध्या लौटी। इस प्रकार उन्होंने वरह वर्ष भीत गये। अब महाराज दशरथने रामकी लोक-प्रियताका व्यानकर उनके अभिवेक्षकी तैयारी की। पर सरस्वतीकी प्रेरणासे मन्यरा और बादमें कैलंदीने बाधा दी। जब उसने रामसे कहा कि 'सत्य ही धर्मका मूल है। तुम अब ऐसा करो कि कुपिन होकर राजा तुम्हारे लिये सत्यको न त्यागें।' तब श्रीरामने कहा—'देवि! आप ऐसा न कहें। मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ और तीक्ष्ण विषका भी पान कर सकता हूँ।'

सत्यनिष्ठ रामने अपनी इस प्रतिज्ञाको जिस प्रसंचताके साथ सहजभावसे पूर्ण किया, वह विश्वके इतिहासमें अद्वितीय है। इस प्रसङ्गमें रामका सदाचार त्यागमें लिखित है।

विश्वधर्म या मानवधर्मके नामसे प्रख्यात धर्मके दस या तीस लक्षणोंमें सत्यके सविधि पालनसे राजा दशरथके परिवारमें अनेक सामान्य धर्म, विशेष, विशेषतर, विशेषतम् धर्मोंका उदय हुआ। सबं राजा दशरथने अपने प्राण देकर 'रामप्रेम'को सिद्ध कर दिया। लक्ष्मणजीका विशेष धर्म, भरतजीका विशेषतर एवं शत्रुघ्नजीका विशेषतम् धर्म अद्वृत आदर्शपूर्ण रहा। इस प्रकार एक महा दुःखद घटना इन सदाचारियोंके कृत्योंसे प्रातःस्मरणीय बन गयी। श्रीरामका वनगमन समस्त विश्वके सभी प्राणियोंके लिये कल्याणकारी हो गया। ननिहालसे लैटकर भरत रामको मनाने चित्रकूट चल पड़े। भरत-रामका वासीकीय रामायणका संवाद विश्व-साहित्यमें अद्वितीय है। श्रीरामने पिताकी बात रखी और विवश होकर भरत अयोध्या लौटे तथा चरणपादुकाको सिंहासनपर स्थापितकर उन्होंने नन्दि-प्राममें मुनिव्रत लिया। इधर श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ दण्डकारण्यमें प्रवेश किया। श्रीजानकीजी-को बिदाई देती हुई अनसूयाजीने पातिव्रत-धर्मका जो प्रवचन किया, भगवती सीता उसके परमादर्शस्वरूप ही थी। पति चाहे जैसा हो, फिर भी सदाचारिणी और पतिव्रता ख्यियोंका वही देवता होता है।

भगवान् रामका दर्शनकर महर्षि शरभङ्ग ब्रह्मलोक चले गये, तब उस आश्रमके सब क्रृषि एकत्र होकर श्रीरामके पास आये। ये सब निष्णात सदाचारी एवं तपस्वी थे। योगवल्से सबने अपना-अपना मन एकाग्र कर लिया था। वे धर्मज्ञ रामसे बोले—'हम आप शरणागतवत्सलकी शरणमें आये हैं। हे राम! आप निशाचरोंके हाथों मारे जाते हुए हम ऋषियोंकी रक्षा कीजिये।' श्रीरामने कहा—'हे महानुभाव! आप प्रार्थना नहीं, हमें आज्ञा दीजिये। इसी कार्यसे मैं यहाँ

आया हूँ।' सदाचारी राम अपने सदाचारी अनुज तथा सदाचारिणी पत्नीके साथ दण्डक वनको पवित्र करते हुए तथा मुनियोंको आश्वासन देते हुए पञ्चवटीमें निवास करने लगे। दुर्लचारिणी शूर्पणखाको जो दण्ड मिळना चाहिये वह लक्ष्मणजीके हाथों मिला। लक्ष्मण रावण राक्षस जातिका था। वह पुलस्त्यके पुत्र विश्रवोक्त वेटा था, पर जाति-विचारसे विश्रवी भी विप्र नहीं थे। वे साथु और तपसी थे। कैकसी राक्षसीने दारुण वेलामें उनसे पुत्र और पुत्री प्राप्त की थी। विश्रवोंके वचनसे ही वह कूरकर्मा राक्षस हुए। वामनपुराणमें परदाराकी अभिलाषा, प्ररये धनके लिये लोलुपता राक्षसोंका सामाविक्त कर्म कहा गया है, जो सदाचारके विपरीत धर्म है। रावणने सीता-हरण कर श्रीरामको शोकमान कर दिया, पर विश्रव होनेपर भी दोनों रुद्धविश्वियोंने संघ्या-वन्दन आदि नित्यकर्ममें कांभी अन्तर न आने दिया, न जटायुके प्रति तिलाष्ठलि आदि पितृकार्य करनेमें विविलता की। श्रीरामके प्रलाप एवं विलापसे उनके पत्नीप्रेमकी अधिकतां ही प्रतीत होती है। ऋष्यमूर्कके पथेपर हनुमानजी श्रीरामसे आ मिले। संत ही संतको पहचानते हैं। श्रीरामने हनुमानजीके विषयमें लक्ष्मणसे कहा—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन वहुधा श्रुतम्।
घुडं व्याहरतानेन न किञ्चिदपशङ्कितम्॥
एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिद्धयन्ति सर्वे ऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥

(वा० रा० किञ्जि० ३ । २९३५)

हनुमानजीके प्रयत्नसे सुग्रीव तथा श्रीराम अट्टौट मैत्री-बन्धनमें बैंध गये। 'प्रमीते व्रायते चर्तु नन्मित्रम्'— जो दुःखोंसे बचाये, वह मित्र होता है। श्रीरामने घहले सुग्रीवको दुःख दूर किया। उन्होंने वालीको छिपकर मार दिया। कलके रङ्ग सुग्रीवने किञ्चित्क्षन्धके राज्यके साथ अपनी पत्नीको भी प्राप्त किया। मित्रके लिये श्रीरामने वालीकी कृत्कारी

भी सहन कीं। पर बालीने जब कहा कि 'छिपकर कि 'यहाँ आकर गुप्त गीतिसे मैंने रावणकी सभी युवती मारना ठीक हो तो मुझे उत्तर दीजिये।' तब श्रीराम बोले—'वालिन्। धर्म, अर्थ, काम तथा लौकिक अवसर-वन हुई। मन ही इन्द्रियोंका खामी है। वही धर्म और अधर्म को समझे बिना बच्चोंकी तरह तुम मेरी निन्दा कर रहे हो। बुद्धिमान् आचार्योंसे शङ्का-समाधान किये बिना बानरोंके स्वभाववश तुम मुझे उपदेश क्यों देना चाहते हो? xx हमलोग पिताकी आज्ञासे अपने धर्मका पालन करते हुए धर्मविरुद्ध कार्य करनेवालोंको विविवत् दण्ड देते हैं। तुमने धर्मका अतिक्रमण किया है। तुम कामको पुरुषार्थ समझते हो और राजधर्मनुसार नहीं चलते। धर्ममार्गपर चलनेवालोंके लिये बड़ा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु—ये तीनों पिता-सद्वश होते हैं। छोटे भाई, पुत्र और शिष्य पुत्रके समान होते हैं। हे बानर! सज्जनोद्घारा परिज्ञात एवं पालित धर्म सूक्ष्म होता है। तुमने धर्मको त्यागकर सुग्रीवकी भार्याको रख लिया है, इसलिये मैंने तुम्हे मारा है।'

अपना धर्मद्रोह समझकर बाली रामका शरणागत बना। बानरोंमें आदर्श ब्रह्मचारी हनुमानजी हैं। सीतान्वेषणके क्रममें गोपदवत् समुद्रको लाँघ गये। रास्तेमें सुरसा, मैनाक तथा लङ्घिनीसे यथोचित व्यवहार करते धर-धर सीताजीकी खोज करने लगे। रावणके भरे-पूरे रनिवासमें धुसकर एक-एक नारीका निरीक्षण किया। मन्दोदरीको भी देखा। मधुशालामें भी सीताकी खोज की, पर सीता उन्हें नहीं मिली; तब ज्ञानी हनुमानजीके हृदयमें विविध विचार उत्पन्न हुए। उन्हें धर्मका भय ढरने लगा। उन्होंने विचार किया कि किसीके अन्तःपुरमें जाकर इस तरह शयन करती हुई खियोंको देखना पाप है। इससे मेरा सब धर्म नष्ट हो जायगा। फिर उन्होंने विचार किया कि मन और मेरी दृष्टि परायी खीपर नहीं जा सकती। मैंने तो परायी खीसे भ्रेम करनेवाले इस रावणको ही देखा है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् हनुमान् के हृदयमें कर्म-अकर्मका निश्चय उत्पन्न हो गया। उन्होंने देखा

सियोंका निरीक्षण किया, पर मेरे मनमें कामवासना उत्पन्न हुई। मन ही इन्द्रियोंका खामी है। वही धर्म और अधर्म करता है। पर मेरा मन मेरे ब्रह्ममें है। रीका पता लगानेके लिये लियोमें ही घोजा जाना है। शिशुमुलभ सदाचार ही नहीं, विपरीत स्थितियोंमें ज्ञानपूर्वक सदनेवाले सदाचारके उदाहरणोंका संप्रहालय बालमीकिरामायण है।

भगवती सीताके ऐसे समयके भी सदाचारके उद्गार दृष्ट्य हैं। अशोकवनमें संनात सीता विलग्यती हुई कहती है—'रावणके इतने कठोर वचनोंको सुनकर भी मैं पापिनी जीवित हूँ। रावण मुझे मारेगा—इस ग्लानिसे मै आत्महत्या कर दूँ तो भी मुझे पाप न लगेगा। xx मै रावणके द्वारा मार डाली जाऊँगी। मैं पतिव्रता हूँ। मै नियमके साथ रहती हूँ। अतः क्यों न अपनी चोटीसे ही गला बाँधकर यमपुर चल दूँ?' तभी उन्हे सहसा अपने तथा रुवंशकी मर्यादाका स्मरण हो आया। यही आत्ममर्यादा सच्चित्रिताका असली साधन है। उन्हीं सीताने हनुमानजीकी पीठपर बैठकर अविलम्ब पतिदर्शनके प्रश्नपर कहा—'हे हनुमन्! मैं पतिव्रता हूँ अतपि रामचन्द्रको छोड़कर मैं किसी अन्य पुरुषका शरीर अपनी इच्छासे नहीं दू सकती। हरणके समय मुझे रावणके शरीरका जो स्पर्श करना पड़ा था, वह इच्छाके विरुद्ध था। विवश और असहाय होनेके कारण ही वैसा हो गया। श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ आकर राक्षसों-सहित रावणको मारना और ले जाना ही उचित होगा। आदर्श पतिव्रता तो स्वेच्छासे किसीका स्पर्श भी नहीं करती, इसीसे सती नारीके अधीन भगवान् विष्णु भी रहते हैं। पातिव्रत सदाचारकी सीमा है। जौहर व्रत उसीकी देन थी। सीनाका मनचाहा हुआ। राम-रावण-युद्ध 'न भूतो न भविष्यति' ही था। पर उस भौतिक युद्धसे भी अतिरोमाङ्गक आध्यात्मिक युद्धका सामना

सदाचारिणी सीताको करना पड़ा । श्रीरामचन्द्रके आज्ञानुसार हनुमान् अशोकवाटिकामे गये और श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहा—‘हे वैदेहि ! महानुभाव श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीवके साथ सकुशल हैं । विभीषणकी सहायता तथा लक्ष्मणकी नीति और बानरोंके बलसे उन्होंने बलवान् रावणका संहार किया है । वीर रामचन्द्रने कुशल पूछते हुए आपका अभिनन्दन किया है और कहा है कि आपके ही प्रभावसे यह विजय प्राप्त हुई है । तभी हनुमान्ने चाहा कि उन राक्षसियोंको मार डाढ़ँ, जिन्होंने सीताजीको छाराया, धमकाया और दुःख दिया था । पर भूमिजा सीता बोली—‘बानरेन्द्र ! इन परवश राक्षसियोंपर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये । मैं जानती हूँ कि भाग्यके अनुसार सभी फलोंको भोगना ही पड़ता है । मैंने इन दासियोंका भी क्रोध सहन कर लिया है ।’
XXX पराधीन रहनेवाले पापियोंके पापकी ओर धर्मात्मा ध्यान नहीं देते । वे उनके प्रति किये गये उपकारका बदला भी नहीं लेना चाहते । मर्यादाकी रक्षा करना ही सज्जनोंका भूपण है । इस कर्तव्य और क्षमानिष्ठापर हनुमान् बोले—‘हे गुणवत्ति ! आप वस्तुतः रामचन्द्रकी अनुरूप ही धर्मपत्नी हैं ।’ जब सीताजी एक उत्तम ओहारवाली सुन्दर पालकीपर श्रीरामके सामने लायी गयीं, तब उन्होंने कहा—‘धर, वस्त्र, आकार, चहारदीवारी आदि खियोंके लिये परदा नहीं है । खियोंका सच्चा परदा तो उनका सच्चरित्र है ।’
फलतः पालकीसे उत्तरकर सीता पैदल पतिके पास आयीं और ‘आर्यपुत्र’ कहकर प्रेमविहळ हो गयीं । अपने पतिका दर्शनकर उनका मुखमण्डल चमक उठा । श्रीरामचन्द्रने कहा—‘मैंने यह सुद्ध अपमानको दूर करने, कुलमे कलङ्क न ओँ देने और लोकनिन्दासे बचनेके लिये जीता है, तुम्हारे लिये नहीं ।’ उन्होंने उत्तर दिया । जिस हृदयपर मेरा अधिकार है, वह आज भी आपमें अनुरूप है ।’
XXX हे लक्ष्मण ! चिता बनाओ ।

चिता ही इस रोगकी ओपविह हो सकती है । मेरे स्थानीने सशंक होकर मेरा त्याग कर दिया है । सीता जलती चितामें कूद पड़ती हैं ! सभी बानर और राक्षस हाहाकार करने लगे । उसी समय सभी देवता भी वहाँ आ गये । उन्होंने श्रीरामका हाथ पकड़कर कहा—‘आपने आगमे कूदती सीताकी उपेक्षा क्यों की ? आप आदि पुरुष हैं, सीता आपकी प्रकृति है ।’ ब्रह्माजीने भी कहा—‘सीताजी लक्ष्मी हैं और आप विष्णु हैं ।’ अग्निदेवने सीताको गोदमें लेकर रामचन्द्रको दे दिया । वे बोले—‘सीताकी अन्तरात्मा परम पवित्र है । आप उनको ग्रहण करें ।’ श्रीराम बोले—‘यदि मैं बिना इनकी परीक्षा लिये ही ग्रहण कर लेता तो सब लोग यही कहते कि ‘दशरथपुत्र रामचन्द्र संसारी व्यवहारोंसे अनभिज्ञ और कामाधीन हैं ।’
XX सीता अपने तेजसे स्वयं रक्षित हैं । सीतापर दुष्टात्मा रावण कभी मनसे भी आक्रमण नहीं कर सकता था । जिस तरह प्रभा सूर्यकी है, उसी तरह सीता मेरी नित्य अद्विज्ञनी है । इसलिये रावणके घरमें रहनेपर भी इनको रावणके ऐश्वर्यका लोभ नहीं हो सकता था । महादेवके साथ आये हुए श्रीदशरथजीने भी कहा—‘बेटी सीते ! रामने तुम्हारी पवित्रता प्रकाशित करनेके लिये ही तुम्हारे त्यागकी बात की थी । लक्ष्मण-को भी अपनी सेवाके लिये उन्होंने प्रशंसा की । श्रीरामने इस अवसरपर उनसे जो वर माँगा, वह भरत और कैकेयीके प्रति उनकी निश्छलताका धोतक है । श्रीराम बोले—‘पिताजी ! आपने कैकेयीसे कहा था—‘मैंने तुमको तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है । आपका यह शाप उन्हें न लगे ।’ अप्रतिम सदाचारका यह दिव्य दर्शन है ।

पुण्यक्षिमानद्वारा लंकासे चलकर श्रीरामचन्द्र अयोध्या पहुँचे और भरतजीसे जा मिले । राजा रामका राज्याभिषेक हुआ । वाल्मीकीय रामायणका सुखान्तक भाग समाप्त हुआ । सीताके सदाचरणकी कसौटी उत्तरकाण्ड है । इसीसे वाल्मीकिने इसकी भी रचना की । स्थितप्रज्ञ राम-

का कर्म-धर्म-कौशल पराकाष्ठातक पहुँच चुका था, पर सीताजीके प्रति प्रेमकी अलौकिक धारमें वे भी अधीर होते देखे गये। लोकनायक श्रीरामने लोकोंको प्रसन्न रखनेके लिये सब कुछ किया, पुनः सीताका त्याग भी किया तथा उस त्यागजनित क्षोभको लोकसंप्रहृष्टारा छिपाया, पर रसातलमें प्रवेश करती हुई सीताने प्रेमके उस फलगुको अन्तमें जटका दे दिया। वे दुःखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे तथा देरतक रोकर बोले—‘पूजनीये। भगवति वसुंधरे ! मुझे सीताको लौटा दो, अन्यथा मैं अपना क्रोध दिखाऊँगा। या तो तुम सीताको लौटा दो अथवा मेरे लिये भी अपनी गोदमें स्थान दो; क्योंकि पाताल हो या स्वर्ग मैं सीताके साथ ही रहूँगा।’ ब्रह्माने कहा—‘सीता साकेतधाममें चली गयी हैं। वहीं उनसे आपकी भेट होगी।’ पुरे ग्यारह हजार वर्षोंतक ‘रामराज्य’ पृथ्वीपर रहा। दैवी-सम्पत्ति तथा सुखका क्या कहना। कुत्ते और उल्लङ्घकको न्याय मिला। त्रिलोकमें रामराज्य-का वश छा गया। सदाचार उसका आधार था।

सदाचारका प्रमाण धर्मशास्त्रादि हैं, न कि निरेतर्क। इनके पाँव नहीं होते, न ये निर्णय देते हैं। निदान, नारद-जैसे साधुद्वारा दिखाये युग-धर्मनुकूल राजाका

काम (अनविकारी तभी शम्भूकका वधकर ऋषिपुत्रका जिलाना) श्रीरामने किया। कर्मसे वर्ण नहीं बनते, उनके स्वरूपका पोषण उससे होता है। वर्णानुकूल निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। कालसे ब्रातें करते समय दुर्वासाके कोपसे राज्य तथा श्रीरामको बचानेके लिये अन्तमें भगवान् अपने पुत्रों तथा भनीजोंको राज्यपर अभिविक्तकर सबन्धु एवं सहायकगणोंके साथ उन्होंने सर्व नदीके गोप्रतारकवाटपर स्नानकर अपने निय सांतानिक या लोक या साकेतके लिये महाप्रस्थान किया। पृथ्वीपर उनके अनुगामियोंमेंसे रह गये केवल पाँच—जाम्बवान्, मयन्द, द्विविदि, विभीषण तथा हनुमान्। अयोध्याके स्थावर-जङ्गम, मूलम-स्थूल सब चले गये। वह सूनी पड़ गयी। कुलदेवता ‘जगन्नाथकी सदा आराधना’का आदेश विभीषणको देते गये तथा ‘कथाप्रचारक’का कार्य श्रीहनुमान्-जीने अपने सिर लिया। विभीषणकी शरणागति तथा हनुमान्-जीकी कथाप्रियता दोनों हम कलिकालके जीवोंके उद्धारके लिये भगवकृपा-प्रसाद हैं। प्राचेतस महर्षि वाल्मीकिने चौबीस अक्षरवाले गायत्री मन्त्रपर रामायणकी रचना की। इसकी कथामें सदाचारकी सूखम व्याख्या है, जो प्राणियोंके कल्याणके लिये परम आदर्श है।

आर्य-नारीकी आदर्श सदाचार-निष्ठा

✓ अशोकचाटिकामें श्रीसीताजीको घहुत दुःखी देखकर महावीर हनुमान्-जीने पर्वताकार शरीर धारण करके उनसे कहा—‘माताजी ! आपको कृपासे मैं बन, पर्वत, मन्दिर, महल, चहारदीवारी और नगरद्वारसहित इस सारी लङ्घापुरीको रावणके समेत उठाकर ले जा सकता हूँ। आप कृपया मेरे साथ शीघ्र चलकर राघवेन्द्र श्रीरामका और लक्ष्मणका शोक दूर कीजिये।’

इसके उत्तरमें सतीशिरोमणि श्रीजनककिशोरीजीने कहा—‘महाक्षे ! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जानती हूँ। परंतु मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती; क्योंकि मैं पतिभक्तिकी दृष्टिसे एकमात्र आर्यपुत्र श्रीरामके सिवा अन्य किसी भी पुरुषके शरीरका स्पर्श स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकती। रावण मुझे हरकर लाया था, उस समय तो मैं निरुपाय थी। उसने चलपूर्वक पेसा किया। उस समय मैं अनाथ, असमर्थ और विवश थी। अब तो श्रीराघवेन्द्र ही पधारकर रावणको मारकर मुझे शीघ्र ले जायँ, यही मेरी इच्छा है।’

✓ वाल्मीकीयरामायणमें श्रीरामके सदाचारसे शिक्षा

(ले०—प० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी, व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्राचार्य)

न हि रामात् परो लोके विद्यते सत्यथे स्थितः ।

(वा० रा० अयो० ४४ । २६)

अम्भा सुमित्राकी इस उक्तिसे सर्वथा सिद्ध है कि श्रीरामचन्द्रसे बढ़कर इस विश्वमें सत्यथानुगामी व्यक्ति नहीं है, अतः रामके द्वारा सेवित आचार सदाचार एवं सन्मार्ग है—‘रामो विग्रहचान् धर्मः’(३ । ३९ । १३) इस उक्तिसे भगवान् रामचन्द्रद्वारा अनुमोदित, आश्रित सदाचार ही रामायणप्रतिपाद्य सदाचार है । यद्यपि रामायणमें अनेक स्थानोंपर सदाचारका निरूपण हुआ है, तथापि श्रीरामका आचार सब सदाचारोंका शिरोमणि, सन्मार्गमें प्रधान, लौकिक व्यवहारोंकी कसौटी तथा धर्म और मर्यादाका निष्कृष्ट पुरुषाक है । रामकी तरह चरित्रान्, मर्यादा-पालक व्यक्ति दुर्लभ है । यदि सभी मानव उनके कर्मोंका अनुसरण करें तो यह मर्यादेक दिव्यलोक हो जाय । उनके आचरणके विषयमें कहा गया है—

स च नित्यं प्रशान्नात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
(अयो० १ । १०, १३)

‘श्रीराम सर्वदा शान्तचित्त, पूर्व एवं मृदुतापूर्वक दूसरेके साथ बोलते थे । वे खुखा बोलनेपर उसका प्रत्युत्तर नहीं देते थे । वे बुद्धिमान्, मधुर और प्रियवक्ता तथा वल्वान् होने हुए भी निरभिमानी थे ।’

मातृ-पितृ-भक्ति—पुत्रको माता-पिताकी सेवा तथा उनकी आजाका पालन करना भारतीय सदाचारका मुख्य अङ्ग है । वाल्मीकीयरामायण भगवान् रामकी अनुपम मातृ-पितृ-भक्ति आदर्श उपस्थित करती है । यद्यपि माता-

पिताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले भारतमें पहले भी थे और अब भी अनेक हो सकते हैं; किंतु विमाताकी अनुपयुक्त कठोर आज्ञा शिरोवार्य करनेवाले तो राम ही थे । जब कैकेयीने वरदानके व्याजसे रामको वन जानेका आदेश दिया, तब रामने उपालम्पपूर्वक कहा—‘मा कैकेयी ! निश्चय ही तुम मेरे सद्गुणोंके प्रति संदेह करती हो; क्योंकि स्वयम् अधिक समर्थ होती हुई भी इसे तुमने राजासे क्यों कहा ?’ अब पिताकी आज्ञा-पालनमें उनके उत्साहको देखिये । वे कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
(अयो० ८१ । २८)

‘देवि ! मे पिताकी आज्ञासे अग्नि और समुद्रमें कूद सकता हूँ तथा तीक्ष्ण विष भी पी सकता हूँ ।’ माता कौसल्या-द्वारा वन जानेसे रोकनेपर रामकी पितृभक्तिका निर्दर्शन देखें । वे कहते हैं—‘पिताकी आज्ञाके उछङ्घनवरनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ । मैं उनकी आज्ञासे वन जाना चाहता हूँ ।’ (अयो० २१ । ३० ।) जहाँ पिताके प्रति भगवान् रामकी ऐसी अविचल भक्ति कि वे माता कौसल्याका वचनतक नहीं मानते, वही माताकी आज्ञा न माननेका अन्तःक्लेश सदा उनके हृदयको व्यथित करता रहा । रामकी ग्लानिभरित निम्नलिखित उक्ति ही इसे प्रमाणित कर रही है ।

मा सा सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदशम् ।
मन्ये प्रीनिविशिष्या सा मत्तो लक्षणं सारिका ।
यत्स्याः शूश्रेते वाक्यं शुक् पादमर्देश ॥
(अयो० ५३ । २१-२२)

‘लक्षण । मैं माताको अनन्त दुःख देता रहा हूँ । कोई भी नारी गंडे-जैसा पुत्र उत्पन्न न करे; हे

लक्षण ! मुझसे तो श्रेष्ठ वह मैना है जो तोतेसे कहती है कि इनके शत्रुका पैर काट लो ।'

भ्रातृस्नेह—भाईके साथ कैसा व्यवहार किया जाय—इस विषयमे रामका चरित्र मानवमात्रके लिये सदासे आदर्श रहेगा । उन्होने सदा अपने भाईयोके प्रति अनुपम स्नेह, उनके सुख-सुविधा, उत्साह और अभिलापापूर्तिका ध्यान रखा । चित्रकूटमे भरतके आगमनके अवसरपर उनके उदार अगाध भ्रातृस्नेहका परिचायक है । वे कहते हैं—‘लक्षण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम तथा पृथ्वीमैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ । मैं भाईयोंकी भोग्य सामग्री और उनके लिये राज्य चाहता हूँ । भरत, तुम्हे और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसमे आग लग जाय ।’ (अयो० ९७ । ५, ६-८ ।)

शरणागतोंकी रक्षा—शरणमें आये हुए भयभीत पुरुषकी रक्षा करना प्रत्येक शक्तिशाली वीर पुरुषका कर्तव्य है । रावणके द्वारा अपमानित विभीषण कांदिशिक (निराश्रित) अवस्थामे जब अशरण-शरण भगवान् रामकी शरणमे गये, तब वानरसेनापतियोंके मनमे अनेक प्रकारके संदेह उत्पन्न हुए । केवल हनुमान् जीको छोड़कर सभीने विभिन्न प्रकारके मत व्यक्त किये । पर रामने बड़ी दृढ़ताके साथ सब मन्त्रियों और सेनापतियोंके सामने शरणागतरक्षणरूपी धर्मको सर्वथा उचित एवं परिपालनीय बताया । यदि शत्रु भी शरणागत है तो वह धर्मात्मा व्यक्तिद्वारा रक्षणीय है—

आतों वा यदि वा दीनः परेपां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
(६ । १८ । २८)

‘यदि शत्रु भी दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करे तो उसे मारना नहीं चाहिये । दुःखी अथवा अभिगानी कोई भी शत्रु अपने विपक्षीका शरणागत हो

जाय तो धर्मज्ञ पुरुष अपने प्राणके समान उसकी रक्षा करे ।’

सच्छदेव प्रपन्नाय तवासीनि च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनग्नैं हरिश्चेष्ट दत्तमस्याभयं मया ।
विर्भापणो चा सुश्रीव यदि चा रावणः स्वयम् ॥
(यु० का० १८ । ३३-३४)

‘मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरणमे आकर यह कह दें कि ‘मैं आपका हूँ’, उसको भीं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ । हे सुश्रीव ! वह विभीषण या रावण ही क्यों न हो, मैंने इसे अभयदान दे दिया; तुम इसे लाओ ।’ जयन्त काककी रक्षाका उदाहरण भी ऐसा ही है । शरणागतकी यह परम्परा भारतवर्षकी धरोहरके रूपमें आजतक चली आ रही है, जिसका साक्षी इतिहास है ।

सत्य-पालन—मानवके अभ्युत्थानके लिये तथा सांसारिक व्यवहारको सुदृढ़ एवं सशक्त करनेके लिये सत्य-पालन आवश्यक है । भगवान् रामने अपने वचन, आचार और प्रतिज्ञाका पालन सत्यतासे किया है । उनके सीताके प्रति वचन है—

अप्यहं जीवितं जहां त्वां चा सीते सलक्षणाम् ॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥
(३ । १० । १८-१९)

‘सीते ! मैं तुम्हे छोड़ सकता हूँ, लक्षणको भी छोड़ सकता हूँ, अपने प्राणोंका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु ब्राह्मणोंसे मैंने जो प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे कभी नहीं छोड़ सकता ।’ वाल्मीकि इसी प्रकारका साक्ष्य दे रहे हैं—

दद्याच्च प्रतिगृहीयान् सन्यं ब्रूयाच्च चानुतम् ।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥
(५ । ३३ । २५)

‘राम प्राणोंके लिये भी कभी झूठ नहीं बोलते थे । वे डान देते ही थे, कभी लेते नहीं थे । स्वयं रामकी यह उक्ति है—

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।

'मैं पहले कभी न तो झट बोला हूँ और न आगे कभी झट बोलूँगा ।' वे कहते हैं—'देवि ! राम दो तरहकी बात नहीं बोलता, जो कुछ कह दिया, कह दिया । फिर वह उसके विरुद्ध नहीं करता ।' (२ । १८ । ३०) सदाचारका यह एक उदात्त उदाहरण है । जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके श्रीरामने प्रतिज्ञा की थी, उस समय भी कहा था कि—

तद् ब्रूहि वचनं देवि राजो यद्भिकाङ्गितम् ।
करिष्ये प्रतिज्ञाने च रामो द्विनाभिभाप्ते ॥

मैं लोभ, मोह और अज्ञानसे पिताकी सत्य मर्यादाको भङ्ग नहीं करूँगा । उन्होंने चित्रकूटमे भी भरतसे कहा था । ऋषियोंके समक्ष प्रतिज्ञा करके अब मैं जीतेजी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही इष्ट है ।

पिता-भक्ति—माता-पिताकी भक्तिका अनुपम आदर्श भगवान् रामने जो निभाया है, उसका निर्वाह करनेवाले कतिपय व्यक्ति ही गणनामे मिलेगे । पिताके प्रति उनकी भक्तिकी चर्चा हो चुकी है । अब विमाताके प्रति देखें । मातृ-भक्तिकी परम सीमा यहाँ प्रकट है—

न तेऽम्या मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्याकुनाथस्य भरतस्य कथा कुरु ॥

(३ । १६ । २७)

वे पञ्चवटीमें कैकेयीके प्रति लक्षणके अनुदार बचन सुनकर कहते हैं—'लक्षण ! तुम्हें मझनी माँकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये । तुम इश्वाकु-कुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही चर्चा करो' । सदाचारका यह कैसा अवदात रूप है !

कृतशता—मनुष्यका कृतज्ञ होना मानवताका परम उपादेय गुण है, जिसका प्रत्येक मानवमे होना आवश्यक है । जटायुके मरनेपर भगवान् रामका कृतज्ञतापूर्वक शोकोद्धार इस विषयमे उल्लेख्य है ।

—'लक्षण ! इस समय सीताहरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है । जिस प्रकारसे पूज्य पिता दशरथ मेरे माननीय थे, वैसे ही ये पश्चिराज जटायु भी हैं । (३ । ६८ । २५-२६ ।) इसी प्रकार हनुमानजी-के प्रति रामकी कृतज्ञता तथा उदारतामयी उक्ति है—

मद्व्वेजीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पाव्रताम् ॥

(७ । ४० । २४)

'हनुमन् ! तुमने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मेरे अंदर ही जीर्ण हो जाय, मेरे लिये उसका प्रत्युपकार करनेका कोई कभी अवसर ही न आये; क्योंकि आपत्तिमे ही प्रत्युपकारकी अपेक्षा होती है ।'

मित्रता—रामके चरित्रमें मैत्रीकी पराकाष्ठा देखी जाती है । विपन्न सुग्रीवके साथ मैत्री कर रामने उसका पूरा निर्वाह किया और उसे श्रेष्ठ मित्र माना तथा अन्तिम समय उन्हे अपने साथ भी रखा । (वा० रा० ७ । १०८ । २५) मैत्रीका निर्वाह सदाचारका अन्यतम अङ्ग है ।

उदारता—कैकेयीसे बात करते हुए भगवान् राम कहते हैं—

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणनिष्ठान् धनानि च ।
हष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥

(वा० रा० २ । १६ । ७)

'मैं भरतके लिये राज्य, सीता, प्रिय प्राणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको भी प्रसन्नतापूर्वक दे सकता हूँ ।' रामकी ऐसी सदाचारमयी उदात्त भावना प्रत्येक अवसरपर देखनेको मिलती है । जहाँ देनेका प्रकरण आया है, वहाँ उनकी कहीं भी संकुचित वृत्ति नहीं देखी जाती ।

अपकारकी विस्मृति—उपकारवा स्मरण करना आवश्यक इसलिये है कि किसी प्रकारसे वह उसका प्रत्युपकार कर ऋणमुक्त हो, किंतु अपकारका स्मरण

करना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्युपकार कोई साधु-जन-सम्मानित नहीं है। इसलिये राम अन्य परकृत संकड़ों अपकारोंका भी सरण नहीं करते थे, अपितु उसका विस्मरण करना ही श्रेयस्कर समझते थे—

कदाचिदुपकारेण युतेनैकेन तुष्यति ।
न सरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥

(२।१।११)

सहिष्णुता—इसी प्रकार उनका वनवासी जीवन तथा सीता-त्यागादिकी घटनाएँ सहिष्णुताकी भी सीमारेखा वना देती हैं, जिन्हे पूर्ण स्वप्नसे रामायणमें देखा जा सकता है।

पति-पत्नी-सम्बन्ध (दाम्पत्य-भाव)—पति तथा पत्नीका अट्ट सम्बन्ध, निश्चल प्रेम, उदात्त भावना, हृदय-की विशालता, एकता, परस्पर विश्वासका अवदात-स्वरूप रामके चरित्रमें प्राप्त होता है। न केवल राम ही इस सम्बन्धमें आदर्श उदाहरण हैं, अपितु विदेहकुमारीका भी स्थान सर्वोच्च है। स्वयं सीताकी उक्ति रामके एक पत्नीत्रितके प्रमाणमें पर्याप्ति है—

कुतोऽभिलयणं स्त्रीणां परेणां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्रं न चाभूत् ते कदाचन ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित् ।
स्वदारनिरतद्वैव नित्यमेव चृपात्मज ॥

(३।९।५-६)

‘राजन् ! पर-स्त्रीविप्रयक धर्मविश्व अभिलापा आपको न है, न हुई थी और न भविष्यमें होगी। राजपुत्र ! आपके मनमें यह दोष कभी उदित नहीं हुआ। आप सदा अपनी धर्मपत्नीमें ही रत रहते हैं।’ राक्षसियोंको फटकारती हुई सीता कहती हैं, मेरे पति दीन हों अथवा राज्यहीन, वे ही गेरे स्त्री तथा गुरु हैं, मैं उन्होंमें अनुरक्त हूँ—जैसे कि उच्चर्चना मूर्यमें, शची शक्रमें, अरुंधती वसिष्ठमें, रोहिणी चन्द्रमें, लोपामुद्रा अगस्त्यमें, मुकन्या च्यवनमें, सावित्री सत्यवान्में, श्रीमती कपिलमें, मद्यन्ती सौदासमें, केशिनी

सगरमें, दमयन्ती नदमें अनुरक्त है। (सु० का० २४। ९)

कनिष्ठ भ्राताका कर्तव्य—

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेप तवान्यं ।

एष लोके सतां धर्मो यज्ञेष्टवशगां भवेत् ॥

सुमित्रा वनवासके अवसरपर लक्षणसे कह रही हैं— श्रीराम संकटमें हों अथवा समृद्धिमें हों, ये ही तुम्हारी गति हैं। हे निष्पाप ! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बडे भाईके अनुकूल रहे। (२।४०।६)

दयालुता—रामचन्द्र परम दयालु थे, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। वे भगवान् विष्णुके अवतार थे। अतः भगवत्ताके कारण दया-सागर और भक्त-वत्सल होना उनका स्वाभाविक धर्म है। किंतु मनुष्य बननेपर सांसारिकतामें भी उनकी दयालुता, रावणके गुसचर या दृत शुक्रके प्रति द्रष्टव्य है—‘नाधातयत् तदा रामः श्रुत्वा तत्परिदेवितम्’ (६।२०।३४)—, उनका विश्वाप सुनकर रामने उसका वध नहीं होने दिया। उन्होंने वानरोंसे कहा कि ‘इसे छोड़ दो, यह दृत होकर ही यहाँ आया था।’

मर्यादा—भगवान् रामचन्द्र मर्यादाका पूर्णस्वप्नसे आजीवन पालन करनेके कारण ही लोकमें मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते हैं। वे स्वयं मर्यादित रहते हुए दूसरेको भी मर्यादित देखना चाहते थे तथा मर्यादाका उल्लङ्घन करना व्यक्तिका बहुत बड़ा दोष एवं अपराध समझते थे। उन्होंने ऐसे ही व्यक्तियोंके ऊपर अख उठाये हैं, जो मर्यादाको लौघकर समाजको दूषित कर रहे थे; जैसे बाली, रावण आदि राक्षस, शम्बूक, ताड़का आदि अमर्यादित व्यक्ति। भगवान् राम वैंस्को भी मरणान्तरक ही मर्यादित मानते थे, उसके उत्तरकालतक नहीं; इसलिये ऐसे अधम व्यक्तियोंको भी मरणोत्तर उत्तम गति दी जो दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य थी। स्वयं रामका यह वचन द्रष्टव्य है—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येव यथा तव ॥
(६ । १११ । १०१)

रावण-वधके अनन्तर राम विभीषणसे कह रहे हैं कि 'मरणतक ही वैरभावकी सीमा है । वैरभाव सप्रयोजन् होना चाहिये, निष्प्रयोजन नहीं । प्रयोजनकी पूर्तिके साथ ही वैरभावकी समाप्ति हो जानी चाहिये । तुम इसका संस्कार करो, जैसा यह तुम्हारा आत्मीय है, वैसा ही मेरा भी है ।'

मर्यादाकी रक्षा हो, इसलिये उन्होंने कौसल्याकी आज्ञा (जिनका स्थान पितासे दशगुना बड़ा था—'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्छयते') न स्वीकार करके अपने पिताकी मर्यादा सुरक्षित की । वे पुरुषके एकपलीक्रतकी मर्यादाको परमावश्यक समझते थे । यही कारण है कि सीता-परित्यागके अनन्तर पुत्र-पली-रहित होते हुए भी द्वितीय पलीको स्वीकार नहीं किया और सुर्वर्गमयी सीताकी प्रतिमासे अश्वमेघ-यज्ञका अनुष्ठान किया । मर्यादापालक राम-के सम्पूर्ण जीवनके मर्यादित होनेके कारण ही उन्हे वाल्मीकिने महान् धर्मके रूपमे स्वीकार किया । रामकी यह उक्ति ख्ययं उन्हे धर्मसूर्तिका खरूप प्रदान कर रही है—

नाहर्मर्थयरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृपिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममाश्रितम् ॥
(२ । १९ । २०)

'देवि ! मैं धनका उपासक होकर संसारमे नहीं रहना चाहता । तुम विश्वास करो । मैंने भी ऋषियोंकी भौनि निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है ।' प्रसङ्गवश कुछ सदाचारके वचनोंको भी उद्धृत करना आवश्यक समझकर अब वाल्मीकिप्रतिपादित यहाँ कुछ खियोंके सदाचार-विषयकी बातें ढी जा रही हैं—

जिन खियोंको अपना पति—चाहे वह नागरिक, वनवासी, भला-वुरा या किसी भी प्रकारका क्यों न हो, पर प्रिय हो, उन खियोंको अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है । दुष्ट खमाववाला, स्वेच्छाचारी, धनहीन भी पति उत्तम खियोंके लिये श्रेष्ठ देवता है । हे सीते ! पतिसे बढ़कर खीका कोई हितकारी बन्धु नहीं है, इसे मै (अनसूया) विचारपूर्वक देख रही हूँ । असाधी, कामुकी खियोंको गुण और दोपोंका ज्ञान नहीं रहता । वे पतिपर शासन करती हुई खच्छन्द विचरती है ।' (अयो० ११७ । २३ । २७ ।)

रामका कौसल्याके प्रति यह कथन भी सदाचारिणी खियोंके लिये उपयोगी है—जो स्त्री गुण और जातिसे उत्तम होकर भी ब्रत और उपवासमें (ही) आसक्त रहती है और पतिसेवा नहीं करती, वह अधम गतिको पाती है । खियाँ देवताओंकी पूजा-वन्दनासे रहित होती हुई भी पतिसेवासे उत्तम गनि प्राप्त करती हैं । पतिकी सेवा तथा उनका प्रियकार्य करना ही खियोंका वैदसम्मत धर्म है । (२ । २४ । २५-२८ ।)

सीताका रामके प्रति यह कथन भी सदाचारका उत्कृष्ट रूप है—'आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये अपने पुण्यका भोग करते हुए अपने-अपने भाग्यानुसार जीवन विताते हैं । केवल नारी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है । खियोंके लिये इस लोक तथा परलोकमे एकमात्र पति ही आश्रय है, पिता-पुत्र आत्मा, माता और सखीजन सहायक नहीं हैं ।' (अयो० २७ । ४—६ ।) कौसल्याका सीताके प्रति उपदेश कुलीन नारियोंके लिये भी आदर्श सदाचार है—

साधीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
खीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥
(२ । ३९ । २४)

शील, सत्य, शास्त्र, मर्यादामे स्थित साध्वी शियोके एकमात्र पति ही परम पत्रित्र देव हैं।

वाल्मीकीयरामायणमें प्रतिपादित सदाचारके वर्णनके प्रकरणमें श्रीरामके आचरणको आदर्श माना गया है और उनके द्वारा किया गया आचार ही मुख्य अनुकरणीय सदाचार समझा जाता है। इसीलिये

रामायणका महातात्पर्यार्थ 'रामवदेव वर्तितव्यं न क्वचित् रावणादिवत्' प्रसिद्ध है। श्रीरामका सदाचार सबके लिये अनुकरणीय है। इस प्रकार देखा जाय तो भगवान् रामके प्रत्येक कार्य जन्मसे यात्रास्थिति मर्यादासे पूर्ण रहा। अतः वाल्मीकीयरामायणका सदाचार भगवान् रामका आचार ही है जो मानवमात्रके लिये अनुकरणीय है।

महाभारतमें सदाचार-विवेचन

(लेखक—श्रीगिरिधरजी योगेश्वर, एम.० ए०)

सभी शास्त्रोंमें मूर्द्धन्य पञ्चमवेद महाभारत सदाचार-सम्बन्धी उपदेशोंका अक्षरं रत्नाकर है। इस सम्बन्धमें महर्पि कृष्णद्वैपायनका यह उद्घोप कि—‘जो कुछ महाभारतमें वर्णित है, वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है’—अक्षरशः सत्य है। अठारह पर्वों, एक सौ पर्वाध्यायों, एक हजार नौ सौ तेर्वेस अध्यायों तथा एक लाख श्लोकोंवाले इस ‘काण्डविदेशमें पदे-पदं सदाचारके मधुर सुलिलित अमृतोपदेश भरे पड़े हैं। महाभारतकी मूलकथा सदाचारी पाण्डवोंकी दुराचारी कौरवोंपर विजयका दिग्दर्शन कराती है। मूलकथाके साथ-साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी सदाचारका महत्व दरसाती हैं। आदिपर्वके आरम्भमें आयोद्धैस्मके शियों—‘आहुणि,’ ‘उपमन्यु’ और ‘वेद’ आदिकी कथाएँ आदर्श गुरुभक्तिके सुन्दर उदाहरण हैं। यथातिके सर्व-पतनके समय अष्टकने उनसे प्रश्न किया कि—‘राजन् ! मनुष्य सर्वश्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे कर सकता है ?’ तो उन्होंने अपने उत्तरमें सदाचारका निरूपण करते हुए कहा था, ‘सर्वके सात द्वार हैं—दान, तप, शम, दर्म, लंजा, सरलता और करुणा।’ अभिमान तपको नष्ट कर देता है। अभयके चार साधन हैं—अग्निहोत्र, मौन, वेदाध्ययन और यज्ञ। सम्मानित होनेपर सुख और अपमानित होनेपर दुःख नहीं मानना चाहिये।

वनपर्वमें पतित्रता खी तथा कौशिक व्राह्मणकी कथाके माध्यमसे मार्कण्डेय ऋषि पाण्डवोंको शिष्याचार-का उपदेश देते हुए कहते हैं—‘शिष्य पुरुष यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय और सत्यभापणका ही व्यवहार करते हैं।’ सदाचारी मनुष्य वही है जो काम, क्रोध, लोम, दर्म और उदण्डता आदि दुर्गुणोंको जीत लेता है। वेदका सार है—सत्य, सत्यका सार है—इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है—त्याग। त्याग शिष्य पुरुषोंका विशेष गुण है। शिष्य पुरुष अलोलुप, विद्वान् और नियम-पालक एवं धर्मपर चलनेवाले होते हैं। नास्तिक, पापी तथा निर्दीयी पुरुषोंका सङ्ग छोड़ दो। अहिंसा और सत्य—ये ही जीवोंका कल्याण करते हैं। न्याययुक्त कर्मोंका आरम्भ, किसीसे द्रोह न करना और दान करना ही धर्म है—यही शिष्याचार है।

महाभारतमें सदाचारका अत्युत्तम विवेचन शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें हुआ है। शान्तिपर्वमें एक स्थान-पर युधिष्ठिरको शीलकी महत्ता बताते हुए महाराज भीष्मजीने उन्हे मन, वाणी और शारीरसे किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सामर्थ्यानुसार दान देना, केवल वही कार्य करना जिससे सभी प्राणियोंका मङ्गल होता हो तथा जिसे करते समय आत्म-संकोचका अनुभव न होता हो—शीलका संक्षिप्त लक्षण बतलाया है। इसी

प्रसङ्गमें इन्द्र और प्रह्लादकी कथाके प्रतीकरूपमें शील, धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीको शीलके ही आधारपर आश्रित बताया गया है—

**धर्मः सत्यं तथा वृत्तं वलं चैव तथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥**
(महाभारत शान्ति० १२४ । ६२)

युविष्टिरके प्रति भीष्मपितामहजीने शिष्ट पुरुषोंके गुणोंका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—‘शिष्ट पुरुष मांस-भक्षणसे दूर, प्रिय-अप्रियमें सम रहते हैं; इन्द्रिय-संयम तथा सत्य-पालनमें ही प्रीति रखते और दान देते ही हैं; दान लेनेकी चेता नहीं करते। वे परोपकारी, दयालु, अतिथिसेवी, माता-पिताके सेवक और देवता तथा पितरोके पूजक होते हैं। उनमें काम, क्रोध, ममता, मोह, मत्सरता, भय, चपलता, लोभ, पिशुनताका सदा अमाव होता है। वे लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन और मरणको समान समझते हैं। वे उच्चमी, दृढपरिश्रमी, प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ मार्ग-पर ही चलनेवाले होते हैं। वे धन या यशकी इच्छासे नहीं, अपितु निःखार्थभावसे धर्मका सेवन करते हैं, धर्मका वाद्य ढोग नहीं रचते। दूसरोंके संकट दूर करनेके लिये वे अपना सर्वस्वतक छुटा सकनेका साहस करते हैं।’

शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मके दो सौ तैतालीसवें अध्यायमें मुख्य सदाचारका वर्णन है। इसमें कहा गया है कि सदाचारी पुरुष सूर्योदयसे धंटाभर पहले उठे, सूर्योदयके समय कभी न सोये। सडकपर, गौओंके मध्य और अन्नसे भरे हरे-भरे खेतोंमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करे। शौचके उपरान्त मनुष्यको कुला करके नदी आदिमें स्थान, सथ्या और देवता-पितरोका श्रद्धाभावसे तर्पण करना चाहिये। प्रातः-सायंकी संध्या कर गायत्रीजप करे।

भोजन करनेसे पहले दोनों हाथ-पैर और मुँह घोलेना चाहिये तथा पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिये। परोसे भोजनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। रातको भीरों पैर न सोये। ब्राह्मणको विषसाशी तथा अमृतभोजी होना चाहिये—

**विषसाशी भवेत्तिव्यं नित्यं चामृतभोजनः । १५
(२४३ । १५)**

जो मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता और नख चवाता है, उसकी आयु क्षीण होती है। अतिथिको कभी भूखा न रहने दे। न्यायसे जीविका अर्जित करे और माता-पिता आदि बड़ोंकी आज्ञासे ही उसे खर्च करे। गुरुजनोंको आसन, मान, दान आदिसे सदैव प्रसन्न रखे। नगी छी, उदय, अस्त, मध्याह तथा ग्रहणके समय सूर्यपर दृष्टिपात वर्जित है। परिचित मनुष्यसे भेट होनेपर कुशल-क्षेम पूछना चाहिये। सभी शुभकार्य दाहिने हाथसे करे। सूर्य और चन्द्रमाकी ओर मुँह करके कभी पेशाव न करे। खीके साथ एक आसनपर सोना और एक ही पात्रमें भोजन करना आयुको नष्ट करता है। अपनेसे बड़ोंको कभी ‘तू’ कहकर न पुकारे। शिष्ट लोगोंका कथन है कि सभी प्राणियोंका धर्म मानसिक है, अतः मनसे समस्त जीवोंके कल्याणका ही चिन्तन करना चाहिये।’

अनुशासनपर्वके ९७, ९९ तथा १०४वें अध्याय-में सदाचारका अत्यन्त मार्मिक निरूपण हुआ है। अध्याय १०४में आता है कि युविष्टिरने भीष्मपितामह-से पूछा कि ‘शास्त्रोमे मनुष्यकी आयु सौ वर्ष वृत्तायी-गयी है; पर क्या कारण है कि वह ऐपूरी आयु भोजन-से पहले ही मृत्युका ग्रास बन जाता है?’ तब भीष्मजीने जो कहा वह इस प्रकार है—‘युविष्टिर! आयु, लक्ष्मी तथा इहलोक, एवं परलोकमें

* इसीके श्लोक १२-१ इके अनुसार कुदुम्बशेष अन्नको ‘विषस’ तथा यजशेषको ‘अमृत’ कहा गया है।

यश सदाचारसे ही मिलता है। जिस क्रूर, हिंसक प्राणीसे सभी जीव संत्रस्त एवं उद्धिन रहें, वह कभी बड़ी आशु नहीं पाता। अतः कल्याणकामी मनुष्यको सदाचार-पालनमें ही तत्पर रहना चाहिये। पापी-से-पापी मनुष्य भी सदाचारका क्रमशः पालन करनेसे महात्मा बन सकता है। सत्युरुपों और साधु पुरुषोंका व्यवहार ही सदाचारका खस्त्रप है। सदाचारी मनुष्यके नाम-श्रवणमात्रसे ही दूरस्थ प्राणी प्रेम करने लगते हैं। गुरु और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले, नास्तिक, अधार्मिक, दुराचारी व्यक्तिकी आशु लम्बी नहीं होती। शीलहीन, अमर्यादित और अपरवर्णकी लियोंसे संसर्ग करनेवाला मनुष्य मरनेपर नरकमें जाता है। सदाचारी श्रद्धालु और ईर्ष्यारहित पुरुष सौ वर्ष-तक जीता है। क्रोधहीन, सत्यवादी, प्राणियोंकी हिंसा न करनेवाले, परच्छिद और दोपद्धिसे हीन, कपटशून्य मनुष्य भी पूरी आशु भोगता है।

✓ 'प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रा-त्याग करके धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका चिन्तन करे। फिर शौचसे निवृत्त होकर आचमन करके संध्योपासन करे। सायंकाल भी इसी प्रकार शान्त और मौनभावसे संध्योपासन करना चाहिये। संध्योपासन जीवनको उदात्त और अवदात वनानेका श्रेष्ठ अनुष्ठान है। संध्योपासनसे द्विज दीर्घायु ग्रास करता है और न करनेसे पतित हो जाता है। दीर्घसंथाका तात्पर्य दीर्घसमयतक गायत्रीके जपसे है। पर-खी-गमनसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। खियोंके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक व्याधिचारी लम्घेदःपुरुषः नरकमें रहता है। केशोंका शृङ्गार, आँखोंमें अञ्जन तथा दन्त-मुख-प्रक्षालन आदि कर्म और देवपूजा दिनके पैदेले पहरमें ही करनी चाहिये। यदि मार्गमें ब्राह्मण, गाय, राजा, बूढ़ा, गर्भिणी खी, दुर्वल और बोझ उठाये मनुष्य मिले तो स्वयं किनारे हटकर

इन्हे मार्ग दे देना चाहिये। चलते समय ब्राह्मण, देवालयों, गुरुजनों और परिचित मनुष्योंको दाहिने छोड़े, अपरिचित-के साथ अथवा अकेले कभी यात्रापर न जाय तथा प्रातःसायं, मध्याह और विशेषकर रातमें कभी चौराहोपर खड़ा न रहे। दूसरोंके पहने वस्त्र और जूतोंका उपयोग न करे। किसीकी निन्दा, चुगली और बढ़नामी न करे। औरोंको नीचा डिखानेका प्रयास कभी न करे। कुलहाड़ीसे कटा वृक्ष हरा हो जा सकता है, पर वचन-वाणसे विंधा मनुष्य कभी चैन नहीं पाता। अन्धे, काने, कुरुलप, निन्दित तथा अपढ आदिका उपहास करनी न कीजिये। उदण्डता, कठोरता, द्वेषमात्र, नास्तिकता, वेदनिन्दा एवं देवताओंपर आक्षेपसे सदा बचे। ब्राह्मणोंका अपमान कभी न करे और किसीसे व्यर्थ वै-विरोध न बढ़ाये।

'प्रतिदिन प्रातः शाखविहित काष्ठकी दत्तुअन ही उपयोग करे; पर विशेष पर्वपर उसे भी त्याग दे। मल-मूत्र उत्तरकी ओर मुख होकर त्यागे। उत्तर और पथ्यमकी ओर सिरहाना करके कभी न सोये, सोते समय सिर पूर्व अथवा दक्षिण दिशाकी ओर ही होना उचित है। अंधेरेमें पड़ी शश्यापर सोने-बैठनेसे पहले जाँच करना आवश्यक है। आसनको पैरसे खींचकर न बैठे। गुरुजनोंको प्रातः समय अवश्य प्रणाम करे, इससे दीर्घायु मिलती है। पलँगपर हमेशा सीधे ही सोना चाहिये, तिरछा होकर नहीं। परसी-गमन तथा गर्भिणी-समागमसे सर्वथा बचे। मलिन दर्पणमें मुख देखना, फटे आसनपर बैठना, फटी हुई कॉसेकी थाली या फटे वर्तनमें भोजन करना, जूठे हाथ मस्तक आदि अङ्गोंका स्पर्श करना, उच्छिष्टरूपमें ही शयन कर लेना, घरके सभीप ही मल-मूत्र त्यागना, गुरुसे विरोध ठानना, ब्राह्मण-क्षत्रिय-सर्पादिसे छेड़-छाड़ करना, खड़े-खडे भोजन तथा पेशाव आदि करना, किसी दूसरेके साथ एक पात्रमें भोजन करना, पतितोंवा दर्शन-स्पर्श करना, दिनमें सोना तथा सायं-

काल नींद लेना, पढ़ना और भोजन करना; अपवित्रावस्था तथा अनन्यायकालमें भी वेद पढ़ना, जहाँ अपना आदर न होता हो वहाँ जाना और निन्दा एवं चुगली आदि आयुनाशक अवगुण सर्वथा छोड़ दे। भोजन तो भींगे पॉव ही करे, पर भींगे पॉव शयन करना निविद्ध है। पश्चियोकी हिंसा न करे। पुत्रोंको अच्छी विद्या पढ़ाये, कन्याको श्रेष्ठ कुलमें विवाहे, मित्रको धर्म-कार्यमें प्रेरित करे तथा नौकर भी अच्छे कुलके ही रखे। वलिवैश्वदेवयज्ञोपरान्त देवता, ब्राह्मण, अतिथि, भूत्य और बालकके भोजन कर लेनेपर ही स्वयं भोजन करे। जिसे कुत्तेने देख लिया हो, जो ललचायी आँखोंका लक्ष्य बना हो, जो लॉघ दिया गया हो, जो उच्छिष्ट अथवा बासी हो और जिसे रजस्वला छीने पकाया हो—उस भोजनका परित्याग कर दे। अपने जन्मनक्षत्रमें श्राद्ध कर्मी न करे, महामाओंकी निन्दा और उनके गुप्त कर्मोंकी प्रकटीकरणसे सदैव बचे। निवास उसी गृहमें करे, जो ब्राह्मणद्वारा वास्तुपूजनपूर्वक अच्छे कारीगरसे निर्मित हो। रातको नहाना और सत्‌खाना नहीं चाहिये। मांस-भक्षण एवं मदिरापानसे बढ़कर कोई पाप नहीं है—इनका कभी भूलकर भी उपयोग न करे। खियोसे द्वेष न रखे। सुलक्षणा, सुन्दर, रूपवती, कुलीन एवं गृह-कार्यदक्ष कन्याका ही पाणिग्रहण करे और नित्य अग्निहोत्र करे।

बूढ़े, मित्र, गरीब तथा वन्धुको अवश्य आश्रय दे। मङ्गलकारी पक्षी—जैसे तोता, मैना आदि पालना अच्छा है, पर उद्दीपक—गीध, जगली कबूतर तथा भ्रमर नामक पक्षी यदि घरमें कभी आ जायें तो वास्तुशान्ति करवाना

चाहिये। यज्ञ देखनेके अनिरिक्त विना बुद्धये कहीं न जाय। भोजन करते समय आसनपर बैठना, मौन रहना, पवित्र वस्त्र वारण करनेके साथ-साथ उत्तरीय (चाढ़र या गमछा) भी रखना आदि नियमोंका पालन करे। सैरके लिये, सड़कोपर बूमनेके लिये और देवपूजाके लिये अलग-अलग वस्त्र रखे। पेगाव आदि क्रियाएँ घरसे दूर करे, दूर ही पैर बोये और दूरपर ही जठन फेके। स्तानके बाद लाल रंगके पुष्प धारण करे तथा गीला चन्दन अपने ललाटपर लगाये।' आश्रममें और वर्ण-मेदके अनुसार सदाचार-पालनमें अन्तर तो है, पर उपर्युक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान सभीके लिये आवश्यक है।*

गृहस्थको सदारनिरत दान्त, अनिन्दक और जितेन्द्रिय होना चाहिये। उसे अपने घरके लोगों तथा नौकरोंसे झगड़ा नहीं करना चाहिये—

स्वदारनिरन्तो दान्तो ह्यनस्तुर्युर्जितेन्द्रियः।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥

(शान्ति० २४४ । १४ । १६)

✓ इस प्रकार यहाँ गृहस्थके आचरणका वर्णन किया गया। वानप्रस्थियों तथा सन्यासियोंके शास्त्रनिर्दिष्ट आचार बड़े पवित्र हैं। वानप्रस्थी व्रतके समय खुले आकाशके नीचे, हेमन्तमें जलमें और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चानि सेवन कर तप करते हैं। ससारी प्राय सारे प्रपञ्चसे अलग रहकर केवल भगवद्विन्तन करते हैं। वे सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर सर्वात्मभावपूर्वक केवल भगवदर्थ ही शुद्ध वर्षका अनुष्ठान करते हैं।

स्व उक्तम् दुष्टमोहन प्रसादै
स्व उक्तम् दुष्टमोहन प्रसादै

संता

संता

* महाभारत १२ । २४३-४६ तथा मनु० ६ । ३८, ६ । ९७ (एप वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः) के अनुसार गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासादिके आचार मुख्यतया ब्राह्मणके ही लिये हैं। मनु० ७८ अध्यायोंके आचार गजाके लिये हैं, तथापि जितना सम्भव हो, दूसरोंको भी इनका अनुवर्तन करना चाहिये।

महात्मा विदुरकी सदाचार-शिक्षा

(लेखक—श्रीगिरिवरचरणजी अग्रवाल, अवकाशप्राप्त व्यावाधीन)

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।

यह वाक्य विदुरनीति (७ । ७१) का है । इसका तात्पर्य है कि वह कार्य दूसरे के प्रति न किया जाय जो स्वयं अपने प्रति किये जानेपर प्रतिकूल हो । स्थानीय राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसाद जीने विदुरकुटीस्थित महात्मा विदुरकी प्रतिमाका अनावरण (कार्तिक पूर्णिमा दिनाङ्क ३ नवम्बर सन् १९६० को) करते हुए कहा था कि 'विश्वके इतिहासमें महात्मा विदुर पहले सत थे, जिन्होने मानव-जातिको यह सूत्र दिया और जिसे महात्मा ईसाने लगभग ढाई हजार वर्ष उपरान्त दुहराया । * स्पष्ट है कि यह सूल मन्त्र बहुत प्राचीन कालमें मानव-जातिको सदाचारपर लानेके लिये दिया गया था । इस मन्त्रको अपनाते ही व्यावहारिक जीवनमें सदाचार आ जाता है । यह सूत्र सम्पूर्ण मानव-मात्रके लिये दिया गया था । सदाचारकी आवश्यकता प्रत्येक धर्म व मजहबमें होती है । यह ऐसा मन्त्र है कि यदि इसे सिद्धान्तरूपमें स्वीकार कर जीवनमें उतार लिया जाय तो लोक एवं परलोक दोनो ही सँभल जायें । यह सरल तो इतना है कि इसमें किसी प्रकार की विद्वत्ताकी आवश्यकता ही नहीं है । जब कभी कोई कार्य किया जाय, तब यह भाव आना चाहिये कि ऐसी परिस्थितिमें यदि अन्य व्यक्ति हमारे साथ यही व्यवहार करता तो हमको कैसा लगता ? उठाहरणार्थ हम नहीं चाहते कि कोई हमसे झूठ बोले तो हमें भी दूसरोंके प्रति झूठ नहीं बोलना चाहिये । हम चाहते हैं कि कोई हमारी चोरी न करे, हमसे छल-कपट न करे तो हम भी किसीसे किसी प्रकारकी चोरी या छल-कपट न करे । हम यह भी चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे

साथ शिष्ट व्यवहार करें, प्रिय बोलें, हमें आदर दें । अतः हमें भी चाहिये कि दूसरोंके प्रति हम भी ऐसा ही करें । कोई नहीं चाहता कि कोई उसके साथ बलका दुरुपयोग करे, चाहे वह बल शारीरिक हो, वौद्धिक या धन-पदका अथवा किसी परिस्थिति-विशेषका हो; अत हमारे किये भी आवश्यक हो जाता है कि जो भी किसी प्रकारका बल हमको प्राप्त है, उसे अन्यके प्रति अन्यथा प्रयुक्त न करें । केवल इतनेसे ही हम बुराघोसे बच जायेंगे और हमसे सदाचार आ जायगा—भले ही हम शिक्षित हों या नहीं, मनुस्मृति या अन्य वर्मशास्त्र पढ़े हों या नहीं और महात्माओंके प्रवचन सुने हों या नहीं । सदाचारके लिये प्रथमन, नैतिकता आवश्यक है । किन्तु कहना पड़ता है कि पाश्चात्य लोगोंकी तुलनामें हम लोगोंमें उसकी कमी है, जिसका मुख्य कारण उपर्युक्त सूल मन्त्रको भूल जाना ही है ।

यह सूत्र व्यावहारिक जीवनमें केवल व्यक्तियोंसे ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्रों व सभी समाजों-पर भी लागू होता है । हम विपक्षिके समय समाजसे आशा करते हैं कि समाज हमारी महायता करे, अतः हम भी समाजके काम आये—यह भावना बनानी चाहिये । समाजसे हम आशा करते हैं कि कोई भी हमारी वहू-वेटीको कुदृष्टिसे न देखे तो हमको भी वही बात जीवनमें उतारनी चाहिये जिससे अपना ही नहीं, बल्कि समाजका भी कल्याण होगा । अतएव यह सूलमन्त्र मानवताके लिये हर परिस्थिति व हर कालमें व्यक्तिमें सदाचार लानेके लिये आवश्यक है । इसके लिये मानव-जाति महात्मा विदुरका आभारी है । इसीका प्रकाश भीप्रितामहका भुविष्ठिरको प्रकारान्तरसे दिया गया यह उपदेश है कि—

आत्मन् प्रतिकूलानि परेयां न समाचरेत् ।

मन तथा तन परोपकारके लिये अर्पित होता है। उसकी समस्त विभूतियाँ परोपकारके लिये होती हैं। (८) कामैरहतधी—उसकी बुद्धि कामनाओसे धूमिल नहीं होती, क्योंकि वह कामवासनाओसे परे होता है। वह कभी विषयोका अनुचिन्तन नहीं करता और उनमें उसकी आसक्ति नहीं होती। अत काम, क्रोध, लोभादि दुर्जय गत्वा उससे स्वयं पराजित रहते हैं। वे उसके विवेकको उपहत नहीं कर पाते। (९) दान्त—उसकी चित्तवृत्तियाँ दमित रहती हैं और इन्द्रियोके धोड़े विषयोकी ओर नहीं ढौड़ते, क्योंकि निरोधकी लगाम उनके मुँहमें लगी रहती है। वह सम्मित, अनुशासित, आत्मनिगृहीत और आत्मवश्य होता है।

(१०) मृदु—वह मृदु होता है। जैसे पुष्प, जल, नवनीत और कमलदण्ड स्वभावसे ही कोमल हैं, वैसे ही सदाचारीका स्वभाव कोमल होता है, परतु उसमें वज्रसे भी अधिक कठोरता भी रहती है। वह दूसरे दीन, दुःखी जनकी थोड़ी-सी पीड़ासे भी व्यथित हो जाता है, किंतु स्वयं बड़ी-से-बड़ी आपत्तिको सह लेता है। उसका चित्त सरल होता है और पुष्पके समान सभीको

सुगन्धित करना उसका साभाविक धर्म होता है। वह किसीसे परुप वचन नहीं बोलता। उसकी वाणीमें अमृत बुला होता है। (११) श्रुचि—वह पवित्र होता है। शरीरकी पवित्रताके साथ मन, वाणी और कर्मकी पवित्रता उसमें सदैव रहती है। वह मनसे कभी बुरा नहीं सोचता, वाणीसे बुरा नहीं बोलता और शरीरसे कभी बुरा नहीं करता। वह सम्यक् आजीव, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यक्-चरित्र होता है। सत्य और अहिंसाका पूर्णतः परिपालन करनेके कारण उसका नाम तथा उसकी कथाएँ भी पवित्र होती हैं। (१२) अर्किचन—उसके पास कुछ भी नहीं होता। सम्राहकी वृत्ति भी उसमें नहीं होती। यदि थोड़ा-बहुत सम्राह होता भी है तो वह उसे भगवान्‌का—समाजका समझता है और सदैव समाजके हितमें लगानेके लिये तत्पर रहता है। उसके हृदयमें सगृहीत वस्तुओंके प्रति अविकारकी भावना किंवा समलव नहीं होता।

(१३) अनीह—वह अनीह होता है। प्राप्त विषयोंके भोगकी स्पृहा उसमें नहीं होती और अप्राप्त विषयोंकी प्राप्तिकी भी वह लालसा नहीं करता। वह अकाम—कामनाओसे मुक्त और वासनाओसे अदूषित होता है।

२—

पर उपकार वचन मन काया । सत सहज सुभाउ खगराया ॥

सत सहहि दुख परहित लगी । पर दुख हेतु असत अभागी ॥

भूर्जतरु सम सत कृपाला । परहित निन सह विषति विसाला ॥

तथा— सत विटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सवन्ह कै करनी ॥

सत हृदय नवनीत समाना । कहा कविन्ह परि कहै न जाना ॥

निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहि सत सुपुनीता ॥ (मानस ०।१२८।३४)

३—कामैस्तैस्तैर्दृतज्ञानाः प्रपञ्चन्तेऽन्यदेवताः । (गीता ७। २०)

४—दान्तः शमपर शश्वत् परिक्लेश न विन्दति । न च तायति दान्ताद्या इष्टवा परगता अभ्यम् ॥

(महाभारत, १८ पर्व)

(क) गीता २। ८७, ६। ८-७, १६। ११ ॥

वदउ सत समान चित दित अनहित नहि कोइ। अजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगव कर दोइ॥ (मानस १। ३८)

५—(अ) अद्विर्गात्राणि शुद्ध गत्वा नवन: शत्येन शुद्धयति। विद्यातपोऽया भूतारमा बुद्धिर्घानेन शुद्धयति॥ (मनु०५।१०९)

उसकी यह निःरपृष्ठा विवशता, अत्रमता अथवा कुण्ड-
जनित नहीं होती। वह परम संतोषी होता है। उसके
लिये गो, गज, वाजि, रुद्र, धनका कोई मूल्य नहीं
होता। (१४) मितभुक्—एह जीवनके व्यागण करनेके
लिये कुछ व्याता है, अनेक लिये नहीं जीता। वह दिनम
एक बार थोड़ा और उत्तेजनाविहीन सात्त्विक भोजन
करता है। वह पांचिक तथा आदिष पदार्थोंका
आपद्वन और खाद्यहीन पदार्थोंका व्याग नहीं करता।
(१५) शान्तः—उसका भिन्न विवरणमें यदा उपरान
रहता है। जिस प्रकार समुद्रमें अनेक नरगें और
ज्वार-भाटे आते हैं, उस प्रकार उसके चिन्मारमें
मत्त्वादि-गुणोंके प्रभावनसे विक्षुद्धता तथा उसमें काम-
कोधादि वृत्तियों उत्पन्न नहीं होती। वह नुरीयावस्थामें
रहता है और सांसारिक उपद्रव उसे प्रभावित नहीं
करते। वह सदा शान्त-दान्त बना रहता है।

(१६) स्थिरः—वह स्थिर होता है। वह दुःखसे न
तो घबराता है और न सुखसे प्रसन्न होता है। वह
धीर, लोभामर्पहर्पभयत्यागी, स्थिरतुद्वि, गतव्यव, योगी,
पताका, असमृद्ध और स्थितप्रज्ञ होता है। वह अपने
निर्णयोंमें अचल होता है। उसके निर्णय विवेक-

६-विन सतोप न काम नगार्ह। काम अद्वन्न सुख मर्त्तम् नाही ॥
गम भजन विनु मिट्टि कि काग। गत विहीन तद अवर्द्ध कि जामा ॥

(क) विहाय कामानयः सर्वान् प्रमाणनिःशुद्धः। निर्मो निराकारः स शान्तिमधिरस्तुति ॥

(गीता २। ७१, गाथ द्वे देखें श्लोक-क्र० ७० एव १६। १२, १३, १४, १५ और १६।)

७-गीता २। ५—८ (स्थितप्रवर्गदर्शन) तथा गीता ५। २०।

८-गीता १८। ६२, १८। ६६।

९-कायेन वाचा मनमेन्द्रियैवं बुद्धवात्मना वानुसृतम्बानात्।
करोति यद्यत् सकल परम्मै नागरणाशेति समर्थेन्तत् ॥

(श्रीमद्भा० १२। २। ३६।)

१०-यतेन्द्रियमनोवृद्धिर्मुनिमोद्वरायणः। विगतेन्द्रियमोद्वरायणो य भदा मृक एव रुः ॥ (गीता ५। २८।)

तथा—या निशा सर्वभृतानां तस्य जागति सयमी। यस्य जागति भृतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(गीता २। ६१।)

११-गीता १८। २६।

पूर्ण होते हैं। अतः यह वास्तवर नहीं बदलते हैं।
(१७) मञ्जुरणः—मञ्जरमना करने ही कि वह योग
शास्त्रागत होता है। अचमकं शास्त्रं ममं तामन पात्रम
मम तुमारीहै भवनमे ममम भास्त्राय गच्छयोऽप्तो
भावानके साथ ती मार्गत जगता है और शास्त्रं
कर्त्त उन्हों भवित जगता है। (१८) मुनिः—वृ
गतनशील होता है। उसकी भमल छियाई चिन्ता
और विश्वकी परिमात्र-व्यवस्था ही होती है। यस
प्रमुखी अमीम इता या अनन्दात्म, अनन्दत्युग और
अनन्दलीयाओंका अनुभवन, भनन, निभन, पर्व-
वल्लभत तथा परिशीलन जरैता उसका व्यवस्थ होता है।
(१९) अप्रमत्तः—१। अद्वन, सुन्त, सुखगत,
जागरूक और अलव्यादित होता है। वह विनश्चान्द्रं,
भान्तिमे रहित तथा सुशाप्तमें परे होता है। वह समूर्ध
निष्ठाके साथ पूर्णसमर्पणभावसे समृद्धके निषित
कर्तव्य-प्रगत्यग होता है”।

२०-गमीरात्मा—उसके सभावमें समृद्धकी अवत
गहराई होती है। गोताम्बो धैर्यक ही मोती पा मतता
है। जिस प्रकार समुद्र पद्मनादियोंमें जलको प्रदृश
करनेपर भी तटवन्धोंको तोड़कर बहुने नहीं लगता,

उसी प्रकार वह भी मर्यादाका पालन करता है, शक्ति पाकर बौराने अथवा अन्योंको पीड़ित करने नहीं लगता। अपने उदरमें अनेक विषेशे और भयानक जीवजन्तुओं-को प्रश्रय देनेपर भी अप्रभावित रहनेवाले समुद्रकी भौति ही वह समाजमें विषाक्त एवं अशान्त वातावरण बनानेवाले तत्त्वोंको अपने हृदयमें पचा लेता है और निर्विकार रहता है। वह गुणोंका सम्राह करता है।

(२१) धृतिमान—वह वैर्य धारण किये रहता है। वह न्यायपूर्ण तथा धर्मोचित मार्गसे कभी विचलित नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी वह नहीं घबराता और न उसका विवेक ही कभी नष्ट होता है। हिमालयके समान वह सदा अचल रहता है। दुःख पड़नेपर वह स्थय उसे सहता है। न वह अपना मानसिक सत्तुलन खोता है और न दूसरोंको भी दुःखी होने या बनानेकी कल्पना या उपक्रम करता है।

(२२) अमानी—वह मान चाहनेवाला अथवा मिथ्या गर्व करनेवाला मानी या अभिमानी नहीं होता। यदि उसे मान मिलता है तो वह प्रसन्न एवं गर्वित नहीं होता और यदि अपमान मिलता है तो वह दुःखी नहीं होता।^{१२}

(२३) मानदः—वह दूसरोंका सम्मान करता है। कभी किसीको अपमानित नहीं करता। उसके हृदयमें जीवमात्रके प्रति आदर, स्नेह, वात्सल्य और प्रेमका भाव होता है। वह सभीमें प्रभुकी मूर्तिका अवलोकन करता है। अतः समस्त जड़-चेतन जगत्के प्रति वह पूज्य-

भाव रखता है और सम्मान करता है। (२४) कल्पः— वह समर्थ होता है। प्रत्येक कार्यको आत्मविश्वास और पूर्ण योग्यताके साथ करता है। अक्षमता, अयोग्यता एवं शक्तिहीनता उसमें नहीं होती। वह पलायनवाडी, निराशावादी, कुण्ठा-प्रस्त और दिग्भ्रमित नहीं होता। (२५) मैत्रः—वह जीवमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखता है, समताके धरातलपर औरोंके दुःखोंको बॉट लेता है और अपने सुख तथा साधनाके शुभ परिणामोंको स्वयं नहीं भोगता। उनमें वह सभीको समानभागी मानता है। उसका किसीसे वैर-विरोध नहीं होता।^{१३} वसुधैव कुदुम्बकम्'के सिद्धान्तका वह पूर्णतः परिपालन करता है।

(२६) कारुणिकः—वह करुणापूर्ण करुणाका सागर और करुणाकर होता है। उसका हृदय इतना संवेदनशील होता है कि दूसरेकी अल्प-से-अल्प पीड़ा भी उसके हृदयमें करुणाकी स्रोतस्थिनी धारा प्रवाहित कर देती है। उसकी यह करुणा किसी जीवविशेष अथवा कारणविशेषकी अपेक्षा नहीं करती। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सभीको बरावर मिलता है, वैसे ही उसकी करुणा भी सभीको समानरूपसे मिलती है।

२७-कविः—वह कवि होता है^{१४}। कवि ही नहीं, मनीषी-परिमू और स्वयम्भू भी होता है। उसे क्रान्तदर्शी कहा गया है। जीवनकलाकी नयी सृष्टि, भविष्यके लिये संदेश, समाजके लिये प्रेरणा, सत्य, शिव और सौन्दर्यकी उपासना व

१२ (अ) वृत्या यथा धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

(गीता १८ । ३३ ।)

(ब) साथ ही देखें वही १८ । ३४ और ३५ ।

१३-सत्वहि मानप्रद आपु अमानी ॥ (मानस ।)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मन्दक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (गीता ११ । ५५ ।)
यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा । हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम् ॥

(विं पु० ३ । ८ । १३ । १८ ।)

१४-अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च वत् । स्वाध्यायाभ्युपन चैव वाक्यायं तप उच्यते ॥ (गीता १७ । १५ ।)

उसकी अभियोक्ति उसका धर्म है। समाजको उन्नतिके पथपर ले जाना, मार्गदर्शन देना और समग्र मानवताको नये आयाम-प्रदान करना उसका धर्म होता है। अन्यायके प्रति विद्रोहके स्वर निनादित कर प्रसुत मानवताको जाप्रत् करना उसका लक्ष्य है। वह ज्ञानवान्, विवेकी, कल्यनाशील, विचारक, भावुक, सहृदय और मर्मज्ञ होता है। एक शब्दमें वह विश्वजनीन होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत आदि प्रन्थोमें एक ऐसे मदाचारयुक्त चरित्रका सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत किया गया है, जो अलौकिक, दिव्य और अमाधारण आभासित होते

हैं भी अति मानवीय (Superhuman) काल्पनिक, मात्र आडर्गपरक तथा अमम्भव नहीं है। तथा परिकल्पित चरित्र (Hypothetical character)की भी यह एक दार्शनिक परिकल्पना (Hypothesis) नहीं है। वह एक ऐसे चरित्रका रेखांकन है, जिसका आधार भारतीय सास्कृति, मानवीय मूल्य और उन मूल्योंको जीवनकी धरापर अवतारणा करनेवाले साधकोंकी वे समस्त आकाङ्क्षाएँ हैं, जिनकी साधनाका वे आजीवन प्रयत्न करते हैं और उनका जीवन इनके लिये ही समर्पित होता है। इन्हें आदर्श मानकर चलना हमारा कर्तव्य है।

उपपुराणोंमें सदाचारकी अवधारणा

(लेखक-डॉ० श्रीसियारामजी उक्सेना 'प्रवर', एम० ए०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

वेदार्थ-तत्त्वको जन-सामान्यके लिये बोधगम्य बनानेके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना हुई। पुराणोंका मूल रूप वेदोंके समान ही अति प्राचीन है। उपपुराणोंकी संस्था सामान्यतया अठारह प्रसिद्ध है—यद्यपि हमें सौके लगभग उपपुराणोंके नामोंके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें काल्कमसे कुछ उपपुराण नष्ट हो गये हैं और कुछ अभीनक हस्तलिङ्गित अवस्थामें पढ़े हुए हैं। पाश्चात्योंकी मान्यता है कि उपपुराणोंकी रचना गुप्तकालमें हुई थी, किन्तु मित्र मिथ्रके अनुसार महर्षि पात्रवल्क्योंको भी उपपुराणोंकी जानकारी थी। (वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रका० पृ० १५।) कूर्मपुराणमें और स्कन्दपुराणकी मूलसंहितामें कहा गया है कि ऋषियोंने व्यासजीसे अष्टादश पुराण सुननेके अनन्तर उपपुराणोंका द्यापन किया। मन्यपुराणमें उपपुराणोंको पुराणोंका ही अन्यरूप या इन्हीं पुराणोंसे उत्पन्न कहा गया है—

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिद्यते।
विजानीध्यं द्विजश्चेष्ट्राम्भदेनेभ्यो विनिर्गतम् ॥

(मन्यप० ५३। ६३)

अतः कुछ उपपुराण तो पुराणोंके खिल (पूरक) भाग दीखते हैं; किन्तु उनका कुछ-न-कुछ खतन्त्र खरूप भी है। उपपुराण स्थानीय मतों और सम्प्रदायों, आचार-व्यवहार तथा गीतियों और अन्य धार्मिक आवश्यकताओं (पूजा-विधि आदि)का वर्णन विस्तारसे करते हैं। वे धर्म, समाज, साहित्य और विज्ञानके विषयमें भी गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदर्शित करते हैं। अन वे भारतीय समाजके सास्कृतिक इतिहासकी दृष्टिसे बहुत मूल्यवान् प्रन्थ हैं। प्राप्त उपपुराणोंका पाठ बहुत कुछ अपने मूल रूपमें ही सुरक्षित है। उपलब्ध पुराणोंको हम छः कोटियोंमें रख सकते हैं—(१) वैष्णव, (२) सौर, (३) शैव, (४) शाक्त, (५) गाणपत्य और (६) स्थलमाहात्म्यादि विविध। जिस कोटिके जो उपपुराण है, उनमें उसी सम्प्रदायके अनुसार ही योग-तप, व्रत, पूजा, तीर्थ-महिमा और देवताओंका निरूपण हुआ है। नरसिंह-पुराणमें दृसिंहकी अर्चना-विधि तथा महिमा वतायी गयी है। वैसे सभी उपपुराण भक्ति (हरिभक्ति और

गुरुभक्ति), आचरणकी शुद्धि और यम-नियम-पालनपर वल देते हैं। दान-महिमा, कर्मफल, प्रायश्चित्त और पुनर्जन्मकी मान्यता सभी उपपुराणोंमें एक-सी है।

बैष्णव-उपपुराण—ये पाञ्चरात्र और भागवत मतोंसे सम्बद्ध हैं। वैष्णव-उपपुराणोंमें श्रीविष्णुधर्म, विष्णुधर्मोत्तर, नारसिंह, वृहन्नारदीय और क्रियायोगसार—ये छः उप-पुराण प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भार्गव-उपपुराण, धर्मपुराण, पुरुषोत्तमपुराण, आदिपुराण और कालिकापुराण भी कई स्थानोंसे मुद्रित हो चुके हैं। ‘क्रियायोगसार’ और ‘वृहन्नारदीय’ पुराण में विष्णुभक्तिका विशेष निर्वचन हुआ है। वृहन्नारदीयमें भक्तिके दस सोपानों तथा विष्णुकी पञ्चशक्तियोंका सुन्दर निरूपण हुआ है। कुछ अध्याय गङ्गाकी महिमापर हैं। शिवकी भक्ति विष्णुभक्तिसे सहायक बतायी गयी है। क्रियायोगसारमें दास्यभक्तिपर विशेष वल दिया गया है और क्रियायोग अर्थात् कर्मद्वारा योगमें छः कार्योंका संनिवेश किया गया है—(१) गङ्गा, श्री लक्ष्मी और विष्णुकी आराधना, (२) व्राह्मण-भक्ति, (३) अतिथि-सेवा, (४) दान, (५) एकादशी-नृत और (६) धात्रीवृक्ष तथा तुलसीकी पूजा।

बैष्णव-उपपुराणोंका विवेच्य बैष्णव-दर्शन और तदनुरूप बैष्णवचर्चा है। बैष्णव-आचार, बैष्णव-कर्मकाण्ड, बैष्णव-पर्वोंकी अनुप्रान और बैष्णव-तीर्थोंकी महिमाका भी इन उपपुराणोंमें विस्तारसे वर्णन हुआ है। ये आचार-विचार जनताको इतने मान्य हुए कि हिंदुओंके लिये सामान्य आचारकी व्यवस्था देनेवाले सृतिकारों और प्रवन्ध-लेखकोंने इनके उद्धरण प्रचुरतासे ग्रहण किये हैं।

सौर-उपपुराणोंमें—सूर्य, साम्व और भविष्योत्तरपुराण उपलब्ध हैं। साम्वपुराण पूर्णतया सूर्याधनसे सम्बद्ध है। इनमें योगाचार, शिष्टाचार, आचार-विचार, मन्त्र, दीक्षा, विविध दान और कर्मफल आदिका निरूपण है। प्रायः सभी महापुराणोंमें भी सूर्याधन-सदाचारकी प्रचुर सामग्री है।

शैव-उपपुराणोंमें—शिवपुराण, सौर-पुराण, शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर, शिवरहस्य, एकाम्रपुराण, पराशर-

पुराण, वासिष्ठ, लैगआदि प्रसिद्ध शैवउपपुराण हैं। इनमें शिव, लिङ्ग और एकाम्रपुराण मुद्रित हैं। शिवपुराण आगमिक शैवमतके अनुकूल है। ‘एकाम्र-पुराण’ भी आगमिक शैवोंका है। ‘सौर-पुराण’ पाण्डुपतमतसे सम्बद्ध है। इसमें शिव-पार्वतीकी महिमा तथा अन्य मतोंकी अपेक्षा पाण्डुपतमतकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है। ‘शिव-धर्म’ और ‘शिवधर्मोत्तर’ भी वेदनिष्ठ पाण्डुपतोंसे सम्बद्ध हैं। इनमें शिव-उपासकोंके विभिन्न कर्तव्य, शिवज्ञान-प्राप्ति, शिवयोगका अभ्यास, शिवपर्व-पूजा, व्रत, उपवास, पापियोंको दण्ड और पुनर्जन्म आदिका निर्वचन है।

शाक्त-पुराणोंमें—चार शाक्तपुराणोंमें देवीपुराण, महाभागवतपुराण, देवीभागवतपुराण और कालिकापुराण महत्वके हैं और मुद्रित हैं। देवीपुराणमें आदिशक्ति भगवती विन्ध्यवासिनीके स्वरूप, अवतार, कार्य और आराधनपर प्रकाश ढाला गया है। इसमें विविध शाक्ततोपवास, आचार-विचार-व्यवहार और शैव, बैष्णव, व्राह्मण, गाणपत्य आदि सम्प्रदायोंका भी परिचय है। ‘महाभागवत’ भागवत महापुराणसे सर्वथा भिन्न है। इसमें परम्परास्वरूपा कालीका स्वरूप-विवेचन, उनके विभिन्न रूपों, कार्यों, दस महाविद्याओं तथा आराधना-विधियोंका वर्णन है। ‘देवी-भागवत’ उपपुराणको तो शाक्तजन महापुराण भी मानते हैं। इसमें शाक्त विचारणाका निरूपण है। इसमें परब्रह्म और परमात्मवरूपा देवी मुवनेश्वरीकी धारणा है, जो सृष्टि-हेतु स्वयको पुरुष-प्रकृतिरूपोंमें विभक्त कर लेती हैं और विभिन्न लक्ष्योंकी पूर्तिके लिये दुर्गा, गङ्गा आदि रूपोंमें प्रकट होती है। ‘देवीभागवत’ भक्तिपर वल देता है और सर्वोच्च अवश्यमें ज्ञानको भक्ति ही मानता है। ‘कालिकापुराण’में विष्णुकी योगनिद्रा, कालिकाके स्वरूप और आराधनाका विवेचन है। कालिका ही सती और पार्वतीरूप धारण कर शिवकी पत्नी बनती है। ‘कालिकापुराण’में सामाजिक और धार्मिक महत्वकी अनेक बातें हैं।

गणेशसम्बन्धी दो ही उपपुराण उपलब्ध हैं— मुद्रगल्पुराण और गणेशपुराण। मुद्रगल्पुराणमें गण-पतिके नौ अवतारों और बत्तीस रूपोंका वर्णन है—जब कि श्रीलक्ष्मण दर्शिकेन्द्रके ‘शारदातिलक्ष’, गणेशके ५१ और गणेशपुराणमें ५६ रूपोंका निरूपण है। दोनों गाणपत्य-उपपुराणोंमें भगवान् गणेशकी महिमा दिखायी गयी है। भविष्योत्तर और बृहदधर्मपुराणमें सर्वजनके लिये अनुष्ठेय व्रत, पर्व, दान, आचार-व्यवहार आदिका निरूपण है। विविध विद्यासम्बन्धी उपपुराणोंमें ‘नीलमत’ (या नील) उपपुराण मुद्रित हुआ है। यह कश्मीरके इतिहासके श्रोतके रूपमें महत्वपूर्ण है। विविध उपपुराणोंमें वहुतसे अप्रकाशित हैं और वहुतसे नष्ट हो चुके हैं।

पुराणों और उपपुराणोंमें सदाचारके लिये ‘आचार’ तथा ‘वृत्त’ शब्द व्यवहृत हुए हैं। सम्प्रदायोंमें ‘आचार’का अर्थ ‘सम्प्रदायनिष्ठा और तदनुरूप चर्या’ होता है^३। ‘आचार’का एक अर्थ विधि (कानून) भी है^४। सत्कर्म ही सदाचार है। किन्तु ‘कर्म’ अद्वैतदर्शनमें ‘अविद्या’के क्षेत्रमें आता है, अतः भ्रान्ति न होने देनेके विचारसे ‘कर्म’के स्थानपर ‘आचार’ या आचरण शब्दको ग्रहण किया गया है। सदाचार क्रमनिर्दियोंका संयम और सम्नार्गाकरण है। ऐसा संयममय आचरण ही तप है। ‘हाथ’का संयम दान, भगवत्पूजन, गुरुजन-अभिवन्दन आदिमें; ‘चरण’का संयम देवालय, तीर्थ आदिमें जानेमें; जननेन्द्रियका

संयम ब्रह्मचर्यमें और वागिन्द्रियका संयम ‘सत्य-भाषण’-में है। वाणीका तप है। शालोंमें ‘वाञ्छय-तप’की महती महिमा गायी गयी है। सत्य परमरूप है। सत्य अंकार है। सत्य परम पद है। सत्य परम धर्म है। सत्य सर्वोपरि है। सत्य ही तप है। सत्य अश्वेषसे भी बड़ा यज्ञ, पुण्य, दान और सर्वलोक-प्रीतिकर कार्य है। सत्यमें ही समस्त चराचर जगत् प्रतिष्ठित है, सत्यसे ही सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वायु-जल-पृथ्वी आदिके समस्त कार्य चल रहे हैं। ऐसा सत्य ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ग्रह्य’ अर्थात् मूल शिवरूप है—

मूलीभूतं सदोकं च सत्यज्ञानमनन्तकम् ॥
(शिं पु० र० स० स० ख० ९। ४०)

यह सत्य जब वाणीमें व्यक्त होता है तो वह वाणी सुभाषित कहलाती है और जब वाणी सत्यसे रहित होती है तो काम-क्रोध-राग-द्वेषादिसे युक्त होकर दुर्भाग्यित कही जाती है—

रागद्वेषात् त्रुतकोधकामतृष्णानुसारि यत् ।
वाक्यं निरयहेतुत्वात् तद् दुर्भाग्यितमुच्यते ॥
(शिं पु० वा० स० उ० ध० १२। २७)

सत्य जब कर्मके रूपमें प्रकट होता है, तब उस कर्मको सत्कर्म या सदाचार कहते हैं। सदाचार—जैसा कि हम अभी देखेंगे, त्रिविधि होता है—सर्वजनकर्तव्य, सम्प्रदायाचार और शिष्याचार। सर्वजनकर्तव्य सामान्य मानव-धर्म है। इनमें सर्वमैत्रीभाव, विश्व-वृन्धुत्व, संतोष,

१. उपपुराणके रचनाकाल आदिकी जानकारीके लिये पठनीय है—श्री आर० सी० हाजराकृत ‘स्टडीज इन द उपपुराणाज’ भाग १-४।

२. उदाहरणार्थ, साम्बुराणके सदाचारखण्डमें सामान्य सदाचरणके अतिरिक्त वैदिक होम, सप्त तिथियों-पर व्रत, न्यास-मुद्रा-मन्त्रद्वारा सूर्य-पूजा, अभिचार, कर्म-विपाक आदिका भी विवरण है।

३. द्रष्टव्य—(क) विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३। ८६। १३९ (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति—व्यवहाराध्याय, आचाराध्याय।

४. सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः। सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम्॥

पालनं सर्वेदाना सर्वतीर्थवगाहनम्। सत्येन वहते लोके सर्वमान्पोत्यसंशयम्॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुल्या धृतम्। लक्षणि क्रतवश्चैव सत्यमेकं विशिष्यते॥

सत्येन देवाः पितरो मानवोरगराक्षसाः। प्रीयन्ते सत्यतः सर्वे लोकाश्च सच्चराचराः॥

(शिं पु० उ० स० १२। २३-३१)

दया, सहिष्णुना, परनारीके प्रति मातृभाव आदि विभिन्न वैयक्तिक गुणोंका संबर्धन तथा आसक्ति-हिंसादि दोपोसे निर्मुक्तिका समावेश होता है । इनमें शुभाशुभ कर्मोंको भी सम्मिलित किया जाना है । ख्रीग दिलानेवाले कर्म (यथा—अपने कर्तव्योंका विविवत् पालन, मांस-मदिराका त्याग, विविध दान आदि) शुभ कार्य है और नरकमें ले जानेवाले कर्म (निपिद्ध कर्म) अशुभ कर्म है । होम, देवपूजन, पितृपूजन, अतिथियो-त्राहण-सेवा, शिष्याचार, मधुर सम्भाषण और पुरुषकार-सम्पन्नता (अर्थात् अभ्य-धीर-साहसी होना) आदि सदाचार हैं । अतिथि-सेवा न करनेसे पुण्य क्षीण हो जाते हैं । सर्वप्रथम गुरुजन-अभिवादन तथा वृद्धादिकोका पालन आदि विहित कर्मोंके अन्तर्गत हैं और दूसरे-को दण्ड देनेकी इच्छा, कुद्ध होकर दूसरेपर आघात आदि निपिद्ध कर्म हैं । वर्णाश्रिमध्मको भी प्रायः सामान्य-मानव-धर्म ही समझना चाहिये । उपपुराणोंमें वर्णों और

आश्रमोंके कर्तव्योंका साङ्घोपाङ्ग विस्तृत निरूपण हुआ है । आरम्भमें पाञ्चरात्रसंहिताएँ वर्णाश्रिम-धर्मको मान्य नहीं करती थीं, किंतु काळक्राममें वे वर्णाश्रिम-धर्मके प्रभावमें आ गयीं और तब पाञ्चरात्र-दर्शन-प्रेरित उपपुराणमें वर्णाश्रिम-धर्मका निरूपण होने लगा । विष्णु-धर्मोत्तरपुराणमें चतुर्वर्ण और मिश्रवर्णके सामान्य धर्म और आपद्धर्मका भी विवेचन है । विष्णु-वर्मपुराणके अनुसार वर्णाश्रिम-धर्म मनुष्यकी चरम शक्तिकी प्रगति है ।

सम्प्रादायसम्बन्धी आचारोंमें शैव, वैष्णव और शक्ति धर्माचारोंका निरूपण हुआ है । परम धर्मके चार पाद हैं—चर्या, विद्या, क्रिया और योग । दैनिक चर्या सदाचारमय होनी चाहिये । इष्टदेवके स्वरूपका वोध होना चाहिये, उनकी प्रसन्नताकी क्रियाओंमें—उपासना-विधियों और सदाचारमें रत रहना चाहिये तथा योगनिष्ठ होकर उनका ध्यान करना चाहिये । शिवधर्म

१—विष्णुधर्मपुराण अध्याय ३, ४, ५, ७, ८, १४, १५, २२, २५ और ७३ इनमें अ० २५ विशेषरूपसे द्रष्टव्य है ।

२—विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ० ११७-११८ ।

३—वही, अ० २८७ से २९५ ।

४—अतिथि चावमन्यन्ते काले प्राप्ते गृहाश्रमे । तसात् ते दुष्कृतं प्राप्य गच्छन्ति निरयेऽशुचौ ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छन्ति ॥

(गिं० पु० उ० स० १० । ३२, ४८)

५—(क) प्रातरुत्थाय पितृमाचार्यमभिवादयेत् ॥

(ख) वृद्धो गतिरवसन्नो मित्राणि शुक्लारिकाः । पागवताः पुण्यकृता गेहे स्युस्तैल्पायिकाः ॥

(साम्बु० अ० ४४)

६—(क) परस्मिन् दण्डेन न इच्छेत् । (ख) कुद्धोऽपि न हन्यादन्यत्र भार्या-नुत्र-दास-दासी-शिष्य-भ्रातृभ्यः ।

(साम्बु० अ० ४४)

७—द्रष्टव्य—स्टडीज इन द उपपुराणाज, प्रथम भाग पृ० ११० ।

८—विष्णुधर्मोत्तर, अ० ८३-८४ ।

९—विष्णुधर्मपुराण ११० । २३६-२३७ । विप्रश्च मुक्तिलभेन युज्यते सक्लियापरः ॥

१०—पाशुपतसूत्र ।

पाँच प्रकारके हैं—तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान^१। इसी प्रकार केवलको प्रसन्न करनेवाले कर्म हैं—तप, पूजा, मुक्ति-प्रयास, संगम-स्नान, सर्वदेव-सम्मान, सर्वधर्म-आठर, पाञ्चरात्र भक्तोंका सल्कार और पञ्चकाल भक्ति^२। योग, क्रियायोग और वृत्तिनिरोध आवश्यक हैं^३। देवीको प्रसन्न करनेवाले भी ऐसे ही कार्य हैं^४।

भक्तिपरक उपपुराणोंमें भक्तिको निष्ठ्य-विदेय कहा गया है। भक्तिके लक्षण तथा उसकी महिमा बताने हुए कहा गया है कि भक्ति ज्ञानका मुख्य हेतु है, अथवा भक्ति और ज्ञान अभिन्न है^५। भक्तिहीन ज्ञान नरककारी है^६। भक्ति भगवान्‌की प्राप्तिका सर्वप्रमुख साधन है^७। यहाँतक कि भक्तिसे भगवान् भक्तके अधीन रहते हैं। (शि० पु० २ । २ । २३ । १६) इस क्षणभज्ज्ञान, किंतु दुर्लभ मनुष्य-जीवनमें शिवपूजन (भगवदारावत) ही सार है। (शि० पु० ६ । २ । २६) अतः हमें अपने समस्त (दानादि) कर्म भक्तिपूर्वक ही करने चाहिये। (वही २५ । ५१-५२) अथवा समस्त कर्म भगवदर्पण कर देने चाहिये।

भक्तिविहीन कार्य निष्कल और विपत्ति-संकुल हो जाते हैं। अतः वेद-त्रायणसम्मान, अहिंसाव्रत, विष्णुमें मनकी लीनता और विष्णुपूजन (जो यज्ञों और दुष्कर तपोंकी अपेक्षा अधिक फलदायी है ।) इन भागवत आचारोंका पालन करना सर्वया अपेक्षित है। क्योंकि अभागवतको विष्णु-प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मज्ञान, निरति, हिंसा-विरति विश्व-साध्य, मनोप, सत्य, धीरता, दयालुता, परखीमें मातृभाव, स्वपहीनत, स्वकर्मपालन, गो-त्रायण-सेवा आदि विष्णुभक्त-के लक्षण ही श्रुति-स्मृतिकथित भारतीय सदाचार हैं।

इस प्रकारके आचरण सबके लिये हैं, यह लोकाचार है, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ब्रतोपवास, सल्कर्म, सदाचार आदिका विद्यान करनेवाला पाञ्चरात्र लोकधर्म है। वह जनताका सदाचार है^८। उसम लोकाचार या जन-सदाचारको हम शिष्याचार भी कहते हैं। अतः उप-पुराणोंने शिष्याचारमें लोकाचारको पर्याप्त महत्व दिया है, यहाँतक कि शिष्याचार और सदाचारका निर्णय करनेमें भी 'लोकसंप्रह'का ध्यान सर्वाविक रखा गया

१—तपः कर्म जपो ध्यानं जानं चेति समाप्तः। (शि० पु० सा० सं० उ० ख० ८ । ३७)

२—विष्णुधर्मात्तर, अ० ५८ । ३—वही, अ० ६१-६५ । ४—विष्णुधर्मपु० अ० १-२ । ५—देवीभागवत, नवम स्कन्ध ।

६—वज्रसे मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि वैष्णव-तेज (विष्णुकी शक्ति)के विना ब्रह्मा और शिवका अस्तित्व भी नहीं रह सकता। विष्णु-तेजको भक्तिरहित मनुष्य जान और समझ नहीं सकता। (विष्णुधर्मपु० अ० १७)

७—भक्तो जाने न भेदां हि तत्कर्तुः सर्वदा सुखम् । विज्ञानं न भक्त्येव सति भक्तिविरोधिनः ॥

(शिवपु० रु० सं० स० ख० २३ । १६)

८—कैवलं ज्ञानमाश्रित्य निरीश्वरपरा नराः। निरस्यं ते च गच्छन्ति कल्पकोटिशतानि च ॥ (वही ३५ । ३१)

९—त्रैलोक्यं भक्तिसृद्धाः पन्था नास्ति सुखावहः। चतुर्युग्मु देवेणि कलौ तु सुविशेषतः ॥ (वही २३ । ३८)

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं मनसापि न वे नराः। समुल्लङ्घ्य प्रवर्तन्ते ते भक्ता मम भास्मिनि ॥

त्रद्यरुपधरयासान्मम वेदा विनिःस्ताः। मन्त्रादिरुपिणश्चैव समस्ताः स्मृतयः स्मृताः ॥

श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा तामुल्लङ्घ्य यजेच्छुभे। सर्वस्वेनापि मां स नामोत्याज्ञाविघातकृत् ॥

(वि० ध० पु० ३ । ५२ । १५७—१५९)

१०—कृतं गतसदृक्षं हि लोकानामिदमुत्तमम्। लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यसाद् धर्मः प्रवर्तते ॥

प्रदृक्षौ च निवृक्षौ च यसादेतद् भविष्यति । यजुर्मृक्सामभिर्ज्ञेष्यर्थवाङ्ग्निरसैस्तथा ॥

लोकधर्ममनुत्तमम् ॥ महाभारत १२ । ३२५ । २९-३१ ।

है'। लोक-संग्रह-दृष्टिसे किये हुए उत्तम व्यवहार ही शिष्याचार है। गुरुजनो, वयोवृद्धों, ज्ञानवृद्धों और भक्तोंका हाथ जोड़कर अभिवादन करना तथा उनके दर्शनोंसे स्वयंको कृतार्थ एव पवित्रीकृत माननी उप-पुराणोंके अनुसार सर्वमान्य भारतीय शिष्याचार है। विष्णुवर्मोत्तरपुराणमें भारतीय शिष्याचारका विस्तृत निरूपण मिलता है।'

'आचारहीनं न पुनन्तिवेदाः,' 'बृन्ततस्तुहतोहतः' तथा 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः' हमारे आचारके प्रमुख सूत्र हैं। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमें निन्दित होता है और परलोकमें भी सुख नहीं पाता। सदाचारसे आयु-वृद्धि और आत्मगुद्धि होती है—'सदाचारो हि पुरुषः शतं वर्षाणि जीवति,' 'शौचाचारः सदाचारः।' उपपुराणोंके अनुसार आचार ही परम धर्म है। आचार परम धन, परम विद्या, परम गति है। अतः आचारवान् होना चाहिये।' (शि० पु० ६। २। १४। ५५—६) दृढ़-व्रत और दृढ़-चित्त आचारवान् निष्पाप व्यक्तिको कर्मोंका अनन्त फल अर्थात् स्वर्गतक प्राप्त हो जाता है। आचारवान् सदा पवित्र, सुखी और

धन्य होता है। अपने साचारका उल्लङ्घन किये बिना जो व्यक्ति हरि-भक्ति-निरत रहता है, वह देव-दृष्टि विष्णुधामको जाता है। वेद-विहित वर्णश्रमधर्मका पालन करनेवाला हरिभक्त परमपद प्राप्त करता है।'

आचारसे धर्मका उद्भव होता है। धर्मके सामी अच्युत हैं। शासननिर्दिष्ट साचारमें निरत होकर जो व्यक्ति अच्युताराधन करता है, उसे हरि सब कुछ देते हैं। वेदान्त-पारंगत होकर भी जो व्यक्ति अपने आचारसे च्युत हो जाता है, उसे 'पतित' कहा जाता है; क्योंकि वह श्रौत-स्मार्त कर्मसे बाहर रहता है। समस्त पवित्र शास्त्रोंमें आचारका प्रथम स्थान है; क्योंकि आचारसे धर्म होता है, जिसके सामी अच्युत हैं। हरिकी आराधना स्वधर्मका उल्लङ्घन न करनेसे ही सम्भव है। जो व्यक्ति सदाचारका पालन नहीं करते, उन्हे धर्म और अर्थ कोई आनन्द प्रदान नहीं करते।' आचारसे धर्म प्राप्त होता है। आचारसे आनन्द प्राप्त होता है, आचारसे परम पद (चरमगति, मोक्ष) प्राप्त होता है। आचारसे क्या नहीं प्राप्त होता?' किंतु आचारका पूर्णतया पालन कभी-कभी दुष्कर भी हो जाता है, अतः

१—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त्वेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(नरसिंहपुराण १२। २८, श्रीमद्भगवद्गीता ३। २१)

२—अभिवाद्य यथा न्यायं मुनीश्नैव स धार्मिकः। कृताङ्गलिप्युदो भूत्वा तस्यै तत्पुरतो दमी ॥

(नरसिंहपु० ७। २६)

३—महर्षिं भग्नसे राजा सहस्रानीकने कहा था—'पावितोऽहं युनिश्रेष्ठ साम्प्रतं तत्र दर्जनात ॥

(वही १२। ६)

४—द्रष्टव्य—अध्याय २२७ से २३६।

५—यमीके वार-वार याचना करनेपर भी यम वहनसे समागमके लिये प्रस्तुत नहीं हुआ। उसके सदाचार-पालनकी दृढ़ताकी प्रशंसा करते हुए नरसिंहपुराणकार कहते हैं—

असकृत् प्रोच्यमानोऽपि तथा चैव दृढ़व्रतः। कृतवान् न यमः कार्यं तेन देवत्यमात्रवान् ॥

नराणा दृढ़चित्तानामेव पापमकुर्वताम्। अनन्तं फलमित्याहुस्तेपां स्वर्गफलं भवेत् ॥

(१२। ३५—३६)

६—आचारवान् सदा पूतः सदैवाचारवान् सुखी। आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद ॥

(देवीभागवत ११। २४। ९८)

७—वृहन्तारदीयपुराण ४। २०-२१; ८—वही, ४। २२-२६; ९—वही, १४। २०। १०-२०९-२११; ११—वही, ४। २७।

मार्गमें, रोगमें और महा-आपत्कालमें आचार-पालनके सम्बन्धमें शाखोंने थोड़ी छूट भी दे दी है।^१

परंतु सब आचारोंका एक-ना महत्त्व नहीं है। वृद्धाचार अवश्य ग्रहणीय है।^२ प्रामाचारका ग्रहण सूति-निर्देशोंके अनुसूप ही करना चाहिये।^३ देशाचारका ग्रहण अपने-अपने देशके नियमों, रीति-रिवाजों आदिके अनुसार किया जाना चाहिये, अन्यथा उस व्यक्तिको पतित कह दिया जाता है। आत्म-अनात्म-विवेक-दुष्टिसे किया हुआ योग-युक्त कर्म धर्म और अधर्म (पाप-पुण्य-भाव) से विमुक्त कर देता है। वैध कर्म (सदाचार) की यह कुशलता 'योग' है। स्वर्वम् गुणरदित होनेपर

भी श्रेष्ठ पर-धर्मसे उत्तम है, परवर्वम् भयावह होता है। अशुभ कर्मसे दुःख और शुभ कर्मसे सुख होता है, अतः संतजन गणसा-वाचा-वर्तमाण शुभ कार्य और सर्वप्राणिहित करते हैं। शासविधिहीन कर्म कदाचार कहलाता है। ऐसे कर्मोंका यदि श्रेष्ठ फल मिले तो उसपर भयासुखका अधिकार हो जाता है। वेद-निर्णित, अग्निव्रत-विवर्जित, लम्पटता आदि कर्म दुगचार हैं।^४ पाप, अभिचार और कृत्याप्रयोग कदाचार हैं।^५ गो-नह-अश्वव, मदिरापान, भ्रातृजाया-संनर्ग, तम्पति हत्यना, गोत्रजासे विवाह, सपिण्डविवाह, ऊडा-विवाह आदि कदाचार हैं।^६ ऐसे गहित कर्म नहीं अरना चाहिये; क्योंकि इन असल्कमोग्ये तप क्षीण हो जाता है।

असहाय प्राणियोंकी रक्षा—सदाचरणीय

वृद्धो वानिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि ।
(कुलीनः पण्डित इति रक्ष्या निःख्याः स्वशक्तिः ।)
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुप्यमेव च ॥
(अनुगा० १०४ । ११२)

'वृद्धे कुटुम्बी, दरिद्र मित्र और कुलीन पण्डित यदि निर्धन हो तो उनकी अपनी सामर्थ्यके अनुसार रक्षा करनी चाहिये और उन्हे अपने घरपर ठहराना चाहिये, इससे धन और आयुकी वृद्धि होती है।'

१—स्वामे पूर्णमाचारं पद्धर्ये मुनिसत्तमाः । आतुरे नियमो नामि गहापदि तथैव च ॥

(व० ना० पु० २५ । १६)

२—'वृद्धाचारः परिग्राह्यः ।' (व० ना० पु० २४ । ४५)। इसका कारण यह है कि कर्तव्य-निर्वाणके अति कठिन कार्यमें अनुभवी धर्मनिष्ठ व्यक्ति ही मार्ग दिखा सकते हैं, जैसा कि महाभारतमें कला गया है—'मात्रतो येन गतः स पन्थाः ।' वृद्धका अर्थ 'महाजन' या आस पुरुप ही है।

३—ग्रामाचारास्तथा ग्राह्याः स्मृतिमार्गाऽविगंधतः । (व० ना० पु० २२ । ११)

४—विद्वराज गणेशने मयामुरको वरदान दिया है—'स्वर्वमविविहीनं त्वं कर्म भुद्भूतं जनैः कुतम् ।'

(मुद्दलपु० ७ । ८ । ३२)

५—वेदभक्तिविहीनाश्च स्वाहस्वधाविवर्जिताः । पण्डिता अपि ते सर्वे दुराचारपर्वतकाः ॥
लम्पटाः परदरेषु दुराचारपरायणाः ॥ (देवीभागवत १२ । ९ । ६७)

६—विष्णुधर्मपुराण २५ व० अध्याय ।

७—अदायाः पुनरुद्धर्व हृदयांशं गोवर्ध तथा । कलौ पञ्च न कुर्वन्ति भ्रातृजायां कमण्डलम् ॥

यह इलोक 'स्मृतिचन्द्रिका' । २२१ के अनुसार आदि पुराणका है और परागरस्मृति १ । २ । ९१ की माधवाचार्यकी टीकाके अनुसार आद्यपुराणका है।

८—शिवपुराण ८० सं० पु० सं० १० । ४२; ९—शिव ० पु० शतरुद्रसं० ४० । १३-१४ ।

श्रीमद्वेदीभागवतमें सदाचार

(ले०—महामहोपाध्याय आचार्य हसिंगंकर वेणीरामजी शास्त्री, कर्मकाण्ड-विश्वारद, विद्वाभूपण, संस्कृतरत्न, विद्यालंकार)

वर्तमानयुगमें प्रायः सर्वत्र सादगी, शील, सदाचार, सदगुण तथा नैतिक मूल्योंका दिन-प्रति-दिन हास होता जा रहा है। इसके विपरीत स्वेच्छाचार, दुराचार, अनाचार, दुर्गुण और अनैतिकताका बाहुल्य होता जा रहा है। ऐसे कठिन समयमें सदाचारका अध्ययन, आचरण तथा शिक्षणका विशेष महत्त्व हो गया है। सदाचार आजके जीवनकी सर्वाधिक और सामयिक आवश्यकता है, किंतु सदाचारका विषय गम्भीर तथा व्यापक है। यहाँ इस सम्बन्धमें केवल यथा-बुद्धि नीलकण्ठी टीकासहित देवीभागवतके कुछ प्रसङ्ग उपस्थित करनेके प्रयत्न किये जा रहे हैं।

उद्यास्तमयं यावद् द्विजः सत्कर्मकृद् भवेत् ।
नित्यनैमित्तिकैर्युक्तः काम्यैश्चान्यैरगर्हितैः ॥

(देवीभा० ११ । १ । ५-६)

✓ देवीभागवतमें श्रीभगवान् नारायण नारदजीसे कह रहे हैं कि नारदजी ! मैं आपसे सदाचारकी विवि और उसका क्रम बतला रहा हूँ, जिसके आचरणमात्रसे देवी सदा प्रसन्न रहती हैं। प्रातःकाल उठकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंका प्रतिदिन जो कुछ कर्तव्य होता है, उसे सदाचार कृत्य कहा जाता है। ‘सूर्योदयसे लेकर सूर्पास्तरपर्यन्त जो द्विजोंद्वारा नित्य-नैमित्तिक काम्य तथा अनिन्द्य कार्य हैं, उनका ही अनुष्ठान करना चाहिये।’ ‘कोई भी मनुष्य इस संसारमें क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता’—ऐसा सोचकर मनुष्यको व्यापार-रहित होना असम्भव देखकर कुकर्मका परित्याग कर सद्व्यापार, सदाचार या सत्कर्मोंका ही आश्रय लेना चाहिये—“नहि कश्चित् धर्ममपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति न्यायेन व्यापाररहितस्यासम्बोद्धान्यव्यापारं विहाय सद्व्यापारं पवाश्रयणीय इत्यर्थः ।” (दे० भा० ११ । १ । ५ की नीलकण्ठी टी०)

परलोकमें पिता, माता, पुत्र, ली और जानिवाले भी सहायता करनेके लिये समर्थ नहीं होते। वहाँ केवल एक धर्म ही सहायता करता है। यह धर्म ही आत्माका सहायक है, अतः धर्माचरण या सदाचारके द्वारा आत्म-कल्याणकी साधना करनी चाहिये। थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिनके साधनेसे धर्मका संग्रह करना चाहिये। इसकी सहायतासे मनुष्य दुःख और अज्ञानको दूर करता है—
तस्माद् धर्मं सहायार्थं जित्वं संचिन्तुयाच्छन्नैः ।
धर्मस्यैव सहायात्तु । तमस्तरतिदुस्तरम् ॥
(देवीभा० ११ । १ । ७-८, मनुस्मृति ४ । २३९-४०)

ननु पित्रादिर्मिललितहास्यविनोदेन कालः सुखेन गच्छति तदा तद्विहाय किमिति धर्म आस्येय इति चैतद्वाह भ्रातैर्मैवति । परलोके न पित्राद्यः सहाया भविष्यन्ति, किंतु धर्म एव। स चात्मैव जायते इति आत्मैव स्वस्य सहायो नान्य इति स्वैरैव स्वस्य धर्माचरणेन कर्तव्यमिति भावत्त दुक्षम्—‘आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मन’ इति। (देवीभा० नी० टी०)

धर्मके भी अनेक भेद हैं। मुख्य धर्मका आश्रय अवश्य लेना चाहिये। यह मुख्य धर्म वेद और सूत्रियोंमें निरूपित है। इसमें भी सदाचारकी मुख्यता है। सदाचारके द्वारा मनुष्य आयु, संतान, अक्षय अन्धन और सुखको प्राप्त करता है। इससे लोक-परलोक दोनोंमें सुखी होता है—

तत्र धर्मस्यत्तेऽरुचिद्वित्वेऽपि मुख्यस्यस्य तस्याश्रयेनापि निर्बाहाद्वद्यं स विधेय इति दर्शयन् धर्मस्य मुख्यं खपमाह। आचारः प्रथमो धर्म इति । सुख्यः स च शुत्युक्तः स्वत्युक्तश्च मान्यो आन्मनः सदाचारे द्विजो जित्यं समायुक्तः स्यादित्यन्वयः ।

सदाचार श्रेष्ठ धर्म है, सदाचार श्रेष्ठ कर्म है, इससे ज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा मनुने कहा है, अतः सदाचारका प्रयत्नपूर्वक पालन करे।

अह्नानन्धजनानां तु मोहितैर्भासितात्मनाम् ।
धर्मसूपो महादीपो मुक्तिमार्गप्रदर्शकः ॥
(वरी १२)

अत्रैव मनुघच्छमर्थतः पठति । आचारात् प्राप्यत इति । तथा च मनुः 'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'कर्मणो जायते जनां क्षानान्मोक्षमवाप्यते', इत्यन्तम् ॥

यह आचार सभी धर्मोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ है । आचार श्रेष्ठ तर्प है, यही श्रेष्ठ ज्ञान है और इस आचारसे ही सब प्रकारकी सिद्धि हो सकती है । जो छिज उत्तम होकर आचाररहित है, वह पतितकं समान वहिष्कार करने योग्य है । क्योंकि जैसा पतित होता है वैसा ही वह भी है । इसमें पराशरस्मृतिका भाव है—

यस्त्वाचारविहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तम ।
स शूद्रवद् वहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१५॥

पराशरस्मृतिमर्थतः पठति । यस्त्वाचारविहीन इति । तथा च पराशरः—'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'सर्वधर्मवहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः' इत्यन्तम् ॥

यह सदाचार दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय, दूसरा लौकिक । ये दोनों ही आचार पालन करने योग्य हैं, इनमें कौई भी कल्याणकामीके लिये छोड़ने लायक नहीं है । गाँवका धर्म, जातिवालोंका धर्म, देशवासियोंका धर्म, उनके क्रममें आया हुआ वर्ष यह सब मनुष्यको पालन करना चाहिये । इनमें से किसीका भी परियाग नहीं करना चाहिये । दुराचारी पुरुषकी लोकमें अवश्य निन्दा होती है । वह आगे चलकर दुःख भी पाता है और उसके शरीरमें रोग व्याप्त हो जाते हैं । इसमें गौतम-स्मृतिके प्रमाणका भाव आता है—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा ।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्वाज्यौ शुभमिच्छता ॥
ग्रामधर्मा जानिधर्मा देशधर्माः कुलोङ्घचाः ।
परिग्राहा चूभिः सर्वे नैव ना लघ्वयेन्मुने ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवनि निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याप्ति व्याप्ति च ॥
(वरी श्लोक १६—१८)

तथा च गोनमः—'यथापि स्यात् स्यव्यं व्रम्म' उन्यादि तथापि लौकिकाचारं मनमापि न लङ्घयेदिति । परित्यजेद्धर्थकामो यो म्यानां धर्मवर्जितो । धर्ममाप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥१९॥

गसारमें जो धन और कामना धर्मसे रहित हो तो उन दोनोंका परित्याग कर देना चाहिये । कोई धर्म भी यदि दुःखस्त्रप्य परिणामवाला तथा लोकविद्विष्टक डिखायी पड़े तो उसका भी परित्याग कर देना चाहिये ।

व्रह्ण्यादिदृश शास्त्राणां निश्चयः स्यात् कथं सुने ।
कियत् प्रमाणं तद्वद् धर्ममार्गविनिर्णयः ॥२०॥

इस लोकमें शास्त्र अनेक हैं, जिस धर्मका निर्णय कैसे किया जाय, नारद मुनिके ऐसा प्रश्न करनेपर नारायण भगवान् ने कहा—

श्रुतिस्मृती उमे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
पतत्वयोक्त पव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुञ्चित् ॥२१॥
विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां च परस्परम् ।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वये श्रुतिर्वरा ॥२२॥
श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र तत्र धर्माद्युमौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक् ॥२३॥

वेद और स्मृति ये दो नेत्र हैं और पुराण हृदय । अतः इन तीनोंमें जो कहा गया है, वही धर्म है । जहाँ इन तीनोंमें विरोध हो, वहाँ वेदको प्रमाण मानना चाहिये और शेष दोमें विरोध होनेपर स्मृतिको प्रमाण मानना चाहिये । जहाँ दो प्रकारके वेदके मत हों, वहाँ दोनोंका अनुष्ठान करना चाहिये । स्मृतियोंमें परस्पर भेद या दुविधा उत्पन्न होनेपर विकल्पकी व्यवस्था करनी चाहिये ।

धर्ममार्गमें वेद ही सर्वथा प्रमाण है—जिनका उनसे विरोध न होता हो, वे ही प्रमाण हैं, दूसरे नहीं ।

‘ग्राहणस्य प्रत्यक्षश्रुतिविश्वदत्समुद्राधारणा दिग्रति-
पादकतन्त्रस्य न ग्रामाण्यं किंतु वेदाविरोधंशे एव
ग्रामाण्यम् । तथा च तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य प्रत्यक्ष-
श्रुतिविरोधात्र ग्रामाण्यमिति । न केवलं पुराणानि
वेदमूलकानि किंतु तन्त्रमूलकान्यपि सन्ति । तथा
च पुराणापेक्षया केवलवेदमूलकत्वात् सृष्टीनां
प्रायत्यसुक्तमव्याहतमेव । तदुक्तं स्कन्दे सूत-
संहितायाम् । यथा—‘अवचित्कदाचित्तन्त्रार्थकटाक्षेण
मुनीश्वराः । सन्ति तानि पुराणानि सौऽशो ग्राहो न
द्वैदिकैः’ इति । अतएव तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य
प्रत्यक्षश्रुतिविरोधात्र ग्रामाण्यमिति भावः । तदुक्तं
शिवेनैव महाकालसंहितादिपु । यथा—

वेदाविरोधी योऽशस्तु सैव ग्राहो द्विजोत्तमैः ।
अधिकारि बहुत्वाचाप्यतेकार्थः प्रकाश्यते ॥

अतः वेदोक्त सद्धर्म ही—जो सदाचार हैं वे ही, मनुष्यके
द्वारा अनुष्ठेय हैं । प्रत्येक दिन मनुष्यको उठकर विचार
करना चाहिये कि मैंने कल क्या किया, आज क्या किया
और कौन-सा धर्म-कर्म-दान दिया-दिलाया, कहा और
आगे क्या करना चाहिये—

वेदोक्तमेव सद्धर्मं तस्मात् कुर्याद्वरः सदा ।
उत्थायोत्थाय घोद्वर्यं किं मयाद्य कृतं कृतम् ॥३२॥
दत्तं च दापितं चापि वास्येनापि च भापितम् ।
उपपापेषु सर्वेषु पातकेषु महत्स्वपि ॥३३॥

छः अङ्गोसहित वेद यदि किसीको ज्ञात हो, पर
यदि वह वैसा आचरण न करता हो तो वेद उसे
पवित्र नहीं कर सकते । जैसे पक्षीके बच्चे पंख निकल
जानेपर बोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे सब वेद भी
मरनेके समय उसका परित्याग कर देते हैं । मनुष्यको
प्रातःकाल, सायंकालमें संध्याकी उपासना इत्यादि
नित्यकर्म अवश्य करने चाहिये । जो नित्य-नैमित्तिक
काम्य और प्रायश्चित्य कर्मोंका विधिपूर्वक आचरण करता
है, वह भोग तथा मोक्षरूप फलको अवश्य प्राप्त करता है ।

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि ।
आचरेन्मनुजः सोऽयं भुक्तिभुक्तिभास्त् ॥
आचारवान् सदा पूतो सदैवाचारवान् सुखी ।
आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद ॥

(देवीभाग ११ । २४ । ९६, ९८ ।)

‘सदाचार ही परमधर्म है । सदाचारका फल परम
सुख और आनन्द है । सदाचारवान् मनुष्य सदा पवित्र
रहता है, सुखी रहता है, उसे धन मिलता है और वह
धन्य-धन्य हो जाता है । ये सारी बातें सर्वथा सत्य हैं ।’

सदाचारेण सिद्धयेच एहिकामुम्बिकं सुखम् ।

(देवीभाग ११ । २४ । १०० ।)

सदाचारसे इस लोक तथा परलोकके सारे सुख
सिद्ध हो जाते हैं ।

सदाचार बृजनोदय प्रति

सृष्टि १ भेट-

सदाचारी कौन ?

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं

नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।

दत्ता न पश्चात् कुरुते द्वनुतापं

स कथयते सत्पुरुषार्थशीलः ॥

—महात्मा विद्वर

‘जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं
मानता तथा दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुषार्थशील
अर्थात् सदाचारी कहलाता है ।’

श्रीमद्भागवतमें उदाचार-वैष्णव

(देवता—भीमनाथी गुप्त)

व्युत्पत्ति और परिभासा के अनुसार सदाचारको दो अर्थ होते हैं—(१) मातुता और सदाचारसे युक्त कर्त्ता कर्त्ता या आचारण» और (२) साधुजनका आचारण—यद्युपेक्षा दोपरहित होते हैं ।

इन दोनों दृष्टियोंसे श्रीमद्भागवतमें उग्नित सदाचारका स्वरूप सभीनीननाथी चरणकोटियों प्रतिष्ठित है । स्मृतियोंमें प्रतिपादित जीवनके राष्ट्ररूप सदाचारमें श्रीमद्भागवतमें निर्दिष्ट सदाचारका अपना पक्ष पूर्ण वैशिष्ट्य है । इसमें सदाचारको साध्य न मानकर उसे भक्तिके साधनके रूपमें मान्यता दी गयी है । इन्हे भागवतके प्रत्येक प्रसदमें देखा जा सकता है । कलिय निर्दर्शन उपनीत किये जा रहे हैं ।

महापनित अजामिष्के प्रवरणमें महर्षि वृष्णिर्पायन इसका स्पष्टरूपसे उद्घोष करते हैं कि—

न निष्ठानैरुदिनैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्धयत्यवान् वतादिभिः ।
यथा एरेनामपदैस्दाहृतै-
स्तदुत्तमदलोकगुणोपलभक्तम् ॥

(६।३।११)

वहेवहे ग्रस्यादौ क्रियोंने पापोंके बहुतसे प्रायथिर्त्त—कृष्ण, चान्त्रिग्रुण आदि द्रष्ट वनवाये हैं, परंतु उन प्रायथिर्त्तोंसे पापीकी मूलतः वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोंसे, उनसे गुणित पदोंका उच्चारण करनेसे होती है; क्योंकि वे नाम पवित्रकीर्ति भगवान्‌के गुणोंका ज्ञान करानेवाले हैं । इसी प्रकार उद्धवको उपदेश देते समय श्रीभगवान् एकादश स्वान्धमें स्पष्टरूपसे कहते हैं कि संतोंके परम प्रियतम आत्मारूप में

असन्य अता और मनिये ही पापमें जाया है । युक्त प्राप्त करनेता प्राप्त ही यह उदास है—कोई उदास भीनि । यह उन वेदोंमें भी उपरि, अनि वेदमें काम कर देती है जो गम्भीरे ही वारप्राप्त है । इसके विरोध जो गोपी भक्तिसे वर्णित है, उनके विरुद्धी राम और दद्यमें युक्त धर्म और सदाचारमें युक्त विद्या भी भक्तिरूपी विवित वर्णनमें अवगम्य है । श्रीमद्भागवतमें प्रसुद्ध उनके (सग, दग्ध, तरस्या प्रभुनिमि, भक्तिमें सदृक्ष देवता भगवान् भवेष्यते सदाच द्वैत वाम कल्पवल्लभ मोक्षकी प्राप्ति करनेवाला ही जाता है ।

वर्णात्रमवनां धर्मं परं आनन्दज्ञदेवः ।
स परं मद्भन्निगुनो निःश्रेयमङ्करः परः ॥

(१२।१८।४७)

भक्तप्रबर प्रह्लादका भी मन है कि शारीरिक जो धर्म, जर्य और काम—उन तीन पुरुषार्थोंका वर्णन है, आमविद्या, वर्मजाप्ति, तक्षणात्, दद्यनिमि और जीविताके विशिष्य साधन—जो मनी वेदोंके प्रतिपत्त्य विवर हैं—यहि व्याप्ते परम उत्तमी दल युहु भगवान् श्रीकृष्णों जलसन्मर्पण वरनेमें मरामत्त हैं, तो सार्थक हैं, अन्यथा वे मनवन्तेरुव निरोक्त हैं । नारद्य यह कि सदाचारकी सार्थकता भक्तिसाधनामें समाविष्ट है । भक्तप्रबर प्रह्लादने इस भागवत सदाचारकी विद्या देवर्पिणी नारदसे एवं देवर्पिणी नारदने भगवान् नारदवणसे प्राप्त की थी । देवर्पिणी नारद धर्मराज युविष्टिसे जिस तीस लक्षणोंसे युक्त सभी भनुष्योंके लिये (अनुच्छेद) परम धर्म सदाचारका उदाश देते हैं, उसका पर्यवसान भगवत्त्रीनिमें ही वरताते हैं—

६ व्युत्पत्तिः ‘सदाचार’का विश्वानाम्य (१) ‘उद्युक्त आचार’—‘सदाचारः’ (अन्ते आचार—मातुता और उद्धवले युक्त आचार) अथवा (२) ‘सताम् आचारः—सदाचारः’ होगा, जिसका समर्थन इस श्लोकसे होता है—

† षाधवः श्वीणदोपास्तु सञ्चन्दः साधुकाचकः । देपामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥ (विष्णु पू० ३।११।३)

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
चिरशङ्खक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्ट्यति ॥
(७ | ११ | १२)

यह तीस प्रकारका आचरण 'सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें वे इस प्रकार वर्णित हैं—

'युधिष्ठिर ! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगों-की चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उल्टा होता है—ऐसा विचार, मौन, आमचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन (दान-बलिवैश्वदेव), उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण ।'*'

सदाचारके इन तीस लक्षणोंका अनुष्ठान करनेवाले सिद्ध साधकोंकी तो वात ही क्या ? जिन्होंने इसके एक लक्षणका भी आश्रय लेकर अपने जीवनको धन्यतासे मणित कर लिया, ऐसे सनामधन्य अनेक महापुरुषोंका जीवनवृत्त श्रीमद्भागवतमें वर्णित होकर मानव-जातिके मनमें सृष्टिसे प्रलयकालतक भागवतधर्म और सदाचारका उद्दोधन करता रहेगा। किंतु इन

भगवद्वतारों एवं महापुरुषोंका एक-एक लक्षणके विकासके क्रममें उल्लेख करनेका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें अन्य लक्षणोंका अभाव था, अपितु इन सभीमें भागवत-धर्म एवं सदाचारकी परिपूर्णताका उन्मेष हुआ था। केवल प्रसङ्गकी परिपूर्णताके लिये सदाचारके जिस अंग-विशेषका इन भगवद्वतारों एवं भगवद्भक्तोंमें विशेष प्रकाश हुआ था, उसके संदर्भमें उनका उल्लेख किया जा रहा है। अस्तु ।

(१) सत्यके विषयमें दैत्यराज बलिका उदाहरण मनको बरबस आङ्गृष्ट कर लेता है। वामन घटुकके रूपमें भगवान्द्वारा तीन पग भूमिके नामपर सर्वस्व ग्रहणका 'छल' किये जानेपर भी वहाँ सत्यसे पराड़मुख नहीं होते ! दैत्याचार्य शुक्रद्वारा वारंवार निपेध करने एवं शाप देनेपर भी उनका मन सत्यसे नहीं डिगता एवं एक इसी सत्यके प्रतिपालनके फलखूप भगवान्को उनका द्वारपाल बनना पड़ता है। उनकी सत्यनिष्ठाकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् वामनने उनको देव-दुर्लभ इन्द्रपद प्रदान किया—

गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥
एष मे ग्रापितः स्थानं दुष्प्रापमरैरपि ।
सावर्णेरन्तरस्यायं भूवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥
(८ | २२ | ३० | ३१)

(२) दयाके लिये द्रौपदीका उदाहरण अद्वितीय है। अपने पाँचों पुत्रोंकी सुप्तावस्थामें पशुवत् वृशंस हत्या करनेवाले द्रोणपुत्र अश्वथामाको अर्जुनद्वारा पकड़कर लाये जानेपर भी वह उसे प्रतिशोधमें दण्डित करवाना नहीं चाहती, अपितु करुणाविगलित होकर कह उठती है—

* सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विष्णवेदेष्वा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
थन्नादेः संविभागे भूतेभ्यश्च यथाहृतः। तेष्वात्मदेवताद्विद्धिः सुतरां चृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चाय सरणं महतां गतेः। सेवेष्वावनतिर्दस्यं सख्यमात्मसुमर्पणम् ॥

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्साऽर्ता रोदिष्यथुमुखी सुषुः ॥
(१ | ७ | ४७)

जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुःखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बारंबार आँसू निकल रहे हैं, वैसे इनकी माता पतित्रता गौतमी न रोयें ।

(३—५) तपस्याका चरम उत्कर्ष हमें दिखलायी पड़ता है, ऋग्विष्वर नर-नारायणमें । शौचके कठोरता-पूर्वक पालनमें राजसंन्यासी भरत एवं दक्षके शाप देने-पर समर्थ होते हुए भी उसे सहन करनेमें देवर्पि नारदकी तितिक्षा अविस्मरणीय हैं । (६) यदुकुल-संहारके पश्चात् द्वारकासे लैटे हुए कृष्णविरहकातर अर्जुनसे धर्मराज युधिष्ठिरके कथोपकथनमें उचित-अनुचितके विचारकी अर्थवृश्चक दिखायी पड़ती है । (७) मनःसंयममें वालक ध्रुव आदर्श स्थानीय कहे जा सकते हैं । योगिजन जिसे एकाप्र करनेमें अपना समग्र जीवन समर्पित कर देते हैं, उसी मनको तीव्र भक्तियोगका आश्रय लेकर वालक ध्रुव पाँच वर्षोंकी अवस्थामें ही वशीभूत करके उसकी सारी चञ्चलताको तिरोहित करके शृङ्खला अवस्थामें ले आते हैं—

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यापन् भगवतो स्पं नृद्राक्षीत् किञ्चनापरम् ॥
(४ | ८ | ७७)

(८) इन्द्रियसंयममें स्थयं योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको जीवनकी यह सत्यता कि “पत्न्यस्तु पोडशसहस्रमनङ्गवर्णैर्यस्येन्द्रियाणिविमयितुं करणैर्विभव्यः” ‘सोलह हजार पनियाँ भी काम वाणोंका प्रहार करके उनकी इन्द्रियोंको क्षुब्ध करनेमें समर्थ नहीं हो पायी’—विश्वके इतिहासमें इन्द्रियसंयमका सर्वोक्तुष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है । (९—१२) अवशूत भगवान् ऋग्वभदेवकी अहिंसा, वृद्ध होनेपर भी सदा पाँच वर्षके वालकके समान प्रतीत होनेवाले

उर्धरेता सनकादि ब्रह्मपुत्रोंका नैषिक ब्रह्मचर्य, महर्पि दधीचिका देवताओंके याचना करनेपर अपने प्राणों-तवका त्याग तथा “प्रम्णा पठन् भागवतं शर्विः शर्विः” —‘निरन्तर श्रीमद्भागवतका गान करते हुए व्यास-नन्दन शुकदंव तो स्वाध्यायकी मूर्ति द्वी कहे जा सकते हैं । (१३) राजर्पि अन्नरीपकी सुरक्षाकी प्रशंसा तो अकारण ही उनका अमङ्गल करनेको उद्धत महर्पि दुर्वासा भी श्रीभगवान्‌के सुदर्शनचक्रसे मुक्ति दिलानेपर स्वीकार करते हैं—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दद्यमद्य मे ।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥
(९ | ५ | १४)

(१४) संतोषकी पराकाशा हमें दिखलायी पड़ती है, कृष्णसखा अकिञ्चन नातण सुदामामें । फट्टी-मुरानी धोती, पादुकाविहीन चरण ऐं दीन-हीन जीर्ण-शीर्ण शरीरवाले सुदामा भक्तवाञ्छाकन्पतरु परमसखा कृष्णसे भी कुछ माँगनेमें संकुचित हो उठते हैं और जैसे आये थे, वैसे ही खाली हाथों धरको लौट पड़ते हैं । किंतु मनमें भगवान्‌की प्रशंसा करते नहीं थकते कि धनसे मदोन्मत्त होकर कहीं मैं उनको भुला न कैँदूँ, निश्चय ही यही सोचकर उन परम करुणामयने मुझे धोड़ा-सा भी धन नहीं दिया—

अथनोऽयं धनं प्राप्य मायन्तुच्चैर्न मां सरेत् ।
द्विति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नादादत् ॥
(१० | ८१ | २०)

(१५) समदर्शी महात्माओंके सेवनका फल अद्भुत ही है । राजा रङ्गणको महात्मा जडभरतके दो घड़ीके सत्सङ्गसे परमार्थतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी । वे कहने लगे—‘आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है । मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्सङ्गसे ही सारा

कुतर्कमूलक ज्ञान नष्ट हो गया है।' (श्रीमद्भा० ५ । १३ । २२ ।) (१६) धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्तिकी शिक्षा विप्रयकृपमें आकण्ठनिमग्न राजा यथातिसे ली जा सकती है। यद्यपि उन्होने बहुत वर्णोंका इन्द्रियोंसे विप्रयोका सुख भोगा था, तथापि जैसे पाँख निकल आनेपर पक्षी अपना नीड छोड़ देता है, वैसे ही उन्होने एक क्षणमें सब कुछ छोड़ दिया था। (श्रीमद्भा० ९ । २० । २४ ।)

(१७) देवी भद्रकालीको तृप्त करनेके उद्देश्यसे तमोगुणी मदान्ध चौराण महात्मा जडभरतकी बलि देनेके लिये उच्चत होते हैं; किंतु उनके इस अभिमान-पूर्ण कृत्यका फल ठीक उल्टा होता है एवं देवीकी प्रसन्नताके स्थानपर उन्हें प्राप्त होता है—उनका भीषण कोप। उन सबके भयंकर कुकर्मको देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगता है एवं वे मूर्तिको विदीर्ण करके उसमेसे निकल पड़ती हैं। वे क्रोधसे तड़ककर भीषण अद्वास करती हैं और उछलकर उस अभिमन्त्रित खड़गसे ही उन पापियोंके सिर उड़ा देती हैं। सच है कि अभिमानपूर्ण कृत्योंका फल सदा विपरीत ही होता है। (१८-१९ ।) असदाचार-कर्म कल्याण नहीं दे सकता और सदाचार सदैव श्रेयःसावक होता है।

राजा इन्द्रद्युम्नकी जयकालमें ऋषिगणोंके आ जानेपर भी मौनव्रतमें परायणता तथा ब्रह्मर्षि अवधूत दत्तात्रेयका आत्मचिन्तन मुक्तिमार्गके पथिकोंके लिये अनुकरणीय है। सदाचारमय जीवनका व्रत ऐसा ही होता है।

(२०) प्राणियोंमें अन्न आदिके यथायोग्य विभाजनमें तो राजा रन्तिदेव अपना सानी नहीं रखते। सर्वस्व दान करके परिवारके साथ भूखे-प्यासे बैठे इन राजाको उनचासवें दिन थोड़ा-सा अन्न-जल प्राप्त हुआ। प्राणसंकटके ऐसे समय भी उन्होने दूसरोंकी प्राणरक्षाके

निमित्त उसका भी वितरण कर दिया एवं उसमे क्षुधार्त उन रन्तिदेवको जो आनन्दानुभूति होती है, वह प्राणोंपर मृत्युका नहीं, अपितु अमृतका जयघोष बन जाती है; देखिये—

क्षुल्ट्यथमो गात्रपरिथ्रमश्च

दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।

सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-

र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥

(१ । २१ । १३)

इस मुमूर्षु दीन-हीन प्राणीको जल दे देनेसे मेरी भूख-प्यासकी पीड़ा, शरीरकी शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह सब दूर हो गये। इसी सदाचारके प्रभावसे उनके सम्मुख ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हो जाते हैं। सदाचारकी उल्कृष्ट यह उदाचत्ता आचन्द-दिवाकर आदर्शरूपमें प्रतिष्ठित रहेगी।

(१२) सभी भूत-प्राणियोंमें अपने आत्मा एवं इष्टदेवकी अनुभूतिके क्षेत्रमें ऋषभनन्दन योगीश्वर कविका उल्लेख करना समीचीन होगा। विदेहराज निमिकी यज्ञ-सभामें उनकी उक्ति बड़ी मननीय एवं अनुकरणीय है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतींपि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।

सरित्सुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत्कञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(११ । २ । ४१)

'राजन् ! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, प्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र सब-के-सब भगवान्के शरीर हैं। सभी रूपोंमें ख्यय भगवान् ही कीड़ा कर रहे हैं, ऐसा समझकर जड़ या चेतन सभी प्राणियोंको अनन्य भगवद्वावसे प्रणाम करे।' 'सीय राममय सब जग जानी। कर्तृं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

इसीसे उपोद्घालित मानस-सूक्ष्मि है।

(२२) इसी प्रकार भागवतशास्त्र 'परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने' कहकर श्रवणरूप

सदाचारद्वारा मुक्तिसाधनमें परीक्षितके अनन्य अधिकारत्वकी ओर इङ्गित करता है। (२३-३४) भक्तराज प्रह्लादका दैत्य वालकोंके साथ मिलित होकर भगवन्नाम-संकीर्तन, देवर्पि नारदका ऐसा स्मरण कि “आहृत इच्छा मेरी शीघ्र दर्शनं याति चेतसि” अर्थात् याद करते ही तत्काल मेरे चित्तमें उडित होकर वे ऐसे दर्शन दे जाते हैं, मानो किसीने बुलाया और आ गये—कीर्तन और स्मरण सदाचारके द्वारा सिद्धिकी ओर संकेत करते हैं। (२५-३०) “स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः” आदि शब्दोद्वारा वर्णित साधारूप वृहस्पतिके शिष्य उद्धवकी सेवा, व्रजवासियोंद्वारा गिरिराज गोवर्धनके खूपमें उन गिरिधारीकी पूजा, अकूरका भूमिमें लोट-लोटकर प्रणाम-नमस्कार, विदुरका दात्य, गोप-वालकोंका स्नेहपक्षित सत्य एवं परम अनुरागमयी श्रीगोपाइनाओंका आत्मनिवेदन तो जगद्को इस शुक-शालका ही अमृत-द्रवसंयुक्त रसमय प्रसाद है। इन सबमें सदाचारका सुमधुर सम्भार संयोजित है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित सदाचार श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित सामान्य सदाचारके असमोद्ध आसनपर विराजमान होकर संसारके समस्त दीन-हीन पाप-ताप-समाकुल नरनारियोंको युग्म-युग्मसे अपनी मुश्कीलत द्यायामें आद्यान करता हुआ यह उदाम सन्देश दे रहा है कि—

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रिमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीवरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरः ॥
(१२। १२। ५३)

वर्णाश्रिमसम्बन्धी सदाचार, तपस्या और अध्ययन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है, केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। परंतु भगवान्के गुण, लीला, नाम आदिका ग्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी अविचल स्मृति प्रदान करते हैं, जो सदाचारकी उच्च भूमिमें पीयूष-वर्णी बनकर श्रेयःस्मृति बन जाते हैं। यही श्रीमद्भागवतका सदाचार-वैशिष्ठ्य है, जो अनन्य साधारण है।

सेवक-सेव्यका कृतज्ञता-भाव

हनुमानजीके द्वारा सीताजीका समाचार भगवान् गद्गद होकर कहने लगे—‘हनुमान् ! देवता, मनुष्य, सुनि आदि शरीर-धारियोंमें कोई भी तुम्हारे समान मेरा उपकारी नहीं है। वदलेमें मैं तुम्हारा उपकार तो क्या करूँ, मेरा मन तुम्हारे सामने आनेमें भी सकुच्चता है। वत्स ! मैंने अच्छी तरह विचारकर देख लिया कि मैं तुम्हारा ऋण कभी नहीं चुका सकता। कृतज्ञताके आदर्श—श्रीराम धन्य !

हनुमानने कहा—‘मेरे सामी ! बंदरका वस, यही बड़ा पुरुषार्थ है कि वह एक डालसे दूसरी डालपर कूद जाता है। मैं जो समुद्रको लौँध गया और लंकापुरीको जला दिया तथा राक्षसोंका वध करके रावणकी वाटिकाको उजाड़ दिया—मेरे नाथ ! इसमें मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है, यह सब तो है मेरे सर्वस्व। आप श्रीराघवेन्द्रका ही अनित प्रताप ! प्रभो ! जिसपर आप प्रसन्न हों, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। आपके प्रभावसे और तो क्या, क्षुद्र रुद्ध भी बड़वानलको जला सकती है। नाथ ! मुझे तो आप कृपापूर्वक अपनी अतिसुखदायिनी अनपायिनी भक्ति ही दीजिये।’ धन्य है यह निरभिमानिता तथा कृपावत्स्वता और सेव्य-सेवकका अनुपम कृतज्ञताभाव !!

आगम-ग्रन्थोंमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णांकरजी शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०)

वैसे आगम शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों एवं वैदिक तथा तान्त्रिक परम्पराओंका वाचक है*। आगम शब्दका मुख्य अर्थ है—पार्वतीके प्रति शिवद्वारा वैष्णवमतका निरूपण। प्राचीन मनीषियोंका कथन है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥

‘यह शिवजीके मुखसे निकला, पार्वतीजीके कानोंमें पड़ा और भगवान् वासुदेवका मत है, अतः इसे ‘आगम’ कहा जाता है।’ ‘कुलार्णव’ (१७ । ३४)के अनुसार सदाचारयुक्त परमात्मतत्वके निरूपक होने और दिव्यगति देनेके कारण ही इसके ‘आगम’ नामकी चरितार्थता है—

आचारकथनाहिव्यगतिप्रासिविधानतः ।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये ॥

मीमांसकोंके अनुसार श्रुतियाँ आगम-निगमके भेदसे द्विविध हैं (द्रष्टव्य मन्त्रर्थमुक्तावली २ । १)। ऋषियोंने निगम अथवा वेदोंके साथ ही परम्परासे जिस ज्ञानराशिको उपलब्ध किया था, उसे आगम कहते हैं। यों तो आगमसे पाञ्चरात्र-वैखानसादि वैष्णवागम, शाक्तागम, सौर-गाणपत्यादि आगम तथा शैवागम आदि सभी निर्देश्य होते हैं, साथ ही इसके अन्तर्गत अधिकांश दर्शन-शास्त्रोंका भी—जिनमें पठदर्शन भी सम्मिलित हैं समावेश है (द्रष्टव्य—‘सर्वदर्शनसंग्रह’)। वास्तवमें आगम भी वेदोंके समान अनादि हैं और अर्थवेदमें इनका बाहुल्य होनेसे इन्हें निगमसे सर्वथा अलग भी करना शक्य नहीं है। इसीलिये आगम-निगमोंके अंशोंको मन्त्र कहा जाता है। आचार्य-परम्परामें इस तन्त्रको भी (प्रायः) वेदवत् प्रमाण माना गया है।

आगम-साहित्य विपुल है। इन ग्रन्थोंमें सूक्ष्म विद्याओंका अपार व्यापक तथा गम्भीर प्रसार है।

विषयवस्तुकी दृष्टिसे आगमसंज्ञा उन ग्रन्थोंको दी जाती है, जिनमें सुष्ठि-प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, कर्मसाधन एवं ध्यानयोगकी व्याख्या की गयी हो। अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियों तथा लोक-प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणतरूप आगम-ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है। यह वाङ्मय दैवी-शक्तिके दिव्य चमत्कार और ऋषियोंके ज्ञान-विस्तारका श्लाघनीय चरम प्रयास है। यहाँ इनके आधारपर सदाचारकी दो-एक मुख्य बातें दी जा रही हैं। शिवोक्त ‘कुलार्णवतन्त्र’में उस साधकको श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, जिसकी जिहा परान्से दूपित नहीं, हाथ दूसरेकी वस्तुके ग्रहण करनेसे कलङ्कित नहीं और मन परनारीके दर्शनसे क्षुब्ध नहीं होते हैं, ऐसा सात्त्विक साधक ही सिद्धि प्राप्त करता है, दूसरा नहीं—

जिहा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनो दग्धं परस्त्वाभिः कथं सिद्धिर्वरानने ॥
(कुलार्णव १५ । ८४)

अतः सिद्धि चाहनेवालोंको सदाचारके इन नियमोंका पालन सावधान होकर करना चाहिये। सत्य धर्माचरणका उदाच्च-स्वरूप ‘महानिर्वाण’तन्त्रमें देखनेको मिलता है। सत्य-विहीन मानवकी साधना, उपासना व्यर्थ है। सत्यका आश्रय ही सुष्टुतोंका आश्रय है—‘सत्य मूल सब सुकृत सुद्धाएः।’ (मानस० २ । २७ । ६) सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले कर्म-सौन्दर्यके उपासकको सिद्धियाँ अनायास वरण कर लेती हैं। सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। एतदर्थे अनित्य असुख दुःखाल्य जगत्में आये हुए मानवको सत्य-कल्पतरुका ही सयन्त्र सतत सेवन करना चाहिये।

* प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । (योगदर्शन १ । ७ इत्यादि ।)

सत्यहीनका जप-तप-आराधन उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जिस प्रकार ऊसर भूमिमें बीजका वपन है।

आगमप्रन्थोंमें ही 'गुरुतत्त्व'का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन एवं माहात्म्य निरूपित है। गुरु-भक्तिसे क्या लाभ है? गुरुका मुख्य कार्य क्या है? शिष्यकी आत्माके साथ अभिन्न होकर शिष्यरूप चैतन्यकी योगभूमिको सम्पूर्णरूपसे एक विशिष्ट प्रक्रियाद्वारा कैसे शोधित करना होता है?—इत्यादि गुरुके प्रभावात्मक कार्य इनमें वर्णित हैं। इसके बाद ज्ञानदीक्षाद्वारा चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, कलाओं और क्रिया-शक्तियोंका शिष्यमें उद्भावन, अथवा यों कहें कि शिष्यके पाश्चों (बन्धनों)का नाश और शिवत्वका समायोजन—शिष्यमें जो मलिनता है, उसका प्रक्षालनकर उसे शिव-स्वरूपमें युक्त कर देना गुरुका मुख्य कार्य है।

दीक्षाके^३ सब कृत्य योग्य गुरुको ही करने पड़ते हैं। इसमें गुरुकी साधना एवं मन्त्रशक्ति ही प्रधान हैं। गुरु

भावना-सिद्ध होते हैं। अतः क्षेत्र-विशेषणमें उन्हें भावनाका ही उपयोग करना पड़ता है। उरुमुखसे सुना हुआ मन्त्र ही मिळ होता है। पुस्तकमें किंवी विद्या मनुष्योंको सिद्धि प्रदान नहीं करती। तन्त्रशास्त्रमें विना गुरुके उपदेशके किसी प्रकारके कार्यका अधिकार नहीं है। गुरुदीक्षासे दीक्षित होकर ही शिष्यको गुरुकी परिचर्या एवं देवार्चनकी पात्रता प्राप्त होती है। आस्थावान् शिष्य ही आशीर्वादात्मक गुरुरूप शिवका वरदहस्त प्राप्त करता है। अतः—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।' तथा—
मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवजे भेषजे गुरौ। यादवी
भावना यस्य सिद्धिर्भवति नादवी॥ (हस्तिंशमा ० ३।
२०, पञ्चतं ०५। ९८, कुलार्णव आदि) के अनुसार अपने
परम-गुरुमें आस्था भी सदाचारका विशिष्ट कारण है।

सदाचारी जीवनका सुफल

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मध्यापान आदि, कपट-छल, डाह, चुगलखोरी, अविवेक, विचार-गून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोछपता, (भोगोके लिये) अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद (कर्तव्य-कर्म न करना और अकर्तव्य करना), दूसरोंके साथ द्रोह करनेमें आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूक्रता, परखीसे अनुचित सम्बन्ध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक, चोरी—इन दोषोंसे बचा रहकर जो मानव अपना जीवन विताता है, वह पृथ्वी, देश तथा नगरका भूपण होता है। वही श्रीमान्, विद्वान्, कुलीन और मनुष्योंमें सर्वोत्तम है; उसे नित्य ही सम्पूर्ण तीयोंमें स्थान करनेका फल मिलता है और आदर्श सदाचारका वह सच्चा अविकारी बन जाता है।

(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड)

१. सत्यं धर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः। तदेव सफलं कर्म सत्यं जानीहि सुन्तते॥

नहि सत्यात् परो धर्मो न पापमनृतात् परम्। तस्मात् सर्वात्मना भर्त्यः सत्यमेकं समाश्रयेत्॥

सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथा जपः। सत्यहीनं तयोर्वर्यर्मसूपरे वपनं यथा॥

(मद्यानिर्वाणतन्त्र ४। ७४-७६)

२. 'कुलार्णव'के प्रथम चारे उल्लासों तथा अन्तिम १३ से १७—इन छः उल्लासोंमें गुरुकी अपार महिमा निरूपित है। इसके १२वें उल्लासमें गुरुपादुकाकी जो महिमा, प्रतिष्ठा एवं पूजाविधि निर्दिष्ट है, आज भारतके सभी सम्प्रदायोंमें उसीका अनुसरण होता है। भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें ही जो गुरुकी अद्वृत महिमा एवं सम्मान है, उसके मूलदेश वस्तुतः ये आगम-ग्रन्थ ही हैं। श्रीविद्यार्णव आदिमें तो प्रायः इस सम्बन्धमें कई प्रकरण एवं प्रायः द्वाई-तीन सहस्र श्लोक उपलब्ध होते हैं।

३. दीक्षा—श्रीभगवान्का लीबोद्धार-क्रम दीक्षा है। विशेष द्रष्टव्य—'तान्त्रिक वाऽमयमें शाक्त-हृषि' डा० गोपीनाथकविराज।

४. पुस्तके लिखिता विद्या नैव सिद्धिप्रदा वृणाम्। गुरुं विजापि शास्त्रेऽसिद्धाधिकारः कथंचन॥

(उड्ढीश्व, कुलार्णव १५। २२)

वैदिक गृह्यसूत्रोंमें संस्कारीय सदाचार

(लेखक—डॉ. श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम० ए०, ओ० एल०, पी-एच० डी०)

प्राचीन भारतमें अन्तर्दृष्टिकी प्रनिधियोंको सुलझाने तथा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लेकर मृत्युतकका जीवन संस्कारोंसे संस्कृत होता रहता था। इसकी ध्वनि वेदसे ही सुनायी देती है। वेदोंका गृह्यसूत्र-साहित्य अपने-आपमें वड़ा व्यापक है, जिसका कारण हमारे देशके विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा विविध जातियोंकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-विविधताओंके कारण अनेक गृह्यसूत्रोंकी रचना युक्ति-संगत ही प्रतीत होती है।

ऋग्वेदके तीन गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन, शाङ्खायन तथा कौपीतकिगृह्यसूत्र। शुक्लयजुर्वेदके दो गृह्यसूत्र हैं—पारस्कर और वैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके वैधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, वैद्यानस, अग्निवेश्य, मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र हैं। सामवेदके—गोमिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन गृह्यसूत्र हैं। अर्थवेदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है, उसका केवल वैतानकलपसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसमें गृह्यसूत्रादिके सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहो ऋग्वेदीय शाङ्खायनगृह्यसूत्रके प्रधान कर्मोंकी सूची उद्घृत करते हैं, जिससे सब संस्कारोंका परिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—खाथ्यायविधि (१।६), इन्द्राणीकर्म (१।११), विवाहकर्म (१।१२), पाणिग्रहण (१।१३), सहपदकामण (१।१४), गर्भावान (१।१९), पुंसवन (१।२०), सीमन्तोन्नयन (१।२२), जातकर्म (१।२४), नामकर्म (१।२५), चूडाकर्म (१।२८), उपनयन (२।१), वैश्वदेवकर्म (२।१४), समावर्तन (३।१), गृह्यकर्म, प्रवेशकर्म (२, ३, ४), शास्त्रकर्म (४।१),

उपाकरण (४।५), उपाकर्म (४।७), सपिण्डीकर्म (४।३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म (४।४), उत्सर्गकर्म (४।६), उपरस्कर्म (४।७), तर्पण (४।९) और स्नातक धर्म (४।११)—ये संस्कार सत्युगसे लेकर भगवान् राम, कृष्ण एवं हर्षवर्धनके समश्रृतक जीवन्तरूपमें रहे। महाकवि कालिदासने इनमें सुछ संस्कारोंकी चर्चा अपने ग्रन्थोंमें की है; जैसे—पुंसवन (कुमारसम्भव ३।१०), जातकर्म (खुवंश ३।१८), नामकरण (रघु ३।२१), चूडाकर्म (रघु ३।२८), उपनयन (कुमार ०३।२९), गोदान (रघु ०३।३), विवाह (कुमार ०६।४९), पाणिग्रहण (रघु ०७।२१), दशाह (रघु ०७।७३)। संस्कारोंके इम वर्णनमें यह मलीभौति प्रमाणित हो जाता है कि राजासे इक्षतक—सवकी परम्परागत इन कर्मोंमें श्रद्धा होती थी। यही कारण है कि भारतमें समय-समयपर होनेवाले आक्रमणकारियोंके वर्वरतापूर्ण आक्रमण निष्फल रहे। ये थीं हमारे पूर्वजोकी अमर योजनाएँ, जिन्होंने देशको अखण्डित तथा हमे खात्रीन बनाये रखा और जिनके द्वारा संस्कृत होनेके कारण हम सब एकतामें आवद्ध रहे।

गृह्यसूत्रोंमें आश्रमोंकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन मिलता है। ऋहचर्य, विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन आश्रम व्यापकरूपसे समाजमें प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीय-संहिता'के एक मन्त्रमें प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण कहे हैं—'जायमानो वै वाह्यण्डिभिन्नृणवा जायते। व्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यहोन देवेभ्यः प्रजया पितॄभ्यः। एप वा अनृणो यः पुत्रो यज्ञा व्रह्मचारियासी (६, ३, १०, १३) 'जब व्राह्मण पैदा होता है तो उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणके अपाकरणके

लिये ग्रहणचर्यवत् (शिक्षा), देव-ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृऋणसे मुक्तिको लिये वह श्रेष्ठ परिवार-में विवाह करता है । 'शाश्वायनगृह्यसूत्र'के उपनयन-संस्कारमें तीनों वर्णोंकी अवधिका उल्लेख है, जो इस प्रकार है—गर्भाप्तिमेषु व्रत्त्वासुपनयेत् (२।१), गर्भकादशेषु धत्रियम् (२।८) । गर्भादशेषु वैश्यम्, (२।५), आपोडशाद् वर्षाद् व्रत्त्वास्याननीन-कालः (२।७), आ छाविंशात् शत्रियस्य (२।६), आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य (२।८) । अर्थात् 'गर्भाधान-संस्कार'के बाद आठवें वर्षमें व्रात्त्वासुपनयन-संस्कार करे (२।१), गर्भाधान-संस्कारके बाद चारहवें वर्षमें धत्रियका उपनयन-संस्कार करे (२।४) । गर्भाधान-संस्कारके बाद चारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे । व्रात्त्वासुपनयन-संस्कार सोलह वर्षतक हो जाने चाहिये (२।६), वाईस वर्षतक धत्रियके (२।७) और चौबीस वर्षतक वैश्यके (२।८) । यहि तीनों वर्ण इस अवधिके बीच अपना संस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे तो वे उपनयन, शिक्षा तथा यज्ञके अविकारारोग्ये वक्षित समझे जाते थे ।

आजके युगमें भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराकी ओर संकेत करती है । उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रात्त्वासुपनयन-संस्कारवान् कहलानेके अविकारी भी होते थे । वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड था । यह हमारे जीवनके उल्कर्पकी धजा समझी जाती थी । कुछ आधुनिक शिक्षाके आलोकमें अपनेको प्रबुद्ध माननेवाले भ्रान्तलोग इस व्यवस्थाको हमारी सात सौ वर्षोंकी गुलामीका कारण बतलानेका साहस करते हैं ।

किंतु प्राचीन कालमें जितने भी शक्ति, हृषि आदि द्विदेशी जातियोंके आज्ञामण हुए, उनसे सुरक्षित रहनेकी क्षमता इसी वर्णव्यवस्थामें थी । इस वर्णाश्रमधर्मको माननेवालोंमें स्वधर्मकं प्रति गर्व और गोग्यती भावना इनहीं अविक्षित थी कि वे दूसरोंकी अपेक्षा धर्मनेको अंगुष्ठ समझते थे ।

पाठ्याच्य चिन्तकोने अपने ग्रन्थोंमें हृष्ट्य घोषकर इस उक्तार्थके लिये भारतीयोंकी प्रशंसना की है । शिळ्डनीने अपने प्रथ्य 'भारतीय अर्तादिति'में कहा है कि हिंदुओंने विदेशी दाक्षमणी तथा प्राचुनिक प्रकोपोका मानना करनेमें जो शक्ति दिखायी है, उसका कारण उनकी अज्ञान, अमर और अजर वर्णाश्रम-वर्मकी अवरथा थी । इसी तरह सूर ल्यरेन्सने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन'में लिखा है— 'हिंदुओंकी जातीय प्रथाने संवक्ता काम किया है, जिससे उसे शक्ति मिली है और उससे विभिन्न वर्णोंको सुसंगत रखा है ।' गार्डनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजके स्तम्भ'में लिखा है— 'वर्णाश्रमधर्मने भारतीय विश्वास तथा परम्पराओंको जीवन्त रखा है ।' परिचयमें आदर्शोंके स्थानपर धन-दौलतको आवार माना गया है, जो वाढ़की दीवारकी तरह अस्तित्व है ।

पर हमारे यहाँ आचार्योंका समाजमें ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरमें आचारसे ही आढ़र होना था । वे आचरणके क्षेत्रमें उदाहरणीय व्यक्ति समझे जाते थे । दूसासे आठ सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कने अपने ग्रन्थ निरुक्तमें आचार्यका निर्वचन करते हुए लिखा था—आचार्यः कस्माद् ? आचिनोत्पर्यान्, आचिनोति चुद्धिमिति वा । (१।४)—आचार्य किसे कहते हैं ?—जो शिष्यको सदाचरण सिखलाता है अथवा शिष्यको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंको समझा देता है । गृहसूत्रोका तात्पर्य संस्कारके संनिदेशसे है । इन्हीं संस्कारोंके कारणोंसे सप्राट तपस्वियोंके चरण छूकर अपने जीवनको धन्य मानते थे और क्षत्रसे ब्रह्म पूज्यतर समझा जाता था ।

वौधायन-सूत्रमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—श्रीमुवाराय गणेशजी भट्ट)

वौधायन गृह्ण-परिभाषा-सूत्रमें ‘नाक्रियो ब्राह्मणः’— (१ । १ । २४-२६) से संध्यादिकर्म न करनेवालेको ‘ब्राह्मण’ नहीं माना गया । इसी प्रकार ‘नासंस्कारो द्विजः’ से गर्भाधानादि संस्कारेसे रहित व्यक्ति ‘द्विज’ नहीं हो सकता, ऐसा भी कहा गया है । आगे फिर जन्म-संस्कार और वेदादिके अध्ययनके बिना उसे श्रोत्रिय भी नहीं माना गया है—‘नैतैर्हान्नः श्रोत्रियः’ और जिस यज्ञमें श्रोत्रिय न हो, वह यज्ञ भी समीचीन नहीं माना गया—‘नाश्रोत्रियस्य यज्ञः ।’—जिसमें ‘श्रोत्रिय’ ऋषिविज न हों वह यज्ञ ‘यज्ञ’ नहीं हो सकता । तथापि सदाचारको प्रमाण माना गया है—‘आचारः प्रमाणम् । तस्माद् यः कश्चन क्रियावान् सतामनुमताचारः, स श्रोत्रिय एव विश्वेयः ।’ (वौधायनगृह्ण०) अतएव जो संध्यादि-कर्ममें निरत हैं, जिनका आचार सत्पुरुषोंको मान्य है, अर्थात् जो सदाचारी है, उनको भी ‘श्रोत्रिय’ मानना चाहिये । तार्पण यह है कि सदाचारसम्पन्न पुरुष खल्प वेदाध्ययनके द्वारा भी श्रोत्रिय बनकर यज्ञानुष्ठानका अधिकारी बन सकता है । ‘वौधायनगृह्णसूत्र’ (१ । ७ । ३) के ‘एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः’ इस सूत्रके अनुसार जिसने वेदकी एक शाखाका भी अध्ययन किया है, वह भी श्रोत्रिय है ।

‘वौधायनश्रौत-सूत्र’ (२ । ३ । १) के अनुसार यज्ञमें आर्वित्य करनेवालेके लिये मातृवंशसे और पितृवंशसे परिशुद्ध होना आवश्यक है । जनसमुदायका भी इनके पावित्र्यपर अनुमोदन होना चाहिये । इन्हे सदाचार-सम्पन्न भी होना चाहिये । आचारहीन पुरुषोंको आर्वित्य करनेका अविकार नहीं । प्रत्येक यज्ञमें यजमानको दीक्षा ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रसङ्गमें सामान्यतः उपनिपदका आदेश है कि ‘सत्यं वद’—सत्य बोलो, लेकिन वौधायन सूत्रकार महोदय अपने श्रौतसूत्र (६ । ६) में कहते

हैं कि ‘सत्यमेव वद, मातृतम्’—सत्य ही बोलो द्वाठ नहीं—यहाँ एवकारका उपयोग करके सत्यको ज्यादा प्राधान्य दिया गया है । वौधायनीय गृह्ण-परिभाषा (१ । ६ । ११-२०) सूत्रमें विशेष आचार्य वौधायनने यज्ञ-संस्थाको एक विशाल वृक्षके रूपसे वर्णन किया है । सुक्षेत्रमें रोपित वृक्ष आंगे विशालरूप बनकर देव-दानव-गन्धर्व-ऋग्विगण-पितृगण-पक्षि-मशक-पिपीलिकादि सभी वर्गोंको उपयुक्त हो जाता है । ‘ह्रुत’ ही इसका क्षेत्र है, ‘प्रह्रुत’ इसकी जड़ और ‘आह्रुत’ इसका प्रतिष्ठान है । इस विशाल महोन्नत यज्ञवृक्षमें सुपुष्प सुफलोंसे समृद्ध असंख्य शाखाराशि हैं । जो उपासक मन्त्र-ब्राह्मणोंमें गर्भित तत्त्वोंको जानते हैं, उसे वे ही देख सकते हैं । यज्ञ-वृक्षको जाननेवाला ‘श्रोत्रिय’ कहलाता है । गृहस्थाश्रमको स्वीकार करके इस यज्ञ-वृक्षकी सेवा करनी चाहिये ।

वेदोक्त यज्ञवृक्षको जब बुद्धिमान् पुरुष पारमार्थिक दृष्टिसे देखता है, तब ज्ञान ही इसकी आधारभूति, सदाचार-मूल-जड़, श्रद्धा इसका प्राण, क्षमा, अहिंसा, दम—ये इसकी शाखाएँ, सत्य पुष्प और ज्ञानामृत इसका फल फलित होता है । जिसका चित्त कामसे कुण्ठित नहीं, जिसने अहंकार और लोभ परित्याग कर दिये हैं, वह निश्चय और तत्परता (अध्यवसाय) नामक आँखोंसे इस आत्मवृक्षको देख सकता है । इस वृक्षको मोहके वर्णीभूत होकर, वज्रसद्वा क्रोधरूपी कुल्हाड़ीसे कमी छेदन नहीं करना चाहिये—

मन्त्रब्राह्मणतत्त्वज्ञः सुद्धाप्ना सा उपासकैः ।
एवं हि यज्ञवृक्षस्य योऽभिन्नः श्रोत्रियः स्मृतः ॥
(वौया० श्रौत०)

गृहस्थाश्रमी श्रोत्रिय होकर पहले यज्ञवृक्षकी सेवा मानकर यज्ञानुष्ठान करना चाहिये । वादमें पारमार्थिक दृष्टि पाकर श्रद्धा, क्षमा, अहिंसा, दम, सत्य आदि

सहृणोके साथ सदाचारको जीवनमें प्रसगपित करना चाहिये। यहाँ सदाचारको पेइवी जड़ माना गया है। 'बौधायनधर्मसूत्र' (४।७।१) में सदाचारी व्रायणवी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

**निवृत्तः पापकर्मणः प्रवृत्तः पुण्यकर्मण् ।
यो विप्रस्तस्य स्तिध्यन्ति विना अन्तर्गति किश्चाः ॥**

'जो व्रायण पापकर्मोंसे सर्वथा निवृत्त और पुण्यकर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है, उस सदाचारी पुरुषके सारे कार्य विना अन्तर्गत भी सिद्ध हो जाते हैं।' 'बौधायनश्रौतसूत्र' (२।२०)में सदाचारका निख्यण इस प्रकार किया गया है—इठ नामी नहीं घोलना चाहिये, मृगयपात्रसे पानी, दूध आदि न पीना, दूषका उच्छिष्ट न लेना और उसको उच्छिष्ट न देना, मांस न खाना, अपने पांडोका प्रक्षालन न्ययं करना, भोजनमें तिलके विना, गुद्र-माप-कवकादि निषिद्ध धान्योका उपयोग न करना। ये सत आनन्द 'अन्याधानमें' विहित हैं। प्रत्येक कर्ममें इनका अनुसरण अनिवार्य है। बौधायन धर्मसूत्र (१।६।८७-८८)में वतलाया गया है कि कौन सदाचारी है और कौन दुराचारी। इसका निर्णय आमुष्यके उत्तराधिमें विये हुए कर्मसे ही लेना चाहिये।

इसके अनुसार अग्नियोगादि श्रौत-यज्ञोका अनुष्टान करते समय यजमानको दीक्षाका ग्रहण घरना पड़ता है और कुछ प्रवर्ष्य आदि काण्ठोंके मन्त्रोंके अध्ययन करते समय अवान्तरदीक्षाका अनुसरण करना

पड़ता है। ये दोनों उद्योगसे हैं। (वौ० श्री० सू० ६।६) दीक्षामें—सदा सूच ही बोलना, शृण गत बोलना, हँसी न उड़ना, कंदूय न करना, मौन रहना, गुर्योदयके ओर गुर्योदयके समय अनि अग्निको ढोनार वामी मन जाना, यदि हँसी आयेगी तो मुँहपर हाय रखना, गगर दृष्टियनका प्रसंग आया तो गृणसूक्षके सींगसे कंदूयन करना, मौनके भंगमें गत्वान् विष्णुके मन्त्रसामाजिक विनावाचक है, उसके साथ ही ममायण आदि देवतावाचक है, उसके साथ ही ममायण करना, जिसका नाम देवतावाचक नहीं, उससे वातचीत करनेके पठले 'ननसित' ग्रन्थके उच्चारण और वातचीत समाप्त होनेपर 'निनक्षण' ग्रन्थका उच्चारण करना, गृणाजिन और दण्डको न ढोना—ये गव दीक्षामें विद्वित विद्विष्ट आचार माना गया है। अवान्तरदीक्षामें (वौ० श्री० सू० ०।१०) वान्दापर न चढ़ना, पेड़ोपर न चढ़ना, कुर्सेमें न दूबना, द्याना और ज्तौंको धारण न करना, चारपाईपर न रोना, सी और अन्यजके भाव वातचीत न करना, वातचीत करनेका प्रसङ्ग आये तो व्रायणको रामने रम्भर करना, शामको न खाना, यदि खानेका प्रसङ्ग ही आये तो आगसे धेर करके खाना, मौन रहना, मल, खून, गत आदिको न देखना। यदि इनका दर्शन हो गया तो अग्निकी ज्वालाको देखना इत्यादि—ये सब विद्विष्ट आचार अवान्तरदीक्षा 'कल्प'में विहित हैं।

दैनिक सदाचार

मातापितरसुत्थाय
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥

(अनुशा० १०४।४३-४४)

"प्रातःकाल सोकर उठनेके बाद प्रतिदिन माता-पिताको प्रणाम करे, फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनो (अपनेसे सभी बड़े जनो) का अग्निवादन करे—इससे दीर्घायु प्राप्त होती है।" —महात्मा भीष्म

आयुर्वेदीय सदाचार

(ले०—डॉ० श्रीरविदत्तजी त्रिपाठी, वी० ए०, एम० एम० एस०, डी० ए० शैर्ड० एम०, पी-एच० डी०)

आयुर्वेद दीर्घजीवनके लिये दो लक्षणोंको अपने सामने रखता है। ये हैं—स्वास्थ्य-संरक्षण और रोग-प्रशमन,—‘स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।’ (च० स० ।) आयुर्वेद स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्य-संरक्षणपर विशेष बल देता है। इसकी मान्यता है कि यदि पुरुष स्वस्थ है तो सामान्य वाहा और आम्यन्तर-हेतु इसमे सहसा विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। आयुर्वेद क्षेत्र (शरीर)को प्रधानता देता है; क्योंकि यदि क्षेत्र अनुकूल नहीं होगा तो वीज पड़नेपर भी सूख जायेगे। यही कारण है कि आयुर्वेदमे वैयक्तिक स्वास्थ्यपर विशेष जोर दिया गया है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं सद्बृत्त (सदाचार)के नियमोंके उपदेश आयुर्वेद-साहित्यमे पढ़े-पढे मिलते हैं। सभी प्राणियोंकी सब प्रवृत्तियाँ सुखके लिये होती हैं। सुखकी प्राप्ति धर्मके बिना नहीं होती, अतः सबको धर्म करना चाहिये। (अद्याङ्गहृदय सू० २)

शास्त्रोमे ‘आचारः प्रथमो धर्मः’से सदाचारको प्रथम श्रेणीका धर्म कहा गया है। अतः मानवामात्रको सदाचारका पालन करना चाहिये। आचार्य चरकने सद्बृत्तके दो लाभ बताये हैं—(१) आरोग्य, (२) इन्द्रिय-विजय—‘तदध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यथामारोग्य-मिन्द्रियविजयं चेति ।’ (च० स० ८)

आयुर्वेदमे सद्बृत्तका उपदेश दो रूपोमे किया गया है—हिताभिलापी मनुष्यके लिये क्या विधेय और क्या निषेधनीय है। विधि-निषेधके द्वारा सद्बृत्तका उपदेश है। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियाएँ बतायी गयी हैं, जिनमे तत्पर रहना सद्बृत्त कहा गया है। इसके अनुसार देवता, गाय, विश्र, आचार्य (गुरु) अपनेसे श्रेष्ठ, सिद्ध पुरुषकी पूजा, अस्त्रिकी उपासना,

श्रेष्ठ ओपरिधियोंका धारण, प्रातः-सायं ज्ञान एवं पूजन, मलमार्गोंतथा पौरीकी सफाई; पक्षमे तीन बार केश, दाढ़ी, रोम और नखोंको कटवाना; प्रतिदिन स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करना, सदा प्रसन्न रहना और सुगन्धित द्रव्योंको धारण करना, अपनी वेप-भूषा सुन्दर रखना, केशोंको ठीक रखना, सिर, कर्ण, नाक, पैरमे नित्य तेल लगाना चाहिये। यदि अपने पास कोई आये तो उससे पहले ही बोलना चाहिये। प्रसन्न-मुख रहना, दूसरेपर आपत्ति आनेपर दया करना, हवन एवं यज्ञ करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, चौराहोको नमस्कार करना, बल्न-वैश्वदेव करना, अतिथिकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड देना, समयपर कम और मधुर वचनोंको बोलना तथा जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरोंकी उन्नतिके हेतुमे ईर्ष्या करनी चाहिये, किंतु उसके फलमे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निर्मार्क, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक होना चाहिये तथा नर्म-बुद्धि, विद्या, कुल और अवस्थामें बृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यकी सेवा करनेवाला होना चाहिये। छत्र और दण्ड धारण कर, सिरपर पाण्डी बौधकर, जूता पहनकर चार हाथ आगे देखते हुए रातेमें चलना चाहिये। व्यक्तिको माझलिक कार्योंमे तत्पर, गंदे कपड़े, हड्डी, कॉटा, अपवित्र केश, तुप, कूड़ा-करकट, भस्म, कपाल तथा ज्ञान करने योग्य और बलि चढाने योग्य स्थानोंका परित्याग कर देना चाहिये। आरोग्यकामी एवं कल्याणप्रसुको सभी प्राणियोंके साथ भाईके समान व्यवहार करना, क्रोधी मनुष्योंको विनियद्वारा प्रसन्न करना, भयसे युक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देना तथा दीन-दुःखी व्यक्तियोंका उपकार करना चाहिये एवं सत्य-प्रतिज्ञ, शान्ति-प्रधान, दूसरोंके कठोर वचनोंको सहनेवाला, अमर्षनाशक, शान्तिके गुणका द्रष्टा, राग-द्वेष उत्पन्न

कृत्ये वार्ता परिचयागत नहीं थार्मिंग। आनंद
वाग्भट्टने भी कहा है—

अर्चवद् देवगोविप्रवृक्षवैश्यनुपानिर्थान ।

× × ×

पूर्वाभिमाणी लुमुदः सुर्गालः करुणासृष्टः ॥
(२०१० मे ६)

अद्याद्वृद्धयके अनुसार दिग्मा, नेत्र (नोरी), अन्यथा-
काम (परीगमन), पैशुन्य (चुगुनी), पहुँच या (
(कटोर वचन), अवृत (अमर्य), ममिलालाप (अस्मिन्
वाणी), अपद (किसीको मार ग्रहणका विचार),
अभिया (दृग्मरके धनादिको वडात् लेनेहा विचार),
दृग्विपर्यय (आसवास्त्रोंका उन्टा अर्थ करना आदि),
परित्याग करना चाहिये । प्रकाशनः निश्चिन्न या सुर्व-
शक्ति नहीं होना चाहिये तथा सब जगह विग्रह भी नहीं
करना चाहिये । किसीको आपना शत्रु और अपनेमें भी
किसीका शत्रु घोषित नहीं करना चाहिये । अपने
अपमान तथा प्रसु (व्यामी) की न्नेष्ठीनको दृग्मरके
समझ प्रकट भी नहीं करना चाहिये । चक्र, कर्ग आदि
इन्द्रियोंको न्यून एवं दृढ़ आदि विषयोंमें विनित एवं उपर्युक्त
लोल्यप, मध्यका विक्रय, संधान (निर्माण), उभया आदान-
प्रदान, पूर्व विशाकी वायु, सामनेकी वायु, धू-धूम,
तुपार एवं झोंकेकी वायुका परित्याग करना चाहिये ।

हिसास्तेयान्यथाकामं पैतृन्यं परप्रानृते ।
समिदालापव्यापदभिध्यादग्विपर्ययम् ॥
पापं कर्मति ददाता काशवाडभानस्त्वजेत् ।
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रद्यो ने च श्रद्धिनः ॥

त दीर्घिरामः श्रवं नामां तदग्निर्दिप्तम् ।
प्रत्याग्नेयात्मां च न विक्षेपयां प्रयोः ॥
त प्रत्येकस्तिदिव्याः स वैतात्मकं विद्यन् ।
पर्यावरणं तत्त्वानादानादित्ता नाम ।
पुरो वानामाम तत्त्वादानाम विनाम ॥ ५

‘द्रव्यन्ययात्तद्विरुद्धं यत्पूर्वोत्तमा प्रसादेन श
न्यादिति ।’ अथ ३८५ ।

मैंचों द्वारा प्रयत्निमें मुझके द्वारा अभियानित कराया गया।
प्रदूषितिरंगेषु भूमिकु वैद्युतिकालीन दृष्टिशास्त्र ।

महाभारत के लगभग चाहे दर्शनीय है। इस विषय में युद्ध संबंधी जितना अवलोकन है। इस विषय में युद्ध संबंधी विकास से जितना गहरा है, उससे कठीन अधिक गहरा होना है। कि कौन सर्वानियम युद्धका देश एवं ग्रन्तीयमें जहरी घटनाकी प्रत्युत्ता है, इन्द्राभव ग्रन्तीयमें मनी कल्पना, उपदेश है, यद्योऽस्मि यद्यमानम्, गर्वात्मनः वृग्युपच्या । न इच्छात्या गतस्मिका व्यजनिन आदि अधिक विविध पद्धतियाँ हैं। अन वर्णाये व्योग भी अस्तीष्य गताचालकी ओर उन्मुख हो रहे हैं, करोकि प्राणिभावगी सद्वासे पर उच्छ्वास रही है कि वह किस परिमितियाँ रहे, एवं एवं प्रगति रहे खो यह स्थिति अस्तीष्य गताचालकी ही है।

सदाचारके सात पुण्य

अहिंसा, इन्द्रियसंयम, दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान और सत्य—इन नान पुष्टियोग की इदै पूजासे भगवान् जितने प्रसन्न होते हैं, उनने सावारण पुष्टिये नहीं हीने: क्योंकि भगवानको सामरियोक्ती अपेक्षा सद्गुण (सदाचार) अविक प्रिय हैं। भक्तको छोड़कर भला इन पुष्टियोंसे भगवानकी पूजा दस्ता अस्त बैठन वाले ।

आयुर्वेदमें सद्वृत्त या सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीशिवांकरजी अवस्थी शास्त्री, एम० प०, पट्टूपुरी डी०)

सुखार्थः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मं तसाद् धर्मपरो भवेत् ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान)

अशेष प्राणियोकी समग्र प्रवृत्तियाँ सुखको दृष्टिमें रखकर होती हैं और विना धर्मके सुख कहो ? अतः प्रत्येक व्यक्तिको धर्मपरायण होना चाहिये । आयुर्वेदके मतानुसार आरोग्य ही सुख है और विकार दुःख (चरक) । प्रवृत्ति या चेष्टा ही कर्त्ता है । यह तीन प्रकारसे होता है—मन, वाणी और शरीरद्वारा (चरकसंहिता सूत्रस्थान) । कर्मके सल्कर्म और दुष्कर्म—ये दो प्रकारके होते हैं । सल्कर्म ही सद्वृत्त, धर्म या सदाचार है । सदाचारी पुरुष आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश एवं शाश्वत लोकोंको उपलब्ध करता है (अष्टाङ्गह० सूत्रस्थान० अ० २ । ५६) । महर्पि आत्रेयने भी कहा है—‘तसादात्महितं चिकीर्षिता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुप्तेयम्’ (च० स० सूत्रस्थान ।) आत्महितकी कामनावाले समस्त व्यक्तियोको चाहिये कि सर्वदा सावधानीके साथ सद्वृत्तका अनुष्ठान करे—‘सतां वृत्तमनुष्ठानं देहवाञ्मलः प्रवृत्तिरूपं सद्वृत्तम्’ (चक्रपाणिदत्त ।) ‘शरीर, वाणी और मनके द्वारा सज्जन जो आचरण करते हैं वह सद्वृत्त है ।’ स्वस्थ मनुष्यको चाहिये कि जीवनकी रक्षाके लिये त्रास्तमुहूर्तमें उठे और सम्पूर्ण पापोंकी शान्तिके लिये मधुसूदनका स्मरण करे ।

ब्रह्मे मुहूर्ते तु द्वयेत स्वस्थो रथार्थमायुपः ।
तत्र सर्वाधिशान्त्यर्थं सरेच मधुसूदनम् ॥
(तुश्रुत)

‘राजनिवण्टु’के अनुसार दो घडियोंका एक मुहूर्त होता है । रात्रिका चौदहवाँ मुहूर्त त्रास्तमुहूर्त कहलाता है । शास्त्रोमें मुहूर्तोंका निर्देश इस प्रकार हुआ है—(१) शंकर, (२) अजैकपादू, (३) अहिर्वृन्ध्य, (४) मैत्रक, (५) आश्विन, (६) याम्य, (७) वाहेय, (८) वैधात्र, (९) चान्द्र, (१०) आदित्येय, (११) जैव, (१२) वैष्णव, (१३) सौर, (१४) ब्राह्म और (१५) नामस्वत् । ब्रह्म देवताका मुहूर्त त्रास्तमुहूर्त है । असुणदत्तने ‘अष्टाङ्गहृदय’की सर्वाङ्गी-सुन्दरी टीकामें लिखा है—‘त्रास्तमुहूर्ते व्रह्म योग्यो मुहूर्ते व्रह्मः पश्चिमयास्त्वा नाडिका द्रव्यम्’—‘ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं, और उसके लिये अध्ययनादि भी ब्रह्म कहलाता है । अध्ययनोन्नित काल ही ब्रह्ममुहूर्त है । रात्रिके अन्तिम यामका नाडीद्रव्यपरिमित काल ब्राह्ममुहूर्त समझना चाहिये ।’ ऋतुके अनुसार, सुखदायक तैलोंसे नित्य अभ्यन्तर (मान्दिश) करना चाहिये । इससे जरा, श्रम और वायुका नाश होता है और दृष्टिकी निर्मलता, पुष्टि, आयु, निद्रा, सुन्दर त्वचा तथा दृढ़ता उत्पन्न होती है । यदि पूरे शरीरमें न हो सके तो सिर, कान और पैरोंमें तेलका विशेष रूपसे प्रयोग करना चाहिये । इसके कुछ अपवाद भी हैं—जैसे

* अभ्यङ्गमाचरेन्तिय स जगश्रमवातहा । दृष्टिप्रसादपुष्टयायुः स्वस्थसुलक्ष्यदार्ढ्यहृत् ॥ ९ ॥

... शिरः श्रवणपादेषु तं विशेषेण शोल्येत् ॥ १० ॥

... वज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तहृतस्थुद्यजीर्णिभिः ॥ ११ ॥

लावव कर्मसामर्थ्यं दीपोऽग्निमेंदसः भ्यः । विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥ १२ ॥

दीपन वृष्यमायुष्य स्वानमृद्धिलप्रदम् । कण्ठमलथ्रमस्वेदतन्द्रावृद्धाहपाप्मजित् ॥ २० ॥

(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान, अ० २)

जो व्यक्ति कफ-दोषसे प्रस्त है, जिसने बमन आदिसे शरीरको 'शुद्ध किया' है और जिसे अजीर्ण हो उसे तैलाभ्यङ्ग नहीं करना चाहिये।

'तैलाभ्यङ्गके अनन्तर व्यायाम आवश्यक है। शरीरायास-जनक कर्मसे शरीरमें हल्कापन, छड़ता, अग्निकी दीपता, चर्वाकी कमी और अवयवोंमें सधनता उत्पन्न होती है। स्नान व्यायामसे कुछ देरके बाद करना चाहिये। स्नान करनेसे जटराग्नि तेज हो जाती है, चित्त प्रसन्न होता है और आयु बढ़ती है। इससे उत्साह और बलका वर्द्धन होता है। खुजली, मलिनता, श्रम, स्वेद, तन्द्रा, तृप्या, दाह और ताप भी स्नान करनेसे दूर होते हैं। पश्चात् संच्या, जप, हवन, देवता और पितृपूजन करके अतिथि और उपाश्रितोंको खिलाकर हाथ, पैर, मुख धोकर श्रेष्ठ पात्रोंमें परोसे गये अन्नकी निन्दा न करते हुए भोजन करना चाहिये। (चरकसंहिता, सत्रन्स्थान अध्याय ८।)

'शुभ कर्मोंमें सहायक मित्रोंका निश्चलभावसे सङ्ग करना चाहिये, तदितर लोगोंसे दूर रहना ही अच्छा है। हिंसा, चोरी, निपिङ्ग काम, सेवा, चुगली, कठोर वचन, असत्यभाषण, असम्बद्ध कथन, हिंसात्मक चिन्तन, दूसरोंके गुण आदिकी असहिष्णुता और शास्त्राद्विषे विपरीत विचार—ये दस पाप-कर्म हैं। इनमें प्राथमिक तीन शरीरसम्बन्धी, अप्रिम चार वचनसम्बन्धी और अन्तिम तीन कर्म मनसे सम्बन्ध रखते हैं, इन्हे छोड़ देना चाहिये। (अष्टाङ्गद्वय २।) जिनकी जीविकाका कोई उपाय न हो, जो व्याधि और शोकसे पीड़ित हों, यथाशक्ति उनकी पीड़ाको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। कीट और पिपीलिकादिको भी अपनी तरह देखे, अन्य मनुष्य, पशु आदिके विषयमें क्या कहना है? देवता, गौ, विष्र, ज्ञान, शील और तपमें वृद्ध जन,

वैध, राजा और अतिथिका पूजन करे। याचकोंको विमुख न जाने दे। न उनका अपमान करे और न कठोर वचन बोले। यदि शत्रु अपकार कर रहा हो तो भी उसका उपकार ही करे। सम्पत्ति और विपत्तिमें समान बना रहे। हेतुमें ईर्ष्या करनी चाहिये फलमें नहीं। यह श्रुत और त्यागादि गुणोंसे सम्पन्न है। मैं ऐसा क्यों न बनूँ—यह हेतु-सम्बन्धी ईर्ष्या है और दूसरेकी समृद्धिको देखकर जो मनमें असहिष्णुता उत्पन्न होती है, वह फल-सम्बन्धी ईर्ष्या कही जाती है। (अष्टाङ्गद्वय ।)

'यथावसर हित करनेवाले, परिमित, यथार्थ और कोमल वाणीका प्रयोग करे। यद्युच्छासे यदि सुव्वद् आ जायँ तो उनके बोलनेसे पहले ही कुशल-प्रसन्नादि करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिको सुमुख-प्रसन्न बदन, सुशील एवं दयालु होना चाहिये। * ज्ञाति, मित्र एवं भृत्यादिको विना दिये हुए सुख-साधनोंका अकेले उपभोग न करे। न तो सर्वत्र विश्वास ही करे और न शङ्का ही। इन्द्रियोंको न अत्यन्त पीड़ित करे और न उन्हें सर्वत्र उन्मुक्त छोड़ दे। जिस कार्यमें धर्म, अर्थ और काममें परस्पर विरोध हो तथा जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) से शून्य हो उसे न करे। सम्पूर्ण धर्मों या आचारोंमें मध्यम मार्गका अनुसरण करना चाहिये। किसी एक आचारमें सर्वथा आसक्त न हो। रोम, नाख और श्मशु अधिक न बढ़ाने पाये। पैर, नाक और कानोंको निर्मल रखना चाहिये। नित्य स्नान करना आवश्यक है। सुगन्धित द्रवका अनुलेपन और सुन्दर वेप धारण करना चाहिये; किंतु वेप ऐसा न हो, जिससे व्यक्ति अत्यन्त शृङ्गारी माल्फ्र हो।

'चलते समय चार हाथ सामने देखते हुए, पटत्राण धारण करके, छाता लेकर ही कहाँ बाहर जाना चाहिये। रातमें यदि कोई

अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़े तो किसी सहायकके साथ हाथमें दण्ड लेकर पगड़ी बौधे हुए ही निकले । मुजाओंके बल नदी पार न करे, महान् अग्निराशिके सामने न जाय, संदिग्ध नौका और वृक्षपर न चढे । दुष्ट यानके सदृश इनका त्याग कर देना चाहिये । हस्तादिसे बिना मुख ढके छोकना, हँसना और ज़भाई लेना ठीक नहीं ।

बुद्धिमान् पुरुषके लिये विशिष्ट लोक ही आचारका उपदेश है । अतः लौकिक कार्यमें परीक्षकको उसीका अनुकरण करना चाहिये—

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।

अनुकुर्यान्तमेवातो लौकिके यः परीक्षकः ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सू०)

सम्पूर्ण भूतोंमें दया, दान, शरीर, वाणी और मनका दमन तथा दूसरे व्यक्तियोंके कार्यमें सार्थबुद्धि, यही सज्जनोंका सम्पूर्ण धर्म या व्रत है । महर्षि आग्नेयने भी अग्निवेशसे कहा है—

✓ ✓ ✓
‘मनुष्यको चाहिये कि वह देव, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्यका पूजन करे । अग्निकी परिचर्या, प्रशास्त्र ओषधियोंका धारण, दोनों कालोंमें स्नान और संध्यावन्दन, अँख, नाक, कान और पैरोंकी निर्मलता आवश्यक है । पक्षमें तीन बार केश—दाढ़ी-मूँछ, लोम और नखोंको कटाना चाहिये । सदैव शुद्ध वस्त्र धारणकर, प्रसन्न-चित्त, सुगन्धित, सुन्दर वेशसे सम्पन्न एवं केशोंको संयत रखें । सिर, कान, नाक तथा पैरमें नित्य तेल लगायें । पूर्वाभिभावी उमुख तथा हुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका रक्षक बनें । नित्य हवन करे और समय-समयपर वडे यज्ञ

करे । दान, चतुर्भयको नंमस्कार, बलि-उपहरण, अतिथि-पूजा, पितरोंके पिण्डान, यथावसर हित करनेवाले, थोड़े और मधुर वचन बोलना परमावश्यक कर्तव्य है । मनको वशमें रखें । वर्मत्वा, हेतुमें ईर्ष्या करनेवाला हो, फलमें नहीं; निर्भाक, लज्जालु बुद्धिमान्, उत्साही, दानशील, धार्मिक और आस्तिक बने । विनय, बुद्धि, विद्या और श्रेष्ठ कुलवालोंका सदा सङ्ग करे ।

‘छाता, डंडा, पगड़ी और उपानह धारण करके चार हाथ आगे देखता हुआ चले । कुत्सित वस्त्र, हड्डी, कॉटा, अपवित्र वस्तु, केश, भूसी, कूड़ा, भस्म, कपाल, स्नान और बलि-भूमिको बचाकर जाय । समस्त प्राणियोंको बन्धु समझे । जो क्रोधमें भरे हो, उनके क्रोधको प्रेमसे दूर करे । डरे हुए लोगोंको आश्वासन दे और दीनोंकी रक्षा करे । सत्यवादी तथा शम-प्रधान बने । दूसरोंके कठोर वचनोंको सह ले । अमर्त-अक्षमाको दूर करे । सदैव शान्ति-गुणका दर्शन करे । राग और द्वेषके मूल कारणोंको नष्ट करनेमें लगा रहे *।’

संक्षेपमें यहाँ आयुर्वेदोक्त सदाचारका निरूपण किया गया है । बुश्रुत एवं चरक-संहितामें विस्तारसे समाजके आरोग्यजनक आचारोंका उपदेश उपलब्ध होता है । आजका हमारा समाज ‘अर्थ’के प्रति अधिक जागरूक है । जिस किसी प्रकारके कुत्सित साधनोंसे अर्थ-संग्रह करना आजके समाजका लक्ष्य बन गया है । हमारे मनमें, वाणीमें, कर्ममें जो एक व्यापक असंतुलन दिखायी दे रहा है, उसका कारण यही है कि हम सदाचारसे विमुख हो रहे हैं । यदि समाजको स्वस्थ रखना है तो हमें सदाचारका आश्रय लेना ही होगा ।

* न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् । त्रिवर्गशून्य नारम्भं भजेत् त चाविरोधयन् ॥ अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् । नीचरोमनखश्शुर्निर्मलाद्विमलायनः । स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेगेऽनुल्वणोज्ज्वलः । धारयेत् सतत रत्नसिद्धमन्त्रमहौपधीः ॥ सातपत्रपद्माणो विचरेद् युगमात्रहक् । ०० नदीं तरेन्न वाहुभ्या नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् । संदिग्धनावं वृक्षं च नारोदेद् दुष्ट्यानवत् । नासवृत्तमुखः कुर्यात् क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥२९-३५॥ (अष्टाङ्गहृदय, सू० अच्याय २ ।)

प्राचीन भारतमें सत्य, परोपकार एवं सदाचारकी महिमा

(लेखक—प्र० पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट०)

✓ नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौ-
रुद् देव्या उषसो भानुर्त्त ।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदग्रां
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥
(ऋग्वेदसं४ । १ । १७)

मानव-संस्कृतिके विन्यासमें सदाचार और सच्चरित्रिता-का प्रारम्भिक युगसे ही महत्व रहा है। इसके बिना सुशिलष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्तिकी कल्पना भी न होती। भारतमें आचार तथा चरित्रिकी प्रतिष्ठाका प्रधान आधार प्रकृतिकी उदारता और सहायकता रही है। प्रकृतिकी समृद्धिने मानवको शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारताके अनुरूप मानवके हृदयको भी उदार बना दिया। परिणामतः मानव स्वार्थ और संकीर्णतासे ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओंका स्फुरण हुआ।

वैदिक आचार-पद्धतिमें ऋत या सत्यकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा है^१। वेदोंके अनुसार ऋत ही चराचर लोकोंकी सृष्टि, संवर्धन और संहारका नियामक है। प्रकृतिकी शक्तियाँ तथा दैवी विभूतियाँ ऋतके अनुकूल ही अपने-अपने व्यापारमें संलग्न हैं। इसे ही आदर्श मानकर वैदिक विद्वानोंने अपने जीवनमें क्रमबद्धता और व्यवस्थाको प्रथम स्थान दिया। उनके याज्ञिक मन्त्रोंके पाठमें क्रमकी योजना तथा उदात्तादि स्वरोंका विन्यास था।

ऋग्वेदमें सत्यकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गयी है। इसके अनुसार सुष्टिकी उत्पत्तिके पहले ऋत और सत्य उत्पन्न

हुए और सत्यसे ही आकाश, पृथ्वी, वायु आदि तत्व स्थिर हैं। सत्यके समक्ष असत्यकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती^२ अर्थवैदिके अनुसार असत्यवादी वरुणके पाशमें पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है^३।

अर्थवैदिमें पापको मूर्त रूप मानकर एक ऋषिने अपने हृदयकी आन्तरिक वेदनाको व्यक्त करते हुए कहा है—‘हे मनके पाप! तू दूर चला जा; क्योंकि तू ऐसी वातें कहता है, जो सुननेके योग्य नहीं।’ ‘शतपथब्राह्मण’में सत्यको सर्वोच्च गुण बतलाया गया है। इसके अनुसार असत्य बोलनेवाला व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कर्मोंके लिये अविकार नहीं रह जाते^४। इस ग्रन्थमें सत्यके द्वारा मानवकी तेजस्विताकी प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदयकी सिद्धिका प्रतिपादन किया गया है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है; वह प्रतिदिन अच्छा होता जाता है। इसके विपरीत असत्य बोलनेवालेका प्रकाश क्षीण होता जाता है। वह प्रतिदिन दुष्ट बनता जाता है। ऐसी परिस्थितियोंमें सदा सत्य-भाषण ही करना चाहिये^५। उस युगकी मान्यता थी कि प्रारम्भमें भले ही सत्यवादीकी पराजय हो, पर अन्तमें उसीकी विजय होती है। देवताओं और असुरोंमें जो युद्ध हुआ, उसमें प्रारम्भमें देवताओंकी पराजय हुई; क्योंकि सत्यवादी प्रारम्भमें विजयी नहीं होते, अन्तमें विजयी होते हैं। देवता भी अन्तमें विजयी हुए और असुर पराजित हुए^६। सत्य दुःखको दूर करता है^७। सत्यके द्वारा ही देवताओंकी

१—ऋत प्रकृतिका वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्वाधरूपसे प्रकृतिके सारे कार्य-व्यापार चलते हैं। ऋतुओंका आगमन, सूर्योदय, दिन और रात्रि आदि सारे प्राकृतिक विधानोंकी क्रमबद्धताके मूलमें ऋत ही है।

२—ऋग्वेद ७ । १०४ । १२, ३—अर्थवैद ४ । १६; ४—शतपथ ३ । १ । २। १० तथा १। १। १। १।

५—शतपथ २ । २। २। १९, ६—शतपथ ३ । ४। २। ८, ७—शतपथ ११ । ५। ३। १३।

विजय होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता है। 'ऐतरेयब्राह्मण'में मनुके पुत्र 'नाभानेदिष्ट'की कथा मिलती है। नाभानेदिष्टने सत्य बोलकर वहुमूल्य परिस्थितिक पाया। उसी अवसरपर आदेश दिया गया है—विद्वान्‌को सदा सत्य ही बोलना चाहिये।

सत्यके द्वारा पापको दूर करनेका विधान बना था। यदि मनुष्यसे कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभावको कम करनेके लिये उस पापको सबके समक्ष स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। तत्कालीन धारणाके अनुसार पाप सत्यके सम्पर्कमें आनेपर सत्य बन जाता है। यज्ञके अवसरपर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमानके सम्बन्धियोंको भी कष्टमें डालता है। उस युगमें सत्यको ही सर्वोच्च आराधनाके रूपमें प्रतिष्ठा मिली। उपनिषदोंसे ज्ञात होता है कि ऋषियोंके दार्शनिक जीवनकी भित्ति सदाचारके आधारपर ही खड़ी हुई थी। इसके लिये चित्तकी एकाग्रतारूप योग और शान्तिकी आवश्यकता थी। इनकी प्राप्तिके लिये ऋषियोंने केवल अपने ही लिये नहीं, अपितु सारे समाजके लिये उच्चकोटिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्था कर दी है।

ब्राह्मी स्थिति—उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्मतक पहुँचनेके लिये सभी प्रकारके पापोंसे छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्म सभी प्रकारके पापोंसे मुक्त है। ज्यो ही मानवकी सत्ता ब्रह्ममय हो जाती है, वह भी ब्रह्मकी भौति शुद्ध हो जाता है। जब मानव अपने अभ्युदयकी प्रतिष्ठा सासारिक विभूतियोंसे परे ब्रह्मकी एकतामें करता है तो वह सांसारिक पापोंसे निर्लिप्त हो जाता है। मुण्डक उपनिषद्‌में ऐसे ब्रह्मनिष्ठके सम्बन्धमें कहा गया है—

तरति शोकं तरति पापमानं

गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽसृतो भवनि।

'वह शोकको पार कर जाता है, पापको पार कर जाता है। गुहा-ग्रन्थिसे विमुक्त होकर वह अमर हो

जाता है।' इसी उपनिषद्‌में मानवके व्यक्तित्वके विकासके सम्बन्धमें कहा गया है—'शानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' (३।१।८) अर्थात् ज्ञानके प्रसादसे मानवका सत्य विशुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये आचारकी आवश्यकताका निरूपण करते हुए इस उपनिषद्‌में कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येप आत्मा

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो

यं पश्यन्ति यत्यः द्वीणदोपाः॥

(३।१।५)

'आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे लभ्य है। मानवशरीरके भीतर ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा है। उस आत्माको दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं।' मानव तभीतक बुरी प्रवृत्तियोंके चंगुलमें फँसा रहता है, जबतक उसे ज्ञान नहीं रहता। ज्यो ही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्ममय है, उसकी पाप-मयी प्रवृत्तियों निष्क्रिय हो जाती हैं। ईशोपनिषद् (६-७)में यह कहनेके पहले कि किसीके धनके लिये लोभ मत करो, बताया गया है कि इस जगत्‌में सब कुछ ईशसे व्याप्त है। जो पुरुष अपनेको सबमें और अपनेमें सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणीसे धृणा कर सकता है अथवा किसीकी हानि कर सकता है। यही एकत्व उस युगकी आचार-पद्धतिका दृढ़ आधार है। मुण्डकोपनिषद् (२।२।९)में ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापोंसे रहित है। ब्रह्मके अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्वके विकासकी योजना बनाता आ रहा है। बृहदारण्यक-उपनिषद् (१।४।१४)में सत्यको धर्मका खरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गयी है। सत्यके बलपर दुर्वल भी बलवान्‌को पराजित कर सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्वलका सबसे बड़ा बल है^३।

तत्कालीन मानवकी सदाचारमयी निष्ठाका पता इस उपनिपदमे प्रस्तुत नीचे लिखी प्रार्थनासे लगता है—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय ।

(वृहदा० २।५।११)

'मुझे असत्से सत्की ओर, तमसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरताकी ओर प्रवृत्त करो ।' इस उपनिपदके अनुसार धर्म और सत्य सभी प्राणियोंके मधु (पोषक) हैं, और स्वय मानव भी सभी प्राणियोंके लिये मधु है^१ ।

लोकोपकार—ऋग्वेदके मन्त्रोंसे ही दानका महत्त्व प्राप्त होता चला आया है। उपनिपदोंमें दानको व्रहज्ञानका भी साधन माना गया है^२। उपनिपदोंमें समाज-सेवाका उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तैतिरीय-उपनिपदमें नागरिकको आदेश दिया गया है कि किसी मनुष्यसे यह न कहो कि तुम्हारे लिये वसति (रहनेका स्थान) नहीं है। यह व्रत तो होना ही चाहिये। केवल रहनेके लिये स्थानमात्र देना ही पर्याप्त नहीं है, उस व्यक्तिको कुछ भोजन भी देना है। अतिथिको आठरूप्वक भोजन देना चाहिये^३। वृहदारण्यक-उपनिपदमें महान् वननेके लिये जिस मनोवृत्तिको आवश्यक कहा गया है, वह लोक-कल्याणके लिये ही है। मानव महान् वननेके लिये कामना करता है। मानवोंमें ऐ अद्वितीय कमल वन जाऊँ, जैसे सूर्य दिशाओंमें कमल है^४। अतिथिके सत्कार-द्वारा वैदिककालीन भारतीय लोकोपकारिताका परिचय मिलता है। उस समय प्रत्येक ग्राम और नगरमें इनके लिये आवस्थ बने हुए थे।

महाभारतमे सदाचारका पर्याय शिष्टाचार मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट वे पुरुष हैं, जो काम, क्रोध,

लोग, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको अपनाकर संतुष्ट रहते हैं। वे सदैव आचारनिष्ठ रहते हैं। शिष्ट पुरुष सदैव निश्चित जीवन क्रितानि हैं। वे वेदोंका स्वाध्याय करते हैं और त्यागपरायण होते हैं और सत्यको सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। शिष्ट पुरुष जानते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मके कल्पसंनयसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम क्या हैं। शिष्ट पुरुष सुवको दान देते हैं, निकटवर्ती लोगोंमें सब कुछ बाँटकर खाते हैं, दीनोंपर अनुग्रह करते हैं। उनका जीवन तपोपय होता है और वे सभी प्राणियोंपर दया करते हैं।^५ शिष्ट पुरुषोंका आचार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार-के अन्तर्गत धर्मके सर्वोच्च तत्त्वोंका परिणाम होता था। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य शिष्टाचारके प्रमुख अङ्ग हैं।^६ शिष्टाचारमें त्यागका स्थान ऊँचा है। महाभारतके अनुसार धर्मके तीन लक्षण हैं। इनमें भी परम धर्म वह है, जो वेदोंमें तथा धर्मशास्त्रोंमें वर्तल्या गया है, उसके अविरुद्ध शिष्टोंका आचार भी प्रमाण है। इस प्रकार शिष्टाचारकी प्रतिष्ठा उस युगमें बहुत बढ़ी थी।^७ शिष्ट पुरुषोंके पास जब कोई संत पहुँचता है तो वे अपनी स्त्री और कुटुम्बीजनोंको कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिमे अधिक दान देते हैं। ऐसे शिष्ट पुरुष महाभारतके अनुसार, अनन्तकालतक उच्चतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। वे समस्त लोकके लिये प्रभाण हैं। शिष्टाचार है—दोपदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रिय भाषण और शाश्वतोंके अनुकूल कर्म करना।^८

महाभारतके अनुसार सदाचार केवल आध्यात्मिक अभ्युदयकी दृष्टिसे ही ग्रहणीय नहीं है, अपितु शीलके

११—वृहदारण्यक० २। ५। ११—१३, १२—वृहदारण्यक० ४। ४। २२ तथा ५। २। १—३, १३—तैतिरीय० भगुवल्ली १०। १, १४—वृहदारण्यक० ५। ३। ६, १५—महाभारत वनपर्व २०७। ६१—९९, १६—यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्य च द्विजसत्तम। पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ॥ (महाभारत वनपर्व २०७। ६२)। १७—वनपर्व २०७वाँ अध्याय, १८—वही ।

साथ धर्म, धर्मके साथ सत्य, सत्यके साथ सदाचार, सदाचारके साथ वल और वलके साथ लक्ष्मीका निवास होता है।^{१९} इस प्रकार सदाचारसे वल और ऐश्वर्यकी प्राप्ति शिष्योजना कही जा सकती है।

इसमें शिष्ट बननेकी कामना करनेवालोंको आदेश दिया गया है कि 'उद्योगी बनो, वृद्धोंकी उपासना करो, उनसे अनुमति लो और नित्य उठकर वृद्धोंसे कर्तव्य पूछो।^{२०} दिनमें ऐसा काम करो कि रातमें सुखसे सो सको। वर्षमें आठ मास ऐसे काम करो, जिससे वर्षके चार मास सुखसे बीतें। युवावस्थामें ऐसा काम करो, जिससे वृद्धावस्था आनन्दसे बीते और जीवनभर ऐसा काम करो जिससे मरनेके पश्चात् सुख हो^{२१}।' मानवका आचरण तो सूर्यकी भूति होना चाहिये। सबका उपकार करना ही एकमात्र कर्तव्य है। खर्गमें उसी व्यक्तिकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-दृष्टिसे देखता है। सभी प्राणियोंके दुःखका निवारण करता है तथा सबके साथ प्रेमपूर्वक सम्भावण करके उनके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कृष्णके चरित्रमें आदर्श आचारकी रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है। कृष्णने कहा है—‘मैं साधुओंकी रक्षा करनेके लिये, पापियोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें उत्पन्न होता हूँ।^{२२}’ उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्राके संवर्धनके लिये समुचित वातावरणकी सृष्टि करती रही है। आगे चलकर कृष्णने बतलाया है कि अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिपर अधिकार रखनेवाले क्रोधसे रहित होकर ही परम कल्याण पा सकते हैं।^{२३} ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह निष्काम कर्म है। निष्काम कर्मका एक लक्षण है—‘लोकहितके लिये होना।

यह एक प्रकारका यज्ञ है।^{२४} इसे वही कर सकता है, जो किसीसे राग-द्वेष आदि नहीं करता।^{२५} निष्काम व्यक्तिके दृष्टिकोणके सम्बन्धमें कहा गया है—वह विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाषडाल-के सम्बन्धमें समदर्शी होता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदिके विषयमें समान-दृष्टि ही सर्वश्रेष्ठ है।^{२६}

मानवीय व्यक्तित्वके सर्वश्रेष्ठ विकासकी योजना लोक-हितकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए आचार-पथको अपनानेवाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाजमें हो तो उस समाजमें शान्तिका साम्राज्य होगा। कृष्णने ऐसे मनस्त्रीकी परिभाषा इस प्रकार दी है—किसीसे द्वेष न करनेवाला, सबसे मित्रता रखनेवाला, करुण, ममत्व और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान्, संतुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ़ निश्चयवाला, मुझमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर देनेवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।^{२७}

महाभारतमें आचारको ग्रहणीय बनानेके लिये उसकी पारलौकिक उपयोगिता ही नहीं बतायी गयी, अपितु इस लोकमें भी सदाचारसे अभ्युदयकी सम्भावना और अनाचारसे विपर्तियोंके समागमका चित्र खींचा गया है। इसके अनुसार ‘यदि राजा शरणागतकी रक्षा नहीं करता है तो उसके राज्यमें समयपर जल नहीं वरसता, समयपर बीज नहीं उगते, उसका कोई रक्षक नहीं मिलता, उसकी सतान छोटी अवस्थामें मर जाती है।^{२८} सत्यसे खर्ग और असत्यसे नरक-गतिकी सम्भावना तो बतलायी ही गयी, साथ ही कहा गया है कि ‘असत्यके कारण लोग नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे दुःखी रहते हैं तथा भूख-प्यास और परिश्रमसे भी कष भोगते हैं।’ इतना ही नहीं, ‘असत्यवादीको औंधी,

१९-शान्तिपर्व १२४ वॉ अध्याय, २०-मौ० पर्व २। २३, २१-उद्योगपर्व ३५। ६१-७०, २२-गीता ४। ८, २३-गीता ४। १०, ५। २८, २४-गीता ४। २३, २५-गीता ५। ३, २६-गीता ५। १८, ६। ९, २७-गीता १२। १३-१४, २८-वनपर्व १०७। ११-१८।

पानी, सर्दी और गर्मीसे उत्पन्न हुए भय तथा शारीरिक कष्ट भी झेलने पड़ते हैं और बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोकका शिकार भी बनना पड़ता है। उसी प्रकार वे जरा और मृत्युके दुःखोंको भी भोगते हैं।^{३१}

अत्याचारियों अथवा दुष्टोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस सम्बन्धमें प्रायः सभी शास्त्रकारोंका मत है कि यदि अत्याचारी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझानेसे अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करनेसे सत्पथपर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारतके अनुसार 'क्रोधको अक्रोधसे और असाधुको साधुतासे जीतना चाहिये'^{३२} वैरका अन्त वैरसे नहीं होता। दुष्टोंके साथ दुष्ट न बनें।^{३३} अत्याचारी पापमय उपायोंसे दबाये जानेपर स्वभावतः अधिक अत्याचारी बन जाता है। यही मनोवैज्ञानिक आधार शान्तिमय उपायोंकी उपयोगिताकी पुष्टि करता है। शान्तिमय उपायोंके असफल होनेपर बलपूर्वक अत्याचारियोंका दमन करना शास्त्रकारोंने उचित ठहराया है। जिस व्यक्तिके प्रति किसी व्यक्तिका जैसा व्यवहार हो, उस व्यक्तिसे बदलेमे वैसा ही व्यवहार करनेमें न तो अधर्म होता है और न अमङ्गल।^{३४} उपर्युक्त कथनका समर्थन स्पष्ट रीतिसे नीचे लिखे श्लोकमें मिलता है—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥^{३५}

मनुने आचारसे लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके कारणोंका विशद् विश्लेषण किया है। उनका यह विवेचन समाजको आचार-पथपर अग्रसर करनेके लिये अवश्य ही

समर्थ रहा है। मनुके अनुसार आचारसे मनुष्य दीर्घायु होता है, अभीष्ट संतान पाता है और वह अश्रय धन भी प्राप्त करता है।^{३६} मनुने असत्य बोलनेवाले घोर पापीको महान् चोर माना है और कारण बताया है कि 'अन्य चोर तो किसी अन्य व्यक्तिका धन चुराता है, पर असत्यवादी तो अपनी आत्माका ही अपहरण करता है।'^{३७} 'सज्जनोंके बीच किसी बातको अन्यथा बतलाना असत्य है।'^{३८} मनुने 'शब्द और अर्थको तोड़-मरोड़कर उल्टी-सीधी बातें बनानेवालोंको भी चोर माना है। मनुकी शब्दावलीमें उनका नाम 'सर्वस्तेयकृत्' अर्थात् सब कुछ चुरानेवाला है।^{३९} मनुकी दृष्टिमें असत्य बोलनेवालोंको उसी नरकमें जाना पड़ेगा, जिसमें ब्राह्मण, लौटी, वालक आदिकी हत्या करनेवाला जाता है। इन्होंने बोलनेवालेका सारा पुण्य उसे छोड़कर कुत्तेके पास चला जाता है। इन्हें नरकमें जाना पड़ता है। वह पापी सिर नीचे किये हुए नरकके घोर अँवेरेमें जा गिरता है।^{४०} इसके विपरीत न्यायालयमें सत्य बोलनेवालेकी प्रतिष्ठा मनुने की है—जिस पुरुषके बोलते हुए सर्वज्ञ अन्तर्यामी-को यह शङ्का ही नहीं होती कि वह कभी झूठ बोलता है, उससे बढ़कर देवताओंकी दृष्टिमें कोई प्रशंसनीय नहीं है।^{४१} असत्य बोलनेवालोंके लिये मनुने घोर दण्डका विधान बनाया है।^{४२} मनुने समाजमें पापकी प्रवृत्तियोपर रोक लगानेके लिये मनोवैज्ञानिक आधारपर सफल योजना बनायी है। इसके अनुसार पापीका पापसे छुटकारा हो सकता है, यदि वह दूसरोंसे अपने पापकी निन्दा करे और यह निश्चय करे कि वह अब फिर वैसा काम न करेगा।^{४३}

२९—शान्तिपर्व १९०वॉ अध्याय, ३०—उद्योगपर्व ३८ । ७३ ।

३१—न पापं प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् । न चापि वैरं वैरेण केऽव व्युपशाम्यति ॥

३२—उद्योगपर्व १७९ । ३०, ३३—गान्तिपर्व १०९ । २९ तथा उद्योगपर्व ३६ । ७, ३४—मनु० ४ । १५६, ३५—मनु० ४ । २२५, ३६—मनु० ४ । २५६, ३७—मनु० ८ । ८९—९५, ३८—मनु० ८ । ९६, ३९—मनु० ८ । २५७, ४०—मनु० ११ । २२७—३२ ।

अशोककी आचार-निष्ठा—अशोकके शब्दोंमें उसकी राजनीति है—‘मैं प्रजाको धर्मचरणमें प्रवृत्त करना ही यज्ञ और कीर्तिका द्वारा मानता हूँ। सब लोग विपत्तिसे दूर हो जायें। पाप ही एकमात्र विपत्ति है’^{१३} दास और सेवकोंके साथ उचित व्यवहार करना, माता-पिताकी सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणोंको दान देना, प्राणियोंकी हिंसा न करना धर्म है।^{१४} अशोकने प्रजाको शिक्षा दी—‘चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान, और ईर्ष्या—ये सब पापके कारण हैं।’^{१५} उसने लोगोंको पशु-पक्षियोंकी हिंसासे विरत करनेके लिये भी नियम बनाये। उसने प्राणिमात्रको सुख पहुँचानेके लिये सङ्कोपर छाया देनेवाले पेड़ लगाये, आम्रवृक्षकी वाटिकाएँ लगायायीं, सङ्कोपर आध-आध कोसपर कुर्ँ खुदवाये, यात्रियोंके लिये धर्मशालाएँ बनायायीं, पशुओं और मनुष्योंके लिये पौसले बनाये। अशोकने कहा—‘धर्मकी उन्नति इसीमें है कि लोगोंमें दान, सत्य, पवित्रता तथा मृदुता वढ़े।’ उसने इच्छा प्रकट की—दीन-दुःखियोंके साथ तथा दास और नौकरोंके साथ उचित व्यवहार होना चाहिये।^{१६}

देतिहासिक प्रमाण—भारतीय आचारकी उच्चताके प्रमाण तत्कालीन विदेशी लेखकोंकी रचनाओंमें भी मिलते हैं। लावोके अनुसार भारतीय इतने सच्चे हैं कि उन्हें धरोमें ताला लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती और न अपने लेन-देन और व्यवहारोंमें लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है।^{१७} एरियनके अनुसार कोई भी भारतवासी असत्य नहीं बोलता।^{१८}

चौथी शतीके जार्डैन्सने प्रमाणित किया है कि प्रायः सभी भारतवासी सत्यवादी हैं और वे न्यायके क्षेत्रमें निष्कपट

हैं।^{१९} फाहानने भारतीय लोकोपकारकी भावनाका निरूपण करते हुए लिखा है—‘रथ्यात्राके अवसरपर जनपदके त्रैश्योंके मुखियालोग नगरमें सदाचरत और औपधालय स्थापित करते हैं। देशके निर्धन, अपङ्ग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, द्लै, लँगड़े और रोगी इस स्थानपर जाते हैं। उन्हें सब प्रकारकी सहायता मिलती है। वैद्य रोगोंकी चिकित्सा करते हैं। रोगी अनुकूल पथ्य और औपव पाते हैं, अच्छे होते हैं और लौट जाते हैं।’^{२०} ह्वेनसॉगने भारतवासियोंके सम्बन्धमें लिखा है—‘वे स्वभावतः शीघ्रता करनेवाले और अनाग्रह द्वुद्धिके होते हैं। उनके जीवनके सिद्धान्त पवित्र और सच्चरित्रापूर्ण हैं। किसी भी वस्तुको वे अन्यायविधिसे नहीं ग्रहण करते और औचित्यसे अधिक त्याग करनेके लिये तत्पर रहते हैं। भारतवासियोंका विश्वास है कि पापोंका फल भावी जीवनमें मिलकर ही रहता है। वे जीवनके भोगोंके प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। वे धोखा-धड़ी नहीं जानते और अपनी प्रतिज्ञाओंपर दृढ़ रहते हैं।’^{२१} ह्वेनसॉगने आगे चलकर पुनः लिखा है—‘सारे भारतमें असंख्य पुण्यशालाएँ हैं, जिनमें दीन-दुःखी लोगोंको सहायता दी जाती है। इन पुण्य-शालाओंमें औषध और भोजन वितरित किये जाते हैं, यात्रियोंकी सब प्रकारकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं और उन्हें किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती।’^{२२}

ग्यारहवीं शतीके भूगोल-शास्त्र-वेत्ता इदीसीने भारत-वासियोंकी लोकप्रियताके कारणका निरूपण करते हुए लिखा है कि ‘भारतीय लोग न्यायप्रिय हैं। वे कर्तव्य-पथमें अन्याय नहीं अपनाते हैं। वे अपनी श्रद्धा, सच्चाई और प्रतिज्ञा-पालनके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।’^{२३}

४१—दशम शिलालेख, ४२—एकादश शिलालेख, ४३—तृतीय स्तम्भलेख, ४४—सप्तम स्तम्भलेख,

४५—Strabo Tib (XU) P. 488 (ed. 1587), ४६—Indica Chapters XII 6, ४७—Marcopolo, Ed. H. yule.

Vol. II p. 354, ४८—फाहान् पृ० १६, ४९—Watters Vol I p. 171, ५०—Watters vol I p. 287-288 ५१—Elliot's History Of India, Vol I, p. 88,

तेरहवीं शतीमें समसुद्धीन अबू अबदुल्लाहने भारतीय सच्चरित्राका उल्लेख करते हुए व्रतलाया है—‘भारतवासी बाल्के कणकी भाँति असंख्य हैं। धोखा-धड़ी तथा हिंसासे मानो उनका परिचय ही नहीं है। वे मृत्युसे और जीवनसे भी नहीं डरते।’^{१२} भारतीय आचारकी उपर्युक्त उत्कृष्टता प्राचीनकालसे लेकर १९वीं शतीके पूर्वार्धतक प्रायः अक्षुण्ग रूपमें बनी रही। वीसवीं शतीके पूर्वार्धमें भारतीय चरित्रिका सर्वाधिक पतन हुआ। इसका प्रधान कारण था भारतकी परतन्त्रता। इसी शतीमें स्वतन्त्रताका संग्राम और

सत्याग्रहकी लहरने देशको एक बार और सदाचारके श्रेष्ठ पवर बढ़नेके लिये प्रोत्साहित किया। महात्मा गान्धीका भारतीय चरित्र-निर्माणकी दिशामें अनुपम योगदान रहा है। उनकी आचार-पद्धतिपर चलना ही भारतके लिये कल्याणप्रद हो सकता है। भवी भारतका चारित्रिक विन्यास गोधीजीके मिद्दान्तोंके अनुरूप होना चाहिये। यह वही पथ है, जिसे इस युगमें द्यापानन्द, विनेकानन्द, रामतीर्थ आदि महामनीयोंने भारतीय चरित्र-निर्माणके लिये प्रतीति किया और जो खीन्दनाथकी भी काव्यधारामें प्रवाहित हुई।

—३४०५४०५४०५४०—

आचारके प्राचीन नियम

लेखक—प० श्रीवल्लभ रामजी शर्मा, खाण्डिल्य)

भारतकी सदाचार-पद्धति उन देवों और महर्षियों-द्वारा स्थापित है, जो भूत-भवित्वसे तथा अन्तर्जगतकी रचना और संचालनसे परिचित थे, अतएव उन्हें जानकर श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। प्रायः सभी प्राचीन सृष्टि और पुराणोमें कुछ-कुछ न्यूनाधिकताके साथ आचारकी पद्धतियाँ व्रतलायी गयी हैं। यहाँ पुराणोमें नारद-ब्रह्मा-संवादके रूपमें निर्दिष्ट आचारका संक्षेपमें उल्लेख किया जा रहा है। ब्रह्माजी कहते हैं—

द्विजको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर प्रतिदिन भगवान्का, देवताओंका और पुण्यवान् व्यक्तियोंका स्मरण करना चाहिये। गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि, दामोदर, नारायण, जगन्नाथ, वासुदेव, अज, विष्णु, सरस्वती, महालक्ष्मी, वेदमाता सावित्री, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्षुपालगण, ग्रहसमूह, शंकर, शिव, शम्भु, ईश्वर, महेश्वर, गणेश, स्कन्द, गौरी, भागीरथी, गङ्गा, पुण्यश्लोक

राजा नल, पुण्यश्लोक जनार्दन, पुण्यश्लोका जानकी, पुण्यश्लोक युविष्ठिर और अश्वत्थामा, बलि, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सात चिरंजीवी पुरुषोंके नाम जो मनुष्य नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, वह ब्रह्महत्यादि पातकोंसे छूट जाता है। (पश्चपुराण, सृष्टिखण्ड, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि।)

तदनन्तर साफ जगह मल-मूत्रका त्याग करे, रात्रिको दक्षिणाभिमुख और दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। अङ्गोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें शुद्ध करे। लिङ्गमें एक बार, गुदामें तीन बार, वायें हाथमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगावे। फिर ‘हे मृत्तिके ! मेरे सारे पूर्वसञ्चित पापोंको दूर करो’, इस भावके मन्त्रसे सारे अङ्गोंमें मिट्टी लगाये। तदनन्तर गूलरआदिके दाँतुनसे दन्तवावन कर नद, नदी, कुर्झ या तालाबमें स्नान करे।

प्रातःस्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक है। स्नानके बाद संयत होकर संथा करे। प्रातः-काल रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और सायंकालमें कृष्णवर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृ-गणोंको उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृत्र-परायण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र तथा अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृत्सिके लिये कुश हाथमें लेकर नित्य तर्पण करना चाहिये। पितरोंको काले तिलसे बहुत तृति होती है, अतएव तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा अपवित्र होता है, उसे पुनः खच्छ जलसे धोकर पहनना चाहिये। नित्य देवपूजन करे। विघ्न-नाशके लिये गणेशकी, वीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और मोक्षके लिये विष्णुकी, कामना-पूर्तिके लिये शिवकी और शक्तिकी पूजा करे। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे। इस प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृत्सि करनेके बाद स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन और संध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न करनेसे बड़ा पाप होता है।

धरके डॉगनको ताजे गोकरसे लीपे, वर्तनोंको रोज माँजे। काँसेका वर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे, पत्थरका तेलसे, सोने-चौंदीका जलसे और लोहेका अनिसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और धोनेसे पृथकी पवित्र होती है। अपने बिछौने, छी, शिशु, वस्त्र, उपवीत और कमण्डल सदा ही पवित्र हैं; किंतु ये ही यदि दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक कपड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। (धोती और गमछा दोनों रखे) दूसरेका स्नान-वस्त्र कभी न पहने। रोज सवेरे बालोंको और दाँतोंको धोये। गुरुजनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँचों अङ्गोंको गीले रखकर—धोकर भोजन करे।

जो नियमित पञ्चार्द (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन करते हैं, वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षा लिये हुए व्यक्तिकी छायाको जान-बूझकर न लौंघे। गौ-ब्राह्मण, अग्नि-ब्राह्मण और दम्पति (पति-पत्नी)के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, अपना मस्तक, छलोंके पेड़ और यज्ञवृक्षको जँठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे—इन तीनों तेजमय पदार्थोंको जँठे मुँह ऊपरकी ओर ताककर न देखे। विष्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी, देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको भी जँठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर यज्ञीय वृक्षों (वट-पीपल आदि)के नीचे, बगीचेमें, पुष्प-वाटिकामे, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमे और गोशालामें मल-मूत्रादिका त्याग न करे। मङ्गलवारको धौर न कराये। रवि और मङ्गलवारको तेल न लगाये। कभी मुखमें नख न ले। अपने शरीरको और आसनको न बजाये। गुरुके साथ एक आसनपर न बैठे और श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पञ्च, अन्धे और खियोका धन किसी तरह हरण न करे।

ब्राह्मण, गौ, राजा, योगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी छी और कमज़ोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा, ब्राह्मण और चिकित्सक-(वैद्य-डाक्टर-)से विवाद न करे। पतित, कुष्ठरोगी, चाण्डाल, गोमांस-भोजी, समाज-बहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी वृत्तिवाली, दोषारोपण करनेवाली, कुर्कम करनेवाली, कलह-प्रिया, प्रमत्ता, अधिक अङ्गवाली, निर्लज्ज, बाहर धूमने-फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी खियोंसे दूर रहे। मलिन अवस्थामें गुरुपत्नीको प्रणाम न करे। गुरु-पत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातुवधू, कन्या तथा अन्य जो भी खियाँ युक्ती हों, उनकी ओर बिना प्रयोजन न देखे, स्पर्श तो कभी न करे। खियोंके साथ व्यर्थ वात न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर

देखे, न कलह करे और न उनसे अमर्यादित वाणी बोले। तुष, चिनगारी, हड्डी, कपास, देवनिर्मालिय और चिताकी लकड़ीपर पैर न रखें। दुर्गन्धवाली, अपवित्र और जूँठी चीज न खाय। क्षणभरके लिये भी कुसङ्घमें न रहे और न जाय। दीपककी छायामें और बहेड़के पेड़के नीचे न रहे। अस्पृश्य, पापात्मा और कोधी मनुष्यसे बात न करे। चाचा और मामा उम्रमें अपनेसे छोटे हों तो उनका अभिवादन न करे; परंतु उठकर उन्हें आसन दे और हाथ जोड़े रहे। तेल लगाये हुए, जूँठे सुंहवाले, गीला कपड़ा पहने, रोगी, समुद्रमें उतरे हुए, उद्धिन, यज्ञके कर्ममें लो हुए, खीके साथ क्रीड़ा करते हुए, बालकके साथ खेलते हुए, पुष्प या कुश हाथोंमें लिये हुए और बोझ उठाये हुए लोगोंका अभिवादन न करे; क्योंकि बदलेमें इन्हें प्रत्यभिवादन करनेमें असुविधा हो सकती है। मस्तक या दोनों कानोंको ढक्कर, चोटी खोलकर, जलमें अथवा दक्षिणसुख होकर आचमन न करे। आचमनके समय पैर भी धोने चाहिये। सूखे पैर सोना और गीले पैर भोजन करना चाहिये।

अँधेरेमें न सोये, न भोजन करे, क्योंकि विछुने या भोजनमें जीव-जन्म रह सकते हैं। पथिम और दक्षिणकी ओर मुँह करके दाँतोंको न धोये। उत्तर और पथिमकी ओर सिर करके न सोये। दक्षिण और पूर्वकी ओर सिर करके सोना चाहिये। दिन-रातमें एक बार भोजन करना देवताओंका, दो बार मनुष्योंका, तीन बार प्रेत-दैत्योंका और चार बार राक्षसोंका होता है।

स्वर्गसे आये हुए मनुष्योंकी चार पहचान हैं—खुले हाथों दान, मीठी वाणी, देव-त्रालिणोंका पूजन और तर्पण। नरकसे आये हुए जीवोंकी छः पहचान हैं—कंजसी, मैला-कुचैल रहना, सजनोंकी निन्दा, नीच जनोंकी भक्ति, अत्यन्त क्रोध और कठोर वाणी। जो धर्मके बीजसे उत्पन्न हैं, उनकी प्रत्यक्ष पहचान है—नवनीतके समान कोमल वाणी और दयासे कोमल वृद्धि। और जो पापके बीजसे पैदा हुए हैं उनके प्रत्यक्ष लक्षण हैं—हृदयमें दयाका अभाव और केवड़ेके पत्तों-जैसी कँटीली और तीखी वाणी।

शुभाचार ही सदाचार है

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान् ।
स निर्याति जगन्मोहान्स्वर्गेन्द्रः पञ्चरादिव ॥
व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च ।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे ॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्ञतः ।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव ॥

(योगवासिष्ठ, मुस्कुव्यवहार-प्रकरण ६ । २८, ३०-३१)

‘जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्के मोह-पाशसे बैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह। संसारमें आने-जानेवाले सहस्रो व्यवहार हैं, उनमें सुख और हुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ बैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्नोंका समूह ।’

भारतीय धर्म और सदाचारकी विश्वको देने

(लेखक—पं० श्रीगोपालप्रसादजी दुवे, एम० ए०, साहित्यरत्न)

यह निर्विवाद है कि 'वेद' ही संसारका प्राचीनतम प्रन्थ है। भारतका सनातनधर्म जब अपने पूर्ण विकासपर था, तब अन्य कोई भी आधुनिक धर्म अस्तित्वमें न था। वह मनुष्यका शाश्वत एवं सनातन-धर्म था। धर्मके सम्बन्धमें वस्तुतः भारत विश्वका बहुत दिनोंतक नेतृत्व करता रहा है। परंतु खेदके साथ कहना पड़ता है कि आज अनेक भारतवासी ऐसे हैं, जिन्हें धर्मके नामसे ही घृणा है। कुछ तो ऐसे भी हैं, जो धर्मका अर्थतक नहीं जानते, भले उन्होंने विज्ञान और नास्तिकतापर भी कुछ पुस्तकें पढ़ ली हों। ऋग्वेदमें धर्मको विश्वका उन्नायक और सम्पोषक माना है। अथवैदमें—‘ओजश्च तेजश्च सहश्च घलं च वाष्ठचे-न्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च’(—१२। ५। ७) कहा है। तथा वैशेषिकदर्शनके अनुसार ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः’—जिससे मानवका अभ्युदय और कल्याण हो, वही धर्म है’ ऐसा कहा गया है। फिर विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है कि—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
(श्रीविष्णुधर्मोन्तरपुराण ३ । २५३ । ४४)

दूसरोंके जो आचरण हमें पसंद नहीं, वैसे आचरण हमें दूसरोंके साथ भी नहीं करना चाहिये। महाभारतमें व्यासजीने अनेक जगह धर्मको स्पष्ट किया है। ‘अहिंसा परमो धर्मः’, ‘अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा’, ‘परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्’, ‘अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सन्नातनः’। संक्षेपमें इनका तात्पर्य है कि दूसरोंको कष्ट नहीं देना चाहिये, अपितु सहायता करनी चाहिये। वौद्ध-जातकोंमें, ‘विचेग धम्म माहिये’ विवेकको ही धर्म कहा है। तैत्तिरीय-आरण्यकका ‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’—धर्म ही सारे जगत्को स्थिर करनेवाला है—यह वचन

सबको एक सूत्रमें पिरो देता है। 'वसिष्ठसृति'में 'आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः' मानवके पवित्र आचार ही परम धर्म हैं, ऐसा निश्चय है—यह भी उसीकी पुष्टि करता है। महाभारत 'आचारप्रभवो धर्मः' कहता है।

इन वचनोंमें किसी एक धर्मकी ओर संकेत नहीं है। इसलिये इनका मूल सनातनधर्म है। निदान धर्मका मूल रूप जीवनकी पवित्रता, मनकी शुद्धता और सत्यकी प्राप्ति सब धर्मोंको स्वीकार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज बनाकर रहता है और समाजको लेकर ही उसे चलना है। वह व्यक्तिगत खतन्त्र होते हुए भी सामाजिक शिष्टाचारसे विरा है। अतएव परस्पर व्यवहारसे शिष्टाचार-को निभाना है। यही शिष्टाचार-धर्म सुसमाजका विधान है। अन्यथा—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेपामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
(हितोपदेश)

खान-पान, निद्रा, डर, मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताएँ
मानव तथा जानवरोंमें समानरूपसे वर्तमान रहती हैं।
धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो मानवको पशुओंसे
ऊपर उठाता है। सदाचार एक पुरुषार्थ है, कायरता
अथवा अकर्मण्यता नहीं। धर्मपालनमें आत्मवल चाहिये।
धर्म सच्छन्दतापर नियन्त्रण है। अतएव सुसंगठित
समाजके लिये संयत होकर हरेकको कुछ देना है
और कुछ लेना है। कुछ व्याग करना है, कुछ लाभ
उठाना है। ऐसा आपसी सङ्घाव न हो तो मानव वर्वर
अवश्यामें पहुँच जाय। हमें ज्ञात है कि किसी भी
राष्ट्र तथा समाजका उत्थान और पतन उसमें समाविष्ट
मानवके उत्थान-पतनपर निर्भर है। अतएव आवश्यक
है कि समाजका हर घटक इसके प्रति सजग रहे।

मनुके अनुसार जैसे पृथ्वीमें बोये बीज तत्काल फल नहीं देते, समय आनेपर धीरे-धीरे लगते हैं, ऐसे ही अधर्मके वृक्षके फल तत्काल नहीं मालूम होते; किंतु वह जब फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है। अतएव सावधान! धर्मका त्याग नहीं होना चाहिये। मेरा निवेदन किसी एक विशिष्ट धर्मसे कदापि नहीं है; क्योंकि धर्मके मूल सिद्धान्त सब एक ही हैं। साधनमें कुछ विभिन्नता होगी। लक्ष्य सबका एक है—‘जन-कल्याण और सत्यकी उपलब्धि’। कोई भी धर्म हो, उसका ‘विज्ञानसे’ किसी प्रकारका कोई झगड़ा या मतभेद भी नहीं है। धर्म जहाँ एक ओर व्यक्तिगत सामाजिक सदाचार तथा पवित्र विचारकी ओर इक्षित करता है, वहाँ विज्ञान प्रकृतिके रहस्योंका दिग्दर्शन करता है। धर्म सदाचार सिखाता है; विज्ञान ज्ञान देता है। प्रथम कर्तव्यकी प्रेरणा करता है, दूसरा सुखसाधन जुटाता है। एक श्रेय है, दूसरा श्रेय। दोनों ही सत्यपर आधारित हैं। समाजकल्याणार्थ वे एक-दूसरेके पूरक हैं। एक ही पैइकी दो शाखाएँ हैं। जिनका फल है—मानव-कल्याण।

विज्ञान बुद्धिप्रधान है और धर्म भावनाप्रधान। विज्ञान जब भावनारहित हो जाता है, तब विनाश कर बैठता है। विज्ञानपर धर्मका नियन्त्रण पृथ्वीको खर्ग बनानेकी क्षमता रखता है। इस कारण दोनोंका समन्वय आजके युगमें नितान्त आवश्यक है। विज्ञानकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी एक उत्तम नागरिक बनानेके लिये धर्मकी। विज्ञानको सुखद, मङ्गलकारी बनानेके लिये उसपर धर्मका नियन्त्रण आवश्यक है। हम आज पृथ्वीकी दयनीय स्थिति देख रहे हैं—गृहयुद्ध, विष्वव, क्रान्ति, विक्षेप, अपहरण, हत्याएँ और भीषणतम नरसंहारके विस्फोटोंकी प्रतिस्पर्धा। हमारा विश्व आज विनाशके कगारपर बैठ पशुबलिके समान खङ्गप्रहार

होनेकी घड़ियाँ गिन रहा है।

इसका एक दूसरा पहलू भी है। क्या इन विकसित देशोंकी प्रजा शान्तिका अनुभव कर रही है? शान्ति-हेतु क्या वे एल० एस० जी०का प्रयोग नहीं कर रहे हैं? नीदकी गोलियाँ नहीं खा रहे हैं और अपना देश छोड़कर ‘हरे राम हरे कृष्ण’ की रट नहीं लगा रहे हैं? विज्ञानमें तो वे अप्रणी हैं। फिर ऐसा क्यों? क्योंकि धर्मसे उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। भारतने धर्मके क्षेत्रमें प्राचीनकालसे विधका नेतृत्व किया था, आज भी करेगा। अभी दो दशक पूर्वकी ही बात है, जब हमने अपने पैरोंपर चलना सीखा, किंतु विश्वको ‘पञ्चशील और सह-अस्तित्व’का पाठ पढ़ाया। आज आधेसे अधिक राष्ट्र हमारे पीछे हैं। विज्ञानके क्षेत्रमें भी हम किसीसे कम नहीं हैं। उन्हीं पराक्रमी राष्ट्रोंकी श्रेणीमें हम भी हैं। अणुविस्फोटकी हममें क्षमता है। प्रक्षेपास्तका हमने अध्ययन किया है। हम विकासकी ओर चढ़ रहे हैं; किंतु विनाशकारियोंकी होड़से दूर हैं। हमने किसी भी देशपर आजतक आक्रमण नहीं किया। हमारा कोई उपनिवेश नहीं है। हमने भयंकर-से-भयंकर झंझावातोंका मुकाबला किया। बाहरी आँधियों और तफानोंको सहा; अपितु धर्म हमसे अलग नहीं हुए। विभिन्न पन्थ तथा सम्रदायके आक्रामक हमपर चढ़ आये। उनका यहाँ निवास हुआ। परिणामतः वे हममें ऐसे घुल-मिल गये, जैसे खरलमें किसीने कूटकर एक रस कर दिया हो। अब भी हम अपनी समस्याएँ परस्पर मिल-बैठकर सुलझानेमें विश्वास करते हैं और एक-एक कर सुलझा ही रहे हैं। वर्तमान पृथ्वीबल्लभोंके गुटोंका हम शक्तिसंतुलन बनाये रख रहे हैं। इसीलिये आशान्वित हैं कि आज नहीं तो निकट भविष्यमें ही हम भी विज्ञानपर धर्मकी विजय अवश्य कर दिखायेंगे।

शिवोपासना और सदाचार

(लेखक—श्रीहीरसिंहजी राजपुरोहित)

भगवान् शंकरके उपासकों एवं अन्य वर्णोंके लिये अध्यायमें संस्कृतिमें शिवपुराणकी, विद्येश्वरसंहिता, १३वें है कि 'सदाचारका पालन करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण ही वास्तवमें ब्राह्मण नाम धारण करनेके अधिकारी होते हैं ।

जो वेदोक्त आचारका पालन करनेवाला, वेदका अभ्यासी है, उस ब्राह्मणकी 'विप्र' संज्ञा होती है । सदाचार और स्थायाय—इन दोनों गुणोंके होनेसे उसे 'द्विज' कहते हैं । जिसमें स्वरूपमात्रामें ही आचारका पालन देखा जाता है, जिसने वेदाध्ययन भी बहुत कम किया है तथा जो राजाका सेवक (पुरोहित, मन्त्री आदि) है, उसे 'क्षत्रिय-ब्राह्मण' कहते हैं । जो ब्राह्मण कृषि तथा वाणिज्य कर्म करनेवाला है और कुछ-कुछ ब्राह्मणोचित आचारका भी पालन करता है, वह 'वैश्य-ब्राह्मण' है तथा जो स्थंयं ही खेत जोतता है, उसे 'शूद्र-ब्राह्मण' कहा गया है । जो दूसरोंके दोष देखनेवाला और परदोही है, उसे 'चाण्डाल-द्विज' कहते हैं ।

सभी वर्णोंके मनुष्योंको चाहिये कि वे ब्राह्मसुहृद्दृतमें उठकर पूर्वाभिमुख हो सबसे पहले देवताओंका, फिर धर्मका, अर्थका तथा उनकी प्राप्तिके लिये उठाये जानेवाले कलेशोंका एवं आय और व्ययका भी चिन्तन करें । संधिकालमें उठकर द्विजको मल-मूत्र आदिका त्याग करना चाहिये । जल, अग्नि, ब्राह्मण तथा देवताओंका सामना बचाकर बैठे । किसी भी वृक्षके पत्तेसे अथवा उसके पतले काष्ठसे जलके बाहर दत्तुअन करना चाहिये । दन्तधावनमें तर्जनीका उपयोग न करे । तदनन्तर, जल-सम्बन्धी देवताओंको नमस्कार

कर मन्त्रपाठ करते हुए जलाशयमें स्नान करे; देवता आदिका स्नानाङ्ग-तर्पण भी करे । इसके बाद धौत-वस्त्र लेकर, पौँच कच्छ करके उसे धारण करे । नदी आदि तीर्थोंमें स्नान करनेपर स्नानसम्बन्धी उतारे हुए वस्त्रको वहाँ न धोये ।

इसके बाद 'बृहज्ञाबालोपनिषद्'में निर्दिष्ट 'अग्निरिति भस्त' इत्यादि मन्त्रद्वारा भस्त लेकर मस्तक-पर त्रिपुण्ड्र लगाये । फिर पवित्र आसनपर बैठकर प्रातःसंध्या करनी चाहिये । प्रातःकालकी संध्यो-पासनामें गायत्रीमन्त्रका जप करके तीन बार ऊपर-की ओर सूर्योदयको अर्थ देना चाहिये । मध्याह्नकालमें एक ही अर्थ तथा सायंकाल आनेपर पश्चिमकी ओर मुख करके बैठ जाय और पृथ्वीपर ही सूर्यके लिये अर्थ दे । फिर गुरुका स्वरण करके उनकी आङ्ग लेकर विधिवत् संकल्प कर सकामी अपनी कामनाको अलग न रखते हुए पराभक्तिसे भगवान् आशुतोष श्रीशिवका षोडशोपचारसे पूजन करे । 'शिव' नामके सर्वपापहारी माहात्म्यका एक ही श्लोकमें वर्णन करता हूँ । भगवान् शंकरके एक नाममें भी पापहरणकी जितनी शक्ति है, उतना पातक मनुष्य कभी कर ही नहीं सकता ।—
पापानां हरणे शम्पोर्नाम्नां शक्तिर्हि यावती ।
शक्त्वोति पातकं तावत् कर्तुं नापि नरः क्वचित् ॥
(शिवपु० विद्येश्वरसंहिता २३ । ४२)

मानवको चाहिये कि वह दूसरोंके दोषोंका वर्णन न करे । दोषवश दूसरोंके भुने या देखे हुए दोषको भी प्रकट न करे । ऐसी बात न कहे, जो समस्त प्राणियों-के हृदयमें रोप पैदा करनेवाली हो । तीनों काल स्नान, अग्निहोत्र, विधिवत् शिवलिङ्ग-पूजन, दान, ईश्वर-प्रेम, सदा और सर्वत्र दया, सत्य-भाषण, संतोष,

आस्तिकता, किसी भी जीवकी हिंसा न करना, लज्जा, श्रद्धा, अध्ययन, योग, निरन्तर अध्यापन, व्याख्यान, ब्रह्मचर्य, उपदेश-श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखाधारण, यज्ञोपवीत-धारण, पगड़ी धारण करना, दुष्टाङ्गाना, निषिद्ध वस्तुका सेवन न करना, रुद्राक्षकी माला पहनना, प्रत्येक पर्वमें विशेषतः चतुर्दशीको शिवकी पूजा करना, ब्रह्मकूर्चका पान, प्रत्येक मासमें ब्रह्मकूर्चसे विधिपूर्वक श्रीशिवजीको विधिपूर्वक अभिप्रक्त कर विशेषरूपसे पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियाका त्याग, श्राद्धान्नका परित्याग, वासी अन्न तथा विशेषतः यावतका त्याग, मद्य और मधकी गन्धका त्याग, शिवको निवेदित

(चण्डेश्वरके भाग) नैवेद्यका त्याग—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं ।

इस विश्वका निर्माण करनेवाला तथा रक्षक कोई पति है, जो अनन्त रमणीय गुणोंका आश्रय कहा गया है । वही पशुओंको पाशसे मुक्त करनेवाले भगवान् पशुपति महादेव हैं । मनोहर भवन, हात्र, भाव, विलाससे विभूषित तरुणी लियाँ और 'जिनसे पूर्ण तृप्ति हो जाय' इतना धन—ये सब भगवान् शिवकी आराधनाके फल हैं । सोभाग्य, कान्तिमान् रूप, वल, त्याग, दयाभाव और झूलता—ये सब वातें भगवान् शिवकी पूजा करनेवाले लोगोंको ही सुलभ होती हैं । शिवपूजक सुतरां सदाचारी होता है ।

विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)

ब्राह्मणादि वर्णोंके और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष आचार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें उपदिष्ट हैं । उन सब वर्णाश्रमाचारोंका पालन आवश्यक है । उनके नित्य नियमपूर्वक पालन करनेसे श्रीभगवान् ग्रसन होते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
सम्यग्याराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः ॥

(श्रीविष्णुपुरा० ३ । ८ । ९)

ब्राह्ममुहूर्तमें भगवद्स्मरणपूर्वक शास्त्रा-त्याग, गुहजनाभिवन्दन, शौच-स्नानादि, दिनचर्या और रात्रिचर्यकी समस्त शास्त्रोक्त व्यापार आचार या सदाचारके ही अन्तर्गत हैं । स्नानके बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता । अतः स्नान सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है । (जयाल्यसंहिता ७०) । स्नानके अनन्तर संध्याका विधान है । अपनी-अपनी शास्त्रा एवं सूत्रके अनुसार इसका स्वरूप जान लेना चाहिये । उदाहरणार्थ माघ्यदिनशास्त्रके 'पारस्करसूत्र'के अनुसार संध्याका

संक्षिप्त स्वरूप है—स्नानके अनन्तर मार्जन, प्राणायाम और सूर्योपस्थान—

स्नानमन्वैतर्मन्त्रैर्मर्जिनं प्राणसंयमः ।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥
(याशवल्यस्मृति १ । २२)

धर्मशास्त्रमें प्रातः-संध्या और सायं-संध्या न करनेवाले द्विजोंकी बड़ी निन्दा की गयी है । (मनु० २ । १०३ ।) जबतक मनुष्य संध्या न कर ले, तबतक उसमें अन्य कायोंके करनेकी योग्यता नहीं आती (—दक्ष) । संध्याके अनन्तर गायत्रीका जप करना चाहिये । तदनन्तर होमका, तप्तचात् खाध्यायका, फिर तर्पणका और फिर पूजनका विधान है । स्नानान्तर संध्या, जप, होम, तर्पण, खाध्याय और देवपूजन—ये पट्कर्म नित्य अनुष्ठेय हैं । इन समस्त साधनोंका एकमात्र लक्ष्य है—चित्तमें सात्त्विकताका संचार; क्योंकि सत्त्वगुण-विभूषित चित्तमें ही श्रीभगवान्-का सतत स्मरण सम्भव है (छान्दो० ७ । २६ । २) ।

परतत्त्वके उपासनमें निरत सत्पुरुषोंमें सदाचारके अङ्गभूत सात साधन प्रचलित हैं—विवेक, विमोक्ष, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्वर्ष। यहाँ सर्वप्रथम विवेकका विवेचन किया जाता है। 'विवेक'का अभिप्रेत अर्थ है—खान-पानमें शुद्ध विचार। मानवजीवनमें आहार और विहारके संयमका बड़ा महत्त्व है। आहारसे तात्पर्य है—भोजनका ! भोजनके अतिरिक्त इतर कार्यकलापका नाम है 'विहार'। ये दोनों जब संयत हो जाते हैं—युक्त हो जाते हैं, तब साधकको सर्वाङ्गीण समुन्नतिकी ओर अग्रसर करते हैं (गीता ६। १७)। इस प्रकारके यथायोग्य आहार-विहार, यथायोग्य कर्मचेष्टा और यथायोग्य सोने-जागनेवाले व्यक्तिका योग ही दुःखनाशक होता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है (छान्दो० ६। ६। ५)। हम पहले कह आये हैं कि सात्त्विक आहार करनेसे चित्त सात्त्विक होता है। श्रीभगवान्‌के उपासक सत्त्वगुणसम्पादनमें बद्धपरिकर रहते हैं। अतएव वे तामस भोजनका सर्वथा त्याग कर देते हैं और राजससे भी बचना चाहते हैं। निरामिष अन्नादि खाद्यसामग्रीमें भी कारणवश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह त्याज्य है अर्थात् तामसभावापन्न अन्नादि भी साधकोंके लिये हितकारी नहीं है।

विज्ञ पुरुषोंकी सम्मतिके अनुसार आहारमें तीन प्रकारके दोष होते हैं—१—जातिदोष, २—आश्रयदोष और ३—निमित्तदोष। जो भोजनद्रव्य अपनी जातिसे ही अर्थात् खभावसे या प्राकृतिक गुणोंसे ही भोक्ताके चित्तमें राजस और तामस भावोंको जाग्रत् कर देता है, उसमें जातिदोष माना जाता है। ऐसे भोजनके उदाहरण हैं—क्लृप्तुन, शलगम और प्याज आदि निपिद्ध पदार्थ। इसीलिये शास्त्रोंमें ऐसे खाद्यका निषेध किया गया है—

लघुनं गृजनं चैव जग्धा चादायणं चरेत् ।

(ग्रन्थवल्क्यस्मृति १। ७। १७६)

पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें आश्रयदोष हैं। ऐसे पुरुष अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायेंगे तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय होगा। लोभी, चोर, सूदखोर, शत्रु, कूर, उग्र, पतित, नपुंसक, महारोगी, जार, स्त्रैण, वेश्या, व्यभिचारिणी, निर्दय, पिशुन, मिथ्यावादी, कसाई आदि व्यक्तियोंके अन्नको अभोज्य माना गया है। 'इस अन्नको कौन खायगा'—ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-वृक्षकर जिसमें पैर लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ चुकी हो, कुत्ते-कौओं आदिने जिसे जड़ा कर दिया हो एवं गाय आदिने जिसे सूँध लिया हो—ऐसे भोजनमें निमित्तदोष माना जाता है। उपर्युक्त जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोषसे रहित खाद्यसामग्रीका भोजन करना 'विवेक' नामक साधन है। शुद्ध होकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके, हाथ-पैर, मुँहको धोकर, शुद्ध स्थानमें आसनपर, विहित दिशाकी ओर मुँह करके, विहित समयमें, सुसंस्कृत व्यक्तिके द्वारा बनाये और परोसे हुए भगवत्प्रसादके करते रहनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

'विमोक्ष'का अर्थ है—परित्याग। कामके विषयोंकी वासनाको त्याग देना, उसमें आसक्ति न रखना ही 'विमोक्ष' नामक साधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु साधक पुरुषकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक हैं। इन सभीका त्याग श्रेयस्कर है; क्योंकि चित्तमें जब इनका अभाव होता है, तभी साधक भक्तिभाव करनेके योग्य बन सकता है।

इन छःमें भी पहलेके तीन अति प्रवल हैं, अतएव
इन्हें नरकका 'त्रिविध द्वार' कहा गया है।

(गीता १६।२१, मानस ५।३८)

श्रीभगवान् ही कृपा करके कामरूपी दुर्धर्ष शत्रुसे
बचायें तो बचाव हो सकता है। जो निवृत्तिमार्ग हैं—
संसारके विपर्योगे जिन्हें ग्लानि है, महर्षि पतञ्जलिके—
'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' (योगसूत्र २।४०)
—इस वचनकी भावनासे एवं शरीरके रक्तमांसमय संषटनके
तात्त्विक विज्ञानसे जिन्हें न केवल अपने ही अङ्गमें
जुगुप्सा है, अपितु दूसरेसे संसर्गकी भी इच्छा नहीं,
ऐसे संत महानुभाव तो कामका परित्याग ही कर
देते हैं। आचार्य रामानुजने—'भूतभावोद्भवकरो
विसर्गः कर्मसंक्षितः' इस गीता (८।३) वचनके
भाष्यमें लिखा है—

"भूतभावो मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो
विसर्गः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति
(छां० ५।३।३) इति श्रुतिसिद्धौ योपित्सम्बन्धजः;
स कर्मसंक्षितः। तच्चाखिलं सानुवन्धमुद्वेजनीयतया
परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्क्षातव्यम्। परिहरणीयता
चानन्तरमेव वक्ष्यते—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं
चरन्तीति।'"

—योपित्-सम्बन्धसे होनेवाले प्राणियोंके
जन्म देनेवाले विसर्गको 'कर्म' कहते हैं। मुमुक्षुओंको
इस कर्मसे उद्वेग होता है। अतएव उनके लिये यह
परिहरणीय है और श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुखसे भी
आगे काम-प्रतियोगी ब्रह्मचर्यका मुमुक्षुओंके लिये विधान
किया है। मल-मूत्रसे परिपूर्ण रक्त-मांस-मय
शरीरसे निर्विण्ण होकर संत तुलसीदासजीने चिदानन्द-
मय राममूर्तिसे अपना मन लगा लिया था। कामका
ऐसा ही परित्याग साधकोंके लिये उपदिष्ट है। जिस
अवस्थामें कामकी वासनाएँ स्वयमेव शान्त हो जायँ
और उनके स्थानपर भागवती भावनाओंका समुदय हो
जाय, उसी अवस्थाको ब्रह्मचर्य कहते हैं। वही ब्रह्मकी
ओर संचरण है। ब्रह्म-प्रेषुका वही महाव्रत है।

इसीका निर्देश श्रुतिने—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।'
(कठ० १।२।१५) कहकर किया है। सच्चे
ब्रह्मचारीके क्रोधादि शत्रु, अपने अग्रजके पराभवके
अनन्तर स्वयमेव परास्त हो जाते हैं। इस प्रकारके
साधनका नाम 'विमोक्ष' है।

'अभ्यास' वह साधन है—जिसमें मन, वाणी और
शरीरमें वारंवार ऐसी प्रवृत्ति उठती रहे, जिससे साधकका
हृदय-भवन सदा श्रीभगवान्की भक्तिभावोद्भाविनी भावना-
से भावित रहे। प्रपञ्चोन्मुखी चित्तको समस्त अशुभ
आश्रयोंसे हटाकर प्रपञ्चातीत शुभाश्रय श्रीभगवान्में
निविष्ट करना ही इसका उद्देश्य है। इस साधनासे
मन-वाणी-शरीर विनिर्मल हो जाते हैं और भगवद्भावका
उसमें अधिकाधिक समावेश हो जाता है। चित्त सदा
किसी-न-किसी आलम्बनको ही लेकर रहता है।
शास्त्रका सिद्धान्त है कि परतत्त्व श्रीमन्नारायण ही चित्तके
सर्वोत्कृष्ट आलम्बन हैं—पतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं
परम्। (कठ० १।२।१७।)

जिनके भूकुटिविलाससे विश्वके उदय, विभव और
विलय हुआ करते हैं, उन्हीं परम सौन्दर्यके अपार पारावार
श्रीभगवान्से सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाका ही निरन्तर
अभ्यास होता रहे, इससे बढ़कर और कौन-सा साधन
होगा? कर्म-भेदसे आचार भी चार प्रकारका है—
नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निपिद्ध। इनमेंसे असत्य
भाषण आदि निपिद्ध कर्मोंका त्याग ही श्रेयस्कर है।
'पट् कर्माणि दिने दिने' आदि वाक्योंद्वारा शास्त्र जिन
कर्मोंके करनेका उपदेश दे रहे हैं, वे नित्य हैं। इनको प्रति-
दिवस करना चाहिये; क्योंकि इनके न करनेसे प्रत्यवाय
(पाप) होता है। सूर्यग्रहण आदि नैमित्ति-विशेषके उपस्थित
होनेपर जो स्नान-दानादि कर्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक
कहलाते हैं। काम्यकर्म दो प्रकारके हैं—एक तो वे जो
किसी शुभ स्वार्थया परार्थके साधनकी भावनासे किये जाते
हैं—जैसे पुत्रेष्टि आदि; और दूसरे वे—जिनका अनुष्ठान

किसी अशुभ उद्देश्यकी पूर्तिके लिये किया जाता है, जैसे—उच्चाटन-प्रयोग आदि। इनमेसे सत्त्वगुणप्रधान सज्जन शुभकामनाको लेकर किये जानेवाले कर्मकलापमें तो प्रवृत्त होते हैं, पर अशुभ कामनाओंमें नहीं। शुभ कामनावालेमें भी वे ही अभिरुचि रखते हैं, जो प्रवृत्तिमार्ग हैं। जो निवृत्तिमार्ग है, वे तो मधुरमूर्ति श्रीभगवान्में ही अपनी समस्त कामनाओंको केन्द्रित कर चुकनेके कारण भगवदितरविप्रयक काम्यकर्मोंका न्यास ही कर देते हैं। किंतु यज्ञ, दान और तपको भगवत्प्रीत्यर्थ वे भी करते रहते हैं; क्योंकि ये कर्म इसलिये त्यज्य नहीं हैं कि ये सावकोंकी चित्तवृत्तिको सदा पवित्र बनाये रखते हैं (भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक, ५ ।)

गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंको नित्य करनेका शास्त्रमें विधान है। अग्नियोगादि अन्यान्य यज्ञ न भी वन पड़े तो भी पञ्चमहायज्ञोंका तो निर्वाह सुगमतया हो ही सकता है। ये पञ्चमहायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, वलिकर्मसे भूतयज्ञ और अतिविस्तकारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है। (मनु० ३ । ७०) महर्षि वादरायणने अपने—अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तदर्शनात्' (४ । १ । १६) इस ब्रह्मसूत्रमें विद्वान्‌को भी अग्निहोत्रादि हवन करनेकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि ये धर्म कार्य विद्याके—सत्-ज्ञानके—साधक ही हैं, वाधक नहीं। इसी विचारसे पाञ्चरात्रान्तर्गत 'ब्रह्मतन्त्र'में आदेश दिया गया है कि साधक अपने घरमें परतत्व श्रीमन्नारायणके चरणोंमें स्तोत्रोंकी सुमनोऽञ्जलियॉं समर्पितकर गृह्यसूत्रके अनुसार वलित्रैश्वदेव एवं महायज्ञोंका अनुग्रहन करे—

इति विज्ञाप्य देवेशं वैश्वदेवं स्वमात्मनि ।
कुर्यात् पञ्चमहायज्ञानपि गृह्योक्तकर्मणा ॥

यद्यपि प्रत्येक कार्यमें शरीर और मानस-व्यापार अपेक्षित है, तथापि 'क्रिया'-नामक चतुर्थ साधनमें शारीरिक

कर्मकी ओर विशेष ज्ञुकाव है और 'कल्याण' नामक पञ्चम साधनमें मानस-व्यापारकी ओर है। मानवकी पूर्णता इसीमें है कि उसके साधनसम्बन्ध शरीरमें साधन-सम्पन्न मन हो। शरीर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनोंको ही सावन-मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला साधक अन्तमें सिद्धि-लाभ करता है। कल्याणसे तात्पर्य मङ्गलमयी मानसिक वृत्तियोंसे है। ये वृत्तियाँ मानो कुसुमावलियॉं हैं, जिनसे साधकका हृदय-भवन सुसज्जित हो जाता है। इस प्रकार परिष्कृत और सुसज्जित मनोमन्दिरमें ही भगवद्वृत्तिका उदय होता है। पूर्वोक्त 'विमोक्ष' हेय वृत्तियोंके त्यागका साधन है—तो यह 'कल्याण' उपादेय वृत्तियोंके ग्रहणका साधन है। धृति, क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव, अद्रोह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि अनेक दैवीसम्पत्तिकी सद्वृत्तियॉं हैं। ये सब 'कल्याण'के अन्तर्गत हैं और इनसे सम्बन्ध व्यक्ति कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह परमोत्तम सद्गतिको प्रदान करनेवाली भक्तिका अविकारी बन जाता है। (गी० ६ । २०)

साधकको अपना समस्त जीवन साधनामय बना लेना चाहिये। कर्मवश इस ससार-सागरमें निमज्जनोन्मज्जन करनेवाले जीवको पद-पठपर त्रिवित्र दुःखके आवर्तोंका सामना करना पड़ता है; किंतु जो सदाचारी व्यक्ति हैं, वे इन दुःखोंसे कदापि विचलितचित्त नहीं होते। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग, प्रतिकूल वेदनीय होनेके कारण दुःखका हेतु होता है। दुःखसे उद्धिन होकर मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता—न तो प्रवृत्तिमार्ग साधक त्रिवर्गसाधनमें सफल हो सकता है और न निवृत्तिमार्ग साधक पारमार्थिक सिद्धि ही प्राप्त कर सकता है। यदि साधन करते-करते कषेका सामना करना पड़े तो भी प्रवृत्तिमार्गके समान ही निवृत्तिमार्गको भी विषाद नहीं करना चाहिये। विपण्ण होनेसे शरीर और मनका स्वास्थ्य विकृत हो जाता है—

'विपादो रोगदारणम्' (—चरक)। विपादका पथिकके समुग्व, कैवल्यसे पूर्व, संयमजन्य गौण दूसरा नाम है—'अवसाद' और इसका अभाव अनवसाद वहलाता है। विपण होकर साधन छोड़ देनेकी अपेक्षा साधकको यही भावना करनी चाहिये कि जो सिद्धियाँ परिणाममे अमृतोपम मधुर होती हैं, वे साधन-वेलामे विपोपम कष्टायिनी भी होती हैं—

यतद्वे विपस्ति परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मघुद्विप्रसादजम् ॥
(गीता १८ । ३७)

गीतामे श्रीभगवान्‌ने स्थितप्रज्ञको—‘दुःखेष्वनु-द्विग्नमन्नः’ कहा है। इस प्रकार इष्टदर्शनके लिये साधन करते-करते साधनजन्य कष्टमें विपाद न करना ‘अनवसाद’ नामक छठा साधन है। जिस प्रकार जीवको विपत्तिमे विपण न होनेका आदेश है, उसी प्रकार सम्पत्तिमे भी आपेसे बाहर न होनेका उपदेश है। अत्यन्त संतोपका नाम है—‘उद्धर्प’। उद्धर्प होनेपर अप्रिम विकासकी अभिलापा शान्त हो जाती है जो कि साधनाकी उच्च भूमिकामे प्रवेशकी बावक है। उद्धर्पका अभाव ‘अनुद्धर्प’ कहलाता है। जिस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमे हर्पवसर प्राप्त होनेके समय अनुद्धर्पका भाव व्यक्तिके गाम्भीर्यका सूचक है, उसी प्रकार निवृत्तिमार्गमे साधनजन्य क्रमिक विकासकी सूचना देनेवाली गौण सिद्धियोके लाभके समय साधकका अनुद्धर्प उसके उत्कर्पका घोतक है। योगमार्गके अविलम्ब हो जाता है।

सिद्धियाँ समुपस्थित होती हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि साधकको उन सिद्धियोंके लाभसे ‘सम्य’ (ईपद्वसन, मुसकराहट, गौरववा अनुभव) नहीं रहना चाहिये। उस समयका सम्य कैवल्यका बावक हो सकता है, जैसा कि योगमूत्रकार पतञ्जलिका कथन है—

*स्थान्युपनिमन्त्रणे
पुनरनिष्टप्तसङ्गात् । (योगसूत्र ३ । ५१)

सन्तस्याकरणं

इसी प्रकार उपासनाकी साधनामें भी साधकको गौण सिद्धियोंके लाभके सुखसे ही संतुष्ट नहीं होना चाहिये; अन्यथा साधनाका वास्तविक साध्य असिद्ध ही रहेगा। इस प्रकार साधनाके क्रमिक विकासमे तजन्य सुखद चमत्कारोंकी प्राप्तिमे असंतोष रखना ही ‘अनुद्धर्प’ नामक सातवाँ साधन है। राजकुमार ध्रुवने परतत्व भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये ‘द्वादशाक्षरविद्या’का जप किया था। इस मन्त्रराजके एक सप्ताहतक अनुशीलनसे खेचरोका दर्शन हो जाता है—यं सप्तरात्रं प्रपञ्च पुमान् पश्यति खेचरान् (श्रीमद्भा० ४ । ८ । ५३)। ध्रुवजी यदि खेचर-उर्शनसे ही अति संतुष्ट हो जाते तो आगे प्रश्नन न करते, किन्तु वे ‘अनुद्धर्प’के सावक थे। ऐसा अनुद्धर्प ही सावकका परम आर्द्धा है। उपर्युक्त साधन-सप्तकमय सदाचारके पालनसे विनिर्मल हृदय-भवनमें श्रीभगवान्‌की भक्तिका उदय होता है।

—८५३—

* यहाँ राजमार्त्तण्डवृत्तिकार (भोज), चन्द्रिकावृत्तिकार (अनन्तदेव) आदिके मतसे ‘स्वाम्युपनिमन्त्रण’, आदि पाठ है।

* द्वादशाक्षरविद्या—‘ॐ नमो भगवते वामुदेवाय’ है। वामनपुराण ६१ । ५३—७९ मे १२ मास, रात्रि, सवस्तर आदि युक्त विश्वको १२ अक्षरोंमे ग्रन्थित दिखाया है। स्कन्दपुराण, चतुर्मासमाहा० २४—२६ अध्यायोंमे तथा ‘शारदातिलक’ आहिमे इसका महत्व एव सम्प्रदाय निर्दिष्ट है। मानस १ । १४३ के अनुसार स्वायम्भुवमनुने भी इसीका जप किया था। इस प्रकार वह ध्रुवका वग परम्परासे भी क्रमागत मन्त्र था।

मध्वगौडीय वैष्णवसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीअवविहारीलालजी कपूर, एम० ए०, डी० फ़िल०)

गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय (अचिन्त्य भेदाभेद)के अवश्यक है। जो शुद्धाभक्तिके अविकारी नहीं हैं, अनुसार जीवका परम धर्म है, कृष्ण-भक्ति—‘स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।’ (श्रीमद्भा० १ । २ । २६) इसमें सदाचारका मूल्य भक्तिके सावनरूपमें—सहायकरूपमें है; स्वतन्त्र रूपमें नहीं। सत्कर्म वही है, जिससे श्रीकृष्ण संतुष्ट हो—‘तत्कर्म हरितोपं यत्’ (श्रीमद्भा० ४ । २ । ४९ ।) हम जिस धर्मका भी अनुप्रान करे, उसकी पूर्णसिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हो—‘स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोपणम् ।’ (श्रीमद्भा० १ । २ । १३ ।) यदि श्रीहरिको प्रसन्न करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है तो हमारा स्खलन नहीं होगा, हमसे कभी कोई अनुचित कार्य न वनेगा—धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह । (श्रीमद्भा० ११ । २ । ३५ ।) सभी कार्य ठीक ही होगे—

कृष्ण-भक्ति कैलै-सर्व कर्म कृत हय ।

(चै० च० २ । २२ । ३७ ।)

जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे उसके तने, शाखाओं और उपशाखाओंमें जल पहुँच जाता है, जैसे प्राणोंकी रक्षा करनेसे सब इन्द्रियोंकी रक्षा हो जाती है, वैसे ही (श्रीकृष्णकी पूजा-भक्ति करनेसे सबकी पूजा हो जाती है), सभी आचारों का पालन हो जाता है । (श्रीमद्भा० ४ । ३१ ।) इसलिये गीताके अन्तमें भगवान् कृष्णका सर्वगुद्यात्म उपदेश है—‘सब कर्मोंका परित्याग कर केवल (मुश) भगवान्की शरण ले लेना’, केवल उनकी भक्ति करना । सब कर्मोंके परित्यागका अर्थ, गौडीय वैष्णवोंके अनुसार केवल कर्मके फलका व्यागमात्र नहीं, कर्मात्रका सम्पूर्ण त्याग है । शुद्धाभक्तिमें कर्मका सम्पूर्ण त्याग

* श्रीनैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

‘श्रद्धा’ शब्दे विश्वास कहे सुदृढ निश्चय । कृष्ण-भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय ॥

(चैतन्य चरिता० २ । २२ । ३७ ।)

परंतु कर्मका यह सम्पूर्ण त्याग तवतक नहीं करना चाहिये, जवतक निर्वेदकी अवस्था नहीं आती अर्थात् विषयों या कर्मफलोंसे विरक्ति नहीं हो जाती, तथा जवतक भगवत्कथा-श्रवणादिमें श्रद्धा नहीं हो जाती—

तत्वत् कर्मणि कुर्वन्ति न निर्विघ्नेत् यायता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावद्व जायते ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९ ।)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस इलोककी टीकामें लिखा है कि यहों श्रद्धाका अर्थ है—आत्यन्तिकी श्रद्धा । आत्यन्तिकी श्रद्धामें साधकको यह दृढ विश्वास हो जाता है कि भगवत्कथा-श्रवणादिसे ही वह कृनार्थता लाभ कर सकता है, कर्म-ज्ञानादिसे नहीं *। ऐसी श्रद्धा तभी होती है, जब मनुष्य कर्मके गुण और दोन भली प्रकार जान लेता है और समझ लेना है कि कर्मसे खर्गादिकी प्राप्ति ही होती है, वासनाओंका नाश नहीं होता, और संसार-वन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती । ऐसे लोगोंके लिये, जिन्हे कर्मके गुण-दोप समझ लेनेपर भगवत्-कथा-श्रवणादिमें आत्यन्तिक श्रद्धा हो गयी है, भगवान् कृष्णने कहा है कि यदि मेरे द्वारा आदिष्ट सर्वमसमूहको सम्पूर्णरूपसे त्यागकर मेरा भजन करते हैं तो वे परम संत हैं—

आक्षयैवं गुणान् दोपान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वजान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३२ ।)

पर जिन्हे इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, उनके लिये कर्म-त्याग अविद्येय है । उनका कल्याण वेद-विहित

उन दोनोंका अन्नय-कालपर्यन्त नरकमें वास होता है।' श्रीजीवगोस्वामीने वह भी कहा है कि— 'गुरुरपि वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्यज्य एव'—गुरुयदि वैष्णवविद्वेषी हो तो वह परित्यज्य ही है। गौड़ीय सम्प्रदायमें शान्तानुगम्यका कितना महत्त्व है, इसका पता इस बानसे भी चलता है कि श्रीहृषीगोदामिपादने भगवान् श्रीकृष्णतकके आचरणको अनुकरणीय बताया है, इसीलिये कि वह सदा शत्रुके अनुकूल नहीं होता। 'उज्ज्वलनीन्द्रियमणिमें उन्होंने कहा है—

वर्तितव्यं शामिच्छद्भिर्मत्कवचं तु कृष्णवत् ।

इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विज्ञिर्णयः ॥

(३० कृष्णवल्लभाप्रकरण १२-१)

'जो लोग अपनी मङ्गल-कामना करते हैं, उन्हें भक्तवत् आचरण करना चाहिये, न कि कृष्णवत्। यही है भक्तिशास्त्रोका निर्णाति तात्पर्य।' इस इशोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है कि कान्तारसकी बात तो दूर रही, अन्य रसोंमें भी श्रीकृष्णका भाव अनुकरणीय नहीं है। भक्तोंमें भी सिद्ध भक्तोंका आचरण सदा अनुकरणीय नहीं है; क्योंकि वे भी कमी-कमी आवेशमें कृष्ण-जैसा आचरण करने लगते हैं, जैसे गोपियों विरहमें श्रीकृष्णका ध्यान करते-करते उनसे तादात्म्य प्राप्त कर उनकी-जैसी लीला करने लगती थीं। केवल साधक भक्तोंका भक्तिशास्त्रानुमोदित आचरण ही अनुकरणीय है।'

सदाचार एवं वैष्णवाचार—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने 'हरिभक्तिविलास'में भविष्योत्तर-पुराणके कृष्ण-न्युविष्टिर-सवादसे एक इशोक उद्घृत करते हुए कहा है—सदाचार-विहीन व्यक्तिके यज्ञ, दान, तपस्यादि सभी पुण्यकर्म उसी प्रकार दूषित होने हैं, जिस प्रकार नरकपालसे या कुत्तेके चमडेसे वने पात्रमें जल या दुर्घट दूषित हो जाता है, आचारहीन व्यक्तिको न इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें—

कृपालस्थं यथा तोयं श्वद्वतो वा यथा पयः ।

दुष्टं स्यात् स्थानदेविण ब्रृत्तिहीने तथा शुभम् ॥

सदाचारके अहिंसा, सत्यादि सामान्य पूर्वं कर्मयोग, ज्ञान और भक्तिमार्गके साधकोंके लिये कुछ भिन्न पूर्वं विशेष नियम हैं—गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका सावन-पथ है—शुद्धा भक्ति, जिसका मूल है—शरणागति। शरणागतिका अर्थ है—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत होना। शुद्धा-भक्तिके साधक वैष्णवके आचारसम्बन्धी जिन्हें भी नियम हैं, वे सब शरणागतिके लक्षण, उपलक्षण या उनके सामाविक परिणाम हैं। शरणागतिके द्वये लक्षण हैं—
(१) अनुकूल्यका संकल्प, (२) प्रतिकूल्का वर्जन,

(३) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) रक्षकस्वप्नमें भगवान्का वरण, (५) आत्म-समर्पण और (६) कार्यग्रीष्म (आर्तिजापन)।

रक्षित्यतीति विश्वासो गोत्तुन्वरणं तथा। आन्मनित्रेपकार्पण्ये पठविद्या शरणागतिः ॥

(४० च० ११। ४१३ द्वृत्यश्रीवैष्णवतन्त्रवचन)

वैष्णवाचारके बहुतसे नियम शरणागतिके प्रथम दो लक्षण 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्'—के परिणाम हैं। उनमें मुख्य हैं—असत्-सङ्कृत्याग, स्त्रीसङ्गीका संग-त्याग, कृष्णाभक्तका संग-त्याग और अकिञ्चनत्व, जिनका महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे इस प्रकार वर्णन किया है—

असत् संग-त्याग, एइ वैष्णव आचार ।

स्त्रीसंगी एक असाधु-कृष्णाभक्त आर ॥

अकिञ्चन हया लय कृष्णक शरण ॥

(च० च० २। २२। ४९-५०)

इनके अतिरिक्त कुछ और नियम हैं, जिनपर गौड़ीय, वैष्णव-सम्प्रदायमें विशेष बल दिया जाता है, वे हैं अमिमानका त्याग, सहिष्णुताका पालन, ज्ञान और वैराग्यके लिये स्वतन्त्रस्वप्नसे प्रयास न करना, अपरावोसे दूर रहना, वैष्णव-न्तोका पालन करना और वैष्णव-चिह्न धारण करना।

स्त्रीसङ्गीका त्याग—स्त्रीसङ्गीका अर्थ केवल परस्त्रीसङ्गी ही नहीं, अपनी स्त्रीमें आसक्ति भी होय है। महाप्रभुने कहा

भक्तिहीन अर्थात् 'अभिमानी कभी भक्त नहीं होता ।' भक्त स्वाभाविकरूपसे सभी जीवोंको अन्तर्यामीरूपमें भगवान्का अधिष्ठान जानकर उनका सम्मान करता है । यदि वह ऐसा नहीं करता तो भगवान्के प्रति अपराध करता है और इस वातको सिद्ध करता है कि वह पूर्णरूपसे भगवान्के शरणागत नहीं है । जीवका स्वाभाविक अभिमान है—श्रीकृष्णदासभिमान—पाञ्चमौतिक देहमें आत्मवुद्धिरूप धन-जन, रूप, कुल, विद्या आदि अभिमानके मूल है । इसलिये इनका त्याग आवश्यक है । इसे दूर करनेके लिये महाप्रभुका उपदेश है कि सावक अपने-आपको तृणसे भी तुच्छ जानकर और तरुके समान सहिष्णु होकर, स्वयं किसी प्रकारके सम्मानकी कामना न करते हुए और सभी जीवोंको सम्मान देते हुए निरन्तर हरिनामका कीर्तन करे—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिच सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥
(शिक्षाष्टक ३)

दूसरोका सम्मान करनेसे अपने अभिमानका नाश होता है । इसलिये चैतन्य भागवतमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और कुत्तेतकको सम्मानके साथ दण्डवत् करनेका उपदेश है (भागवत ११ तथा चै० भा० ३ । ३) । इतना ही नहीं, इसे वैष्णवताकी कसौटी माना गया है । जो ऐसा नहीं करता, उसे वैष्णवताका ढकोसला करनेवाला 'धर्मध्वजी' मात्र कहा गया है—

एइ से वैष्णवधर्म-सभारे प्रणति ।
सेइ धर्मध्वजी, जान इधे नाहि रनि ॥
(चै० भा० ३ । ३)

स्वयं महाप्रभु 'तृणादपि सुनीचेन' श्लोककी सजीव मूर्ति थे । सर्वमान्य और सर्वपूज्य होते हुए भी वे भक्तोंकी पद्धति लिया करते थे । सहिष्णु होना—वैष्णवको तरुके समान सहिष्णु होना चाहिये । वृक्षको यदि कोई काटे भी तो वह कुछ नहीं

कहता, चुपचाप सहन कर लेता है । उलटा काटने-वालोंको अपने पत्र-पुष्प-फलादि देनेमें संकोच नहीं वारता । सूर्यके नाप और वृष्टिके अभावमें सूखकर मर जाता है, तो भी किसीसे पानी नहीं मँगता और जो कोई इसकी छायामें बैठकर ताप-निवारण करना चाहता है, उसे आश्रय देकर उसकी रक्षा करता है, स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोका उपकार करता है । इसी प्रकार वैष्णव-सावकको चाहिये कि यदि कोई उसे कष्ट दे तो उसपर विना कुछ हुए यह जानकर सहन करे कि वह अपने ही कर्मका फल भोग रहा है और कष्ट देनेवालेमों केवल कर्म-फलका वाहक जानकर सामर्थ्यनुसार उसकी सेवा करे, शत्रु जानकर उसे अपनी सेवासे विनियत न करे । उसे चाहिये कि अपने किसी दुःखकी निवृत्तिके लिये किसीसे कुछ न कहे, दूसरोका दुःख दूर करनेके लिये अपनेको कष्ट भी उठाना पड़े तो कष्ट उठाकर उनका दुःख दूर करे ।

परम दयालु नित्यानन्द प्रभुने दुराचारी जगाई और मध्याईके उद्धारका संकल्प किया । वे मद-मस्त हस्तीकी तरह उच्च स्वरसे हरिनाम-कीर्तन करते हुए उनकी वस्तीमें जा पहुँचे । जगाई-मध्याई अपनी वस्तीमें एक अवधूत साधुके इस दुःसाहस्रको कब वरदास्त कर सकते थे । मध्याईने मटकी उठाकर नित्यानन्दप्रभुके सिरपर दे मारी । उनके सिरसे रक्त-धार बहने लगी । संवाद पाते ही महाप्रभु दौड़कर आये । प्राणाधिक नित्यानन्दके अङ्गमें रक्त देख उनके क्रोधकी सीमा न रही । वे 'चक्र-चक्र' कहवर पुकारने लगे । सुदर्शन-चक्र आकर उपस्थित हुआ, जगाई-मध्याई थर-थर कॉपने लगे । पर अकोध, परमानन्द नित्यानन्द प्रभुने महाप्रभुको स्थिर करते हुए उनसे जगाई और मध्याईके देहोंकी मिक्का मँगी । महाप्रभुने जगाईको और नित्यानन्द प्रभुने मध्याईको आलिङ्गनके साथ देव-दुर्लभ प्रेम-भक्ति प्रदान कर कृतार्थ किया ।

अपराधोंसे दूर रहना—अपराध और पापमें भेद है। पाप अनात्म-वस्तु देहको स्पर्श करता है, अपराध आत्माको स्पर्श करता है, और भजनकी प्रगतिमें वाधक होता है। अपराध चार प्रकारके हैं—भगवदपराध, सेवापराध, नामापराध और वैष्णवापराध।

भगवदपराध—इसका अर्थ है—भगवान्‌के प्रति अवज्ञा करना, उनके विग्रहको प्राकृत मानना, उनकी नरलीलामें उन्हें मनुष्य मानना इत्यादि।

सेवापराध—इसका अर्थ है—भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सेवाके सम्बन्धमें अपराध। सेवापराध हैं—भगवत्सम्बन्धी उत्सवोंमें योग-दान न करना, अशुचि-अवस्थामें वन्दना आदि करना, एक हाथसे प्रणाम करना, श्रीविग्रहको पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना, श्रीविग्रहके सामने सोना, पैर फैलाकर या जानु-वन्धन करके बैठना, भोजन करना, झूठ बोलना, उच्च स्वरसे बोलना, परस्पर आलाप करना, रोना, कलह करना, किसीके प्रति अनुग्रह या निग्रह करना, दूसरेकी निन्दा या स्तुति करना, अधोवायु त्याग करना, अन्य व्यक्तिका अभिवादन करना, कम्बल लपेटकर सेवा करना, पूजा करते समय मौन-भङ्ग करना या कोई भी ऐसा आचरण करना जिससे श्रीविग्रहके प्रति अश्रद्धा, अवज्ञा, मर्यादाका अभाव या प्रीतिका अभाव जान पड़े। (ह० वि० ८ | २०० | १६)

नामापराध—ये दस हैं:—(१) साधु-निन्दा, (२) विष्णु और शिवके नाम, रूप, लीलादिको भिन्न मानना, (३) गुरुदेवकी अवज्ञा करना, (४) वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना, (५) हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना करना, अर्थात् शास्त्रोंमें हरिनामकी शक्तिके प्रशंसासूचक वाक्योंको अतिशयोक्ति मानना, (६) नामके भरोसे पाप करना अर्थात् यह सोचकर

पाप-कार्यमें प्रवृत्त होना कि उसके पीछे नाम लेनेसे पापके फलसे मुक्ति मिल जायगी, (७) अन्य शुभ कर्मोंके फलको नामके फलके समान मानना, (८) नाम-श्रवण या नाम-ग्रहणमें अनवधानता या चेष्टान्यता अर्थात् किसी भी प्रकार नामकी उपेक्षा करना, (९) नाम-ग्रहणको प्राधान्य न देना और (१०) श्रद्धाहीन और विमुख व्यक्तियोंको जो उपदेश नहीं सुनते या उसे ग्रहण नहीं करते, उन्हें हरिनामका उपदेश करना।

वैष्णवापराध—इसका अर्थ है किसी वैष्णवकी निन्दा करना, उसके प्रति द्वेष रखना, उसपर क्रोध करना, उसका अभिनन्दन न करना, उसे देखकर हर्ष-प्रकाश न करना, उसमें जातिबुद्धि रखना या उसके प्रति किसी प्रकारका अपमानजनक व्यवहार करना। महाप्रभुने वैष्णवापराधको सबसे अधिक सांघातिक बताया है। उन्होंने कहा है कि वैष्णव-अपराध एक मत्त हस्तीकी तरह है जो भक्तिकी कोमल लताको क्षणभरमें उत्पाटित कर छिन्न-भिन्न कर देता है। *

वैष्णवव्रतपालन—वैष्णव-साधकको एकादशी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी वामन, नृसिंह आदि जयन्ति-व्रतोंका पालन अवश्य करना चाहिये।

वैष्णवचिह्नधारण—वैष्णवको माला-तिळकादि चिह्नोंको भी अवश्य धारण करना चाहिये। इनसे चित्तकी शुद्धि होती है और भक्तिभावका उद्दीपन होता है। जिस प्रकार सैनिककी वेश-भूषा धारण करनेसे वीरभाव जाग्रत् होता है और भिखारीका भेष बना लेनेसे दीनताका भाव जाग्रत् होता है, उसी प्रकार वैष्णव-चिह्न धारण करनेसे भक्तिभाव जाग्रत् होता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें वैष्णव-चिह्नोंके अपने-अपने विशेष माहात्म्यका उल्लेख है। तुलसीकी कण्ठी गलेमें धारण करनेके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि

जो तुलसीकाष्ठकी बनी हुई माला कपणे धारण करते हैं वे अपवित्र और आचारभृत होते हुए भी मुझे प्राप्त करते हैं । * 'यजुर्वेद'में कहा है कि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं । अतः विविके अनुसार शरीरके द्वादश अङ्गोंमें

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलककी रचनाद्वारा द्वादश भगवत्-खस्त्रोंको प्रतिष्ठित कर उनका ध्यान करना होता है, जिससे सावकमें इस भावकी स्थूर्ति होती है कि उसका प्रत्येक अङ्ग श्रीभगवान्का है और उसे भगवत्-सेवा-कार्यके अतिरिक्त और किसी कार्यमें नियोजित करना उचित नहीं है ।

श्री(रामानुज)-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेख ६—अनन्तश्रीजगद्गुरु गमानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डीसामीजी महाराज)

वैदिक सम्प्रदायोंमें श्रीसम्प्रदाय अन्यतम है । अनादिकालकी अविच्छिन्न परम्परासे प्रवर्तित श्रीनाथमुनि, यामुनमुनिप्रभृति महामनीपियोद्वारा सुरक्षित एवं भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यद्वारा संवर्धित श्रीसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त विश्वमें आदर्श एवं अनुकरणीय है । शास्त्र-पारंपत्यके चरम निष्कर्ष इस सिद्धान्तकी सदाचारपरम्परा वेदपाञ्चरात्रादि, आगम, इतिहास, पुराण एवं धर्मशास्त्रोपर आधृत है । 'ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ श्रौत सदाचारपरायणता ब्रह्मज्ञानियोंका निकप (कसौटी) है (मुण्ड० उ० ३ । १ । ४) । सदाचार परम धर्म है, आचारहीन मनुष्यके लोक एवं परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं । आचारहीन व्यक्तिके तपस्या, वेदाध्ययन, दक्षिणाग्रदान आदि सभी शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं । पड़ङ्क वेदध्यायी व्यक्ति भी यदि तदनुकूल आचरणसे युक्त नहीं है तो वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते । इधर मनुष्य सदाचारसे धर्म, धन और ऐश्वर्यको प्राप्त करता है, उसके सारे दुर्गुण स्वयं दूर हो जाते हैं । सभी शुभ लक्षणोंसे रहित मानव भी सदाचार-पालनके प्रभावसे सौ वर्षोंतक जीवित रहता है । इन सभी श्रौत-स्मार्त-

वचनोंका समादर करने तथा शाक्षानुमोदित सदाचारकी प्रधानता देनेके ही कारण श्रीसम्प्रदायको केवल आचार्य-सम्प्रदायके नामसे भी अभिहित किया जाता है ।

परमैकान्तिक प्रपञ्च श्रीवैष्णवोंकी अहोरात्रचर्याको आगमग्रन्थोंमें—१—अभिगमन, २—उपाडान, ३—इज्या, ४—स्वाध्याय एवं ५—योग—इन पाँच विभागोंमें विभक्त केर जीवन-यापन करनेका विधान किया गया है । अहोरात्रचर्याको इस प्रकार विभक्तकर कालक्षेप करनेवाले भगवतोंका जीवन यज्ञमय—भगवदुपासनामय बन जाता है (सर्वदर्श० ४ । २०—२२) ऐसे भगवतोंकी लौकिक-पारलौकिक सारी चेष्टाएँ भगवदाराधन एवं भगवन्मुखोल्लासार्थ होती हैं । भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यने अपने ग्रन्थोंमें श्रीवैष्णवोंके लिये पञ्चकालोपासनाका विवान करते हुए अभिगमनकालकी विस्तृत चर्चा की है । यहाँ अत्यन्त सक्षेपमें इन पाँचोंका परिचय दिया जा रहा है ।

१—अभिगमनकाल—प्रातःकाल ब्राह्मसुहृत्तमे उठकर नित्यकृत्यसे निवृत्त हो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवत्पूजनमें प्रवृत्त हो जाना ही 'अभिगमन-काल' है ।

* ह० भ० विं० ४ । १२५ वृत्त श्रीविष्णुधर्मोत्तरवचन ।

१—आचारः परमो धर्मः सर्वेषामपि निश्चयः । हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति ॥

नैन तपासि नो ब्रह्म नामिनहोत्र न दक्षिणाः । हीनाचारमितो ऋषः तारयन्ति कश्चन ॥

(वसिष्ठस्मृति ६ । १-२)

ब्राह्ममुहूर्तमे उठकर 'स्वयं भगवान्' ही अपने भोगभूत मुक्ति सेवकद्वारा विविध पूजनोपचारोंमें अपनी प्रगतिता-हेतु पार्पणोंसहित अपनी पूजाका उपक्रम कर रहे हैं, इस प्रकारकी भावनामें भावित श्रीवैष्णव निष्ठकृत्य-सम्पादन-हेतु पवित्र नटीकं तटपर जाकर हरत-गादादि प्रक्षालनकर मूल मन्त्रोच्चारण करके मृत्तिका आदिका उपादान करे, फिर तत्त्व मन्त्रोंकं उच्चारणपूर्वक उसका तत्त्व अङ्गोंमें लेप करके मन्त्रिधि स्नान करे। उसका पश्चात् अर्ध प्रदानकर, पुनः भगवान्‌कं चरणारविन्दु-का ध्यान करते हुए मूल-मन्त्रका जप करे और तीर्थमें बाहर निकल बढ़ादि वारणवर तिलक लगा करके वैष्णव-विधिसे संध्योपासन करे। इसके पश्चात् भगवान्, उनके पार्पणों एवं भगवदात्मक पितरोंका सम्पूर्ण तर्पण करे। तत्पश्चात् पूजन-स्थलमें जाकर भूत-शुद्धि करके गुरुपरम्पराका अनुमंथान करते हुए भगवान्‌का ही प्राप्य-प्रापक अनिष्ट-निवारक एवं इष्ट प्रापकरूपमें ध्यानकर भगवदाराधन प्रारम्भ करे। सर्वप्रथम विगिन्न न्यासोंका आचरण कर, प्राणायाम करे, तदनन्तर वस्तु-शुद्धिपूर्वक भगवदर्चना करे।

२-उपादानकाल—भगवदारावतरूप अभिगमन-कालके पश्चात् इस कालका प्रारम्भ होता है। इस कालमें श्रीवैष्णवजन भगवदाराधन-हेतु न्यायार्जित वृत्तिसे वस्तुओंका अर्जनकर भोग-रागकी व्यवस्था करते हैं। वे आत्मोपभोगार्थ पाकादिका निर्माण न कर, भगवान्‌की अर्चनाके ही लिये सात्त्विकान्नके द्वारा पाकादिका निर्माण करते हैं।

३-इज्याकाल—स्वहस्तनिर्मित पवित्र पाक भगवान्-को निर्वेदित करनेके बाद, भगवत्प्रसादको भगवदात्मक अपने सभी उपजीवियोंमें समानरूपसे वितरित कर तदीयाराधन सम्पादित करके स्वयं 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विष्यैः'की प्रक्रियाके अनुसार

भगवप्रभाद् भेदनप्राप्तिको 'इज्याकाल' कहते हैं। हमारे परिवारके मदम्य जिनके मंशाणका भार भारत उभर है, वे भी भगवप्रदत्त धरोहरकी वस्तु हैं—तम वृद्धिमें पश्चिमाका पालन भी भागपूजनरूप दोनोंके कारण इज्यारूप होते हैं।

४-स्वाध्यायकाल—गायप्रसाद-जैवनके पश्चात् कुछ समयतक ऐसे मन्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, जिसमें गन नंसार्गी आगमे सद्गुर आसन्निका व्याप कर गगवदागवत एवं आनन्दस्त्री श्वेतर्यगायत्रीतार्गी ओर प्रवृत्त हो। निष्ठूरियांदाग गंडित दिव्य प्रबन्धों, पूर्वानायोद्धार ग्रनीत गद्यवन्धों, दक्षिणाम् उपनिषदों आदिका अध्ययन खाल्यायं, अन्यर्गत है। श्रीपरातृश नृप्रणीति 'मन्त्रगीति'के अर्थ इन भावका गामीर्य उत्कर्षकी चरम नीमाओं दूतेशब्द है। उनसे उसका भी अध्ययन स्वाध्यायरूप होता है।

५-योगकाल—उम कालका नाम है, जिस समय श्रीवैष्णववृन्द सारे शृण्योंको भमासकर भगवान्‌के चरणारविन्दोंका ध्यान करते हुए नार्दीकी अनन्त गहराईमें अपनेको कुछ कालके लिये छोन घर देने हैं। अतःव इस कालका नाम योग-काल है। श्रीसम्प्राय प्रत्येक कर्म सदाचारकी प्रायगिता देना है। भक्तिके सप्तसोपानोंकी चर्चा करते हुए 'श्रीगीष्म'के लघु सिद्धान्तमें वडे आदरके साथ वाक्यकार उपवर्चिचार (वोधायन) की पहियोंको उद्धृत करते हैं। 'वाक्यकार' भी 'विवेक' आदिके ही द्वारा भूवासुसृतिरूप भक्तिकी निष्पत्ति वतलाते हुए कहते हैं। भक्तिकी उपलब्धि (१) विवेक, (२) विसेक, (३) अभ्यास, (४) क्रिया, (५) वल्याण, (६) अनवसाद और (७) अनुद्रष्टकं द्वारा होती है। (द्र० सर्वदर्श० सं० ४। २१ तथा इस अङ्कके पृष्ठ १६९-७२)

ये सभी साधन यथापि उपासनारूप ही हैं, किंतु इनमें सदाचारकी दृष्टिसे विवेक एवं क्रियाका स्थान

अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'छान्दोग्योपनिषद्' की भूमाविद्या-प्रकरणमें आचार्य सनकुमार मन्त्रज्ञ देवर्षि नारदको उपदेश देते हैं कि ध्रुवास्मृतिरूपी भक्तिकी प्राप्ति आहार-शुद्धिपर निर्भर करती है। आहारकी शुद्धिद्वारा सत्त्वकी शुद्धि होती है और उसके पश्चात् ध्रुवास्मृतिकी प्राप्ति होती है। भक्तिके सावनसमकका विवेक भी आहारकी शुद्धिपर ही बल देता है। अन्मे तीन तरहके दोप होते हैं—१—जातिदोप, २—आश्रयदोप और ३—निमित्त-दोप। इन तीनों दोपोंसे रहित भगवन्निवेदितान्नाहारसे शरीरकी शुद्धिको 'विवेक' कहते हैं।

ऐसे खाद्य पदार्थ जिनके सेवनसे तमोगुणका उद्रेक होता है—जैसे कलज्ञ, गृज्ञन, लहसुन, प्याज, मांस आदि शाखोंमें ऐसे खाद्य पदार्थोंको त्याज्य बतलाया गया है। ये खाद्य पदार्थ जाति-दुष्ट माने जाते हैं। अभिशस्त, पतित आदिके गृहका अन्न आश्रयदोषसे दूषित माना गया है। अन्नका किसी कारणवश जैसे भोजनमें मक्खी, बाल आदि पड़ जानेके कारण सात्त्विक

अन्नसे निर्मित पाक भी निमित्त-दोपसे दूषित माना जाता है। इन तीनों प्रकारके भोजनको न ग्रहण करना ही 'विवेक' कहलाता है। यह भक्तिका प्रथम सोपान है। भक्तिका चतुर्थ सोपान 'क्रिया' भी अपनी शक्तिके अनुसार पञ्चमज्ञायज्ञोंके अनुग्रानरूप ही है।

भगवान् रामानुजाचार्यने खयं जब एक सौ वीस वर्षकी आयु व्यतीत कर ली और परधामगमनका समय आ गया तो उनका शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया, पर उस समय भी अपने शिष्योंके सहारे कावेरीतक जाकर आपने सायंकालिक सूर्यार्थ्य प्रदान किया और शिष्योंके पूछनेपर बतलाया था कि जीवनमें शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कृत्योंका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जीवनमें सदाचारकी शिक्षाकी प्रधानता देनेके हेतु श्रीसम्प्रदायके मान्य प्रतिष्ठानोंमें आज भी अनुदिन भगवान्‌के सामने तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शीक्षावल्लीका सखर पाठ किया जाता है। इस प्रकार 'श्रीसम्प्रदाय'में सदाचारको अत्यन्त उच्चस्थान प्राप्त है।

आचरणरहित शास्त्रज्ञान—शिल्पमात्र

व्याच्छ्वेयः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानवन्धुः स उच्यते ॥
कर्मस्पन्देषु नो वोधः फलितो यस्य दश्यते ।
वोधशिल्पोपजीवित्वाज्ञानवन्धुः स उच्यते ॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टः शास्त्रफलानि ये ।
जानन्ति ज्ञानवन्धूस्तान् विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पनः ॥
(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण, उत्तरार्द्ध २१ । ३-५)

'जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकला सीखता है, वैसे ही जो मनुष्य केवल भोग-प्राप्तिके लिये ही शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, खयं शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं करता (सदाचारी नहीं बनता), वह ज्ञानवन्धु कहलाता है। जो वस्त्र-भोजनसे ही तुष्ट हैं—जिन्हे शास्त्र-फल वैराग्य-विवेक नहीं हुआ, वे ज्ञानवन्धु हैं और उनका वह शास्त्रज्ञान शिल्पमात्र है।'

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरगदेवाचार्यजो महाराज)

यदि मानवके जीवनमें सदाचार न हो तो उसका जीवन पशुतुल्य ही है। केवल मानव-शरीर प्राप्त कर लेना ही इत्यलम् नहीं। जबतक मानवका सम्प्र जीवन वेदपुराणादि शास्त्र-प्रतिपादित सदाचारसे संबलित न होगा, वह एकमात्र केवल मानवाभासरूप ही रहेगा। सदाचार ही मानवका महनीय भूपण है, सर्वस्थ सम्पत्ति है और वही मानवताकी आधारभित्ति एवं उत्तमोत्तम ऊर्ध्वलोक-प्राप्तिकी मूल सरणि है अय च श्रीभगवत्प्राप्तिमें भी वह अत्यावश्यक पालनीय कर्तव्य है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि शास्त्रोंमें सदाचारपर सर्वाधिक वल दिया गया है, वह निम्नाङ्कित वचनसे स्पष्ट है—

आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रुत्यमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

(महाभा० अनुशासनपर्व)

'सदाचारके परिपालनसे धर्मकी अभिवृद्धि तथा उपलब्धि होती है। सदाचारसे यशकी संप्राप्ति एवं त्यज्य अवगुणोंका विनाश होता है।' महाभारतके ही 'दानधर्ममें सदाचारका वर्णन करते हुए उसके महत्वका निर्दर्शन कराया गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुपः प्रेत्य चेह च ॥

सदाचारसे आयु और लक्ष्मीकी उपलब्धि तथा यश मिलता है, और स्वर्गादि लोकोकी प्राप्ति होती है, जिससे यह मानव परमानन्दकी दिव्यानुभूति करता है। श्रुति-स्मृति आदि सभी शास्त्रों एवं ऋषि-मुनीश्वरोंका यह विनिश्चय है कि आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इसका पालन परमावश्यक है। सदाचार पालन करने-वाला व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है। सदाचार-सेवनसे प्रजाकी उपलब्धि होती है। सदाचारसे अक्षय थन मिलता है। इस भाँति सदाचारकी अनन्त महिमा है। सदाचारसे सर्व, सुख और मोक्ष भी मिलता है।

सदाचारसे क्या नहीं प्राप्त होता, अर्थात् सभी कुछ सहज हो जाता है। सर्वगुणोंसे रहित मानव यदि सदाचारसम्पन्न हो तो वह श्रद्धायुक्त एवं निष्पातक रहता हुआ शतवर्षपर्यन्त जीवित रहता है।—'धर्मात् प्रमादितव्यमाचाराद्य प्रमादितव्यम्' श्रुति-वचन भी यही आदेश करते हैं कि इत्यादि धर्मपालन एवं सदाचार-सेवनमें प्रमाद (आलस्य) कदापि न करे। सदाचारके अनुसेवनके लिये शास्त्रोंमें अतिशय वल दिया है। सदाचारहीन पुरुप कभी भी श्रेय-प्राप्ति नहीं कर सकता—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' सदाचार-विवर्जित मानवको वेद भी पवित्र नहीं करते। वस्तुतः आचारहीन मानव उभयत्र विविध क्लेशोंका अनुभव करता है और सर्वत्र अनादरणीय रहता है। ऋषि-मुनिजनोंके, आचारनिष्ठ धर्मविद् धर्मचार्योंके तथा तत्त्वज्ञ मनीषियोंके कल्याणमय दिव्य वचनोंसे सुस्पष्ट है कि सदाचारका सर्वदा आचरण करना चाहिये।

वेदादिशास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचारकी सर्वाधिक मुख्यता है। वैष्णव संस्कारोंमें सर्वप्रथम सदाचारकी ही अपेक्षा रहती है। विना सदाचार-पालनके शिष्योंको वैष्णव संस्कार ही नहीं प्रदान कराये जाते। श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् ने 'सदाचारप्रकाश' नामक एक वृहद्ग्रन्थका प्रणयन किया है, जिसका वर्णन निम्बार्कसम्प्रदायके तत्परवर्ती पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंमें है, परंतु कालप्रभावसे आज वह दिव्य ग्रन्थ विलुप्त है। श्रीनिम्बार्कभगवान् कृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य-प्रोडशी' एवं 'प्रपन्न-सुरतरु-मञ्जरी' आदि ग्रन्थोंमें मन्त्र-दानके अधिकारी-क्रममें सदाचार-पालनपर विवेचन किया है। इसी प्रकार भगवान् श्रीनिम्बार्कने 'प्रह्लादसूत्र'के 'आद्विहोत्रादि तु तत्कार्ययैव तदर्थनात्' (४ । १ । १६)—इस सूत्रके 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' नामक भाष्यमें लिखा है—

‘विद्ययाश्विहोव्रदानतपआदीनां स्वाथ्रम्-
कर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठे-
यान्वेषे । यज्ञादिश्वतौ तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात् ।’

इसी प्रकार ‘ब्रह्मसूत्र’के ‘आचारदर्शनात्’ (३।४।३) इस सूत्रके ‘वेदान्त-पारिजात-सौरभ’ भाष्यमें श्रीनिम्बार्क भगवान्ने एव ‘वेदान्तकौस्तुभ’ भाष्यमें श्रीनिम्बार्क भगवान्के प्रमुख शिष्य पाञ्चजन्य शङ्खावतार तत्पीठाधिरूढ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने सदाचार-पालनका विशाड उपदेश किया है—

‘वेदान्त-पारिजात-सौरभ’ भाष्यमें—‘जनकोऽहं वैदेहो
वहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे’ इत्यादि श्रुतिभ्यो जनकादीना-
माचारदर्शनात् । तथा ‘वेदान्तकौस्तुभ’ भाष्यके—

‘नेनरोऽनुपपत्तेः’, ‘भेदव्यपदेशाच्च’, ‘अनुपपत्तेश्च न
शारीर’ इत्यादि सूत्रोंके आधारपर ‘नित्योनित्यानां चेतन-
शेतनानामेको वहनां यो विद्यापाति कामान्’, ‘शाङ्कौ
द्वावजावीशानीशौ’, ‘प्रधानक्षेत्रक्षपतिर्गुणेशः’ इत्यादि
उभय भाष्योंके उद्धरणसे सम्यक्तीत्या परिलक्षित है कि
श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचारपर कितना अधिक वल
दिया जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक
प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थोंमें सदाचारको परमावश्यक परि-
पालनीय कर्तव्य माना गया है । वस्तुतः सदाचार सम्पन्न
मानव अत्र परत्र एवं सर्वत्र सुख-समृद्धिका अनुभव करता
है । उसका सर्वत्र समादर है, वह सभीका श्रद्धाभाजन
अर्चनीय एवं अभिवन्दनीय हो जाता है । अतः समग्र सदाचार
नितान्त संसेवनीय आचरणीय और असुरकरणीय है ।

सदाचारसप्तक

(रचयिता—श्रीभवदेवजी ज्ञा, एम.० ए०, शास्त्री)

(१)

सदाचार आधार संस्कृति-सुगतिका,
यही राष्ट्र-जीवन समुद्रत वनाता,
यही विश्व-वन्धुत्वकी भावना भर,
विविध लोक-चैमत्य सत्वर मिटाता ।

(२)

सदाचार सद्बुद्धि-संशुद्धि-दाता,
पथभ्रष्टजनको सुपथमें लगाता,
पतन-शील-कर्त्तव्यदिङ्मूढको भी,
प्रगतिदायि सन्मार्गको है दिखाता ।

(३)

सदाचार है, शान्तिका ढार अनुपम,
यही कीर्ति अक्षय सभीको दिलाता,
यही धर्मका सार सन्मार्ग-सम्बल,
सुधावार जो मानवोंको पिलाता ।

(४)

सदाचार सद्वीजके ही सहारे,
सकल ज्ञान-विज्ञान जगमें सुरक्षित,
सदाचार ही नीव है साधनाकी,
उसीपर टिकी सिद्धियाँ शक्ति-मणित ।

(५)

सदाचार वह तत्त्व सद्भाव-पोषक,
है, जिसके विना शून्य जीवन सभीका,
सदाचार सुखमूल है, वह सलोना,
है, जिसके विना विश्वव्यापार फीका ।

(६)

सदाचार वह तार-सप्तक है जिसके—
विना है, विफल भारनी दिव्य वाणी,
सदाचार ही प्राण वह सम्बलाका,
है, जिसके विना चन्द्र-सम विना प्राणी ।

(७)

सदाचार वह सूत्र, जो मजहबोंको—
निखिल विश्वके, एकतामें पिरोता,
यही वह महा अख जो घैरियोंको,
झुकाकर सहज प्यारमें है, भिगोता ।

वल्लभ-सम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—पं० श्रीधर्मनारायणजी ओळा)

वैष्णवधर्मके मूलाधार, परमहंसोंकी संहिता अध्यायमें धर्मराज युधिष्ठिरने परम वैष्णवाचार्य देवर्पि नारदसे सदाचारकी जिज्ञासा की है; जिसके उत्तरमें देवर्पिने कहा है कि ‘युधिष्ठिर ! सर्ववेदस्तरूप भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्पियोंकी स्मृतियाँ और जिनसे आत्मग्लानि न होकर आत्म-प्रसाद उपलब्ध हो, वे कर्म धर्मके मूल हैं ।’ तदनन्तर परमभगवदीय श्रीनारदजी धर्मके सत्य, दया, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, संतोष, सेवा और भोग-त्यागादि तीस लक्षण बताते हैं (श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८-१२), जिन्हें किसी-न-किसी प्रकारसे समस्त धर्मावलम्बी निर्वाधरूपसे स्वीकार करते हैं । वैष्णवाचार्योंने श्रीमद्भागवतमहापुराण-को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान की है और साधनत्रय (कर्म, ज्ञान एवं भक्ति)में भक्तिको ही परम पुरुषार्थ प्राप्त्यर्थ मुख्य मानते हुए आचरणकी शुद्धतापर ही अधिक वल दिया है । अन्तिम वैष्णवाचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने तो व्यवहारपक्ष अर्थात् सदाचारपर ही अधिक वल दिया है । उनका आचार ही सदाचाररूपमें गृहीत है ।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने पुष्टि-भक्ति-भावनाकी तीन कोटियाँ निर्वाहित की हैं—(१) प्रेम या अनुराग, (२) आसक्ति एवं (३) व्यसनभाव । नारदोक्त सदाचार धर्मके तीस लक्षणोंको इन तीन कोटियोंकी साधनामें परम साधनरूपसे ग्रहण करना पड़ता है । प्रथम कोटिमें वे लक्षण हैं, जो अज्ञानसे आवेषित जीवोंके दुष्ट स्वभावको मिटाकर अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं । ऐसा शुद्धान्तःकरणवाला जीव ही

भगवच्चरणानुरागी बनता है । धर्मके या सदाचारके इन लक्षणोंमें सत्य, दया, शौच, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, सरलता, स्वाध्याय, तपस्या, संतोष, समदर्शी एवं संत-सेवा है । इन लक्षणोंको जीवनके व्यवहार-क्षेत्रमें धारण करनेसे प्रभुकी ओर अनुराग बढ़ता है । अनुरागकी दृढ़ताके उपरान्त आसक्ति उत्पन्न होती है । इस हेतु सदाचार-धर्मके वे लक्षण आते हैं, जिनका नामतः उल्लेख देवर्पिने इस प्रकार किया है—अपने इष्टदेवके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा आदि-आदि । इन लक्षणोंको धारण करनेसे शुद्ध अन्तःकरणवाले जीवमें प्रभुके प्रति आसक्ति दृढ़ होती है । सदाचार-धर्मके अन्तिम तीन लक्षण अर्थात् प्रभुके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण भक्तको आसक्तिभावकी प्राप्ति कराते हैं । इस भावकी सिद्धिका लक्षण है—भक्त एवं भगवान्-में तैलवारावत् ऐक्य । महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने अपने सारगर्भित पोडशा ग्रन्थोंमें सूत्ररूपमें स्वसिद्धान्तोंका निरूपण किया है । इनके अनुसार भगवक्षपासे स्वभावविजय नामक शूरता या सफलता मिलती है । ‘स्वभावविजय’का सीधा अर्थ सदाचारी बननेसे है । जीव अपने दुष्ट स्वभाव अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोम, मोह, ईर्ष्या-मत्सरादिपर विजय प्राप्तकर सदाचारी बन जाता है । वल्लभाचार्यजीका प्रथम ग्रन्थ ‘यमुनाष्टक’ तथा द्वितीय ग्रन्थ ‘वाल्मीकी’ है । इस द्वितीय ग्रन्थमें वल्लभाचार्यजीने अहंता-ममताके परित्यागपर वल दिया है । साधन-भागमें अहंता-ममताका त्याग परमावश्यक है । इनके परित्यागसे जीव स्वस्तरूपमें स्थित हो जाता है^३ । अहंता-ममताका परित्याग करनेके लिये श्रीमद्भागवतशास्त्रका श्रवण

^३-अहंताममतानाशे सर्वथा निरहंकृता । स्वरूपस्यो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥

करना एवं आदि पद्से कीर्तनादि नवधोमक्ति करनी चाहिये । इससे भगवदाश्रय एवं भगवदीयत्वकी सिद्धि होती है^२ । भगवदीयत्व एवं दृढ़ाश्रयके उपरान्त भक्तका चित्त प्रभु-सेवामें लग जाता है और तब वैष्णवके सारे कार्य प्रभु-सेवार्थ ही होते हैं । ऐसे वैष्णवके सारे कार्य सदाचारकी चरम सीमा ही होते हैं । महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने अपने तृतीय ग्रन्थ 'सिद्धान्तसुक्तावली'में इसपर बड़ा बल दिया है । 'विवेकवैर्याश्रय'में आचार्य श्रीवल्लभने सदाचारपर बल देते हुए कहा है कि 'वैष्णवको सर्वप्रथम अभिमानका परित्याग करना पड़ता है । ठीक उसी प्रकार वैष्णवोंको दुराग्रह एवं अवस्मका भी परित्याग कर देना चाहिये । मन, वचन और कार्मसे इन्द्रियोंके विपर्योका भी परित्याग करना भी वैष्णवोंका परम कर्तव्य है^३ । इन त्यागोंसे सदाचारकी जड़ दृढ़तर होती है । आचरणका गहरा सम्बन्ध हमारे खानपान एवं संसर्गसे होता है । वल्लभ-सम्प्रदायमें इन दोनोंपर बड़ा ध्यान दिया जाता है । इस सम्प्रदायमें असमर्पित वस्तुओंके सर्वथा परित्यागपर अविक बल दिया जाता है^४ । ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षोपरान्त आज भी वैष्णव पुत्र-कल्पादिकी भी निवेदित वस्तुओंका परित्याग कर देते हैं ।'

वल्लभसम्प्रदायमें गोखामी विट्ठलनाथजीके चतुर्थ पुत्रमाला तिळकके पोपक गोखामी श्रीगोकुलनाथजीरचित वार्तासाहित्य एवं वचनामृत-साहित्यका भी विशिष्ट महत्त्व रहा है । एक सौ चौरासी एवं दो सौ वावन वैष्णवोंकी वार्ताओंमें विविध प्रकारसे सदाचारपर बल दिया गया है । गोखामी श्रीगोकुलनाथजीने अपने वचनामृतोंमें स्पष्ट

आदेश देते हुए कहा है, कि 'वैष्णवको प्राणी मात्रपर दया राखनी, जो कुजर ते चीटी पर्यन्त सबमें एक ही जीव जाननो, और प्रभु, प्रतिविम्ब न्यारे-न्यारे दीसत हैं, यह जानके भगवदीय हिंसा ते अत्यन्त उपरत रहनो काहुको हृदय कल्पावनो नहीं ।'

'अर्थात् परोपकार, अहिंसा, दयाभाव आदि वैष्णवके लिये आवश्यक है । अपने तीसरे और चौथे वचनामृतमें श्रीगोकुलनाथजीने सदा प्रसन्नचित्त रहने, धनादिकका सदूचिनियोग करने, अभिमानके परित्याग, धेय धारण करने, क्रोधका सर्वथा परित्याग करने, संतोषी, सरल, सत्य एवं मृदुभाषी होनेका आदेश दिया है^५ । अपने सातवें वचनामृतमें गोकुलनाथजी कहते हैं, "जो वैष्णव होयके काहुको अपराध न देखे……… दुष्ट झूठी सांची लगाय ईर्ष्या करे । कोई सो खोटो काम करे, अपराव करे तोहु वाको भूलि जाय, वाको प्रसन्न करिके संकोच छुड़ावनो ।…….. जो कोई निंदा करे, दुर्वचन कहे ताको उत्तर न देनो, सब सहन करनो, अपनेमें दोप जानि उनसो क्रोध न करनो…….. जो वैष्णवको मिथ्या भाषण सर्वथा नहीं करनो क्योंकि झूठ वरावर पाप नहीं है । (वही पृ० ४७)

इसके आचार्योंके अनुसार ज्ञानमार्गमें साधन-पक्षमें कष्ट एवं त्याग दृढ़ होनेपर उद्धार होता है । परंतु पष्टिमार्गमें सदाचार, दृढ़ाश्रय एवं प्रभु-सेवासे ही गृहस्थीका उद्धार हो जाता है (पृ० ५५) । वल्लभ-सम्प्रदायके अन्य आचार्योंने भी इन लक्षणोंपर अपने साहित्यमें वरावर बल दिया है । प्रभुचरण गोखामी

२—श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वकार्यं हि सिद्ध्यति ॥ (वाल्मीकी १६)

३—समर्पणेनात्मनो हितदायत्वं भवेद् ध्रुवम् ॥ (वाल्मीकी १८)

४—अभिमानश्च सत्याज्यः । (विवेकवैर्याश्रय ३)

आपदगत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा । अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्मावर्माग्रदर्ढनम् ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाड्मनसा त्यजेत् । (विवेकवैर्याश्रय ४, ५-८)

५—असमर्पित वस्तुनां तस्माद् वर्जनमोचरेत् । (सिद्धान्त-रहस्य, श्लोक ४)

६—श्रीगोकुलनाथजीके २४ वचनामृत, सम्पादक-पं० निरञ्जनदेव शर्मा, मथुरा ।

श्रीहरियजी द्वारा अपने लघु भ्राता गोवारी श्रीगोपेश्वरजीको शिक्षा प्रदान करने हेतु निर्भित ‘शिक्षापत्रो’का भी बछुमसभ्रदायमें बड़ा सम्मान है। इसके अनुसार सदाचारका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना ही है। हमारी ‘आचारसंहिताएँ’ सत्कार्य एवं असत्कार्यका बोध कराकर पापमृष्टी विप्रफलमें हमें सावधान करती है। प्राणिमात्रमें एक ही चेतन ‘आत्मा’का थंडा है। अतः जिस कार्यमें समाजके

विसी व्यक्तिको हानि पहुँचती है, उसे नहीं करना चाहिये। हमारे तत्त्वचिन्तनमें इसीलिये स्पष्ट जाय है—

अष्टादशपुण्यापु व्याख्या वचनदयम् ।
पर्गोपकारः पुण्याय पापाय पर्गोपनम् ॥

बन्दूममध्रदायमें इन तत्त्वोपर महत वर लिया जाता है। अन्य वैदिकममध्रदायमें जग्मन दी बन्दूम-सध्रदायमें भी सदाचार मेस्त्रण्ड मदद है।

श्रीरामानन्दसभ्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—प० श्रीअववकियांसदाचारी वैदिक पंगनिनि)

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी एक महान् लोक-विलङ्घण महापुरुष थे। उनका सर्ववर्मन्यमभाव तथा अपने इष्टदेवमें अनन्य निष्ठा देखते ही बनती थी। उन्होंने वैदिक परम्पराका पूर्णतया पालन करते हुए भी पतितोके उद्गमकी मरपूर चेष्टा की? आपने अपने ‘श्रीवैष्णवमतावजभास्कर’ ग्रन्थमें सदाचारके जो मिद्दान्त प्रतिपादित किये हैं, वे वेदे ही भावपूर्ण एवं उच्चकोटिके आदर्श हैं। इन लघु लेखमें उन्होंका यत्किञ्चित् उल्लेखकर आचार्यके उच्चवक्त सिद्धान्तोंका डिग्डर्जन किया जा रहा है।

सदाचार-सरक्षणके मूलावार ‘तत्त्वत्रय’ तथा ‘अर्थ-पञ्चक’का ज्ञान अवद्य प्राप्त करना चाहिये। इश्वर-स्वरूप, नीतिवस्त्रहृष्ट तथा मायाके यथार्थ स्वरूपको जानना ही ‘तत्त्वत्रय’ है तथा प्राप्त ग्रन्थप्रापक स्वरूप, उपाय स्वरूप, विरोधी स्वरूप तथा फलवस्त्रहृष्टका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ‘अर्थपञ्चक’ कहलाता है। इनका ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य दुराचारका त्याग कर सकतः सदाचारपरायण हो जाता है। इसके लिये अर्थज्ञानपूर्वक श्रीरामनन्दका श्रद्धा-प्रेमसहित नियमपूर्वक जप करना चाहिये और मन्त्रेकनिष्ठ आचार्यकी अनुकूल्यमें ही मन्त्र तथा मन्त्रार्थका रहस्य प्राप्त करना चाहिये। यही वैदिक परम्परागत सदाचारका मूल है।

सदाचारका यथार्थः इन सम्बन्धे सदाचारी मन्त्र तथा सहृदक श्रीचरणोंकी निया मन्त्रदूष करनेमें ही वृद्धयास हो सकता है। सदाचारपरायण मात्स्विक मन्त्रोदारा अपार श्रद्धापूर्वक सादर मन्त्र-पूर्णीय निरद, मात्र, भगवद्वायुधोकी छाप, भगवत्सुम्बन्धी पवित्र नाम भाग वरते हुए मन्त्रराजका अनुग्रह करनेमें निःसंदेह मोक्षकी प्राप्ति होती है। इन पञ्चसंस्कारोंमें अन्यन्त श्रद्धा रहना संतोका सदाचार है। इनकी अवहेलना कभी न करनी चाहिये। एकादशी, श्रीरामनवमी, श्रीजानकीनवमी, श्रीकृष्णाष्टमी, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीवामनद्वादशी, श्रीहनुमान्-जयन्ती आदिका वैदिकत वर करना तथा सामयिक उत्सवोंको नप्रेमस्वयिधि उत्सुक्ष्म करते रहना चाहिये। इसमें अलम्य अथवा प्रमाद कभी न करना चाहिये। ऐसा करनेसे अनादिकालसे कर्मप्रवाहमें इवते जीवोपर भगवान्की कृपा अवद्य ही होती है।

नववाभक्ति तथा शरणागति भगवान्यकी अद्वितीय कृपा-की समुद्र लहरानेमें समर्प्य है, इसलिये प्रभुके शरण जाना सदाचारका सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। सदाचार प्रभुके सानुकूल है, दुराचार प्रभुसे प्रतिकूल है, इसलिये शरणागतोंको सदाचारका पालन करना तथा दुराचारका परिवार अवद्य ही करना चाहिये। उक्ष्य वर्गवाले श्रीवैष्णवोंके

प्रति निकृष्ट वर्णवालोको सादर श्रद्धाभाव तथा निकृष्ट वर्णवालोके प्रति उत्कृष्ट वर्णवालोंका सप्रेम दयाभाव रखना, यह परस्पर सङ्घावना बढानेवाले सदाचारका शास्त्रीय सार है।

अहिंसा धर्म सभी धर्मोमें श्रेष्ठ है। हिंसा करनेवाला प्राणिमात्रमें विराजमान प्रभुका धातक है। इसलिये कभी भी किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। बिना हिंसाके मांस नहीं मिलता है। इसलिये मांस, मछली-मदिरा तथा व्यभिचारादि हिंसकभाव बढानेवाले तत्त्वोंका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। सभी सत्कर्म भगवत्-समर्पणकी भावनासे ही करने चाहिये तथा भोजनादिक भी भगवन्निवेदित ही करना चाहिये। अचर्चितार-मन्दिरोमें विराजमान भगवान्‌के दिव्य विग्रहोंका दर्शन-पूजन नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये।

आरती-स्तुतिमें पूर्ण भक्ति-भावना-प्रेम रखना चाहिये तथा निःस्कोच सादृश्य प्रणामकर श्रीचरणोदक प्रसाद लेना चाहिये। यह भक्तोका सदाचार सदैव पालन करना चाहिये। भगवत्सेवाके वर्तीस अपराध तथा नाम-संकीर्तनके दस अपराधोंसे सदैव ब्रचकर सेवा तथा सकीर्तनका रसपान करना रनेही सतोका सदाचार है, इसका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये। सभी वर्ण तथा आश्रमवालोको वेदोक्त वर्णश्रिमधर्मका पालन करते हुए, भगवान्‌की शरणागति अवश्य ही प्रहण करनी चाहिये। इससे अनादि कर्मबन्धन कट जाता है। देहाभिमान नष्ट होता है तथा भगवत्कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेका अभिकारी बन जाता है। भगवान्‌का, श्रीसद्गुरुदेवका तथा सत-भक्तोका चरणोदक पान करनेसे कोटिजन्मार्जित पाप नष्ट होकर भगवत्कृपाका उदय होता है। भगवान्‌के भक्तोको साधारण अथवा अपनेसे नीचा कभी न मानना चाहिये। भगवान्‌के दिव्यधाम श्रीअयोध्या, वृन्दावन, चित्रकूट, जनकपुर तथा हरिद्वारादि तीर्थोंमें निवास करनेका सदा आग्रह रखना चाहिये, ऐसा अवसर न मिलनेपर

अपने गौंव अथवा धर्मे ही भगवान्‌को पधराकर तीर्थ-स्थलप्र ग्रदान कर भावनापूर्वक उसमें ही निवास बरना चाहिये।

त्रिकाल सत्यावन्दन-पूजा, आरती, श्रीमद्रामायण तथा श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ, वेदोपनिषदोंका श्रवण-मनन सदैव करना चाहिये, स्त्रयं जा सके तो जहाँ ये सब लाभ अनायास मिल सकें, वहाँ जाकर भजन-कीर्तन, कथा-श्रवणमें मन लगाना चाहिये। भगवान्‌की छोटी-से-छोटी सेवा तथा भावत्-भागवत्-कैद्वर्य वड़ी निष्ठासे अहंकार त्यागकर बरना चाहिये। अपने इष्टदेवमें अनुपम श्रद्धा रखते हुए भी अन्य देवोका अपमान-द्वेष स्वभावमें भी न करना चाहिये। गृहस्थोंको माता-पिताकी सेवा तथा सात्त्विक धन उपार्जन कर धर्मे ही परिवार-पालन करते हुए भगवत्-भजन करना चाहिये।

विरक्तोंको श्रीसद्गुरु तथा संतोंकी सेवा करते हुए आचार्यके आश्रममें अथवा पुण्यतीर्थमें निवास कर प्रभुके भजनमें जीवन व्यतीत करना चाहिये। श्रीवैष्णव पुरुषोंको परनारीको माताके समान तथा लियोको परपुरुषको पिताके समान मानकर शिष्याचार-पूर्वक सद्ब्यवहार रखना चाहिये। किसीके प्रति द्वेष-भाव रखना अपना ही अहित करना है। इससे स्वभावमें कूरता आती है, इसलिये सबमें प्रभुका निवास मानकर सबका सम्मान करना चाहिये। गुरुद्वेषी, मित्रद्वेषी, भगवद्द्वेषी, नास्तिक तथा दुराचारीका सङ्ग न करे, न उनसे कोई व्यवहार रखे। अर्थोपार्जन, उदरपूर्ति तथा पूजा-प्रतिष्ठाकी सृष्टि त्यागकर अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये भगवन्मन्दिर, भजनाश्रमकी स्थापना करना तथा करवाना उत्तम कार्य है। चोरी, जुआ, शिकार, मद्यपान, धूम्रपान, परखीगमन, परनिन्दा, दुराचार, भ्रष्टाचार, कटुवचन तथा असत्यभाषण सद्यःपतनके मार्ग हैं।

गुरुजनोंके साथ एक आसनपर तथा उनके सामने उच्चासनपर बैठना नहीं चाहिये तथा उनके सामने अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये । प्रातःकाल उठकर श्रीहरि, गुरु, संत, माता, पिता तथा पूज्यजनोंका अभिवादन करना चाहिये । नाम-जप, होम, मन्त्र-जप, देवार्चन तथा भजन-भोजनके समय मौन रहना चाहिये । स्नान-शौचादिसे देहेन्द्रिय शुद्ध होते हैं तथा सद्विचारसे मन-बुद्धि तथा आत्माकी शुद्धि होती है—

एक जीव जो ज्ञानीजन, हरि सम्मुख करि देत ।

ते फौस्तुभमणि दान कर, फल ग्रिय प्रभु मो केत ॥

गीतोक लेन्ससंग्रहके सिद्धान्तादुसार सम्पुर्णोंके आचरण ही सदाचार हैं । संतोका, साधु पुरुषोंका, महात्माओंका कासौटीपर करता हृआ आचार-व्यवहार ही अनुकरणीय सदाचार है । श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने एक हिसक चर्मकारके माथ व्यापार करनेवाले विक्रम अन्न मिठामें लानेके अपराधमें अपने प्रधाचारी शिष्यतकका परित्याग किया था । वे सदेव सदाचारकी रक्षामें पूर्ण तत्पर रहते थे । ऐसे गहापुरुषकी दिव्य वाणीसे पाठ्योंको पूरा वाम उठाना चाहिये ।

वैखानस-सूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार

(लेखक—चल्लपल्लि भास्कर श्रीरामकृष्णमायार्युल्लु, एम्० ए०, वी० ए८०)

श्रौतस्तार्तादिकं कर्म निखिलं येन सूत्रितम् ।
तस्मै समस्तवेदार्थविदे विखनसे नमः ॥

वैखानससूत्र अभी कुछ तो हस्तलिखित दशामें हैं और कुछ गृह्य-धर्म-स्मार्त-श्रौतादिसूत्रोंको Cawland थादिने बड़ी कठिनतासे हूँढ़वार टीकासहित त्रिवेन्द्रमसे एवं एशियाटिक सोसाइटी आदिवारा मूलमात्र प्रकाशित कराया है । इन सूत्रोंको ऐहिक-आमुष्मिक साधनोंका समग्र विवरण देनेवाला अद्भुत, अमोघ, कल्पसूत्र कहें तो भी अत्युक्ति न होगी । इनमें सदाचारका विस्तारसे निरूपण किया गया है । इनपर सुन्दरराज एवं गृहसिंह वाजपेयी आदिके भाष्य, व्याख्यान आदि हैं । इनमें कहा गया है कि सदाचार धर्मसे सम्बद्ध होता है । 'धर्म क्या है' इस प्रश्नके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं—'अथ वर्णाश्रम-धर्मम् ।' वर्णः—व्राह्मणादयः, आश्रमाः—व्रह्मचारिष्वृतयः । धर्मशब्दोऽत्र पड़चिद्धस्मार्तधर्म-विषयः । तद्यथा-वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रम-धर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति ।'

(—भीनुसिंहवाजिषेपियभाष्यम् ।

व्राह्मणादिवर्णोंके, त्रिवेन्द्रकर्त्ता-आश्रमोंके, अनुष्ठानोंके धर्मका वर्णन धर्मसूत्रोंमें करते हुए कहा गया है वि व्राह्मणके लिये समिदाधान, यज्ञाचरणादि-वर्ण एवं आश्रमधर्म अनुष्ठेय हैं । क्षत्रियके लिये शालीय (अभिषेकादिगुण-युक्त राजाका परिपालनादि) गुणधर्म, विहितक्रियाका अकरण, नियिद्वक्रियाकरणनिमित्त प्रायशिच्छत्वरूप निमित्तधर्म, अहिंसा-पालन आदि साधारण धर्म—ये छः प्रकारके स्मृति-धर्म अनुष्ठेय हैं । इसमें व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक चार वर्णोंके अतिरिक्त परस्पर संकरके कारण उत्पन्न अनुलोम-विलोम जाति तथा उनके कर्म-विधिकी भी विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है । यहाँ केवल चार आश्रम एवं उनके अवान्तर भेदोंका संक्षिप्त उल्लेख-मात्र किया जाता है । 'वैखानसधर्मसूत्र'के अनुसार व्राह्मणके चार, क्षत्रिय आदिके तीन, वैश्यके दो तथा शूद्रके लिये एकमात्र गृहस्थाश्रमका ही विधान है—व्राह्मणस्य-श्रमाश्चत्वारः । क्षत्रियस्याद्यात्मयो वैश्यस्य द्वावेव । तदाश्रमिणश्चत्वारः । व्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो मिक्षुरिति । (—८।१।१०—१३)

फिर ब्रह्मचारीके धर्मोंकी लंबी सूची देकर गुरु-वाक्यपालनके विषयमें कहा गया है—

‘अनुक्तो यत्क्वचित्कर्म नाचरेत्, अनुक्तोऽपि स्वाध्यायनित्यकर्मण्याचरेत् ।’

(—८।१।५६)

इसके अनुसार उनमें ब्रह्मचारीके भी चार प्रकारके मेद हैं।—गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो नैष्ठिक इति। (२।८।३।२) १—गायत्र (केवल गायत्री ध्यान करनेवाले), २—ब्राह्म (गुरुकुलमें रहकर तीनों वेद या एक वेद या ख्यात्माध्ययन करनेवाले), ३—प्राजापत्य (त्रेद्वेदाङ्गसहित अध्ययन तथा नारायण-परायण होकर ब्राह्मे गृहस्थ होनेवाले) और ४—नैष्ठिक (कापाय-वस्त्र धारण करके, जटा या शिखा धारण करके आत्म-दर्शनपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर केवल निवेदित शिक्षाचरण करनेवाले)।

वैखानसमतमें गृहस्थाश्रमी भी चार प्रकारके होते हैं। वे ये हैं—(१) वार्तावृत्ति, (२) शालीनवृत्ति, (३) यायावर और (४) घोराचारिक—घार्तावृत्तिः कृपिगौरक्ष्य घाणिज्योपजीवी। (८।५।३)—घार्तावृत्तिवाला खेती, पशुपालन एवं घाणिज्यसे जीवन चलाता है।

२—शालीनवृत्तिर्नियमैर्युनः पाक्यवैरिष्टा अशीत्ताधाय पथ्ये पक्षे दर्शपूर्णमासयाजी चतुर्पु चतुर्पु मासेषु चातुर्मासयाजी पद्मुष्पद्मु मासेषु पशुवन्धयाजी प्रतिसंबत्सरं सोमयाजी च। (८।५।४) शालीनवृत्तिवाले कठोर नियमोंका पालन करते हुए पाक्यज्ञ, प्रत्येक पक्षमें दर्श-पूर्णमास-याग, चातुर्मास-याग, निरुद्ध-पशुवन्धयाग और प्रतिवर्ष सोमयाग करते हैं।

३—यायावरो हविर्यज्ञैः सोमयज्ञैऽच यजते याजयत्यधीतेऽध्यापयति ददाति प्रतिगृह्णाति, पट्कर्म-निरतो नित्यमग्निपरिच्चरणप्रतिथिभ्योऽभ्यागते-भ्योऽज्ञाद्यं च कुरुते। (—८।५।५)

यायावर हविर्यज्ञ, सोमयज्ञका यजन करके यजन-याजनादि पट्कर्म करता, अतिथि-अभ्यागतका सेवन करता है।

४—घोराचारिको नियमैर्युक्तो यजते न याजयत्यधीते नाध्यापयति ददाति न प्रतिगृह्णाति। उच्छ्वृत्ति-सुपजीवति, नारायणपारायणः सायंप्रातरग्निहोत्रं हुत्वा मार्गशीर्षज्येष्ठमासयोरसिधारात्रतं वनौषधी-भिरग्निपरिच्चरणं करोति। (वैखानसधर्मसू० ९।५।६)

घोराचारिके लिये यजन, अध्ययन-दानके अतिरिक्त तीन क्रियाएँ याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये निषिद्ध हैं। वह उच्छ्वृत्तिसे जीवन निर्वाह करता है और नारायण-परायण होकर अग्निहोत्र करते हुए मार्गशीर्ष, ज्येष्ठ मासोंमें असिधारात्रत करते हुए वनौषधियोंसे अग्निकी परिच्छर्या करता है।

तृतीयाश्रमी—वानप्रस्थी भी दो प्रकारके होते हैं (१) अपल्नीक तथा (२) सपल्नीक। सपल्नीकके चार मेद हैं—१—छौदुम्भर, (२) वैरिष्ट, (३) शालखिल्ल्य और (४) फेनप।

अपल्नीकके अनेक मेद हैं—(१) काढाशिक, (२) उद्वाप्तसंवृत्त, (३) अश्मकुद्द, (४) अप्रफल्लिन, (५) दन्तोद्वालिक, (६) उच्छ्वृत्तिक, (७) संदशनवृत्तिक, (८) कापोतवृत्तिक, (९) मृगचारिक, (१०) हस्तादायिन, (११) शैलफलग्नादी, (१२) अर्कदाधाशी, (१३) वैलाशी, (१४) कुसुमाशी, (१५) पाण्डुपत्राशी, (१६) काळान्तर्योजी, (१७) एककालिक, (१८) चतुष्कालिक, (१९) कण्टकशायी, (२०) वीरासनशायी, (२१) पञ्चाग्निमध्यशायी, (२२) धूमाशी, (२३) पाषाणशायी, (२४) अध्यवकाशी, (२५) उदकुम्भवासी (२६) मौनी, (२७) अवाकृशीरी, (२८) सूर्यप्रतिमुखी, (२९) ऊर्ध्वाहुक और (३०) एकपाद-

स्थित । इनके यथानामानुग्रुण बहुतसे आचार होते हैं ।

वैखानस धर्मसूत्रके अनुसार—भिक्षु (संन्यासी) चार प्रकारके होते हैं—(१) कुटीचक, (स्वगृह या मन्दिरमें रहनेवाले), (२) ब्रह्मदक (स्तानार्थ नदी-तीर-निवासी), (३) हंस (हंसयोगचरण करनेवाले), और (४) परमहंस* (परमपद जाननेवाले परमात्म या परमात्मा नारायणकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले) । उनमें यहाँ स्थानाभावके कारण केवल परमहंसके आचारवर्म ही दिये जाते हैं ।

परमहंस वृक्षमूल, शून्यालय या स्मशानमें रहनेवाले वस्त्रसहित या दिग्वार (वस्त्रहित) होते हैं । उनमें धर्म या अर्धम, सत्य-अनृत, शुद्धि-अशुद्धिका अभाव रहता है । वे सभी मानवमात्रके प्रति समभाव रखकर समलोक्याशक्ति का अभाव होकर सभी वर्णोंसे भिक्षा प्राप्ति करते हैं । उक्त आश्रम-स्त्रीकृति फलप्राप्तिकी दृष्टिसे दो प्रकारकी होती है—(१) सकाम (२) निष्काम । उनमें निष्कामके दो येद हैं—(ध) प्रवृत्ति (धा) निष्ठृति । उक्त निष्ठृतिके योगी आचारमेदमें तीन प्रकारके होते हैं—(१) मारण (२) एवार्य और (३) विसरण (-वही ८ । ९ । २-१०) । (१) सारङ्गके भी चार विभाग हैं—१—अनिरोधक, २—निरोधक, ३—मार्गी और ४—विमार्ग । अनिरोधक संन्यासियोंको प्राणायामादि करनेकी आवश्यकता नहीं है । ये अहं चिष्णुः (मैं ही विष्णु हूँ) का ध्यान करते हुए विचरते हैं । निरोधक संन्यासी प्राणायाम-प्रत्याहार आदि पोड़शक्ल अप्यविव साधनोंकी (उपासना-मेद) की साधना करते हैं । मार्ग या संन्यासी प्राणायामादि छः साधनोंका अनुष्ठान करते हैं और विमार्ग संन्यासीको यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अग्राद्योग साधना करना होता है ।

एकार्थके भी पाँच मेद होते हैं—१—दूरग
२—अदूरग ३—ध्रमध्यग ४—असम्भक्त और ५—सम्भक्त । इनमें दूरग योगमार्गसे साधना करके कमज़ोः वैकुण्ठ प्राप्त करने हैं । अदूरग आगामो (श्रेवत्रवामो) परमात्मामें अंत्रज्ञ द्वारसे लीन करके समस्त विश्वके लक्षका ध्यान करता है । ध्रमध्य आगामो परमात्मामें लीन करके सत्त्व-रूप अग्निद्वार (मुषुप्नाद्वार) से ध्रूमध्यमें प्राणका आर्कणि करके पिङ्गलाद्वारा निष्कमण करते रहते हैं । असम्भक्त—ये मनसे परमात्माका ध्यान करते-करते, परमात्माके दर्शन-श्रवण आदिका अनुभव करते हैं । और सम्भक्त—ये सर्वव्याप्त परमात्माको आकाशवत् चेतनाचेतन रूपसे अनन्तव्यहि-स्वरूपमें ध्यान करते हैं ।

विसरण—विविध सरणि अर्थात् दर्शनसे कुप्रथ गमनसे वे विसरण कहलाते हैं । (प्रश्न ० ८ च० ११ २१, २२ सूत्रोंमें इसके मेद हैं ।)

वैखानस मूर्ति-सूचक नवय प्रक्षमे सदाचारकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—धर्म्य सदाचारम् (० । ० । १ ।) सदाचार वर्मसे सम्बन्धित रहता है । वर्मम् वर्णधर्म, आधमधर्म, वर्गाधर्म-वर्म, गुणधर्म, निषित-वर्म, सावारण-वर्म नामके छे प्रक्तार पाये जाते हैं । सदाचाररूपमें निरूपित अजोमे प्रधानतया शारीरिक शौच निरूपणके रूपमें पाया जाता है । इस शारीरिक शौच प्रान्तन्यताका कारण यह दो सुकता है कि भगवदालय-रूप देहको सदा पवित्र रखना आवश्यक है । उक्त सदाचाररूपी वर्णाश्रिमधर्मके शौच, अनुष्ठान प्रधान रूपमें पाये जाते हैं । १—शौच—दक्षिण-कर्णपर यज्ञोपवीत धारण करके दिनमें उत्तराभिमुख हो, रातमें दक्षिणाभिमुख हो तृणान्तरित स्थलमें मूत्र-पुरीपका विसर्जन करे । उस समय गो, विप्र, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्रमाको न देखे । मिट्टी

* दसति—गन्द्धति—हति हस्तः ।

तथा जलसे अङ्गोंकी अच्छी तरह शुद्धि कर ले । ब्रादमे मुख-शुद्धि करके सूत्रोंके रीतिसे ल्लान करके, तर्पण, प्रह्लयज्ञ, साय-प्रात्, कालोंमें सध्योपासना—समिधाधान करते हुए गुहशुश्रूपा करना, ये ब्रह्मचारीके धर्म हैं । गृहसूत्र एवं स्मृतिके अनुसार गृहस्थको नित्यकर्म करते हुए सदाचारका पालन करना चाहिये—

गृहस्थोऽपि स्वानादिनियमाचारो नित्यमौपासनं
कृत्वा पाकयज्ञचाजी वैश्वदेवहोमान्ते गृहागत-
गुहस्त्रातकश्च प्रत्युत्थायाभिवन्ध्य आसनपाद्या-
चमनानि प्रदाय मधुना तोयेन चा घृतदधिक्षीरमिथितं
मधुपर्कं दत्त्वा अन्नाचैर्यथाशक्ति भोजयति ॥

(वै० सू० प्र०-९५०-४)

भारतीय संस्कृति और सदाचार

(लेखक —१० श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम० ए०)

भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य है—मानवकी आत्मामिक उन्नति । सत्कर्म ही आत्मा और मनको पवित्र तथा निर्मल बनानेके मुद्द्य साधन हैं । जन्म-प्राणका बन्धन ही जीवात्मादो मुक्ति या परमानन्द प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करता है । अनन्त धोर अश्वय द्वुग्व एकमात्र मोक्षमें ही है । मनेष होकर प्रग्नेष जीवात्मा (से प्राप्त कर सकता है) । जो अनमुत्त पहापुरुष जीवनमें ही शाश्वत शान्ति और मोक्षका 'रमानन्द प्राप्त करते हैं । भारतके श्रूषियोंने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मोन्नतिको ही इस उद्देश्यकी पूर्तिका साधन बतलाया है । युगादिमें ही शारीरिक शक्तिके विकासके लिये ऐसा नियम और इस प्रकारका जीवन बनाया गया था, जिसमें मानसिक और आत्मविकासमें भी बाधा न पड़े । शरीरके विभिन्न अङ्गोंको पुष्ट करनेके लिये व्यायाम, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदिका विधान किया गया है । ये साधन शारीरिक उन्नतिके साथ-साथ चञ्चल चित्त-वृत्तियोका निरोधकर मनुष्यको एकाग्र बनाते और आत्मोन्नतिमें सहायता

उक्त अंशोंमें नित्य होमके पश्चात् भगवान् विष्णुकी नित्याचार्या, अपने गृह या देवालयमें भक्तिसे करनेसे समस्त देवताओंकी अर्चा होती है—अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्याचार्या सर्वदेवाचार्या करोति ॥ गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातहर्मान्तेऽर्चयति ।

(वै० से०-४ । १० । ३)

उक्त 'परम विष्णुप्रतिष्ठान' अंशको ही अलग कर विद्वनसौत्र सार्वकोटिग्रन्थका संग्रह चार लाख श्लोकोंमें उनके शिष्य मरीच्यादिने निर्माण किया था जिनके सारभूत ये 'कल्पसूत्रग्रन्थ' हैं ।

प्रदान करते हैं । प्राणायामसूत्र शारीरिक, मानसिक शक्तिके विकासमें सहायता मिलती है । महाचर्यसे जीवनीशक्तिकी शुद्धि दोती है तथा वह आगे कमसे बायमप्राप्तिलक्ष महायक दोता है ।

भारतीय श्रूषियोंने यह दिव्य ध्वन प्राप्त किया कि सत्य और ऋत्—(जीवनकी धृत्यवस्था)के आधारपर ही यह सुष्ठि स्थित है । ये दोनों विभक्ति मूल कारण हैं । तभीसे मत्यान्तरणका भाव इस विभक्ति के बातावरणमें फैल गया है । भारतीय संस्कृतिने चत्रिवलको धर्मकी कस्टोटी माना है । इस कस्टोटीपर जो सफल हुआ, उसे भारत आदर और गौरवकी दृष्टिसे देखता आया है, भले ही उसकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो । इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतमें अनादिकालसे वर्मिक खतन्त्रता रही है । मनुष्यके आदर और प्रतिष्ठाका मापदण्ड ईश्वरकी भक्ति और वेदादि सद्ग्रन्थोंका अनुशीलन न होकर ऋत्—चत्रिपर रहा है, जो भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है ।

* वैद-मुराणोंके अनुसार कममुक्तिका चिह्नान्त भी है, जिसके अनुसार मोष अत्यन्त दूर्लभ रहा गया है ।

‘सर्वजनसुखाय’की भावना भारतमें आदि कालसे प्रवर्त रही है। भारतीय संस्कृतिकी इस आधार-शिल्पभूमि भावनापर भारतीय जीवन और भव्य भवन अडिग और अचल खड़ा हुआ है। इस उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलापाके कारण ही आर्य-संस्कृतिकी मौलिक महत्ता है। आर्यपुरुषोंकी अभिलापा केवल अपनेको ही नहीं, बरन् सार्पूर्ण विश्वको सुखी और शान्त बनानेमें पूरी होती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे उन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाभ्येत्॥

सर्वजनसुखायकी प्रस्तावना तो चरम सीमापर तब पहुँच जाती है, जब ऋषि दधीचिंजसे महान् तपस्थी जनकल्याणके लिये अपने जीवनका विसर्जन सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। दधीचिने यह कहकर अपना शरीर जनकल्याणके लिये अर्पित किया कि जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, तब इसको पाल-कर क्या करना है। जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुःखी ग्राणियोंपर दया करके मुख्य धर्म और जीविक यशका सम्पादन नहीं करता, वह जल्द प्रेइ-पौर्णोंसे भी गया-वीता है। बड़े-बड़े ऋषियों, महात्माओंने इस अविनाशी धर्मका पालन किया है और उसकी उपासना की है। इसका खरूप बस इतना ही है कि मनुष्य किसीं ग्राणी-के दुःखम् दुःखका और सुखमें सुखका अनुभव करे।

स्वयं मुक्त होकर यदि और किसीको मुक्त न कर सके तो अपनी मुक्तिकी सार्थकता कहाँ? वस्तुतः यदि आन्मा एक ही सत्य है तो क्या यह सत्य नहीं है कि जीवतक अन्य दूसरे जीव पूर्णत्व वाम नहीं कर लें, तब-तक वास्तवमें किसी भी आत्माका पूर्णत्व वाम नहीं हो सकता। भारतके सभी महामनुष्य इसकी वोषणा कर गये हैं कि समस्त विश्वका कल्याण हो और आत्म-कल्याणके लिये मानवजाति सचेष हो। विश्वकल्याण

और आत्मकल्याण—जोनों एक और अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रजायान्, पूर्णकाम मानवके ममुन्म उसकी तपस्या और निष्ठापर मुख्य होकर जब म्वर्गावित्ति वरदान देनेके लिये आये तो महामानव राजा रन्तिंवंक मुखसे सहस्रा निकला—

न त्वद्दं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुर्त्तर्भवम्।
कामये दुःखतसानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
कद्वास्य द्यादुपायोऽत्र येनादं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेत्य दुःखभाक्सदा॥

इस प्रकार मानव-कल्याणकी वापानाके सामने आये हुए ऐस्वर्य तथा मुक्तिको भी दुक्षाना भारतीय संस्कृतिके लिये ही सम्भव था। यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता। और अपनी इन समस्त विशेषताओंके आधारपर प्राणी-मात्रको वह पुरुषसे पुरुषोत्तम तथा नरसे नरोत्तम बननेके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके अनुसार प्रेरित करती है। इन चारों पुरुषार्थोंका समन्वय और साधन कर्मसे होता है। कर्मके माध्यमसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी साधना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है, क्योंकि मानव-जीवनका उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव-जीवनका उद्देश्य है—मानवी स्तरसे मानवीयताकी ओर अप्रसर होना। इसका तात्पर्य है—पुरुषसे पुरुषोत्तम और नरसे नरोत्तम होना। इस साधनमें व्यक्ति और समाज-दोनोंका समन्वय आवश्यक है; क्योंकि पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेकी प्रक्रियमें व्यक्ति और समाज एक दूसरेके पूरक हैं। व्यक्तिसे समाजकी साधना होती है और समाजसे व्यक्तिकी; वशतें दोनोंके सम्बन्धोंका प्रणयन धर्मसे हो। समाजके रंग-मञ्चपर व्यक्तिका जीवन एक संक्रमण-प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाकी कुछ आधारमूल अवस्थाएँ (आश्रय) हैं, जिनका साधन पुरुषार्थके लिये आवश्यक है; क्योंकि ये अवस्थाएँ मानवकी शरीरी तथा सामाजिक अभिहृचियोंका एक सहज परिणाम है। अतः व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मोंके कारण ही समाज

तथा धर्मसे बँधता है और इसी कारण पुरुषार्थकी साधनाका तात्पर्य है गुण-कर्मके अनुसार समाजमें धर्मप्रणीत वैयक्तिक जीवनको अपनानेका प्रयास करना।

इस प्रयासका भव्यानुसार विकास वेदों, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, लूट्रों, सृतियों, महाकाव्यों, नीतिशास्त्रों तथा पुराणों और नाटक, काव्य तथा जनसाहित्यमें हुआ है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति तथा जीवनके प्रति हिंदू दृष्टिकोण कुछ धारणाओंमें निहित हैं। ये धारणाएँ हैं, चारों पुरुषार्थ, कर्म-सिद्धान्त और वर्णश्रिम-व्यवस्था। इन्हीं धारणाओंने हिंदू-समाज तथा संस्कृतिको उसकी विशेषताएँ

प्रदान की हैं। ये धारणाएँ किसी भी रूपमें निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं—व्यक्तिकी मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओंके अनुसार देश-कालकी परिस्थितियोंसे। युग-शुगकी आवश्यकताओंके अनुसार इन धारणाओंके संवर्धन और प्रतिपादनमें ही हिंदूव्यक्ता विकास निहित है। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि भारतीय संस्कृतिकी मूल भित्ति सनातन-धर्म है। वेदोंमें दीजरूपमें, धर्मशास्त्रमें पल्लवित, प्रस्फुटित और पुराणादिमें पुष्टित और फलितरूपमें इस धर्मका ही दिव्य दर्शन होता है। यही कारण है कि भारतके कण-कणमें सनातनधर्मका भव्य भाव भरा हुआ है। सनातनधर्म भारतीय संस्कृतिकी पुरस्कृति है।

रामराज्य और सदाचार

(लेखक—श्रीशकरदयालजी मिश्र, एम० काम०, विद्यावाचस्पति)

मानव-जीवन सेवा-त्याग और प्रेमका प्रतीक है। इसीलिये मनुष्यके जीवनमें केवल दूसरोंकी सेवा या परोपकारको ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है। मानव-दर्शन-का केन्द्र-विन्दु परहित है—परहित सरिस धर्म नहीं भार्द्दे। पर पीढ़ा सम नहीं अधमाद्दे॥ (मानस ७ । ४० । १) परसेवा या परहितके लिये मनुष्यने कल्याणकारी विचार होने चाहिये। कल्याणकारी विचारोंसे तात्पर्य मानवद्वारा असद्-विचारोंका त्याग और सद्-विचारोंको प्रहण करना है। विचारके अनुरूप मानवमें आचरणकी प्रक्रियाका प्रस्फुटन होता है। सदाचारी जीवनके लिये मनुष्यमें सद्-विचारोंका होना अनिवार्य है। सदाचारसे रहित मनुष्यको सही अथेमें मानवकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। मानव-जीवनकी सफलता सदाचारपर ही अवलम्बित है। सदाचारी जीवन सभीको अभीष्ट है। इसकी आवश्यकता हमें अपने कल्याणके साथ-साथ समाजके कल्याणके लिये भी अपेक्षित है। दुराचारी व्यक्तिकी किसीको कभी भी आवश्यकता नहीं होती।

परंतु सदाचारी मानवकी समाजको सदैव आवश्यकता रहती है। सदाचारी समाजमें पूजा जाता है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामने अयोध्यामें अपने शाश्वतके समय सदाचारके सर्वोच्च आदर्शों, मर्यादाओं तथा कीर्तिमानोंका पालन, चिन्तन तथा स्थापन करके समस्त विश्वको सदाचारका ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो अन्यत्र हृषिगत नहीं होता। आदर्शोंकी स्थापना तथा पालन श्रीराघव पद्मले खतः करते हैं और आदर्शोंके अनुशीलन तथा परिपालनका उपदेश वे बादमें देते हैं। सदाचारी जीवनमें अनीति-भयका कोई स्थान नहीं होता है। भगवान् राघवेन्द्रने खतः पुरवासियोंसे कहा है—

जौं अनीति कहु भगवान् भार्द्दे॥ तौ सोहि वरजहु भय विस्तराद्दे॥ (मानस ७ । ४२ । ६)

श्रीराम स्वयं शिष्याचारका अद्भुत आदर्श सदैव प्रस्तुत करते हैं। गुरुजन तथा मुनिजनका उन्होंने

नमन, पूजन तथा बन्दन किया है। भगवान् राम एवं अपना पीताम्बर बड़ोंके सम्मानमें आगन्तुक मुनियोंके बैठनेके लिये तुरंत प्रदान करते हैं—

देखि राम मुनि धात्रत हरषि द्रुंदवत कीन्ह ।
स्वागत पैङ्गि पीतपट प्रसु लैठन कहै दीन्ह ॥

(मानस ७ । ३२)

सदाचारका तात्पर्य जहाँ एक ओर पर-सेवा या परोपकार प्रतिफलित है, वहीं दूसरी ओर रामराज्यमें नगरके श्री-पुरुष भगवान्की भक्तिमें भी रत हैं। कृपानिवान श्री-राघवेन्द्र सबपर सदैव सानुकूल भी रहते हैं, यह भी सदाचारकी एक पद्धत्तान उनकी मक्कि-चर्चणि भी चरितार्थ है—

जहै तहै नर रघुपति गुन गावहि । चेठि परसपर इहूँ सिखावहि ॥
भजहूँ प्रनत प्रतिपालक रामहि । सोभा सील रूप गुन धामहि ॥

(मानस ७ । २९ । १-२)

रामराज्यमें विरक्त, ज्ञानपरायण, मुनि और संन्यासी सभी अपने नित्यकर्ममें तत्पर रहते हैं। कर्तव्यपरायणताका आविर्भाव ही सदाचारका वास्तविक तात्पर्य है। रामराज्यमें सभी लोग अपने कर्तव्यपथपर चलते हैं। सदाचारका इसमें सुन्दर आदर्शयुक्त उदाहरण और क्या हो सकता है। मदाचारके पश्चात्यरूप अवधपुरीके लोगोंको जो उपलब्ध है, उस प्रौतिक निधिका वर्णन द्वारों द्वारा भी नहीं कर सकते

अवधपुरी वासिन्द कर सुख पपदा समाज ।
महस ऐष नहि कहि मरहि जहै नृप राम विराज ॥

(मानस ७ । २६)

रामराज्यके समय सदाचारका महत्त्वपूर्ण एवं ज्वलन्त प्रमाण प्रत्येक वरमें पुराणोंका पाठ है। भगवान् रामके पावन चरित्रकी कथा अनेक विधिसे सभी लोग एवं पुरुषोंद्वारा होती है। लोग राघवेन्द्र श्रीरामके प्रति ऐसा दिव्य अनुराग रखते हैं कि दिन-रातका उन्हें भान ही नहीं हो पाता। रामके चरणोंमें लोगोंकी अनवरत भक्ति सदाचारके प्रति निष्ठाका ही षोटक है—

मब कै गृह गृह होहि प्रगना । राम चरित पावन विधि नाना ॥
नर अह नारि राम गुन गानहि । कर्गहि द्विवस निगि जात न जानहि ॥
(मानस ७ । २५ । ७-८)

रामराज्यमें सदाचारकी जो अनुपम तथा दिव्य शौकी दृष्टिगोचर होती है, उमकी छठा बड़ी लुभावनी है। गमराज्यका प्रत्येक व्यक्ति—लोग, पुरुष, वालक, कर्मचारी, गुह, मुनि आदि सब अपने-अपने धर्मचरणमें रत रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्योंका खतः पालन करता दिखायी देता है। जो जिस योग्य है तथा जिसका जहाँ जो नायिक है, वह उसका पूरा निर्वाह करता है।

गुरु वसिष्ठजी नित्य सत्सङ्ग करते हैं तथा वेद-पुराणकी कथाएँ सज्जनों तथा द्विजोंको सुनाते हैं। सभी भाई राघवेन्द्रकी सेवा करते हैं तथा अनुशासन मानते हैं। भगवान् राम उन्हें अनेक प्रकारसे नीति सिखाते हैं। अनेक निपुण दास-दासियोंके होनेके उपरान्त भी मा सीताजी भी अपने हाथोंसे ही गृह-कार्य करती है। सदाचारका इससे अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। जगदम्बा जनकतनया केवल गृहकार्य ही नहीं करती, वरन् पर्यादा-पुरुषोत्तमकी शाजाका सदा अनुसरण एव सेवा भी करती है—

जहापि गृहं संवक संवकिनो । विषुल वदा वेवा विधि गुनी ॥
निज फर गृहं परिचरजा फरहै । रामचंद्र आयसु अनुसरहै ॥

(मानस ७ । २३ । ५-६)

सदाचारणका परिणाम रामराज्यमें अपार सुख-समृद्धि-के रूपमें स्पष्ट परिलक्षित होता है। समाजमें कोई दुःखी नहीं है, कोई दरिद्र नहीं है, किसीको कोई कष्ट नहीं है तथा सब लोग स्वाधर्म-पालन करते हैं और आपसमें सब प्रेमसे परिपूरित हैं। सदाचारसे युक्त नगरवासी धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया तथा दानमें रत हैं। कोई स्वप्नमें भी दुराचरण नहीं करता, निरभिमानतासे युक्त सभी अपने धर्ममें संलग्न हैं।

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्मं निरत श्रुति नीती ॥
राम भर्गति रत नर अहु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥
सब निर्देश धर्मसंशुद्धि गुनी । नर अहु नारि चतुर सब गुनी ॥

(मानस ७ । २० । २, ४, ७)

रामराज्यमे सभी उदार, सच्चरित्र, जितेन्द्रिय, निश्छल,
अभिमानरहित तथा परोपकारी है । पुरुषवर्ग एकपत्नी-
त्री है । इस प्रकार सभी क्षियाँ मन, वाणी, कर्मसे पति-
का हित करती हैं । रामराज्यमे किसीका कोई शत्रु नहीं
है । सभी एक दूसरोंके मित्र हैं । जहाँ मित्र ही होते
हैं, वहाँ शत्रुको परास्त करनेके उपाय साम, डाम, ढण्ड
तथा भेदका कहाँ प्रयोग होनेका प्रश्न ही नहीं उठता ।
वहाँ तो सभी उदार, परोपकारी और विप्रपूजक हैं—

सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारिव्रत रत सब ज्ञारी । ते मन वच क्रम पति हितकारी ॥

(मानस ७ । २१ । ४)

सदाचारका तात्त्विक अर्थ यहीं होता है कि जो
व्यक्ति जिस वर्ण तथा आश्रमका है, वह उसके अनुकूल
आचरण करे । भगवान् राघवेन्द्रके राज्यकी यह विलक्षण
विशेषता है और दिव्य आदर्श है कि सब लोग मर्यादित

हैं और शास्त्रोंके अनुसार अपने नित्यकर्मका सदा पालन
करते हैं, सभी सुखी हैं, रोग-शोकका कहाँ नाम नहीं है—
वरनाश्रम निज धर्म निरत वेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय मोक न रोग ॥

(मानस ७ । २०)

राम-राज्यमे सदाचारकी महिमाका ही प्रत्यक्ष प्रमाण
है कि सब मानव-शरीरके महत्वको समझते हैं और मानव-
जीवनके परम लक्ष्य मोक्षके स्वतः अविकारी होते हैं ।
सदाचारी सदैव दूसरोंकी सेवामे ही रत रहता है । मानवीय
पट् विकारो—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरका
त्याग करनेपर ही जीवनमे सदाचारका प्रवेश हो पाता
है । इन विकारोंसे मुक्त मानव प्रभुके प्रेमके अनिर्वचनीय
आनन्दका रसास्वादन करता है । सदाचार व्यक्तिको
भोगसे हटाकर योगकी ओर ले जाता है । परंतु इस
सबके लिये मानवका विवेकी होना परम आवश्यक है ।
विवेकके प्रकाशमे हम दोप्रहित होकर सदाचारी हो
सकते हैं । भगवान् रामके राज्यमें यहीं विशेषता थी कि
प्रत्येक मानव खी तथा पुरुष विवेकका आदर करता
या । सदाचारका उद्भावक मूलतः विवेक ही है ।

वाणीका सदाचार

नारंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीन ।
यथास्य वाचा पर उद्ग्रिजेत न ता वदेद् रुशार्तीं पापलोकयाम् ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति वैराहतः शोचति राज्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥

(महाभारत, अनुशा० ४ । ३१-३२)

‘दूसरोंके मर्मपर अघात न करे, कूरतापूर्ण वात न बोले तथा औरेंको नीचा न
दिखाये । जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्देश होता हो, ऐसी रुखाईसे मरी हुई वात
पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है; अतः वैसी वात कभी न बोले । जिन वचन-
रूपी वाणोंके मुहसे निकलनेसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमे पड़ा रहता है
और जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर धातुक चोट करते हैं, ऐसे वचनवाण मट्-अमद् विवेक-
शील, विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न छोड़े ।’

स० अ० २५—

मानसमें श्रीरामका सदाचार

(ऐवय—मानसरक डॉ० श्रीनाथजी मिश्र)

श्रीरामचरितमानसमे श्रीगम अपने आचरणकं मायथमे ही संसारक लोगोंको उपदेश प्रदान करने हैं। मौखिक उपदेश श्रीरामने अपेक्षाकृत करा ही दिये हैं। वाच्मीकिरामायणमे भी प्रभुने कहीं परमर्श भले दिये हो, पर उपदेश तो प्रायः नहीं किया है। श्रीमद्भागवतमे शुक्रदंवजी भी श्रीरामके अवतारके सम्बन्धमें बड़े सदाचारमे बाहने हैं—

मत्याविनारस्त्वह् मत्यशिक्षणं

रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
(५ । ११ । ५)

‘मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका मानुष-अवतार आचारद्वाग मनुष्योंको शिक्षा प्रदान करनेके लिये हुआ था, केवल रावणवके लिये नहीं।’ किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसको प्रभुने अपने आचरणद्वारा दिखला दिया है। इसीसे हम कहा करते हैं कि पुत्र हो तो रामचन्द्र-जैसा, भाई हो तो गमचन्द्र-जैसा, शिष्य हो तो रामचन्द्र-जैसा, राजा हो तो गमचन्द्र-जैसा, मित्र हो तो रामचन्द्र-जैसा और शत्रु भी हो तो श्रीरामचन्द्र-जैसा। किसके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, इसका निर्वाह श्रीरामने बड़े ही आदर्श ढंगसे किया है। गोदामीजीने इसका स्पष्टीकरण मानसमें सुन्दर ढंगसे स्थान-स्थानपर किया है। (१) पुत्रका उदाहरण लीजिये, महाराज दशरथने स्वयं अपने मुखसे कहा था—

राज सुनाइ दीन्ह वनवासु । सुनि मन भयउ न हरपु हरैसु ॥
सो सुत विद्युत गण न प्राना । को पापी बड़ मोहि ममाना ॥

(मानस २ । १४९ । ४)

माता कौसल्याने भी श्रीभरतजीसे कहा था—

पितु आयम भूपन वसन तात तजे रघुवीर ।
विसमउ हरपु न हृदये कछु पहिरे बलकल चीर ॥
सुख प्रसन्न मन रंग न रोपू । सब कर सब विधि करिपरितोपू ॥

(मानस २ । १६५)

प्रभु तो लोगोंके पूछनेपर यह उत्तर देने हैं कि—
‘पितौ दीन्ह मोहि कानन राज्’ (मानस २ । ५२ । ३)

और अपनेकों श्रीगम गजा ही मानते हैं। वाच्मीकिरीमे अपने लिये मनेका म्यान पूछते हुए प्रभुने कहा था—
अब यह राजर आयमु होइ । सुनि उठतेगु न पावं कोइ ॥
सुनि तापम जिन्ह तें दुग्य लाहही । ते नरंस विजु पावक दहही ॥
मंगल मूल विग्र परितोपू । दहह कोटि कूल भुमुर गेपू ॥
अस जियै जानि कहिअ अभिटाऊग्रिय मीमित्र नहि जाहै

(मानस २ । १२५ । १३-१४)

शासनमें कहीं मानाको पितामे हजार गुना और कहीं दसगुना अधिक महत्व दिया गया है—

‘महम्नं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।’

(मनुष्मति २ । १४८)

वसिष्ठस्मृति (१३ । १७)के अनुसार पितामे दशगुणा सम्मान माका (और अपनी मासे दशगुणा सम्मान सीतेशी माका) है। वह आदर्श श्रीरामके लीकरनमें देखनेको मिलता है। प्रभुने मा कैकेयीका जो सम्मान किया है, उसका उदाहरण विश्वके उनिहासमें कहीं देखनेको नहीं मिल सकता। गोदामीजीने लिखा है—
‘मानी राम अधिक बननीते जननिहु गंग न गही’
(गीतावती ७ । ३७ । २)। मानसमें आप श्रीरामका व्यवहार श्रीकैकेयीजीके साथ देखें। बनगमनके समय जब श्रीराम कैकेयीजीके पास जाते हैं तो महाराजकी व्याकुलता देखकर आप मा कैकेयीसे पूछ बैठते हैं—
मोहि कहु मातु तात दुख कारन । करिअ जतन जेहिं होइ निवारन॥

इसपर कैकेयीजीने अपनी कठोरताका वर्णन कर सुनाया। इसके उत्तरमें प्रभुने जो कहा, वह अद्भुत है—
सुनु जननी सोइ सुतु बहभागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोपनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

(रामच० मा० २ । ४० । ४)

‘तोपनिहारा’ शब्द वड़ा ही मार्मिक है, आपके कहनेका अभिप्राय यह कि संसारमे ऐसे पुत्र

तो बहुत होगे, जो माता-पिताका पालन-पोषण कर दे, परंतु ऐसे पुत्र कम होगे, जो माता-पिताको संतुष्ट कर दें। प्रभुने कहा कि मा! तूने जो मेरे लिये वनवास मँगा, इसमें तो हमारा लाभ-ही-लाभ है। उन्होने अपने वनगमनमें कैकेयीजीके समझ चार लाभ बतलाये। यथा —

- १—मुनिगन मिलनु विसेपि वन सबहि भोति हित मोर।
- २—तेहि मट्ठे पिनु आयसु वहुरि, ३—संमत जननी तोर।

(मानस २।४१) (ओर चौथा यह कि—)

४—भरतु प्रानश्चिय पावहिं राजू विधि सव विधि मोहि सन मुख आजू,

इस प्रसङ्गमें भोजराजका एक बहुत ही सुन्दर श्लोक हमारे ध्यानमें आता है, हम उसको भी उद्धृत कर रहे हैं, श्रीराम कैकेय से कहते हैं—

वनभुवि तनुमात्राणमाहापितं मे
सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि ।

तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां

मयि पतति गरीयानम्य ते पक्षपातः ॥

(चम्पूरामायण २।२५)

अर्थात् ‘मा! तूने वत्स भरतके लिये सारी पृथ्वीका राज्य मँगकर उनके सिरपर इतना बड़ा वोझ डाल दिया और मेरे लिये केवल वनकी रक्षाका भार दे कार्य सुगम कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि आज भी तूने हमारे साथ पक्षपात ही किया है।’ इस प्रकार विमाताके साथ कैसा भाव होना चाहिये, यह प्रभुने अपने आचरणके द्वारा संसारके सामने रखा। (२) भाई—इसी प्रकार श्रीरामने भ्रातृत्वका भी अनूठा आदर्श संसारके सामने रखा। श्रीराम और भरतका भ्रातृत्व संसारके भाइयोंके लिये उच्चकोटिका पथ-प्रदर्शक बन गया। श्रीरामने इसे वाल्मीकिजीसे भी कहा था—

तात यच्चन मुनि मातु हित भाइ भरत अस रात ।

मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सद्गुरम भुन्य प्रभात ॥

(मानस २।१२५)

रामने अपने छोटे भाईके लिये (एवं भरतने उनके लिये) कितना बड़ा त्याग किया, पर आज हमारे भाई

रामायणका पाठ करते हैं और साधारण-से-साधारण वस्तुके लिये भाईसे सधर्प भी करते हैं।

अब राजु सुर राजु सिहाही। दसरथ धन सुनि धन लजाही ॥

जिसको श्रीराम भाईके लिये बैसे ही छोड देते हैं जैसे बटोही मार्गके स्थानको छोड देते हैं—‘राजिवलोचन राम चले तजि वापको राजु बटाऊ की नाहू’ (कवितावली २।२)। यह भ्रातृत्व अनुपम आदर्श है।

(३) शिष्य—शिष्य कैसा होना चाहिये, इसको भी प्रभुने अपने आचरणद्वारा दिखला दिया है। विश्वामित्रजीके साथ जिस समय राम और लक्ष्मण जनकपुरमें पहुँचते हैं और रात्रिमें जब विश्वामित्रजी विश्राम करने जाते हैं, तो—मुनिवर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई। जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत विविध जप जोग विश्रामी। तेह दोउ वंधु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते।

(मानस १।२२५।२-३)

गुरु-शिष्यका परस्परका यह व्यवहार बहुत ही महत्वपूर्ण है, जिसका आज समाजमें विकृनख्य होता जा रहा है।

(४) राजा-राजा कैसा होना चाहिये इसे भी उन्होने अपने चरित्रके माध्यमसे दिखलाया है। राजा जितना त्यागी होगा, उतना ही प्रजाके ऊपर अपने आदर्शका प्रभाव डाल सकेगा। राजा श्रीरामने प्रजाके लिये अपने सर्वखका वलिदान किया। यहाँतक कि अपनी प्राणवल्लभा (धर्मपत्नी) वैदेहीका भी परित्याग कर दिया। यही कारण है कि आज भी लोग चाहते हैं कि रामराज्य हो जाय।

(५) इसी प्रकार मित्र-धर्मका निर्वाह उनके जीवनमें बहुत ही सुन्दर देखनेको मिलता है। गोखामीजी-ने ‘विनयपत्रिका’ (१६६।७)में लिखा कि ‘हत्यो वालि सहि गारी’ ‘अजहु सुहात न काज’—वालीका वध आजतक भी कितने लोगोंको अच्छा नहीं लगता। गोखामीजीसे लगोने पूछा कि वाली-वधका प्रसङ्ग आपको कैसा लगता है? गोखामीजीने उत्तर दिया कि जब अपने आश्रित सुग्रीवकी रक्षाके लिये श्रीराम कलङ्कतक लेनेको तैयार हो गये तो हमारे लिये भी ले सकते हैं—

होहु कहावत सतु कहत राम सहत उपहास ।
साहिव सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥
(मानस १ । २८ ख)

मित्रधर्मका जो प्राण है और प्रमुने जिसका वर्णन
भी किया है कि—‘गुन प्रगाढ़ अवगुनन्ह दुरावा’, उसे
अपने मित्र सुग्रीवके साथ उन्होने आचरण करके दिखला
दिया । इसी प्रकार शत्रुके साथ कैसा व्यवहार किया
जाना चाहिये, इसे भी श्रीरामने अपने आचरणके द्वारा
दिखलाया । प्रमुने शत्रुके साथ उदारताका अद्भुत
परिचय दिया है । अङ्गदजीको रावणके पास भेजते

समय श्रीरामने कहा—
काजु हमार तासु हित होइ । रिपु सन करेहु वतकही सोइ ॥
(मानस ६ । १६ । ४)

श्रीमरतजी प्रमाण-वचन कहते हैं—‘अरिहुक
अनभल कीन्ह न रामा ।’ यहाँ संक्षेपमे हमने मानसकी
पृथग्भूमिपर देव लिया कि श्रीरामके आचरण आदर्श
सदाचार हैं और यदि किसीने उनके आदर्श आचरणके
किसी एक पक्षको जीवनमे उतार लिया तो उसका जीवन
धन्य हो सकता है । लोक-शिक्षण और लोक-कल्याणके
लिये श्रीरामके आचरणका यही आदर्श लक्ष्य है ।

सदाचार-यज्ञ

(लेखक-पण्डित श्रीलक्ष्मणजी शास्त्री)

उपनिषदो एवं त्रायण-ग्रन्थोके अनुसार सनातन-धर्मका विशाल भवन यज्ञकी ही सुदृढ़ नीविपर खड़ा है । इन्द्र, वरुण, वायु, सत्य-रज-तम, तप-तेज, ज्ञान,
वेद-मन्त्र-ध्यान, पुरुषार्थ-द्रव्य-दान, योग-संयम-खाद्याय,
त्याग-सफलता-ब्रह्मचर्य, माता-पिता-आचार्य तथा सत्य-
सद्गुण और सदाचार आदि सभी यज्ञ-पुरुषके ही परिवार
हैं । शतपथ-त्रायणमे यज्ञको ही सर्वश्रेष्ठ कर्म सीकार
किया है—‘यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म’ (१ । ७ । १५),
अतः सत्य-सद्गुण और सदाचरणशील व्यक्ति ही यज्ञका
यजमान हो सकता है । ‘ताण्ड्यमहात्रायण’में आता है
कि ‘श्रद्धा पत्नी है और सत्य यजमान; इन दोनोंकी
उत्तम जोड़ी स्वर्गादि सम्पूर्ण लोकोंको जीतनेमें समर्थ
है—‘श्रद्धा पत्नी, सत्यं यजमानः । श्रद्धा सत्यं
तदित्युत्तमं मिथुनम् । श्रद्धया सत्येन मिथुनेन सर्वा-
ल्लोकान् जयतीति’ (७ । १०) ।

ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि प्रज्वलित तपसे ही
सत्यकी उत्पत्ति हुई है । अपनेसे ऊपर उठकर, अपने
स्वार्थका परित्यागकर या हानि सहकर भी जो अन्तर्वायि
रूपसे सत्यका पूर्ण आग्रही है, वही यज्ञ-यजमान होनेकी
योग्यता रखता है । आयोंका जीवन-दर्शन पूर्णरूपेण
नैतिक-सदाचारसे ओतप्रोत था । इससे उन्हे वेहद चिह्न
थी । ‘शतपथ-त्रायण’ घोषणा करता है कि ‘झूठ वोलनेवाला
व्यक्ति कभी यज्ञका यजमान नहीं बन सकता’—‘अमेधो-

वै पुरुषो यद्वन्नं वदति । तेन पूतिरन्तरनः । मेध्या चा
आपः । मेध्यो भूत्वा वनमुपायानीनि (१ । १ । १ । १) ॥

पापके आवर्तनदील स्वभावको आर्यलोग भलीभाँति
जानते थे । शालोमे वर्णन आता है कि—‘जो मनुष्य
एक बार पाप करता है, वह आगे भी वारंवार पाप
करना चाहा जाता है, रुक्ता नहीं—‘यः सहृत्
पातकं कुर्यात् कुर्याद्वनस्त्वो परम् ।’ ताण्ड्र-व्राद्वण
कहता है—‘झूठ बोलना वाणीका छिड़ है, जिसमेंसे
सब कुछ गिर जाता है’ (८ । ६ । १३) । शतपथ-
व्राद्वणमे आता है कि—‘असत्यवादी निस्तेज हो जाता
है और मन्यको सदा विजय होती है’—(३ । ४ ।
२ । ८) ऐतरेयव्राद्वणमा उपदेश है—‘वाग्देवीकं
दो स्तन है—सत्य और अनृत । सत्य रक्षा करता है,
अनृत मार डालता है—‘वाचो वाच तौ स्तनौ सत्या-
नृतं वाच ते । अवत्येनं सत्यं नैतमनृतं हिनस्ति य
एवं चेद्’ (४ । १) ।

जो सत्य-सदाचारणसे शून्य है, उसके लोक-परलोक
दोनों ही विनष्ट समझना चाहिये । जिसका वालाभ्यन्तर
पवित्र नहीं है, उसके यज्ञ करनेसे क्या लाभ ? उसका
तो आय्य भी जल ही है । वह तो अग्निको और
बुझाता है । वास्तवमें व्यवहारके विना सदाचार भार
ही है । व्राद्वणोने इसकी एक वड़ी सुन्दर उपमा गढ़ी
है—सत्य बोलना क्या है ? यज्ञानिका धृतसे अभियंक
करना है, प्रज्वलित अग्निको तृप्त करना है । इससे
तेजकी वृद्धि होती है और झट बोलना क्या है ?
ज़ख्लने हुए अग्निपर जल छोड़ना है, बुझाना है, इससे
तेज घट जाता है । इसलिये सत्य ही बोलना चाहिये—
‘यः सत्यं वदति यथा अग्निं समिद्धं तं वृतेनाभिपि
चेत् । एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव
तेजो भवति, इवः इवः श्रेयान् भवति । अथ योऽनृतं
वदति यथा अग्निं समिद्धं तमुदके नाभिपिच्छेत् ।
(श०वा० २ । २ । २ । १९) ।

यजमानपत्नीको तण्डने श्रद्धा नामसे अभिहित
किया है । ऋग्वेदके दशम मण्डलका १७१वाँ तथा
तैत्तिरीय ब्रा०का (२ । ८ ।) ८वाँ सूक्त ‘श्रद्धासूक्त’के
नामसे प्रसिद्ध है । उसमें मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान
कारण श्रद्धाको ही माना है । श्रद्धाके द्वारा अग्नि
प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके ही द्वारा यज्ञ-सामग्रीकी
आहृति दी जाती है । इनना ही नहीं, श्रद्धा सम्पूर्ण
ज्ञान-वैराग्य, धर्म-कीर्ति, वन-ऐश्वर्य आदि सबसे श्रेष्ठ
है । श्रद्धाकी वडी महिमा है—

श्रद्धयामिनः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगव्य मूर्धनि वचसा वेद्यामसि ॥
(श० १० । १५१ । १)

वेदोमे नारीको वडं आदरकी दृष्टिसे देखा गया है ।
‘तैत्तिरीयव्राद्वण’के अनुसार धर्मपत्नी साक्षात् लक्ष्मीका
स्वरूप है । उसके बिना यजमान यज्ञके अयोग्य
होता है; क्योंकि वह उसकी अद्वाद्विनी है—
अर्धां चा एष आन्मनः यत्पत्नी (२ ।
९ । ४ । ७) । ऐतरेयव्राद्वणकी दृष्टिसे पत्नीके
बिना पुरुष सर्व नहीं पा सकता; क्योंकि न तो वह
यज्ञ-यागादिमे दीक्षित हो सकता है और न वह संतान ही
प्राप्त वर सकता है, किर उसकी सदागति कौसे हो सकती
है !—‘नापुत्रस्य लोकोऽस्ति’ (ऐतरेय ७ । ३३,
१३ । १) । कौत्योपनिषद्के अनुसार उमा वेदी है, महेश्वर
ज्योतिर्लिङ्ग हैं, महेश्वर ब्रह्मा है । उमा वाणी है, महेश्वर
यज्ञ हैं । उमा स्वाहा है, महेश्वर सूर्य है । उमा छाया है,
महेश्वर ब्रह्म हैं—उमा माया है, महेश्वर जीव है—उमा
माया है । दुर्घटे जैसे धृत समाया है, पुष्टमे गन्ध,
चन्द्रमे चन्द्रिका और प्रभाकरमे जैसे प्रभा है, उसी
प्रकार व्रतमय माया है । भारतीय संस्कृतिने ऐसा ही
अविच्छिन्न दण्डित-दर्शन हमे दिखाया है—

उमासहायं एर्मेश्वरं प्रभुं
विलोचनं नोलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोर्नि
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥
(कैवल्योपनिषद् ३)

और अब यज्ञकी अर्तिग यद् जनता-जनादन !
ऐतरेय ब्राह्मणने इसीको तो यज्ञ मगवानवा पिर
वतलाया है—‘शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आनिष्यम्’
(१।२५)। इसलिये केवल यज्ञग दीक्षित यजमानोंको
ही नहीं, अपितु यज्ञमेशामिन होनेवाल सभी व्यक्तियोंको
लिये भी चेतावनी देने हुए वेद कहने हैं—सदा गम्य
वोलो, संकड़ो हाथोसे कमाओ, हजार हाथोमे दान
करो, सत्यपर चलो, चोरी मन करो, आन्द्रसी गत बनो,
कल्पाणकारी बनो, खियोकी रक्षा करो, अहवार न्यागो,
ईर्ष्याद्वेषमे मत फँसो, मांस-मदिरा त्यागो, तेजवान् बनो,
खास्य ठीक रखो, मनोवल बढ़ाओ, गाली बकना पाप
है, बिसीकी उपेक्षा मत करो और परमात्मा ही सबका
मालिक है, उसकी याद करो । बन-दौलत पा जानेसे
क्या होता है, अशान्ति और बढ़ती है । हिटलर,
सिकन्दर, तोजो और मुसोलिनीके जीवनमे तो एक
एलभक्ती भी शान्ति नहीं मिली, और आज भी जो
लोग अपनी मुट्ठीमे दायानल दवाये बैठे हैं, वह मुट्ठी खुली
और प्रल्प उगल पड़ी, उन्हे इससे क्या शान्ति मिलनेवाली
है ? अरे, दिव्य सुख-शान्तिका स्रोत तो मानवतासे
प्रकट होता है । चरित्र और सदाचार ही उसका मूलाधार
है । सबके सुख और सबके कल्पाणकी दिव्य भावना
ही तो यज्ञका हेतु है—

सर्वेऽन्नं सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कथिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

यही यज्ञ आयोके जीवनका सदुदेश्य था । यज्ञ-
कर्म आध्यात्मिक भी है और आधिदैविक भी । वह भौतिक
भी है । बड़ा विलक्षण है । वह हमें आहुति देना
सिखाता है । उसमें हम अपनी गाढ़ी कमाईका होम

बरत हैं, न्याग करने हैं, पुण्यार्जन करते हैं, ऋषि-
मिद्धिगा पाने हैं और फिर यज्ञ करते हैं । श्रीं-श्रीं
उपर उठने जाते हैं, मण्ड आती है, मण्डिआती
है, उमको ग्रहण करते हैं, यज्ञशिष्ट दोनोंसे वह परम
विशुद्ध हो जाती है । तपशिव्याने यज्ञ-पुरुषको हृदयमें
प्रवृद्ध किया था । प्राणामिनमें देहाभिमानका होम
होता है, तब अन्नाय-कोशकी शुद्धि होती है । देहके
प्रथम अमृत वीर्यको गोपनीये वह प्राणमय-कोशका
पोषक बन जाता है । वीर्य पा रन्धरी प्रशंसनमें शनिव-
राशणने इसे ‘सोम’की मंजासे विशृंगित किया है—
‘रनो वै सोमः’ (१।९।२।९) । वीर्य ही
गमस्त शरीर, प्राणों और इन्द्रियोंको प्रगति रखता है ।
गमिष्ठको आकृत देनेके लिये वीर्यसे बड़कर और कोई
दिव्य पदार्थ नहीं है । वह शरीरका राजा है, उसके
नष्ट हो जानेसे देहमे गत्र गत्र जाता है । व्रद्धर्चय
है तो आत्मवल है, आरोग्य है, सौन्दर्य है, शौर्य है,
ऐर्द्धर्य है, सुख और संतान है—सब कुछ है । इसकी
आहुति मनोमय-कोशमें होती है । मन विज्ञानमय-
कोशमें शुद्ध होता है और विज्ञानकी आहुति लानेसे
आनन्दमय-कोश जाग्रत् होता है अर्थात् संकल्प-
विकल्पसे ऊपर उठकर मन-आवारका अद्विदानन्द ब्रौव-
मयी स्थितिमें प्रतिष्ठित हो जाता है और आत्म-
ज्योतिका प्रादुर्भाव हो जाता है । यही मनुष्य-
जीवनकी सबसे बड़ी सफलता है ।

एकमात्र विशुद्ध चैतन्यामि ही इस पूर्णहुतिके
अमृतको धारण करनेमे समर्थ है । इस समय चेतन
और आनन्दका अभिन्न आलिङ्गन सम्पन्न होता है
और रसात्मुतिकी पूर्ण समुद्दित अवस्था आ जाती
है । यहीं सदाचार-यज्ञका पर्यवसान है—

धर्मं चरत माधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा हस्तं परं पश्यत माऽपरम् ॥
(वसिष्ठस्मृति ३०।१)

सांख्य-योगीय सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीगज्जाधरकेशव 'गुर्जर' पम० ए०, 'आनन्द')

भारतके सभी शास्त्र एवं ऋषि-मुनि मोक्षको परम पुरुषार्थ मानते हैं। मोक्षकी सामान्य परिभाषा है—‘अब्रानहृदयग्रन्थेर्नशो मोक्ष इति स्मृतः।’ इस परिभाषापर किसीको संदेह—विप्रतिपत्ति या वैमत्य नहीं है। दार्शनिकोंका कहना है कि संतोष ही मोक्षका सीधा राजमार्ग है और इस दृष्टिसे असंतुष्ट मानव एक संतुष्ट दूकरसे भी गया-गुजरा है। उपनिषदोंमें विशेष कर कठ तथा इवेताश्वतरमें सांख्ययोगका सक्षिप्त विवेचन मिलता है। गीता, अमरकोश, चरक आदिमें विद्वान्‌के लिये भी सांख्यका उपयोग हुआ है। संख्या या गिनती अर्थको लेकर ‘सांख्य, ‘संख्यात, ‘संख्येय’ आदि पद बने हैं—‘सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्’ (चरकसू० १५)।

संख्याका एक दूसरा अर्थ भी लिया जाता है, जिसे Discrimination या ‘सम्प्रकृतिक्लेज प्रजा’ कहते हैं। मानवकी विकासवारके इतिहासमें ऐसी प्रजाका एक निश्चित स्थान है। इसलिये योगके साथ सांख्यिकी प्राचीन समयसे ही देखी जाती है। भागवत एवं महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें सेश्वरसांख्यका विस्तृत विवेचन प्रकरणमें संनिविष्ट है। वैसे कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें राजपुत्रके अध्येतव्य शास्त्रके परिणाममें भी सांख्ययोगको सम्मिलित किया है (१। ४)। भागवतमें कपिल-जैसे महासांख्य-सिद्धकी जीवनी तथा दर्शनका वर्णन किया गया है। इससे यह सरलतासे कहा जा सकता है कि सांख्य और योगकी विचारधारा हमारे देशमें प्राचीनकालसे ही प्रवाहित होती रही है। सांख्य और योग इन दो दर्शनोंको एक साथ निवद्ध करनेका तात्पर्य न केवल उनकी प्राचीनतासे है, अपितु उनकी विचारगत समता भी है। दोनों ही पच्चीस तत्त्वोंको मानते हैं। पुरुष प्रकृतिसे मौलिक रूपसे भिन्न है, इस तथ्यको निरन्तर तत्त्वाभ्यास, अनासक्ति और

समाधिक द्वारा हृदयंगम करना दोनोंका अन्तिम लक्ष्य है। जिसे ‘प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति’ कहते हैं।

आचारिक अङ्गका महत्त्व—‘योगदर्शन’को सेश्वर—सांख्य भी कहते हैं। सांख्यकी अपेक्षा योगमें आचारिक अङ्गका अविक वर्णन पाया जाता है। योग एक प्रात्यक्षिक अङ्ग रहा है और वह भी ब्रह्म विद्याका; ऐसा मत लेखक डॉ० कृ० के० कालहटकरने अपनी पुस्तक ‘पातञ्जलयोगदर्शन’ अर्गत् ‘भारतीय मानसदर्शन’की विस्तृत प्रस्तावनामें प्रकट किया है। इस दृष्टिसे उन्होंने वेदान्तको ब्रह्मविद्याका विमर्शात्मक अङ्ग कहा है। इसलिये आचारिक अङ्गकी जितनी परिप्रृष्ठा योगमें परिलक्षित होती है, उतनी सांख्यमें नहीं। प्रायश्चिककी अपेक्षा सांख्यका विमर्शात्मक खरूप अविक विस्तृत एवं प्रभावशाली है। इस विमर्शात्मक अङ्गका दीर्घकालतक पूरी आस्थासे निर्वहण होता है, तभी व्यक्ताव्यक्त विज्ञान सांख्यके अनुसार प्रत्ययकारी रूपमें हो सकता है। इसलिये वाचस्पति मिश्रने ‘सांख्यतत्त्वकौमुदी’में इसपर बल देते हुए कहा है—‘एतदुक्तं भवनि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणे भ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकाला-द्वचनैरन्तर्यसत्कारसेविताद् भावनामयाद् विज्ञानादिति। तथा च वक्ष्यति—‘एवं तत्त्वाभ्यासान्नासि न मे नाहमित्यपरिशेषपमविपर्यायाविशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् (सांख्यकारिका—६५)।

इससे यह स्पष्ट है कि अभ्यास-वैराग्य—ये दोनों ही आचारके संदर्भमें समान आधारशिला रहे हैं। चित्तवृत्तिनिरोधको योग कहते हैं। इस योगके आठ अङ्ग प्रसिद्ध हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और संमाधि—पतञ्जलिने पॉच प्रकारकी सिद्धियों बतलायी हैं, जिनमें समाधिज सिद्धि भी ईश्वरप्रणिधान-द्वारा प्राप्त कही गयी है। प्रणिधानका प्रचलित अर्थ—

ध्यान है, परंतु पतञ्जलिके अनुसार सभी कर्मोंको निष्काम भावसे सम्पादित करते हुए उन्हे ईश्वरके प्रति समर्पण करना 'ईश्वर-प्रणिधान' है। गीताके 'स्वकर्मणा तमभ्यर्थ्यं सिद्धिं चिन्दति मानवः'का भी यही दृष्टिकोण है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो पतञ्जलिने यहाँ निष्काम कर्मकी ओर स्पष्ट संकेत किया है। 'अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे'—इस गीतोक्त श्लोकमें योग तथा कर्मयोग भिन्न कहे गये हैं; परंतु पतञ्जलिने दोनोंका सार उक्त मूलमें प्रकट कर दिया है, जो योगदर्शनकी एक विशेषता मानी जा सकती है। 'हठयोग' अपनेको राजयोगकी पूर्वभूमिकाके रूपमें मानता है। इसलिये यम-नियमको छोड़कर हठयोगमें छः अज्ञ पाये जाते हैं। राजयोग अप्राप्त है तो हठयोग पद्मः। यम तथा नियमको आठ अङ्गोंमें समाविष्ट करके योगने मानो अपना एक सदाचार-दर्शन ही उपस्थित किया है।

यमोंकी सार्वभौमता—यम जितने अंशमें वैयक्तिक ब्रत कहे जा सकते हैं—नियमादि उससे कहीं अधिक अंशमें सामाजिकब्रत कहे जा सकते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन ब्रतोका उभयविध स्वरूप है—जितना वैयक्तिक उतना सामाजिक भी। इसके लिये कोई अपवाद नहीं। जाति, देशकाल और समयकी मर्यादाको लोधकर जब इनका पालन किया जाता है, तब ये नियम या ब्रतसे ऊपर उठकर सार्वभौम महाब्रत बन जाते हैं। संसारके किसी भी प्रदेश, जाति, विशिष्ट काल, मत, सम्रादाय या सम्प्रदाय-विशेषमें जब कर्मठतासे इनका पालन आवश्यक, अनिवार्य माना जायगा, तब प्रकृतिकी भोगार्थतासे हटकर अपवर्गार्थताकी पुरिविमें सारा संसार स्वयंको सुखसे प्रतिष्ठित समझेंगा।, यही योगकी 'सदाचार-संहिता' है। इस सदाचारको 'लोधकर' मनुष्य न केवल अपना वैयक्तिक कल्याण खो चैत्यता है, अपितु अपने विशाल समाजका

भी अहित बर ढेना है। अतः हमारे आचारका यह केन्द्र-विन्दु ही रहा है, कि—

'सर्वेषामविग्रेयेन ब्रह्मकर्म स्तमार्भन्।'

किसीसे विरोध न करते हुए—हिमा एवं ब्रोह त करते हुए, ब्रह्मविद्याका अनुप्रान किया जाय। इसलिये शारीरिक तपमें गीताने अहिमा तथा ब्रह्मचर्यको ममाविष्ट किया है—

ब्रह्मचर्यमहिमा च गार्गं तप उच्यते।

(गीता १७। ११)

महाचारिक यज्ञोंके आचरणसे मन्त्रकी गरिमा अधिक है। सहस्रों अष्टमेवयज्ञोंसे बढ़कर मन्त्र है। अधिमौनिक दृष्टिकोणवाले बहुसंख्याका स्वाल रखकर अधिकतर लोकोंको मुन्द्रदायक या कल्याणकारक भाषण या घटनाको मन्त्र कहते हैं। व्यवहारतः यह मान्य भी है—

यद्यत्तहितमन्यनं तत्सन्धिमिनि धारणा ॥

—यह महाभारतका कहना है; परंतु कृत, कारित, अनुमोदित—इन तीर्तोमिसे किसीका भी अपवाद न रखते हुए सत्यका पालन करना योगकी दृष्टिमें यम है; सदाचार है। ऐसा ही सत्य प्रतिष्ठित या सिद्ध होता है तथा वाक्सिद्धिके रूपमें परिणित होता है। परिणाम-रूप ऐसे सत्यनिष्ठ व्यक्तिको विना किसी कियाके उस क्रियासे अपेक्षित फल मिल जाता है। उसके मुखसे निकले हुए शब्दोंकी ध्वनि-लहरें अपेक्षित माध्यमोंमें आवश्यक स्पन्दन पैदा करती हैं, जिससे इच्छित फलके लिये कार्य-सम्बन्ध करनेवाले व्यक्ति आप-ही-आप प्रेरित हो जाते हैं। यही भाव—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफला-श्रयत्वम्' इस योगसूत्रमें है जो अनुभूत तथ्य है।

इसी प्रकार अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका विचार और प्रयोग करनेमें व्यक्तिके आध्यात्मिक विकासके साथ-साथ सारे समाजका भी कल्याण करनेकी क्षमता और प्रवृत्ति जाग उठती है। डॉ० राधाकृष्णन-

जैसे दार्शनिक मनीषीने यम-नियमोंको नैतिकताका प्रेरक स्रोत बताया है। इसीलिये सारे संसारके सदाचारके रूपमें इनकी मान्यता रही है तथा आगे भी रहेगी।*

सांख्यके सदाचार—ज्ञानके संदर्भमें सोचा जाय तो सांख्य और योगका अन्तिम लक्ष्य कैवल्य है। यह कैवल्य भी 'प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति'के रूपमें प्रसिद्ध है, जिसकी ओर पहले ही संकेत किया गया है। परंतु योगमें कैवल्यप्राप्तिके अङ्गोंसहित उपायोंका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा सांख्यने आग्रहपूर्वक नहीं किया है। इसका कारण सामान्य तौरपर यही दिखायी देता है कि सांख्यके अनुगामी मुख्य रूपसे ज्ञानयोगी थे, अतः उन्होंने विचारोंकी प्रधानतापर ही बल दिया। इस 'विवेक-ख्याति'को सर्वाधिक महत्व देकर साधनामें प्रबृत्त सिद्धोंकी शृङ्खला इस देशमें बहुत प्राचीन कालसे ही चली आयी है। इसलिये भगवदीताके साथ-साथ उपनिषदोंमें भी सांख्यमतप्रवर्तक कपिलमुनिको सिद्धोंका प्रमुख गैरवास्पद शान दिया है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता १०।२६)। श्वेताश्वतरोपनिषदमें भी 'ऋषि-प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत्' (५।२) से उनका गैरवगान किया गया है। सांख्य-सिद्धोंकी एक विशाल पङ्क्ति महाभारत, सूति-ग्रन्थ तथा सांख्य-साहित्यमें भी उपलब्ध है। इतना ही नहीं, चरक-संहिताके मूल उपदेश पुनर्वसु आनेयको भी सांख्यसिद्धोंमें गिना जाता था। पुनर्वसुपर सांख्यविचारधाराका इतना प्रभाव पड़ा दीखता है कि सांख्यज्ञानको उन्होंने आदित्यके समान प्रखर-प्रकाशक बताया है—'सांख्यं ज्ञानमादित्यवत् प्रकाशते'।

इन सिद्धोंकी पङ्क्तिमें आसुरि, पञ्चशिख, धर्मध्वज, जनक, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, सनन्दन, जैगीपव्य, देवल, हारीत, वाल्मीकि, भार्गव, उद्धक, वार्षगण्य और पतञ्जलि आदि सम्मिलित हैं। इनकी जीवनियोंसे सदाचारपर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इसीलिये लगता है कि सदाचारोंका विशिष्ट वर्णन सांख्यकारिकामें या अन्य सांख्यग्रन्थोंमें अपेक्षित नहीं समझा गया। योगके साथ जिस प्रकार वैचारिक समानता इस दर्शनमें है, ठीक उसी प्रकार आचारगत समानता भी होनी चाहिये थी। हाँ, कपिलकृत सांख्यमूलमें यह विचारप्रधान आचार-दृष्टि अवश्य दृष्टिपोचर होती है। इस संदर्भमें चैथिये अध्यायके कतिपय सूत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें वामदेव, शुकदेव और सौभरि मुनिके समान रहकर संयम एवं सदाचारके पालनका आदेश दिया गया है—

'प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्वहुकालात् तद्वत् (१९), न कालनियमो वामदेवत् (२०), अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपास-कानामिव (२१), विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरत्वत् (२३), लव्यातिशययोगाद्वा तद्वत् (२४), न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् (२५), गुणयोगाद्वद्दः शुकवत् (२६), न भोगाद्वाग-शान्तिर्मुनिवत् (२७), दोषदर्शनादुभयोः (२८), न मलिनचेतस्युपदेशवीजप्ररोहऽज्जवत्। (२९।)

इस प्रकार ऊपर संक्षेपमें सांख्ययोगीय सदाचारका जो वर्णन किया है, उससे वैराग्यमूलक ज्ञान एवं ध्यानप्रधान अलोकविरुद्ध सामान्य सदाचारकी दिशा स्पष्ट हो जाती है। इसमें यम और नियमोंकी भूमिका मुख्य रही है। ये ही सांख्ययोगीय सदाचारके मुख्य प्रेरणाके स्रोत रहे हैं।

* The yamas are of universal validity regardless of differences of cast and country, age and conditions. They are acquired by all, though all may not be chosen for the higher life of contemplation. The observances (niyama) are purification, external and internal contentment, austerity (tapas) and devotion to God. These are optional. Though all, who resort to yoga are required to practice them regularly, A practice of these two favours the development of Tairagya, or passions, lessens or makes free from desire either for things of the world or the pleasures of heaven. (Indian Philosophy, by Radhakrishnan page 854. 8th edn)

सदाचारके दो पहलू—यम और नियम

(लेखक—विश्वाचाचस्ति पं० श्रीगणेशदत्तजी गर्मा, इन्द्र, डी० लिट्र०)

जीवनका मधुर फल सदाचार है। इसका आखादन अमृतोपम है। जो जीवनमें इसका पान करता है, वह पुरुषोत्तम, नरोत्तम और देवरूप हो जाता है। आज भी मानव-समाजके पूजार्ह, वन्दनीय और स्मरणीय तथा सृष्टिके आरम्भसे अध्यावधिपर्यन्त पृथ्वीपर जितने भी पूज्य महात्मा-महापुरुष हुए हैं, उन सबके अर्चनीय और वन्दनीय होनेमें एकमात्र कारण उनका सदाचारमय जीवन ही था। कालचक्र—हजारों, लाखों वर्षोंतक घूमता हुआ भी उनकी प्रतिभा, उनकी आभा और उनकी ज्योतिको धूमिल करनेमें असमर्थ रहा है। इसके विपरीत जो दुराचारोंमें लिप्त रहे हैं, उनका नाम लेनेतकमें हमें घृणाका अनुभव होने लगता है। उनके नामके साथ ही घृणा और विकारका अमिट चिन्ह हमारे सामने प्रकट होने लगता है।

सदाचार अमृत है तो दुराचार हल्लाहल। सदाचार ही जीवन है और दुराचार ही मृत्यु—सदाचार यदि प्रकाश है तो दुराचार घोरतम अन्धकार। सदाचार ज्ञानका प्रतीक है तो कदाचार अज्ञानका निविड़तम तमस्तोम। सदाचार देवत्वका सोपान है तो विपरीताचरण असुरत्वका एक गम्भीर गर्त। संसारके सभी महापुरुषों, धर्मचार्यों तथा मनीषियोंने सदाचारको ही मानव-कल्याणका एकमात्र अवलम्ब और मानव-जीवनकी चरमोन्नति एवं उसकी पूर्णता माना है। सभी धर्मग्रन्थोंके निर्माताओंने—वे चाहे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत और पंथके हों, सदाचारकी सबल पुष्टि की है।

अपने समयके महान् चिन्तक एवं तत्त्ववेत्ता महर्षि पतञ्जलिने सदाचारको योगका और योगको सदाचार-

का सहायक माना है। महर्षिने हिरण्यगर्भसे परम्पराप्राप्त योगके आठ मुख्य अङ्ग निर्दिष्ट किये हैं। ये हैं—‘यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।’ योग मानवको देवत्वतक पहुँचाने-की क्षमतावाला है। इतना ही नहीं, योगमें देवत्वको भी और उन्नत स्थितितक पहुँचा देनेकी क्षमता है। जो योगके इन आठों अङ्गोंकी साधना करते हैं, वे सदाचारके प्रथम सोपानसे अन्तिम सोपान पारकर परमानन्दरत होकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं।

योगदर्शनमें सदाचारका प्रथम सोपान ‘यम’को माना गया है। यमका नियमपूर्वक अनुसरण एवं अनुगमन सदाचारकी विशुद्ध एवं दृढ़ नींव है। इस यमके, भी अन्तर्वर्ती पञ्चसोपान हैं। पतञ्जलि महाराज इन पाँच सोपानोंको इस प्रकार वर्तलाते हैं—‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।’ इनमेंसे किसीको मन, वचन और शारीरिक कार्यसे कष्ट न पहुँचाना—पीड़ित न करना अहिंसा है, सत्य कर्म, सत्य भाषण और सत्का प्रचार-कार्य ही सत्य है। चोरी नहीं करना, मन, वचन, कर्मसे उससे दूर रहना ‘अस्तेय’ है। किसी वस्तुका न चुराना ही अस्तेय नहीं, बल्कि किसी-पर सद्विचारोंको प्रकट न करना, अनावश्यक वस्तुओंको रखना भी चोरीकी ही परिधिमें माना जाता है। वीर्य-रक्षा और वीर्य-रक्षाके उपायों तथा आचरणोंका पालन ब्रह्मचर्य कहलाता है। यमका पाँचवाँ सोपान है—‘अपरिग्रह।’ आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह परिग्रह कहलाता है। दूसरोंके काममें आनेवाली वस्तुओं-को अपने पास इकट्ठा करना अनुचित है। यह दूसरों-के उपयोग और अधिकारोंका हरण है। अतएव

असंग्रह-धर्मका पालन करना चाहिये । योगशास्त्रमें ये ही सदाचारके प्रथम पाँच सोपान माने गये हैं । वौद्धधर्ममें प्रायः इन्हें ही पञ्चशील नामसे कहा जाता है । शील और सदाचार एक ही सिक्केके दो पहल्ल हैं । सदाचारी शीलवान् भी होता है ।

जो इनका द्विता, सुनिश्चितता तथा कठोरतासे पालन करते हैं, वे निश्चय ही देवत्वको प्राप्त होते हैं । मनुष्य देवत्व और असुरत्वके बीचकी एक महत्वपूर्ण शृङ्खलाकी सुदृढ़ कड़ी है । 'यम'का आश्रय और पालन-नियमन मनुष्यको उर्ध्वोन्नतिकी ओर ले जाता है ।

योगमें यमके बाद नियमोंका स्थान आता है । इन्हें योगका दूसरा अङ्ग कहा है । इससे ईश्वरकी प्राप्ति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है । सदाचारके ये पाँच 'नियम' सोपान सदाचारके स्थापक हैं । इनमें सदाचारकी परमोक्तुष्टता निहित है । योगदर्शनानुमोदित प्रथम अङ्गके द्वारा देवत्व तथा ऋषित्व प्राप्त किया जा सकता है तो दूसरे अङ्ग नियम-के द्वारा ब्रह्मत्वकी प्राप्ति की जा सकती है । सदाचार विना नियमके अधूरा रह जाता है । योगदर्शनके प्रणेता महर्षि पतञ्जलिने नियमके 'शौच, संतोष, तप, साध्याय और ईश्वर-प्रणिधान'—ये पाँच अङ्ग माने हैं । सदाचारके सर्वोच्च शिखरासनासीन होनेके लिये इन पाँच सोपानों-का आरोहण आवश्यक है । मानव, देवत्व और

असुरत्वके बीचकी कड़ी है । यही ब्रह्मत्व और महागत्तर्त्त्वकारका भी माध्यम है । ब्रह्मत्वकी प्राप्तिके हेतु शौच अर्थात् शरीर और मनकी पवित्रता अभीष्ट है, संतोष तो नन्दनकानन है । जिसमें समस्त इच्छाओंकी पूर्ण करनेवाली कल्पलता विद्यमान है । विना तपके सदाचार व्यर्थ और निष्फल है । तपका अर्थ है परोपकारके लिये कष्टोंकी अग्निमें अपने-आपको आहुति बना देना । स्वाध्याय तो मनुष्यको वह ज्ञान और मनोब्रह्म प्रदान करता है, जो सदाचारमें परम आवश्यक है । वेदादि सब प्रन्थोंका मनन, चिन्तन, स्वाध्यायकी सरल परिभापा है । इन चार सोपानोंपर आरुद्ध होनेके बाद मनुष्य ईश्वर-के सम्बन्धमें विचार करने, सोचने, समझनेका पूर्ण अधिकारी बनता है । यम-नियमके इन दस लघु सोपानोपर जो व्यक्ति आरोहणकर ऊपर उठता है, वही सच्चा सदाचारी बननेका अधिकारी है । इस प्रकार यम और नियमकी ये दस विधियाँ मनुष्योंके सदाचारके सुदृढ़ निर्माता हैं जिनसे समाधि-सिद्धावस्था प्राप्त होती है ।

अहिसासे अपरिहतक तथा शौचसे ईश्वर-प्रणिधान-तक पहुँचानेकी शक्ति सदाचारमें है । सदाचारके द्वारा मनुष्य देवत्व और ब्रह्मत्वको प्राप्त करके महान् बन जाता है । जैसा कि कहा गया है—

'सदाचारेण देवत्वसृष्टिं च तथा लभेत् ।'

सदाचारी पुरुष क्या करे !

क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै । अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुव्येनामृशंसेन प्रस्तुना ब्रह्मवादिना । चारित्रतप्येणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः बड़ विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः । कामक्रोधौ च लोभभूतमानमोहौ मदस्तथा ॥

'मनुष्यको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिप्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर बाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितपैरी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते ।'

—महर्षि परागर

मानसिक सदाचारं

(लेखक—श्रीपरिणामनन्दजी वर्मा)

कानपुरमें गङ्गातटपर भगवद्दास घाट प्रसिद्ध है। इस घाटके व्यापारी-वस्तीसे निकट होनेके कारण यहाँ अच्छी श्रेणीके लोग स्नान-ध्यानके लिये आते हैं। वहीं जलपान भी होता है। कुछ वर्ष पहलेकी बात है, इस घाटपर एक पागल-सा साधु रहता था। लोग जलपानकर जो पत्ता या कागज फेंक देते थे, वह उसीको चाटकर या जूठन खाकर वहीं पड़ा रहता था। एक दिन एक बड़ी फर्मके मुनीमजी स्नानकर ध्यान लगाये जप कर रहे थे। यकायक उस पागलने उनपर एक मुड़ी मिट्टी फेंक दी। मुनीमजी और अन्य स्नान करनेवाले बहुत अप्रसन्न हुए। पागल चुप रहा। मुनीमजी जपमे लग गये। पागलने फिर मिट्टी फेंकी। अब उनका कोध उसपर वरसनेवाला ही था कि पागलने अपना फटा कम्बल उठाते हुए इतना कहा—‘जप कर रहा है, मन जूता खरीद रहा है।’

मुनीमजी अवाक् रह गये। वास्तविक बात तो यह थी कि जपके समय उन्हें यकायक उस दूकानकी याद आ जाती थी, जहाँ कल एक जोड़ी जूताका भाव तय कर आये थे और वे जपके समय सोच रहे थे कि दाम कैसे घटाया जाय। पागलको उनके मनकी बात कैसे मालूम हुई? बस, लोगोंको विश्वास हो गया कि वह कोई महात्मा है। पर वह पागल जो लापता हुआ तो फिर कभी न दिखायी पड़ा। इस घटनासे प्रकट है कि हम ऊपरसे देखनेमें चाहे कितना भी भले लग रहे हों, मनके भीतर यदि दुराचार है तो हमें सदाचारी नहीं कहा जा सकता। अतएव अच्छा आचरण दिखावेसे नहीं, मनसे सम्बन्ध रखता है। इसीलिये कवीरसाहबने कहा था—‘मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।’

इस उदाहरणका एक ही सार-तत्त्व है और वह यह कि आचरण मनमें है, वाहरी दिखावेमें नहीं। जो मनसे शुद्ध है, वही सदाचारी है। इसीलिये स्मृतिकारोंने कहा था—‘मनःपूर्तं समाचरेत्’ (मनु० ६। ४६, याज०, नारद०३। ६२) मनको शुद्धकर पवित्र आचरणका पालन करे। इसी बातको एक विद्वान् अमेरिकन पादरी—एच० डब्ल्यू० ब्लीचर—(चन् १८१३-१८७७)ने लिखा था—‘मनुष्यकी असलियत उसके निजी चरित्रमें है। उसका यदि कोई यश है, प्रतिष्ठा है, तो दूसरोंकी रायमात्र है, दूसरोंके उसके प्रति विचार हैं। चरित्र उसके भीतर है। यश-प्रतिष्ठा तो छायामात्र है; ठोस वस्तु तो चरित्र ही है।’

जे० हावेज नामक एक विदेशी विद्वान् (चन् १७८९-१८८३) ने भी लिखा है—‘मानवका चरित्र कोरे सफेद कागजकी तरहसे है। एक बार उसपर धब्बा लग गया तो फिर वह पहले-जैसा सफेद कभी न होगा।’ अतः चरित्रको सदा निर्मल रखना चाहिये।

धनकुवेर जान डि राकफेलरने युवकोंको समझाया था कि ‘हरेक युवकके लिये सबसे आवश्यक वस्तु है चरित्रकी साख तथा यश प्राप्त करना।’ और इसी सिलसिलेमें विद्वान् दार्शनिक स्पेंसरकी बात याद रखनी चाहिये। स्पेंसर (चन् १७९८—१८५४)ने कहा था—‘मनुष्यकी सबसे वड़ी आवश्यकता शिक्षा नहीं, उसका चरित्र है। वही उसका सबसे वड़ा रक्षक है।’ यदि चरित्र मनकी शुद्धिसे बनता है तो मन हमारे हृदयपर निर्भर करेगा।

अग्निपुराणने तो कह दिया है कि 'बुद्धिमानका ईश्वर हृदयमें रहता है, तो फिर यह मान लेना होगा कि जो दुराचार करता है, वह पहले अपने हृदयसे ईश्वरको निकाल फेंकता है।'

व्यवहार

याज्ञवल्क्यसूत्रमें विधि (कानून—Law) को 'व्यवहार' कहा गया है और उस महापुरुषने स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार तथा सदाचार एक ही वस्तु है। जो व्यवहारी है, वह सदाचारी भी है। 'व्यवहार-दर्पण'में सदाचारकी व्याख्यामें कहा गया है—'कर्तव्य, शाश्वीय, स्वयं-स्थित, सम्राटोंका सम्राट्, शक्तिशाली, सही तथा सत्य।'

यूनानी दार्शनिक देमोस्थनीज—(इस्लीपूर्व ५०० वर्ष)ने लिखा था कि 'विवान ईश्वर तथा साधु-संतोंकी देन है।' दार्शनिक अरस्तु कहते थे—'आचार बुद्धि, तर्क तथा ईश्वरके वरदानसे प्राप्त होता है।' वाल्मीकीय रामायणमें तीन प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। अपने जीवनमें एक तो वह है जिसे हम नित्यकी किया कहते हैं—जैसे स्तान इत्यादि। दूसरा किसी निमित्त, किसी कारणसे होता है। तीसरा है काम्य, जो किसी प्रयोजन, इच्छा या संकल्पके कारण होता है। इन तीनों स्थितियोंमें आचरणकी परख होती है। जिसने किसी एक स्थितिमें आचरणका ध्यान रखा तथा दूसरी स्थितिमें आचरणसे उदासीन रहा, वह कदापि सदाचारी नहीं है। मनुष्य प्रायः काम्यकर्ममें ही अपने पतनकी सामग्री पैदा करता है। हम अपने लिये जो चाहते हैं, उससे दूसरेकी हानि हो तो होने दो, हमें अपना कल्याण चाहिये। पर मुसलिम धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफमें भी यही लिखा है—जिसकी हजारों वर्ष पहले हमारे शास्त्र भी चेतावनी दे चुके थे—कि 'ऐसा कार्य

न करो, जिसे तुम चाहते हो कि दूसरे भी तुम्हारे साथ वैसा न करें'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेपां न समाचरेत्।'
(श्रीविष्णुधर्मोन्नतरमहा० ३ । २५३ । ४४)

छोटी-मोटी सिद्धि प्राप्त करनेसे न तो मोक्ष होता है और न आचरण बनता है। पतञ्जलि, बुद्ध तथा आजके युगके श्रीरामकृष्ण परमहंसने सिद्धि और ऐश्वर्यको कैवल्य (मुक्ति)में बाधक माना है। श्रीरामकृष्ण परमहंसने तो कहा था—'साक्षात् रहो ! अपने भीतर-को बनाओ। छोटी-मोटी सिद्धियाँ या ऐश्वर्यके चक्रमें मत पड़ो।' जैनियोंके उत्तराध्ययन-सूत्रमें मनःपर्यय-को मुक्तिमे बाधक माना है। साधु-वचन है—

मनके मते न चलिये, पलक पलक कहु और।

पारसी धर्म, जो हमारे आर्य-धर्मकी ही एक शाखा है, हमें जीवनके लिये तीन मन्त्र देता है—हमता-सद्विचार, हुखता—सत्कथन और हुवशता—सत्कार्य। वस, इन्हीं तीनके पालनसे खर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है।

उपासनाके भाव

सदाचारीको अपने जीवनमें एक-न-एक रेखा बनाकर प्रभुसे लगन लगानी पड़ेगी। तभी वह मनके बन्धनसे आगे उठकर अच्छे चरित्रका निर्माण कर सकेगा और इहलोक और परलोकको सँभाल सकेगा। नीचे लिखे भावोंमें एकको अपनाना ही होगा—

शान्तभाव—परमात्माके प्रति ऋषियोंके भावके समान।
दास्यभाव—श्रीरामके प्रति हनुमानका।

सत्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका।

आपत्यभाव—भगवतीके प्रति मार्कण्डेय ऋषिका।

वात्सल्यभाव—वाल्मीकिके प्रति यशोदाका।

कान्त या माधुर्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति राधाका।

यदि इनमेंसे किसी भावको नहीं अपनाया तो हमारा कल्याण न हो सकेगा और हमारा जीवन निर्धक हो जायगा।

समाजकी स्थितिकी चिन्तनीय गिरावट के बहु सदाचारकी मर्यादा तोड़ने के कारण है। हाँ, व्यक्तिगत रूप से वही सदाचारी रह सकता है, जिसको ईश्वरका, अपना, और अपने परलोकका भय है। इसीलिये जर्मन-कवि गेटेने लिखा था—‘जो कुछ वास्तविक है, वह अपनी करनी है। अपना आचरण है। वाकी सब मिथ्या है।’

संत सुकरातने आजसे ढाई हजार वर्ष पहले कहा था—
‘हे भगवान् ! मुझे वही दे, जो मेरी भवाईमें हो।’

जहाँतक जीवन-व्यापनका सम्बन्ध है, हमें भगवान्से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि ‘कायेन वाचा मनं-निद्रैवं—शरीर, वचन, मन तथा इन्द्रियोंसे जो भी अपराध हमने किया है, उन्हें वे क्रपा करें। आगे हमसे ऐसी भूलचूक न होगी—हमाग मन शुद्ध रहे, हम अच्छा संकल्प किया करें, जिसमें हमारा आचार भवा हो। वसुन्तः यही मानस सदाचार है।

सदाचारका स्वरूप-चिन्तन

(लेखक—श्रीकौ० व्यवतार शर्मा)

सदाचार श्रुति-स्मृतिप्रोत्क धर्मकी वह क्रियात्मिका शक्ति है, जिसपर संसार टिका है। जगत्की रक्षा एवं नाश—इन दोनोंका एकमात्र कारण धर्मको बताकर सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मनुने धर्माचरणपर जोर देते हुए कहा था—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नोधर्मो हतोऽवधीत् ॥
(मनु० ७ । २५)

‘धर्म हमारे द्वारा विनष्ट किये जानेपर हमारा नाश करना है और हमारे द्वारा रक्षित होनेपर हमारी रक्षा करता है। इसलिये धर्मका नाश नहीं करना चाहिये जिससे धर्म भी हमारा नाश न करे।’

सदाचार धर्मका रूपान्तर है

सदाचार धर्मका रूपान्तर वताया गया है। ‘स्मृति-चन्द्रिका’में इसे धर्मके लक्षणोंमें (अर्थात् धर्मकी विवाहोंमें) प्रथम स्थान दिया गया है।

शिष्याचारः स्मृतिवैदाः विविधं धर्मलक्षणम् ।
(स्मृति-चन्द्रिका)

शिष्यजनोंका आचरण, धर्मशास्त्र और वेद—ये तीन धर्मके लक्षण हैं।

इसीके अनुरोधपर, मनुस्मृतिमें धर्मव्यवस्था निरूपणमें इस सदाचारका उल्लेख दीख पड़ता है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमानमनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राणुः सायाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० २ । २२)

इस प्रकार इन दोनों प्रन्थोंमें सदाचार धर्मका ही रूपान्तर निरूपित किया गया है।

सदाचार शब्दकी व्युत्पत्ति

मनुस्मृतिमें सदाचार शब्दका विवेचन तीन विभिन्न प्रणालियोंके अनुसार किया गया है। इनके अनुसार सदाचार शब्दकी तीन व्युत्पत्तियाँ निप्पन हैं।

संश्वासाचाचारः सदाचारः—यह पहली व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार सदाचारका अर्थ है—‘वह आचार जो ‘सत्’से सम्मिलित हो, सुप्तु हो, अच्छा हो।’ ‘प्रस्थानत्रयी’में यह सच्छब्द सदाचारके पर्यायके रूपमें प्रयुक्त-सा दीख पड़ता है। यह परदस्तके अर्थमें भी कहीं-कहीं दीख पड़ता है। गीतामें इस सच्छब्दार्थका विवेचन इस प्रकार किया गया है—

सञ्चावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥
(१७ । २६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! सच्चद्वका प्रयोग अस्तित्वके अर्थमें एवं सत्त्वभावके अर्थमें किया जाता है और प्रशस्ताचरणके लिये भी इसका प्रयोग होता है ।' श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित कर्मचरण भी सदाचार कहलाता है; यह भी गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

यज्ञे तपसि दाने च श्यतिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥
(१७ । २७)

'अर्थात्—यज्ञ-तप-दानोमें आचरित निष्ठा भी सत्पदार्थ कहलाती है एवं तदर्थीय काम भी सत्-पदवाच्य है ।'

'श्रुतिस्मृत्यर्थप्रतिपादकत्वमेवाच्च सच्छब्दार्थः'

—इस उक्तिके अनुसार सत् शब्द श्रुति-स्मृति-प्रतिपादकत्वका परिचय कराता है । त्मृतियौं 'वेदों'का ही अनुसरण करती हैं, जैसा कि महाकवि कालिदासने भी कहा है—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' । (रघु० २ । २) सदाचारको मनुस्मृतिने 'परम धर्म'के रूपमें प्रस्तुत किया है और उससे युक्त रहनेका आदेश दिया है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादिस्मिन् सदा युक्तो तित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥
(मनु० १ । २०७)

वहीं इसका फल बतलाते हुए कहा गया है कि—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेद फलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥
(मनु० १ । २०९)

आचारविहीन पुरुष केवल कर्मकाण्डादि करनेमात्रसे वेदोक्त फलोंको प्राप्त नहीं कर सकता है, वरन् आचारवान् ही सम्पूर्ण फलप्राप्ति होता है ।

एवमाचारतो द्वष्टा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥
(मनु० १ । ११०)

इस प्रकार आचारमें धर्मकी गतिका दर्शन करके हमारे ऋषि-मुनि, आचारके सभी तपश्चर्याओंके मूलरूपमें स्थीकार कर चुके थे ।

इसका द्वितीय विप्रह इस प्रकार है—'स्ततम् आचारः सदाचारः' इति । अर्थात् सज्जनोके आचारको सदाचार कहते हैं—'यह सदाचार शब्दका एक और निर्वचन है । 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'—यह उक्ति इसी सदाचारको दृष्टिमें रखकर बनायी गयी है । ब्रह्मावर्तका आचार भी इसी स्तरपर सदाचार है । इसी क्रममें भर्तृहरिद्वारा प्रतिपादित ऐसे सदाचारियोंके गुणोंका परिचय करनेवाले ये इलोक भी ध्यान देने योग्य हैं—

चाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे प्रीतिर्गुरुरौ नम्रता विद्यायां व्यसनं स्वयोपिति रतिलोकापवादाद् भयम् ।
भक्तिः शूलिलि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेऽथो महद्भयो नमः ॥
(नीतिशतक ५१)

सत्यसाङ्गत्यकी इच्छा, औरोके गुणोंके प्रति प्रीति, वडोंके प्रति नम्रता, विद्यामें आसक्ति, समार्थारतिकी कामना, लोकापवादकी भीति, ईश्वरके प्रति भक्ति, इन्द्रियोंके दमनकी शक्ति, दुर्जनोंकी संगतिका त्याग—ये सबुण जिसमें रहते हैं, उन्हे हमारा नमस्कार है ।

विपदि धैर्यमयाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पद्मुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥
(नीतिशतक ५२)

'विपत्तिमें धीरज धरना, समृद्धिमें क्षमा, सभामें वामिता (अच्छी तरह बोलना), युद्धमें विक्रम-प्रदर्शन, कीर्तिकी कामना, वेदशास्त्राभ्यासमें शौक—ये सज्जनोंके नैसर्गिक गुण हैं ।'

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'—यह महाजनोंका और एक लक्षण है । सज्जन लोग जो मनमें सोचते हैं, उसीको बोलते हैं; और जो बोलते हैं उसीको जैसे-कै-तैसे कर डालते हैं । इस प्रकारके

गुणवान् सज्जनोंके आचार ही सद्गुरार हैं। गीतामें इन सदाचारके सम्पर्क परिपालनका संदेश गिरता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त्वं द्वेषत्वं ज्ञनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकसनदगुरुत्वं ॥

(३।२१)

‘गुणवान् जो कर्म बहता है अन्य लोग भी उभी-तो अनुसरण करते हैं और वह जिसको प्रमाणके द्वारामें दीक्षार कर रहा है, सभी लोग उसके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं।’

सदाचारके विशेष मनुस्यति (४।१२२) में भी यही बताया गया है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छश्च रिष्यते ॥

‘जिस श्रेष्ठ पन्थके अनुसार असने गिरु-पितामह नहीं हैं, उसी सन्मार्गका अनुसरण बहना चाहिये। इस मार्गपर चलनेवाला धर्मच्युत नहीं होता।’

इसके अतिरिक्त मनुस्यतिमें व्यक्तार-निर्णय भी सदाचारके माध्यमसे करनेवा आदेश दिया गया है।

सद्भिराचरितं यत् स्याद् धार्मिकेऽद्विजानिभिः ।
तद् देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयन् ॥

(५।४६)

‘सिद्धिको प्राप्त करनेमें मन्त्र, उपदेश और वात्रादिके साथ-साथ देशका भी अपना महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है।



सदाचारकी श्रेष्ठता और फल

(श्रीओरीसन ख्येटमार्डन)

	अकेला सदाचार-बल सम्पूर्ण संसारपर अपना प्रभुत्व जमा सकता है। सदाचार ही सर्वोत्तम शक्ति है। सदाचार ही सर्वोत्तम सम्पत्ति है। सदाचार ही सर्वोत्तम धर्म है। सदाचार ही सर्वोत्तम मोक्ष-साधन है। पवित्र विचार, पवित्र वाणी और पवित्र व्यवहार ही सदाचार है।	
--	---	--



सदाचारकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीगुलावसिंह लॉगर एम० ए०, एल० टी०)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्धालुरनदूरस्त्र शतं वर्षाणि जीवति ॥

(मनुस्मृति ४ । १५८)

मनुके उपर्युक्त वचनानुसार 'सर्वलक्षणोंसे हीन होनेपर' भी जो व्यक्ति सदाचारी, श्रद्धालु एवं दोषरहित होता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है । भद्र व्यक्तियों, साधुजनोंका आचरण ही सदाचार होता है । जो व्यक्ति अच्छा ही विचार करते हैं, अच्छा (श्रेष्ठ) ही बोलते हैं एवं अच्छा ही आचरण करते हैं, वे ही सज्जन होते हैं । सदाचारसे ही सज्जन स्त्रीय इन्द्रियोंको वशमें करते हुए समष्टिहितार्थ शिष्ट व्यवहार करते हैं और अन्ततोगत्वा आत्मज्ञानद्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं । 'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह उस परमात्माको केवल आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता (कठ० १ । २ । २४) ।' यथार्थतः जिन कर्मोंसे, जिन आचरणोंसे इस लोकमें सब प्रकारका अभ्युदय हो और जीवनान्तमें निःश्रेयस प्राप्त हो, वही वास्तविक रूपेण धर्म या संयत सांस्कारिक जीवन है । यही सच्चे अर्थमें धर्मका शुभ स्वरूप है—

यतोऽस्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (मीमां० १ । १ । २) ।

आर्यदेशके ऋषियोंकी वाणीके अनुसार—'मानुष्यान् न हि श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'—मनुष्यत्वसे बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है । विचारवादियोंके कथनानुसार भी ईश्वरकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानव-व्यक्तिव है । गोसामी तुलसीदासजीने अन्यान्य जीवोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहा है—
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाह न जेहि परलोक सँचारा ॥
नर तन सम नहि कवनिड देही । जीव चराचर जाचत लेही ॥

(मानस ७ । १२० । ५)

स० अ० ३७

श्रुति कहती है—'यं क्रतुमयः पुरुषः । अथात् मानव निश्चयमेव क्रतुमय अर्थात् निश्चयवाला होता है । इतना ही नहीं, पुरुष श्रद्धामय भी होता है । उसीके अनुरूप ही उसके आचरण और सिद्धान्त बनते हैं— श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ (गीता १७ । ३)

स्पष्ट है कि सिद्धान्तयुक्त जीवन ही सदाचारयुक्त दर्शनका प्रतिफल है, जिसका मूल इङ्गित है—समष्टिके प्रति समताके उदारतापूर्ण सद्व्यवहारमें । सदाचारकी सुदृढ़ शृङ्खलामें निम्न कड़ियाँ महत्वकी हैं, जो आपसमें एक दूसरेसे बँधी हुई परस्पराश्रित हैं । इनमें प्रथमतः हम विचारपक्षकी ओर झुकते हैं । विचार ही भौतिक जगत्का प्राण है । जगत्की वास्तविकता विचारोंपर ही आश्रित है । विचारोंसे ही इन्द्रिय-अनुभव-योग्य वस्तुओंकी जाँच होती है । अतः विचार मनकी क्रियाशीलताका प्रतिफल है । इस जगत्का आवार भी मन ही है । इस प्रकार यह सब भौतिक मनकी अभिव्यक्ति है । मनमें विचार आनेपर हम चिन्तन करते हैं, तत्पश्चात् तर्क करते हैं । तर्क-वितर्क चिन्तनका विशेष गुण है एवं चिन्तन विचारोद्धारा ही सम्भव है । उक्त समस्त क्रियाएँ मस्तिष्क, मन, विचार, तर्क, चिन्तन, प्रज्ञा, नैतिकता, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आदि मानवमें ही होते हैं । सदाचार-सम्पूर्ण मानव देवताके ही समान अल्पन्यून गौरव एवं प्रतिष्ठासे विभूषित होता है तथा उसका परमात्माकी अन्य समस्त कृतियोंपर अविकार है । पाश्चात्य विद्वान् 'रोस'के शब्दोमें—

'He is a little lower than angles,
crowned with glory and honours, having
dominion over all other works of God.'

(Ground Work of Educational Theory.)

P. 115

वर्तमान युग समस्त विश्वके संक्षण एवं निर्माणका युग है, जिसके प्रवल प्रवाहके साथ भारतमे भी विविध परिवर्तन एवं निर्माणके पग उठाये जा रहे हैं। मानव प्रकृतिको परास्त करनेकी ताकमें व्यस्त है, किंतु सदाचार, आचार-विचार विलुप्त होते जा रहे हैं। मनुष्य श्रद्धा और विश्वाससे हीन होता जा रहा है। विलास-आरामकी प्रवृत्तिमें मानवकी चिन्तनशक्ति थक गयी है। सम्प्रति सदा वारके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं और मानवताविरोधी कृमि पनप रहे हैं। निमिप-निमिपमे होनेवाले भीपण कुकृत्य—आत्मघात, बलात्कार, भ्रणहत्या, विश्वासघातके भयंकर परमाणु वृद्धिकी चरम सीमापर हैं। मनुष्णने भौतिकताकी चकाचौधमें, भ्रमान्व प्रगतिके व्यामोहमे सदाचारपरायणताको विस्मृत कर दिया है; किंतु क्या इससे उसका कल्याण सम्भव है?

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन विश्राम।
भूत द्वौह रत मोहवस राम विसुख रति काम॥

(मानस ६ । ७८)

मानव विश्वमे परिव्याप्त चेतनसत्ताकी अनुभूति अपने अन्तःमे व्याप्त चैतन्यकी अनुभूतिसे कर सकता है। सदाचारसे ही आत्मानुभूति (अपने वास्तविक स्वरूपकी पहचान) होती है। जो व्यक्ति स्वयंका ज्ञान प्राप्त करेगा, वह सद्गुणके मार्गपर स्वयं चलेगा। 'सुकरात' (Socrates)के कथन 'Knowledge is virtue' (ज्ञान पुण्य है)के अनुसार 'Know thyself' (अपनेको जानो)का तात्पर्य यही है, न कि स्वयंको जानकर शान्त होना। सदाचारकी पुनीत भावना है—समष्टिगत 'स्व'में व्यक्तिगत 'स्व'का विलीन होना। संसार परिवर्तनशील है और 'परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।' के अनुसार मृत्यु और जन्मका क्रम अनादिकालसे चलता चला आ रहा है। मृत्युके उपरान्त मनुष्यका केवल नाम ही शेष रहता है। अतः क्यो न नेक नामको शेष छोड़ा जाय? जीवनमें क्यों न सदाचारशीलताका अनुसरण किया जाय? जन्म

उन्हीं व्यक्तियोंका सार्थक है, जिनके भौतिक शरीरका अस्तित्व न रहनेके बाद भी नाम (यश) अमर रहता है—'नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।' (नीतिशतक २०)

सम्प्रति मानव राकेठ आदि यानोसे चन्द्रमातक पहुँच गया है। इस प्रगतिकी परिधिमें परिवद्व महान् वैज्ञानिक युगका आर्थिक-सामाजिक ढाँचा भी अपने ही वृद्धि-विश्लेषणकी चकाचौधमें विवेक एवं अन्तःसंतुलनके अभावमे कभी अपने ही खोखलेपनके कारण किसी अण्युद्धमे ध्वस्त हो सकता है। ऐसे विवेकहीन और सदाचारहीन जीवनमें शान्ति कहाँ? विजयश्रीकी प्राप्ति राकेठ आदि यानोसे सम्भव नहीं, सच्चा विजयस्यन्दन तो दूसरा ही है—जैहि जय होइ सो स्यंदन आना॥ सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥ बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥ दृस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना॥ दान परसु दुधि सक्ति प्रचंडा। वर विग्यान कठिन कोदंडा॥ अमल अचल मन त्रोन समाना। समजम नियम सिलीमुख नाना॥ कवच अभेद विष गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥ सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहूँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

(मानस ६ । ७९ । २३—६,८० क)

सदाचारकी महनीय सावना शान्ति, श्रेय एवं प्रेयके सहज समन्वयमे होनी चाहिये। सम्प्रति हमें—विशेष-रूपसे नवयुवक-साधकोंको—उनके समन्वयहितार्थ निरत रहना है, जिसकी अनिवार्य उपयोगिता व्यापक लोकजीवन तथा विश्वमङ्गलके लिये ही नवीन विश्वको नवीन सौन्दर्यवोध तथा शक्तिसे प्रेरित करना है। राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय सङ्घावना इसीमे निहित है। सदाचारकी भूमिका विश्वमङ्गलक प्रसारित है—'उदारचरितानां तु वसुधैव कुदुम्बकम्।'

(हितोप० १ । ७०)

'विश्वको एक साझेदारी माना जाता है। इसको मैत्रीपूर्ण ब्रह्माण्डके रूपमे देखा जाता है। हम धृणा

करनेकी अपेक्षा प्रेम करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं। एक-दूसरेको समास करनेके लिये कदापि नहीं, हम सहायता करनेके लिये आये हुए हैं। परंतु प्रचार तथा कझरवादिताके फलस्वरूप हम स्थंयको सर्वोच्च मानने लगे हैं। साथ ही हम उनको अपने परिवारका नहीं मानते हैं। मानवमें यह भावना प्राकृतिक आवेगोके कारण उत्पन्न नहीं होती, वरन् स्वभावसे मानव एक-दूसरेसे प्रेम करता है। धर्मान्धताके कारण हमने मानवको उसकी सहदयता, सहानुभूति तथा भ्रातृत्वकी स्वाभाविक भावनाओंसे दूर कर दिया है। हमारा इस विषयमें यह उद्देश्य होना चाहिये कि हम किसी तथ्यको अतिरिक्त रूपमें गलत ढंगसे प्रस्तुत न करें, वरन् हम सत्यकी आवाजको सुनें तथा आत्माकी पुकारका पालन करें।

(—डॉ० राधाकृष्णन्)

भर्तृहरिने स्वयं सदाचारके स्वरूपका निरूपण करते हुए सदाचारी व्यक्तियोको सम्मानास्पद दृष्टिसे देखा है। यथार्थतः सदाचार इन गुणोंसे परे कोई अन्य गुण नहीं है। इन गुणोंका पुष्कल प्रभाव जिन व्यक्तियोंमें है वे ही सदाचारकी पुनीत प्रतिमा हैं; यथा—

वाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे ग्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोपितिरतिलोकापवादाद् भयम्॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भयो नमः॥

(नीतिशतक ५१)

‘सज्जनोके सङ्गकी वाञ्छा, परगुणोंमें ग्रीति, बडे लोगोंके प्रति नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीसे रति, लोकमिन्दासे भय, महेश्वरमें भक्ति, आत्मदमनकी शक्ति एवं खलोंके सङ्गका परित्याग—ये निर्मल गुण जिन पुरुषोंमें निवास करते हैं, उन्हें हम नमस्कार करते हैं।’

सदाचारकी मान्यता

(लेखक—श्रीवेदप्रकाशजी द्विवेदी, ‘प्रकाश’, एम० ए०, साहित्यरत्न)

विधानाकी सुष्ठि ही द्वन्द्वात्मक है। एक ओर जहाँ मुस्कराते-खिलते पुष्प सौन्दर्य-श्रीके प्रतीक हैं, वहीं झुलसते शूल अपने कुटिल अंशसे जुड़े हुए लोक-मानस-को उत्पीड़नके रूपमें दिखायी पड़ते हैं। जहाँ प्रवाल-सी उपाकी मोहक अरुणिमा अपने मोहक आकर्पणसे जन-मानसको रँग देती है, वहीं कजलिनी निशाकी धनीभूत कालिमा मनको दूसरे भावोंसे भर देती है। इन्हीं द्वन्द्वोंमें सदाचार और दुराचार हैं।

जिस आचरणसे लोक-मङ्गलका विधान बनता है, वह समाजके लिये श्रेयस्कर होता है और जिससे समाजमें वित्तणा, कष्ट और विश्वोभ होता है, वह समाजकी मान्यतामें दुरा माना जाता है। लोक-मङ्गलकी दृष्टिसे अपनाये जानेके कारण सदाचारकी इग्नो तथा

सामाजिक विश्वोभ देनेके कारण दुराचारकी निन्दा की गयी है। सारी भौतिक सम्पदा हो, हर प्रकारका सौविद्य हो, सदाचार न हो तो वह समाजके लिये अवाञ्छनीय बन जायगा। सांसारिक सम्पदाओंकी कमी हो, किंतु जिसमें नैतिक बल और सामाजिक समुत्थानके भाव होगे, तो उसका अविरल महत्व रहेगा।

रावणकी लंका सोनेकी थी। वह महावली और महापण्डित था। चारों वेद उसे कण्ठाप्र थे। वह मन्त्र-तन्त्र और यन्त्रके वैभवोंसे भरा था और भौतिक सम्पदाओंसे भी नितान्त समृद्ध था, किंतु उसमें सदाचारका अभाव था। वहीं श्रीराम बन-बन भटक रहे थे, उनके पास न सेना थी न धन था, किंतु उनमें सदाचारका सम्बल था। फलतः श्रीरामके मुखपर उल्लासकी लालिमा

नाचती रहती थी। उनमें साहस, सौहार्द और लोक-प्रियताका भाव चरम शिखरपर था। वे बन्दनीय बने और रावणके साथ युद्धमें विजयी हुए। विमीपगने युद्धके मैदानमें जब 'रावनु रथी विरथ रघुवीरा' देखा तो वह अवीर होकर विकल्पमें भगवान् श्रीरामसे बोल उठा— नाथ न रथ नहिं तन पद आना। केहि विधि जितव वीर वलवाना॥

वह घबड़ा-सा गया था। किंतु श्रीरामने उसे सदाचारकी महिमासे अवगत कराते हुए सौम्यभावसे कहा—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होहू सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दृम परहित वोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके॥

(मानस ६। ७९-८०)

श्रीरामकी इस वाणीमें भौतिक शक्ति और सम्पदाका नगण्य-भाव गिरता दीख रहा है और आध्यात्मिक गुणों तथा सम्पदाओंका सनातन ध्वज फहरा रहा है। एक ओर सांसारिक सम्पदाओंका अखण्ड राज्य था, दूसरी ओर सदाचारका परिवार देखनेमें क्षीण, किंतु अनन्त-शक्ति-सम्बलसे सम्बलित। संसारने देखा कि भौतिक सम्पदा सदाचारकी धारामे विनष्ट हो गयी। रामका सदाचार रावणके दुराचारपर विजयी हुआ। आद्य काव्यका महावाक्यार्थ—'रामवद् वर्तितव्यं न कचिद् रावणादिवत्' लोकप्रसिद्ध सदाचारका निर्देशक बन गया।

हिरण्यकशिपु भी सम्राट् था। शब्द-बल और अख-बल तो उसमे थे ही अन्य भौतिक उपादान भी उसके हाथको बढ़ानेमें उसकी सहायताके लिये सतत संनज्ज थे। वहीं अकिञ्चन प्रह्लाद अपनी निरीहतामें भी सदाचारी

था। संसारकी आँखोंने देखा 'स्वर्ण'का तकिया लगानेवाला भौतिकवादी सम्राट् हिरण्यकशिपु विनष्ट हो गया, किंतु प्रह्लादके मुख-मण्डलकी लालिमा आहादकारिणी बनी रह गयी। आज भी प्रह्लादकी अक्षय-कीर्ति-पताका फहराती हुई देखी जा सकती है।

न जाने कबसे सृष्टिका यह क्रम चल रहा है, इसके सम्बन्धमें धर्मचार्यों, वैज्ञानिकों आदिमें आश्र्य, विडम्बना और प्रश्नोके तार-परन्तार बैंधे हैं, किंतु उसका कोई अन्तिम समाधान नहीं है। जो भी हो, चिरकालसे प्रकृतिकी यह लीला धरावामको चमक्षुन करती आ रही है। जबसे इसका इतिहास प्राप्त होता है, आजतक यही बात मिलती है कि लौकिक सम्पदाओंको आध्यात्मिक सम्पदाओंके आगे झुकना पड़ा है। सत्य तो यह है कि लौकिक सम्पदाका जहाँ अन्तिम शिखर बनता है, वहीसे आध्यात्मिकताका प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, चम्पू, नाटक आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें इस सत्यका सर गूँजता चला आ रहा है—सदाचारकी गरिमाका ध्वज संसारमें फहराता चला आ रहा है।

आदिकालसे आजतक सदाचार-रत्नोंका सम्मान रहा है। मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, अङ्गिरा, वसिष्ठ, जमदग्नि, लोमश, दिलीप, राम, कृष्ण, बुद्ध, परमहंस खामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय और महात्मा गौड़ी प्रभृति इसके उद्दीप उदाहरण हैं। संसारमे जबतक मानव-मस्तिष्कमें बुद्धि और विवेकका अंश रहेगा, तबतक सदाचारकी विजयपताका फहराती रहेगी।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत गिरिराजकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल०, सम्पादक 'द्रूष्टु')

आचारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः ।
आचारः परमं ज्ञानं आचारात् कि न साध्यते ॥
आचाराद् विच्छुतो विप्रो न वेदफलमश्चुते ।
आचारेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥
यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत् ।
स एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मवहिष्कृतः ॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम तप है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका पालन हो तो असाध्य क्या है !' शास्त्रोंमें आचारका ही सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है । 'धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका माता-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका सामी है ।' इस प्रकार आचार ख्यात ही परमेश्वर सिद्ध होता है । 'एक ब्राह्मण जो आचारसे ज्युत हो गया है, वह वेदोंके फलकी प्राप्तिसे विवित हो जाता है, चाहे वह वेद-वेदान्तोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु जो आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त कर लेता है ।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे इच्छित संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम धन देता है और दोप-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता है । 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों-सहित वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित तथा सभी कर्मोंसे वहिष्कृत समझना चाहिये ।'

शास्त्र कहते हैं कि 'धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है—' 'आचारप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर निर्भर है । धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक सदाचारके विना सम्भव नहीं है । इसलेखमें मेरा लक्ष्य केवल शारीरिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई परिस्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे मिश्रित रहता है । यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें

आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिसूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन करापि नहीं कर सकता । इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ समष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है ।

भगवान् ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारोंका निर्देश किया है । प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है । जब भारतवासी प्रातःकाल शत्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं । कोई भी हिंदू विना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके विना वे अपनेको अखच्छ समझते हैं । यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है । ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदि-के निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है । वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शत्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं । यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'द्रूथवृस' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था । अप्रैल १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो सच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई । ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अप्रैलोने मुँह धोनेकी विधि सीखी । पाश्वात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वहाँके लोग अब भी सच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं । परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं ।

हमलोगोंके साथ विशेष निकट-सम्पर्कमें रहने तथा विज्ञानद्वारा कूँचीसे दॉत साफ करनेकी शिक्षा प्राप्त करनेपर भी उन्हें अभीतक यह ज्ञान नहीं हुआ है कि मुँह धोये विना भोजन कर लेना एक प्रक्रिया प्रचलित है। इंग्लैडमें उठते ही चाय पीनेकी प्रक्रिया प्रचलित है। यह लिखते हुए दुःख होता है कि उनकी नकल करनेवाले भारतीय हिंदुओंमें भी अब यह प्रक्रिया धीरे-धीरे व्याप्त होने लगी है। इस प्रकार पाश्चात्य देशोंके साथके सम्पर्कने हमारे सदाचारको अत्यन्त पतनोन्मुखी दशातक पहुँचा दिया है। साथ ही हमारे देश तथा उसकी सीमाओंपर भी सदाचारका धीरे-धीरे हास होने लगा है।

अब एक दूसरी बात लीजिये। हमारे यहाँ दूसरोंका जृठन प्रायः विक्षित चित्तवाले अथवा अत्यन्त गये-गुजरे व्यक्ति ही खा सकते हैं। कोई भारतीय (सदाचारी) दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करनेकी बात भी मनमें नहीं सोच सकता और यदि कोई इस विषयपर ध्यान देकर सोचता है तो इसे पूर्ण वैज्ञानिक—आचार ही मानता है; क्योंकि चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार भी वीमारियाँ प्रायः खान-पानके माध्यमसे ही फैलती हैं—विशेषकर तरल पदार्थोंके संसर्गसे। शाखोंके अनुसार तो वीमारियाँ ही नहीं, भले-तुरे संस्कार भी संक्रमित हो जाते हैं। किंतु पश्चिमके लोगोंने अभी केवल उच्छिष्ट भोजनसे वीमारियोंके ही संक्रमणका ज्ञान सीखना प्रारम्भ किया है। कहा जाता है कि उनके होटलों (भोजनालयों), जलपानगृहों, वायुयानों, गाड़ियों आदिमें तस्तरियोंमें छोड़े हुए भोजन फैले नहीं जाते। इन स्थानोंमें तथा अन्य सागतके स्थानों-पर भी अतिथियोंके अनजानेमें दूसरोंके द्वारा परियक्त भोजनको परोसनेमें तनिक हिचकतक नहीं होती। ऐसी प्रक्रियाओंकी वहाँ कोई आलोचना भी नहीं करता। विमानकी परिचारिकाएँ तो ऐसे भोजनोंको परोसते समय अपना हाथ भी नहीं धोतीं। विमान-यात्री भी खानेके पहले या बादमें अपना हाथ नहीं धोते। विमानोंमें आप प्रायः

प्लास्टिक या कागजके ग्लासोंको ही जलपानके लिये पाय়ेंगे, जो दूसरोंके द्वारा पहले व्यवहृत हुए रहते हैं और जिन्हें पीनेके बाद जलसे धोयातक नहीं जाता। जो लोग आचारका पालन करते हैं और इस प्रकारके खान-पानके अभ्यस्त नहीं हैं, वे भी धीरे-धीरे संसार्गवशात् दुर्भाग्यवश जब इसके आदी हो जाते हैं तो उन्हें भी जैसी पहली बार घबड़ाहट हुई थी, वैसी बादमें नहीं होती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार मनुष्यका आचार बदल जाता है और वह भी उन्हीं प्रक्रियाओंका पालन करने लगता है, जो आरम्भमें उसे अत्यन्त वृणित प्रतीत होती थीं। फिर भी जहाँतक हो सके, इन बातों और परिस्थितियोंमें सदाचार-प्रेमीको परहेज रखना चाहिये।

शल्य-चिकित्सक (सर्जन) लोग चीर-फाड़-घरमें जानेके पहले कीटाणु-निरोधक वस्त्र एवं श्वासमें कीटाणुके प्रविष्ट होनेसे रोकनेके लिये मुख-नासिकादिके ऊपर भी आच्छादन-वस्त्र धारण किये रहते हैं और धावको चीरते-फाइते समय भी ऐसा ही करते हैं। वे अपने हाथोंमें भी कीटाणु-निरोधक रवरके दस्ताने धारण किये रहते हैं। चीर-फाड़-घरमें प्रायः सामान्य जूतोंका व्यवहार नहीं होता। एक विशेष प्रकारके जूते ही उस घरमें सभी व्यक्तियोंद्वारा व्यवहृत होते हैं, जो प्रायः रवर या एक प्रकारके निर्यास द्रव्यसे बने होते हैं। ये सभी शल्य-चिकित्सक रोग-संक्रमणकी इस प्रकारकी पूर्व सुरक्षाकी विधियाँ तो अपनाते हैं, पर अभी उन्होंने इसकी शिक्षा नहीं प्राप्त की कि भोजन भी एक प्रकारका संक्रमणका कारण है। इसलिये खानेके पहले भी हाथ-पैरोंको धो लेना आवश्यक है और जूतोंको भोजन-कक्षमें नहीं ले जाना चाहिये; क्योंकि जूते चीर-फाड़-घरमें नहीं ले जाये जाते हैं। भोजनके समय बातालाप भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके भोजनके कण इस प्रकार उनके मुँहसे निकलकर दूसरोंकी थाली या बायुमण्डलद्वारा मुँहमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

विज्ञानकी प्रगति ने चिकित्सकोंको शल्यक्रियामें आचारकी शिक्षा तो दे दी, पर अभी उन्हे इसका अपने घरों तथा अन्य स्थानोंमें आचरण करना शेष ही है। हाँ, हिन्दूका एक वालक भी शास्त्रोंके आधारपर इस सदाचारका ज्ञान रखता और पालन करता है। हम ऐसे बहुत-से अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जिनसे ज्ञात होगा कि पाश्चात्य देशोंमें अभी शुद्धताका प्रारम्भिक ज्ञान भी प्राप्त नहीं हुआ है। पाश्चात्य चिकित्साविज्ञानके अनुसार शीतला, चेचक, प्लेग, हैंजा, अविरामज्वर तथा कई अन्य रोग भी संसर्गसे संक्रमित होते तथा फैलते हैं। अतः ऐसे रोगियोंको चिकित्सक जब स्पर्श करते हैं तो उन्हे अपने हाथोंको धोना पड़ता है, पर अभी इन लोगोंने इस समय भी वस्तोंको बदलना नहीं सीखा है। यह सामान्य बात है कि ऐसे अवसरोपर केवल हाथ धोना ही पर्याप्त नहीं है। रोगके संकरणकी सम्भावना तत्रतक नष्ट नहीं होती, जबतक सम्पूर्ण वस्तु नहीं बदल दिये जाते। अतः शौचालयसे लौटने तथा संक्रामक रोगियोंके सम्पर्कमें आनेके बाद अथवा ऐसे रोगियोंके मल-मूत्र-स्पर्शके बाद भी वस्तोंको बदल डालना चाहिये। यदि पाश्चात्य वैज्ञानिक इधर थोड़ा भी ध्यान दें तो उन्हें ज्ञान हो जायगा कि इस प्रकारकी प्रक्रिया मूलतः वैज्ञानिक है, किंतु पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान इस शुद्धिकी वकालत नहीं करता, अतः वे धरपर इस आचारका पालन नहीं करते। पर एक हिन्दू व्यक्ति शास्त्रोद्धारा निर्दिष्ट होनेके कारण इस आचारका पालन करता है। केवल वे हिन्दू, जो पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित हैं, इस आचारका पालन नहीं करते।

पश्चिमके शिक्षित व्यक्ति शब-स्पर्शका कुछ भी विचार नहीं करते। पाश्चात्य विज्ञान—जिसका वे अनुसरण करते हैं, इस विषयपर मौन है। फिर भी आजसे एक सौ वर्ष पहले वियना नागरके एक अस्पतालके प्रसूति-

विभागमें अत्यधिक लोगोंकी मृत्यु देखकर एक दार्शनिक विचारकने पर्याप्त समयतक इसपर विचार किया कि उस प्रसूतिविभागमें ऐसी घटनाओंका कारण क्या है? पर उसे ज्ञात न हो सका। अन्तमें उसने एक दिन देखा कि विद्यार्थी शवगृहोंसे शवपरीक्षण कर उस कक्षकी ओर जा रहे हैं। तब उसे तुरंत ध्यान आया कि सम्भवतः यही इसका कारण हो सकता है। उसने तत्काल ही उन्हें उस विभागमें प्रवेश करनेसे रोका और इसके बाद वहाँकी मृत्यु-संख्यामें तुरंत ही कमी हो गयी। इस घटनारे पाठ अवश्य सीखना चाहिये था, किंतु पाश्चात्य चिकित्साविज्ञानने अभी भी शब्दस्पर्श या शब-परीक्षणके बाद स्नान या वस्त्र बदलनेकी बात नहीं सीखी जब कि हमारे यहाँ स्नान करने तथा वस्त्र बदलकर शुद्ध होनेकी परम्परा है।

आधुनिक विज्ञान यह भी नहीं बतलाता कि मृत व्यक्तिसे किसी प्रकारका सम्बन्ध होनेसे मनुष्यको स्नान तथा वस्त्रादिकी शुद्धि करनी चाहिये। अतः डॉक्टर लोग भी ऐसा नहीं करते, जब कि एक मूर्ख-से मूर्ख हिन्दू भी इसका अनुसरण करता है। हिन्दू शौचादिके बाद केवल जलसे ही हाथ नहीं धोते, बल्कि मिट्टीका भी प्रयोग करते हैं, किंतु मिट्टी लगानेकी यह प्रक्रिया पाश्चात्य विद्वानोंको कौन कहे, सर्वोच्च वैज्ञानिकोंतकको भी ज्ञात नहीं है। विलायतके एक वैज्ञानिकने अब इस बातका अनुभव किया है कि ऐसे समयमें कागजोंका उपयोग कितना गंदा कार्य है। उसने बतलाया है कि जब एक बच्चा फर्सपर ही शौच करता है और वह फर्स मुलायम कागजसे फिर रगड़कर साफ किया जाता है तो मलके सूक्ष्म अंश फर्सपर शेष रह जाते हैं। इसी प्रकार शौचके बाद कागजका उपयोग उपस्थितको भी पूर्णतया सच्छ नहीं कर पाता। इतना ही नहीं, कागजसे साफ करते समय मलके सूक्ष्मकण अँगुलियोंमें भी लग जाते हैं। उसी विलायती वैज्ञानिकने यह भी बतलाया है कि छात्रावासके विद्यार्थी शौचके

वाद कागजका ही प्रयोग करते हैं और इसके बाद हाथको भी साफुन या जलसे नहीं धोते। इस प्रकार वे रोगोंके संक्रमणके साधन बन जाते हैं, जिससे ऐसी विमार्याँ प्रायः विद्यालयोमे फैलती रहती हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कोमल शृङ्खरपत्रोंसे की गयी सफाई पर्याप्त नहीं होती और उनके सूक्ष्मांश हाथों तथा मल-स्थानोंपर लगे ही रह जाते हैं, जिससे अनेक आपत्तिजनक परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। वस्तुतः खच्छताका यह प्रकार बड़ा ही असभ्य है। शौचके बाद हाथ आदि न धोनेकी विनोनी प्रक्रिया भारतीय मस्तिष्कको घृणा एवं असुचिसे भर देती है। फिर भी कुछ लोग अब यहाँ भी कागजसे ऐसी शुद्धि करने लग गये हैं। वस्तुतः अनुसरणकी इस दुष्प्रवृत्तिने ऐसे भारतीयोंको अन्धा बना दिया है और वे शौचके बाद गंदे रहनेके लिये प्रसिद्ध हो गये हैं। दिवंगत पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय जव राउण्ड टेब्ल कान्फ्रेस (Round Table Conference) के लिये समुद्रद्वारा विलायतकी यात्रा कर रहे थे, तो वे मिट्टीसे ही अपना हाथ साफ करते थे। वे अपने साथ पर्याप्त गङ्गाजल और मिट्टी ले गये थे। उनकी इस प्रवृत्तिसे कुछ दूसरे भारतीय, जो उसी जहाजसे यात्रा कर रहे थे, कुछ लजित-से हुए; क्योंकि उनकी यह प्रक्रिया उनके देखनेमें असभ्य-सी लग रही थी ! इसे आप भला अनुसरणकी अन्ध-प्रवृत्ति एवं बुद्धिनाशके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ?

शाखोंद्वारा सम्पूर्ण खच्छताके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वख बदलनेकी ही बातको लीजिये; यह १—प्रातः शम्यासे उठते, २—प्रातः भ्रमणसे वापस आनेके बाद, ३—शौचके बाद, ४—शव-स्पर्शके बाद और ५—किसी रजस्वला खीके स्पर्श हो जानेपर परिवर्तित किया जाता है। अब आप विचार करें कि वैज्ञानिक-दृष्टिसे निर्णय करनेपर यह बात कितने महत्वकी तथा सास्थ्यवर्द्धक सिद्ध होती है। कोई

भी मिठाई रजस्वला खीके द्वारा स्पृष्ट होनेके बाद विपाक्त हो जाती है। (जरनल आफ इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन, अक्टूबर १९४९ ।) यह बात दीर्घकालीन जर्मन और अमेरिकाके अनुसंधानोंसे भी सिद्ध हो चुकी है। हम हिंदू अब इस बातको भली प्रकार समझ सकते हैं कि जिसे हमारे शाखोंने युगो पहले बतलाया था, आजके पाश्चात्य वैज्ञानिक भी समीचीन मानकर उसीका अनुसरण कर रहे हैं।

लघुशङ्काके बाद इन्द्रियको जलसे धोना प्रान्सीसी वैज्ञानिकोंद्वारा भी स्वीकार किया गया है; क्योंकि इससे कई संक्रामक रोगोंसे मुक्ति मिल जाती है। ऐसा न करनेसे मूत्र सूखकर कष्टकर हो सकता है। तथापि उन लोगोंने भी खड़े-खड़े पेशाव करनेसे जो हानि होती है और जो मूत्रविन्दु विखरकर पैरोपर तथा अन्य अङ्गोंपर पड़ते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अतः बैठकर लघुशङ्का करनेकी विविसर्वथा निरापद है और श्रेष्ठ है। इतनेपर भी पैरोंको धोना ही पड़ता है; क्योंकि इस विधिमें भी मूत्र-विन्दुओंके पैरोपर पड़नेकी आशङ्का रहती है। ये आचार विज्ञानसिद्ध होनेपर भी आज भारतमें कुछ उपेक्षित-से हो रहे हैं; क्योंकि पश्चिमके लोग ऐसा नहीं करते और वे खड़ा होकर ही लघुशङ्का करते हैं।

अब विवाहको लें। शाखोंने सगोत्र विवाहका पूर्ण निपेध किया है, फिर भी एक जातिमें ही विवाहका विधान किया है, विभिन्न वर्गोंका विवाह निपिद्ध है। वम्बईके जनगणनाआयुक्त एल०जे०सीज्वीककी १९२१की टिप्पणी of L. J. Sedgewick, Census Commissioner, (Report Bombay 1921) से भी यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमके भी कुछ महान् व्यक्तियोंने इस रीतिको बड़ा लाभदायक और संतोषजनक माना था (द्रष्टव्य जातिगोत्र-विचार)। वम्बईके इसी जनगणना-रिपोर्टमें (जिल्द ८, पृष्ठ १०३पर) सीज्वीकने कहा है कि

मासीय विवाह-पद्धतिकी भिल गोत्र एवं एक वर्णमें होनेवाली रीति शुद्धवंश-परम्पराकी रक्षाका कारण है।
(Census of India 1921, Volume VIII, page 103)
भारतीय शास्त्रोंका भी वस्तुतः यही उद्देश्य था।

शास्त्र कहते हैं कि जल नारायणके आवास या साक्षात् आराध्य ही हैं—‘आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूक्तवः। अथनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः ल्यृतः॥’ अब इसका तात्पर्य क्या है, हमें समझें। जब हम कभी किसी तात्त्वाब्दमें या बहते जलमें लघुशङ्का और शौच कर देते हैं तो कितनी दयनीय बात होती है। कुछ लोग गङ्गाके किनारोंपर भी ऐसा करते हुए सामाजिक हानिका अनुभव नहीं करते। हमारे मोह और आसक्तिकी भी सीमा नहीं है। धर्मके प्रति उपेक्षाका भाव, ईश्वरकी विस्मृति, शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा और अनादरका भाव सभी वस एक ही कारणसे है—पाश्चात्य अनुकृतिका मोह। इसी प्रभाव और मोहमें पड़कर हम शास्त्रोंके निर्देशोंकी अवहेलना करते हैं। इस मोहने हमारे

ऊपर इतना छढ़ अधिकार जमा रखा है कि हम शास्त्रोंकी अवहेलना करके ही नहीं रह जाते, बल्कि उन्हें गलत भी मानने लगते हैं। परं पाश्चात्योंके अन्धानुकरणमें हम अपनी या उनकी गलती नहीं मानते, जब कि वे प्रत्यक्ष गलत रास्तेपर भी चलते दीखते हैं। मध्यपान जो पहले सर्वथा पापपूर्ण समझा जाता था, अंग्रेजोंके शासन-कालमें बंगालमें एक फैशन बन गया था; विशेषकर आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियोंमें। इस मोहने हमारे सदाचारके आदर्शों एवं मूल्योंको गिरा दिया और हमें आचारसे दूर ले जाकर अनाचारके दलदलमें डाल दिया है और अब अधर्मका शासन ही सत्रोपरि हो गया है। अब केवल बस एक ही आशा रह गयी है कि भारतवर्ष वैकुण्ठधामका प्राङ्गण है और भगवान् श्रीहरि नारायण कभी भी अपने भारतवर्षको पापोंकी बाढ़में सर्वथा बहने नहीं देंगे। वे देर या सवेर—हमें सदाचारके लंगरके पास अवश्य ही वापस लायेंगे।

अचिन्त्यभेदभेद-मतमें सदाचार

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

उपनिषदोंके अनुसार—‘सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्’—पहले अनादि सत् (परमेश्वर) मात्र ही था। उसीका ध्यान कर तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंने ‘हरिः ॐ तत्सत्’ कहा। यह ॐकार—एकाक्षर परम मङ्गलमय है, फिर इसी नत् नामक विराट् से वायु, अग्नि, जल और जीव-जगत्की गत्पत्ति हुई। उस सत्य परमात्माके संधानी व्यक्ति ही सत् और साधु होते हैं और उनका आचार ही सदाचार। किंतु नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, नित्य आनन्दमग्न, ह्यमूल परमहंस साधु लौकिक या व्यावहारिक किसी सदाचार-विचारके अधीन नहीं रहते। वे हर्ष-शोक-विवर्जित, सत्त्वात्मा, विश्वव्यापार-स्पर्श-शून्य एवं नित्यभगवच्छरणागत

होते हैं। उन्हें कोई वन्धन नहीं होता। जीव दुर्भाग्यसे अनादिकालसे सत्त्वरूप भगवान्‌को भूला हुआ है। जन्म-जन्मान्तरोंके स्थानोंने उसे अपनी आत्मस्तुपकी चिरन्तन चेतना तथा आनन्दमयताकी अनुभूतिसे विच्युत कर रखा है। जगत्-मूलके प्रति उसकी आसक्ति प्रधान हो गयी है। ऐसे परम सत्य निष्ठावश्वित जीवके लिये साधु-सङ्गकी नितान्त आवश्यकता है। साधु-सङ्ग और सत्कथाके रूपमें भगवत्प्राप्तिके निमित्त किये गये प्रयोग सदाचार हैं। भगवत्प्राप्तिमें ही इन सबकी सफलता है।

वर्तमान व्यावहारिक जीवनमें जीवको नाना प्रकारके प्रलोभन आकर्षित करते हैं। इस दुश्क्र या दुर्योगसे

निष्कल्प प्राणी पशुद्योंके आश्रयसे धारण-वेतनारो सन्तुष्ट होता है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक सदाचारमें खूब एवं गूढ़में देख है। संकल्प-शोधन न होनेसे वाणी संयत तथा नियन्त्रित नहीं हो सकती। जाहार-शोधन न होनेसे मनसे काम-क्रोध आदिकी वृष्टित वृत्तियाँ दूर नहीं होती, जिससे सदाचारका उल्लङ्घन होता है। क्रोध और असत्यसे सुकर्मकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती है, और व्यक्तिगत जीवन और सगाज-जीवनमें असत्यका प्रावल्य होता है। सनकादिके विषयमें भागवतपुराण-(२।७।५)-का कथन है—‘आदौ सनात्त्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।’ वे ही सनात्नुमार देवर्पिं नारदकी चिन्तामयी अवस्था देनकर उनके विपादका कारण पूछते हैं। नारदजी कहते हैं—‘नाना तीर्थं भ्रमण कर मैं हताश हो गया हूँ। देखा कि सर्वत्र कलिने अधर्मको स्वेच्छया विचरण करनेकी हूँट दे रखी है। सत्य, शौच, दया, दान, विलुप्तप्राय हैं। मनुष्य असदाचरणमें लिप्त है। कौन किसको रोकेगा? आज असदाचारी लोग भी केवल प्रचारके जोरपर साधु कहलाते हैं। आश्रमकी पवित्रता अरक्षित है। तीर्थोंपर अधर्म और असत्यका द्वाव है। अब सद्गावपूर्वक जीवन-यापन करनेमें आचारभृत दृष्ट लोग बाधा देते हैं। उनकी वात मानकर ही चलना होगा। कलिके प्रभावसे भला-बुरा सब पकाकार हो गया है। वस्तुतः आज यही दशा है और सच्चे साधुजन तभीसे सदाचारके विचार-विवेचनकी चिन्तामें लगे हैं।

कलिकी प्रथम संध्यामें एक वृद्ध साधक—जिनका नाम अद्वैताचार्य था, आविर्भूत होकर कलिकालमें मनुष्यके लुप्त सदाचारकी अन्तिम परिणतिकी पर्यालोचना कर रहे थे। उन्होंने देखा कि देव-पूजाके नामपर पशुवधि एवं हिंसा, साधनाके नामपर हुष्ट-संसर्ग, सुरापान, रात्रिजागरण और शासनके नामपर सज्जन और असज्जनपर समान रूपसे अत्याचार होता है। उन अद्वैताचार्यने शाखानुमोदित मार्गसे अनाचार, अविचार और

कलिकालके प्रगतिशीलपक्षा। इनका जिया । उन्होंने देखा कि या ग्रामाले दो तीन दृष्टि द्वारा भी कहीं उपर्युक्त एक वाता युक्तुग्रन्थ है कि भक्ति-पात्र वृद्धनैवाच्य, चाहे वह जीवनमें जितना भी वृग्य-जर्जरा या दूष तरीके द्वारा ताता हो, साधुओंवे पात्र या ग्रामाले काव्यमें जहाँ यथार्थ ग्रामालयमें पिनार होए। वहाँ नामीम आदर गीय, पूज्य और प्रशान्तताप्रद होए। इसीलिए वही इस प्रवारके गतुपत्रको संधारण न-करता यादव देखी है। भक्ति-भूमियों नो है—प्रेम, धर्म, धीर और धृति और शानकी आनन्दभूमियों हैं—गिरजा, गेहूँ जैसी भगवन्नुभूमियों एकाभागप। मन जीवोंगे एकाग्रामाला शुद्ध भूमि अस्तु में सच्ची आत्मीयता जगाना है जो गिरजा मर्म प्राणियोंमें परमात्माकी मृद्गमित्तुम आनन्दगदी रहेता सदाचार अनुभव करती है। विज्ञाने मूलग्रामाल्यमें हुए भूमियोंपर वा ग्रन्थन लिया है तो सदाचार-समाज, समाजनुसरन नी भारतीयने भी उस प्राण गत्ताग्रुहों अनन्त अनुसन्दार्थको खोज की है। इसीलिए भक्तिसक्ती इन द्वेद भी दृश्य अश्री, वृक्ष-लता, भूमि-जल—सब तो अद्वैतमय वह सुखती है।

पशुयोनिमें जनमें वज्राङ्ग श्रीदत्तुगान्धी श्रीगम्भक थे। उनके नाम लेनेमात्रमें कोटि-लोटि मनुष्य सिद्ध-भूक्त होते हैं। जटायु, गङ्गा आदि पक्षी होने हुए भी भगवान्नकी अनुकम्भासे मार्गी सातु जोके भी परम पूजनीय श्रृङ्खलारणीय बने। नियादकी जाति क्या थी? आश्रम-काल्य शक्तीकी कला केसे मुलायी जा सकती है? किस सदाचारके अन्तर्गत श्रीगमने इन्हे इस प्रकार आभसात् लिया? अहल्याके किस आनरणके बलपर श्रीरामने उन्हे चरण-सर्प्ता प्रदान किया? गोपियोंके पास जौन-स्त्री सम्पत्ति थी? केवल प्रेम-भक्तिके बलपर ही तो उन्होंने हुण्यको चिरञ्जीणी बना लिया? इस भक्तिके साथ असदाचार भी सदाचारी साधुओंवे लिये परम काम्य और भाव-प्रदायक हो जाता है। भगवान्नने इसी सदाचार-भक्तिके अभिप्रायसे कहा है—यदि कोई मुख्य भक्तिपूर्वक एक

भी फल, फूल, तुलसीपत्र या एक अङ्गलि जल प्रदान करे तो मैं परमानन्दसहित उसे प्रहण करता हूँ। उससे भूख-प्यास दूर होती है। और भी शाश्वोमे कहा गया है—

तुलसीदल्घात्रेण जलस्य चुल्लकेन वा ।
विकिर्णीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥
कृष्ण के तुलसी देय जेह जन ।
तार ऋष्ण शोधिवार कृष्ण करेन चिन्तन ॥
तुलसी दलेर मतन धरे नाई धन ।
अतएव आत्मवेचि करे ऋष्ण शोधन ॥
(चैतन्यचरितामृत)

कलिकालमें सदाचार-प्रतिष्ठा और साधु जीवन-यापनके निमित्त अद्वैताचार्यने तुलसी व जलका दान किया। उसके फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चैतन्य

महाप्रभुका आविर्भाव हुआ। उस युगमे धर्म-ग्रदर्शन करके महाप्रभुने सारे भारतमें नाम-कीर्तन सदाचारका प्रवर्तन किया। कलिका दोप केवल नाम-संकीर्तनकी धनिमात्रसे दूर हो जाता है और तात्त्विक अभेदबुद्धि उत्पन्न होकर सात्त्विक परमानन्दकी प्राप्ति होती है। सदाचार मनुष्यके देह और मनको किस प्रकार परमात्माके अनुसंधानमें नियुक्त कर उन्नत दशाकी ओर आकर्पित करता है। श्रीहरिनाम ही हर प्रवासके सदाचारका जनक है। आइये, हम भी सत्य शास्त्र-सिद्धान्तके साथ सर मिलाकर कहें—

हरेन्नाम हरेन्नाम हरेन्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

वैष्णव-सदाचार

(लेखक—श्रीगुरुराजकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)

विष्णुपुराणके अनुसार राजा सगरने जब ऊर्ध्व ऋषिसे प्रश्न किया कि 'सदाचार क्या है ?' उसका किस प्रकार पालन किया जा सकता है ?' तब ऋषिने कहा था— 'हे पृथ्वीपाल ! सदाचारी पुरुष इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त करता है। संसर्पिण, मनुगण एवं प्रजापतिगण ही सदाचारके वक्ता एवं कर्ता हैं। राजन् ! तुम सदाचारका पालन निम्नप्रकारसे कर सकते हो। ब्राह्मसुहृत्तमे खस्थ एवं प्रशान्त चित्तसे धर्मका चिन्तन करो। धर्मविरोधी अर्थ तथा कामका परित्याग करो। जो धर्म समाज-विरोधी हो उसका परित्याग करो। देव-ऋषिकी पूजा, संध्या-व्रन्दन, सश्रद्ध यज्ञानुष्ठान करो। केश चिकने और परिष्कृत एवं वल्ल-परिधान खण्ड-सुगन्धित रखो। कभी किसीका कुछ भी अपहरण मत करो। अप्रिय वाक्य न बोलो। मिथ्या प्रिय वाक्य भी मत बोलो। परदोष-कथन मत करो। परायी सम्पत्ति हेतुकर कोम न करो।' और गुनिने और भी

कहा है—'पतित व्यक्तिके साथ, कुदेश-स्थित व्यक्तिके साथ, मिथ्यावादी, पर-निन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता मत करो। प्रज्वलित गृहमे प्रवेश मत करो। वृक्षके शिखरपर आरोहण मत करो। मुँह ढके बिना जम्हाई न लो। नाखूनसे भूमिपर लिखो नहीं। अपवित्र अवस्थामें सूर्य-दर्शन मत करो। अतिथि-सत्कारमें कृपणता नहीं करो' इत्यादि।

श्रीचैतन्य-चरितामृतके अनुसार श्रीचैतन्यदेवने भक्त सनातनगोस्वामीको सदाचारके वारेमें शिक्षा देते हुए कहा है—'दन्तवावन, स्नान, संध्यावन्दनादि कर्म, गुरुसेवा, ऊर्ध्वपुण्ड्र-चक्रादि धारण, गोपीचन्दन, माला-धृति, तुलसी-आहरण, वल्लपीठ, गृह-संस्कार, कृष्ण-प्रबोधन आदि पूजाके उपचार सदाचारके अङ्ग हैं और नाम-महिमा, नामापराधवर्जन, स्नान-संध्या, तिळक, भगवदाराधन, शंख, जल, गन्ध, पुण्य-धूपादि, लक्षण-जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवत् वन्दन, राष्ट्र-लक्षण, साकुसाकु,

कथा-श्रवण-कीर्तन आदि, असत्-सङ्ग-त्याग, श्रीभागवत-श्रवण आदि नियम—ये सब वैष्णव-सदाचार हैं। साथ ही असत्-वाक्य, असत्-शास्त्र, असत्-सङ्ग एवं असत्-सेवा-वर्जन, पापकार्य-परित्याग, जलमे मल-मूत्र-त्याग-वर्जन, देव, साधु, मातृ-पितृगणोंकी सेवार्चना, मूर्ख, विपद्ग्रस्त, मायावी प्रभृतिके प्रति उपहास-वर्जन, उद्ध्रत, उन्मत्त, मूढ़, अविनीत, नीच, निन्दित, हीन-स्वभावी व्यक्तियोंका संग-वर्जन, सदाचारावलम्बी साधु, प्राज्ञ, सत्यभाषी व्यक्तियोंका संग, तीर्थस्थान-दर्शन, वैष्णव-त्रतका अनुष्ठान एवं पालन—ये सब भी सदाचार हैं।

उपसंहार—सदाचार-पालन गृहस्थका आदर्श कर्तव्य है। सदाचारी पुरुष दीर्घायु होते हैं। सदा अक्षय धन-लाभ करते हैं। सभी अमंगल, विपद् दूर करनेमें सक्षम होते हैं। सदाचारी समाजमे मुग्रतिष्ठित होकर सभीके प्रिय पात्र बनते हैं। उनके सदाचारणके फलस्वरूप समाजका मङ्गल होता है, देशका प्रभूत कल्याण-साधन होता है। सदाचारी देशके सम्माननीय व्यक्ति होते हैं और सदाचारहीन व्यक्ति नित्य आपद्ग्रस्त होते हैं। वे निन्दित, रोगप्रस्त, धनहीन, असुखी होते हैं। अतएव ससुख जीवन-यापनके लिये सदाचाराश्रयी होना चाहिये। इसके फलस्वरूप ही राष्ट्र एवं देश-वासियोंका मङ्गल होता है।

वीरशैव-मतमें पञ्चाचार और सदाचार

(लेखक—जगद्गुरु श्रीअन्नादानीश्वर महास्वामीजी महाराज)

वीरशैवमत, लिङ्गायत, शिवाद्वैत वीर माहेश्वर एवं पञ्चाचार्यमतों आदि नामसे भी प्रसिद्ध है। इसके मठोंमें काशीका जड्डमवाड़ी मठ, हृषीकेशका ऊखीमठ, आन्ध्रका श्रीशैवमठ, कर्णाटकका रम्भापुरीमठ और उज्ज्यनीका शैवमठ—ये पाँच तो बहुत ही प्रसिद्ध स्थान हैं।

कर्नाटकके वीरशैव लोग अपने धार्मिक सिद्धान्तके अनुसार आचारको शरीरस्थ प्राणादि पाँच वायुके समान मुख्य मानते हैं। वीरशैवमतका तात्त्विकस्वरूप इस प्रकारका है, कि ‘आष्टावरण’ धर्मपुरुषके शरीरमें ये पञ्चाचार, पाँच प्राण एवं पट् स्थल आत्माके समान हैं। देहधारीको चैतन्यस्वपी प्राणादि वायुकी आवश्यकता है। प्राणवायु शरीरमें स्थिर रहनेतक आत्माका अस्तित्व भी बना रहता है। परमात्माके जो जल आदि आठ शरीर हैं, वे इस धर्मके अष्टावरण बन गये हैं। इस मतमें आठ शरीर ये हैं—गुरु, लिङ्ग, जड्डम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद और पञ्चाचारके नाम हैं—लिङ्गाचार, शिवाचार, सदाचार, भृत्याचार और

गणाचार। आजन्म लिङ्गधारण करना, लिङ्गार्चन करना लिङ्गाचार है। लिङ्ग धारण करना भवरोगनाशक दिव्यौषध है। उसके साथ नियमोका पालन करना भी महत्वपूर्ण है। सदाचार ही उसके लिये पश्याहार है। यदि पथ्यका पालन न हुआ तो ओपवि अपना असर न दिखा सकेगी। शिवाचारमें अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्म आते हैं। धर्मसंकट दूर करना गणाचार है। सबके साथ मिल-जुलकर नम्रताका व्यवहार करना भृत्याचार है। आत्मस्वरूपके छः स्थल ये हैं—भक्त, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण एवं ऐक्य। इन सब तत्वोंका प्राण सदाचार ही है।

जीवात्मा परमात्माका स्वरूप तो है, किंतु वह आणव-मल, मायामल और कार्मिकमल—इन मलत्रयदोपसे बन्धित हो जाता है एवं आत्मस्वरूपको भूल जाता है। इस सांसारिक बन्धनसे मुक्ति गुरुकृपासे ही साध्य है। गुरुदेव अपने शिष्यके मलत्रयको हटाकर स्थूल-मूक्षम और कारणस्वपी तीनों शरीरमें इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग और भावलिङ्गका सम्बन्ध

करते हैं। गुरुदत्त इष्टलिङ्गको हाथमें रखकर उसमें नेत्र-मन-भावको तल्लीन करना ही शिवपूजा कहलाती है। समाजके दोषपरीक्षक या सुधारकको जङ्गम कहते हैं। इनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो सर्वसङ्घ-परित्यागी होकर विरक्त रहता है। गुरु, लिङ्ग और जङ्गम—ये तीन वीरशैवके आराध्य वस्तु माने गये हैं एवं गुरु परशिवके साकाररूप। विमूर्ति-स्त्राक्ष-मन्त्र—ये तीन पूजाके साधन हैं। इन साधनोंसे तीनों पूज्योंकी पूजा करनेसे पादोदक और प्रसाद फल मिलता है। इस तरह भगवान्‌के आराधक भक्त अथावरणसे सम्पन्न होकर भक्तादि छः स्थलका मार्गक्रमण करते हैं। उस मार्गमें पॅच प्रकारके आचारकी आवश्यकता होती है। आचारके विना वीरशैव-सिद्धान्त नहीं टिक सकता है। वीरशैववर्म विशाल सदाचार-तत्त्वके आधारपर खड़ा हुआ है, जो आगम-प्रमाणसे मान्य है। वारहवीं शतीमें वसवेश्वरादि शरणलोगोद्वारा वीरशैवमतका पुनरुद्धार हुआ एवं इस समय वीरशैव धर्मका सुवर्णसुग बना। यह कहना अतिरिक्त न होगा कि धार्मिक खातन्त्र्य, खीखातन्त्र्य, सामाजिक समानताका आविष्कार इन वसवेश्वरजीसे ही प्रवर्तित हुआ। इस सम्प्रदायके मतमें लिङ्ग शरीरसे किसी कारण भी अलग नहीं हो सकता। लिङ्गदेवकी आराधना या अर्चनाके विना भक्त प्रसाद नहीं ग्रहण करता है। इस प्रकार वीरशैव-मतमें आचारका विभान विचारपूर्ण बना है।

जिस प्रकार मानव प्राणवायुके विना जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही वीरशैव लिङ्ग-धारणके विना नहीं रह सकता। जब लिङ्ग धारण नहीं करेगा, तब वह लिङ्गायत न कहलायेगा। इसलिये पञ्चोचारमें पहले लिङ्गाचार वतलाया गया है। इस लिङ्गाचारसे यह शिक्षा मिलती है कि वीरशैव-लिङ्गनिष्ठायुक्त वर्णे एवं हमेशा लिङ्ग धारण करे। ये लोग लिङ्गदेवसे भिन्न भगवान्‌को नहीं मानते हैं, क्योंकि—

लिङ्गमध्ये जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सच्चाचरम्।
लिङ्गायात् परं नास्ति तस्मै लिङ्गाय ते नमः ॥

तीनों लोकोमें सच्चाचर प्रपञ्चने लिङ्गके वीचमें निवास किया है। लिङ्गसे बाहर कोई चीज नहीं है। अतः यह लिङ्ग पूजनीय एवं वन्दनीय है। लिङ्गायत अपने लिङ्गदेवमें ही सब देवताओंका अस्तित्व मानता है और लिङ्गायारी सबको समान। यहाँ भेदभावके लिये स्थान नहीं है। यही लिङ्गाचारकी व्याख्या है।

इस मतमें दूसरा आचार है शिवाचार। सारा जगत् शिव-मय है। इस शिवपदका अर्थ कल्याण, मङ्गल या शुभ होता है। इस मङ्गलमय शिवाचारसे भक्तका जीवन प्रारम्भ होता है। सामाजिक जीवनमें कल्याण पाना ही शिवाचारका उद्देश्य है। शिवाचारसे गुरुपदेशमें लगन, सामाजिक कल्याणमें श्रद्धा, समानता एवं परस्पर भ्रातृत्वभाव बढ़ता जाता है। अवान्तर-भेदको भूल जाना ही वीरशैवके शिवाचारका आदेश है। इसके अनुसार गुरु-दीक्षा-सम्पन्न हर एक व्यक्ति समान होता है। इसलिये परस्पर कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये; क्योंकि सभी शिवभक्त या लिङ्गभक्त समान हैं और उद्योगके कारण किसीको ऊँच-नीच नहीं समझा जाना चाहिये।

तीसरे आचारका नाम ‘सदाचार’ है, जो समस्त धर्मों का सार है। जीवन-परिशुद्धिके लिये सदाचार सबको चाहिये। सदाचारसे शरीरका बाद्य और आन्तरिक शौच बन जाता है। इसके बारेमें ‘वसवेश्वर’का उपदेश ऐसा है—‘चोरी मत करो, किसीको मारो मत ! झूठ नहीं बोलना चाहिये, कोधी मत वनो ! दूसरोंके साथ असहिष्णुता मत करो, अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये। किसीको प्रत्युत्तर मत दो, यही अन्तरङ्ग शुद्धि और यही वहिङ्ग शुद्धि है। यही हमारे कूडलसङ्घमदेवको साक्षात्कार करनेका मार्ग है।’ और उनके दूसरे वचनमें—‘आचार ही खर्ग है, अनाचार ही नरक है।’ कहना यह है कि वहिङ्ग और अन्तरङ्ग

शुद्धिके उपर्युक्त साधनसे खार्ग मिलता है एवं शिव-साक्षात्कार भी उपलब्ध होता है। सदाचार-पालनसे खार्गसुखका अनुभव हो जाय तो अनाचारगार्गसे नरकका अनुमान हो जायगा। इस सदाचार-विषयपर प्रत्येक शरण लोगोंने अपने दोंगसे बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है। तोटदसिन्द्र लिङ्गयतिने कहा है—

“सत्यपथमें चलना और सत्य बचन बोलना— सदाचारका उद्देश्य है। सदाचारीको आपनी रोटीके लिये कमाना पड़ता है, उसके लिये दूसरेके आश्रय रहना उचित नहीं है। वह सदाचार-पालनसे ही भक्त तथा उद्योगशील बनेगा। उद्योग करनेसे गरीबी न रहेगी और दूसरेसे भी य माँगनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। वीरशैववर्मने उद्योगके लिये महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। खावलम्बी होना ही सदाचार-पालनका मर्म है। इसलिये सदाचारके नियमों-पर चलना सबका कर्तव्य है।”

चौथा आचार ‘भृत्याचार’ माना गया है। भृत्याचार-का अर्थ सेवाभावसे आचरण करना है। सेवार्थमें जीवनमें आना चाहिये। सेवाभावसे अहंकार, ममकार टूट जाता है और नम्रता आती है। नम्रभाव मानवके व्यक्तित्वको ऊँचा उठा देता है। परमादरणीय हानगलके कारणिक-पुरुष कुमारशिवयोगीजीने भगवान्से ऐसी प्रार्थना की है—‘हे शंकर! आप सर्वदा अपने किंकरोंकी रक्षा करें।’ इससे ज्ञात होता है कि सेवकर्थमें चलनेवालोंकी रक्षा जरूर होती है। वस्तवेश्वरजी ज्ञान-भक्तिके भंडार होते

हुए भी बहुत विनम्रावर्ये रहते थे और कहते थे— “भक्तिका सूख भृत्याचार है। भृत्याचारमें रहनेवाला भक्त शिवको अव्यन्त प्रिय होता है। भृत्याचारीमें दया, अनुकरण और सेवाभाव विभजित रहते हैं। मठामा गांधी थ्रेषु भृत्याचारी हुए, उनमें वे दून गुण निहित थे। भृत्याचारीको सदा शान्ति मिलती है।”

पाँचवें आचारका नाम ‘गणाचार’ है। संबंधीय होना, अन्याय, अनानाश और दूर्मार्गका प्रतिरोध बरना ही गणाचारका लक्ष्य है। स्वधर्मका पालन करते हुए भी परधर्मके प्रति सहिष्णु बनना चाहिये। गणाचारमें पुरुषत्व जाप्रत् हो जाता है। आत्मसाक्षात्कारमें धीरताकी आवश्यकता है। बड़ीनयों भगवान् नहीं मिलते और उससे धर्मरक्षणका काम भी नहीं हो सकता, इसलिये गणाचारका आश्रय बरना आवश्यक है। भगवतीय संविधानका सिद्धान्त भी गणाचारसे युक्त है।

इस प्रकार वीरशैवमतमें लिङ्ग धारण करने हुए शिवभावसे सम्पन्न होकर सदाचार (पञ्चाचार)का पालन करना पड़ता है और भृत्याचारसे विनम्र होकर अपने धर्मके प्रति श्रद्धावान् भी बनना पड़ता है। इससे शिवसाक्षात्कार (लिङ्गाङ्गसमरन्य)का गर्भ छुलभ होगा और उन्हे जीवनमुक्त बननेवा अवसर मिलेगा। अतः वीरशैवमतके ये पाँच आचार आदरणीय एवं अनुकरणीय हैं। सर्वमान्य सदाचार वीरशैवमतके पञ्चाचारके अन्तर्गत बना है। इसमें ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’का तत्त्व निहित है।

सदाचारके साक्षी भगवान्

‘एक दृश्वर ही हमारे पूज्य हैं। अहिंसा ही धर्म है। अधर्मसे प्राप्त वस्तुको अस्तीकार करना ही वत है। अनिच्छासे रहना ही तप है, किसीसे कपट न करना ही भक्ति है। सुख-दुःख आदि छन्दोंमें सम्भावसे रहना ही समयाचार है। यहीं सत्य है। हे देव! इसके आप साक्षी हैं।

नाथ-सम्प्रदाय और सदाचार

(लेखक—भीष्मि० भ० देवमुख)

वैसे अब यह भलीमौति सिद्ध हो गया है कि नाथ-सम्प्रदाय एक प्रकारसे धनादि-सा है। महर्षि दत्तात्रेयने भी गोरखनाथजीकी चर्चा की है और पुराणोंमें इनका बहुता उल्लेख है। पर दसवीं-ग्राहवीं शतीमें नाथ-सम्प्रदायकी साधना-पद्धति भारतमें विशेष जोर पकड़ रही थी। उस समय वौद्धधर्मका पतन होता जा रहा था अतः उसका महत्व नष्टप्राय हो रहा था। इसी पार्श्वभूमिमें नाथ-सम्प्रदाय विशेषरूपसे संबंधित हुआ। 'ज्ञानेश्वरी'में ज्ञानेश्वरमहाराजने महायोगी गोरखनाथका 'विषय-विष्वसक्तवीर' इस यथार्थ विशेषणसे गौरव गान किया है। इस विशेषणसे उन्होंने केवल गोरखनाथकी ही नहीं, सारे नाथ-सम्प्रदायकी विशेषता बतलायी है। तान्त्रिकों और सिद्धोंके जो भी प्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौरपर साधनमार्गकी व्याख्यापरक पद्धतियाँ ही हैं। उनमें दार्शनिक और नैतिक उपदेशोका आभास बहुत कम मिलता है। परंतु नाथ-सम्प्रदायके योगियोंकी वानियोंके प्रन्थोंमें जगह-जगह सदाचार एवं नैतिक उपदेश दिखायी देते हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका,' 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह,' 'गोरक्षसहिता', 'अमरौवशासन', 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'गोरखवानी'—इन सब प्रन्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्प्रदाय सदाचारके प्रति कितना सजग था।

'हठयोगप्रदीपिका'में स्वात्मारामयोगीन्द्रने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, क्षमा आदि सत्-आचारोंकी आवश्यकता प्रतिपादित की है, साथ-ही-साथ ब्रह्मचर्यकी महिमा भी जगह-जगहपर बतायी गयी है। सिद्धयोगी गोरखनाथने अपनी वानियोंमें निन्दनीय एवं बुरी आदतोंपर कई स्थलोंपर टीका की है। कहते हैं कि सबसे बरनेवाले व्यक्तियों ही 'जोगी' कहते हैं, दूसरोंको नहीं—

जोगी सो जो राजै जोग। जिम्मा यंदी नुटी जोग।
अंगव छोड़ि निरंजन रहे। ताङ्ग गोरखें जोगी कहे॥

(गोरखवानी २३०)

वे इसके आगे कहते हैं— 'जोगी होका जो परायी निन्दा करता है; मध्य, मांस और भाँगका सेवन करता है, उसके इकहत्तर सौ पूर्व पुरुष नरक चले जाते हैं'।

जोगी होइ पर निदास्तै। सद मांस अरु भौंगि जो भर्ते॥
इकोत्तरसे पुरिया नरकहि जाहै। सति भूति भाषतं धीगोरसा राहै॥

(गोरखवानी १६४)

'जो अफीम खाता है और भाँगना भक्षण करता है, उसको बुद्धि कहाँसे आये। भाँग खानेसे पित्त चढ़ता है और कायु उत्तरती है, इसलिये गोरखने कभी भाँग न खायी'—

आफू खाय भौंगि भसकावै। ता मैं अब्दिठि छहाँ तै आवै॥
चढ़ता पित्त उत्तरता बाहै। ताँ गोरख भौंगि न पाहै॥

(गोरखवानी २०८)

'दया-धर्म सदाचारका मूल है। इसलिये श्रीगोरखनाथजी कहते हैं, हे अवश्यो ! मांस खानेसे दया-धर्मका नाश हो जाता है, मदिरा पीनेसे प्राणमें नैराश्य आता है, भाँग खानेसे ज्ञान-ध्यान सब खो जाता है और ऐसे प्राणी यमके दरवारमें रोते हैं'—

अवश्य मांस भपतं दशा धर्मका नाश।

मद पीवत तहाँ प्राण निराम॥

भौंगि भपत ध्यान ध्यान खोवंत।

जम दरवारी ते प्राणी रोवंत॥

(वर्षा १६५)

असंयत व्यक्तिके लिये तो इस सम्प्रदायमें कोई स्थान ही नहीं है। असमिति प्रवृत्तिपर गोरखनाथ और नाथयोगियोंने जगह-जगह कठी टीका की है। एक स्थलपर गोरखनाथजी कहते हैं कि जो इन्द्रियों-

के सम्बन्धमें असंयत हैं, जिह्वासे फूहड़ बातें करते हैं, वे मानो प्रत्यक्ष भंगी हैं। लंगोटका पक्का; यानी इन्द्रियोंमें संयम रखनेवाला, मुखसे सत्य वचन करनेवाला पुरुष ही उत्तम पुरुष, सत्पुरुष कहा जाता है।

यंदी का लडवडा जिभ्याका फूहडा ।
गोरख कहै ते पर्तपि चूहडा ॥
काढ का जती सुप का सती ।
सो सत पुरुष उत्तमो कथी ॥ (वही १५२)

इस प्रकार जाग-ज्ञाप्रदायमें कठोर प्रश्नचर्य, वाक्संयम, शारीरिक औंच, अद्विसा, अस्तेय, सत्य आदि सदाचार, ज्ञानके प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणोंके प्रति अनादर आदिपर जोर दिया गया है। हिंदीमें पाये जानेवाले जोगियोंके पदोंमें यह ध्वनि बहुत स्पष्ट और बलदाली है। इस ध्वनिने साधकोंके लिये आचरण-शुद्धिकी प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी है।

बौद्ध-सदाचार

(देखक—ठॉ० भीमाहेश्वरीसिंहजी महेश, एम० ए०, पी-एच० दी०)

भारतीय बौद्धधर्म पूर्वोत्तर एशियामें अपनी शाश्वतता, चिरन्तनता, अमरता, व्यावहारिकता तथा आदर्श-वादिताके लिये अब भी विस्मयात है। इसमें शील एवं सदाचारका बड़ा ही महत्व है। पञ्चशील, अष्टशील एवं प्रव्रज्याशील सदाचारके ही विविध भेद हैं। गृहस्थोंके लिये पञ्चशील एवं अष्टशील पालनीय हैं एवं भिक्षुओंका इन युगल शीलोंके अतिरिक्त प्रव्रज्याशील भी कर्तव्य है। बौद्धधर्म ग्रहण करनेवाले किसी गृहस्थके लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भिक्षुसे त्रिशरणके साथ पञ्चशील ग्रहण करे और तभी वह बौद्ध हो जायगा। बौद्ध-धर्मसे त्रिशरणसहित पञ्चशील ग्रहण करनेकी विधि निम्नाङ्कित है—

नमस्कार—

नमो तस्स भगवतो अरहंतो सम्भासम्बुद्धस्स ।
उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्धको नमस्कार है।

त्रिशरण

बुद्धं सरणं गच्छामि—मैं बुद्धकी शरण जाता हूँ।
धर्मं सरणं गच्छामि—मैं धर्मकी शरण जाता हूँ।
संघं सरणं गच्छामि—मैं संघकी शरण जाता हूँ।

नमस्कार और त्रिशरणको तीन-तीन बार कहना चाहिये।

पञ्चशील

त्रिशरणके बाद पञ्चशीलका विधान है, जो निम्न प्रकार है—(१) प्राणानिपाना वै रमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (२) अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं चोरीसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (३) कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं व्यभिचारसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (४) मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं झूठ बोलनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (५) सुरा-मेरय-मज्ज पमाद्डुना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं सुरा, मैरैय, मध और नशीली चीजोंके सेवनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

अष्टशील

प्रत्येक मासकी अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या ये चार तिथियाँ उपोष्ट—व्रत रहनेकी हैं। इन तिथियोंमें

अष्टशील पालनीय हैं। इसका नियम यह है कि अष्टशील प्रहण करनेवाला व्यक्ति किसी भिक्षुके सम्मुख श्रद्धा-पवित्रताके साथ उपस्थित होकर उसे तीन बार नमस्कार कर त्रिशरण प्रहण करे तथा निम्नलिखित अष्टशील ले—

(१) प्राणातिपातः वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (२) अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै चोरीसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (३) अब्रहाचरिया वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै अब्रहाचर्यसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (४) मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै इन्हें बोलनेसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (५) सुरामेरयमज्ज-पमादद्वाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै सुरा, मैरेय, मध्य और नशीली चीजोंके सेवनसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (६) विकाल-भोजना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै असमय-में भोजनसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (७) नच्चगीतावादित विसूकदस्सन मालागंध-विलेपन-धारण मण्डन-विभूसनद्वाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै नाच-गान, वाजा और खेल-नमाशे तथा मेला आदि देखने तथा फूल, माला और सुगन्धि-लेपनादिको धारण करने एवं शरीर-शृङ्खरके लिये किसी प्रकारके आभूपणकी वस्तुओंको धारण करनेसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ। (८) उच्चास-यन महासयना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मै बहुत ऊँची और महार्घ शय्यापर सोनेसे विरत रहनेकी शिक्षा प्रहण करता हूँ।

विशेष बात—

बौद्धोंके जीवनमें वन्दना, परित्राण, संस्कार, ब्रत-त्यौहार एवं तीर्थोंकी बड़ी महिमा है। चूँकि इन सबका सीधा सम्बन्ध शील-सदाचारसे है, अतः इनका भी यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

वन्दना

वन्दना बुद्धकी, धर्मकी, संघकी, चैत्यकी और बोधि (वृक्ष)की की जाती है। फिर बुद्ध-पूजा पुष्प, धूप, सुगन्धि, प्रदीप और आहारसे निम्नलिखित संकल्पके साथ होती है—

इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया बुद्धं पूजेमि ।

इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया धम्मं पूजेमि ।

इमाय धम्मानुधम्म पटि पत्तिया संघं पूजेमि ॥१॥

‘इस धर्मकी प्रतिपत्तिसे मै बुद्ध, धर्म, संघकी पूजा करता हूँ।’

थद्धा इमाय पटि पत्तिया जाति जरा मरणम्हा परि मुचिस्सामि ॥२॥ निश्चय ही इस प्रतिपत्तिसे जन्म, बुढापा और मृत्युसे मुक्त हो जाऊँगा।’

इमिना पुत्रकम्मेन मा मे वाल समागमो ।

सतं समागमो होतु या निव्वानपत्तिया ॥३॥

‘इस पुण्यकर्मसे निर्वाण प्राप्त करनेके समयतक कभी भी मूर्खोंसे मेरी संगति न हो, सदा सत्पुरुषोंकी संगति हो।’

देवोवस्सतु सस्समस्मपत्ति हेतु च ।

फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मको ॥४॥

‘फसलकी वृद्धिके लिये समयपर पानी बरसे, संसारके प्राणी उन्नति करें और शासक धार्मिक हों।’

परित्राण-परित्राण-पाठ अपने मङ्गलके लिये किया जाता है। यो तो परित्राण-पाठके लिये कितने ही सूत्र हैं, किंतु इनमें आवाहन, महामङ्गलमूत्र, करणीय मेत्त-सुत्त, महामङ्गलगाथा, पुण्यानुमोदन तथा जयमङ्गल अट्ठगाथा प्रमुख हैं। कहा गया है कि इन पाठोंसे मनुष्यका कल्याण होता है, भूत-प्रेतोंके उपद्रव शान्त होते हैं, रोग भाग जाते हैं, देवताओंकी रक्षा वनी रहती है, मिथ्याद्वय दूर होती है और शीलता-सदाचारिताका आगम होता है। इससे काम-तृष्णा नष्ट होती है, पुनर्जन्मसे मुक्ति

मिलती है, अपशकुन, अग्निय शब्द, वुरे स्वप्न, वुरे ग्रह सबके रूप नष्ट होते हैं, पृथ्वी और आकाशपर रहनेवाले देव और नाग चिरकालतक रक्षा करते हैं एवं सब प्रकार उपद्रवोंसे मुक्त होकर मोक्ष (निर्वाण) सुख भी प्राप्त हो जाता है ।

संस्कार-संस्कार व्यक्तिको सुसंस्कृत और सुसम्य बनाते हैं । वौद्धोंमें प्रारम्भसे ही अनेक संस्कार आ रहे हैं । जन्मसे मरणतक गव्यमङ्गल, नामकरण, अन्नप्राशन, केसकप्पन, कण्णविज्ञन (कर्णवेच), विद्यारम्भ, विवाह, प्रवृज्या, उपसम्पदा तथा दाहकम्भ एवं मतकमत्त (आद्व)के संस्कार मनुष्यको सुखी, सम्पन्न, शीलवान्, सदाचारी और मोक्षाधिकारी बनाते हैं ।

ब्रत-न्यौहार-ब्रत-उपवासके लिये प्रत्येक मासमें दोनों अष्टमियाँ, पूर्णिमा और अमावस्या नियत हैं । इन तिथियोंमें अष्टशील पालनीय हैं । इनके अतिरिक्त बुध पर्व और महापर्व ये हैं—वैशाखी पूर्णिमा, आपाही पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, माघी पूर्णिमा, नागपञ्चमी, विजयादशमी, दीपावली, वसन्त और होली । ब्रत-न्यौहारके दिनोंमें पूजा,

बन्दना, दान आदि पुण्यकर्म किये जाते हैं । ये पूजा-न्यौहार दैविक, दैहिक एवं भौतिक सम्पदाओंसे मनुष्यको शीलवान्, चरित्रवान्, सदाचारी और मुक्ति-निर्वाणाधिकारी बनाते हैं ।

तीर्थयात्रा-बौद्धधर्मानुसार लुम्बिनी, बुद्धगया, सारनाथ और कुशीनगर इन महातीर्थोंके अतिरिक्त अन्य स्मारक तीर्थ हैं—राजगृह, वैशाली, नालन्दा (विहारमें), कौशाम्बी, पावा, सांकाश्य, श्रावस्ती (उत्तरप्रदेशमें), कपिलवस्तु (नेपालकी तराईमें), भरहुत, उच्चैन, बाघ, धमनार, माहिष्मती, सॉची, भेलसा, ललितपुर (मध्यप्रदेशमें), कार्ला, भाजा, कन्हेरी (महाराष्ट्रमें), अजन्ता, एलैरा, नागर्जुनी, कोंडा, अमरावती (आनंदप्रदेशमें) काँजीवरम्, नागपट्टम्, श्रीमूलवासन् (तमिलनाडमें), जूनागढ़, धंक, सिद्धसर, तलजा, सनाह, बलभी काम्पिल्य (गुजरातमें) और तथाशिला एवं पेशावर (पाकिस्तानमें) ।

तीर्थ-यात्रासे मनुष्यमें ज्ञान, दुष्टि, विवेक, आचार और विचार आते हैं एवं वह स्वस्थ, सुखी, स्नेही और श्रद्धावान् बनता है ।

सहनशीलता

भगवान् बुद्ध किसी जन्ममें भैंसेकी योनिमें थे । जंगली भैंसा होनेपर भी वोधिसत्त्व अत्यन्त शान्त थे । उनके स्त्रीघेपनका लाभ उठाकर एक वंदर उन्हें बहुत तंग करता था । वह कभी उनकी पीठपर चढ़कर कूदता, कभी उनके सींग पकड़कर हिलाता और कभी पूँछ खींचता था । कभी-कभी तो उनकी आँखमें अँगुली भी डाल देता था । परंतु वोधिसत्त्व सदा शान्त ही रहते थे । यह देखकर देवताओंने कहा—‘ओ शान्तमूर्ति ! इस दुष्ट वंदरको दण्ड देना चाहिये । इसने तुमको क्या खरीद लिया है या तुम इससे डरते हो ?’

वोधिसत्त्व बोले—‘देवगण ! इस वंदरने न मुझे खटोदा है, न मैं इससे डरता हूँ । इसकी दुष्टता भी मैं समझता हूँ और केवल सिरके एक झटकेसे अपने सींगसे इसे फाड़ डालनेका बल भी मुझमें है । परंतु मैं इसके अपराध क्षमा करता हूँ । अपनेसे बलवान्के अपराध तो विवश होकर सभी सहन कर लेते हैं, सहनशीलता तो वह है जो अपनेसे निर्वलके अपराध सहन कर लेती है ।’ (—जातक माला)

'धर्मपद'में प्रतिपादित सदाचार-पद्धति

(लेखक—डॉ० शीनायूलजी पाठक)

'धर्मपद' वौद्धधर्मका सबसे अधिक लोकप्रिय प्रन्थ है। वौद्ध सिद्धान्तों और साधनामार्गका ज्ञान करानेवाला ऐसा सरल प्रन्थ दूसरा नहीं है। सिंहली-परम्पराके अनुसार तो धर्मपदके पारायणके बिना किसी भिक्षुकी 'उपसम्पदा' ही नहीं होती। वर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओसमें प्रत्येक भिक्षुके लिये इसे कण्ठश्य करना परमावश्यक है। भगवान् बुद्धके उपदेशोंके इस मुन्दर संग्रहमें नैतिक दृष्टिकी पर्याप्त गम्भीरता विद्यमान है। हिंदुओंमें श्रीमद्भगवद्गीताको जिस सम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखा जाता है, उसी उल्काष्ट भावना और सम्मानसे वौद्धमतावलम्बी 'धर्मपद'को देखते हैं। इसे वौद्धोंकी गीता कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है। इसकी शिक्षाएँ सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। इसमें चार आर्यसत्ता, अष्टाङ्गिक मार्ग और विविध प्रवारके सदाचारोंका उल्लेख हुआ है। इसमें वर्णित सदाचारके पालनसे असंख्य दुःख-संतप्त मानवोंका उद्धार हुआ है। इसमें जीवनको आदर्शके सॉचेमें ढालनेवाले सत्कर्मकी महत्त्वाका प्रतिपादन किया गया है। वैयक्तिक शान्ति चाहनेवाले तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए शान्तिके इच्छुक दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके लिये—क्रमशः भिक्षुधर्म और गृहस्थर्मकी शिक्षा देनेवाला यह अनुपम ग्रन्थ है।

वौद्धधर्म प्रधानतः आचारप्रधान धर्म है। इस धर्ममें नैतिक आचरणको बड़ा महत्व दिया गया है। धर्मपदमें प्रमुखरूपसे उन सभी नैतिक सदाचारके नियमोंका उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार आचरण करनेसे मानवको अपने चरमलक्ष्य—दुःखोंकी निवृत्ति-की प्राप्ति होती है। वौद्धधर्मके मूल आधार चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—(१) संसारमें दुःख है,

(२) इस दुःखकी उत्पत्ति होती है, (३) दुःखका विनाश होता है और (४) इस दुःखके विनाशके मार्ग भी हैं। दुःखके विनाशका एकमात्र साधन अष्टाङ्गिक मार्ग है। इस मार्गमें आठ वार्ते हैं—सम्यक्‌दृष्टि, सम्यक्‌संकल्प, सम्यक्‌वृचन, सम्यक्‌कर्मान्त, सम्यक्‌आजीव, सम्यक्‌यायाम, सम्यक्‌स्मृति और सम्यक्‌समाधि। इस अष्टाङ्गिक मार्गके आधारपर दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये अनेक नैतिक नियमोंका या सदाचरणोंका उल्लेख 'धर्मपद'में किया गया है। ये शीलसम्बन्धी नियम प्रायः सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान हैं। अतः ये अनुसरणीय हैं।

'धर्मपद'में वाचिक, मानसिक और कायिक संयमपर ब्रह्म ब्रह्म दिया गया है। मग्लवग्ग (२०)की एक गाथा (२८१) में कहा गया है—

वाचानुरक्षणी	मनसा	सुसंबुद्धो
कायेन च	अकुसलं न	करिया
पते तयो	कर्मपथे	विसोधये
आराधये	मग्लमिसिष्प	वेदितं

—वाणीकी रक्षा करे, मनसे संयमी बने और शरीरसे कोई बुरा काम न करे। इन तीन कर्मपथोंकी शुद्धि करे और ऋग्मियोंके वतलाये हुए मार्गका सेवन करे। विशेषरूपसे इसमें मनके संयमको प्रायमिकता दी गयी है। 'धर्मपद'के प्रथम 'यमकवग्ग'की प्रथम गाथा मानसिक संयमका निर्देश करती है। मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंका प्रारम्भ मनसे होता है। यही धर्मका पूर्वगामी है। यदि मन दुष्ट है तो मनुष्यका आचरण दुष्टतापूर्ण होता है। मनके दुष्ट होनेपर वाणी और कर्म भी कलुपित हो जाते हैं, और परिणाममें मनुष्यको दुःख भोगना पड़ता है—

मनो पुष्टवज्ञमा धर्मा मनोसेद्वा मनोमया ।
मनसा चे पदुडेन भासति वा करोति वा ॥
ततो 'नं दुक्खमन्येति चक्कं' च चहतो पदं ।
(धर्मपद १)

मनके संयत हो जानेपर वाणी और कर्मका संयम स्थितः हो जाता है । मनको चित्त भी कहा जाता है । धर्मपदका तीसरा वग्ग चित्तवग्ग है, जिसमें पुनः मन-चित्तके निग्रहका उपदेश किया गया है—‘चित्तस्स दमथो साधु’ (३ । ३) अर्थात् चित्तका दमन करना उत्तम है । मनके निग्रहका उपदेश देनेके पश्चात् मनुष्यको सतत सावधान और प्रमादहीन होनेका उद्दोधन दिया गया है । कहा गया है—‘मा पमादमनुयुजेथ’ ‘अपनेको प्रमादमें मत लगाओ ।’ इसीके साथ काम और वासनासे भी दूर रहनेके लिये कहा गया है—‘मा कामरतिसन्ध्यवं’—काम और वासनासे परिचय मत बढ़ाओ । जीवनमें सुख चाहने-वाले व्यक्तिको चाहिये कि तृणाका क्षय कर दे । तण्हावग्गकी एक गाथा (३४०)में कहा गया है—

सवन्ति सच्चधी सोता लता उच्चिज्ज तिष्ठुति ।
तं च दिस्वा लतां जातां मूलं पञ्चाय छिन्दथ ॥

अर्थात्—‘तृणाके स्रोत सब ओर वहते हैं । इस कारण लता फूटकर खड़ी हो जाती है । उस समय उत्पन्न हुई लताको देखकर प्रज्ञासे उसकी जड़ोंको काट डालो ।’ धर्मपदमें स्थान-स्थानपर प्रज्ञाकी प्रतिष्ठा दिखायी गयी है । मनुष्य ज्ञानके द्वारा ही तृणा आदि विकारोंको दूर करते हैं । बाल-वग्गमें मूर्खताकी निन्दा की गयी है और मूर्खतासे होनेवाले दुःखोंका संकेत दिया गया है । यह भी कहा गया है कि जो मूर्ख अपनी मूर्खताको जान लेता है, वह बुद्धिमान् हो जाता है । पर जो मूर्ख होकर भी अपनेको बुद्धिमान् मानता है, वस्तुतः वही मूर्ख कहा जाता है—

यो वालो ज्ञनि वालयं पण्डितो वापि तेन से ।
वाले च पण्डितमानी स वे वालोति बुद्धति ॥
(५ । ६३)

समाजमें सदाचारकी सुप्रतिष्ठाके लिये भावितात्मा या आध्यात्मिक संतकी पूजाको श्रेष्ठ कहा गया है । सदाचारको सरलतासे ग्राह्य बनानेके लिये संत-पूजाके सर्वजन-सुलभ साधनकी ओर धर्मपदमें स्पष्ट रूपसे संकेत किया गया है—

मासे मासे सहस्रसेन मो यजेथ सतं समं ।
एकं च भावितं ज्ञानं मुहुत्तमपि पूजये ॥
सा येव पूजना सेष्यो यं चे वस्ससतं हुतं ।
(८ । १०६)

‘यदि प्रतिमास हजारोंकी दक्षिणा देकर सौ वर्षतक यज्ञ किये जायें तो वे उतना फल नहीं दे सकते, जितना परिशुद्ध मनवाले एक स्थितप्रज्ञ संतका मुहूर्तभरका पूजन प्रदान कर देता है । इसमें यज्ञादि कर्मकाण्डोंकी अपेक्षा संत-समागमकी महिमाको श्रेष्ठ बताया गया है । धर्मपदके ‘सहस्रवग्गमें उपर्युक्त कथनके आगे कहा गया है कि सौ वर्षोंतक कोई व्यक्ति वनमें रहकर आरोकी परिचर्या करे, फिर भी वह उस मनुष्यके समान नहीं हो सकता, जिसने क्षणभर भावितात्माकी पूजा कर ली हो । पुण्य प्राप्त करनेकी अभिलापासे वर्षभर किये गये यज्ञ और हवन सरल चित्तवाले पुरुषोंके प्रति किये गये अभिवादनके समक्ष तुच्छ हैं । जो व्यक्ति सदा अभिवादनशील है और सदा बृद्धजनोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, वर्ण, सुख तथा वलमें बृद्धि होती है—

अभिवादनसीलस्स निर्वचं विद्वापचायिनो ।
चत्तारे धर्म वाड्दन्ति आयु वक्षणो सुखं वलं ॥
(८ । १०९)

सदाचारी और ऋषिकल्प व्यक्तिकी सेवाका विधान ‘धर्मपदमें विशेषरूपसे किया गया है । भगवान् बुद्धके

अनुसार जाति और वर्णका बन्धन स्वीकार नहीं किया गया । वे सदाचारशील व्यक्तिको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं । सदाचारसे ही इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकी सिद्धि हो सकती है । पुण्य करनेवाले सदाचारीके लिये कहा गया है कि वह यहाँ आनन्दित होता है, परलोकमें भी आनन्दित होता है अर्थात् दोनों लोकोंमें आनन्दित होता है । इसके विपरीत धर्मपदमें दुःशील और अस्थिर चित्तवाले व्यक्तिकी स्थितिका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्य ज्ञायिनो ॥

(८ । ११०)

'दुराचारी, असंयत और असमाहित व्यक्तिके सौ वर्षतक जीवित रहनेकी अपेक्षा शीलवान् और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है ।' बौद्ध-आचार-में अप्पमाद (अप्रमाद) या श्रमकी बड़ी प्रशंसा की गयी है । 'अप्पमादो अमतपदं' कहकर इसे अमृतका —निर्वाणका प्रवेशद्वार बताया गया है । सदाचारके अन्तर्गत श्रमकी महिमाका बखान करते हुए कहा गया है कि—'अप्पमादेन मघवा देवानं सेहुतं गतो ।' (२ । ३०)—प्रमादसे रहित होनेके कारण इन्द्र देवोमें श्रेष्ठ गिने गये ।

'धर्मपद'में लोगोंको पापकर्मसे दूर रहनेका उपदेश दिया गया है । बुद्धने इस स्थितिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है और इसपर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं—
मधुव माझती बालो याच पापं न पचति ।
यदा च पचति पापं अथ दुष्कर्त्त निगच्छति ॥

(५ । ६९)

'जबतक पापकर्मका परिपाक नहीं होता, तबतक सूख मनुष्य उसे (पापको) मधुकी भौति भीठ समझता है, किंतु जब पापकर्म फल देने लगता है, तब कर्ता दुःखका अनुभव करने लगता है । पापके फलसे मनुष्य-

को मुक्ति नहीं मिल सकती । आकाशमें, समुद्रमें, पर्वतकी गुफाओंमें—कहीं भी ऐसा स्थान विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करनेपर मनुष्य पापकर्मसे मुक्ति पा सके'—

न अन्तलिक्षे च समुद्रमञ्चे
न पञ्चितानं विवरं पविस्स ।

न विज्ञती सो जगतिपदेसो
यथ्यद्वितो मुच्ये पापकर्मा ॥

(९ । १२७)

'पाप हो जानेपर क्या किया जाय'—इस सम्बन्धमें तथागत मनुष्योंको निराश नहीं करते । उनका कहना है कि 'यदि पाप हो ही गया हो तो उसे अपने सुन्दर कर्मोंसे ढँक देना चाहिये । ऐसा करनेपर वह व्यक्ति इस लोकको इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसा मेघसे मुक्त चन्द्रमा प्रकाशित करता है । कोई व्यक्ति सदाके लिये पापी नहीं हो जाता । शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितोंका परित्याग कर देनेपर मनुष्य सदाचारी बन सकता है ।' इसीके 'दण्डवग्ग'में कहा गया है कि 'मनुष्य-को अहिंसावृत्ति धारण करनी चाहिये । सभी प्राणी दण्डसे डरते हैं, मृत्युसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है और सभी सुख चाहते हैं । ऐसी दशामें अपने सुखकी इच्छासे किसी दूसरे प्राणीकी हिंसा करना उचित नहीं है । जो सब प्राणियोंके प्रति अहिंसावृत्ति रखता है, वही मनुष्य आर्य कहा जाता है'—

न तेन अस्त्यो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सत्वपाणानं अस्त्योति पद्मच्छति ॥

(१९ । २७०)

'धर्मपद'की आचार-पद्धतिमें प्रारम्भसे अन्ततक सद्ग्राव-ग्रहणकी ओर विशेष ध्यान दिलाया गया है । सद्ग्राव-ग्रहणसे भौतिक सुखोंकी प्राप्ति भले न हो, किंतु आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है । इसके प्रथम वग्गमें कहा गया है कि यह विचार ही मत

करो कि 'तुम्हे किसीने गाली दी, किसीने मारा या किसीने छूट लिया ।' वैरका अन्त वैरसे नहीं होता, अवैर या प्रेमसे ही वैरका अन्त होता है—प्रतिशोधकी भावनासे कभी वैर शान्त नहीं होता । क्रोधको अक्रोधसे, बुराईको भलाईसे, कंजूसीको उदारतासे और झूठको सत्यसे जीतना चाहिये—

अक्रोधेन जिने कोधं असाधु साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिक्वादिनं ॥*

(१७। २२३)

इस प्रकार धम्मपदमें जिस सदाचार-पद्धतिका निरूपण किया गया है, उसके द्वारा मनुष्य निर्वाण-पथकी ओर अग्रसर हो सकता है । इसके अनुकूल आचरण करनेसे किसी भी वर्णका मनुष्य देवतुल्य बन सकता है । यह सदाचार-पद्धति इस प्रकारकी स्थितिका दिग्दर्शन करती है, जिसे निर्धन-धनवान्, नीच-ऊँच सभी अपने व्यक्तित्वका विकास करनेमें समर्थ हो सकते हैं । धम्मपदमें सदाचार ही सदाचार है, जो जीवनको उज्ज्वल बनाता है ।

जैन-धर्मग्रन्थोंमें सदाचार

(लेखक—जैनसाधी श्रीनिर्मलजी, एम्० ए०, साहित्यरत्न, भापारत)

शील-सदाचार जीवनका परम आभूषण है । अर्वाचीन युगके दार्शनिक और वैज्ञानिक भी जीवनके इस शाश्वत सत्यविन्दुपर समान रूपसे आ रहे हैं कि जीवनका लक्ष्य, सुख-सुविधा नहीं, भौतिक ऐश्वर्य और वाह्यसमृद्धि नहीं, परंतु जीवनके आन्तरिक सौन्दर्यको जगाना है । महान् श्रुतवर आचार्य भद्रवाहुस्वामीके शब्दोंमें कहा जाय तो समस्त जैन वाच्यका सार सत्यवृत्ति है—‘सारो परव्याण चरणा’ परु पणा (जिनप्रवचन)-का सार है सद्-आचार । भावनाकी पवित्रता, उदूदेश्यकी उच्चता और प्रवृत्तिकी निर्दोषता—वस, इन्हीं तीन सूत्रोंमें समस्त जैन-दर्शनका सार समाया है और वही हमारी आध्यात्मिकताका मूल आधार है । जैन-परम्पराके अध्यात्मवादी संत आचार्य ‘कुन्दकुन्द’ने कहा है—‘सीलं मोक्षवरस सोवाण’—शील-सदाचार ही मोक्षका सोपान है । सदाचारका पालन ही मानव-जीवनकी आवार-शिला है । मनुष्यके पास विद्वत्ता हो या न हो, उसके पास लक्ष्मी हो या न हो, परंतु उसके पास चारित्र तो होना ही चाहिये । स्पेन्सरके शब्दोंमें—

शिक्षण नहीं, चारित्र ही मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता है और यही उसका रक्षक भी है ।—‘Not Education, but character is man’s greatest need and man’s greatest safeguard’

भगवान् महावीरने कहा है—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोप समुखस्यं ।
तम्हा मेहुण संसग्म, निर्भयं वज्जयंतिणं ॥

‘इन्द्रियोंका असंयम (कदाचार) अवर्मका मूल है । अब्रहार्चर्य महान् दोपोका समुदाय है । अतः साधकको उसका ल्याग करना चाहिये; क्योंकि आचरण जीवनका दर्पण है । इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको देखा-परखा जा सकता है । आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृत्याका मापक-यन्त्र हैं । यह एक जीवित प्रमाणपत्र है, जिसे दुनियाकी कोई भी शक्ति छुट्टा नहीं सकती ।’

सदाचार और संयम धर्मके सूक्ष्मरूप हैं, जो अंदर रहते हैं । धर्मके सूक्ष्मरूपकी रक्षाके लिये बाहर-का स्थूल आचरण आवश्यक है । परंतु यदि ऐसा

* यह ध्यान रहे कि प्रायः ये सभी गाथाएँ ‘मनुस्मृति’, ‘महाभारत’ तथा ‘पञ्चतन्त्र’ आदिसे भी मूल संस्कृतमें प्राप्त हैं । मैक्समूलरके तथा विटेनिया प्रेसके चारूचन्द्र वसुके वंगला संस्कृतज्ञानी श्लोकोंको दें दिया गया है ।

हो कि सुन्दर, रंग-विरंगा लिफाफा हाथमे आ जाय, और खोलनेपर पत्र न मिले तो वह एक परिहास-सा ही है। अतः देशके प्रत्येक युवक-युवतीका कर्तव्य है कि वे अपने आचारकी श्रेष्ठताके लिये साठा जीवन और उच्च विचारका आदर्श अपनायें। हमारा बाहरी जीवन साठा और आन्तरिक जीवन सद्विचारोंसे सम्पन्न होना चाहिये; क्योंकि मनुष्यके जीवनकी विशेषता उसके अच्छे चारित्र-विकासमें ही हैं। ‘चरित्र’ शब्दका अर्थ बहुत व्यापक एवं विशाल है। इसमें समस्त मानवीय सद्गुणोंका समावेश है। यह चरित्र-तत्त्व मनुष्य-जीवनको पश्चु-जीवनसे भिन्न करता है और उसे असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मरणसे अमृतत्वकी ओर ले जाता है। चरित्र, सदाचार और आचरण—इन सबका एक ही अर्थ है। जैनधर्मकी साधना, जीवनकी अन्तरङ्ग साधना है। अतएव जैन-साधना हमें अन्तस्तालका शोधन करनेकी प्रेरणा देती है। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें विचरण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यका व्रत सदाचारके लिये है और सदाचार जीवनकी नींव है। ‘उत्तराध्ययनसूत्र’के चौदहवें अध्ययनमें आता है कि ‘स्वाजि अणत्याणक कामभोग’—कामभोग अनथोंकी खान है। कदाचार किम्पाकफलके समान दुःखदायी होता है। किम्पाकफल देखनेमें सुन्दर, सादमें मधुर और छूनेमें कोमल होता है, परंतु खानेवालोंके ढारण दुःखका कारण बनता है।* इसी तरह मनुष्य भी वासनातृप्तिमें आनन्दका अनुभव करता है, परंतु परिणाममें वह दुःखदायी ही सिद्ध होता है। ‘सूम्यडागसूत्र’में कहा है कि—‘तवेसु वा उत्तमं वस्मच्चेर’—ब्रह्मचर्य सब तपोमें श्रेष्ठ तप है।

दुर्गादासको रातोंरात जेलसे मुक्त कर दिया गया, तो यह दुर्गादासका महान् चरित्र था। वह कैदखानेमें बंदी पड़ा है। स्वप्नसी वेगम उसके प्रेमके बदले शाही तख्तेपर

बैठानेका प्रलोभन दे रही थी और उसको टुकरानेपर मौतका भय दिखा रही थी। फिर भी वह उसे ‘मा’ के रूपमें देख रहा है। इसी सदाचारके तेजसे उसका जीवन सदा तेजसी और शौर्यमय रहा है। इतिहास साक्षी है कि राणा प्रतापने कितने कष्ट सहन किये थे। यह सब उनके चारित्रिकलका ही प्रभाव था। राजपूतानेकी हजारों नारियों चित्तौड़के जौहरकुण्डमें कूदन्तर जल गयीं, पर अपना सतीत्व न छोड़। चरित्रनिष्ठ व्यक्ति सत्ता-सम्पत्ति और सन्मान सब कुछ छोड़ सकता है, पर वह चरित्रिको कभी नहीं छोड़ता।

जिन आत्माओंने जीवनमें सदाचारके महत्वको समझा, वे उन्नतिके उच्चतम शिखरपर जाकर खड़े हुए, संसारमें वे अजर-अमर हो गये। मानवजीवनके विकासमें नीतिशास्त्रका एक बहुत बड़ा योगदान रहा है। यह आचारका नियामक विज्ञान है। इसी आधारपर उसे आचार-शास्त्र भी कहा जाता है। ‘कलिकाल-सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने मानव-जीवनके नीतिविषयक आदर्शोंको ‘शिथाचार-प्रशंसा’ नामक एक आदर्श योगशास्त्रमें बतलाया है।’ आचार्य हरिभद्रसूरिजीने भी ‘धर्मविन्दु’में इस गुणकी चर्चा की है। इसमें आचार्यकी दो भावनाएँ ध्वनित होती हैं—पहली शिष्ट व्यक्तियोंके आचार-चरित्रकी प्रशंसा और दूसरी-शिथाचार (सदाचार)की प्रशंसा। समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्रका नियम है कि समाजमें सदाचारको प्रतिष्ठा दी जाय और दुराचारकी अवहेलना की जाय।

शिथाचार अर्थात् सदाचार के सिद्धान्त—शिथाचार और सदाचार—ये दो शब्द आजकल बहुत प्रचलित हो गये हैं। भावनाकी दृष्टिसे इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं, पर आजकलकी चालू भाषामें इनमें पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। आजकल सदाचारी उसे

* किम्पाक—*Trichosanthes palmaha* (जहरीली कँकड़ी) महाकालफल या विम्बा या इन्द्रायण फल हैं। जैन-ग्रन्थोंमें इसका बहुधा उल्लेख है। वाल्मी० २। ६६। ६, महा० ५। १२४। २२, भर्त० शृगा० शत० ४८, मार्क० पुरा०, प्रस० राघ० आदिमें भी इसकी चर्चा आयी है। आप आयुर्वेदमें इसके गुण-दोषोंका विवेचन और इससे बननेवाली ओषधियोंका निरूपण भी देख सकते हैं।

कहते हैं, जो काछ-वाचका सच्चा हो, नीतिवान् हो और कोई अन्याय नहीं करता हो ।

‘र्मविन्दु’कीटीकामें आचार्य मुनिचन्द्रसुरिने शिष्याचार (सदाचार)की व्याख्या करनेवाले अठारह सूत्र दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) लोकापवादका भय, (२) दीन-दुःखियोंके प्रति सहयोगकी भावना, (३) कृतज्ञता, (४) मिन्दका त्याग, (५) विद्वानोंकी प्रशंसा, (६) किसी आपत्तिमें धैर्य, (७) सम्पत्तिमें नष्टता, (८) उचित और परिमित वाणी बोलना, (९) किसी प्रकारका विरोध या कदाग्रह नहीं करना, (१०) अङ्गीकृत कार्यको पार उतारना, (११) कुलधर्मका पालन करना, (१२) धनका अपव्यय नहीं करना, (१३) आवश्यक कायमें उचित प्रयत्न करना, (१४) उत्तम कार्यमें सदा संलग्न रहना, (१५) प्रमादका परिहार, (१६) लोकाचारका पालन, (१७) उचित कार्य हो तो उसे करना और (१८) नीच कार्य कभी भी नहीं करना ।

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तिः ॥

भगवान् महावीरने अपने आचारशाखकी आधार-शिला अहिंसा और समव्योग वतलाया है । भगवान् महावीरके आचार-शाखके अनुसार आचारके पाँच भेद हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । आचार्य हेमचन्द्रने अपने ‘त्रिपथिशलाकापुरुष’में एक महान् साधकके जीवनका बड़ा ही सुन्दर चित्र अঙ्कित किया है । वे महान् साधक थे—‘स्थूलमद्व’, जिन्होंने ब्रह्मचर्य (सदाचार)की साधनासे अपने जीवनको सदाके लिये ज्योतिर्मय बना दिया । कई वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी आज्ञतकके साधक, ब्रह्मचर्यके अमर-साधक इन स्थूलभद्रजीको भूल नहीं सकते हैं । स्थूलभद्रजीके जीवनके सम्बन्धमें श्रीहेमचन्द्राचार्यने लिखा है कि ‘वे योगियोंमें श्रेष्ठ योगी, ध्यानियोंमें श्रेष्ठ ध्यानी और तपस्त्रियोंमें

श्रेष्ठ तपसी थे । स्थूलमद्वी उस यशोगायाको मुननेके बाद मुननेवालेके मस्तिष्यमें यह प्रथम उछाता है कि आखिर यह क्या माधवा थी, किसे की गयी थी और कहाँ की गयी थी ? यह घटना भारतके प्रानीन नगर पाटिया-पुत्रकी है । योगी अपने योगमाधवना-कालमें पूर्ववनन-बद्धताके कारण वर्मवासके लिये पटना आये । इस नगरकी—तत्कालीन रूपसम्पन्न, वैभवमग्नन और विलाससम्पन्न—‘कोशा’ वेश्याको प्रतिक्रिया देनेका, उसे वासनामय जीवनसे निकालकर सदाचारके मार्गपर लगानेका दिव्य-संकल्प उनके अन्तरमें ज्योतिर्मय हो रहा था । यद्यपि यह संकल्प परम पावन और पवित्र था, किंतु उसे साकार करना, सहज और आसान न था, फिर भी उस योगीने अपनी संकल्प-शक्तिसे असम्भवको भी सम्भव बना दिया । कोशा वेश्याके घर जद कि माटक नेवमालाकी वर्षाकी रिमझिममें गधुर संगीतकी स्तरलहरी, चृत्य करते समय पायलोंकी झनकार और विविध विळासी भावभिन्नमा चल रही हो, ऐसे विलासमय और वासनामय वातावरणमें भी जो योगी अपने योगमें स्थिर और अपने ध्यानमें अविचलित रह सके तथा अपनी ब्रह्मचर्यसाधनामें अखण्डित रह सके, निश्चय ही वे स्थूलभद्र अपने युगके महान् संयमी और विजेता वीर पुरुष थे ।

उनके ब्रह्मचर्यकी साधनाको खण्डित करनेके लिये कोशा वेश्याका एक भी प्रयत्न सफल नहीं हो सका । अन्तमें पराजित हो उसने जिज्ञासु साधकी भाषामें कहा, ‘मैं आपकी शिष्या हूँ, आप मुझे सन्मार्ग वतलाकर मेरे जीवनका उद्धार करें ।’ एक योगीके समक्ष वेश्याका यह आत्मसमर्पण निश्चय ही वासनापर संयमकी विजय है । वह अब्रह्मचर्य (कदाचार)के पापसे हटकर, ब्रह्मचर्यकी पुण्यमयी शरणमें पहुँच जाती है । ब्रह्मचर्यकी

साधना जीवनकी एक कला है। योगशास्त्रमें श्रीहेमचन्द्रा- सदाचार ही धन-सुखका साधक है—
चायने कहा है—

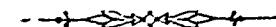
प्राणभूतं चरित्रस्य परत्रहौककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥

ब्रह्मचर्यं संयमका प्राण है तथा परत्रहौककारणम् ।
मात्र कारण है। ब्रह्मचर्यका परिपालक पूज्योका पूज्य
बन जाता है। अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि

सुखवीजं सदाचारो वैभवस्यापि साधनम् ।

कदाचारप्रसक्तिस्तु विपदां जन्मदायिनी ॥
(मुरल-सदाचार)

‘सदाचार सुख-सम्पत्तिका वीज है और दुष्टप्रवृत्ति
असीम आपत्तियोकी जननी ! अतः सदाचार ही
बन जाता है।’



सदाचार-संजीवनी

(लेखक—त्रिहलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी ‘व्यास’)

सत्य और प्रिय वाणी अद्भुत वशीकरण है। विचारकर बोलो और विचारकर काम करो।
पहलेसे लाभालाभपर विचार किये विना कुछ भी मत करो। ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी
ही वाणी बोलनी चाहिये, जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ना, भय और विशेष अम न हो। सत्य,
प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रस-त्याग—इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सिद्धियाँ सदा वसनी हैं।
माता-पिताकी आशाका पालन करना, उनकी सेवा करना संतानका धर्म है। इतने ही धर्मके पालन करनेसे
संतान योग्य कहलाती है तथा सुख प्राप्त करनी है।

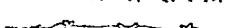
परनिन्दा और आत्मप्रशंसा कभी न करो; दूसरा करता हो तो उसे सुननेमें सचि न लो, विरक्ति
रखो। मातृ-बड़ाईकी इच्छा न करो, यदि मातृ-बड़ाई अच्छी लगती हो तो उसे विपक्षे समान समझ-
कर छोड़ दो। पर-खीके ऊपर कुटृपि मत डालो, दृष्टिद्वारा उसका वासनाम्पी विष मतको मूर्च्छित
करेगा, होशमें नहीं रहने देगा और दुःखोंकी प्राप्ति होगी। दुःख अवाञ्छनीय पदार्थ है।

यह संसार गुसाफिर-खाना है। इसमें तुम मुश्ताफिर हो। सबके साथ हिल-मिलकर चलना
चाहिये। एक-दूसरेका समन्वय थोड़े दिनोंका है—द्वेष न करो। इसी प्रकार ममता भी न करो। दिया दुआ
कहकर चताओ मत। किया हुआ (शुभ कर्म) प्रकट न करो और दर्शक हो जानेवालेको करो मत।

शोक, चिन्ता, भय, उद्ग्रेष, मोह और कोथ—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है? जव-जव
अशान्ति हो। (तव-तव समवना चाहिये कि हम भगवान्को भूल गये हैं) इसलिये सब समय भगवान्का
स्वरण करना चाहिये। अधर्मकी इच्छाकी अपेक्षा मृत्युकी इच्छा उत्तम है। तुम्हें सुखी रहना होतो दूसरोंको
सुख दो। यदि दुःखी रहना हो तो दूसरोंको दुःख दो। दूसरोंको सुख देना पुण्य है और दुःख देना पाप है।
पापिका अपमान मत करो, परन्तु उसपर द्वया करो। तुम पापी नहीं हो, इसमें परमात्माकी दयाके
अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। झूठ, चोरी और दुराचार बुरे व्यसन हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिये।
पापसे जो कुछ मिला है, वह यहीं रहेगा और पाप ही साथ जायगा। विना हकका लेना ही पाप है। जो
सहज प्राप्त होता है, वह सहज चला भी जाता है। न्यायसे प्राप्त ही वास्तविक प्राप्त है।

भोग घटे तो पाप घटे। विषयाधीन मत शत्रु है। निर्विपूर्यी मत मित्र है। भजन और पुण्य नित्य
करता रहे तो संकट-समयमें भी काम चलता रहेगा। चरित्र ही धन है। सुयश ही खर्च है। पापाचरण
ही नरक है। लोक-वेद मान्य नियम ही आचरणीय हैं।

एकान्तमें भगवान्से प्रार्थना करो—परमात्मा सबको सदाचारी वनावें—सबका श्रेय मङ्गल करें।



संत कवीरका सदाचारोपदेश

(लेखक—श्रीअभिलाषदासजी)

✓ आध्यात्मिक क्षेत्रमें विश्वासवाद तथा विवेकवाद सदासे चले आये हैं। विश्वासवादी परमतत्त्वको अपनेसे पृथक् मानकर उसकी उपासना करता है और विवेकवादी स्व-स्वरूप चेतनको ही परमतत्त्व समझकर आत्माराम बनता है। विवेकवाद धर्म-कर्मकी नींवपर टिका है, परंतु भारतीय प्रौढ़ विचारधाराके अत्यन्त चिरंतन होनेसे उसका विश्वासवाद भी कर्मका ही पक्षधर है और कर्मकी जान सदाचार है।

सद्गुरु कवीर अपने युगके एक निराले संत थे। धर्मके ठौपचारिक क्रिया-कलापोकी पूर्तिमात्रसे पापका क्षय मानकर अपने कर्तव्योकी इतिश्री मान लेना उनके सिद्धान्तमें न था। वे आचार, विचार और शुभ कर्तव्योकी पृष्ठभूमिपर अपने धर्मका महल खड़ा किये हुए थे। उन्होने सदाचारपर बहुत जोर दिया है। उनमेसे कुछका यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

अहिंसा—सद्गुरु कवीरने अहिंसापर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—हम स्वयं कष्ट नहीं चाहते, अतएव दूसरेको कष्ट देना अपनी अन्तरात्माकी आवाजकी अवहेलना करना है। किसीकी हत्या करना तो हिंसा है ही, परंतु किसीका अहिंत सोचना, किसीके लिये अहिंतकर वाणी कहना तथा किसीको शरीरसे पीड़ा देना—ये सब भी हिंसाके ही स्वरूप हैं, अत. यथा शक्ति छोटे-बड़े सभी देहधारियोकी हिंसासे बचना चाहिये। जबतक कोई व्यक्ति दूसरेको दुःख देना बंद नहीं करता, तबतक वह स्वयं दुःखहित कैसे हो सकता है? नद्गुरु कवीर वर्ण. लिङ्ग. वर्ग, ज्ञानि. ज्ञानिके भेदसे उपर उद्धर प्राणिमात्रको अपना प्राणग्रिय बनलाते हुए, कहते हैं कि किसको चोट पहुँचाया जाय? जहाँ देखो हमारा प्राणप्याग ही है—

‘बाव काहि पर बालो, जित देख तित प्राण हमारो।’
(वीजक, साल्वी ३४१)

शुद्धाहार—पौँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा पौँचो विषयोंका ग्रहण करना आहार ग्रहण करना है; अतएव ठीक देखना, ठीक सुनना, ठीक सूँघना, ठीक खाना तथा ठीक सर्व करना—यहाँतक कि मनसे ठीक सोचना भी आहारकी शुद्धि है और ऐसा हो जानेपर अन्तःकरण शुद्ध होकर मनकी एकाग्रता होती है। परंतु आहारकी शुद्धिके लिये विशेषरूपसे मांस एवं नशासे बचना चाहिये। कवीर मतके अनुसार हिंसादि दोष होनेसे मांस खाना सर्वथा असम्यता है। जिसमे एकवारगी दयाको अलग रख देना पड़े, वह मांस मनुष्यका आहार नहीं है। इसी प्रकार शराब, गाँजा, भौंग आदि समस्त नशीली वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। सद्गुरु कवीरने कहा है—

जस मांस पञ्च को तस मांस नर को,
त्वधिर त्वधिर एक सारा जी।
(वीजक, शब्द ७०)

ब्रह्मचर्य—अपने मन-इन्द्रियोंको जीतकर स्ववश रखना ब्रह्मचर्य है। इसके बिना आध्यात्मिक दिशामे प्रगति होना असम्भव है। कवीर साहव कहते हैं—‘संतो! हृदय-धरमे बहुत भारी ज्ञागड़ा मचा हुआ है। ज्ञानेन्द्रियरूपी पौँच वच्चे तथा वासनारूपी एक नारी रात-दिन जीवको परेशान करती है। ये इन्द्रियों वड़ी स्वादासक्त हैं। ये सदा अपनी ओर खींचती हैं। इनका दमन-शमन करके ही जीव शान्ति पा सकता है।’

बुसङ्ग-न्याग तथा साधुसङ्ग-ग्रहण—संत कवीरके अनुसार बुसङ्गसे पतन तथा साधुसङ्गसे उत्थान होता है, यह तो—‘लोकहुँ वेद विद्वित सब काहूँ’ है। कवीर साहव

कहते हैं कि 'वेरके पेड़के साथ यदि केलेका पेड़ पड़ गया तो केलेके पत्तेकी चीथी-चीथी उड़ती है। अतएव साधुकी संगत करो, वे दूसरेकी मानसिक व्याधि दूर करते हैं। और, 'दुष्टकी संगत आठों पहर उपाधि'का कारण है। कुसङ्गसे दुःख होता है तथा सत्सङ्गसे सुख। अतएव साधु-गुरुकी सङ्गत करके कल्याण-द्वारपर चले आओ।' (वीजक, साखी २४२, २०७, २००, ३०४)

सद्गुरुकी उपासना एवं भक्ति—जिनके आचरण तथा ज्ञान दोनों निर्मल हैं और जो परमतत्त्व खखरूपमे स्थित हैं, उनकी शरणमें जानेसे ही मुमुक्षुका कल्याण हो सकता है। यह निश्चित है कि ऐसे सद्गुरुकी शरण आये विना मनुष्य भटकता है और जब मनुष्य ऐसे पूर्ण सद्गुरुकी शरण पा जाता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

पूरा साहेब सेहये, सब विधि पूरा होय।
(वीजक, साखी ३०९)

लघुता—मनुष्यमें—कम-से-कम सच्चे साधकमें तो अवश्य ही लघुता, विनम्रताकी महान् आवश्यकता है। अहकारीको कोई नहीं पसद करता है और विनयीको सब पसद करते हैं। विनम्र व्यक्तिके आगे अन्य लोग भी विनम्र हो जाते हैं—

सबते हैं लघुता भली, लघुतासे सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय॥
(वीजक, साखी ३२३)

गुणग्राहिता—तुम अपने पड़ोसकी सारी गंदगी बटोरकर अपने घरमें ले आओ, तो सोचो, तुम्हारी क्या दशा होगी? परंतु तुम अपने पड़ोसकी सुगन्ध बटोरकर अपने घरमें ले आओ तो तुम सुगन्धसे भर जाओगे। अतएव तुम किसीके दोप न लेंकर केवल सबके सद्गुण लो—

गुणिया तो गुण ही गहै, निर्गुणिया गुणहि विनाय।
बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझे क्या खाय॥
(वीजक, साखी २६३)

कथनी-करनीकी एकता—करनी विना कथनी कच्ची है। अतएव कथनीके अनुसार करनी वनानेकी चेष्टा करो—

जस कथनी तस करनी, जस चुंबक तस ज्ञान।
कहहिं कवीर चुम्बक विना, क्यों जीतै संग्राम॥
जैसी कहैं करै जो तैसी, राग द्वैप निरुवारे।
तामे घटै घडै रतियो नहिं, यहि विधि आप सँचारे॥

(वीजक, साखी ३१४, २५७)

वचन-सुधार—वचन-सुधार किये विना व्यक्तिको शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव सत्य, मिष्ठ, हितकर और अल्प बोलना चाहिये। निर्यक बोलते रहनेसे दोप बढ़ते हैं। अतएव विचारपूर्वक बोलना चाहिये। सत, सज्जन तथा पण्डितके मिलनेपर उनसे निर्णयकी दो बातें की जा सकती हैं और असंत एवं शठके मिलनेपर मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

बोल तो अभोल है, जो कोइ बोलै जान।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आन।
मधुर वचन है औपधी, कटुक वचन है तीर।
स्वरणद्वार है संचरे, सालं सकल शरीर॥
(वीजक, साखी २७६, ३०१)

सत्य—सत्यखरूपका ज्ञान, सत्यभाव, सत्यवचन तथा सत्य-आचरण—इस सत्यचतुष्यका सेवन पूरी तपस्या है। इसमे जो उत्तीर्ण हो जाय, वही कृतार्थ है।

सॉच बराबर तप नहीं, झट बराबर पाप।
जाके हृदया सॉच है, ताके हृदया आप॥
जो दू सॉचा बाणिया, सॉची हाट लगाव।
अन्दर झारू देहके, क्षरा दूरि बहाव॥
(वीजक, साखी ३३४, ७५)

दया—तुम दूसरेसे आपने लिये दयाका वर्तीविं चाहते हो, अतएव तुम दूसरोपर दया करो।

जीव विना जिव बोचे नहीं, जिव का जीव अधार ।
जीव द्वया करि पालिये, पंडित करो विचार ॥

(वीजक, साखी १८२)

थमा—हम दूसरेसे अपने लिये थमाका वर्ताव
चाहते हैं, अतएव हमें भी दूसरेपर क्षमा करनी चाहिये ।
बरावर लड़ते रहनेसे शान्ति नहीं आती । किसीने अपनी
दुर्बलतावश अपना मन मलिन कर लिया तो हमें भी
उसके साथ अपना मन बुरा नहीं बनाना चाहिये—

वो तो बैमा ही हुआ, तू मति होय अग्रान ।
वो निर्गुणिया है गुणवंता, मत एकमें मन ॥

(वीजक, साखी २७८)

धैर्य—जीवनमें धैर्यकी बड़ी आवश्यकता है ।
धैर्यके विना मनुष्य क्षणमें ही वह अनर्य कर डालता
है, जिसकी कोई सीमा नहीं । इसके अतिरिक्त मानो
कोई उन्नतिका कार्य करना हो और मनुष्य चाहे कि
सब आज ही पूर्ण हो जाय तो कैसे सम्भव है ?
अतएव धैर्यपूर्वक आगे बढ़ना चाहिये—

थोरे थोरे धिर होउ भाई । विन थम्मे जग संदिग्ध थम्माई ॥

(वीजक, ज्ञानचौतीसा १८)

संतोष—कोई कितना भी धनी हो जाय, परंतु
तृप्ति तो संतोषसे ही मिलेगी । संतोष अकर्मण्यता नहीं
है, किंतु अखण्ड तृप्ति है । कोई करोड़ सूपये रोज
कमाने लगे तो भी वह विना संतोषके तृप्ति नहीं हो
सकता । अतएव सद्गुरु कवीर कहते हैं—

संतो, संतोष सुख है, रहहु तो हृदय छुड़ाय ।

(वीजक, रमेनी राखी ३८)

विचार—मनुष्य अन्य वातोमें प्रायः पशु-नुल्य ही
है । उसको वस पशुसे अलग करनेका एक प्रबल
माय्यम है—‘विचार’ । मैं कौन हूँ, जगत् क्या है,
जर्जर क्या है—इत्यादिपर सोचना विचार है ।
मानसरोग-निवृत्तिके लिये विचार ही परम औपध है ।
विचार असद्गता त्याग करता है—

करहु विचार जो सब दुःख जाई । परिहरि झूठा केर त्तगाई ॥
(वीजक, रमेनी २३ । ४)

विवेक—सारी पगडंडियाँ जैसे राजमार्गमिल जाती
हैं, वैसे सारी आरम्भिक साधनाएँ अन्ततः विवेकमें मिल
जाती हैं । यदि विवेक उत्पन्न नहीं हुआ तो साधना
केवल श्रम ही है । अपने चेतन स्वरूपको विचारपूर्वक
देहसे अलग समझकर वैसी स्थिति बना लेना विवेक है ।
विवेक उठय होनेपर मन स्ववश होता है । विचारका
व्यावहारिक स्वरूप ही विवेक है—

मन सायर मनमा लहरि, बूँद बहुत अचेत ।
कहहिं कवीर ते वाचि है, जाकं हृदय विवेक ॥

(वीजक, साखी १०७)

वैराग्य—विवेकके परिपाक हो जानेपर मायिक
वस्तुओंसे ख्यामेव वैराग्य हो जाता है । रागका अन्त
ही वन्दनोका अन्त है—

माया के क्षक जग जरे, कनक काशिनी लाग ।
कहहिं कवीर कस बौचिहो, रुई लंटी आग ॥

(वीजक, साखी १४१)

निर्विवाद—सावकको निर्विवादी होना चाहिये ।
शास्त्रार्थ करना सावनाके प्रतिकूल ही है । सावक
दूसरेको परास्त करनेकी इच्छा छोड़कर वाक्यस्यमपूर्वक
मनोनिप्रह करे । सिद्धि सावनासे मिलती है, शास्त्रार्थसे
नहीं—

बाजन दे चाजंतरी, तू कुकुही मति छेर ।
तुझे विरानी दया परी, तू अपनी आप निवेर ॥

(वीजक, साखी २४८)

नित्य सत्सङ्घ—निरन्तर सत्सङ्घ करते रहनेकी
आवश्यकता है । सत्सङ्घ छोड़ देनेसे मनमें पुनः
अज्ञानका मोरचा लग जाता है—

नित वरगान लोहा धूम छूटे ।
नित की गोष्ठ माझा मोह दूरे ॥

(वीजक, साखी २३४)

मन और उसका निग्रह—इन्द्रियोंसे ग्रहण किये हुए संस्कारोंका परिणाम मन है। मनुष्य मनके चक्रमें पड़ा पीड़ित है। मनको वशमें कर लेना ही जीवनकी सफलता है। विवेकवान् ही मनको जीत सकते हैं—

मूल गहे ते काम है, ते मत शरम भुलाव।
मन सायर मनसा लहरि, वहे कतहुं मति जाव॥
मन सायर मनसा लहरि, वृद्धे वहुत अचेत।
कहहिं कवीर ते वौचि है, जाके हृदय विवेक॥
(वीजक, साखी ९०, १०७)

जीवन्मुक्ति—शरीरमें रहते हुए शरीरमिमानसे दूर, इन्द्रियविनायोकी वासनाओंसे ऊपर, स्थ-स्थरूप-चेतनमें स्थित पुरुष जीवन्मुक्त है। जो जागतिक हर्ष-शोकसे छूटा हुआ है, वह जीवन्मुक्त है। सद्गुरु कवीर कहते हैं कि यदि तुम जीवन्मुक्त-सुख चाहते हो तो सबकी आशा छोड़कर मेरे समान निष्काम हो जाओ—

जो तू चाहे मुझको, छोड़ सकल ही आश।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥
(वीजक, साखी १९८)

जो जीते-जी मुक्त न हुआ वह मरनेपर क्या होगा—

जियत न तरेत मुये का तरिहौं, जियतहि जो न तरै। ✓
(वीजक, अब्द १४। ३)

विदेहमुक्ति—जिनकी देह रहते-रहते सारी वासनाएं समाप्त हो जाती हैं, वे बोधवान् प्रारब्धान्तमें स्थूल-सूक्ष्मादि शरीरोंसे रहित चेतनमात्र असङ्ग रह जाते हैं। वे सदैवके लिये जन्मादि दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं—

वह कितनी शलत जात है कि हम सैले रहें और दूसरोंको साफ़ रहनेको ललाह दें।

कहहिं कवीर मतसुकृति मिलै, तौ वहुरि न भूलै आन।
(वीजक, हिंडोला १। १९)

सारा संसार मरता-मरता मर गया, पर मरनेका मर्म कौन जान पाया? मरना तो वह है जिसके बाद पुनः मरना न हो—

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, जो वहुरि न मरना होय॥
(वीजक, साखी ३२४)

यथार्थ ज्ञानियोंकी स्थिति—व्यवहारमें कुछ विभिन्नता होते हुए भी यथार्थ ज्ञानियोंकी स्थिति एक समान होती है। अवकचरे लोग ही अन्यका अन्य वका करते हैं।

समझे की गति एक है, जिन्ह समझा सब ठौर।
कहहिं कवीर ये वीच के, बलकहिं और कि और॥
(वीजक, साखी १९०)

निर्द्वन्द्व स्थिति—सांसारिक चतुरता-चालाकीके पीछे बढ़े-नढ़े प्रपञ्च है, अतएव जो असार-संसारको भलीभांति जान-बूझकर भी विवादियोंके सामने मूर्ख बन जाता है और अहंकार-बलका सर्वथा परित्याग करके विनष्ट हो जाता है, उस संतका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। ज्ञानी पुरुष सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान—सबमें समान-दृष्टि रखनेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुषकी स्थिति निर्द्वन्द्व होती है। सद्गुरु कवीर कहते हैं—

समुक्ति वूक्षि जड़ हो रहे, बल तजि निरबल होय।
कहहिं कवीर ता संतका, पला न पकरे कोय॥
(वीजक, साखी १६७)

इस प्रकार कवीरदासजीने सद्गुरुके माध्यमसे परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये जो मार्ग निर्दिष्ट किये हैं, वे सब सदाचारकी परिभाषामें आ जाते हैं। जो जीवन्मुक्त होना चाहता है ऐसे साधकका जीवन सदा सदाचार-मय होना चाहिये।

—महात्मा गांधी

विनय-पत्रिकाकी सदाचार-संहिता

(लेखक—प्रो० श्रीरामकृष्णजी शर्मा)

मरुभूमि-सदृशा हृदयमें आनन्दरसकी लहरे उत्पन्न करनेके लिये, घोर अन्वकाराच्छन्न हृदयाकाशमें प्रकाशका प्रादुर्भाव करनेके लिये, पापपङ्कमें पडे हुए जीवोको बाहर निकालनेके लिये, विषय-भोगोमें आसक्त चञ्चल चित्तमें अटल शान्ति स्थापित करनेके लिये, घोर नरकोमें प्रवल वेगसे जाते हुए जीवकी गति रोककर उसे कल्याणमार्गपर चलानेके लिये और त्रिविध तापोसे सतत प्राणियोको सुखमय शीतलता पहुँचानेके लिये यदि कोई परम साधन हो सकता है तो वह है—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी 'विनय-पत्रिका'। इसमें पूर्ण मानवताका, सार्वभौम सदाचारका एवं विश्ववर्मका प्रतिष्ठापन हुआ है। इसमें कुछ ऐसे तत्त्व निहित हैं, जिन्हे सभी मतावलम्बी एवं सम्रदाय नतमस्तक हो स्वीकार करते हैं। ये हैं—सदाचार-सम्बन्धी तत्त्व—निष्कपट अन्तःकरण, व्यवहारकी सच्छिता, मनकी सच्छिता, वाणीकी सच्छिता, आत्म-संयम, इन्द्रिय-संयम, संतोष, समता, विश्वदया या विश्वकरुणा, भेदभावरहित होना, परहित-निरतता, संतसगति, परदब्य एवं परस्तीकी इच्छाका त्याग आदि-आदि।

'विनय-पत्रिका'में गोस्वामी तुलसीदासने व्यक्तिगत आचार-निष्ठापर अधिक बल दिया है। वे जानते हैं कि व्यक्ति-व्यक्तिका सुधार होकर समाज-समाजका सुधार हो जाता है और समाज-समाजका सुधार होकर राष्ट्र-राष्ट्र सँभल जाते हैं तथा राष्ट्र-राष्ट्रोंका सुधार होकर विश्व-कल्याण हो सकता है। संक्षेपमें, विश्व-धर्मकी प्रतिष्ठा करना ही उनका सार्वभौम सदाचार-धर्म है। विनय-पत्रिकामें उसीका प्रतिनिधित्व हुआ है। यह हमें काम, क्रोध, मोह, ममतादिका त्याग करना, विश्वदया या विश्वकरुणा या इन्द्रिय-संयम,

अनासक्तता आदिका पाठ पढ़ाती है। वास्तवमें ये ही तत्त्व जाति, देश-काल और समयकी सीमासे रहित होनेपर सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं। जो धर्म सृष्टिव्यापी अनाचारोंका नाश करके सद्भावनाओंके प्रसारके लिये और समाजके सुधारके लिये तथा मङ्गल-साधनाके लिये होता है, वही सार्वभौम धर्मके अन्तर्गत आ सकता है। गोस्वामीजीने विनय-पत्रिकाके माध्यमसे दुष्प्रवृत्तियोंको हटाकर मनुष्यमें सद्वृत्तियोंके भरनेका अथक प्रयास किया है। निर्दर्शनके माध्यम स्वयं महात्मा तुलसी हैं।

छल-कपटसे मन कल्पित हो जाता है और मनके कल्पित होनेपर अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं, जिनके कारण संसारके मानवोंको अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिये छलका परिहार करके ही कोई सत्कार्य किया जा सकता है और भवसागरसे पार जाया जा सकता है—

परिहरि छल सरन गवे तुलसिहुँसे तरत ॥

(विनयप० १३४ । ७)

✓ दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम वचन अरुही ते ॥

(विनयप० १९८ । १)

—इत्यादि वाक्य इसकी सूचना देते हैं। सांसारिक मानवोंको तुलसीने यह अत्युत्तम शिक्षा दी है कि कामादि दुष्प्राणियोंसे जहाँतक दूर रहा जाय, वहाँतक अच्छा है—

काम-क्रोध अरु लोभ-मोह-मद राग-द्वेष निसेष करि परिहरु ।

(विनयप० २०५ । २)

'विनय-पत्रिका' साधकोंको सचेत करती है और मानवोंको सद्बुद्धि-प्राप्ति-हेतु प्रेरित करती है। इसकी प्रधान शिक्षा यह है कि क्षणभङ्गर वस्तुओंसे लगाव नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह तो 'सूँचत लगे राहूँ

'उधरानी' वाली बातकी तरह है। अतः साधक अथवा श्रेष्ठ मानव वही माना जायगा, जो अनासत्त भावसे संसार-का उपभोग करेगा। संसारमें आसक्ति ठीक नहीं—

'सुत-बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सवही ते ।'
(विनयप० १९८ । ३)

'मन एव मनुष्याणां, कारणं वन्धमोक्षयोः'

इस (त्रिपुरातापनी उप० ५ । ३) वचनके अनुसार हमारा मन ही हमारे वन्धन और मुक्तिका कारण है। अतः यदि इस मनको स्वच्छ बना लिया जाय अर्थात् 'इसको स्वाभिभूत कर लिया जाय तो जो वन्मुक्त हुआ जा सकता है। गोस्वामी श्री-तुलसीदासजी विनयपत्रिका (१२४ । १)में कहते हैं— जौ निज मन परिहरै बिकारा ।

तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ॥

यदि 'मै-मेरा' और 'तूतेरा'का प्रभ ही समाप्त हो जाय तो जीवनमें नाना प्रकारके संशय-शोकके अवसर क्यों आये ?

मनकी तीन स्थितियाँ हैं—

सत्तु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई ।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय अहि, हाटक तृनकी नाई ॥

(विनयप० १२४ । २)

इन तीनों स्थितियोंके कारण ही संघर्षोंकी नींव पड़ती है, अतः इनको त्यागकर अपने मनको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे—'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना उत्पन्न हो सके। संसारमें मनुष्यका मन विषय-वासनाओं-की ओर अधिक जाता है, जिससे राग-द्वेषकी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिये हम निरन्तर जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं एवं यातनाएँ भुगतते हैं—

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय आस मनमाही ।
तुलसीदास तवलगि जग-जोनि अमत सपनेहुँ सुख नाही ॥
(विनयप० १२३ । ५)

मनको वशमें करना सदाचरणका प्रथम साधन है।

यह मन बहुत अकर्मण्य है, निरन्तर विषयोंमें लिप्त रहता है, जिससे अनेक सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं— विषय-वारि मन-भीन भिज्ञ नहिं होत कबहुँ पल एक । ताते भहीं विषयि अति डासन, जनमत जोनि अनेक ॥
(विनयप० १०२ । ३)

विषयोंके साथ इस मनकी ऐसी ममता है कि रात-दिन उसके साथ जुटा रहता है—एक पलके लिये विश्राम नहीं लेता—

कबहुँ मन विश्राम न मान्यो ॥
निष्पिद्धिन अमत विषयारि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो ।
(विनयप० ८८ । १)

यह मन अपने सहज स्वरूपको भूलकर न जाने कहाँ-कहाँ इन्द्रियपराभूत होता रहता है। परमार्थ-साधनामें यह मन कभी नहीं लगता। इसलिये इस मनपर नियन्त्रण अवश्य करना चाहिये। इसी मनकी कुचालसे तंग आकर तुलसीदास कहते हैं—
कहँ लौ कहौ कुचाल कृपानिधि ! जानत हौ गति जनकी ।

(विनयप० ९० । ४)

विनयपत्रिका सदाचारके क्षेत्रमें मनके बाद वाणी-की महत्ताका प्रतिपादन करती है। वाणीसे अनृत बात निकालना उसकी मलिनताका घोतक है और सत्य-कथा उसकी पवित्रता है। तुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें वाणीकी सत्यतापर विशेष जोर दिया है। वाणीसे किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

आधि-मगान मन, व्याधि-विकल तन, वचन मलीन झुडाई ।

(विनयप० १९५ । ४)

साथ ही जीभकी भी खवर लेते हैं—

'जीह हूँ न जप्तो नाम, वक्त्रो आठ-वाड मैं ।'
(विनयप० २६१ । २)

अभिमान मनुष्यको अवनतिके गर्तमें ले जाता है, जहाँसे फिर यथावत् ऊपर उठना अति दुर्भर हो जाता है। इस तथ्यको संसारका प्रत्येक वर्मावलम्बी जानता है। इसीलिये 'विनयपत्रिका' अभिमान-त्यागको अति

कल्याणकारी समझती है। अभिमानसे जो दुर्गति होती है, उसका नमूना तुलसीदासजी संसारके सामने प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

सहस्राहु दसवदन आदि नृप बचे न काल बलीतें।
हम-हम कहि धन-धाम मैवारे, अंत चले उठि रीते॥

(विनयप० १९८ । २)

अतः मैपनका त्याग जीवनमे श्रेयस्कर है। तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका'मे आत्मसंयमके ऊपर विशेष जोर डालते हैं। मनसा-वाचा-कर्मणा आत्मसंयमी होना श्रेयस्कर एव उन्नतिकर है। अतः—

मन समेत या तनके वासिन्ह इहैं सिखावन दैहैं।
शब्दननि और कथा नहिं सुनिहो रसना और न नैहै॥
रोकिहौ नयन विलोकन औरहिं, सीस ईस ही नैहै।
नातौ-नेह नाथ सो करि सब नातौ-नेह बहैहै॥

(विनयप० १०४ । ३-४)

तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका'के माध्यमसे सम, संतोष, क्षमता, ज्ञान आदिके अर्जनका उपदेश देते हैं और अहंकार, काम, ममता, संदेह आदिका त्याग करनेकी सलाह देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तवमे इन तत्त्वोंके विना आत्म-संयम दुर्लभ है। अतः इनको ही हमे सर्वप्रथम अपनाना चाहिये।

अज्ञानके कारण यह जगत् बहुत मनोहर लगता है, परंतु है वस्तुतः बहुत ही भयंकर। इसलिये इसकी भयंकरतासे वचनेके लिये मनुष्यको समता और संतोषसे काम लेना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो समता, संतोष, दया एवं विवेकसे युक्त होकर कार्यमे रत रहते हैं, उनके लिये ही वस! यह ससार सुखद है, अविवेकियोंके लिये तो यह दुःखद ही है—

अनविचार रमनीय राता, मन्यार भयंकर भारी।
सम-संतोष-उद्या-विवेक से व्यवहारी सुखकारी।

(विनयप० १२१ । ४)

जो संतोष-सुधा निमित्तान्वर सपनेहैं कवर्हुक पाँवी।
× × × ×
सम, संतोष निचार विमल धति,
सतमंगति, ये चारि दृढ़ करि धर॥
(विनयप० २०५ । २)

वास्तवमे इस मंसारमे मानवकी उन्नति और अवनतिका आधार आचरण है। सत-आचरण व्यक्तिको उठा देता है और असत्-आचरण व्यक्तिको गिरा देता है। इस वातको लक्ष्यकर तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रत्येक मानवको सदाचारी बनना चाहिये। मानव जिन दुर्गणोंसे दुराचारी बनता है, उन्हीं दुर्गणोंकी चर्चाकर तुलसीदाम मंमारके जनसमुदायको सचेत करना चाहते हैं कि उनसे दूर रहना चाहिये—
नयन मलिन परनानि निर्गच्छ, मन मलिन विषय सेंग लागे।
हृदय मलिन वामना-मान-मद, जीव सहज सुख ल्यागे॥
परनिदा सुनि श्रद्धण मलिन भे, वचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन विमराये॥

(विनयप० ८२ । २-३)

जीव स्वभावतः अपना हित चाहता है और दूसरेका अहित। तुलसीदासजी इस वातको पसंद नहीं करते। वे इस स्वार्थपरनाकी दृष्टि भावनासे मनुष्यको ऊँचा उठाकर उसमे विश्वदया तांग विश्वकर्मणा भरना चाहते हैं। आजके युगमे आचरणहीन मनुष्य बड़ा प्रभावशाली माना जाता है। उसीकी प्रशंसा करना अधिक अच्छा समझा जाता है। वे कहते हैं कि कुटिल जीवोंकी प्रशंसामे यद्यपि युग-के-युग वृत्तीत हो जाते हैं, लेकिन अपने इष्टदेवका सुमिरन किञ्चित् नहीं हो पाता—

जो जड़ जीव कुटिल कायर, खल, केवल कलिमल साने।
सूनन वडन प्रशंसन तिन्ह कहे हरि तं अधिक करि मानें॥

(विनयप०)

सदाचारके अन्तर्गत साधुसंगतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्सगतिसे राष्ट्रकी नींव मजबूत होती है, उससे सभ्यताका निर्माण होना है। जिस राष्ट्रमे खल, दुराचारी, संतद्रोही व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं, वह

× × × ×

देश नष्ट हो जाता है। उसमे शक्ति और आत्मवल नहीं रहता—

श्रुति पुरान सबको मत यह सत्संग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह इरिपा बस तिनहिं न आडरिये॥

(विनयप० १८६ । ४)

साधु-समागमसे 'निज' और 'पर' मेद-बुद्धिका नाश हो जाता है। साधु-समागमके प्रभावसे सर्वत्र परमात्म-बुद्धि हो जाती है जो संसारको पावन करती हुई स्वयंको तार देती है।

'सदाचारी व्यक्ति कैसा होता है'—इस सम्बन्धमें गोखामीजीने तत्स्वन्धी कुछ लक्षण गिनाये हैं—वे संत-सभावकी व्याख्या करते हुए अपनेको संतोके आचरण-के अनुकूल रखनेका संकल्प करते हुए कहते हैं—

कबुँक हैं यहि रहनि रहौंगो।

श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत-सुभाव गहौंगो॥
जयलाभ संतोष सदा, काहू सौ कछु न चहौंगो॥
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निवहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो॥
विगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिता, दुख सुख सम-बुद्धि सहौंगो॥

(विनयप० १७२ । १४)

परोपकार सदाचारका प्राण है। अठारहों पुराणों

तथा विश्वके अन्य सभी सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें परोपकारको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस परोपकारको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए गोखामी श्रीतुलसीदासजी भी 'विनय-पत्रिका'-में कहते हैं—

काजु कहा नरतनु धरि सारथो।

पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न विचारयो॥
(विनयप० २०२ । १)

इस मानव-शरीरको धारण करनेसे क्या लाभ? यदि यह शरीर किसीके काम न आये।

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।

काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये॥
(विनयप० २०१ । १)

वास्तवमें सब जीवोंका हितैषी सत्यनिष्ठ, प्रेम-नेम और भक्तिमें निरत प्राणी ही धन्य है जो—

सर्वभूत-हित, निव्येलीक चित, भगति-प्रेमदृढ़, नेम, एकरस।'

(विनयप० २०४ । ३)

इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' आचारके आदर्शोंसे पूर्णरूपेण परिपूर्त है। भक्त तुलसीने इन आचारोंको भक्तिका सोपान माना है। इस प्रकार विनय-पत्रिकामें अभिव्यक्त गोखामी श्रीतुलसीदासजीके भाव एवं विचार सदाचारके प्रबल प्रेरक हैं।

✓ सदाचारके आठ शत्रु-मित्र

शिष्टाचरण की ले शरण, आचार दुर्जन त्याग दे।

मन इन्द्रियाँ स्वाधीन कर, तज द्वेष दे, तज राग दे॥

सुख-शान्तिका यह मार्ग है, श्रुति-संत कहते हैं सभी।

दुर्जन-दुराचारी नहीं पाते अमर पद हैं कभी॥

विश्वाससे कर मित्रता, श्रद्धा सहेली ले वना।
प्रश्ना तितिक्षाको वढ़ा, प्रिय न्यायका कर त्याग ना॥
गम्भीरता शुभ भावना, अरु धैर्यका सम्मान कर।
हैं आठ सच्चे मित्र ये, कल्याणकर भवभीर-हर॥

रह लोभसे अति दूर ही, जा दर्पके तू पास ना।
बच कामसे अरु क्रोध से, कर गर्वसे सहवास ना॥
आलस्य मत कर भूल भी, ईषा न कर मत्सर न कर।
हैं आठ ये वैरी प्रबल, इन वैरियोंसे भाग डर॥

—स्वामी श्रीभोलेवान्नाजी

✓रामस्नेही साध (सदाचारी) का लक्षण और सङ्ग

(लेखक—श्रीहरिनारायणजी महाराज, शास्त्री, रामस्नेही-सम्प्रदायाचार्यपीठाधिपति, रामधाम)

मध्यकालीन संतोकी विश्वको सदाचारकी एक देन है। सब्रह्मीं शतार्दीमें भारतके विभिन्न भूभागोंमें अनेक संत-महात्माओंने प्रकट होकर धर्मकी रक्षा और सदाचारका प्रचार किया। राजस्थानमें भी चार महापुरुष प्रकट हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोपर साधना कर उन्होंने सदाचारका प्रचार किया, जिनमें सम्प्रति राजस्थानमें रामस्नेही-सम्प्रदायके चार आचार्यपीठ—रेत, सींथल, खेड़ापा और शाहपुरा हैं। चारों आचार्य-पीठोंकी मान्यता, उपासना प्रायः एक समान है। जो साधक लौकिक-पारलौकिक विषयभोगोंसे सर्वथा विमुख, उपराम होकर एकमात्र निर्गुण-निराकार सर्वव्यापक रामको ही अपना इष्ट, आधार माने, वही सदाचारी रामस्नेही कहलाता है—‘राम इष्ट आधार, और को पूर दई है’।

उपर्युक्त सदाचारीको साम्प्रदायिक बोलचालकी भाषामें ‘साध’ (साधु) नामसे सम्बोधित करते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए सदाचारपालन करनेवाले साध (सदाचारी)—पुरुषकी उत्तम रीति वड़ी सुन्दर बतलायी गयी है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदे साची ग्रीत ।

‘दरिया’ गृही साध की, या ही उत्तम रीत ॥

(रामस्नेही धर्मीचार्य दरियाव म०)

सदाचार पालन करनेमें (चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु वेषधारी), सभी स्वतन्त्र हैं—

‘दरिया’ लच्छन साधका, क्या गिरही क्या भेक ।

निष्कपटी निर्पंख रहे, बाहर भीतर एक ॥

‘साध’ पुरुषद्वारा व्यवहारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी कार्य अपने इष्ट रामकी प्रसन्नताके लिये होते हैं। वह सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी यथार्थ तत्त्व-वोधको भूलता नहीं है—

रहनी करनी साध की, एक रामका ध्यान ।

बाहर मिलता से भिलै, भीतर आतम ज्ञान ॥

ऐसे ‘साध’ सदाचारी पुरुषकी निन्दा करनेसे धर्म-मर्यादाका उल्लङ्घन होता है और उस निन्दित शब्दका प्रभाव समस्त भूभागपर पड़ता है—

नव खण्ड की निन्दा करो, भावे निन्दो माद ।

साध निन्दा ते ‘किङ्गनदास’ मिटे धर्म भरजाद ॥

(संत श्रीकिङ्गनदासजीकी वाणी)

‘साध’ पुरुष और कदाचारी संसारी प्राणीमें आकाश-पातालका अन्तर होता है। साध पुरुषके जीवनसे सबको प्रकाश मिलता है जब कि संसारी-भोगी प्राणी स्वयं ही अन्धकार (भोगों) में भटकता रहता है—

नाथ चले आकासओ, दुनिया चली पताल ।

‘सुखरामा’ संग ना बो, अन्धेरे उज्जियाल ॥

(संत श्रीसुखरामदासजीकी वाणी)

जो अपने जीवनको सदाचारमय न बनाकर केवल सदाचारकी बातें बनानेमात्रसे अपने आपको साध पुरुष मान बैठते हैं, ऐसे दम्भी लोग साध पुरुषका सङ्ग न कर पुनः-पुनः जन्मते-मरते रहते हैं।

सीखा शब्द साध होय चैठा, रामका नाम न सूझे ।

साध संगतमें समझे नहीं, फिर-फिर जगत अलूझे ॥

(संत श्रीनानकदासजीकी वाणी)

साध पुरुषके संगसे ही भगवद्भजनमें श्रद्धा होती है, मृत्युपर विजय पानेकी विद्या मिलती है और निश्चय ही कल्याण होता है—

साध संगत करिये सदा, राम भजन को भाव ।

नहवे मिलसी मुगत पद, दे जमके सिर पाँव ॥

(संत श्रीप्रेमदयालजीकी वाणी)

साध पुरुषके सङ्गका प्रभाव कहाँतक कहा जाय, अगर सौभाग्यसे ऐसे पुरुषके दर्शन हो जायें तो दुःख दूर हो सकते हैं। अतः सर्वथा दुःखोंसे दूरनेके लिये तथा महान् आनन्दकी प्राप्तिके लिये भगवल्कृपासे एक क्षणका भी संग मिल जाय तो अपनेको दृतकृत्य मानना चाहिये।

साध संगत पल ही भली, जो देवे करतार ।

‘प्रेमदास’ दरसण कियाँ, जीव होत भव पार ॥

साध पुरुषका संग मिले, इस हेतु साधक अपनी राजस्थानी भाषामें भगवान्से प्रार्थना करता है—

रामजी साध संगत मोहि दीजो ।

देर-बेर मैं करूँ रे बीनती, किरपा मोपर कीजो ॥

समर्थ-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—डॉ० श्रीकेशव विष्णु मुले)

राष्ट्रगुरु संत श्रीसमर्थ रामदास स्थामी महाराजने जिस 'सम्प्रदाय'का प्रवर्तन किया, वह समर्थ-सम्प्रदाय उन्हींके पाँच सूत्रोंमें निम्न प्रकारसे निर्दिष्ट है—
‘शुद्ध उपासना, विमल ज्ञान, वीतरण, ब्राह्मणरक्षण’ गुरुपरंपरैर्चें लक्षण । ऐसें पंचवा बोलिएँ । इतुके पाहिजे यत्नें केले । म्हणिजै सकल ही पावले । म्हणै दासानुदास ॥

'सम्प्रदायिक विशुद्ध उपासना, विमल ज्ञान, वैराग्य, ब्राह्मणका रक्षण और गुरुपरम्पराका शुद्ध और सत्यमार्गसे परिपालन करनेसे सम्प्रदायका कार्य पूर्ण होगा ।' समर्थ रामदास स्थामीजीने समर्थ-सम्प्रदायकी 'सदाचार-संहिता' खरचित 'दासवोध', 'मनोवोध' आदि विभिन्न ग्रन्थोंमें दी है, जिसके अनुसार इस सम्प्रदायके व्यक्तिमें निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिये—१—लेखन—स्पष्ट और सुन्दर अक्षरोंसे लेखन करना । २—पठन—स्पष्ट उच्चारणोंमें पढ़ना । ३—अर्थान्तर—जो पढ़ा है, उसका सहज और सुलभ अर्थान्तर करना । ४—आशङ्का-निवृत्ति—श्रोतुवंशकी शङ्काओंका समाधानपूर्ण निरसन । ५—प्रतीति—स्वानुभव एवं भगवान्‌का विश्वास । कोई भी वात कहनेके पूर्व उसकी प्रतीति (अनुभव) आवश्यक है । अप्रतीतिकी वात कभी भी न कहें । ६—कवित्व । ७—गायन और नर्तन । ८—वादन । ९—अर्थ-भेद स्पष्ट करना । १०—प्रबन्ध लिखना और ११—प्रवचन करना । यदि ये ग्यारह गुण सम्प्रदायी व्यक्तिमें नहीं हैं तो उसे समर्थ-सम्प्रदायमें 'उपदेशक' बननेका अधिकार नहीं है । ये तो हैं—वहिरङ्ग लक्षण, साथ-साथ कुछ अन्तरङ्ग गुणोंकी भी आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार हैं—

१—वैराग्य, २—विवेक, ३—जनताजनार्दनकी सेवा,

४—राजनीति, ५—अव्यग्रता, ६—देशकाल-परिस्थितिका अचूक अध्ययन, ७—उदासीनता अर्थात् संसारसे अलिसत्ता, ८—समानता अर्थात् छोटे-बड़े सबको समावान देना और ९—रामोपासना अर्थात् रामभक्तिद्वारा जन-मानसका संस्कार और भक्तिके साथ-साथ अद्यात्म-साधना । इन गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही समर्थ-सम्प्रदायका 'उपदेशक' बन सकता है । ऐसे ही शिष्य एवं उपदेशक देश, काल और परिस्थितिका सम्बन्ध आकलन करते हुए अव्यग्रता, समानता तथा जनताजनार्दनको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे सम्प्रदायका प्रभावी प्रचार कर सकते हैं एवं अपने गुणों और रामभक्तिके द्वारा जनमानसमें भक्ति और सदाचारका अमिट संस्कार भी स्थापित करते हैं—‘वेध लावी जनां भक्तिपंथे ।’ सम्प्रदायी व्यक्तिके लिये आचारका अनुशासन भी था—‘आचार राखणै आधी । स्नान संध्या पवित्रता ॥’ इनमें निम्न अनुशासन मुख्य हैं—

१—आचार-शुद्धि, २—न्याय और नीतिकी रक्षा, ३—भिक्षाके माध्यमसे प्रेमी भक्तजनोंका शोध, ४—अत्यन्त सावधानता, ५—निरालस्य होकर अभिरत कार्य करना—ये पाँच नियम उनकी आचारसंहितामें महत्वपूर्ण थे । समर्थ-सम्प्रदायीको ऊपर निर्दिष्ट पचीस गुणोंके अनुशासनमें रहकर 'स्वानुभव', 'प्रवोधन' और 'प्रयत्नशीलता'द्वारा सम्प्रदायका कार्य सामान्य जनतातक पहुँचानेका उत्तर-दायित्व सीकार करना पड़ता था ।

‘मुख्य हरिकथा निरूपण । दूसरे ते राजकारण ।

तिसरे ते सावधपण । मर्द विषयी ॥’

(दासवोध)

‘हरिकथा-निरूपण’का प्रमुख कार्य करते हुए राजनीति और सदाचारका प्रचार-कार्य अत्यन्त सावधानीसे और

अचूक रीतिसे करना—यह समर्थ-सम्प्रदायका उद्देश्य रहा है। ऐसे सम्प्रदायीके लिये श्रीसमर्थ रामदासस्वामीजीने 'आचार-संहिता' का विस्तृत उपदेश किया है, जो इस प्रकार है—

साधकको सामान्यजनोंमें कार्य करते समय विभिन्न प्रकृतिके लोग मिलते हैं। इन सभीके अपने मधुर भाषण तथा भगवद्गुरुका प्रवचनोंद्वारा क्लेश दूर करें और भगवद्गुरुजनश्चारा सारी दुनियामें भक्तिभाव वर्धित करनेका प्रयत्न करें; पर इस कार्यके लिये भी स्वयं निधिसंग्रह न करें। लोगोंके कटु वचन सहनकर भी किसीका दोष नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—

'पेरिल्ले ते उगवते। उसने धावे ध्यावे लागते।'
(दासबोध)

जैसा बोया वैसा पाया जाता है या जैसा दिया जाता है वैसा ही क्लेना भी पड़ता है। साधकको मितभाषी होकर ही लोगोंका समाधान करना चाहिये। क्रोधमें किसीको कटुवचन कहते हुए उसे व्यक्ति करना उचित नहीं। जबतक सम्प्रदायी व्यक्ति किसी शाखका पूर्ण अध्ययन न कर ले, तबतक उस विषयपर उसका मत प्रकट करना उचित नहीं है। उसे अपना आचार और विचार वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल रखना चाहिये। साधकको एकत्र न रहकर देश-संचार करते रहना चाहिये और देश-काल-परिस्थितिका परीक्षण करते हुए व्यक्ति-व्यक्तिका मूल्याङ्कन करना चाहिये। उसे सभाओंमें प्रवचनका क्षमा, शान्ति, संयम और चतुराईसे संचालन करना चाहिये। साधक-को द्वेष, मत्सर इत्यादिसे सदा मुक्त रहना चाहिये और आत्मस्वरूपानुसंधानमें लीन रहते हुए उसे अनीति, क्रोध और अतिवादको त्याग देना चाहिये। अधिकार-लालसाको तुच्छ समझना चाहिये। (दासबोध)

साधकको विवेक और वैराग्यकी साधनासे अध्यात्मको निरन्तर वदावा देना तथा इन्द्रिय-निग्रही वनना आवश्यक

माना गया है। उसे उपासना-साधन-मार्ग-की रक्षा करते हुए भक्तिमार्गको प्रशस्त करना चाहिये। परमार्थ-साधनाका निरन्तर अभ्यास करना उचित माना गया है। निन्दक, दुर्जन आदि लोगोंके लिये प्रवचन, कीर्तन तथा भक्तिमार्गका प्रभाव और संस्कार करते हुए उनके मनमें दुष्कर्मोंसे ब्रृणा उत्पन्न करनी चाहिये। साधक परोपकार और भलाईको सदा वर्धिष्णु रखें। स्नान, संध्या, पूजन, भजन, कीर्तन इत्यादि—द्वारा हमेशा पुण्यमार्गका दिग्दर्शन करना चाहिये तथा दृढ़निश्चयी वनना चाहिये। सम्प्रदायीके जीवनका महान् कार्य है—'रंतोपर्पूर्ण सुखसे अपना कार्य करते हुए अपने सम्पर्कसे विश्वजनोंका उद्धार करना।' सम्प्रदायीको क्रियाभृत्या तथा पराधीनता-का सर्व भी न होना चाहिये; क्योंकि उससे हीनता आती है, अतः उसे अन्तर्निष्ठ वनना ही आवश्यक है।

समर्थ रामदास स्वामी साधकके श्रेयके लिये प्रसु रामचन्द्रसे इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

'रघुनाथदासा कल्याण बहावे। अति सौख्य बहावे आनन्दवावै ॥
उद्गेग नासो वर शत्रु नासो। नाना विलासे मग तो विलासो ॥१॥
कोठे नसो रे कलहो न सोरे। कापव्यकर्मी सहसा नसो रे ॥
निर्वाणविता निरसी अनंता। शरणागता दे बहु धातगता ॥२॥
अजयो नको रे जयवंत होरे। आपदा नको रे बहुभाग्य होरे ॥
श्रीमंतकारी जनहीतकारी। पर ऊपकारी हरिदास तारी ॥३॥'

(मनाँचे श्लोक)

सम्प्रदायी रामोपासकका कल्याण हो। उसे भरपूर सौरभ्य और आनन्द प्राप्त हो। उसके उद्गेग और शत्रु नष्ट हों। वह बहुविध कार्यमें मग्नी हो। उसे आपकी चरणोंमें आश्रय मिले। वह संकटोंसे मुक्त तथा भाग्य-शाली हो। हे प्रभु ! जनहितमें दक्ष, परोपकारमें अग्रसर तथा ज्ञानश्रीसे समृद्ध ऐसे हरिमत्तको भवसागरसे तार ढेवें।

आर्यसमाजमें सदाचार

(लेखक—कविराज श्रीछाजूरामजी शर्मा शास्त्री, विद्यावाचस्पति)

आर्यसमाज शुद्ध आचरणपर विशेष बल देता है। धर्मपालनमें सदाचारका वही स्थान है, जो मकान बनानेमें उसकी नींवका है। सभ्य समाजमें दुराचारीका कुछ भी मूल्य नहीं होता, न उसका कोई विश्वास करता है। जगत्-में जितने भी महान् व्यक्ति हो गये हैं, उनकी स्थानिका मूल कारण सदाचार ही रहा है। गुणोंकी दृष्टिसे सदाचारी तथा आर्य—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वेदके—‘कृष्णन्तो विश्वमार्यम्’ (ऋकसं०९।६३।५) इस वाक्यमें मनुष्यको श्रेष्ठ या सदाचारी बननेका ही संदेश है। ऐसा बननेके लिये यजुर्वेदके एक मन्त्रमें ईश्वरसे प्रार्थना की गयी है—ॐ विश्वानि देव स्वितद्वुरितानि परा सुव । यद्भ्रद्रं तत्र आ सुव ॥ (शुक्लयजुः ३०।३) —‘हे सकल जगत्-के उत्पत्तिकर्ता समस्त ऐश्वर्य-सम्पन्न, शुद्ध-शुद्ध सब सुखोंके दाता परमेश्वर! आप कृपाकर हमारे सभी दुर्गुण-दुर्व्यसन एवं दुःखोंको दूर कीजिये और जो हितकारी गुण-कर्म स्वभाववाले पदार्थ हैं, वे सब हमें प्राप्त कराइये’—कारण जबतक दुर्गुणोंकी निवृत्ति न होगी, तबतक सद्गुणोंकी प्रवृत्ति न होगी; क्योंकि दो विरोधी गुण (दुर्गुण तथा सद्गुण) एक कालमें एक साथ नहीं ठहर सकते। किसी नीतिकारने भी ठीक ही कहा है—

**निघसन्तीह यत्र दुर्गुणा अधितिष्ठन्ति न तत्र सद्गुणाः ।
स्वयमेव सतैलतो यथा सलिलानि प्रपतन्ति दारुतः ॥**

‘जैसे तेल पड़ी हुई चिकनी लकड़ीपर पानी नहीं ठहरता, वैसे ही जहाँ दुर्गुण निवास करते हैं, वहाँ सद्गुण नहीं ठहरते।’ विचारणीय है कि ये सद्गुण आयें कहाँसे, जिससे मनुष्य सदाचारी बन सके? इसका उत्तर है कि सत्सङ्गसे ही मनुष्यमें सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो सकता है। बड़े-बड़े दुराचारी मनुष्य भी सत्सङ्गसे निःसंदेह सदाचारी बन गये हैं। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी श्रीदयानन्दजीका

जीवन ऐसा पवित्र था कि उनके सत्सङ्ग एवं उपदेशोंसे आजतक लाखों व्यक्तियोंके जीवनमें सुधार हुआ है। उनके जीवनकी ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमेसे एक-दो घटनाएँ यहाँ दी जाती हैं, पाठक उसे देखें—

स्वामीजीके समकालीन पंजाबके एक तहसीलदार अमीचन्दजी बड़े दुराचारी थे। अण्डा, मांस, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन और अन्य अनाचार उनके जीवनके स्थानान्तरिक अङ्ग बन गये थे, परंतु उनमें एक बड़ा गुण यह भी था कि वे सुरीली व मधुर आवाजसे संगीतका बड़ा सुन्दर गान करते थे। उनके संगीतकी प्रशंसा सुनकर एक वार स्वामी दयानन्दजीने भी अमीचन्दजीसे गीत सुननेकी इच्छा व्यक्त की। उनके भक्तोंने कहा—‘महाराज! वह अमीचन्द तो बड़ा कदाचारी और दुर्व्यसनी है।’ स्वामीजीने उत्तर दिया—कोई बात नहीं। आप उनको मेरे सामने लाइये तो सही! तहसीलदार अमीचन्दजीको बुलाया गया और उन्हे शिष्टाचारके पश्चात् गीत सुनानेको कहा गया। उन्होंने ऐसा सुमधुर गीत सुनाया कि स्वामीजी गद्गद हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने एक ही वाक्य कहा—‘अमीचन्दजी! आप हो तो हीरे, परंतु कीचड़ीमें फैस गये हो।’ बस, इतना कहना था कि अमीचन्दजी सब कुछ समझ गये। वे तुरंत ही घर गये और वहाँ जाकर मांस, शराबकी सब प्लेटें और बोतलें तोड़कर फैक दीं और दुराचार छोड़ देनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। उन्हे अपने पूर्व जीवनसे घृणा हो चली। उसी दिनसे उन्होंने पूर्वकृत अपराधोंपर पश्चात्ताप किया और स्वामी दयानन्दजीके पक्के भक्त बन गये। फिर उन्होंने सैकड़ों ही सुन्दर गीतोंके द्वारा आर्यसमाजके वैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया। देखिये—स्वामीजीके एक ही वाक्यसे वे काचसे हीरे बन गये। सचमुच संतोंके बचनोंमें बड़ी शक्ति होती है, जो सम्पूर्ण जीवनको ही बदल देती है।

इसी प्रकार पंजावमे जालन्धर जिलेके तलवन ग्रामके निवासी श्रीमुंशीरामजी भी, जो सब प्रकारसे पतित हो चुके थे—खामी दयानन्दजीके सत्सङ्गसे सदाचारी बनकर आर्यसमाजके एक वहुत बड़े तपस्थि नेता खामी श्रद्धानन्दके नामसे प्रसिद्ध हो गये। पता नहीं, इस प्रकार उनके द्वारा कितनोंके जीवनका सुवार हुआ। अतः कहना पड़ता है कि मनुष्यको श्रेष्ठ सदाचारी बननेके लिये सत्सङ्गसे बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है। (द३० आर्यसमाजका इतिहास भाग २) सत्सङ्गसे ज्ञानमें बुद्धि होती है। यदि ज्ञानके अनुसार आचरण न हो तो वह ज्ञान निष्प्राण है। सकल शास्त्रोंका ज्ञान होनेपर भी मनुष्य सदाचारी न बना तो वह मनुष्य वैसा है, इसे एक नीतिकारकी दृष्टिमें देखिये—

अधीन्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्चीं पाकरसं यथा ॥
(मौक्तिकोपनिषद् २।१।६५)

‘कुछ लोग चारों वेद और अनेक धर्मशास्त्रोंको पढ़ते हैं। परंतु अपने स्वरूपको जानकर सत्याचरण नहीं करते, तो वे कड़ी वा उस चमक्के समान हैं, जो नित्य अनेक बार दाल-संबिजयोंमें जाती है, परंतु उसका खाद नहीं जानती। वस्तुतः मनुष्यके अच्छा या बुरा बननेके तीन कारण हैं— एक पूर्वजन्मके संस्कार, दूसरा वाय्य वातावरण और तीसरा माता-पिता या आचार्यकी शिक्षा। जैसे वातावरणमें रहकर जैसी शिक्षा ग्रहण करेगा, मनुष्य वैसा ही बनेगा। बड़ोंको देखकर छोटोपर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीता (३।२०)में यही बात बतायी है—

यद्यद्वचरति श्रेष्ठस्तन्देवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थ स्पष्ट ही है। अतः बड़ोंको चाहिये कि छोटोंके सामने ऐसा कोई आचरण न करें कि जिससे उनपर

बुरा प्रभाव पड़े। माता-पिता और अध्यापक लोग बालकोंको ऐसी शिक्षा दें जिससे वे चोरी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य-सेवन, मिथ्या भाषण, हिंसा, कूरता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दोषोंको त्यागकर सत्याचरणपर ध्यान दें तथा दुराचारी मनुष्योंसे पृथक् रहें। वे देखें कि बालक कुसङ्गमें फँसकर किसी प्रकार कुचेष्टा तो नहीं करता (सत्यार्थप्र० द्वि० समु०)। उपदेश देना जितना सरल है, आचरण करना उतना ही कठिन है। गोखामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

पर उपदेश कुसल बहुतेरे। जे आचरहि ते नर न घनेरे ॥

(मानस ६।७७।१)

वस्तुतः सच्चा मानव बननेके लिये उसे सदाचारकी अग्निमें तपना पड़ता है। शुद्ध संस्कारका यही अभिप्राय है कि मनुष्यके अंदर जो अनिष्ट संस्कार पड़े हुए हैं, उन्हे दूर करके शुद्ध संस्कार ढाले जायें, उनके विचारोंमें परिवर्तन लाकर उन्हे श्रेष्ठ सदाचारी बनाया जाय; जिससे वह समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। बिना संस्कार किये मनुष्य लोक-व्यवहारमें खरा नहीं उत्तरता।

लोक-व्यवहारमें सदाचार—लोक-व्यवहारमें देश, काल, स्थितिके अनुसार सदाचार और शिष्टाचारमें मिश्रता हो सकती है। फिर भी सदाचारके मौलिक सिद्धान्त समानरूपसे सर्वत्र लागू हैं। हमारी भारतीय संस्कृतिका आधार सदाचार है। यदि सदाचारके नियम और सिद्धान्त कुछ भी न होते तो आर्यसभ्यता कभीकी मिट गयी होती और मानव जंगली जानवरोंकी भाँति जीवन व्यतीत करता। विदेशियोंने हमारी सभ्यताको मिटानेके लिये हर सम्भव उपाय किये, परंतु वे इसमें सफल न हो सके। यद्यपि आजका कुमार एवं युवक-समाज पाश्चात्य शिक्षान्दीक्षा लेकर आर्यवर्तीय सभ्यता-सदाचारमें उपेक्षित बुद्धि रखता है, तथापि उसके प्रवल संस्कारोंका उनपर स्थायी प्रभाव है। सत्यको ब्रुठलाया नहीं जा सकता। यही कारण

है कि आर्यसम्भता अनेक विषम परिस्थितियोंसे गुजरती हुई आज भी जीवित है और संसारका यथेष्ट मार्ग-दर्शन कर रही है। आर्योंका सदाचार विश्वकी उच्च-से-उच्च सेवाके भाव उत्पन्न करता है। लोक-व्यवहारमें स्थामी दयानन्दजीकी सदाचारकी शिक्षाएँ बड़े महत्वकी हैं—

जनसाधारणके प्रति—हम दूसरोंकी सेवा इस भावसे न करे कि बदलेमे पारितोषिक मिलेगा; अपितु निष्कामभाव-से सेवा करें। किसीसे भद्दी हँसी-दिल्लगी न करें और न किसीको अपशब्द कहकर जी दुखाएँ। काच, पत्थर, ईंट, काँटा, केलेका छिल्का आदि पदार्थ जो दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले हैं, इनमेंसे कोई भी पदार्थ मार्गमें देखें तो उसे खयं हटा दें अथवा किसीसे हटवा दें। यदि कोई मार्ग भूल जाय तो अपनी हानिकी परवा न कर उसे सही मार्ग बता दे। किसी भी मत अथवा धर्मके प्रवर्तकोंका नाम आदरसे ले। उनपर आश्रेप न करके धार्मिक एवं राजनीतिक वाद-विवादोंमें नम्रता, प्रेम और सदाचारसे काम लें, अपमान किसीका न करे। किसीकी खोयी हुई वस्तु मिल जाय तो उसका पता लगाकर वहाँ पहुँचा दे अथवा ऐसे स्थानपर जमा कर दें, जहाँसे वस्तुके स्थामीको वह मिल जाय। पारस्परिक झगड़ोंको धर्मानुसार खयं तय करें और यदि दो व्यक्ति झगड़ते हों तो उन्हे भड़काएँ नहीं, अपितु उनमें मेल करानेका यत्न करे। पापसे घृणा करें, पापीसे नहीं। उसके साथ प्रेम व सहानुभूति दरसाये। पड़ोसी, मित्र या अपने सम्बन्धीके यहाँ मृत्यु हो जाय तो उसके शोकमें सम्मिलित होकर यथासम्भव उसें धैर्य प्रदान कराइये। जहाँ दोसे अधिक व्यक्ति वाते करते हो, वहाँ मत जाइये; हो सकता है, वे गुप्त मन्त्रणा करते हो और आपका वहाँ आना वे पसंद न करे। किसीके पीछे निन्दा न करें। प्रत्येक व्यक्तिमें कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है, उस व्यक्तिके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये। हाँ, यदि अपना मित्र अथवा आत्मीय

जन हो तो उसके दोपोंको ग्रेमपूर्वक दूर करनेका यत्न करे। जहाँतक हो सके, अपनेसे बड़ोंकी ओर पीठ करके न बैठें और न चलें। दूसरे व्यक्तिकी वात जबतक समाप्त न हो, बीचमे न बोलें। यदि भूलसे बोल जायें तो उससे क्षमा माँग लें। वातचीतका सिलसिला लम्बा न बढ़ाकर सुननेवालेको भी वात करनेका अवसर देना चाहिये; अन्यथा सुननेवाला आपकी बातसे ऊवं जायगा। कथा-व्याख्यानमें बीचमे न उठें। यदि उठना आवश्यक हो तो प्रसङ्गकी समाप्तिपर उठें, अन्यथा कथा-वाचकका अपमान समझा जाता है। बिना आवश्यकताके किसीसे उसका बेतन, आय वा जाति न पूछे।

स्त्री-सम्बन्धी सदाचारकी वातें—परायी स्त्रीसे यदि कोई वात करनी हो तो नीचेकी ओर दृष्टि करके वात करे। खियोंको छूना, उनसे हँस-हँस-कर वाते करना, दिल्लगी करना असम्भता है और सदाचारके विरुद्ध आचरण है। किसी स्त्रीको माला पहनानी हो तो उसके हाथमें दे दीजिये, वह खयं पहन लेगी। यही वाते खियोंको भी पुरुषोंके प्रति ध्यानमें रखनी चाहिये। किसी भी असहाय स्त्रीपर कोई संकट आ जाय या उसे कोई असुविधा हो तो निःखार्थ-भावसे उसकी सहायता करें। आयु, विद्या एवं योग्यताके अनुसार खियोंमें माता, पुत्री और बहिनका भाव जाग्रत् करो और उनका सम्मान कीजिये। किसीके घर जहाँ खियों रहती हों, वहाँ विना सूचना दिये कभी न जाइये और जहाँ खियों नहाती हों, वहाँ भी मत जाइये। घर अपना हो या पराया, जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली बैठी, सोयी या बैठ पहनती हो, परदेकी शक्लमें हो तो उस कमरेमें सहसा प्रवेश न करें। आवाज देकर या खाँसकर अपने आनेकी सूचना दें।

इस प्रकार लोक-व्यवहारमें मर्यादा और शिष्ठाचारकी रक्षा करना—आर्यसमाजके सदाचार-सिद्धान्तोंमें परिगृहीत है।

सिख-धर्म और सदाचार

(लेखक—प्रो० श्रीललमोहरजी उपाध्याय, एम० ए०)

सदाचारका अर्थ है—शुभ आचार। सदाचारका सम्बन्ध मनुष्यके कर्मके साथ माना जाता है। भाषा-विज्ञानके अनुसार सदाचार शब्द जो अंग्रेजी शब्द एथिक्स (Ethics) का पर्याय है, यूनानी भाषाके एथेस (Ethics) शब्दसे विकसित माना जाता है। सिख-सदाचारका सम्बन्ध गुरुओंद्वारा दी गयी शिक्षामें अच्छाईसे है। सिख-सदाचारका भाव मानवीय व्यवहारसे सम्बद्ध है, जो गुरुग्रन्थ साहिव, दसम ग्रन्थसाहिव और रहितनामामें अङ्गित है। गुरुनानकजी कहते हैं कि सत्य सबसे श्रेष्ठ है, परंतु सत्यमें भी ऊँचा आचार है—‘सच्चो उरै समझो ऊपर सच्च आचार’॥ (गुरुग्र० सा० पृ० ६२) इसलिये गुरुनानकदेवजी कहते हैं कि हृदयमें सत्यको धारण करना ही मानवका परम धर्म तथा कर्तव्य है, अन्य पूजा-अर्चना सब दिखावा तथा सावारण वाल्य साधन है—‘हृदय सब इहः करनी है साहु, हरि सब दिखावा पूजा खुभार’ (—गुरुग्र० सा० पृ० १४२९)।

किसी धर्मकी परख उसमें निर्दिष्ट हुए आचारसे ही सम्भव है। आत्मिक जीवनका सामाजिक एवं सांसारिक पक्ष मनुष्यके आचरणसे ही ऊँचा जा सकता है। गुरुनानकने सिखके आचरणमें निम्नाङ्कित गुण आवश्यक माने हैं—(१) सत्य, संतोष, विचार, (२) दया, धर्म, दान, (३) लगान, सब्र, संयम, (४) क्षमा, निर्धनता, सेवा, (५) प्रेम, ज्ञान और कर्म करना। सच तो यह है कि सिख-सदाचारमें गुरु गोविन्दसिंहजीने ‘मानसकी जाति सब एकै पहिचानानो’ का संदेश दिया है। गुरु अङ्गददेवने सदाचारके लिये ‘इस मैं सौँम्भी वाल सदायन’का उपदेश गुरुग्रन्थ साहिवके आसा जीवारमें दिया है। इतना ही नहीं, सिख-धर्ममें सदाचारी जीवन व्यतीत करनेके लिये खी-पुरुपको

समान दर्जा दिया गया है। गुरुनानकदेवने स्पष्टरूपसे कहा है कि सदाचारी जीवनके तीन मूलभूत सिद्धान्त हैं—नाम जपना, किरत करनी तथा वंड छकना। इस प्रकार जहाँ योगियोंका सदाचारी जीवन निराशावादी प्रतीत होता है, वहाँ सिखधर्मका सदाचारी जीवन आशावादी दीखता है। इसीलिये तो गुरुनानकदेवजीने गुरुग्रन्थ साहिवमें ढंकेकी चोट कहा है—

चंगि आहआं बुरी आहआं वाजं धरम हृदूरि ।
करनी आये आपनी के नेंडे कै दूर ॥

(—जपुजी गु० ग्र० सा०)

गुरु गोविन्दसिंहने यहाँतक कहा है—‘देहि शिवा वर मोहिए है, शुभ कर्मन ते कवहू न टरौ’ शुभ कर्मनसे इनका मतलब सदाचार ही है। प्रतिदिन सिख-समाजमें जो प्रार्थना होती है, उसके अन्तमें कहा जाता है—‘नानक नाम चढ़की कला, तेरे माने सरवत का भला’ अर्थात् सिख-सदाचारमें सबकी भलाईकी कामना निहित है। गुरुग्रन्थ साहिवमें भक्त कवीरजीने सदाचारी जीवनके लिये समन्वयवाद और समानताकी ओर संकेत किया है—

अबल अल्ला नूर उपाया, कृहरत के सम वंदे ।
एक नूर ते रूप जग उपजया, कौन भले को मंदे ॥

गुरुनानकदेवजीने स्पष्टरूपसे गुरुग्रन्थ साहिवमें कहा है कि सदाचारका आधार अच्छा धार्मिक जीवन व्यतीत करना है। परमात्माके ऊपर विश्वास मनुष्यको बुरा काम करनेसे रोकता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदिपर काढ़ू करनेपर ही मनुष्य ऊँचा उठकर सदाचारी जीवन व्यतीत कर सकता है। इसीलिये तो ‘गुरुग्रन्थ’ साहिवमें पञ्चम गुरु अर्जुनदेवने कहा है—

काम क्रोध लोभ मोह मिथाये, छुटकै दुरमति अपनी यारी ॥
होई निभानी सेव कमावहि त होवहि प्रीतम सन पिथारी ॥

सिखधर्ममें निजी जीवनको सुधारनेपर काफी बल दिया गया है। सदाचारी सिखके लिये पाठ करना और संगतमें जाना दोनों आवश्यक है। संगत और पंगतका ध्यान रखना सदाचारी जीवनके लिये अत्यन्त ही जरूरी है। जुल्मके विश्वद लड़ना भी सदाचारका एक अङ्ग है। गुरु गेविन्दसिंहने स्पष्टरूपसे कहा है कि जब शान्तिके सारे साधन असफल हो जायें तो तलवार पकड़ना जायज है—

चूंकार अज हमा ही लते दर गुजरत ।
हलाल असत बुरदन व समसीर दस्त ॥

(दग्म ग्रन्थ)

गुरु अर्जुनदेवने तो सदाचारके लिये समानताको अत्यन्त आवश्यक माना है। इसीलिये तो वे गुरु-ग्रन्थ साहिवमें कहते हैं—‘एक पिता एकमके हम वारिक्वा’

सिखधर्ममें संसारको झूठा समझकर उसको तिलाज्जलि देनेकी वात नहीं है, वल्कि इस असार संसारमें रहते हुए सदाचारके सिपाहीके रूपमें जीवन व्यतीत करनेका संदेश है। इतना ही नहीं, सिखमतमें धर्म और सदाचार एक दूसरेके प्रकर हैं। धर्मके बिना सदाचार असम्भव है तथा सदाचारके बिना धर्म निर्जीव है। सिख-धर्ममें सदाचारकी यही सबसे विलक्षणता है कि सभी सिख गुरु स्थायं जीवन-भर सदाचारी बने रहे तथा उन्होंने दूसरोंको भी सदाचारी बननेकी प्रेरणा दी। इस प्रकार सिखधर्ममें सदाचारका स्थान सर्वोपरि माना गया है।

पारसीधर्ममें सदाचार

(लेखिका—श्रीमती खुरशेदवान् जाल)

पैगम्बर अपना ऊँचा-से-ऊँचा आदर्श छोड़कर हमारे-जैसे अज्ञानियोंको धर्मका प्रकाश प्रदान करते हैं और अपना कार्य पूर्ण होनेपर भगवान्के धाममें चले जाते हैं। इसके पश्चात् जो कुछ भी कर्तव्य करना शेष रह जाता है, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होता है। उनके उपदेशोंका पालन करना और आचरणमें लाना हमारा कर्तव्य है। धर्म चाहे जितना उत्तम हो, यदि वह केवल शास्त्र एवं पुस्तकोंमें ही लिखा रहे और हमारे दैनिक-न्यूनहारसे अलग ही-रहे तो उससे हमारा कल्याण नहीं हो सकता—चाहे उसका सिद्धान्त-पक्ष कितना भी उत्तम एवं पवित्र हो। सदा वारयुक्त जीवनमें ही सद्धर्म या अच्छे प्रकारके धर्म या दीनकी परीक्षा होती

है। किंतु हम बहुत धर्मी या सत्कर्मी हैं—ऐसा दिखानेके लिये ही यदि हम विशेष प्रकारके वस्त्र पहनते हैं अथवा माला जपते हैं तो इस बाहरी आचरणमात्रसे हम भगवान्को धोखा नहीं ढे सकते। सच्चे धार्मिक व्यक्ति तो नित्यप्रति धर्मके सिद्धान्तानुसार अपने निश्चल आचरणसे ही भगवान्को अपने वशमें करते हैं।

जरथोस्त्री (पारसी) धर्मके अनुसार अपने विचार, वाणी एवं क्रियामें धर्मका प्रभाव प्रत्येक क्षण प्रकट होता रहना चाहिये। इस जीवनकी सफलता सदाचारमें ही है। शास्त्र हमें बहुत कुछ सिखाना चाहते हैं, परंतु यदि हम उनके अनुसार नहीं चलते तो असदाचारी या अधर्मी ही कहे जायेंगे। इस कारण हमारे श्रद्धेय

४४ पारसीधर्मके इस लेखमें ‘खुदा,’ ‘अशोईँ,’ हुमत आदि अनेक पारसी भाषाके रूढ़ शब्द भी हैं; जिन्हें बदलना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि वे साकृतिक शब्द हैं।

पैगम्बर अशो स्पीतमान जरथुस्त्र साहबने हमारे दैनिक-जीवनमें पालनीय कुछ विशेष आचार बतलाये हैं। जब हम उनके अनुसार व्यवहार करेंगे, तभी सच्चे जरथोखी (पारसी) कहलायेंगे।

(१) हमारा धर्म भलाई सिखाता है; अर्थात् हमें अपनी ओरसे सबके साथ भलाईका ही व्यवहार करना चाहिये। किसीकी थोड़ी भी हानि न हो, सबके साथ नेकीका व्यवहार करें तभी सच्चे जरथोखी कहलायेंगे। यदि आप भले व्यक्ति बनना चाहते हैं तो जिसमें किसीकी हानि हो ऐसी कोई किया न करें, किसीकी हानि न हो, ऐसी ही इच्छा करे। 'भलाईका मार्ग ही खुदा (भगवान्)का मार्ग है'। वे जैसे स्वयं सबका कल्याण चाहते हैं तथा करते हैं, उसी प्रकार हमें भी परोपकारी, परमार्थी एवं भला बनना चाहिये। हमारा धर्म—हुमत, हुबल, हुवरस्त यानी नेक विचार, नेक वचन और नेक कर्म ('Good thoughts, good words and good deeds') पर आधारित है। हमारा धर्म सबकी भलाई करनेके लिये बना है। इसलिये इसके अनुसार हमें सबके साथ भलाई और अच्छाईका व्यवहार करना चाहिये।

(२) पारसीधर्मका दूसरा सद्गुण एकता सौहार्द (प्रेम) है। हमारे विचारोंमें मतभेद भले हो, फिर भी झगड़ा-झंझटसे दूर रहकर सबके साथ हिल-मिलकर रहना तथा प्रेम रखना प्रत्येक जरथोखीका मुख्य कर्तव्य है। झगड़ा-झंझट दूर करके दोनों पक्षोंको मित्र बनाने-की गरिमा वास्तविक है। यदि दोनोंके मनमें थोड़ी भी समता हो तो अपने सामनेवाले व्यक्तिको समझानेका प्रयत्न हृदयसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे भाई-बन्दी, दोस्ती, प्रेम बढ़ेगा, विरोध दूर होगा और जगतमें शान्ति फैल जायगी। हमारी पारसी जाति भारतमें आनेके बाद आजतक प्रत्येक जातिके साथ भाईचारा स्थापित कर प्रेमके साथ रहती आयी है और सदा रहेगी। जब हम ईरानसे भारतकी पवित्र भूमिपर

आये, तब गुजरातके राजा यादवराय राणाने हमें प्रेमसे रहनेका जो वचन दिया था—जिसका हमने आजतक बराबर पालन किया है। भारत हमारी मातृभूमि है और इस भारत माताके लिये हम पारसी सदा अपना कर्तव्य पूरा करते रहे हैं और करते रहेंगे। हमारे धर्मका उच्च सिद्धान्त यह है कि जिस देशमें तुम रहो, उस देशका सम्मान करो और आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये अपने प्राणोंको भी अर्पित कर दो।

(३) तीसरा सद्गुण सहनशील बनना है; अर्थात् किसीको जवरदस्ती अपना ही मत सत्य माननेका दुराग्रह नहीं करना चाहिये। धर्म समझानेके लिये भी बल-प्रयोग या धर्मकी व्यर्थ है।

(४) पारसीधर्मका चौथा सद्गुण स्वार्थ्याग है। जीवनमें दूसरोंके सुखका विचार पहले करना चाहिये और केवल अपना ही भला करनेका तुच्छ विचार त्याग देना चाहिये। भगवान् ने हमें जो कुछ धन, बुद्धि, शक्ति आदि प्रदान किया है, उसका उपयोग हमें संसारके कल्याणके लिये करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्तिका कर्तव्य है। पूजा रागभोग देकर जो कोई सुख चाहे, भगवान् उसे सुख देगे—ऐसा हमारे धर्मका नियम है। जैसे भगवान् अपनी अहैतुकी दयासे संसारकी भलाई करते रहते हैं (बदला लेनेकी या यशकी आशा ही नहीं करते), उसी प्रकार मनुष्य व्यवहार करे तो वह भगवान्का आशीर्वाद प्राप्त करता है, वह सच्चा वन्दा कहा जाता है—'उक्ता अहभाय उक्त कमाये चीत', अर्थात् सुख वह है, जिससे दूसरोंको सुख हो—यह श्लोक हम पारसी प्रतिदिन अपनी प्रार्थनामें पढ़ते हैं।

(५) अशोईके (नेकी-रीति-सदाचारके) विशाल सद्गुण पालनेके लिये होते हैं। इनमें सच्छता, समता, समाधान समाविष्ट हैं। शरीर सच्छ रहे, खुराक, कपड़ा,

हवा, गृह आदि भी उसी प्रकार पवित्र रखें जायें। उसी प्रकार अन्तःकरणके गुण (प्रेम-दया) भी जागृत रहें तथा मनके विचार भी ठीक रखे जायें। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अशोर्ईमे इसके अनुकूल प्रयत्न निहित हैं। परवरदिगार स्थायं अशोर्ईके नियम संसारको अच्छे मार्गपर चलाकर निभाते हैं। इससे जहाँ हमे गंदगी, ठगाई, दुराचारकी अधिकता लगे, वहाँ समझिये कि हमारे धर्मका आवश्यक फरमान टूट रहा है।

(६) हम जरथोस्त्री (पारसी) अहुरमज्द (परमेश्वर)की ओरसे प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थिति-के लिये उनका आभार मानते हैं और इसी मान्यताके कारण उस मालिकके नामका जन-कल्याणके लिये प्रचलित करना अपना कर्तव्य मानते हैं। बंदगीका सच्चा अर्थ खिदमत (सेवा) है। उस दयालु जगद्पितासे थोड़ी सहायता करना हम सीख लें तो हम सच्चे सेवक कहे जा सकते हैं। भगवान् सबका निर्वाह करते हैं। वे जीवोंकी भूल और दोषकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते और हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करते हैं; अतः हमें भी उनकी सेवाके नामपर कुछ दान एवं परमार्थका काम करना चाहिये। जो मनुष्य गरीब एवं लाचार व्यक्तियों-की सहायता करता है, वह परमेश्वरको एक बादशाहके रूपमें सम्मान देता है।

(७) सुख आये या दुःख—चाहे जैसी कठिन परिस्थितिमें भी परमात्माके न्यायके सामने चिन्ता नहीं

करनी चाहिये। परमेश्वरपर विश्वास रखिये, वे जो कुछ करते हैं, उसीमें हमारी भलाई है, ऐसा विश्वासकर भगवान् हमे जैसे रखे, वैसे ही रहे। किसी परिस्थितिमें भी हमें परमेश्वरके फरमानको दुःखरूप नहीं समझना चाहिये। कभी-कभी दुःख पड़नेपर भी हमें बहुत कुछ सीखनेको मिलता है। कटु अनुभवके पश्चात् ही बुद्धिमानी प्रकट होती है। संकटके सामने लड़नेसे मनोवल बढ़ता है।

पैगम्बर जरथुस्त्रको अपना पथप्रदर्शक मानकर उनकी आज्ञाका पालन करना प्रत्येक पारसीका कर्तव्य है। उनके संदेशको सत्य मानकर उनके वताये हुए मार्गपर चलें तो हमारा कल्याण होगा। जो कोई धर्मके फरमान-पर नहीं चलता, वह भाग्यहीन है। कारण कि वह स्थायके जीवनको व्यर्थ नष्ट करता है और ईश्वरकी ओरसे वह गुणहीन और नालायक सिद्ध होता है। इससे उसकी आत्मोन्नति रुक्ती है।

नेकी (भलाई)के भंडार (सदाचार) तो परलोकमें लेजा सकते हैं, पर धन-दौलत वहाँ नहीं लेजा सकते। हम खाली हाथ आये हैं और हमें खाली हाथ ही जाना पड़ेगा। हम अशोर्ई (सदाचार)से ही खुदाको प्राप्त कर सकते हैं। जिसका मन ठीकसे धर्मके मार्गपर चलता है, वही सच्चा भगवान् है। इसलिये खुदासे प्रार्थना करनी है कि 'ऐ परवरदिगार! तू हमे पवित्र कर, सदाचारी वना—यही सद्गुण हमे खार्गमें काम आयेंगे।'

दानशीलता

ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बटोरकर रखनेके लिये नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रोंको देनेके लिये है। हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर यहती नदी बनना चाहिये। इस प्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, शान्त, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उल्टे घटते ही हैं। पेसे मनुष्यको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होनी चाहिये।

—महात्मा जस्त्रु

महात्मा ईसा और उनकी सदाचार-शिक्षा

पश्चियाके पश्चिमी भागमें फ़िलिस्तीन (Palestine) नामका देश है। महात्मा ईसामसीहका जन्म इसी देशमें हुआ था, यहीं उन्होंने अपना जीवन बिताया और यहीं अपना भौतिक शरीर छोड़ा। इनका जन्म विक्रमसं० ५७में हुआ था। ईसी सन्का प्रारम्भ इन्हींके जन्मके समयसे माना जाता है*। इनकी माता कुमारी मरियम (Virgin Mary) थी। मरियमका अर्थ है— ‘महान्’। इनकी सगाई जोजेफ (Joseph) नामके बढ़ीसे हुई थी, जो राजा डेविडके वंशमें थे। जब ईसा बारह वर्षके हुए तो इनके माता-पिता इन्हें जैरूसेलेम (Jerusalem) ले गये। वहाँसे लौटते समय ये रास्तेमें गायब हो गये। इनके माता-पिता इनकी खोजमें जैरूसेलेम वापस चले आये और वहुत खोज करने-पर ये वहोंके मन्दिरमें (धर्म-) कानूनके बड़े-बड़े पण्डितोंसे वाद-विवाद करते हुए मिले, जिससे लोगोंको बड़ा आश्वर्य हुआ। फिर ये अपने माता-पिताके साथ वापस नजारेय चले आये। इनके वाल्कपनका और कोई वृत्तान्त इतिहासमें नहीं मिलता।

इनकी प्रारम्भसे ही भगवान्‌में बड़ी भक्ति थी और ये अपने प्रत्येक कार्यमें उन्हींकी इच्छाका अनुसरण करनेकी चेष्टा करते थे। इन्हें अपने शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान्‌की इच्छाका स्पष्ट अनुभव होता था। कहा जाता है कि प्रकृतिके प्रत्येक खेलमें, जीवनके प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक विचारमें भगवान्‌की वाणी इन्हे स्पष्ट सुनायी देती थी। ये अपने अन्तस्तलमें, सूर्यकी रस्मियों और नक्षत्रोंके ग्रकाशमें—सर्वत्र अपने परमपिता परमात्माकी झाँकी लेते रहते थे। जन-समुदायमें अथवा एकान्तमें, हर समय ये भगवान्‌का ही चिन्तन किया करते थे। ईश्वरमें उनकी तल्लीनता अद्वितीय थी।

तीस वर्षकी अवस्थासे तैनीस वर्षकी अवस्थातक, अपनी मृत्युकी अवधितक, ईमाने धर्म-प्रचारका कार्य किया। इनके प्रधान उपदेश—‘The Sermon on the Mount..’—पहाड़ीपर उपदेशके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके उपदेशोंमें सदाचारके मुख्य तत्व विद्यमान हैं। संक्षेपमें उनमेंसे कुछ नीचे हिये जा रहे हैं—

(१) जिनके अन्दर दैन्यभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होगा। (२) जो आर्तमावसे रोते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे आश्वासन मिलेगा। (३) विनयी पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेंगे। (४) जिन्हें धर्मचरणकी तीव्र अभिलापा है, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें पूर्णताकी प्राप्ति होगी। (५) दयालु पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्‌की दयाको प्राप्त कर सकेंगे। (६) जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वरका साधात्मकार उन्हींको होगा। (७) शान्तिका प्रचार करनेवाले धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्‌के पुत्र कहे जायेंगे। (८) धर्मपर दृढ़ रहनेके कारण जिन्हें कष्ट मिलता है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होता है।

ईसाके जीवनमें कई चमत्कार भी दिखलायी पड़े; किन्तु वे उनकी आध्यात्मिक शक्तिके सामने कुछ भी न थे। उन्होंने कई अन्धों, लैंगड़ों, वहरों, कोडियों तथा लकवेसे पीड़ित रोगियोंका कष्ट दूर किया, मुदोंको जिलाया, अन्धड़न्कानोंको शान्त किया, कुछ ही पत्तोंसे हजारों मनुष्योंको भोजन कराया और इसी प्रकारके और भी कई आश्वर्यजनक कर्म

किये, पर सबसे बड़ी चमत्कृति उनकी धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता थी ।'

ईसामसीहने विनय, क्षमा, दया, त्याग आदि गुणोंका बहुत प्रचार किया । वे कहा करते थे कि यदि कोई तुम्हारे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे तो तुम अपना वायाँ गाल भी उसके सामने कर दो । यदि कोई तुम्हें किसी प्रकारका अभियोग लाकर तुम्हारा कोट छीन ले तो उसे अपना लबादा भी दे दो । अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, अपनेसे वृणा करनेवालेका उपकार करो और अपनेको सतानेवालोंके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करो । दूसरोंकी आलोचना न करो, जिससे कि तुम भी आलोचनासे बच सको । दूसरोंके अपराधोंको क्षमा कर दो, भगवान् भी तुम्हारे अपराधोंको क्षमा कर देगे । अपने दयालु पिताकी भौति तुम भी दयालु बन जाओ । किसीसे कुछ लेनेकी अपेक्षा देना अधिक कल्याणकारक है । अभिमानीका पतन होता है और अपनेको छोटा माननेवालेकी उन्नति होती है । किसीको कटु शब्द न कहो । अपकारीसे बदला लेना उचित नहीं । व्याज कमाना अत्यन्त निन्दनीय कर्म है । अपने पिता परमात्माके समान समदर्शी बनो । भगवान् साधु और असाधु दोनोंको ही समानरूपसे सूर्यकी गर्मी पहुँचाते हैं । यदि तुम प्रेम करनेवालेसे ही प्रेम करते हो तो इसमे तुम्हारी क्या बड़ाई है ? बुरा विचार मनमे लाना भी पाप है । बाहरकी सफाईकी अपेक्षा भीतरकी सफाई कही अधिक मूल्यवान् है ।

प्रार्थनामे आडम्बर विल्कुल नहीं होना चाहिये । गरीबोंके थोड़े-से दानका बडे आदमियोंके बड़े दानकी अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है ।

महात्मा ईसाका चरित्र आदर्श था । उनके चेहरेपर कभी किसीने बल पड़ते नहीं देखा । उन्होंने अपनी वाणीसे कभी किसीके प्रति घृणा प्रकट नहीं की । वे दूसरोंके दुःख नहीं देख सकते थे । दूसरोंका हित करना ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत था । उन्हें दीन अति प्यारे थे । उनका जीवन त्यागमय था । वे आत्माके सामने जगत्को तुच्छ समझते थे । वे विधि (कार्य)की अपेक्षा हृदयके भावको प्रधानता देते थे । वे कहते थे कि ईश्वर हमसे बहुत दूर सातवें आसमानमें नहीं रहते, वे तो हमारे अति समीप, हमारे हृदयमें स्थित हैं । गीताने भी यही कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति ।'

इनके उपदेशोंसे यहूदीलोग बडे नाराज हुए । इनपर कई अभियोग लगाये गये और फिलिस्तीनके गवर्नरसे कह-कर इन्हे सूलीपर चढ़वाया गया । सूलीपर चढ़ते समय उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो ! इन लोगोंको क्षमा करें, ये वेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं और अन्तमें 'हे पिता ! यह आत्मा तुम्हारे अर्पण है'—यह कहकर उन्होंने अपने प्राणत्याग दिये । ईसाईर्धर्मके अनुसार वे पुनः जीवित हुए माने जाते हैं । उनका पाञ्चमैतिक शरीर नहीं रहा, पर उनका आध्यात्मिक सदाचार सदैव ज्योति विकीर्ण करता रहेगा ।

सेवा और परोपकार

जो निराधार और नीचसे नीच मनुष्यकी सेवा करता है, वह प्रभुकी ही सेवा करता है । जो किसीको दुःखमें देखकर उसपर दया नहीं करता, वह मालिकके कोपका पात्र होता है ।

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन अवस्थापर तरस नहीं खाता और हनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें ईश्वरीय प्रेमका प्रकाश कैसे हो सकता है ।

—महात्मा ईसा

इस्लाम-धर्ममें सदाचार

(प्रेपक—श्रीबद्रह्मीन राणुरी दादा)

✓ हजरत मुहम्मद साहेब अपने हडीसमें सदाचारके लिये फरमाते हैं—‘दयालु पुरुषका सर्वोत्तम कार्य यह है कि वह लोगोंकी बुराइयाँ और कमियों जाननेपर भी उन्हें प्रकट नहीं करता, उस रखता है।’ सत्य ही धर्मकी पोशाक है। जिस दिन मनुष्य कोई गुनाह (अपराध) न करे, वह ईदका दिन है। सदाचार सब नीतियोंका सरदार है। अपने पापोंके सिवा अन्य किसीसे भी डरना नहीं चाहिये। ऐलोगो! तुम खुदा (ईश्वर) के मार्गपर चलो। जो धन परोपकार-में खर्च किया गया, वह तुम्हारा है। शेष सब दूसरोंका है। सवर (धैर्य) जैसी कोई अच्छी चीज नहीं। अमल (व्यवहार-अनुभव) विना आलीम (उपदेशक) फ़ल विना वृक्ष जैसा है। जो इन्सान अपने दोप देखता है, वह दूसरोंके दोप देखना जानता ही नहीं। जब बदला लेनेकी शक्ति हो, तब अमा करना और जब बदला लेनेकी शक्ति न हो, तब सहनशीलता रखना—ये दोनों क्रोध-को नष्ट करते हैं। जो तुम्हारे दोप छूँडता है, वही तुम्हारी भूले सुवारता है। (अतः उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिये।) जिसने खुदाको जान लिया उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। संतोष ही सबसे बड़ा खजाना है।

निन्दा बरनेवाला और सुननेवाला—ये दोनों समान हैं। पेट और उपस्थिको हरामकी जगहसे बचाओ। (इन्हींके कारण हरामी होती है।) जिसने तुम्हारी बुराई की हो उसके साथ भी नेकी (मलाई) करो। (जो तोकों कॉटा छुवै, ताहि बोय तू फ़ल।) वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो अपनी संस्त भोगेच्छाओंका ल्यग करे, क्रोधको रोके और भगवान्का स्वरण करे। मृत्युको भूल जानेसे

अन्तःकरण मलिन हो जाता है। सब इच्छाओंका नाश करना ही सर्वोत्तम श्रीमन्ताई है। जो मनुष्य लम्बी-लम्बी आशाएँ बाँधता है, वह सदा दुःखी रहता है। जिस जीवित मनुष्यसे किसीको लाभ न हो वह मृतक-समान है। सदाचारका परिणाम अच्छा होना है और दुराचारका बुरा।

तुम पोशाकसे अपनेको खम्बान् समझते हो, परंतु सच्चा पोशाक सदाचार है। सदाचारी और पवित्र मनुष्य ही सुखी रहता है। तुम किसीके साथ भलाई करते हो तो उसे गुस रखो और दूसरा तुम्हारे साथ भलाई करे तो उसका प्रचार करो। श्रेष्ठ बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सदाचारका सेवन करता है और दुराचारसे दूर रहता है। एकान्तमें भी दुराचारसे बचते रहो, कारण कि उस समय भी तुम्हारा अन्तरामा साक्षी है। दुराचारीका सङ्ग करना बुरी-से-बुरी बात है। निर्वन व्यक्ति ईश्वरके मार्गमें एक पैसा खर्च करे, वह धनी व्यक्तिके रूपयेसे भी बहुत अधिक है। क्रोध छद्यकी एक आग है, प्रथम वह हमें ल्यं जलाती है, तत्पश्चात् दूसरोंको। लोभ मनुष्यको नीची-से-नीची श्रेणीमें पहुँचाता है। सच्ची वादशाही तो संतोषमें है। शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेवालेको अपनी आनश्यकताएँ कम करनी चाहिये। दुराचारसे दूर रहो, कारण कि दुराचारसे दुःखी होना पड़ता है। जहाँतक बने, दूसरोंकी भलाई करो, क्योंकि भलाई करनेवालेका अन्तमें भला ही होगा। जब अल्लाह किसी बन्देको चाहते हैं, तब उसका बोलना, खाना और नीद लेना प्रायः कम कर देते हैं। सदाचार सभी पापोंसे रक्षा करता है। अतः सदाचारी बनो।

संयम सदाचारका बल

वरुणानदीके तटपर अरुणास्पद नामके नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा सदाचारी तथा अतिथिवत्सल था। रमणीय वनों एवं उद्यानोंको देखनेकी उसकी बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसके घरपर एक ऐसा अतिथि आया, जो मणि-मन्त्रादि विद्याओंका ज्ञाता था। जिनके प्रभावसे प्रतिदिन हजारों योजन चला जाता था। ब्राह्मणने उस सिद्ध-अतिथिका बड़ा सल्कार किया। बातचीतके ग्रसझमें सिद्धने अनेकों वन, पर्वत, नगर, राष्ट्र, नद, नदियों एवं तीर्थोंकी चर्चा चलायी। यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा कि इस पृथ्वीको देखनेकी मेरी भी बड़ी इच्छा है। यह सुनकर उदारचरित आगन्तुक सिद्धने उसे पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया, जिसे लगाकर ब्राह्मण हिमालय पर्वतको देखने चला। उसने सोचा था कि सिद्धके कथनानुसार मैं आधे दिनमें एक हजार योजन चला जाऊँगा तथा शेष आधे दिनमें पुनः लौट आऊँगा।

अस्तु, वह हिमालयके शिखरपर पहुँच गया और वहाँकी पर्वतीय भूमिपर पैदल ही विचरना शुरू किया। वर्फपर चलनेके कारण उसके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य लेप धुल गया। इससे उसकी तीव्रता कुण्ठित हो गयी। अब वह इधर-उधर धूमकर हिमालयके मनोहर शिखरोंका अवलोकन करने लगा। वह स्थान सिद्ध, गन्धर्व, किन्नरोंका आवास था। उनके विहारस्थल होनेसे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँके मनोहर शिखरोंके देखनेसे उसके शरीरमें आनन्दसे रोमाञ्च हो आया।

कुछ देर बाद जब उसका विचार घर लौटनेका हुआ तो उसे पता चला कि उसके पैरोंकी गति कुण्ठित हो चुकी है। वह सोचने लगा—‘अहो! यहाँ वर्फके पानीसे मेरे पैरका लेप धुल गया। इधर यह पर्वत

अत्यन्त दुर्गम है और मैं अपने घरसे हजारों योजनकी दूरीपर हूँ। अब तो घर न पहुँचनेके कारण मेरे अग्निहोत्रादि नियकर्मोंका लोप होना चाहता है। यह तो मेरे ऊपर भयानक संकट आ पहुँचा। इस अवस्थामें किसी तपस्थी या सिद्ध महात्माका दर्शन हो जाता तो वे कदाचित् मेरे घर पहुँचनेका कोई उपाय बतला देते।’ इसी समय उसके सामने वरुणिनी नामकी अप्सरा आयी। वह उसके रूपसे आकृष्ट हो गयी थी। उसे सामने देखकर ब्राह्मणने पूछा—‘देवि! मैं ब्राह्मण हूँ और अरुणास्पद नगरसे यहाँ आया हूँ। मेरे पैरमें दिव्य लेप लगा हुआ था, उसके धुल जानेसे मेरी दूरगमनकी शक्ति नष्ट हो गयी है और अब मेरे नियकर्मोंका लोप होना चाहता है। कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे सूर्यस्तके पूर्व ही अपने घरपर पहुँच जाऊँ।’

वरुणिनी बोली—‘महाभाग ! यह तो अत्यन्त रमणीय स्थान है। स्वर्ग भी यहाँसे अधिक रमणीय नहीं है। इसलिये हम लोग स्वर्गको भी छोड़कर यहाँ रहते हैं। आपने मेरे मनको हर लिया है। मैं आपको देखकर कामके वशीभूत हो गयी हूँ। मैं आपको सुन्दर वस्त्र, हार, आभूषण, भोजन, अङ्गरागाढ़ि दूँगी। आप यहाँ रहिये। यहाँ रहनेसे कभी बुढ़ापा नहीं आयेगा। यह यौवनको पुष्ट करनेवाली देवभूमि है।’ यों कहते-कहते वह बावली-सी हो गयी और ‘मुझपर कृपा कीजिये, कृपा कीजिये’—कहती हुई उसका आलिङ्गन करने लगी।

तब ब्राह्मण बोला—‘अरी ओ दुष्ट ! मेरे शरीरको न छू। जो तेरे ही ऐसा हो, वैसे ही किसी अन्य पुरुषके पास चली जा। मैं कुछ और भावसे प्रार्थना करता हूँ और दूँ कुछ और ही भावसे पास आती है। मूर्ख ! यह सारा संसार धर्ममें प्रतिष्ठित है। साय-प्रातःका अग्निहोत्र,

विधिपूर्वक की गयी इज्या ही विश्वको धारण करनेमें समर्थ है और मेरे उस नित्यकर्मका ही यहाँ प्रवेश होना चाहता है । तू तो मुझे कोई ऐसा सरल उपाय वता, जिससे मैं शीघ्र अपने घर पहुँच जाऊँ ।' इसपर वस्त्रिणी और गिरिगिराने लगी । उसने कहा—'ब्राह्मण ! जो आठ आत्मगुण वतलाये गये हैं, उनमें दया ही प्रधान है । आश्र्य है, तुम धर्मपालक बनकर भी उसकी अवहेलना कैसे कर रहे हो ? कुलनन्दन ! मेरी तो तुमपर कुछ ऐसी प्रीति उत्पन्न हो गयी है कि सच मानो, अब तुमसे अलग होकर जी न सकूँगी । अब तुम कृपाकर मुझपर प्रसन्न हो जाओ ।'

ब्राह्मणने कहा—'यदि सचमुच तुम्हारी मुझमें प्रीति हो तो मुझे शीघ्र कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे मैं तत्काल घर पहुँच जाऊँ ।' पर अप्सराने एक न सुनी और नाना प्रकारके अनुनय-विनय तथा विलापादिसे वह उसे अनुकूल करनेकी चेष्टा करती गयी । ब्राह्मणने अन्तमे कहा—'वस्त्रिणि ! मेरे गुरुजनोंने उपदेश दिया है कि परायी खीकी अभिलापा कदापि न करे । इसलिये तू चाहे विलख या सूखकर ढुकली हो जा, मैं तो तेरा स्वर्ण नहीं कर सकता, न तेरी और दृष्टिपात ही कर सकता हूँ ।'

यों कहकर उस महाभागने जलका स्वर्ण तथा आचमन किया और गार्हपत्य अग्निको मन-ही-मन कहा—'भगवन् ! आप ही सब कर्मोंकी सिद्धिके कारण हैं । आपकी ही तृप्तिसे देवता वृष्टि करते और अन्नादिकी वृद्धिमें कारण बनते हैं । अन्नसे सम्पूर्ण जगत् जीवन धारण करता है, और किसीसे नहीं । इस तरह आपसे ही जगत्की रक्षा होती है । यदि यह सत्य है तो मैं सूर्यास्तके पूर्व ही घरपर पहुँच जाऊँ । यदि मैंने कभी भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें कालका परित्याग न किया हो तो आज घर पहुँचकर इनके पहले ही सूर्यको देखूँ । यदि मेरे मनमें पराये धन तथा परायी खीकी अभिलापा कभी भी न हुई हो तो मेरा यह मनोरथ सिद्ध हो जाय ।'

ब्राह्मणके ऐसा कहते ही उनके शरीरमें गार्हपत्य अग्निने प्रवेश किया । फिर तो वह ज्वालाओंके बीचमें प्रकट हुए सूर्तिमान् अग्निदेवकी भाँति उस प्रदेशको प्रकाशित करने लगा और उस अप्सराके देखते-ही-देखते वह वहाँसे गगनमार्गसे चलता हुआ एक ही क्षणमें घर पहुँच गया । घर पहुँचकर उन ब्राह्मणदेवताने पुनः यथाशास्त्र सब कर्मोंका अनुष्ठान किया और वड़ी शान्ति एवं धर्म-प्रीतिसे जीवन व्यतीत किया ।

(मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ६१)

संतोंका सदाचरण

उदासीन जग सों रहै, जथा मान अपमान ।
नारायन ते संत जन, निषुन भावना ध्यान ॥
मगन रहैं नित भजन में, चलत न चाल कुचाल ।
नारायन ते जानिये, यह लालन के लाल ॥
परहित प्रीति उदार चिन, विगत दंभ मद रोप ।
नारायन ढुखमें लखें, निज कर्मनको दोप ॥
संत जगनमें सों सुखी, मैं मेरी को त्याग ।
नारायन गोविंद पद, दड़ राखन अनुराग ॥

नारायन हरि भक्तकी, प्रथम यही पहचान ।
आप अमानी हैं रहें, देत और को मान ॥
कपट गाँठि मनमें नहीं, सब सों सरल सुभाव ।
नारायन ता भक्तकी, लगी किनारे नाव ॥
तजि पर औगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति ।
हंस संतकी सर्वदा, नारायन यह रीति ॥
जिनको मन हरि पद कमल, निसि दिन भ्रमर समान ।
नारायन नित सों मिलें, कर्वूँ न होवै हान ॥

सदाचार ही जीवन है

(लेखक—श्रीरामदासजी महाराज गान्धी, महामार्डलेश्वर)

मानव-जीवनकी सार्थकता सदाचारपूर्ण वृत्तिमें है। जन्मसे मृत्युतक जीवनके कुछ ऐसे सदाचारयुक्त नियम हैं, जिनके आचरणके बिना मनुष्य और पशुमें अन्तर नहीं रह जाता, वे ही सत्पुरुषोद्धारा आचरित आचरण सदाचार हैं। कुत्सित पुरुषोंके कर्म कदाचार कहे जाते हैं। शास्त्रसम्मत, आर्यानुमोदित, लोक-परिपाठीके अनुसार सत्कर्मका आचरण सदाचारी जीवनका लक्षण है, किंतु 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्'—नियमके अनुसार लोकानुसारी आचरणोंको ही प्राथमिकता देनी पड़ती है। सदाचार—सामान्य और विशेष, पारमार्थिक एवं व्यावहारिकरूपसे जाना जाता है। सदाचारीको कुछ आवश्यक कर्तव्य प्रहण करने होते हैं तो कुछ वर्जित कर्म छोड़ने भी पड़ते हैं। सदाचार-पालनमें आहारशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। यदि आहार-शुद्धि नहीं रही तो अन्तःकरण मलिन होगा। मलिन अन्तःकरणमें—'सत्पशुद्धि' एवं 'ध्रुवाऽनुसृति' भी न होंगी। आहार-व्यवहार, खान-पान और रहन-सहनका प्रभाव मन एवं इन्द्रियोंपर विशेष पड़ता है। कहावत है—'जैसा खाये भज, वैसा होवे भज'। अशुद्ध भोजनोका दुष्प्रभाव मनको विकृत कर देता है, विकृत मन इन्द्रियोंके साथ मिलकर पतनकी ओर अग्रसर होता है। विषयोंके साथ विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक इन्द्रिय भी इस पुरुषकी शुद्धिको भ्रष्ट कर देती है, जैसे जलमें चलनेवाली नानको वायुका एक झोका ही डुबो देता है।

सदाचार अपने-आपमें बड़ा व्यापक है। कोई भी धर्म, कोई भी जाति बिना सदाचारणके नहीं टिक सकती, न्यूनाधिकरूपमें सदाचार सर्वत्र विद्यमान है। जगली जातियोंमें भी उनके अपने कुछ विशेष आचार होते ही

हैं। आचार, सदाचार, शास्त्राचार, लोकाचार, शिष्टाचार, वाह्याचार, आभ्यन्तरिक आचार, सभ्यता-संस्कृति—प्रायः ये सभी एक स्तरके निश्चित सिद्धान्तमें वैध हैं। यदि देहधारी जीवके मन, वाणी, शरीर शुद्ध रहेगे तो स्वभावतः सदाचार भी सुरक्षित रहेगा। अत अन्तरिक पव वाहशुद्धि रखना प्रथम अनुष्ठान है। शास्त्र कहते हैं कि शरीरथारीकी शुद्धिके लिये ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिद्दी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समयका शुद्ध होना आवश्यक है—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारे सून्मनो वार्युपञ्चनम् ।

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥

(मनु० ५ । १०५)

इसी प्रकार शरीरस्थ वारह मलस्थानोंको भी यथासम्भव शुद्ध रखना सदाचारमें सहायक है। शरीरसे प्रतिक्षण मलका निःसरण होता रहता है। मलोंके निष्कर्मणसे ही शरीर अशुद्ध होता है। सूतिकारोने मनुष्य-शरीरस्थ वारह मल बताये हैं। ये हैं—चर्वी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मल, सूत्र, नाक-कानकी मैल, नेत्रोंकी मैल और पसीना (मनु० ५ । १३५)। इन मलोंके बाहर निकलते समय शरीरके ऊपरी आवरणसे स्पर्श होता है, तभी अशुद्धि या अद्युतकी वीमारी एवं गंदगियों फैलती है। सदाचारको सुरक्षित रखनेमें उक्त मलोंकी सफाई, स्वच्छता एवं पवित्रता आवश्यक है।

इस वाह शुद्धिके बिना आचारका अनुष्ठान नहीं हो सकता। शरीर, मन, शुद्धि और जीवात्माकी शुद्धि होनेपर ही जीवनमें सदाचार उत्तरता है। शरीरकी शुद्धि जलसे, मनकी शुद्धि सत्यसे, आत्माकी शुद्धि विद्या और तपसे, नथा बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे होती है (मनु० ५ । १०९)।

सदाचारसम्पन्न व्यक्तिको ही लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। विना सदाचारके अध्यात्म या परमार्थकी उपलब्धिभी नहीं होती है। आचरणहीनको भगवान्प्राप्ति तो दूर्लभ है ही, वह लेकिं मी मान-प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाता। कहा भी गया है—

त किञ्चित् कम्यचित् सिद्धेत् सदाचारं विना यतः ।
नसादवश्यं सर्वत्र सदाचारो लापेष्टते ॥

सदाचारका स्वरूप बड़ा ज्यापक है। सदाचार नज़रेसे लेकर खर्गकी यात्रातक सदाचारके नियम है। शारीरिक सदाचारोंमें गल-मूत्र व्यापानमें लेकर मानविय शमन्दग, यम-नियम और भमावितक पहुँचनेमें भी सदाचार-विधि ही सहायक होती है। परंतु यह देखकर बड़ा खेद होता है कि विष्वको सदाचारकी शिक्षा देनेवाला भारत भी आज स्वयं कदाचारके गर्तमें डूबता जा रहा है। प्रद्यन उठता है, क्या हम किसी भी तरह सदाचारसम्पन्न बन मिलते हैं? आमा, मन, वाणी, शरीर—सभी असदृ-आचरणोंसे प्रस्तु हैं। क्या विदेशी संस्कृतियोंके प्रभावने हमारे उच्चल जन-जीवनको धूमिल नहीं बना दिया है? क्या खान-पान, रटन-सहन, धर्मयन-अध्यापन, आहार-विहार पर्धिमकी चमक-दामकसे अभिभूत नहीं हो गये हैं?

वहां नहूत छोड़ी है, वह ही गहरायी है; आर्योऽन गुहार्योमें भी युद्धनायमित्रता दिल्ली नहीं होती। शौचालय, स्नानघर, रमोईघर—सब एक ही रेतपर बैठ गये हैं। इस ही गवुत्तर्यां नदी शौचालयमें रमोईघरका बूँदा है। जो विद्या मातुन वर्तीमें मिथिल होकर बनता है वही स्नानका शूद्र साधन बन गया है। मानदण्डोंकी शृङ्गारभासियाँ शिपलिका आदि वित्ती गतारणित होती हैं, इसे प्राप्त ममी जातने हैं। उनको प्रवेश शौचालयमें निष्कल्पर रमोईघर भौंग मन्दमध्ये गोतक पहुँच गया है। व्याप-यान और आहार-विहारमें विद्यमित्र ही लक्ष्य रह गयी है। सदाचारकी बढ़ों कोई चर्चा नहीं है। अन्यथ और अपेक्ष पदार्थोंके प्रदर्शक छोटल, विद्राम-प्रधान नाड्यथाली, मिनेमाघर और गोगप्रधान अन्य भगवान्योजन असदाचारमें और आगे बढ़ गये हैं। मन एवं इन्द्रियोंके व्यथित करनेवाले चित्र, गंड उपन्यास और अमृत, पत्र-पत्रिकाएँ—जैसे सभीने मिलकर एक अमाशय सदाचारपर हमला बोल दिया है। अब मात्र भगवान ही सदाशय हैं। अब मात्रीय संस्कृतिके चिन्तक और सदाचारदेव प्रहरियोंको भी चुप न बैठकर सदाचारका प्रचार-प्रसार करना चाहिये। तभी भगवानकी भी सहायता मिलेगी—‘तत्र देवः सदायरुन्।’

अहिंसाका प्रभाव

नाग महाशय दयार्का मूर्ति थे। उनके घरके सामनेसे मच्छुप यदि मछर्ला लेकर निकालते तो आप सारी मछलियाँ खरीद लेने और उन्हें ले आकर तालाघामें छोड़ आते। एक दिन उनके घरगांवमें एक सर्प आ गया। खोने इन्हें पुकारा—‘काला साँप! लाठी ले आओ।’

नाग महाशय आये, किंतु खाली हाथ। आप ओले—‘जंगलका सर्प कदौं किसीको हानि पहुँचाता है। यह तो मनका सर्प है, जो मनुष्यको मारे डालता है।’

इसके पश्चात् आप सर्पमें घोले—‘देव! आपको देखकर लोग दर रहे हैं। कृपा करके आप यहाँसे बाहर पधारें।’

सचमुच बहु सर्प नाग महाशयके पीछे-पीछे भाहर गया और जंगलमें निकल गया।

सदाचार—यन्त्र, तत्र और सर्वत्र

(लेखक—श्रीहर्षदराय प्राणशक्तिजी वधेका)

जब लोग धर्मके अन्तस्तत्त्व हार्द और रहस्यको भूलकर उसके बाह्य कलेवरको ही विशेष महत्त्व देते हैं, तब धर्मकी आमा नष्टप्राय हो जाती है। पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि धर्म है क्या? श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि तप, शौच, दया और सत्य नामके चार पैरोवाला वृषका रूप धारण करनेवाला धर्म मैं हूँ—‘धर्मोऽहं वृपरूपध्युक्’ (भाग० ११। १७। ११)। और इसीलिये हमें सत्य, दया, तप और जौचके चार पैरोवाला सदाचार-खलूप धर्मका ही पालन करना चाहिये। दुराचारी कभी भक्त नहीं कहला सकता और भक्त कभी दुराचारी नहीं हो सकता। धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है। दया और दानसे वह बढ़ता है, अमासे वह निवास करता है और क्रोधसे उसका नाश होता है—सत्याज्ञायते, दयया दानेन च वर्धते, थ्रमायां तिष्ठति, क्रोधावश्यति।

भक्तिरूपी पक्षीके ढो पंख होते हैं। इन पंखोके नाम है—ज्ञान और वैराग्य। ज्ञान और वैराग्यसे रहित भक्ति भव्वी भक्ति नहीं है, सिर्फ उसका बाह्य रूप ही है। भगवान्‌को कैसा भक्त प्रिय है? तुलसीदासके गद्बोधमें—

मोह मेवक प्रियतम मम मोहै। मम अनुमामन मानै जोहै॥
(मानस ७। ४२। २३)

भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला ही सच्चा प्रेमी भक्त है। जैनधर्मकी परिभाषामें कहा जाय तो ‘आणाप धर्मो आणारा तचो,’ यह उनका शास्त्रवचन है। भक्ति मुद्यतया आज्ञाके आराधनकी अपेक्षा करती है। आज्ञाका आराधन ही धर्म है, वही तप है। जैनवर्मके आचार्यश्री ‘हरिमद्भाचार्य’जीने स्वरचित् ‘अष्टक’में लिखा है कि भगवान्‌की आराधनाका श्रेष्ठ मार्ग उनकी आज्ञाका निय आराधन ही है। वे कहते हैं कि अहिंसा, सत्य,

अस्तेय, व्रद्धचर्य, असङ्कृता, तप, सद्गुरु-भक्ति और ज्ञान-रूप संपुरुणसे ही मुमुक्षु भगवान्‌की आगमना का सकता है। वैदिक धर्मकी सामान्य आज्ञा यही है कि ‘प्रशस्तानि सदा कुर्यात् अप्रशस्तानि वर्जयेत्।’ जैनधर्म भी कहता है—‘पाप कर्म नैव कुज्जा न काहव्यज्जा,’—पाप कर्म करना नहीं और दूसरोंपे करवाना नहीं। सदाचारके विषयमें ब्रौद्धधर्मका भी कहना है—

मन्त्र वापस्म भकरण कुसलस्म उपमय्या
मन्त्रिन्न पश्योदने अने तुद्धान जान।

‘किसी प्रकार कर्म करना नहीं, पुण्य कर्मोंका सम्पादन करना, चित्तको परिशुद्ध रखना—यही तुद्धका आदेश है।’

हमारा शब्द कोई बाहर नहीं है। स्वेच्छाविहारिणी इन्द्रियों, न जीता हुआ मन और विपरीत निर्णय करने-वाली बुद्धि ही साधककी वैरी है। निर्गृहीत और विशुद्ध चित्त ही साधकका परम हितकारी है। भोगोंमें भटकने-वाला अपावन चित्त ही सबसे बड़ा वैरी है। शास्त्र कभी खच्छन्द प्रवृत्तिका समर्थन नहीं करता। शास्त्रीय मर्यादासे सीमित, सत्यत भोगके द्वारा विषय-व्यासनाको मर्यादित और कुण्ठित करना विहित है, न कि अपरिमित भोगद्वारा उसे उत्तेजित करना। अर्थ और कामयुक्त व्यवहारोंको धर्मके अड्डे रखना और वृत्तियोंको निप्रहपरायण, विशुद्ध और प्रभुसमुग्व रखना चाहिये। शास्त्रविहित विषयोंमेंसे भी वामना कर्म करना जिसे विहित भोग संकोच कहते हैं। भक्तश्रेष्ठ नारदने भी मुनिके धर्मोंसे च्युत होकर और मनोवृत्तियोंपर विश्वास करके अम्बरीप्रपुत्री जयन्तीका हाथ देगा, तब भी वे मर्याद-मुख प्राप्त करके जगतमें निन्दाके भाजन हुए।

चित्तकी क्षिप्ति, मृढ़, विक्षिप्ति, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमें से क्षिप्ति, विक्षिप्ति और मृढ़-अवस्थामें पारलौकिक कार्य सिद्ध नहीं होता। इस चक्षुल चित्तको एकाग्र और निरुद्ध करनेमें सदाचार ग्रन्थपाशका कार्य करता है।

कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्रीहृषीकेश भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। इन्द्रियों वडी उन्मत्त होती हैं। इन्हें जीतनेका तरीका सावधानीसे भोगोंको त्याग देना है। प्रमाट और हिंसासे दूर रहना ही ज्ञानका मुख्य साधन है। इन्द्रियोंको सावधानीके साथ कावूमें रखनेसे बुद्धिमान् लोग परमपटकी ओर बढ़ते हैं। मनोमय रथपर चढ़कर विषयोंकी ओर ढौड़नेवाली इन्द्रियों वशमें न रहनेके कारण बीचमे ही मनुष्यको पतनके मार्गमें गिराती हैं। अत पुरुषार्थद्वारा शीघ्र इन्हे वशमें करके मनको ममतामें ले जाना चाहिये। योगवासिष्ठमें कहा है—

**मोक्षद्वारे द्वारपालाध्यत्वारः परिकीर्तिताः ।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥**

(२ । ११ । ५९)

मोक्षके द्वारपर चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा सत्सङ्ग। इनका भलीभाँति सेवन करनेपर मोक्षराजगृहके द्वार मुमुक्षुओंके प्रवेशके लिये खुलते हैं।

कानोंसे विकारकी वाँतें न सुने, आँखोंसे विकार पैदा करनेवाली वस्तुएँ न देखे, जीभसे विकोर पैदा करनेवाली स्नानकी चीजें न खाये और हाथसे विकारोंको बढ़ानेवाली वस्तुएँ न छूप। ऐसा करनेसे मोहाच्छन्न अविवेक-पिशाचप्रस्त बुद्धि शुद्ध होती है। निर्मल सात्त्विक बुद्धि ही भगवत्तत्त्वको धारण कर सकती है। जिस तरह कच्चे ब्रटमें जैल नहीं रह सकता, ठीक उसी तरह अनधिकारीके हृदयमें ज्ञान नहीं ठहर सकता। अविशुद्ध चित्त और सयमहीन अचेताका प्रयत्न सफल नहीं होता। साधनचतुष्टयकी

सम्पन्नताके बिना वौद्धिक ज्ञान किसी कामका नहीं। भगवान् शंकराचार्यरचित् ‘आत्मबोध’नामक प्रकरण-प्रन्थका प्रथम श्लोक यह है—

**तपेभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षुणामपेक्ष्योऽयमात्मघोधो विधीयते ॥**

तात्पर्य है कि तपके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जो शान्त और वीतराग हैं—ऐसे मुमुक्षुओंके लिये यह आत्मबोधका विधान किया जा रहा है। वे ही आचार्य ‘उपदेश-साहस्री’ नामके प्रकरण-प्रन्थमें आत्मज्ञानश्रवण करनेवाले अधिकारियोंके लक्षण दिखाते हुए कहते हैं—

**‘तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात्
सर्वस्माद्विरक्ताय, त्यक्तपुत्रविच्छिलोकैषणाय, शास्त्र-
प्रसिद्धशिष्यगुणसम्पन्नाय, शुचये, ब्राह्मणाय विधि-
वदुपसन्नाय, शिष्याय जातिकर्मवृत्तविद्याभिजनैः
परीक्षिताय ब्रूयात्।’ (उपदेशसा० गिष्यानुशा० प्र० २)**

‘मुण्डकोपनिषद्’में कहा गया है कि शुद्ध ज्योतिर्मय आत्माको, जिसको क्षीणदोष यतिलोग अपने भीतर देखते हैं, वह सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जाता है। सत्यकी विजय होती है, झूठकी नहीं। वह देवयानमार्ग जिसे आपकाम ऋषिगण सत्यके उस परम निधानपर पहुँचते हैं, सत्यके द्वारा ही खुलता है (३ । १ । ५-६)। कठोपनिषद्में इसीलिये कहा है कि जो अविज्ञानवान्, अनिग्रहीत-चित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला है वह ब्रह्मपदको नहीं प्राप्त कर सकता, प्रत्युत ससारमें ही जाता है। जो विज्ञानवान् सयतचित्त तथा सदा पवित्र रहनेवाला है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे वह किस उत्पन्न नहीं होता (कठ० १ । ३ । ७-८)।

पद्मपुराणमें कहा है—‘ब्रह्मलोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम पद है। वह शुद्ध, सनातन और ज्योतिस्खण्ड है और उसे परब्रह्म कहते हैं। दम्भ, मोह, भय, द्रोह, क्रोध और लोभसे अभिभूत विषयासक्त, अज्ञानी पुरुष

वहाँ नहीं जा सकता । ममता और अहकारहित, इन्द्रहित, इन्द्रियविजयी, व्यानयोगमें मना लगे हुए माधु पुरुष ही वहाँ जाते हैं ।

पुराणमें कहा गया है कि जिस व्यक्तिने अपनी इन्द्रियोंकी वासनाओंको वशमें कर लिया है, वह जहाँ कहीं निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिपारण्य और पुष्करादि तीर्थ हो जाते हैं । दुष्ट सौ बार तीर्थमानसे भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिराका पात्र आगमें तपानेसे भी शुद्ध नहीं होता । महाभारत उद्योगपर्वमें भी कहा है कि सब तीर्थोंमें स्वान और सभी प्राणियोंके साथ कोमलताका व्यवहार—ये दोनों एक समान हो सकते हैं । स्कन्दपुराणमें कहा है कि जलचर प्राणी तीर्थके जलमें जन्म लेते हैं और मर जाते हैं; लेकिन वे स्वर्ग या मोक्ष नहीं पाते । आगे कहा गया है कि सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिप्रह, सर्वभूतटया, आर्जव, दान, दम, संतोष, व्रहचर्च्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति, तप और चित्त-शुद्धि ही सच्चा तीर्थ है । महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्रोंको बताते हैं कि तीर्थमानसे पाप-शुद्धि नहीं होती । तब कौनमें तीर्थमें

स्वान करे—इसे दिग्वाने हुए वे कहते हैं—‘आत्मा नदी है, सयम जल है, जील किनार है, दया उसमें ऊर्मियाँ हैं, हे पाण्डुपुत्र ! वहाँ स्वान करो’—‘न वारिणा शुद्धयति चान्तरामा ।’ (हितोपदेश ० ४ । ८७, वामनपुराण ४३ । २५, प्रपञ्चगीता ?०३, वसिष्ठ ?३) ।

भगवान् महावीर यज्ञकी परिभाषा करते हुए भी इसी वातपर जोर देते हैं । जिस यज्ञमें तप ही यज्ञ है, जीवात्मा अग्निका स्थान है, मन-वचन-कायाका योगस्त्र प्रूवा (चमचा) है, गरीरस्त्र यज्ञ-वेदिका है । कर्मस्त्र लकड़ी और संयमस्त्र शान्ति मन्त्र है । ऐसे प्रशस्त चास्त्रिम्बण भावयज्ञको महर्पियोंने उत्तम माना है । जाग्रोंने नाम-स्मरणकी अत्यधिक महत्ता गायी है और यह विधान अक्षरशः सत्य है । नामस्मरणकी फलश्रुतियाँ तनिक भी गलत नहीं हैं । मन्त्र लेने योग्य शिष्यके अधिकारके विषयमें भद्रगुप्ताचार्य कहते हैं कि जो चतुर, बुद्धिमान्, शान्त, अक्रोधी, सत्यवादी, निर्लोभी, सुख-दुःख और अहंकारसे रहित, दयायुक्त, परस्तीत्यागी, जितेन्द्रिय और गुरुका भक्त हो, वही मन्त्र लेने योग्य हो मकना है । इस तरह प्राय सर्वत्र ही मदाचारकी महत्ता गायी गयी है ।

संतकी सरलता

सत जाफर सादिकका नाम प्रसिद्ध है । एक धार एक आदमीके रूपयोंकी थैली चोरी चली गयी । भ्रमवश उसने इन्हें पकड़ लिया ।

आपने पूछा—‘थैलीमें कुल कितने रुपये थे ?’

‘एक हजार’ उसने धताया ।

आपने अपनी ओरसे एक हजार रुपये उसे दे दिये ।

कुछ समय बाद असली चोर पकड़ा गया, रुपयेका स्वामी घघराया और एक हजार रुपये ले जाकर उनके चरणोंपर रखकर भ्रमके लिये उसने क्षमा-याचना की ।

आपने धड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—‘दी हुई वस्तु मैं वापस नहीं लेता ।’

संतके साधुतापूर्ण उज्ज्वल व्यक्तित्वपर वह मुग्ध हो गया और अपने पूर्वकृत्यपर पश्चात्ताप करने लगा ।

आचार परमावश्यक

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम० ए०, पी-एन० डॉ०, व्याकरण-मार्गित्याचार्य)

आधिभौतिक या आध्यात्मिक दृष्टिमे मानव-जीवनकी चर्गम सफलताके लिये धर्म और सदाचारकी परमावश्यकता है। जिस धर्मके विना मनुष्य-जीवन पशु-जीवन है, उस धर्मका प्रथम प्रकाश मानवके आचारमें ही होता है। इस रहस्यका उद्घाटन महर्षि कृष्णद्वापायन व्यास-ने महाभारतमें—‘आचारप्रभवो धर्मः’ इस सिद्धान्तमें किया है। यहाँ ‘प्रभवति प्रथमं प्रकाशते चा आचारात्’ इति व्युत्पत्तिसे ‘प्रभव’का अर्थ प्रथम प्रकाशन-स्थान है (पाणि० ३। ३। २०, ५७)। तात्पर्य यह है कि आचार धर्मका प्रथम प्रकाशन-स्थान है। व्यक्तिका धर्मिकत्व उसके आचारसे ही ज्ञात होता है।

कलियुगमें विशेषतः आजंकलके समयमें सदाचारकी महत्ती आवश्यकता है। सत्ययुगमें तो सुष्ठिमें सत्यगुणका प्राधान्य होनेसे मानवमें त्याग, तप, सत्य, अहिंसा, शम, दम, यम, नियम आदि स्वभावसे ही विद्यमान थे। मनुष्य-के शारीर स्वस्थ और सुपुष्ट थे। शीतोष्ण आदि दृढ़ोंसे कोई भय नहीं था। मंशायरहित मन पूर्णतः सत्रल था। अतः मनःसंकल्पके पूर्ण होनेमें किसी वाह्य चेष्टाकी आवश्यकता न थी। मनुष्यमें दोप, दुर्गुण न होनेसे उन्हें नियमवद्ध करनेके लिये विधि-निषेधकी भी आवश्यकता न थी। शम-दम-सम्पन्न मानव-जीवन स्वभावतः भगवान्के ध्यान और तपमें संलग्न था। व्रेतायुगके मानवमें सम्मान और स्वर्गकी वासना जाप्रत हुई। रजोगुणका प्राधान्य हुआ। यज्ञानुष्ठान होने लगा और दान भी उस समयमें प्रेयोमार्गका एक साधन बना। यज्ञ तथा दानके लिये मनुष्यमें संग्रहकी भावना आयी। भोग-लिप्सा संग्रहका कारण नहीं थी। गृह करनेवाले क्रापिगण, सत्ययुगके समाजके समान त्यागी, वासनाहीन और तपस्त्री थे और यज्ञ सफल होते थे।

कुछ समय बाद, द्विर्योगवशा, गजा वेनके दुराचारमें अशान्ति फैली। अकाल पड़ा और जनतामें हाहाकार मचा। फिर आठिनरेश पृथुकी शत्रुच्छायामें पृथ्यीका दोहन हुआ। प्रचुर अन्ज उपजे, ग्राम और नगर वस्त्रमें तथा मानव-समाज शान्त और सुखी हुआ। क्योंकि इस समयतक मानवमें विशेष भोगेच्छा उन्पन्न नहीं हुई थी। इसलिये शारीरिक तपस्य अठोर नियन्त्रण नहीं हुआ था। लोग स्वभावतः धर्मात्मा थे और यी उनकी वेदोंमें श्रद्धा और विश्वास। वे यज्ञसे विष्णुस्य यज्ञके यजनमें सलग्न थे। द्वापरमे भोगेच्छाके कारण संग्रहकी प्रवृत्ति बढ़ी। संग्रहके चलते वस्तुएँ आपाततः कम होने लगीं; परंतु लोग तत्रतक धर्मभीरु थे। अन्यायसे उपार्जन करना नहीं चाहते थे। न्यायपूर्वक धर्मचिरणमें जो कुछ अर्जितकरते, उसका ही उपयोग करते। यज्ञ-के सम्बन्धमें उनका मन इतना संदिग्ध हो गया कि यज्ञानुष्ठान और त्यागकं कार्य वद-से हो गये। भोगेच्छा बहुत वढ़ गयी, जिसे नियन्त्रित करनेके लिये शास्त्रोका कठोर नियम आवश्यक हुआ। परंतु इस समयमें भी ईश्वरमें श्रद्धा अवशिष्ट थी, जिससे द्वापरयुगके लोग भगवान् विष्णुकी आराधना करते थे। वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—इन चतुर्व्यूहात्मक ऋतों-की आराधना और परिचर्यामें मंलग्न रहते थे।

कलियुगके मनुष्योंमें सत्यगुणके ह्रास और ज्ञेयगुण-तमोगुणके प्राधान्य होनेसे उल्लंघन, कापट, प्रमाद, दम्भ, ईर्ष्या, क्रोध आदि दुर्गुणोंका महज ही आविक्ष्य हो जाता है। श्रद्धा-विश्वासकं अभाव हो जानेमें मनमें कुरकक्ष का वास होने लगता है। शारीरिक शक्तिके ह्रास हो जानेमें व्रत, उपवास आदि करनेको मन नहीं चाहता है। सत्ययुगका ध्यान, व्रेताका यज्ञ और द्वापरका आराधन

इस युगमें विलुप्त हो जाते हैं। श्रद्धा, विश्वास और सच्ची भावनाके अभावमें भगवान्‌का प्राकृत्य भी कलिकालमें पूर्ववत् नहीं होता है। विषय-भोगेच्छा-की वृद्धिसे विचारहीन प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। गनोबलके अभावमें आचारहीन प्रवृत्तिको रोकना कठिन हो जाता है। आचार, व्यवहारकी अशुद्धतासे आधिव्याधिका आधिक्य हो जाता है और शारीरिक दौर्बल्य बढ़ जाता है। अतः इस ओर कलिकालमें सदाचारकी और अधिक आवश्यकता है।

जिस प्रकार भयकर रोग हो जानेपर बहुत बड़े समयकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सासारिक

विविध रोगोंसे पीड़ित मनुष्यके लिये आज सदाचारकी अधिक आवश्यकता है। आहार-व्यवहारके सदाचारोंसे जो आज शारीरिक और मानसिक कष्ट हो रहे हैं, वे किसी विवेकी व्यक्तिसे अप्रत्यक्ष नहीं हैं। दुराचारसे इहलोक तथा परलोक दोनों विगड़ते हैं। आज मनुष्य यदि केवल अपने जीविका-कार्यमें सदाचारका पालन करे तो बहुत बड़ी अव्यवस्था दूर हो जायगी और समाजका बहुत बड़ा कल्याण होगा। इसी प्रकार आहारमें सदाचार बरतनेसे अनेक रोगोंसे मुक्त होकर मनुष्य दीर्घजीवी होगा। अतः वैयक्तिक अभ्युदयके साथ सामाजिक कल्याणके लिये आज सदाचारण मानव-जीवनके लिये परमावश्यक है।

- ८ -

चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये

गौतम बुद्धके समयमें एक पुरुषने एक धर्मशास्त्र शराव (धड़ा प्याला) ऊँचे खम्भेपर टाँग दिया और उसके नीचे यह लिख दिया कि 'जो कोई साधक, सिद्ध या योगी इस शरावको बिना किसी सीढ़ी या अकुशा आदिके, एकमात्र चमत्कारमय मन्त्र या यौगिक शक्तिसे उतार लेगा, मैं उसकी मारी इच्छा पूर्ण करूँगा ।' फिर उसने इसकी देख-रेखके लिये वहाँ कहा पहरा भी नियुक्त कर दिया।

कुछ ही समयके धाद कश्यप नामके एक बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे और केवल उधर हाथ धड़ाकर उस शरावको उन्होंने उतार लिया। पहरे के लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते ही रह गये और कश्यप उस शरावको लेकर बौद्धविहारमें चले गये।

वात-ही-घातमें एक भीटु पक्कित हो गयी। वह भीड़ भगवान् बुद्धके पास पहुँची। सबने प्रार्थना की— 'भगवन् ! आप निःसंदेह महान् हैं; क्योंकि कश्यपने, जो आपके अनुयायियोंमेंसे एक हैं, एक शरावको, जो बड़े ऊँचे खम्भेपर टाँगा था, केवल ऊपर हाथ उठाकर उतार लिया और उसे लेकर विहारमें चले गये ।' भगवान्‌का इसे सुनना था कि वे वहाँसे उठ पड़े। वे सीधे चले और पहुँचे उस विहारमें सीधे कश्यपके पास ! उन्होंने छट उस रन्जित शरावको पटककर तोड़ डाला और अपने शिष्योंको सम्मोहित करते हुए कहा— 'सावधान ! मैं तुमलोगोंको इन चमत्कारोंका प्रदर्शन न था अभ्यासके लिये धार-धार मना करता हूँ। यदि तुम्हें इन मोहन, वशीकरण, आकर्षण और अन्यान्य मन्त्र-यन्त्रोंके चमत्कारोंसे लोक (प्रतिष्ठा) का प्रलोभन ही इष्ट है तो मैं सुस्पष्ट दर्शनोंमें कह देना चाहता हूँ कि अयतक तुम लोगोंने धर्मके सम्बन्धमें कोई भी जानकारी नहीं प्राप्त की है। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो इन चमत्कारोंसे ध्वनकर केवल सदाचार-का अभ्यास करो ।'

प्रजा-पालनका सदाचार

प्राचीन समयकी थात है। कुरुवंशके देवापि और शंतनुमें पक-दृसंरंके प्रति स्वार्थ-त्यागका जो अनुपम भावना थी, वह भारतीय इतिहासकी पक विशेष समृद्धि है।

देवापि घड़े और शंतनु छोटे थे। पिताके स्वर्गगमनके बाद राज्याभिषेकका प्रदेश उठनेपर देवापि चिन्तित हो उठे। वे चर्मरोगी थे, उनके शरीरमें छोटे-छोटे दंबन दाग थे। उनकी धर्ढी इच्छा थी कि राज्य शंतनुको मिले। इसीमें वे प्रजाका कल्याण समझते थे।

५

६

७

८

‘महाराज ! आपके निश्चयने हमारे कार्यक्रमपर वज्रपात कर दिया है। घड़े भाईके रहते छोटेका राज्याभिषेक हो, यह थात समीचीन नहीं है। प्रधान मन्त्रीके स्वरमें स्वर मिलाकर प्रजाने करवन्न निवेदन किया ।

‘आपलोग ठीक कहते हैं, पर आपको विद्वाय दोना चाहियं कि मैं आपके कल्याणका थातमें कुछ भी कर्मी न रक्खूँगा। राजाका कार्य ही है कि वह सदा प्रजाका हितचिन्तन करता रहे।’ देवापिने छिपे नरीकेसे शंतनुका पक्ष लिया।

‘महाराजकी जय !’ प्रजा नतमस्तक हो गयी। शंतनुके राज्याभिषेकके बाद ही देवापिने नप करनेके लिये घनकी ओर प्रस्थान किया। शंतनु राज्यका काम सम्पालने लगे।

९

१०

११

१२

‘प्रजा भूखों मर रही है। चारों ओर अकालका नंगा नाच हो रहा है। महाराज देवापिके बनगमनके बाद घारह सालसे इन्द्रने तो मौन ही धारण कर लिया है।’ महाराज शंतनुने प्रधान मन्त्रीका ध्यान अपनी ओर खींचा।

‘पर यह तो भाग्यका फेर है, महाराज ! अनावृष्टिका दोष आपपर नहीं है और न इसके लिये प्रजा ही उत्तरदायी है।’ ‘प्रधान मन्त्री कुछ और कहना चाहते थे कि महाराजने धीमें ही रोक दिया।

‘हम प्रजासहित महाराज देवापिको मनाने जायेंगे। राजा होनेके वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं।’ प्रधान मन्त्रीने सहमति प्रकट की। महाराज शंतनुकी चिन्ता दूर हो गयी।

१३

१४

१५

१६

वास्तवमें जंगलमें मङ्गल हो रहा था। बनप्रान्त नागरिकोंकी उपस्थितिसे प्राणवान् था। ‘भैया ! अपराध क्षमा हो। हमारे दोयोंकी ओर ध्यान न रीजिये। औचित्यका व्यतिक्रम करके मेरे राज्याभिषेक स्वीकार करनेपर और आपके बनमें आनेपर सारा-का-सारा राज्य भर्यंकर अनावृष्टिका शिकार हो चला है। आप हमारी रक्षा कीजिये। देवापिके कुर्तीसे बाहरनिकलनेपर शंतनुने उनके चरण पकड़ लिये।

‘भाई ! मैं तो चर्मरोगी हूँ, मेरी त्वचा दूषित है। मुझमें रोगके कारण राजकार्यकी शक्ति नहीं थी, इसलिये प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे मैंने बनका रास्ता लिया था—यह सत्य थात है। पर इस समय अनावृष्टिके निवारणके लिये नथा वृहस्पतिकी प्रसन्नताके लिये मैं आपके वृष्टिकाम-यज्ञका पुरोहित बनूँगा।’ देवापिने महाराज शंतनुको गले लगा लिया। प्रजा उनकी जय घोलने लगी।

१७

१८

१९

२०

तपस्वी देवापि राजधानीमें लौट आये। उनके आगमनसे चारों ओर आनन्द छा गया। दोनों भाइयोंके सञ्चाव और औचित्य-पालनसे अनावृष्टि समाप्त हो गयी। यज्ञकी काली-काली धूमरेखाओंने गगनको आच्छादित कर लिया। वृहस्पति प्रसन्न हो उठे। पर्जन्यकी कृष्ण-वृष्टिसे नदी-तालाब, वृक्ष और खेतोंके प्राण लौट आये। देवापिने अपने सत्यवनसे प्रजाकी कल्याण-साधना की। (वृहदेवता अ० ७। १५५-५७, अ० ८। १-६)

सत्-तत्त्व और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्रिमोत्ती)

सदाचार मानव-जीवनका अविष्ट्रेय अङ्ग है। सदाचार-सम्पन्न जीवन सुखमय होता है। सदाचार साधन है और साथ भी। सिद्धावस्थामें भी सदाचार या लोकसंग्रहका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। सदाचारीकी संसारमें प्रतिष्ठा होती है और संसारातीत सत्तत्त्वकी प्राप्ति। सत्तत्त्व प्राप्त होनेपर जीवन सदाचारसे ओत-प्रोत हो जाता है। सदाचारमें दो पद हैं—‘सत्’ और ‘आचार’। सत्का अर्थ है—त्रिकालावाधित अखण्ड चेतन सत्ता अथवा दिक्-देश-कालादिकी अधिष्ठानभूत परम चेतन सत्ता। ‘उपनिषदें’ कहती हैं—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तत्त्वित्यमुक्तमविक्रियं सत्यक्षानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमवाद्वितीयं ब्रह्म। (पैदलोप० १।१) ‘हे प्रियदर्शन ! इस सृष्टिसे पूर्व सत् ही था। वह नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान, आनन्द, परिपूर्ण, सनातन एक ही अद्वितीय ब्रह्म था ।’—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छान्दो० ६।२।१) ‘सोम्य ! इस सृष्टिसे पूर्व सजातीय-विजातीयस्वगतमेद्भून्य एक ही अद्वितीय सत् था ।’ सत्यं ग्रान्तमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० २।१) ‘सत्य, ज्ञान तथा अनन्तखल्लूप ब्रह्म है ।’

यह सत् ही सत्य कहा गया है। वही ज्ञान, आनन्द, अनन्त, ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, नारायण आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यह अखण्ड सत्तत्त्व ही सम्पूर्ण संसारका अधिष्ठान है और समस्त जडचेतनात्मक पदार्थोंमें व्यापक आत्मा है। खरूपभूत सत्तत्त्वके अज्ञानसे ही समस्त प्राणी जन्म-मरणादि दुःख-परम्परामें प्रवाहित हो रहे हैं। वे सरूपाभिन्न सत्तत्त्वज्ञानद्वारा जन्म-मरणादि वन्धनसे विमुक्त हो परमानन्दखरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। यही सर्वोच्च स्थिति है। अब यह कैसे प्राप्त किया जाय, यह प्रश्न विचारणीय है।

परमानन्द प्राप्त करनेका साधन है—‘आचार’। आचारको सीमावद्ध नहीं किया जा सकता, यह असीम है। जिस आचरण, व्यवहार, क्रिया, भक्ति, योग, उपासना, ज्ञानादिद्वारा परमेश्वरकी ओर अप्रसर होना है, वही आचार ‘सदाचार’ कहा जाता है। इससे विपरीत आचार ‘दुराचार’ संज्ञक होता है। फलकाङ्काशहित परोपकार, दान, सत्सङ्घ, स्वर्ण-श्रमानुकूल आचरण, भक्ति तथा ज्ञानादि अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा वौद्धिक समस्त क्रियाएँ सदाचार हैं। ज्ञानोत्तरकालीन सत्तत्त्वमें रमण, क्रीडन आदि समस्त क्रियाएँ भी सदाचार ही हैं। इस प्रकार सदाचार साथ्य, साधन और इनसे अतीत भी है।

प्रत्येक पुरुष मोक्षाकाङ्क्षी है। अमर जीवन, अखण्डज्ञान और अनन्त आनन्द कौन नहीं चाहता ? वही ब्रह्मस्वरूप है और वही मोक्ष। मोक्ष ही मानवकी वास्त्विक अभिलिप्ति वस्तु है। तत्त्वतः मानव मुक्त होते हुए मोक्ष चाहता है; क्योंकि उसे वन्धनकी प्रतीति होती है। भ्रान्ति-निवारण कैसे हो आदिका साधनरूपसे वर्णन उपनिषदोंमें अतीव मार्मिक ढंगसे किया गया है। ‘त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्’में गुरु-शिष्य-संवादमें कहा गया है—

‘कथं वन्ध्यः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च । तत्कथमिति अब्रान्तप्रावल्यात् । कस्मादज्ञानप्रावल्यमिति । भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाभावाच्च । तदभावः कथमिति । अत्यन्तान्तःकरणमलिनविशेषात् । अतः संसारतरणोपायः कथमिति । देशिकस्तमेव कथयति । सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्माभ्यस्तात्यन्तोक्तप्रसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते । तस्माद् विधिनिषेधविवेको भवति । ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जयते । सदाचारादखिलद्वुरितक्षयो भवति । तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति ।’ (अध्याय ५)

प्रश्न—वन्धन कैसे हुआ और मोक्ष कैसे होगा ?
उत्तर—विचार न होनेसे वन्धन होता है। प्रश्न—वह विचार क्यों नहीं होता ? उत्तर—अज्ञानकी प्रबलतासे नहीं होता। प्र०—अज्ञानकी प्रबलताका कारण क्या है ? उ०—भगवद्भक्ति, ब्रह्मज्ञान तथा विषयोमे वैराग्य-वासनाका न होना अज्ञानका कारण है। प्र०—उनका अभाव क्यों है ? उ०—अन्तःकरण अत्यन्त विशेषरूपसे मलिन होनेके कारण। प्र०—संसार-सागरसे पार जानेका क्या उपाय है ? उ०—उस उपायका कथन सद्गुरु कहते हैं—समस्त वेद तथा शास्त्रोंका सिद्धान्त और रहस्य है कि अनेक जन्मोंके अभ्यास और अत्यन्त उक्त शुभकर्मके परिपाकके फलस्वरूप सज्जन पुरुषोंका सङ्ग होता है। उनके द्वारा वर्णाश्रमविहित तथा निपिद्ध कर्मोंका विवेक उत्पन्न होता है। तब वर्णाश्रमविहित कर्म अर्थात् सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे समस्त पापोंका विनाश होता है। उससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। यही मूल है मोक्षका, मुक्तिका और स्वरूप-प्राप्तिका। अस्तु ।

अन्तःकरण निर्मल होनेपर सद्गुरु-कृपाकी आकाङ्क्षा होती है। जब सद्गुरुकी कृपाद्वयि होती है, तब भगवत्कथाश्रवण तथा ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। इससे हृदयमें स्थित अनादिकालीन दुर्बासना-अन्धिका विनाश होता है और हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ प्रक्षीण हो जाती हैं। फिर हृदयकमलकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता (आभास मिलने लगता) है। इसके अनन्तर परमात्मामें सुदृढ़ वैष्णवी भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तिसे वैराग्योदय होता है और वैराग्यसे बुद्धिमे विज्ञानका आविर्भाव होता है। ज्ञानाभ्यास करनेपर क्रमशः ज्ञान परिपक्व हो जाता है। परिपक्व विज्ञानसे मानव जीवनमुक्त होता है। उस स्थितिमें समस्त शुभाशुभ कर्म और जन्म-जन्मान्तर

तथा कल्प-कल्पान्तरकी वासनाएँ बिनष्ट हो जाती हैं। फिर दृढ़तर शुद्ध सात्त्विक वासनासे अतिशय भक्ति होती है। निरतिशय भक्तिसे समस्त अवस्थाओंमें सर्वमय नारायण प्रकाशित होने लग जाते हैं। समस्त संसार नारायणमय ही दिखायी पड़ता है; क्योंकि तत्त्वतः नारायणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु विभाति । सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति । नारायणव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ।
(त्रिपाद्विभ० अ० ५)

जीव किस प्रकार परमात्मस्वरूप होता है, इसका दृश्यन्तर्वर्णन इस उपनिषद्में इस प्रकार है—

‘अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजोमहानदी-प्रवाहपरमतेजःपारावारे प्रविशति । यथा परमतेजःपारावारतरंगाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति, तथैव सच्चिदानन्दात्मकोपासकः सर्व-परिपूर्णद्वैतपरमानन्दलक्षणे परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहम-सीति प्रविशेत् । तत उपासको निस्तरंगाद्वैतापार-निरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो वभूव । यस्त्वनेत भाग्येण सम्यगाच्चरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव ।’
(त्रिपाद्विभ० महोप० अ० ८)

‘जैसे अतीव वेगवती महानदीका प्रवाह महार्णवमें प्रवेशकर महार्णवस्वरूप हो जाता है अथवा जैसे परम तेज सागरकी तरंगें परम तेज सागरमें प्रवेश करती हैं, वैसे ही मैं ब्रह्म हूँ—इस भावनासे सच्चिदानन्द आत्माका उपासक सर्वपरिपूर्ण, अद्वैत, परमानन्दस्वरूप, मुक्त परब्रह्म नारायणमें, मैं सच्चिदानन्दात्मक हूँ, अजन्मा हूँ तथा मैं परिपूर्ण हूँ—इस रूपसे प्रवेश करता है। वह उपासक तरंगरहित, अद्वैत, अपार, निरतिशय, सच्चिदानन्दसमुद्र होता है। जो इस मार्गसे भलीभाँति आचरण करता है, वह नारायण ही होता है, इसमें संदेह नहीं।

इस प्रकार जन्म-मरणशील प्राणी सदाचारद्वारा शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर ही हो जाता है। सर्वात्मभावापन्न प्राणी अकर्ता, अभोक्ता होता हुआ भी कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है। वह कर्तव्य-कर्तव्यसे अतीत होता है, जीवन्मुक्त होता है और सदाचारस्वरूप होता है। श्रुतिका कथन है—

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
वहि:सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥

(महोप० ६ । ६७)

‘अन्तःकरणद्वारा समस्त आशाओंका भलीभौति त्यागकर, वीतराग तथा वासनाशून्य होकर वाहरसे समस्त समाचार—सदाचार करते हुए, संसारमें संतप्तशून्य होकर विचरण करो।’ ब्रह्मज्ञानीमें ही वास्तविक शम, दम, शान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदि सदाचार निवास करते हैं। उसमें अपने-परायेका भेद नहीं होता। वह समस्त संसारको खस्तरूप समझता है। कहा भी है—

अयं वन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

(महो० ६ । ७१)

‘यह बन्धु है, यह वन्धु नहीं है—इस प्रकारकी भावना क्षुद्रचित्तवालोंकी होती है। उदार चरित्रवालोंसदाचारियोंका कुटुम्ब तो संसार ही है।’

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेप ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।
(मुण्ड० ३ । ४)

‘आत्मक्रीड तथा आत्मरति क्रियावान् ऐसा ब्रह्मविद् वरिष्ठ होता है।’ आत्मामें रमण करना, आत्मामें क्रीडन करना तथा आत्मामें ही संतुष्ट रहना—यही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। सत्तत्व प्राप्त कर लेनेपर जीवन सदाचारमय हो जाता है। सदाचारसम्पन्न व्यक्तिके सम्पर्कमें जो भी आता है, वह सदाचार-सम्पन्न हो जाता है। अतः साथ्य, साधन तथा सिद्धावस्थामें भी ब्रह्मवेत्ता सत् आचारसे ओत-प्रोत रहता है, यही तत्त्वः सत्तत्वका सदाचार है।

—४५४५—

आचार-धर्म

(लेखक—पं० श्रीगदाधरजी पाठक)

मनुष्यके जिस व्यवहारसे ख्ययं अपना हित तथा संसारका हित होता है, उसीको आचार और उसके विरुद्ध व्यवहारको अनाचार कहते हैं। आचारको सदाचार और अनाचारको दुराचार भी कहते हैं। वेद और शास्त्रोंमें आर्य शब्दका भी यही अर्थ निर्दिष्ट है कि जिसका आचार श्रेष्ठ हो और जो सदैव अकर्तव्यका त्याग और कर्तव्यका पालन करता हो—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः ॥

(वाचस्पत्यकोश पृ० ८१२)

‘जो कर्तव्य-कार्यका आचरण करता हो और अकर्तव्यका आचरण न करता हो तथा सदैव अपने

सामाजिक सदाचारमें स्थित रहता हो, वही आर्य है।’ अब प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है तथा आर्योंका, हिंदुओंका प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है, इस प्रश्नका उत्तर मनु महाराज देते हैं—

वेदोऽखिले धर्मसूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुप्तिरेच च ॥

(२ । ६)

आर्यजनोंके धर्मका, कर्तव्यका ज्ञापक सम्पूर्ण वेद हैं। इसके अतिरिक्त वेदके जाननेवाले ऋग्वि-मुनि लोग जो स्मृति आदि शास्त्र लिख गये हैं, उनमें भी धर्मका वर्णन है और जैसा वे आचरण कर गये हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवा अन्य साधु-

पुरुषोका जो आचार देखते हैं वह भी धर्मसूल है। इन सबके साथ ही कर्तव्याकर्तव्यकी परीक्षा करनेके लिये मनुजीने एक बहुत ही उत्तम उपाय बताया है और वह है—‘आत्मनस्तुष्टि’। जिस कर्तव्यसे हमारी आत्मा संतुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है; अर्थात् जिस कार्यके करनेमें हमारे आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, गङ्गानि इत्यादिके भाव उत्पन्न न हो, उन्हीं कर्मोंका सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या-भाषण, चोरी, व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य-कार्योंकी इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, गङ्गानि इत्यादिके भाव उठते हैं और मनुष्यकी आत्मा खयं उसको ऐसे कार्योंके करनेसे रोकती है। इसलिये सज्जन पुरुषोंको जब कभी कर्तव्यके विषयमें संदेह उत्पन्न होता है, तब वे अपने आत्माकी प्रवृत्तिको देखते हैं। वे सोचते हैं कि किस कार्यके करनेसे हमारे आत्माको धर्मके विषयमें भय न होगा; और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। महाकवि कालिदासने भी कहा है—

सतां हि संदेहपदेषु चस्तुपु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
(अभिज्ञानशाकुन्तल १)

संदेह उपस्थित होनेपर सत्पुरुष लोग अपने अन्तः-करणकी शुद्ध प्रवृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं। अन्तः-करणकी खामोशिक शुद्ध प्रवृत्ति सदाचार है और सदाचारसे ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतञ्जलि इस चित्तप्रसन्नतारूप सदाचारका वर्णन इस प्रकार करते हैं—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्प्रसादनम्॥ (योगदर्शन)

स्थितिके भेदसे—संसारमें चार प्रकारके प्राणी होते हैं—सुखी, दुःखी, धर्मात्मा और पापात्मा—इन चारों प्रकारके लोगोंसे यथायोग्य व्यवहार करनेसे ही चित्त प्रसन्न होता है—मनको शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी हैं उनसे मंत्री या प्रेमका वर्तवि करना चाहिये, जो लोग दीन-हीन, दुःखी, पीड़ित हैं, उनपर करुणा या दया करनी चाहिये। जो पुण्यात्मा पवित्र आचरणवाले हैं, उनको देखकर मुदित या हर्षित होना चाहिये और जो दुष्ट दुराचारी हैं, उनसे उदासीन रहना चाहिये। अर्थात् उनसे न प्रीति करे और न वैर। इस प्रकारके व्यवहार करनेसे हम अपने-आपको उन्नत कर सकते हैं, सद्गङ्गवनाओंकी जागर्ति और असद्गङ्गवनाओंका त्याग करनेके लिये यही सदाचारका मार्ग ऋषियोंने बताया है। जिन सज्जनोंने ऐसा आचार धारण किया है, उन्हींको लक्ष्य करके राजपर्वि भर्तृहरिजी प्रणाम करते हुए कहते हैं—

वाञ्छा सज्जनसद्गमे परगुणे प्रीतिगुरुर्दो नम्रता विद्यायां व्यसनं स्वयोपिति रतिलोकापवादाद् भयम्। भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलैरेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥
(नीतिशतक ५१)

‘सज्जनोंके सत्सद्गमी इच्छा, दूसरोंके सद्गुणोंमें प्रीति, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, विद्यामें अभिरुचि, अपनी ही लीमें रति, लोकनिन्दासे भय, ईश्वरमें भक्ति, आत्मदमनमें शक्ति, दुष्टोंके संसर्गसे मुक्ति (बुरी संगतिसे बचना)—ये निर्मल गुण जिसके मनमें वसते हैं, उस सदाचारी पुरुषको हमारा नमस्कार है।’

ईश्वरीय पथका सदाचार

संसारमें मनुष्य अहंभावके कारण अनेक कष्ट सहता है, लक्ष्मी चञ्चला और क्षणस्थायिनी है, लाभके साथ हानि छायाकी भाँति रहती है। जीवात्माको परमात्माका अंश समझकर मृगतृष्णाका पीछा छोड़ो। भ्रम त्यागकर शान प्राप्त करो और ईश्वरके मार्गमें प्रविष्ट हो।

—आचार्य शंकर

सदाचारका आधार सद्विचार

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

पशुजगतकी तुलनामें मनुष्यकी विशेषता—उसके विचार और आचार हैं। विचार और आचार एक दूसरेके पूरक हैं तथा परस्परसम्बद्ध भी। इन दोनोंमें विचार प्रमुख है तथा आचार गौण। यदि किसी आचारके पीछे उसे सबल एवं स्थैर्यदेनेवाला कोई सम्प्रेरक विचार नहीं है तो वह उत्तम होकर भी प्रभावहीन ही रहता है। विचारकी उत्कृष्टता अथवा निकृष्टताका प्रभाव आचारपर अवश्य ही पड़ता है। आचारकी उत्तमता अथवा अधमताका निर्णय केवल उसके वाहा स्वरूपसे ही नहीं, प्रत्युत उसके पृष्ठगत विचारसे भी होता है।

मनुष्यमें ऊँचा उठनेकी स्पृहा बहुत गहरी होती है एवं उसकी आत्यन्तिक तृप्ति इसकी पूर्तिपर आधृत होती है। स्वप्नमें ऊपर उठकर आकाशमें उड़ना कदाचित् इसीका घोतक है। मनुष्यको वायुयानद्वारा ऊँचे उड़कर स्थंग गगनविहार करना तथा पक्षियोंको ऊँचे उड़कर विशाल व्योममें मँडराते हुए देखना उल्लास प्रदान करता है। पक्षिगण ऊँचे—बहुत ऊँचे उड़कर एक अद्भुत आनन्दका अनुभव करते हैं। मनुष्यने सदैव दीपार्चिसे, जो ऊर्ध्वगमनमें सचेष रहकर प्रकाशदान करती रहती है, प्रेरणा प्राप्त की है। ऊर्ध्वगमी व्यक्ति ही दूसरोंको प्रकाश दे सकता है। क्षुद्र स्वार्थकी पूर्तिके लिये भोगैर्थ्य-सामग्रीका संचय एवं पद, सत्ता और व्यातिकी प्राप्तिसे भौतिक उन्नति अथवा प्रगति तो हो सकती है; किंतु उनसे मनुष्यकी न तो तृप्ति होती है और न उसका कल्याण ही। तुच्छ स्वार्थसे हटकर वैचारिक स्तरपर ऊँचा उठनेमें ही मानवका कल्याण होता है।

इस संसारमें जो कुछ भी मानव-जगतकी हलचल है, उसके पृष्ठमें एक सूक्ष्म विचार-जगत् है। कुटुम्ब,

राष्ट्र एवं संसारमें समस्त क्रिया-कलापका सूत्र विचार ही है। व्यक्ति और समाजके कर्मका बीज विचारमें ही निहित होता है, विचारकी महिमा अकथ्य है। व्यक्ति, कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसारके अभ्युदय, सुखशान्ति और कल्याणके लिये विचारका परिष्कार एवं परिमार्जन होना परम आवश्यक है। सद्विचारसे बुद्धिको संस्कृत या चमत्कृत किया जा सकता है। सद्विचारसे मनुष्य बन्धनमुक्त हो जाता है। वैचारिक मोक्ष ही मनुष्यका मोक्ष है। अतः विचार सदाचारका उपेय पाथेय है। देखना यह है कि विचारका स्वरूप क्या है।

मनके क्षेत्रमें चेतनास्तरपर विचारका आविर्भाव होता है, जैसे अगाध जलमें तरंगका उद्भव होता है। विचार सूक्ष्म एवं निराकार होता है। विचारकी शक्ति निःसीम और उसका प्रभाव अपरिमेय होता है। शब्दके रूपमें प्रवाहित एवं प्रसारित होनेपर विचार स्थूलता प्रहण कर लेता है। विचार शब्दातीत होता है तथा शब्द उसकी अभिव्यक्तिका एक स्थूल माध्यम है। विचार ही शब्दकी आत्मा है, जिसके बिना वह निर्जीव एवं निष्प्रभाव हो जाता है। सद्विचार सदाचारका उपजीव्य होता है। सादा जीवन उच्च विचार उसीकी परिणति है।

महात्माका मौन विद्वान्‌की मुखरतासे अधिक प्रभाव-शाली होता है। सत्पुरुषके पवित्र मनकी अव्यक्त विचार-तरंग जनमानसको अलक्षित रूपमें आकृष्ट कर लेता है तथा उसके सरल शब्द मनको मुग्ध कर लेते हैं। ऋषिगण, बुद्ध, महावीर, कवीर, नानक, सुकरात, कन्फ्यूशस, ईसा और मोहम्मदकी सहज वाणी उद्बोधक एवं कालजयी है। महात्मा तुलसीके उदात्त मानससे समुद्भूत विचारोकी सहजाभिव्यक्ति अमर है। आन्तरिक

खच्छता एवं निर्मलता विचारको द्युतिमान् बना देती है। वाह्य शौचको भी वैचारिक शुद्धता ही चरितार्थ करती है।

चिन्तन, मनन, अनुभव और अनुभूतिसे सम्पुष्ट विचार आचरणद्वारा अभिव्यक्त होनेपर प्रभावोत्पादक हो जाता है। पवित्र मनमें गहरे स्तरपर साक्षात्कृत विचार ही 'दर्शन' हो जाता है। खच्छ विचारके आदान-प्रदानसे मनका मैल धुलता है। ज्ञान, अनुभव और अनुभूतिका आधार लेकर सहज भावसे सीधा सोचना, सीधा बोलना तथा आचरण करना अपना और दूसरोंका हित-सम्पादन करना किया जा सकता है। विचार, वचन और आचरणमें एकरूपताका होना व्यक्तिके सम्बल एवं प्रभावको दृढ़ कर देता है।

विचार ज्ञान-विज्ञानकी आत्मा है, विचार ही प्रकाश है, विचार ही समस्त प्रगतिका मूलाधार है। विचार ही कर्म-प्रेरक होता है तथा वैचारिक प्रेरणासे कर्म महान् हो जाता है। विचार मानवमात्रकी सम्पदा है, उसपर किसीका एकाधिकार नहीं होता। विचार-स्वातन्त्र्य

सभ्यताका गौरव होता है। पर उसे संयत होना चाहिये। विचार और उसकी अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताके प्रति गहरी आस्था जीवनमें स्वातन्त्र्य चेतनाके सरोंको प्रखर बना देती है। विचारका वर्गस लादना विचारका हनन है—हिंसा है। विचारका विकास, प्रचार एवं प्रसार सभ्यता एवं संस्कृतिकी उन्नतिका प्रतीक है।

धर्मके दो प्रमुख अङ्ग हैं—(१) विचार और (२) आचार। रामका उदात्त चरित्र सद्विचार और आचारका समन्वित उज्ज्वल उदाहरण है। अतएव 'रामो विग्रहवान् धर्मः।'—राम स्वयं धर्मकी साक्षात् सूर्ति हैं। 'रामने अपने सद्विचार और सदाचारद्वारा उपनिषद्के मूलभूत उपदेश 'तेन त्यक्तेन भुजीथा:' (त्यगपूर्वक भोग) को चरितार्थ करके मानवमात्रके समक्ष सदाचारका एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। निदान, सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये वैचारिक मर्यादाका पालन और पोपण नितान्त आवश्यक है। वस्तुतः विचार ही सदाचारका आधार है।

आर्य-नारीका सदाचार-विचार

अपनी पुत्रीके दृढ़ धर्मनिश्चयको देखकर धर्मात्मा नरेशने अधिक आग्रह करना उचित नहीं माना। अचिर वैयक्तिकी सूचना देनेवाले देविणि नारदजीने भी सावित्रीके निश्चयकी प्रशंसा की। राजा अश्वपति कन्यादानकी सब सामग्री लेकर घनमें राजा द्युमत्सेनकी कुटियापर गये और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक अपनी पुत्रीका विवाह सत्यवान्के साथ कर दिया। विवाहकार्य समाप्त होनेपर राजा अश्वपति अपनी राजधानी लौट आये।

पिताके लौट जानेपर सावित्रीने रत्नजटित सब गहने और बहुमूल्य रंग-विरंगे वस्त्र उतार दिये।

जब सावित्रीने बहुमूल्य वस्त्र और आशूषण उतारे और पहननेके लिये साससे नम्रतापूर्वक वल्कल-वस्त्र माँगे, तब सासने चिपण्ण होकर उससे कहा—'वेटी। तुम् राजकन्या हो। अपने पिताके दिये हुए वस्त्राभूपूरणोंको पहनो।'

सावित्रीने सविनय उत्तर दिया—'मैं आपके पुत्रीकी सेविका हूँ। आप तथा मेरे पूज्य इवग्रुह एवं मेरे स्वामी जैसे रहते हैं, वैसे ही मैं भी रहूँगी। उससे अधिक सुख मेरे लिये सर्वशा त्यज्य है। मैं आपकी धर्मेश्वरा उत्तम वस्त्र एवं आशूषण कैसे पहन सकती हूँ? मेरे लिये सव्या आशूषण तो आप गुरुजनोंकी सेवा ही है।'

वह वल्कल-वस्त्र पहनकर मुनि-पत्नियोंकी भौति रहने लगी। सावित्री अपने शील, सेवा, इन्द्रिय-संयम, मधुर वाणी तथा सदाचारपरायणताके कारण सबका प्रेम-भाजन हो गयी। सास-स्ससुर तथा पतिकी सेवामें वह निरन्तर दत्तर रहती थी। उसकी सदाचारिताने उसके पतिको चिर-जीवनदान दिला दिया। पतिव्रतका सदाचार यमराजपर चिजयी हुआ।

सदाचारका प्रशस्त व्रत

(लेखिका—साध्वी श्रीकनकप्रभाजी)

अमरीकाके प्रसिद्ध विचारक हेनेरी थोरोने किसी किसानसे सस्ते मूल्यपर कुछ भूमि खरीदी। किसानने घर जाकर भूमि-विक्रयकी बात अपनी पत्नीको बतायी। पत्नीको वह बात उचित न ली; क्योंकि किसानने बाजारके भावसे बहुत कम मूल्यमें अपनी जमीन बेच दी थी। पत्नीके परामर्शसे वह पुनः हेनेरीके पास पहुँचा और जमीनका सौदा रद्द करनेके लिये अनुनय-विनय करने लगा। हेनेरीने इसका कारण पूछा तो वह बोला—मेरी पत्नी इस सौदेसे संतुष्ट नहीं है। उनकी प्रसन्नताके लिये मैं सौदा वापस करनेकी प्रार्थना कर रहा हूँ। इतना कहनेपर हेनेरी सहमत नहीं हुआ तो उसने अपनी जेवसे दस डालर निकालकर उसके हाथमें रख दिये। हेनेरीने पूछा—यह क्यों? किसानने उत्तर दिया—‘इसे आप हर्जनिके रूपमें स्वीकार करें।’ हेनेरीकी प्रश्नायित ओरें किसानके चेहरेपर टिक गईं, वह उत्सुक होकर बोला—‘हर्जना किस बातका?’ इस बार किसान थोड़ा मुस्कराया और कहने लगा—मेरी मूर्खताका।

हेनेरीने दो क्षण चिन्तन किया और किसानका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—‘भैया! तुम्हारी दृष्टिमें यह मूर्खता है और मेरी दृष्टिमें चोरी। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ; क्योंकि तुमने मुझे अपने अपराधका बोध करा दिया। मुझे यह पता भी चल जाता कि मैंने सस्ते भावमें जमीन खरीदी है तो भी मैं तुम्हारे पास नहीं आता। तुम आकर अधिक पैसा माँगते तो भी मैं नहीं देता, किंतु तुमने इस घटनाको अपने सिरपर ओढ़ लिया। कितनी सरलतासे तुमने अपनी मूर्खता स्वीकार की और उसके साथ ये दस डालर मुझे दे रहे हो। तुमने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है। ये

दस डालर भी अपने पास रखो और सौदा भी वापस कर लो। आज तुमने मुझे एक अपराधसे बचा लिया, इसलिये मैं तुम्हे अपना पथदर्शक मानता हूँ।’ हेनेरीका भीतरी सदाचार बोल रहा था।

यह एक छोटी-सी घटना है, पर इसके भीतरसे बहती हुई सदाचारकी सरिता किस समझदार व्यक्तिके तन-मनको न भिगो देगी। सदाचार मनुष्यका शृङ्खला है। सदाचारी व्यक्ति स्थायं सुखी रहता है तथा अपने सम्पर्कमें रहनेवाले लोगोंको सुख-शान्तिकी ओर अग्रसर करता है। सदाचारके द्वारा व्यक्ति यश और वैभव ही प्राप्त नहीं करता, श्रेयस् और मोक्षके पथपर अग्रसर भी होता है। असद् आचार व्यक्तिके गुणोंको वैसे ही समाप्त कर देता है जैसे शीतदाहमें उगते हुए पौधे झूलते जाते हैं।

आचार्य सोमप्रभसूरिने सदाचारकी गरिमा गाते हुए लिखा है—

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसायुचरितार्जिता न पुनर्जिताः सम्पदः ।
कृशत्वमयि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता ॥’

(सूक्तिमुक्ता०)

‘सदाचारी व्यक्ति यदि दरिद्र भी है तो वह सब लोगोंके लिये आदर्श अनुकरणीय है और प्रशस्य है; किंतु दुर्जनतासे प्राप्त विश्वाल सम्पदामें भी कोई सार नहीं है। शरीरकी स्वाभाविक कृशता भी व्यक्तिको सौन्दर्य प्रदान करती है, पर शोथजन्य स्थूलता नहीं।’

व्यक्तिके हाथमें जब रत्न-माणिक्यादि आ जाते हैं तो कंकड़-पत्थर स्थायं छूट जाते हैं।

उनका व्यामोह कौन रखता है ? इसी प्रकार जब जीवनमें सदाचार आ जाता है तो दुराचार स्थायं छूट जाता है । दुराचारको अपने पाँव जमानेके लिये स्थान वहाँ मिलता है, जहाँ सदाचारका पहरा नहीं रहता । प्रहरी सजग होता है तो घरमें चोर नहीं घुस सकते; क्योंकि सजग व्यक्तियोंके सामने जानेमें वे स्थायं घबड़ते हैं । सदाचार इतना जागरूक प्रहरी है कि इसको जो व्यक्ति अपना लेता है, उसके जीवनमें दुर्गुणरूप चोरोंका प्रवेश हो ही नहीं सकता ।

सदाचारी व्यक्तिमें आत्मस्वायापन और परदोप-दर्शनकी वृत्ति नहीं होती । वह दूसरे लोगोंके सामान्य गुणोंका भी निरन्तर गान करता रहता है । वह दूसरोंकी प्रतिष्ठा और समृद्धि देखकर ईर्ष्या नहीं करता,

अपितु प्रसन्न ही होता है । उन्हें विपदाओंसे विरा देख-कर वह व्यथित हो जाता है । वह किसी भी स्थितिमें न्यायनीतिसे विमुख नहीं होता, औचित्यका अतिक्रमण नहीं करता और अपना अप्रियकरनेवालों या सोचनेवालोंके प्रति भी दुर्भाविता नहीं रखता । सद्ग्रावना सब सदाचारोंका मूल है । ऐसे सदाचारी व्यक्ति जिस किसी परिवार, समाज या राष्ट्रमें होते हैं, वह परिवार, समाज और राष्ट्र गौरवशाली होता है । ऐसे व्यक्तियोंसे ही राष्ट्रिय चेतना जाग्रत् होती रहती है । भारत-जैसे अध्यात्म-प्रधान देशमें जन-जीवन सदाचारसे अनुग्राणित रहे, यह आजकी सबसे बड़ी अपेक्षा है । हमारा यह देश धर्म-प्राण देश है, और धर्मका एक मुख्यरूप सदाचार है, अतः इस सदाचार-निष्ठाकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है ।

वन्य तीर्थस्थलीमें सदाचारकी एक झलक

(लेखक—पं० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय, शास्त्री)

स्नेहमयी प्रकृति माताकी पावन गोदमें—जो छल-छब्बसे सर्वथा अद्वृता था—हम चार साथी श्रमोत्पन्न क्लान्तिको मिटा रहे थे । वृक्षोंकी डालियों एवं फूलोंके बीचसे बहकर आता हुआ पवन श्रमसीकरमे लगकर एक दिव्य आनन्दकी अनुभूति प्रदान कर रहा था । यहाँके शान्त पत्थरोंमें भी एक शुद्ध सदाचार झलक रहा था । उस दिन भोजन करनेके लिये हमलोग घरका ही बनाया हुआ भोजन पर्याप्त मात्रामें लाये थे । थोड़ा-सा जलपान कर पुनः विश्राम करने लगे । फालुन मासकी वासन्ती वायु एवं स्वर्णिम वनप्रान्त हृदयको रोमाञ्चित कर देता था ।

हाँ, मैं यह बताना भूल गया कि हमलोग कहाँ गये थे । वेदविश्रुत भगवान् शिवके दर्शनकी उत्कण्ठाने हमलोगोंको गुसाधाम* जानेके लिये प्रेरित किया । कथा-

प्रसङ्ग शिवपुराणका है । तात्पर्य, इस गुसाधामकी प्रसिद्धिकी आख्यायिका शिवपुराणसे सम्बद्ध है । तपस्यानिरत भस्मासुरको आशुतोषकी अतुल एवं अगाध कृपाने विश्वविजयी वननेका महत्वाकाङ्क्षी बना दिया था । मन्मथारिकी सद्यःसम्मूता दयासे राक्षसोंने सर्वत्र अपना उल्लङ्घ सीधा किया है । परंतु विश्वेश्वर यदि ऐसा न करते तो भक्तोंकी भी दशा दयनीय हो जाती । सुकृत-कारियोंको दुष्कृतका फल भोगना पड़ता । प्रभुके तपः-पूत अन्तःकरणमें बुरे भावोंका प्राकृत्य ही नहीं होता । देवोंके सिरपर चढ़नेवाला सुमन संयोगवश शवपर भी चढ़ जाता है, परंतु इससे उसकी अलौकिक विशेषतामें कोई कमी नहीं आती । दानी क्षणभरमें अपना सर्वस्व लटा सकता है । उसे तो केवल मॉगनेवालोंकी आवश्यकता होती है । यदि एक

* यह स्थान 'गुसाधाम' नामसे प्रसिद्ध है ।

साधारण मनुष्य ऐसा कर सकता है तो जगलीलामें निरत प्रभु जिनका एकमात्र उद्देश्य भक्त-पनोरञ्जन ही है, भक्तोंकी इष्टसिद्धिके लिये व्या नहीं कर रक्तौ। उन्हें योनियों (aces) —मनुष्य दद्यवा राक्षससे कोई सात्पर्य नहीं। उनके प्रशस्त पुण्यपर्यमें वर्णकी व्यवस्था भी वाधक नहीं हो सकती। भक्तोंका हृदय उनका फ़ीडा-स्थल होता है। जिसकी प्रवृत्ति राक्षसी होती है, वह प्रभुके अनुग्रहका लाभ गलत हँगसे उठाता है। गोमाताके स्तनमें भी लिपटकर जोंके मुखादु पथका पान न कर तृणादिसे निर्मित शोणित ही पीती है। कविने ठीक ही कहा है—

‘बर माँस व्याघ्र जल पाला है,

हृष्ट छैर भूर हो जाता है।’

यही स्थिति उस राक्षसाधमकी हृदृ। आशुतोष भगवान्ने उसे सर्वस्व देनेको कह दिया। उस पिशाचने भयंकर वरदानकी प्रस्तावनाको उमापतिके समझ उपस्थापित किया—‘प्रभो! आपकी कृपासे मेरा हाथ जिसके मस्तकपर फिर जाय, उसका सर्वनाश हो जाय।’ प्रभु वचनवद्ध थे। अतः असुरकी अभिलापाने यहाँ विजय पायी। प्रभुके विद्वासदृश होठ विस्फारित हुए और उनके मुखसे निकल पड़ा—‘एवमस्तु।’ पर उस कौणपकी इच्छा अब प्रभुके वरद हाथकी नहीं, अपने भयंकर विनाशकारी हाथकी शक्तिको देखनेकी हृदृ। संनिकटमें केवल शब्दब्रह्म ही थे, जो आकाशमें कौप रहे थे। आशुतोषको अपनी भूल समझमें आ गयी थी, पर हाथकी विवशता थी। मुखोद्भाषित वरदानको लौटाया नहीं जा सकता था। तबतक उस दुराचारीकी दृष्टि माँ पार्वतीकी अखण्ड एवं लावण्यपूर्ण सौन्दर्यपर गयी। जिनकी पदरेणुको भक्त श्रद्धापूर्वक स्वमस्तकपर रखते हैं, उन्हीं माँकी श्रीको कुत्सित करनेकी प्रवल-

इच्छा उस पशुको उत्पन्न हृदृ। जिन माँकी भ्रमङ्गिमासे सूर्यों प्रलयका लाप्दद्वय होने वाला है, जिनके हुंकारादिसे विश्वजयी अजरामर महिवासुर, शुभ, निशुभ इत्यादि दैत्य भस्मसात् हो गये, उन्हीं माँके सौन्दर्यको दुष्ट वल्लभ पानेकी इच्छा की।

क्षत्ते हैं, जब मौत सिरपर छाती है तो प्रायः भले लोगोंकी पी बुद्धि मारी जाती है—‘धियोऽपि पुंसां यत्तिनि-भवन्ति’ फिर उस अधमके विषयमेंतो कहना ही क्या, अतः मोहग्रस्त उस दैत्यने स्वमार्गमें महादेवजीको वाधक समझकर उनका ही अख उन्हींपर चलानेकी थानी।

समयकी कुटिल गतिने मृत्युंजयको परेशान कर दिया। प्रभु भाग चले। आगे-आगे महादेवजी भागे और पीछेसे भस्म-हुरका विनाशकारी हाथ। ब्रैलोक्यका चक्र लगानेके बाद भी भस्मासुर उनके पीछे हीदीख पड़ रहा था। विन्ध्या-चल पर्वत सब गहन कानन एवं उच्छृतिमें सूर्यके प्रकाश तथा गतिके अवरोधको रूपमें छ्याति प्राप्त कर चुका था।* उसका निर्दिष्ट भाग इस समय कैसूर पहाड़ी अथवा विन्ध्यपर्वतके नामसे प्रख्यात है। सासाराम (विहार)से लगभग चौढ़ह मील दूर दक्षिण दिशामें स्थित उक्त पर्वतमें एक रम्य गुफा है। गङ्गाधर भागते-भागते यहीं पहुँचे। वे प्रायः थक चुके थे। वह राक्षस अब भी उनके पीछे दीख रहा था। प्रभु विवश होकर स्वयंको छिपानेके लिये इस गुफामें प्रविष्ट हो गये। दुष्ट दैत्य यह सब देख रहा था। परंतु वह अवश्यमावी भवितव्यताको कैसे मिटा सकता था।

इवर अपने आराध्य देवाधिदेवको प्रत्यूहसे त्रस्त देख श्रीविष्णुभगवान्के विशाल बाहुद्वय फड़क उठे। उन्हें साधुरक्षाकी अपनी ‘परित्राणाय साधूनां’ प्रतिज्ञा याद हो आयी। फिर क्या था? तत्काल अन्तरिक्षको व्याप करते हुए वहाँ एक दिव्य आलोकका प्रादुर्भाव हुआ। पार्वतीजीका रूप धारणकर उस दुष्टको रोकनेके लिये वासुदेवने स्वमायाका विस्तार किया। वे मधुर वाणीमें

* काशीकण्डके अनुसार यह अपने गुरु महाराजके चरणोमें पड़ा हुआ है। इससे पूर्व यह आकाशतक पहुँचकर अपनी ऊँचाईसे सूर्यकी गतिको रोके हुआ था।

बोले—‘दैत्येश्वर ! महेश्वरका मनोहारी ताण्डवतट्य मुझे अत्यन्त ग्रिय लगता है । यदि तुम भी वैसा ही कर दिखाओगे तो मैं तुम्हारी अनुगमिनी हो जाऊँगी ।’ फिर क्या था । महामृत्युका आहानकर उस दृष्टि से अपने सिरपर ज्यों ही हाय रखा, ज्यों ही हाय वह जलवर मन्मह हो गया । तत्पश्चात् भगवान् नारायणने चन्द्रशेषवरसे सम्पूर्ण कहानी कह सुनायी । इस प्रकारसे दोनों देवोंका संगास्यान गुप्तवाम कहलाया, जो अत्यन्त प्रसिद्ध एवं कल्याणकारी है । प्रभुकी गहामहिम मूर्ति जो प्रकृतिद्वारा विनिर्मित है—गुफाके अदर सुशोभित है । आजकल वहाँतक जानेके लिये यातायातके साधन भी हो गये हैं । महाकालके सदरा गुप्तेश्वरनाथका भी विशेष महत्व है । विपत्तियोंसे संतप्त व्यक्ति इनके नामस्मरण एवं दर्शनसे छुटकारा पा जाता है ।

भीड़की संख्या अधिक होती जा रही थी; असः हमलोग भी दर्शन करनेके लिये (अंदर जानेकी) तैयारी करने लगे । अनुभवी लोगों तथा नागाओंका कहना था कि अंदर एक अथवा डेढ़ मील जाना पड़ेगा । हमलोगोंके साथ पंद्रह व्यक्ति और चले । पाँच लड़कियों भी थीं । सभीके शरीरपर हल्के कपडे थे; क्योंकि पथ अत्यन्त संकीर्ण एवं अश्रृंयकर था । प्राणवायुकी भी कमी थी । प्रभुकी कृपा ही लौटनेमे सहायक थी । अन्य तीर्थस्थलोंकी भाँति यहाँ पहुँचना साधारण नहीं था, फिर भी प्रभुकृपासे अंदर पहुँचकर हमलोगोंने प्रभुका दर्शन एवं जयघोप किया । आशुतोषकी प्रतिमा स्पर्श-विन्दुसे ऊपर थी । प्रतिमामे एक विशेष प्रकारकी ज्योति भासित हो रही थी । जटाजटसे जलस्ताव हो रहा था । कुछ लोग इसे गङ्गाजल कहते हैं । मुझे तो ऐसा लग रहा था कि मूर्तिकी सौम्यतासे सदाचारका ही स्नाव हो रहा है । गुप्तेश्वरनाथके पदरजको मस्तकपर रखकर

हमलोग जिसी गङ्गार बार आये । वाहर सर्वत्र स्तिरध वातावरण व्याप था । ज्ञातियोंसे सार्विकता—सदाचारिता परिलक्षित हो रही थी । नक्षियोंके कलशसे, पत्तोंकी निर्मिततासे तथा गाँधोंकी हुँकारें सर्वत्र सदाचारका थी संदेश मिलता था ।^१

इसलोग गमाप्ति लघुपथ हो गये थे, यतः हम स्थानके किये सीलाकुण्ड ढढ़ पड़े । यह स्थान प्रभुके धामसे दो मील दूर है । इस कुण्डका जल अत्यधिक ठंडा होता है । तीनों ओरसे एक ऊँचा पहाड़ इसे आच्छादित किये हैं । शिलारवण्डपर पानकी छताएँ चढ़कर कुण्डकी श्रीमें अपनी हरीनिमा एवं सौकुमार्यसे चारचौंड लग रही थीं । ऊपरसे झरता हुआ नरना कल्ककद्वि निनादद्वारा सदाचार के गीतको गा रहा था । जलका निर्मल्य दूधको मी पवित्र कर रहा था । नागालोगोंके आदरपक्षता-शून्य एवं पवित्र जीवनसे प्रेम एवं विश्ववन्धुत्वका संचार हो रहा था । यत्रन्त्र जंगलोंसे आये निर्भीक बंदरों ग्रंथ हरिणोंके नेत्रोंसे सदाचार ही झलक रहा था । मुझे तो ऐसा लग कि महादेवकी इस नगरीमें असद-आचार कहीं है ही नहीं । पाण्डण तथा धृती देवनेको भी न मिली । प्रभुकी तपोभयी भूमिमें सभी तपस्वी एवं सदाचारी थे । श्रीशंकरजीका वशोगान करते हुए आस-पासके निवासी सदा जीवन एवं उचित्वारमें अपने-आपको ढाले हुए थे । सदाचारके एकच्छत्र राज्यको विस्मय-विस्तारित नेत्रोंसे देखते हुए जी नहीं भरता था ।

विज्ञानके इस नवीन युगमे व्यक्ति जहाँ एक ओर अपने नये-नये आविष्कारोंसे नयी-नयी चीजोंका निर्माण कर रहा है, वहीं अपने पुरातन नियमोंका उल्लङ्घन कर निरङ्गुश, अत्याचारी, भ्रष्टाचारी तथा स्वेच्छाचारी होता चला जा रहा है । यौवन और धनके मदमे सभी लोग केकड़ोंकी तरह तिरछे

^१ वहाँ नागालोगोंने पर्याप्त संख्यामें गायें पाल रखी हैं ।

भ्रमण कर बिनाशकी ओर उन्मुख हो रहे हैं। अपनी सभ्यता और संस्कृतिको छोग केवल हाथ्यके रूपमें देख रहे हैं। पाश्चात्य देशके मनीषीजिन नियमाचारोंको समाप्त करना चाह रहे हैं, भारतीय उन्हींनियमाचारोंको अपना रहे हैं। अपनी शिति तो अब—‘बिनाशकाले विपरीतवृद्धिः’ जैसी होती जाती दीखती है। आज सद्वृत्तियों और सदाचार-का लोप होता चला जा रहा है। अहर्निश उत्पीड़न और छल-छश्मकी वृद्धि हो रही है। आज हम अपने वास्तविक

ज्ञानको खोकर ऐसे भ्रष्ट पथका सहारा ले रहे हैं, जो सदाचार और सद्वृत्तियोंसे हीन है। वस्तुतः यदि हम अपने अध्यात्मज्ञान और लोकज्ञानका यथार्थ प्रयोग करें तो हम जगद्गुरु बन सकते हैं और हमारा देश जगद्गुरु बन सकता है। अतः हमें अपनी सभ्यता और संस्कृतिको जीवित रखनेके लिये अपने पूर्वजोंके अपनाये गये प्रशस्त पथपर ही चलना पड़ेगा। हमारी ये प्राचीन आत्मायिकाएँ भी जीवन-यापन-विविधोंकी निर्देशिका हैं।

—८३—

महापुरुषोंके अपमानसे पतन

बृत्तासुरका वध करनेपर देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी। इस पापके भयसे वे जाकर एक सरोवरमें छिप गये। देवताओंके हृदृढ़नेपर भी जब देवराजका कहीं पता नहीं लगा, तब वे वडे विन्नित हुए। सर्वका राजसिंहासन सूक्ष्म रहे तो त्रिलोकीयं सुव्यवस्था कैसे रह सकती है? अन्तमें देवताओंने देवगुरु वृहस्पतिकी सलाहसे राजा नहुपको इन्द्रके सिंहासनपर तवतकके लिये बैठाया, जबतक इन्द्रका पता न लग जाय। नहुप स्थानापन्न इन्द्र हो गये।

इन्द्रत्व पाकर राजा नहुप प्रसुताके मदसे मदान्ध हो गये—‘प्रभुता पाइ काह मद नाहीं।’ उन्होंने इन्द्र-पत्नी शर्वीदेवीको अपनी पह्नी घनाना चाहा। उन्होंने शर्वीके पास दूतके द्वारा संदेश भेजा—‘मैं जब इन्द्र हो चुका हूँ, तब आपको मुझे स्वीकार करना चाहिये।’

पतिव्रता शर्वीदेवी वडे संकटमें पड़ीं। अपने पतिकी अनुपस्थितिमें पतिके राज्यमें अव्यवस्था हो, यह भी उन्हें स्वीकार नहीं था और अपना पातिव्रत्य भी उन्हें परम प्रिय था। वे भी देवगुरुकी शरणमें पहुँचीं। वृहस्पतिजीने उन्हें आश्वासन देकर युक्ति यता दी। देवगुरुके थारेशानुसार शर्वीने उस दूतके द्वारा नहुपको कहला दिया—‘यदि राजेन्द्र नहुप ऐसी पालकीपर बैठकर मेरे पास आवें जिसे सप्तर्षि ढो रहे हों तो मैं उनकी सेवामें उपस्थित हो सकती हूँ।’

काम एवं अधिकारके मदसे मतवाले नहुपने महर्षियोंको पालकी ले चलनेकी आज्ञा दी। राग-द्वेष तथा मानापमानसे रहित सप्तर्षियोंने नहुपकी पालकी उठा ली। लेकिन वे ऋषिगण इस भयसे कि पैरोंके नीचे कोई चींटी या शुद्र लीब दब न जायें, भूमिको देख-देखकर, धरि-धीरे पैर रखते चलते थे। उधर कामातुर नहुपको इन्द्राणीके पास शीघ्र पहुँचनेकी आतुरता थी। वे वार-वार ऋषियोंको शीघ्र चलनेको कह रहे थे, लेकिन ऋषि अपने इच्छानुसार ही चलते रहे।

‘सर्प! सर्प!! (शीघ्र चलो! शीघ्र चलो!!)’ कहकर नहुपने हुँक्कलाकर पैर पटका। संयोगवश उनका पैर पालकी ढोते महर्षि अगस्त्यको लग गया। महर्षिके नेत्र लाल हो उठे। उन्होंने पालकी पटक दी और हाथमें जल लेकर शाप देते हुए बोले—‘दुष्ट! तू अपनेसे वडोंके द्वारा पालकी ढोवाता है और मदान्ध होकर पूजनीय लोगोंको पैरसे छुकराकर ‘सर्प, सर्प’ कहता है, अतः सर्प होकर यहाँसे गिर।’

महर्षि अगस्त्यके शाप देते ही नहुपका तेज नष्ट हो गया। भयके मारे वे काँपने लगे और शीघ्र ही दद्धा भारी उजागर होते हर उर्जासे झटकीपूर निर रहे। (यह है वडोंके अपमानका परिणाम।)

—८४—

मदाचारके कर्तिपय प्रवर्जन

(लेखक—दौ० रमेशनाथकी यु०, पृष्ठ० ४०, लेखन अं० ३० फ॒०१०)

✓ जीवनके वात्रत् व्यक्तार 'आचार'में व्यग्रहृत होते हैं। आचारके तो पथ हैं—अच्छे और बुरे। अच्छे आचार सदाचार हैं और बुरे आचार दुराचार हैं। इन्हें पहाँ हमें जीवनके विभिन्न मनोंपर देखता है। एतदर्थं वैयक्तिक अनुभवपर आवृत्त कर्तिपय भारतीय और विदेशीय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(१) स्थान-दिनी—पुहुळा पत्तापुगीमे पात्ताव्यार्दि की दुकान। दुकानपर हमने कुछ जलपान किया और बटुप्पमें सूख्य चुकाकर चल दिये। उन दिनों दिनीमें द्राम चलती थी। द्राममें 'ठे और कल्वारी' आ गये। उत्तरे तो याली हाथ देखकर कलंजा धारन दी गया। थैला। थैला कहाँ रह गया? उसमें वारू इजारके नोट थे। मेरे साथ दो व्यक्ति और थे, पांतु स्वयंकी अधिक सावधान समझकर थैला में अपने पास ही रखा था। सौंडा हो चुका था—प्रेसके लिये जो मशीन खरीदी थी, उसका पेमेट करने जा रहे थे। सभी दृक्कंवक्कं रह गये। थैला कहाँ गया? कैसे? क्या? अनेक प्रश्न मस्तिष्कमें बूम गये। द्राम दूर निकल गयी थी। अब क्या करें? नोटोंको कौन और कैसे बापम करेगा? पुलिसमें सूचना देना भी मुश्किल-भी लगी। फिर कुछ सोचा—एक ताँगा लिया और इत्यार्दिकी दुकानपर पहुँचा। विना कुछ कहे जहाँ बैठे थे, उसके आस-पास देखने लगे। गदीदार ताड़ गया। 'क्या देख रहे हैं, साहब?' 'भैया! हमारे पास एक थैला था, आपकी दुकानमें यहीं कुछ जलपान किया था—कहीं वह यहीं तो नहीं रह गया?' 'कैसा थैला था?' हमने विवरण दिया। 'यह तो नहीं था'—उसने कैंजा पेटीसे निकालकर हमें दिखाया। 'हाँ, हो, यहीं तो है'—हम तीनों एक साथ बोल उठे। 'लीजिये, सावधानीसे गिन लीजिये, इतनी असावधानी नहीं करनी चाहिये।' दुकान-गरने थेंद्रें साग लिया भी थी। ऐसा लिया

ही दून नानका प्रकाश था जिसने कुछ दिनों में थैला लेता हमने उस दूसरकरण से अपने सबसे अद्यतन धन्यवाद दिये। हे न आचारे अप्प्राप्तन युग्मे एक इत्यार्दिकी सदाचारकी प्राकृति! यह निराकार है अतः तत्त्व भिन्नतावीका अद्यतन उदाहरण है।

✓ (२) स्थान—काशा—प्रातिनिधि गेटके द्वारा देख्यार्दि। गोपनीये देख्यार्दि उनका और यह उम। जीर्णी बाजारके इस कोनेर पर्याप्त लोटुस नी दृढ़ दिल्ला चाह, चीज़ नहीं नी कर ली। वैष्ट्रियं दाव ग्राम, बटुआ गायत्र ! निका नीमेहू इत्यर्थोऽप्य निकृष्ट रुक्ष गह जाका है, एवं उस ग्राम पर यह उम। पर अगले आप देख्यार्दियोंकी ओर दृढ़ चढ़े। वहीं पहुँचा। वह दाहक गर्भ ली था। अपि देख्यार्दियोंके बनाने एवं ज्ञान कि वह तो दाह नहीं है, तीस-चालीस मिनिटों में वासम आ सकता है। मैं प्रताशा करने लगा। करीब तीस मिनिटों में वह आ रुक्ष और मुझे देखने ही उसने मैंग बदआ देख्यार्दि देख्यार्दि निकालकर मुझे दे दिया और वह—'प्राप्तज्ञ ही है न साहब!' मैंने उसे धन्यवाद देकर कुछ देखा जाना। वह बोला—'वायूजी! क्यों जर्मिन्दा करने हैं—गम्भीर भी वाल-वच्चेवाले हैं। आपकी चीज़ आपसों हीन-कर मुझे जो आनन्द मिल रहा है, वह जिसी भी इनामसे ज्यादा है। आपसे मेरे जाप वाले उपकार किया, जो यहाँ लौटकर आ गये और मैंग नौज जाग किया, नहीं तो न जाने में काश-कांडों आपजो गोलता किरता।' देखा आपसे, सदाचारका यह एक अद्यतन उदाहरण। यह ही भारतमें एक देख्यार्दियोंकी सदाचारिता जो उल्लेख्य ही नहीं, प्रथ्युत अनुकरणीय भी है।

(३) स्थान—इटारी—सुप्रसिद्ध रोम नमस्का एक सार्वजनिक दर्शान। मैं एक बैचपर बैठकर एक पुस्तक पढ़ रहा था, तो मैं गम्भीर लिया—'—मित्रावद्यों तो

गया और पठित सामग्रीपर विचार करता हुआ बैंचसे उठकर चल दिया—हाथमे बंद किताब थी और मस्तिष्कमें थे घुमड़ते हुए विचार। उदानसे न जाने कव बाहर निकल आया। पर विचारधारा बराबर चल रही थी। इनमें तेजीसे दौड़ती हुई एक महिला यकायक मेरे पास आकर रुक गयी। मेरा ध्यान टूटा। देखा तो वह महिला मेरे पास खड़ी थी और उसके हाथमें मेरा बैग था, जिसमें मेरा पासपोर्ट, टैब्लर चेक तथा कुछ विदेशी नोट थे। जेबके बटुएमें तो कुछ थोड़ा-सा ही पैसा था। मैंने उस महिलाकी ओर देखा और उसने—‘आपका बैग’ कहकर उसे मेरी ओर बढ़ा दिया। अब स्थिति साफ हुई, अपना बैग तो मैं बैंचपर ही भूल आया था—कैसी भारी गलती! मेरे पास कृतज्ञता-प्रकाशनके लिये शब्द न थे। विदेशमें पासपोर्ट परमावश्यक वस्तु है और साथ ही वह सीमित विदेशी मुद्रा जिनपर मेरा सब कुछ आधृत था। एक प्रकारसे उस महिलाका यह कार्य मेरे ऊपर परम उपकार था, अन्यथा मुझे बड़ी कठिनाई होती। यह है सदाचारका तीसरा उदाहरण और मेरी भूलकी तीसरी आवृत्ति!*

✓ (४) स्थान—रूस—मास्को नगरका अन्ताराष्ट्रिय पिस्क होटल। बात सन् १९६४ की है। हमारे राष्ट्रपति खर्गीय डॉ० सर्वप्रथमी श्रीराधाकृष्णन् मास्को पवारे थे। खसी नेता और अधिकारियोंको उन्होंने एक भोज दिया था, खाद्यसामग्रीकी अनेक वस्तुएँ—जैसे पापड़, आचार और पान भारतसे पहुँची थीं। उन दिनों मैं भी मास्कोमें था और तत्कालीन भारतीय राजदूत कालमाहवके सौजन्यसे मुझे भी, उस भोजमें शामिल होनेका निमन्त्रण मिला था। भारतीय वेश-भूपासे मैं अपने कमरेसे होटल-के खागत-कक्षमें आया, पर न जाने क्या कारण था कि कोई भी टैक्सी उपलब्ध न हो सकी। मैं बाहर

जाकर सड़कपर खड़ा हो गया। थोड़ी ही देरमें एक पुलिसमैन मेरे पास आया और सैल्यूट देकर मेरे मुँहकी ओर देखने लगा। हम लोगोंके पास पारस्परिक अभिव्यक्तिका साधन केवल संकेत थे। मैं खसी नहीं जानता था और पुलिस मैन अप्रेजीसे अनभिज्ञ था। मैंने अपना जेबसे निमन्त्रण-पत्र निकाला और खसी भाषामें लिखा हुआ भाग उसके सामने कर दिया और फिर संकेतोंसे बताया कि मैं वहाँ अविलम्ब पहुँचना चाहता हूँ। घड़ीके माथ्यमसे यह भी स्पष्ट कर दिया कि कुछ ही मिनट बाकी हैं। मैंने किसी प्रकार इस बातकी भी सूचना दे दी कि होटलसे टेलिफोन करनेपर भी टैक्सी नहीं मिली। अब वह सड़ककी ओर देखने लगा। दो-एक कारे निकल गयीं। जब एक अन्य कार आयी तो पुलिसमैनने अपना डंडा सड़कपर टेक दिया। गाड़ी खड़ी हो गयी और खसी भाषामें बातें कर उसने मुझे उसमे बैठा दिया। कार द्रुतगतिसे गतव्यकी ओर बढ़ी और एक विशाल भवनके सामने, जहाँ अनेक कारें थीं, खड़ी हो गयी। मैंने धन्यवाद देते हुए अपना बटुआ निकाला। नकारात्मक संकेत बहुत आसान होता है—उसने किसी भी पेमेंटके लिये संकेतसे मना कर दिया और सलामकर तेजीसे लैट गया। अब दोनोंका आचरण देखिये—रूसके पुलिस-मैन और मोटरकारवाले दोनों ही सज्ज सदाशयताके आचरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

५—जापान—विश्व-विश्रुत टोकियोका ‘न्यू ओतानी’ होटल। तृतीय विश्वधनिविज्ञान-परिषद्ग्रमे प्रमुख वक्ताके रूपमें आमन्त्रित था। भाषण तो हो गया, पर तबीयत बहुत खराब हो गयी, सम्भवतः जलवायुका भारी परिवर्तन कारण था। रातमें तनिक भी नींद नहीं आयी, बदन बुरी तरह टूटता रहा और

* यह मेरी प्रथम विदेश-यात्रा थी और तबसे मैं पासपोर्ट तथा विदेशी द्रव्यका बड़ा भाग अपने कोटकी भीतरी जेबमें रखता हूँ और विदेश जानेवाले अपने पाठकोंको भी यही परामर्श देता हूँ।—ले०।

ज्वरकान्सा आभास होने लगा। आगे दिन एक सेकंडनल मीटिंगका सभापतित्व था—किसी तरह उस उत्तरदायिकका भी निर्वाह किया। पर जब लौटा, तब काफी ज्वर था, हाथ-पैर शक्तिहीन प्रतीत हुए, सारे शरीरमें बेटना और भयंकर बंचेनी थी। बुल्ड घी देरमें टेलीफोनकी बंटी बजी और समाचार मिला कि कोई कुमारी कीयोको नाकाम्भा मुझसे मिलना चाहती है। मैंने सूचित किया कि लाउँजमें तो आ नहीं सकता, तबीयत बहुत खराब है, यदि वे मेरे कमरमें आनेकी कृपा करें तो लेटे-लेटे कुछ बातें कर सकेंगा। थोड़ी देर बाद ही दख्खाजेपर दस्तक (खट्टगुटानेका अन्दर) उन्नायी दिया। किसी प्रकार कमडे ठीक किये और दख्खाजा ग्वोला। एक महिला मेरे सामने खड़ी थी। सौभाग्यसे वे अंग्रेजी जानती थीं। वैसे भी जापानमें सभी शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजीका अभ्यास रखते हैं। उन्होंने मुझे लेट जानेको कहा और कम्बलको ठीक तरह थोड़ा दिया। आपनी कुछ भी बातें न करके उन्होंने मेरी तबीयतके बारेमें पूरी जानकारी की और वहाँसे डाक्टरको टेलीफोन किया, मुझे दम-दिलासा दिलाया और इधर-उधरकी सामान्य बातें कीं। मैंने उनसे आनेका मन्तव्य पूछा तो उत्तर केवल यही मिला—‘आप ठीक हो जायेंगे तो बताऊंगी।’ डाक्टर आये, कुछ दबा आडिकी व्यवस्था हुई और थोड़ी देर बाद ‘मुनक्कद’ (गुडनाइट) कहकर वे चली गयीं।

आगे दिन प्रातः वे महिला पुनः आयी—दबा, जलपान आडिकी सारी व्यवस्था कर चली गयीं। तीसरे पहर उनके पुनः दर्शन हुए—अब मैं अपेक्षाकृत थीं। वे कुछ देर बैठी और कहा—‘आप किसी कायानोको तो जानते ही होंगे, मैं उनकी चचेरी बहन हूँ। उन्होंने मुझे लिखा था कि आप यहाँ आ रहे हैं, मैं आपकी देखभाल करूँ। मैंने कह छोटलोंमें पता लगाया और अन्त में न्यू योलंडीनीके पता लगा हि आप यहाँ

हैं। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं किसीके उच्चानुमार आपकी कुछ सेवा कर सकी।’ जापानकी पिछली गत्रामें मेरा किसीसे परिचय हुआ था, अब तो वे अंग्रेजिकाएँ हैं। जब मैंने उनको किसीके परिचयके बारेमें लिखा तो उन्होंने अपनी बहनको उक्त पत्र लिखा। दोनों नहींका यह सदृश्यवहार क्या कभी मुलाया जा सकता है? अनियन्त्रित्वका हमारा सदाचार यद्यां खतः मुखरित है।

६—जर्मनी—म्यून्स्टर नामक नगर। एक विद्व-सम्पेळनमें गया था। भारतीय विद्या-सेमिनारके एक विद्वानमें परिचय हो गया। वे भारतीय थे और उन्होंने मेरी बड़ी मेवा की, जिसमें दोषद्वरको मेरे लिये मेरी रुचिके अनुगम प्रनिर्दिन भोजन बनाना प्रसुप्त था। पर्याप्त अभिज्ञता हो जानेपर मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की कि दृश्यके अभावमें भी मैं हार्लैण्ड डेनमार्क तथा स्वीडेनके कुछ स्थान देखना चाहता हूँ। वे गम्भीर हो गये, पर थोड़े समय बाद बोले—‘हार्लैण्डका प्रबन्ध तो हो जायगा, डेनमार्क और स्वीडेनके लिये हवाई टिकट रिस्ट (पर्याप्तिवर्तनीय) कर लेने।’ मैं संतुष्ट नहीं हुआ, पुनः पूछा—‘कैसे?’ उन्होंने कहा ‘मेरी परिचित एक जर्मन महिला है, यदि मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आपको हार्लैण्डके कुछ स्थान दिखा दें तो मैं समझता हूँ। वे अस्वीकार नहीं करेंगी। टिकटको ‘रिस्ट’ करानेमें कुछ अविक पैसे लांगें सो मेरे पास तो व्यवस्था है नहीं, मैं अपने एक मित्रसे कहकर आपका प्रबन्ध करा दूँगा और कुछ दिनों बाद उनका पैसा चुका दूँगा तथा यह रूपया आपसे आपके सुविधानुसार ले देंगा। आप चिन्ता न करें।’ और हुआ भी यही। तीसरे ही दिन एक जर्मन महिला अपनी मोटरकारसे हार्लैण्डके नगर दिखा रही थीं—यूट्रेस्ट, ऑमस्टरडम, रॉटरडम तथा डनहाग। उधर मेरा इसलॉडर्स—दिल्लीका टिकट भी बोधेनहानेत ताह राज्यहोम्प हेतुर ‘रिस्ट’ हो चुका था। इस

दोनोंसे उपकृत होकर मैंने अत्यन्त संतोषका अनुभव किया और उन भारतीय सज्जन तथा जर्मन महिलाका आदर्श उपकार सदाचारका सख्त धारणकर मेरे हृदय-पठलपर सर्वदाके लिये अङ्गित हो गया।

वैसे तो सदाचारका अर्थ प्रायः सभी समझते हैं, पर सदाचारकी वैज्ञानिक व्याख्या इतनी दुःसाध्य है, जितना पाप-पुण्यका निर्णय करना; क्योंकि देश-काल और परिस्थितिसे भी सदाचारका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यवहार किसी देश, काल या परिस्थितिविशेषमें सदाचार होता है, वह अन्यमें अन्यथा भी हो सकता है। भारतीय सदाचारका विश्लेषण तो और भी कठिन है, क्योंकि वह 'अच्छे व्यवहार'से ऊपर उठकर कुछ और विशिष्टता रखता है। वस्तुतः सदाचारका आधार-खाम प्रकृत खस्थ (साधु) मनोवृत्ति है और उसीके अनुख्य सदाचारके दर्शन होते हैं। कभी किसी स्थितिमें किसी अनाचारीको पुलिसके हवाले कर देना सदाचार है तो कभी किसी अवोध-निरीह व्यक्तिको कानूनकी परिधिसे बाहर निकालना भी सदाचार हो सकता है। व्यक्तिविशेषके प्रसङ्गमें भी हमारा एक ही प्रकारका व्यवहार कभी सदाचारकी कोटिमें होता है और कभी दुराचारकी; और, कभी-कभी तो ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हो जाती है कि सदाचारका निर्णय करना कठिन हो जाता है। पर, साधारणतः जिस व्यवहारसे, अपनी किंचित् हानि होकर भी दूसरोका हित होता हो और समाजकी व्यवस्था सुधृ होनेमें सहायता मिलती हो, वैसा व्यवहार सदाचारकी श्रेणीमें ही परिणित होगा। सदाचार जिन्हीं सीमाओंसे परिवृत्त नहीं है—प्रत्येक देश, काल, धर्म, वर्ग, स्थितिमें सदाचारण करनेवाले हो सकते हैं और इसके विपरीत भी। इसी बातको ध्यानमें रखकर ऊपर विभिन्न स्तरोंके उदाहरण दिये गये हैं।

हमारे विचारसे शुद्ध 'सदाचार'के मूलमें त्याग तथा उपकार लादिकी परिव्र भावनाएँ निहित होती हैं और हमें देश-विदेशकी लम्बी यात्राओं एवं प्रवासमें इस प्रकारके अनेक अनुभव हुए हैं। दिल्लीदेश उद्यार्थमें जहाँ लेख-क्रिप्ताका अमाव दै, वहाँ एक खस्थ, सामाजिक व्यवस्था भी परिवर्तित होती है। जयपुरका हाइवर धनाधार-की कल्पनासे ही अतिकृत है और किसी पर-दब्यको अपने उपयोगमें लेला पाप समझता है। रुसकी महिलामें उपकारकी भावना और एक विदेशीके प्रति उदारता एवं कर्तव्यनिष्ठाका पता लगता है। मास्कोका पुलिसमैन अपने कर्तव्य-पालनमें सो रत था ही, एक विदेशीकी सहायता करना उसकी सदाशयता भी है और कार-इश्वर अपने समय और धरेशानीका ध्याल न कर त्याग और उपकारका लदाहरण प्रस्तुत करता है।

टोकियोकी महिलामें जहाँ एक कोमल सदय नारी-हृदय है, वहाँ उसकी वहनके शब्दोंमें श्रद्धा एवं त्नेह तथा एक विदेशी (वन्धु)के प्रति सेवाकी भावना है। उनकी निःस्वार्थ भावसे उपयुक्त परिचर्याद्वारा मुझे स्वास्थ्यलभ कराना परोपकार एवं सेवाका उल्कट उदाहरण है। इसी प्रकार म्यूंस्ट्रके भारतीय सज्जन विना किसी निजी लाभके एक अपने भाई (स्वदेशी वन्धु)का उपकार करने तथा उसकी इच्छापूर्तिके लिये दूसरोकी मदद लेते हैं तथा जर्मन महिला, अनायास ही प्रकृत व्यक्तिविशेषी देश-दर्शन-इच्छाको पूरा करनेमें अपनी अपार उदारताका परिचय देती हैं। दोनों ही सदाचारसे प्रेरित होकर कार्यालय होते हैं और उपकृत व्यक्तिके हृदयस्थलपर अमिट छाप छोड़ते हैं। मेरा अनुमान है कि वसुंधरामें त्यागी-उपकारी मनोवृत्तिवाले सदाचारी सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और उन्हींके आचरण तथा उदाहरणोपर सामाजिक व्यवस्था सुसम्पादित होती है। सदाचारकी उपयोगिता सबके लिये सर्वत्र—देश-विदेशमें और सदैव है।

ऋग्वेदोऽका उत्तराद्य—अपदिग्द

(लेखक—श्रीवस्त्रेषुणिरावली कुलकर्णी)

‘विष्णुपुराण’में कहा है कि सदाचारके बच्चा दौर निर्देशक हमारे ऋषि ही है। ‘ऋषि कैसे थे’ इसे जाननेके लिये हमें प्रथम ऋषि शब्दकी व्याख्या देखनी होगी। ऋष—गतौ (तुदादि ७) धातुसे ऋषि शब्द बनता है। जो ध्यान द्वारा ईश्वरके पास गया या ईश्वर तपश्चर्या करनेवाले ऋषियोंके पास चला गया, इसलिये वह ‘ऋषति’ इति ‘ऋषिः’से ऋषि कहलाया। ‘अज्ञान है पृथ्वीत्स्तपस्य-दावान् प्रह्ल खमवभ्यानर्थत् त ऋषयोऽभवन् (तैचिरीय अ० २ । ९) ।’ ‘ऋषिर्दर्शनात्—(निश्च) जो धतिन्द्रिय तत्त्व थे, वे भी ईश्वरकृपासे प्रथम ऋषि लोगोंके दृष्टिपथमें आ गये, इसलिये वे ऋषि कहलाते हैं—

उगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् मर्हर्ययः ।
लैभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता खयम्भुवा ॥
(वायुपुराण, अ० २)

यात्वा भी ऐसा ही कहते हैं—‘ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः’ ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा थे। पुराणोंके अनुसार—

ऋषीत्य गतौ धातुः अतौ सत्ये तपस्यथ ।
पतत् संज्ञितं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥
तत्यर्थाद्यतेर्थतोर्नामानिवृत्तिरादिताः ।
वस्त्रादेय खयम्भूतस्तत्साच्च ऋषिता स्मृता ॥
(वायुपुराण २)

‘ऋष् (६ । ७) धातु—गति, गमन-ज्ञान, श्रवण, सत्य और तप—अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चितरूपसे हो, बहाने उसे ही ‘ऋषि’ कहा है। गर्यर्थक ‘ऋष्’—धातुसे ही ऋषि शब्दकी निपत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसकी ऋषि संज्ञा है। कहते हैं, ऋग्वेदके अनुसार ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या लगभग चार सौ है। ‘आश्वलायनगृह्यसूत्र’में ऋषियोंके आये कुछ नाम इस

मत्तार हैं—‘यथा ऋषयः ऋतार्दितो, अव्यवा पूतस्तप्ते, दिश्यमित्रो, षामवेदोऽग्निर्भूत्यज्ञो, धतिः’ ॥। ऋषायाः पाचमान्यः, लक्ष्मज्ञाः मात्रास्त्रज्ञाइते ॥। यर्यात् शतर्चि, माध्यमा, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, मरद्वाज, वसिष्ठ, प्रगाथ—ये मुख्य ऋषि हैं। इन्हीं नामोंके तथा अन्य पाचमान्य, रुद्रसूत और महासूत—ये ऋषियोंके आधारपर ऋग्वेदके मुख्य मण्डल पद्मसूत भी हैं। महाभारतमें मरीचि, अर्णि, अङ्गिरा, पुत्रस्य, पुल्ह, क्रातु और वौसिष्ठ—इन ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंको प्रथम सत्पर्वि कहा गया है। प्रायः ये सभी मन्त्रद्रष्टा फलज्ञानी और तपखी थे। काम-क्लोधादि षड्त्रिपुर्योंपर विजय पानेसे इन ऋषियोंका अन्तःकरण लात्यन्त सुर गा और वे पूर्ण साधु थे। विष्णुपुराण (३ । ११) आदिसे इनके लाचरणोंको सदाचार बतलाया गया है।

पद्मपुराणमें इनकी व्यागपूर्ण सदाचारसम्बन्धी एक कथा आती है, जिसमें कहा गया है कि एकवार ये सत्परि तीर्थस्थानोंका दर्शन करते हुए इस पृथ्वीपर विचर रहे थे। इसी बीच एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ जिसके कारण भूखसे पीड़ित होकर सम्पूर्ण जगत् लोग बड़े काघमें पड़ गये। उसी समय उन ऋषियों भी कष्ट उठाते देख तत्कालीन राजाने, जो प्रजा देख-भालके लिये भ्रमण कर रहे थे, दुःखी होकर कहा—‘मुनिवरो ! ब्राह्मणोंके लिये प्रतिग्रह उत्तम वृत्ति है। अतः आपलोग मुझसे दान प्रहण करें—अच्छे-अच्छे गाँव, धान, जौ आदि अन्न, धृत, दुर्घादि रस, तरह-तरहके रस, सुवर्ण तथा दूध देनेवाली गाँव ले लें।’ तब ऋषियोंने कहा—‘राजन् ! प्रतिग्रह बड़ा भयंकर है। वह खादमें मधुके समान मधुर, किंतु परिणाममें विषके समान धातक है। इस बातको खयं जानते हुए भी हम क्यों हमें लोभमें

डाल रहे हो ? राजाका प्रतिग्रह अत्यन्त घोर है । जो ब्राह्मण लोभसे मोहित होकर राजाका प्रतिग्रह स्वीकार करता है, वह तामिल आदि घोर नरकोंमें पकाया जाता है । अतः महाराज ! तुम अपने धनके साथ ही यहाँसे पधारो, तुम्हारा कल्याण हो । यह दान दूसरोंको देना । यह कहकर सप्तर्षि वनमें चले गये ।

वादमें राजाकी आज्ञासे उसके मन्त्रियोंने गूलरके फलोंमें सोना भरकर उन्हे पृथ्वीपर विखेर दिया । सप्तर्षि अन्नके दाने वीनते हुए वहाँ पहुँचे, तो उन फलोंको भी उन्होंने हाथमें उठाया । उन्हे भारी जानकर सप्तर्षियोंने देखा तो उनके भीतर सोना भरा हुआ था । इसे देखकर वे बोले—‘इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है । जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं । संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो सुखी रह सके । एक ओर अकिञ्चनता और दूसरी ओर राज्यको राज्यपर रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा कुंचनताका ही पलड़ा भारी रहा, इसलिये जितात्मा उके लिये कुछ भी संग्रह न करना ही श्रेष्ठ है ।’ कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंका पालन करनेवाले भी महर्षि उन सुवर्णयुक्त फलोंको छोड़ अन्यत्र लें गये । यह था, इन महर्षियोंका अपरिग्रह-यत्यागपूर्ण जीवन ।

ऋषिप्रणीत सदाचार—उन ऋषियोद्वारा निर्दिष्ट सदाचार बहुत ही विस्तृत है । अतः यहाँ हम विस्तारभयसे गृहस्थोपयोगी ऋषिप्रणीत सदाचारके कुछ अंशोंको

उद्धृत कर इस लेखका उपर्यंहार करते हैं । (१) गृहस्थ पुरुषको नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, वयोवृद्ध, सिद्धगण तथा आचार्यकी पूजा करनी चाहिये और दोनों समय संध्या-वंदन तथा अग्नि-होत्रादि कर्म करने चाहिये । (२) किसीका थोड़ा-सा भी धन हरण न करे और थोड़ा-सा भी अप्रिय भाषण न करे । जो मिथ्या हो, ऐसा प्रिय वचन भी कभी न बोले और न कभी दूसरोंके दोषोंको ही कहे । (—महर्षि और्वा १) (३) गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्चवज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करे । (—देवर्पि नारद ।) (४) सत्य वचनका लोप नहीं करना चाहिये । खर्ग, मोक्ष तथा धर्म—सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित है । जो अपने वचनका लोप करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया । (—महर्षि पुलस्त्य ।) (५) इन्द्रियोंको लोभप्रस्त नहीं बनाना चाहिये । इन्द्रियोंके लोभप्रस्त होनेसे सभी मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं । जिसके वित्तमें संतोष है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है । जिसके पैर जटेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो चमडेसे मढ़ी है; अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये । (—महर्षि गौतम ।) (६) आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके खामी भगवान् विष्णु हैं । अतः जो अपने आश्रमके आचारमें संलग्न है, उसके द्वारा भगवान् श्रीहरि सर्वदा पूजित होते हैं । (—सनक मुनि ।) (७) भगवान्की भक्तिमें तत्पर तथा भगवान् विष्णुके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णश्रीमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पनित कहा जाता है । (—सनकमुनि ।)

सदाचारके प्रतिष्ठापक—ऋषि-महर्षि

(१)

सनकादि कुमार

भाग्योदयेन वहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्घमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥
(श्रीमद्भागवतम् २।७६)

✓ 'अनेक जन्मोंके किये हुए पुण्योंसे जब जीवके सौभाग्यका उदय होता है और वह सत्पुरुषका सङ्ग प्राप्त करता है, तब अज्ञानके मुख्य कारण रूप मोह एवं मदके अन्धकारको नाश करके उसके चित्तमें विवेकके प्रकाशका उदय होता है ।'

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने जैसे ही अपनी रचनाका श्रीगणेश करना चाहा, उनके संकल्प करते ही उनसे चार कुमार उत्पन्न हुए—सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनकुमार । ब्रह्माजीने सहस्र दिव्य वर्पोत्तक तप करके हृदयमें भगवान् शेषशायीका दर्शन पाया था । भगवान् ने ब्रह्माजीको भागवतका मूल-ज्ञान दिया था । इसके पश्चात् ही ब्रह्माजी मानसिक सृष्टिमें लगे थे । ब्रह्माजीका चित्त अत्यन्त पवित्र एवं भगवान् में लगा हुआ था । उस समय सृष्टिकर्त्ताके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुण ही था । फलतः उस समय जो चारों कुमार प्रकट हुए, वे शुद्ध सत्त्वगुणके लिये रूप हुए । उनमें रजोगुण तथा तमोगुण था ही नहीं । अतः उनमें न तो प्रमाद, निदा, आलस्य आदि थे और न सृष्टिके कार्यमें उनकी प्रवृत्ति थी । ब्रह्माजीने उन्हे सृष्टि करनेको कहा तो उन्होंने सृष्टिकर्त्ताकी यह आज्ञा स्वीकार करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की । सच तो यह है कि विश्वमें ज्ञानकी परम्पराको बनाये रखनेके लिये ख्यं भगवान् ने ही इन चारों कुमारोंके रूपमें अवतार धारण

किया था । कुमारोंकी जन्मजात सूचि भगवान् के नाम तथा गुणका वीर्तन करने, भगवान् की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन प्राचन लीलाओंको सुननेमें थी । भगवान् को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं था । ऐसे सहज स्वभावसिद्ध विरक्त भला सृष्टिकार्यमें कैसे लग सकते थे । वे तो सदैव भगवचिन्तनमें ही लगे रहते थे ।

उनके मुखसे निरन्तर 'द्विः शरणम्' यह मङ्गलमय मन्त्र निकलता रहता था । वाणी इसके जपसे कभी विराम लेनी ही नहीं थी । उनका चित्त श्रीहरिमें सदा लगा रहता था । यही कारण है कि उनपर कालका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वे आज भी पाँच वर्षकी अवस्थाके ही बने रहते हैं । भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, निद्रा-आलस्य आदि कोई भी मायाका विकार उनको स्पर्श-तक नहीं कर पाता । कुमारोंका निवासथाम अधिकतर जनलोक है—जहाँ विरक्त, मुक्त, भगवद्वक्त तपस्विजन ही निवास करते हैं, उस लोकमें सभी नियमुक्त हैं । परंतु वहाँ सब-के-सब भगवान् के दिव्यगुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कृष्ट रहते हैं । वहाँ सदा-सर्वदा अखण्ड सत्सङ्ग चलता ही रहता है । किन्हींको भी वक्ता बनाकर वहाँके शेष लोग वड़ी श्रद्धासे उनकी सेवा करके, नम्रतापूर्वक उनसे भगवान् का दिव्य चरित सुनते ही रहते हैं । परंतु सनकादि कुमारोंका तो जीवन ही सत्सङ्ग है । वे तो सत्सङ्गके विना एक क्षण भी रह नहीं सकते । मुखसे भगवन्नामका जप, हृदयमें भगवान् का ध्यान, बुद्धिमें व्यापक भगवत्तत्त्वकी स्थिति, श्रवणोंमें भगवद्गुणानुवाद—वस, यही उनकी सर्वदाकी दिनचर्या है ।

नारों कुमारोंकी गति सभी लोकोंमें अवाध है । वे नित्य पञ्चवर्षीय दिग्म्बर कुमार इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं । पातालमे भगवान् शेषके और कैलासपर भगवान् शङ्करजीके सुखसे भगवान्के गुण एवं चरित सुनते रहनेमें उनकी तृप्ति कभी होती ही नहीं और जनलोकमें किसीको अपनोमेसे भी वक्ता बनाकर वे श्रवण करते रहते हैं । कभी-कभी किसी परम अधिकारी भगवद्गत्पर कृपा करनेके लिये वे पृथ्वीपर भी पवारते हैं । महाराज पृथुको उन्होंने ही तत्त्वज्ञानका उपदेश किया था । देवर्षि नारदजीने भी इन्हीं कुमारोंसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया था । अन्य अनेक महाभाग भी कुमारोंके दर्शनसे एवं उनके उपदेशामृतसे कृतार्थ हुए हैं । भगवान् विष्णुके द्वार-रक्षक जय-विजय कुमारोंका अपमान करनेके कारण वैकुण्ठसे भी च्युत हुए और तीन जन्मोंतक उन्हें आसुरी योनि मिलती रही ।

सनकादि चारों कुमार भक्तिमार्गके सुख्याचार्य हैं । सत्सङ्घके वै मुख्य आराधक हैं; क्योंकि—

सत्संगतिसुद मंगल मूला । सोऽफलसिद्धिभव साधन फूला ॥

श्रवणमे उनकी प्रगाढ निष्ठा है । ज्ञान, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवचरित्र सुननेकी अवाध उत्कण्ठाका आदर्श ही उनका स्वरूप है । उनके उपदेश श्रेयः-सम्पादक एवं सदाचारके प्रतिष्ठापक हैं ।

(२)

ब्रह्मर्षि वसिष्ठका धमा-प्रसन्न

कुशिक-वंशमें उत्पन्न राजर्षि विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने निकले थे । वे अपने राज्यसे दूर महर्षि वसिष्ठके आश्रमके समीप पहुँच गये । वसिष्ठजीने एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार भेजा—‘आप आश्रमके समीप आ गये हैं, अतः मेरा आतिथ्य स्वीकार करो ।’

उपदेश—

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।

सदॄत्तिः समुदाचारः श्रेय पनदनुत्तमम् ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जनि स मुद्यनि ।

नालं स दुःखमोक्षाय सज्जो वै दुःखलक्षणः ॥

(नारदपु० पूर्व० ६० । ४४-४५)

✓ ‘पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके वर्तविको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है । जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है । विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह दुःखसे छुटकारा नहीं ढिला सकता ।’

इसलिये—

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च भत्सरात् ।

विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥

आनुशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं वलम् ।

आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं हि परमं हितम् ॥

(ना० पूर्व० ६० । ४८-४९)

‘मनुष्यको चाहिये कि तपको क्रोधसे, सम्पत्तिको डाहसे, विद्याको मान-अपगानसे और अपनेको प्रमादसे बचावे । कूर सभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है । क्षमा सबसे महान् वल है । आत्मज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है और सत्य ही सबसे बढ़कर हितका साधन है ।’

इस प्रकार सनकुमारोंके उपदेशमें हमें सदाचारकी अनेक अमूल्य शिक्षाएँ और दिशाएँ मिलती हैं ।

अरण्यवासी तपस्वीके लिये राजा असुविदा न उत्पन्न करे, यह समुदाचार है । लेकिन विश्वामित्रने महर्षि वसिष्ठकी प्रशंसा सुनी थी । उनके तपःप्रभावपर विश्वास था । अतः आनिथ्यका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया । उन्हें आश्चर्य तो तब हुआ जब मैनके साथ उनको राजेन्चित सामग्री प्रचुर मात्रामें भोजनको दी-

गयी और वह भी तपशक्ति से नहीं, वसिष्ठ की होम-
वेनु नन्दिनी के प्रभाव से।

‘आप यह गौ मुझे दे दें। बदलें जो चाहें
मुझसे माँग लें।’ विश्वामित्र उस गौ के लिये लालयित
हो गये। चलते समय उन्होंने अपनी यह इच्छा
प्रकट की।

‘ब्राह्मण गो-विक्रय नहीं करता। मैं इस गौ को
नहीं दे सकता।’ ऋषि पर्वत के अस्तीकार कर दिया।
उग्रखभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो उठे। शट उन्होंने
बलपूर्वक गौ को ले चलने की आज्ञा सैनिकों को दी।
लेकिन नन्दिनी साधारण गौ तो थी नहीं। उसकी
हुंकार से शत-शत योद्धा उत्पन्न हो गये। उन्होंने
विश्वामित्र के सैनिकों को मार भगाया।

विश्वामित्र ने वसिष्ठ पर आक्रमण किया। कुश का
ब्रह्मदण्ड लिये वसिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे।
विश्वामित्र के साधारण तथा दिव्य अख सब उस
ब्रह्मदण्ड से टकराकर नष्ट हो गये। विश्वामित्र ने कठोर
तपसे लब्ध दिव्याख चलाये, किंतु वसिष्ठ के
ब्रह्मदण्ड से लगकर वे भी सब-के-सब नष्ट हो गये।

‘ब्रह्मवल ही, श्रेष्ठ है। क्षत्रिय-शक्ति तपसी ब्राह्मण का
कुछ नहीं बिगड़ सकती। अतः मैं इसी जन्म में
ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।’ विश्वामित्र ने यह निश्चय
किया और वे अत्यन्त कठोर तपसे लग गये।

सैकड़ों वर्षों की कठिन तपश्चर्य के पश्चात् ब्रह्माजी प्रसन्न
हुए और प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—‘वसिष्ठ के
स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्पि हो जाओगे।’

महर्पि वसिष्ठ से प्रार्थना करना विश्वामित्र के लिये
वहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब महर्पि वसिष्ठ
मिलते तो इन्हे ‘राजर्पि’ ही कहते। अतः विश्वामित्र
वसिष्ठ के घोर शत्रु हो गये थे। एक राक्षस को प्रेरित
करके उन्होंने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मरवा दिया। ख्यं
वसिष्ठ को अपमानित करने, नीचा दिखानेका अवसर

हुँडने लगे। उनका हृदय वेर तथा हिसाकी प्रबल
भावना से पूर्ण था। यह थी ‘राजर्पि’ कहे जानेवालेकी
कहनेवालेपर नृशंसता। यह ब्रह्मण्यता नहीं थी।

कौशिक ने अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रखा।
बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रबल संकल्प था उनका; दूसरी
सृष्टिक करने में लग गये। अनेक प्राणियों तक का
सृजन कर दिये। विभिन्न अन्नादि वना डाले।
ब्रह्माजी ने ही रोका उन्हें। अन्त में ख्यं शक्ति-सञ्ज
होकर सुनसान रात्रिमें छिपकर वसिष्ठ दो मारने के लिये
निकल पड़े। दिन में प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो वे
अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर
एकान्तमें पल्लीके साथ महर्पि बैठे थे। अरुन्धतीजी ने
कहा—‘कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है?’

वसिष्ठजी बोले—‘ऐसा ही निर्मल तेज आजकल
विश्वामित्र के तपका है।’ वसिष्ठ का निर्मल मन अहिंसा
तथा क्षमा से पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खडे थे। उन्होंने सुना और
उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—‘एकान्तमें पल्लीके
साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रों के हत्यारेकी प्रशंसा
करता है, उस महापुरुष को मारने आया है तू।’
शक्ति नोच फेंके विश्वामित्र ने। दौड़कर महर्पि के चरणों पर
गिर पड़े। योगाचार्य पतञ्जलि ने कहा है कि—

‘अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरस्त्यागः।’

विश्वामित्र के ब्राह्मण होने में उनका दर्प, उनका
द्रेप, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी। वह
आज दूर हुई। महर्पि वसिष्ठ ने उन्हें झुककर उठाते
हुए कहा—‘उठिये ब्रह्मर्पि!’, विश्वामित्र अब ब्राह्मणत्व से
संयुक्त थे। महर्पि वसिष्ठ के उपदेश योगवासिष्ठ, इतिहास-
पुराण, धर्मशास्त्रों में भरे पड़े हैं।

(३)
महर्षि गौतम

प्रस्तुत महर्षि गौतम* वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्णीमें एक ऋषि है। पुराणोमें कथा आती है कि महर्षि दीर्घतमा बृहस्पतिके शापसे जन्मसे अन्वे थे। उनपर स्वर्णकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और उस गौने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। महर्षि गौतम इहाँके पुत्र थे। (महाभा० १ । १०४ । २४)। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजीकी इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई। उन्होने सब जगहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अमूलपूर्व स्त्री बनायी। उसके नखसे शिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हलका अभाव अहल्या है और जिसमें पाप न हो, उसका नाम अहल्या है, लेकिन उस निषापका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या रखा। यह पृथीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री हुई कि सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। इन्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किंतु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्त्रीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी उल्लास्को भला कौन न चाहेगा? उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी धोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—‘यह अहल्या तुम्हे हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेगे।’ ब्रह्माजीकी आशा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रममें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तप्तर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भौति ध्यान रखते। किंतु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

* वैद-पुराणोंमें गोतम और गौतम दो व्यक्ति हैं। शतपथ-ब्राह्मण १ । ४ । १ । १०, शाङ्कूयन आरण्यक ३ । १, गोपथब्राह्मण १ । ३ । ११ बृहदेवता २ । ४६, २ । १२९ आदिमें गोतम रहूणग ऋषि तथा भविष्यपुराण प्रतिर्ग ४ । २१ में कश्यपकुलोत्पन्न गौतमकी कथा है। महाभारतमें शरद्वान् गौतम (१ । १२९ । २), चिरकारी गौतम (१२ । २६६ । ४) आदि अनेक गौतमोंकी भी कथाएँ आयी हैं। इसके अतिरिक्त गौतम, आशणि, गौतम अग्निवेश्य, गौतम हारिद्रुमत् गौतम और गौतम कौशेष आदि भी हुए हैं। बृहदेवता १ । ५९; ४ । १२७, ४ । १३३ आदिमें भी महर्षिगौतम और गौतमकी कथाएँ हैं।

हजारों वर्षोंके बाद ऋषि स्थायं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—‘वस्त्रन्! आप अपनी यह धरोहर ले ले।’ ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्रभावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए, जो महर्षि शतानन्दके नामसे विल्यान हैं, जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे। महर्षि गौतमकी तपस्यासे सम्बद्ध अनेकों आश्रम भारतमें प्रसिद्ध हैं। (द्रष्टव्य—तीर्थाङ्क तथा ‘कल्याण’ वर्ग ४० बाँड़ ६ । पृ० ९९२-९३)

महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा। इनके द्वारा रचित गौतम-सूति, बृह्म-गौतम-सूति (वैष्णवधर्म शास्त्र) तथा गौतम-धर्मसूत्र आदि अनेकों श्रेष्ठ आध्यात्मिक शास्त्र हैं। इनके उपदेशोंमें सारभूत उपदेश कुछ इस प्रकार हैं—

सर्वद्वित्त्वन्दिव्यलोभेन संकटात्यवगाहते ॥
सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥
संतोषाद्युत्तलसानां यत् लुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद् धनलुभ्यानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं लुखम् ।
सुखार्थी पुरुषस्तसात् संतुष्टः सततं भवेत् ॥

(पद्म ० सृष्टि ० १९ । २५८—२६१)

‘इन्द्रियोंके लोभप्रस्त होनेसे सभी मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं। जिसके चित्तमें सत्तोप है, उराके लिये

सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है, जिसके पैर कपड़ेके जूतेमें है, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो कपड़ेसे ढकी है। संतोपस्थिती अमृतसे तृप्त एवं शान्त चित्तवाले पुरुषों-को जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इच्छात्तर

दौड़नेवाले लोगोंको कहाँसे प्राप्त हो सकता है? असंतोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है, अतः मुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये।'

(४)

महर्षि वाल्मीकि और सदाचार

(लेखक—श्रीहरिरामनाथजी)

✓ 'कौन हो तुम लोग ?' रत्नाकरने पूछा। 'हम भी तो वही पूछ रहे हैं। तुम कौन हो ?' यह सप्तर्षियोंने जवाब दिया। रत्नाकर सर्वथा अवाक् रह गये। फिर भी अपनी आनतरिक भावनाओंको दिखाते हुए रत्नाकरने गर्जना की और बोले—'साधुओ ! भूलो मत ! तुम्हें अपनी जान प्यारी हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास हो, उसे नीचे पटककर भागो !'

सप्तर्षियोंने उन्हें समझाते हुए कहा कि 'देखो वेटा ! हमारे पास जो है, उसे तुम्हें देनेके ही लिये हम यहाँ आये हैं। यदि हमारे उपदेशके सामने तुम सिर न झुकाओगे तो तुम्हें नरकमें पड़ना होगा और अपने मानवत्वसे हाथ धोना पड़ेगा। तुम यह छूट-मार क्यों कर रहे हो ? और तुम अपने पेट भरनेके लिये प्रत्येक दिन इतने प्राणियोंकी जो हिंसा कर रहे हो, क्या यह पाप नहीं है ? इससे तुम कैसे सुखी बन सकते हो ? यदि तुम कहो कि मैं इस दुनियामें सुख पा ही रहा हूँ, तो यह बुद्धिमत्ताकी वात नहीं है। ऐसा एक भी आदमी नहीं, जो पेट भरनेके लिये या अन्य प्रलोभनोंमें फँसकर पाप करके अपनेको सुखी समझता हो। विशेष वात यह है कि ऐसे प्राणीके द्वारा जितने प्राणियोंकी हिंसा होती है, वे सब प्राणी मिळकर उसे नरकमें पीड़ा पहुँचाते हैं। कहो तो सही कि तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं है ?'

'महात्माओ ! मैं सर्व-नरक कुछ भी नहीं जानता। यदि ऐसा न करूँ तो जीऊँ कैसे ? मेरा व्यापार-व्यासज्ञ भी कुछ नहीं। मैं अकेले पेट नहीं, वरमें पत्नी है और

लड़के-लड़कियाँ हैं। यदि इन लोगोंके लिये आहारका प्रवन्ध न करूँ तो वह भी पाप ही है ? अतः मैं जो कर सकता, वह कर रहा हूँ।'

'वेटा ! गृहस्थ मनुष्योंको तो अपने भार्या-पुत्रोंके लिये उचित व्यवस्था करनी ही चाहिये, अन्यथा पाप लगता है, यह वात सत्य है ! परंतु वुरी प्रक्रियासे उनके पेट भरनेकी विधि कहीं भी नहीं बतायी गयी। भूखे मरना पड़े तो भी सदाचारको नहीं छोड़ना चाहिये। जिस हालतमें जिस मनुष्यको जिस तरह जिस धर्मका पालन करना चाहिये, हमें पहले इसकी शिक्षा लेनी चाहिये। हम कहते हैं कि पेट भरनेके लिये हम किसीकी धर्मवद्ध सेवा कर सकते हैं। यदि भाव धर्मकी ओर हो तो वह भगवान्‌की ही सेवा होगी, इसमें विल्कुल पाप न लगेगा। इसके प्रतिकूल यदि वुरे काम करोगे तो उसका दुरा फल केवल तुम्हींको प्राप्त होगा।'

'ऐसा नहीं होना चाहिये महाराज ! एक पेटके लिये तो मैं इतना नहीं कर सकता था। मेरे दस पेट हैं और निःसीम कामनाएँ हैं। इन सबके मारे मैं मार-छूट कर रहा हूँ। यदि ये न होते और मैं केवल अकेला होता तो किसी तरह वुरे कर्मोंसे बच सकता। लेकिन इन सबके कारण इतने गहरे दुःखमें आ फँसा हूँ। इसलिये अब जो कुछ पाप-पुण्य सुख-दुःख मिला है, उसके लिये मेरे वे सब घरके लोग भी हित्सेदार हैं। इसी भावनाने मुझे आगे बढ़ाकर, इन हाथोंसे

उनके पेट भरा दिये हैं। इसमें मेरा क्षूर ही क्या है? बताइये!

‘अरे मन्द! ये सब घरके लोग, जो कहनेको तुम्हारे हैं, वे तुम्हारे पापमें कभी भाग न लेंगे। ये सब पूर्वजन्मके कर्मोंके वशीभूत होकर तुम्हारे कर्मोंके कारण तुम्हारे धन लेनेके लिये आ गये हैं। जिन्हें तुम अपने सुख-दुःखोंके हिस्सेदार समझ रहे हो। यदि इसके बारेमें तुम्हें संशय हो तो जाओ और भार्या-पुत्रोंसे पूछ आओ, सभी तुम्हें ज्ञात होगा।’

रत्नाकरकी समझमें भी यह प्रश्न निराला था। घर पहुँचते-ही-पहुँचते उसने आवाज लगायी—‘अरे प्यारे लड़को! ओ पत्नि!! जरा जवाब दो। यह जीवनकी जटिल समस्या है। जैसे तुम लोग मेरे सुखोंसे हिस्से ले रहे हो वैसे ही यदि पाप भोगनेका अवसर, नरक या दुःख आ जायें तो उनमेंसे हिस्से लेगे या नहीं?’

सब लोगोंने जोरसे कहा—‘तुम्हारे पापोंके हिस्सेदार हम नहीं होगे! नहीं होंगे!! नहीं होंगे!!!’

रत्नाकर तो ठीकसे सुन भी न पाया, उसके हृदयमें वेदनाकी अन्तर्लहरें उठीं। हाय! इतने कृतज्ञोंको, मित्र दीखनेवाले शत्रुओंको इतने दिनोतक मैने अपना समझ रखवा, धिकार है मेरे जीवनको! इन तन, धन एवं जीवनोंको जिनमें लगाना चाहिये था, उनमें नहीं लगा सका। कोई बात नहीं। अब वही होगा। झट उन्हें कर्तव्यताकी झल्क हुई। झरीकी तरह वह उठी, उनकी अन्तरात्मा वहाँ जाकर रुकी, जहाँ सत्पर्मियोंका पादरूपी किनारा था। जो सच्चे सुमुक्षु हैं, उनके लिये कहाँ संसार-बन्धन?

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत् सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पत्तिते जन्तौ मातुः प्रसवितः स्तनौ॥

(हितोपदेश १। १८२)

‘हे अज्ञानव! पेट भरनेके लिये किसी व्यवसायार्थ ज्यादा कोशिश मत करो। क्योंकि वह विधाताद्वारा पहले ही बना दिया गया है। देखो, केवल मनुष्योंमें ही नहीं, पशुओंमें भी नवजात शिशुओंके लिये स्तनोंसे अखण्ड क्षीरधारा निकल रही है। बताओ कि उसका प्रबन्धकर्ता कौन है?’

‘रत्नाकरके उद्धारके लिये क्या करना चाहिये?’ सप्तर्षि सोचने लगे। इसके उद्धारका सर्वोक्तुष्ट मार्ग यही होगा कि यह सदाचारोंको अपनाये। कर्म किये बिना बन्धन नहीं छूटता और मालिन्य नहीं मिटता। बात यह है कि मनुष्यसे कर्म किये बिना एक क्षण भी चुपचाप नहीं बैठा जाता। मनुष्यका स्वभाव है कि वह कर्मोंमें ही लगा रहता है। जबतक मन एवं इन्द्रियोंका लगाव या झुकाव प्रकृतिकी ओर है तबतक वह प्राकृत कर्म करता रहता है, जिनसे बारंबार प्रकृतिमें आना पड़ता है। प्राकृत बुद्धिके लिये प्राकृत कर्म ही चाहिये और मनुष्यकी उन्नतिके लिये उन्हींमें थोड़ी-थोड़ी अप्राकृतकी स्फूर्ति चाहिये। इसलिये वेदोंने नाना प्रकारके धर्मोंके आचरणकी विधि बतायी है, महापुरुष कुछ धर्मोंका उद्घाटन करते हैं और वंशपरम्परागत कुछ धर्म चले आते हैं, जो सब-के-सब अनुकरणीय हैं। उन्हींके नाम सदाचार हैं।’

रत्नाकरके हृदयमें अब असह्य वेदना थी। उस वेदनाके लिये ऐसे सदाचार या धर्मकी आवश्यकता थी, जिसकी मुहर मनपर तुरंत लग जाय। एक बात और यह कि रत्नाकर अब कर्मोंके पीछे पड़ने लायक नहीं थे, उतनी चरम सीमातक उनके दुराचारोंकी पहुँच हुई। यदि वे धर्म-कर्मोंको आचरणमें उतारें तो भी वे उनको उतना शीघ्र कृतकृत्य नहीं बना सकते। इसीसे जो धर्म-कर्मोंमें लगकर सिद्ध

हुए हैं, वे ही सप्तर्षि मण्डली स्वेच्छासे उनके यहाँ पधारे। सबका जीवन रत्नाकरकी ही तरह परिवर्तित हो और सब लोगोंको सप्तर्षियोंके जैसे आचार्य मिलें, जिनके सदाचारोंके द्वारा इन दुराचारियोंका देखते-ही-देखते उद्धार हो जाता है। वास्तवमें असली सदाचार वे ही हैं, जो दुराचारियोंको तुरंत समुरुप बना दिखाये और सभी संकटपूर्ण परिस्थितियोंमें भी करनेमें आसान प्रतीत हो। हमारे वेद-शास्त्र ऐसे नहीं हैं, जो कठिन बातको बताकर हमें उसे करनेन दें और नरकमें पटक दें।

सदाचारकी अनुभवपूर्ण सर्वोत्तम परिभाषा ईश्वर-प्रेम है; क्योंकि जो ईश्वरसे मिला दे, वही सर्वोत्तम सदाचार है, उसके मिलनेपर जो संसधाराका प्राकृत्य होता है, वही प्रेमका विलक्षण दिव्यानुभव बन जाता है। तब प्रेम और प्रेमी दो नहीं रहते। वस एक प्रेम ही बच रहता है। प्रेम ही अन्तःकरण और बहिष्करण —सबके रूपमें दर्शन देगा।

जबतक अधर्म नहीं मिटेगा, तबतक धर्मकी बहुत आवश्यकता है। जबतक असत्य नहीं छूटेगा, तबतक सत्यकी बहुत आवश्यकता है। जबतक दुराचार नहीं मिटेंगे, तबतक सदाचारोंकी बहुत आवश्यकता है। यदि सदाचारोंके स्तम्भ नहीं हो, तो मानव किस सहारे ऊपर उठेगा? अवश्य नीचे गिर ही जायगा। सदाचार ही प्रेमको जन्म देनेवाला है। इसी प्रेममें प्रेमी भगवान्-जैसे दिव्य-तत्त्वको प्राप्त करता है। इसीलिये प्रेमीमें वही फल शीघ्र ही पूर्णरूपसे और कुछ भी प्रयासके बिना तत्काल जर्वर्दस्तीसे आ जाता है, जो फल सदाचारोंके द्वारा मिल जाता है। इनमें प्रेम भावप्रधान है तो सदाचार क्रियाप्रधान हैं। आवश्यकता दोनोंकी ही है, पर मात्रामें अन्तर है।

ऋषियोंने सोचा—‘सदाचारोंके द्वारा दुर्भविनाओंके बीज नहीं मर जाते। केवल वाहास्तरूप ही नष्ट होते

हैं। इसलिये दुर्भविनाएँ फिरसे अवश्य रौंदा होंगी। यदि पापी अपने पापका प्रायश्चित्त कर ले तो उसे नरकका दुःख नहीं, भोगना पड़ता। लेकिन फिरसे पापकी भावना पैदा हो सकती है। इसका मूल भी मिटे इसके लिये भक्तिकी नितान्त आवश्यकता है। संसार-बन्धन व्याधिकी तरह चुम्बनेवाला है। सदाचार उस दुःखसे हमें केवल मुक्त करते हैं। जैसे व्याधि आ गयी, दवाइयाँ ली गयीं और रोग या दुःख मिट गया। लेकिन ठीकसे आहार-गिहारका यदि कुछ कालतक प्रबन्ध न किया जाय तो :याधि फिरसे सिर उठायेगी। यह तो अवाञ्छनीय है। यदि दुःख न मिलना हो और आनन्द या रस ही चाहिये तो रस-स्वरूप भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिये और रसमयी भक्तिको पकड़ लेना चाहिये।

इस भक्तिके पाँच अवश्य हैं, वे ये हैं—उन प्रभुके १—नाम, २—रूप, ३—गुण, ४—लीला और ५—धाम। उनमें भी भगवान् और नाममें कुछ भी अन्तर नहीं। बल्कि नामसे नामी शीघ्र ही हमारी पकड़में आते हैं। उसमें भी समयके अनुसार विशेष फल है—

कृते यद्दशभिर्वर्षैः त्रेतायां हायनेन यत् ।
डापरे यच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ ॥

(स्कन्दपुराण)

‘नाम-संकीर्तन अथवा स्मरणका कृशुगमे दस वर्षोंसे, त्रेतायुगमें छः महीनोंसे और द्वापरमें एक माससे जो फल मिलता है, वही कलियुगमें एवं दिन और एक रातसे हमें प्राप्त हो जाता है।’ क्रमः १ः पहलेसे नाम, रूप, गुण, लीला और धामोंपर विश्वास जमाकर, उसे आचरणमें व्यक्त करनेका सदाचार ही हमारे लिये विलकुल अभीसे जीवनभर जीवन बनानेके योग्य है।’

अब सब कुछ सोच-समझकर सप्तर्षीयोंने गर्जना की कि रत्नाकर! उठो!! पैर छोड़ो!!! (रत्नाकरके हृदयमें

उलटे हुए रामनामामृतको सदाके लिये डालकर, अपनी राह पकड़े चलते वने ।

रत्नाकरने मानो रामनामके प्रभावको सिद्ध करनेके ही लिये इतने पाप किये थे । वास्तवमें वे पाप भी न थे । भगवान्‌की इच्छासे वनी हुई पावन लीलाएं

थीं । तभी तो हम आजतक उन्हे पढ़ रहे हैं । रत्नाकर वडे चावसे रामनामामृतको चाठने लगे । फलतः उनका पुराना जीवन समाप्त हो गया और पाञ्चभौतिक शरीर विल्कुल नष्ट हो गया । नामामृतके नये शरीरसे वे वल्मीकिसे लोगोंके सम्मुख प्रकट हुए । तबसे उनका नाम हुआ महर्षि वाल्मीकि !

(५)

भगवान् वेदव्यास

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरथोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययत्मा सम्प्रसीदति ॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । ६)

‘इन्द्रियातीत परम पुरुष भगवान्‌मे वह निष्काम एवं निर्बाध भक्ति हो, जिसके द्वारा वे आत्मस्वरूप सर्वेश्वर प्रसन्न होते हैं—यही पुरुषका परम धर्म है ।’

कलियुगमे अल्प सत्त्व, थोड़ी आशु तथा वहुत क्षीण बुद्धिके लोग होंगे । वे सम्पूर्ण वेदोंको स्मरण नहीं रख सकेंगे । वैदिक अनुष्ठानो एवं यज्ञोंके द्वारा आत्म-कल्याण-कर लेना कलियुगमे असम्भवप्राय हो जायगा—यह बात सर्वज्ञ दयामय भगवान्‌से छिपी न थी । जीवोंके कल्याणके लिये ये द्वापरके अन्तमे महर्षि वसिष्ठके प्रपौत्र, शक्तिऋषिके पौत्र और श्रीपराशरमुनिके अंशसे सत्यवतीमे प्रकट हुए । व्यासजीका जन्म द्वीपमे हुआ, इससे उनका नाम द्वैपायन हुआ, उनके शरीरका वर्ण श्याम है, अतः वे कृष्णद्वैपायन हैं और वेदोंका विभाग करनेसे वेदव्यास भी कहे जाते हैं । महर्षि कृष्णद्वैपायनके रूपमें भगवान्‌का यह अवतार कलियुगके प्राणियोंको शाखीय ज्ञान सुलभ करानेके लिये हुआ था ।

भगवान् व्यास प्रकट होते ही माताकी आज्ञा लेकर तप करने चले गये । उन्होंने हिमालयकी गोदमे भगवान् नर-नारायणकी तपोभूमि वदरीवनके शम्याप्रासमे अपना आश्रम बनाया । यज्ञकी संपूर्तिके लिये उन्होंने वेदोंको चार भागोंमे

विभक्त किया । अर्थर्थ, होता, उद्गाना एवं ब्रह्म—यज्ञके इन चार ऋत्विक्-कर्म करानेवालोंके लिये उनके उपयोगमे आनेवाले मन्त्रोंका पृथक्-पृथक् वर्गांकरण कर दिया । इस प्रकार वेद चार भागोंमे विभक्त हो गया ।

भगवान् व्यासने देखा कि वेदोंके पठन-पाठनका अधिकार तो केवल कुछ ही श्रेष्ठ लोगोंतक—द्विजातिके पुरुषोंको ही है । किंतु स्थिरतया अन्य लोगोंका भी उद्धार होना चाहिये—उन्हे भी धर्मका ज्ञान होना चाहिये । इसलिये उन्होंने महाभारतकी रचना की । व्यासजीने वेदोंके सारभूत इतिहासके नाना आल्यानोद्वारा धर्मके सभी अङ्गोंका इसमे वडे सरल ढगसे वर्णन किया है । सदाचारका तो वह मानो विश्वकोश ही है । अनुगासन और शान्तिपर्वमे सदाचारका विशिष्ट विवेचन किया गया है ।

भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीकी महिमा अगाध है । सारे संसारका ज्ञान उन्होंके ज्ञानसे प्रकाशित है । सब व्यासदेवकी जूँठन है । वेदव्यासजी ज्ञानके असीम और अनन्त समुद्र हैं, भक्तिके परम आदरणीय आचार्य हैं । विद्वत्ताकी पराकाष्ठा हैं, कवित्वकी सीमा हैं । संसारके समस्त पदार्थ मानो व्यासजीकी कल्पनाके ही मूर्तरूप हैं । जो कुछ तीनों लोकोंमे देखने-सुननेको और समझनेको मिलता है, वह सब व्यासजीके हृदयमे था । इससे परे जो कुछ है, वह भी व्यासजीके अन्तस्तलमे था । व्यासजीके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त

जगत् का और उसके ज्ञानका प्रकाश और अवलम्बन है। व्यासजीके सदृश महापुरुष जगत् के उपलब्ध इतिहासमे दूसरा नहीं मिलता। जगत् की संस्कृतिने अव्रतक भगवान् व्यासके समान पुरुष उत्पन्न ही नहीं किया। व्यास व्यास ही हैं।

व्यासजी सम्पूर्ण संसारके परम गुरु हैं। प्राणियोंको परमार्थका मार्ग दिखानेके लिये ही उनका अवतार है। उन सर्वज्ञ करुणासागरने ब्रह्मसूत्रका निर्माण करके तत्त्वज्ञानको व्यवस्थित किया। जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं, वे ब्रह्मसूत्रको प्रमाण मानकर उसके व्याख्यानोंपर ही आधृत हैं। परंतु तत्त्वज्ञानके अधिकारी संसारमे थोड़े ही होते हैं। सामान्य समाज तो भाव-प्रधान होता है और सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान भी हृदयमे तभी स्थिर होता है, जब उपासनाके द्वारा हृदय शुद्ध हो जाय। किंतु उपासना अधिकारके अनुसार होती है। अपनी रुचिके अनुसार ही आराधनामें प्रवृत्ति होती है। भगवान् व्यासने अनादिपुराणोंकी आराधनाकी पुष्टिके लिये पुनः रचना की। एक ही तत्त्वकी जो चिन्मय अनन्त लीलाएँ हैं, उन्हे इस प्रकार पुराणमें संकलित किया गया, जिससे सभी लोग अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुकूल साधन प्राप्त कर सकें। तात्त्विक लीलाओंको सँवारनेकी उनकी पौराणिक कला अद्वितीय है।

वेदोका विभाजन एवं महाभारतका निर्माण करके भी भगवान् व्यासका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ था। वे सरस्वतीके तटपर खिन्न बैठे थे। उन्हे स्पष्ट भान हो रहा था कि उनका कार्य अभी अधूरा ही है। प्राणियों-की प्रवृत्ति कलियुगमे न तो वैदिक कर्म तथा यज्ञादिमे रहेगी और न वे धर्मका ही सम्पूर्ण आचरण करेगे। किंतु उन्हे सदाचारका प्रचार अभीष्ट था। धर्मचरणका परम फल मोक्ष कलियुगी प्राणियोंको सुगमतासे प्राप्त हो, ऐसा कुछ हुआ नहीं था। व्यासजी अनन्त करुणा-

सागर हैं। जीवोंकी कल्याण-कामनासे ही वे अत्यन्त चिन्तित थे। उसी समय देवर्पि नारदजी वहाँ पधारे। देवर्पिने चिन्ताका कारण पूछा और फिर श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। देवर्पिके चले जानेपर भगवान् व्यासने श्री-मद्भागवतको अठारह सहस्र श्लोकोंमे अभिव्यञ्जित किया।

जीवका परम कल्याण भगवान्‌के श्रीचरणोंमें चित्तको लगा देनेमे ही है। सभी धर्मोंका यही परम फल है कि उनके सदाचारग्रसे भगवान्‌के गुण, नाम, लीलाके प्रति हृदयमें अनुरक्षि हो। व्यासजीने समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये पुराणोंमें भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका अधिकारभेदके समस्त दृष्टिकोणोंसे वर्णन किया। भगवान् व्यास अमर है, नित्य है। वे उपासनाके सभी मार्गोंके आचार्य हैं और अपने संकल्पसे वे सभी परमार्थके साधकोंकी निष्ठाका पोत्रण करते रहते हैं। जगत् के प्राणियोंके कल्याणहेतु सदाचारण-सम्बन्धी उनके कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

सत्य

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानुत्तं ब्रूयादेय धर्मः सन्नातनः ॥
(स्क० पु० ब्रा० ध० मा० ६ । ८८)

‘सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले, प्रिय भी असत्य हो तो न बोले। यह धर्म वेद-शास्त्रों-द्वारा विहित है।’

पाप-व्रजन

अनुनात् परदाराच्च तथाभक्ष्यस्य भक्षणात् ।
अगोत्रधर्मचरणात् क्षिप्रं नश्यति वै कुलम् ॥

(पद्म० स्वर्ग० ५५ । १८)

‘असत्य-भापण, परखी-सङ्घ, अभद्र्यभक्षण तथा अपने कुलधर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे कुलका शीघ्र ही नाश हो जाता है।’

किसीकी निन्दा न करे, मिथ्या कलङ्क न लगाये न चात्मानं प्रशंसेद् वा परनिन्दां तु वर्जयेत् ।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
(पद्म० स्वर्ग० ५५ । ३५)

‘अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे।’ यह सदाचारीके लिये आवश्यक कर्तव्य है।

माता-पिताकी सेवा

पित्रोर्चर्चाथ पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च ।
मित्राद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पञ्च महामध्याः ॥
प्राक् पित्रोर्चर्चया विप्रा यद्भर्म साधयेत्तरः ।
न तत्करुशतैरेव तीर्थयात्रादिभिर्भुवि ॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ते प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥
पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च ।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते ॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत् ॥

(पद्म० सृष्टि० ४७ । ७-११)

‘माता-पिताकी पूजा, पतिकी सेवा, सबके प्रति समान भाव, मित्रोंसे द्रोह न करना और भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना—ये पाँच महायज्ञ हैं। ब्राह्मणो ! पहले माता-पिताकी पूजा करके मनुष्य जिस धर्मका साधन करता है, वह इस पृथ्वीपर सैकड़ो यज्ञो तथा तीर्थयात्रा आदिके द्वारा भी दुर्लभ है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोल्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता सतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये।’ माता-पिताकी सेवा सदाचारीकी दिनचर्या होती है।

(६)

✓ महात्मा विदुर और उनका सदाचारोपदेश

(लेखक—स्वामी श्रीहीरानन्दजी)

भागीरथीके पावन तटपर हस्तिनापुर महाराज धृतराष्ट्रकी राजधानी थी। उसीके सामने गङ्गाके दूसरे तटपर विदुर-कुटी है, जहाँपर महात्मा विदुर अपना साधनामय जीवन विताते हुए निवास करते थे। महात्मा विदुर हस्तिनापुरके विशाल राज्यके महामन्त्री थे। राज्य-कार्य करते हुए भी वे—‘पद्मपत्रमिवाम्भसा’, की उक्तिको चरितार्थ करते थे। महात्मा विदुर वीतराग पुरुष थे। उनके जीवनमें स्वार्थकी गन्व भी न थी। वे निर्भीक, निष्पक्ष, न्यायप्रिय, संत पुरुष थे। उनके ये गुण महात्माकी महत्ताके सत्यस्वरूप थे। ऐसे ही वीतराग, सत्यव्रती, स्पष्टवक्ता महापुरुष मन्त्री और उपदेशक होनेके अधिकारी हैं। राज्याश्रित होकर राजाके सम्मुख निःशङ्कमात्रसे उनके दोप-गुणोंका वर्णन करना विदुरजीकी नीति-ग्रौढताका परिचायक है, जिनमें स्वार्थ और भयकी गन्धतक भी न थी। वे

सदा कर्तव्यकी परिदिसे परिवेष्टित रहे। उनकी नीतिके तत्त्वोंमें व्यक्तिके प्रारम्भिक जीवनसे अन्तिम अवस्थातकका व्यावहारिक कर्तव्य-ज्ञान निरूपण किया गया है।

महाराजा धृतराष्ट्रको महात्मा विदुरने बड़ी निर्भीकता-से उपदेश करते हुए कहा था कि मधुर-मधुर ठकुर-सुहाती कहनेवालोंकी संसारमें कमी नहीं है, किंतु हित-भावनाओंसे ओत-ग्रोत कटु सत्यके कहनेवाले और शान्तिपूर्वक सुनकर मनन करनेवाले पुरुष संसारमें विरलतासे मिलते हैं। दुर्योगनके जन्मके समय महात्मा विदुरने अपशकुनोंको लक्ष्यकर धृतराष्ट्रसे कहा था कि आप इस पुत्रका त्याग कर दें, इसीमें आपकी भलाई है; अन्यथा आपका यह राज्य नष्ट हो जायगा। नीति भी यही कहती है कि सम्पूर्ण कुलको लिये एक व्यक्तिको त्याग दें, ग्राम-हितके लिये कुलका त्याग कर दें, देशहितके लिये

ग्रामका परित्याग कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे, किंतु पुत्रमोहके कारण भृत्यापूर्वे उनकी सलाह नहीं गानी।

महात्मा विदुरने जब जूआ खेळनेकी बात सुनी तो उन्होंने धृतराष्ट्रको स्पष्टरूपमें भली प्रकार समझा दिया और कहा कि मैं इस कार्यका घोर विरोध करता हूँ। इससे समस्त कुलके विनाशका भय है। युधिष्ठिरके पूछनेपर भी विदुरजीने स्पष्ट ही वह दिया था कि ✓ जूआ अनर्थकी जड़ है। उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया। पर वह तो होनी थी और होकर रही।

जब शकुनिके द्वारा युविष्ठिरके प्रत्येक दाँवपर हार होती रही तो धृतराष्ट्रको विदुरजीने कठोर शब्दोंमें चेतावनी दी कि जैसे मरणासन रोगीको ओपविभ भली नहीं लगती, उसी प्रकार उनकी शाख-सम्मत बात उन्हें कढ़ लगती है। अनेक उदाहरण देते हुए उन्होंने फिर उसी नीतिको दुहराया जिसे कि दुर्योधनके जन्मपर कहा था। विदुरजीसे स्ट होकर दुर्योधनने उन्हें कठोर बातें कहीं; किंतु विदुरजीने उसे चेतावनी देते हुए बतलाया कि जो धर्ममें तत्पर रहकर खामीके प्रिय-अप्रिय वचनोंका विचार छोड़कर हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है।

जब युधिष्ठिर स्वयं अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाकर उसे भी हार गये, तब दुर्योधनको फटकारते हुए महात्मा विदुरने कहा कि देवी द्रौपदी नहीं हारी गयी है। इसलिये दुर्योधनद्वारा दासी सम्बोधित नहीं की जा सकती; क्योंकि जब युविष्ठिर पहले अपनेको हार चुके हैं, तब वे द्रौपदीको दाँवपर वैसे लगा सकते हैं? अपनेको हारकर वे द्रौपदीका अधिकार खो चुके हैं।

जब द्रौपदी दुःशासनद्वारा केश पकड़कर घसीटी जाती हुई सभामें लायी गयी और उसका कोई भी

सहायक नहीं हुआ, तब व्रीहीने भी वही प्रस्तुत समाजदोंके समर्पण रखा, जो विदुरजीने पहले ही कह दिया था। उमका उन्हा जब विदुरीने न दिया, तब विदुरजीने सभागदोंको भवार्देके माय निर्णय देनेसे लक्ष्याग और चेतावनी दी कि जो धर्म हुआ सभामें आकार वर्ती उपस्थित हुए, प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आवेदनका भागी होता है। उन्होंने देवत्यराज प्रह्लाद तथा यिगेचनकी कथा बदलते सब निर्णयके लिये उन्हें उत्तेजित किया। जब यौवनोंने भगवान् श्रीकृष्णको बंदी बनानेकी मन्त्रगा दी, तब विदुरजीने भृत्याष्ट्रको भगवन् कृष्णके महाय तथा वैभवके विप्रमें समझाया और नचेन अत्ये हुए कहा कि श्रीकृष्णका निस्त्वार बननेपर कौन्तकाग उमी प्रकार नष्ट हो जोगे, जैसे आगमें गिरनेवाले पतंग। किन्तु कौरवोंने विदुरजीकी बात नहीं मानी। उन लोगोंने श्रीकृष्णको बंदी बनानेका प्रयास किया। पर श्रीकृष्णने जब अपना वैभव दर्शाया तो सभी राजासद स्वयं रह गये।

भगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुरसे बायस जानेके पथात् विदुरजीने कौरव-सभामें दुर्गोचरण आदिको बहुत प्रकारसे समझाया, तब उनकी बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन, शकुनि तथा दुर्योधनने इनके प्रति बहुतन्से अपशब्द कहे और इनको नगरसे बाहर निवाल जानेका आदेश दिया। महात्मा विदुर धनुर्वरी भी थे। कौरव-पक्षकी ओरसे जब अपनी प्रतिभाका अपमान होते देखा तो धनुरको राजद्वारापर रखकर बनकी ओर चले गये। यह भी उनका उपर्देश ही हुआ। अपमानके स्थानपर रहना या जाना भी उचित नहीं होता।

भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे लौटनेपर युविष्ठिरको वे सब बातें बतायीं, जो विदुरजीने कौरव-सभामें भीष्म-

पितामहको सम्मोऽधित करते हुए दुर्योधनके दुराचरणके विषयमें कही थीं। इस प्रकारसे भगवान्‌ने स्थायं विदुरजी-की निर्भाकिता तथा दुराचार-विरोधका परिचय दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण महात्मा विदुरके सदाचार-नुक्त जीवनसे अति प्रभावित थे; तभी तो दुर्योधनके राजसी भोजन और सकारको त्यागकर विदुरजीकी कुटियापर जा केलेके छिलकोंको प्रेमपूर्वक विविध प्रकारसे सराहना करते हुए ग्रहण किया था। महाभारत-नुस्खमें कौरव-कुलके संहारका प्रमुख कारण महात्मा विदुरका अनादर एवं उनके वचनोंकी अवज्ञा ही है।

(७)

✓ परमज्ञानी श्रीशुकदेवजीकी सत्सङ्गनिष्ठा

शुकदेवजी महर्षि वेदव्यासके पुत्र हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। महर्षि वेदव्यासने यह संकल्प करके कि पृथ्वी, जल, वायु और आकाशकी भौति धैर्यशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो, गौरी-शंकरकी विहारस्थली सुमेरु-गिरिके रमणीय शृङ्गपर घोर तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वैसा ही पुत्र प्राप्त होनेका वर दिया। यद्यपि भगवान्‌के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायन-की इच्छा और दृष्टिमात्रसे कई महापुरुषोंका जन्म हो सकता था और हुआ है तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचारके धारण करने योग्य संतान उत्पन्न करनेके लिये और संसारमें किस प्रकारके संतानकी सृष्टि करनी चाहिये, यह बात वत्तनेके लिये ही उन्होंने तपस्या भी की होगी। शुकदेवकी महिमाका वर्णन करते समय इतना स्मरण हो जाना कि वे वेदव्यासके तपस्याजनित पुत्र हैं, उनके महत्वकी असीमता सामने ला देता है।

उन्होंने एक दिन अपने पिता व्यासदेवके पास आकर वडी नम्रताके साथ मोक्षके सम्बन्धमें बहुत-से प्रश्न किये। उत्तरमें व्यासदेवने वडे ही वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये। उन्होंने कहा—

✓ अबसे लगभग ५२०० वर्ष पूर्व महात्मा विदुरने मानव-मात्रको सदाचारका संदेश दिया था—‘न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः’ (जो कार्य अपने लिये बुरा जान पड़े, वह दूसरोंके लिये कभी न करो)। अवतक अनेकों संतो, महात्माओं, राजनेताओं तथा मनीषियोंने अपने-अपने शब्दोंमें अनेक प्रकारसे इसकी पुनरावृत्ति की है। यह सिद्धान्त आज भी मानवमात्रके लिये शाश्वत धर्म बना हुआ है।

‘वेटा ! धर्मका सेवन करो। यम-नियम तथा दैवी सम्पत्तियोंका आश्रय लो। यह शरीर पानीके बुलबुलेके समान है। आज है तो कल नहीं। क्या पता किसी समय इसका नाश हो जाय। इसमें आसक्त होकर अपने कर्तव्यको नहीं भूलना चाहिये। दिन बीते जा रहे हैं। क्षण-क्षण आयु छोज रही है। एक-एक पलकी गिनती की जा रही है। इसे व्यर्थ बीतने नहीं देना चाहिये।

‘संसारमें वे ही महात्मा सुखी हैं, जिन्होंने वैदिक-मार्गपर चलकर धर्मका सेवन करके परमतत्त्वकी उपलब्धिकी है। उनकी सेवा करो और वास्तविक शान्ति प्राप्त करनेका उपाय जानकर उसपर आरुङ्ग हो जाओ। दुष्टोंकी संगति कभी मत करो। वे पतनके गड्ढमें ढकेल देते हैं। धीरता और धीरता धारणकर काम-क्रोधादि शत्रुओंसे बचो और धीरताके साथ आगे बढ़ो। तुम्हें कोई तुम्हारे मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। परमात्मा तुम्हारा सहायक है। वह तुम्हारी शुभेच्छा और सचाईको जानता है। तुम तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये मिथिलाके नरपति जनकके पास जाओ। वे तुम्हारे संदेहको दूर कर खरूपत्रोध करा देंगे। तुम जिज्ञासु हो, वडी नम्रताके साथ उनके पास जाना। परीक्षाका

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
 तैवाङ्गिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
 रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
 कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
 एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
 आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
 तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
 संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥

(श्रीमद्भा० २।२।४—६)

‘जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तब पलंगके लिये प्रयत्नशील होनेका क्या प्रयोजन । जब मुजारै अपनेको भगवान्की कृपासे स्वयं ही मिली हुई है, तब तकियेकी क्या आवश्यकता । जब अझलिसे काम चल सकता है, तब बहुत-से वर्तन क्यों बढ़ोरे । वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रोकी क्या आवश्यकता ?

(८)

महर्षि पतञ्जलि

✓ महर्षि पतञ्जलि योगके आचार्य थे । वे महर्षि अङ्गिराके बंशज और संहिताकार महर्षि प्राचीनयोगके पुत्र थे । इन्होने अपने पिताके गुरु कौशुमसे ही वेदाव्ययन किया था । उनकी एक सहिता भी थी, जो अब नहीं मिलती । मत्स्य, वायु, लिङ्ग एवं स्फुरन्दपुराणोंमें इनकी चर्चा तथा योगसूत्रोंकी व्याख्या मिलती है । उनके योगसूत्रोंपर अनेक टीकाएँ हैं ।

सांसारिक जीवनसे उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा अनुमान होता है । यही कारण है कि उनके जीवनकी कोई विशेष घटना प्रसिद्ध नहीं है । परतु केवल एकान्तमें रहनेके कारण ही वे विश्वकल्याणके कामसे अलग रहे हों, ऐसी वात नहीं । उनके बनाये हुए ग्रन्थोंसे सारे संसारका जो हितसावन

पहननेको क्या रास्तोंमें चियडे नहीं हैं ? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते ? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं ? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं ? अरे भाई ! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते ? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर धमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं ? इस प्रकार उससे तो समुदाचारका उलझन होता है । अतः विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् है, उन्हींका वडे प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय-पूर्वक भजन करे, क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है । यही सदाचारका महान् फल है ।’

हुआ है और हो रहा है, उसके लिये सभी उनके ऋणी हैं और आगे भी रहेगे ।

चरकसंहिताका*प्रणयन करके उन्होने हमारे स्थूल शरीरके दोपोका निवारण किया और उसमे सांख्योक्त प्रक्रियाका वर्णन करके हमें योगकी ओर आकर्पित किया । व्याकरणके सूत्रोंके विशद विवेचनके द्वारा हमें पद-पदार्थका ज्ञान कराकर उन्होने हमारी वागीको शुद्ध और परिमार्जित किया तथा योगके द्वारा सम्पूर्ण चित्त-मलोंको धोकर अपना स्वरूप पहचाननेके योग्य बनानेका साधन बतलाया । अन्तमें परमार्थसारांके द्वारा हमें अद्वैत तत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया, जो सम्पूर्ण जीवों और उनकी साधनाओंका लक्ष्य है । उनकी कृतज्ञतामें हम उनका स्तवन निम्नाङ्कित श्लोकसे करते हैं—

* ग्रोवकर्ता विद्वानोंके अनुसार पतञ्जलि भी कई हुए हैं । (Catalogue, Catalogue) History of Indian Medicines आदिके अनुसार चरक-संहिताकारसे व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकर्ता भिन्न हैं ।

+ परमार्थसार ग्रन्थमें उसके स्वचित्ताको आदिशेष कहा गया है । ‘पतञ्जलि-चरित’ आदिमें उन्हे शेषका अवतार कहा गया है । इस प्रकार इसकी संगति सम्भव है ।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राज्ञलिरानतोऽसि ॥

(विज्ञान भिक्षुकृत योगवार्तिक १।१)

✓ आचार्य पतञ्जलिने निःश्रेयसकी सिद्धिकी जो साधना पुरकृत की, वह योगशास्त्रके रूपमें हमें उपलब्ध है। योगके विविध अङ्गोंमें 'यम' और 'नियम' सदाचारके मूलाधार हैं—

अहिंसासत्यास्तेयव्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं। और—

शौचसंतोषतपः स्वाध्यानेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये पाँच नियम हैं। इनमें अहिंसा सदाचारकी पहली सीढ़ी है। जिसकी प्रतिष्ठासे निर्वैताकी सिद्धि मिलती है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस योगीके निकट सब्र प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं। निर्वैता सदाचारका प्रमाण प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार शौचाचार सदाचारका मूल है। वाह्य और आन्तर शौचसे परकी असंसक्ति और साङ्गजुगुप्ता होती है; और जब तपके प्रभावसे अद्युद्धिका नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरगुद्धिक्षयात्तपसः ।

ऐसी स्थितिमें सदाचार नैसर्गिक हो जाता है और संतोष-अभाव हो जाता है। संतोष अमृत है; क्योंकि उससे अनुत्तम सुखका लाभ होता है। आचार्य पतञ्जलि कहते हैं—‘संतोषादनुत्तमसुखलभः ।’ अर्थात् संतोषसे ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ होता है, जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है। *

शुभाचार

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्ववावतारय ।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येप सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छ्रेय च यदपायविवर्जितम् ।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरुवः स्थिताः ॥

(योगवाचिष्ठ मु० ५० ७ । १२-१३)

‘अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे (अशुभकर्मसे) हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये, यही सब शास्त्रोंके सारका संग्रह है। जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं है (वही सबसे श्रेष्ठ है) तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, उसीका यत्न-पूर्वक आचरण करना चाहिये—यही ‘गुरुजनोद्घारा उपदिष्ट सदाचार है।’

“ योगमूर्त्रोंको समझनेके लिये योगभाष्य, योगवार्तिक एवं उसकी २० अन्य प्रमुख टीकाओंकी दृष्टि भी अवश्य समझनी चाहिये। उसके अनुसार योगका प्रथम पाद उक्ताय समाहित चित्तके साधकोंके लिये तथा साधनपाद व्युत्थितचित्तवाले सामान्य साधकोंके लिये है—‘उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादिद्येतदारभ्यते। (पात० सू० २ । १ की योगभाष्यभूमिका) योगका यहाँ वास्तविक अर्थ असम्प्रज्ञातयोग या निर्वौज समाधि है, युज्—समाधौ (दिवादि वहिरङ्गसाधन साधकका प्रकृत्या अनुसरण करते हैं।

सदाचार—अतुल महिमान्वित

(लेखक—श्रीअश्विनीकुमारजी श्रीवास्तव 'अनल')

भगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमन्महाभारतकी 'विदुर-
नीति' *में सदाचारका अनुपम महत्व बतलाते हुए सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते' (अध्याय
४, श्लोक २८, २९, ३० तथा ३१वॉं)।

विदुरजी कहते हैं—

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं

नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।

दत्त्वा न पश्चात् कुरुते ऽनुतापं

स कथयते सत्पुरुषपर्यशीलः॥

(२ । ३१)

✓ 'जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखमें
हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता
वह सज्जनोमें सदाचारी कहलाता है ।'

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे भन्ति:।

अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥

(२ । ४१)

'मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका
केवल ऊँचा कुल नहीं मान्य हो सकता; क्योंकि नीचे
कुलमें उत्पन्न मनुष्योंका भी सदाचार श्रेष्ठ ही माना
जाता है ।' विदुरजीका कथन है कि 'सदाचारसे
कुलकी रक्षा होती है' (२ । ३९१) । इस विषयमें
वे चौथे अध्यायमें रपष्ट कहते हैं कि 'गौओं, मनुष्यों तथा
धनसे पूर्ण होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे
अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते । अल्प धनवाले
कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी
गणनामें आते तथा महान् यश प्राप्त करते हैं ।
सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता
और जाता ही रहता है । धन क्षीण हो जानेपर भी
सदाचारी मानव क्षीण नहीं माना जाता, किन्तु जो
सदाचारसे भ्रष्ट हो गया हो उसे तो नष्ट ही समझना
चाहिये—'वृत्ततस्तु हन्तो हतः ।' 'जो कुल सदाचारसे
हीन है वे गौओं, घोड़ों, पशुओं तथा हरी-भरी खेतीसे

सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते' (अध्याय
४, श्लोक २८, २९, ३० तथा ३१वॉं)।

✓ महर्पि पराशरका मत है कि 'आचार चारों ही
वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंका पालन करानेवाला है,
क्योंकि आचारके बिना धर्मका पालन नहीं हो सकता ।
जो मनुष्य आचारभ्रष्ट हैं तथा जिन्होंने वर्माचरण
त्याग दिया है, धर्म उनसे विमुख हो जाता है'
(१ । ३७) । अपने इसी कथनका उदाहरण वे
ग्रन्थके १२वें अध्यायमें यो देते हैं—

अश्चिकार्यात्परिभ्रष्टाः संध्योपासनवर्जिताः।

वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृपलाः स्मृताः॥

(१२ । २९)

'दैनिक अग्निहोत्रसे भ्रष्ट, संध्योपासनादिसे रहित
तथा वेदाध्ययनसे विमुख सभी त्राक्षण शूद्रप्राय हैं ।'
पुण्यश्लोक राजपिं मनु भी कहते हैं कि 'वेदज्ञाता पुरुष
भी आचारभ्रष्ट होनेपर वेदके सम्यक् फलको प्राप्त नहीं
करता । जो आचारसे युक्त है, वही वेदके सम्यक्
फलको प्राप्त करता है ।' तात्पर्य यह कि वेदाध्ययनके
बाद भी सदाचारशून्य द्विज वास्तविक द्विज नहीं है ।

मनु महाराजद्वारा कथित धर्मके चार साक्षात्
लक्षणोंमें सदाचार भी एक है (मनु० २ । १२),
जिसका पालनकर मनुष्य आत्मकल्याण कर सकते
हैं (मनु० २ । ९) । महर्पि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-
प्रणीत पुराणोंमें भी प्रचुरतासे सदाचारकी महिमा वर्णित
है । श्रीमद्भागवतमहापुराणके ७वें स्कन्धके ११
से १५वें अध्यायतक, अध्यात्मरामायणमें अरण्यकाण्डमें
(एवं द्वासरी रामायणोंमें भी) श्रीराम-लक्ष्मण-सवादान्तर्गत,
किञ्चिन्धाकाण्डमें क्रियायोगान्तर्गत तथा उत्तरकाण्डमें
'रामगीता'के अन्तर्गत सदाचारका किञ्चित्

* महाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्वर्ती तृतीय 'प्रजागर-पर्व'के ३३ से ४० तकके ८ अव्यायोंको 'विदुर-नीति' कहते हैं ।

करे, निर्थक ब्रातोंको छोड़ दे, विवेकी पुरुष दूसरेका दिव्य देश आर्यवर्त विश्वका स्तम्भ बना रहा। हमारा तिरस्कार, अपनी बड़ाई, अपने शास्त्रज्ञान, जाति देश भारत बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। किम्पुरुषवर्ष, तथा तपका गर्व न करे (‘कल्याण’ भाग ४८ सं० १२)।

बौद्धधर्मके पञ्चशीलका सिद्धान्त भी सदाचारपर ही आधृत है। इसके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय जैसे सिख, राधाखासी, आर्यसमाजी, लिङ्गायत, आदिमे भी सदाचारकी अपरिहार्यतापर ग्रकाश डाला गया है। हिंदू-धर्मके अतिरिक्त विश्वके अन्य पंथों जैसे यवन, पारसी, ईसाई इत्यादि भी सदाचार-पालनपर जोर देते हैं। इनका उदाहरण विस्तारभयसे देना शक्य नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक संगठन जैसे श्रीरामकृष्ण-मिशन, यियोसोफिकल सोसाइटी, रामतीर्थ-मिशन, अरविन्द सोसाइटी, राष्ट्रीय स्थाय-सेवक-संघ इत्यादि भी सदाचार-पालनको आवश्यक मानते हैं।

यह है हमारा नानापुराणनिगमागमसर्वग्रन्थसम्मत सदाचार। जिसपर चलनेसे सृष्टिसे आजतक यह

दिव्य देश आर्यवर्त विश्वका स्तम्भ बना रहा। हमारा देश भारत बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। किम्पुरुषवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्षादि सास्त पुण्यमय प्रदेशोंसे आवृत, भगवान् शेषशायीके चौबीस पवित्र अवतारोंकी पावन लीलास्थली, सृष्टिका प्रारम्भ क्रीडाङ्गण, सर्वशास्त्रप्रशंसित यह देश सदैवसे विश्वका प्रत्येक विषयोंका प्रत्येक क्षेत्रोंमें नेतृत्व करते हुए ब्रह्मार्पि मनुके इस आज्ञाका पालन कर रहा है कि—‘इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सभी मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करे (मनु० २। २०)। अतः हमे मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बनने, आत्मोद्धार करने, भगवत्कृपा प्राप्त करने, आमिक-पारिवारिक-सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्वका कल्याण करने और कल्याणमार्गका पथिक बनने—‘ॐ स्वस्ति पन्था-मनु चरेम’ (ऋक् ५। ५१। १५)के पालनके लिये मनुप्रोत्त आचरणसे धर्मपालन करते हुए अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, तभी हम अपने पूर्वजोंके

नाम उज्ज्वल कर सकेंगे।

सदाचारसे परम लक्ष्यकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य, साहित्यभूषण)

रीलीजन(Religion)शब्द ‘धर्म’का वास्तविक अर्थ-वोवक नहीं है। लैटिनमें री(Re)का अर्थ है—पुनः या पश्चात् और ligare लीजरका अर्थ है—ले जाना। अर्थात् जो परिवृश्यमान जगत्के पीछे सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी ओर जीवको ले जाय, वह रीलीजन(Religion) है। इधर ‘धृ’ धातुमें ‘मन्’ प्रत्ययके योगसे धर्म होता है। ‘धृ’ अर्थात् धारण करना—जो वारण करे या किया जाय, वही धर्म है। ‘धर्मो धराधारकः’—धर्म ही पृथ्वीका धारक है। वैशेषिकसूत्रके अनुसार—‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।’ जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है, वह धर्म है। अभ्युदयके लिये प्रवृत्ति-

धर्माचरण है। मार्ग और निःश्रेयसके लिये निवृत्तिमार्ग है। तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान-कर्मकी सहायतासे प्रवृत्तिमार्गका पथिक इस लोक और परलोकमें सुखभोग और निवृत्तिमार्ग संसार-मुक्तिको प्राप्त करे, वही धर्म है। इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये एकमात्र अवलम्बन सदाचार है। धर्म भी दो प्रकारका है—सामान्य तथा विशेष। मानव-मात्रके लिये नीतिसम्मत आचरणीय धर्म सामान्य धर्म है और विशेष कालमें विशिष्ट व्यक्तिके लिये आचरणीय कर्म विशेष धर्म है। यहाँ धर्मका अर्थ है और विशेष कालमें विशिष्ट व्यक्तिके लिये आचरणीय कर्म विशेष धर्म है।

अस्तु, पृथ्वीपर प्रचलित सारे धर्मोनि ही सदाचारको अङ्गीकृत किया है। दिव्य जीवनयापनके पश्चपर अग्रसर होनेके लिये सदाचारपालन आवश्यक है। लक्ष्यहीन निकृष्ट जीवन पशुतुल्य है। मनु एवं वसिष्ठने आचारको परमधर्म कहा है। भगवान् बुद्धने भी कहा है कि महान् अष्टमार्गमें मिथ्या कटूक्ति-वर्जन-पूर्वक, सत्य, शिष्ट तथा प्रियकर वाक्यथनका पालन और प्राणि-हत्या, चौर्य, लोभ, हेप-प्रभृतिका वर्जन आवश्यक है। जैन और सिख-धर्मोंमें भी सदाचारकी वातें विशेषरूपसे उल्लिखित हैं। यहूदी धर्ममें ईश्वरके दश आदेशोंमें अहिंसा, सत्य आदि सदाचार-पालनकी वात है। पारसी धर्ममें शौच, साधन, जीवदया, अतिथि-सत्कार आदि सदाचरणका विवान है। इस्लामधर्ममें जीवदया, सत्यकथा, दान-प्रभृति सदाचारकी वात विशेष-रूपसे कही गयी है।

सदाचार-पालनके लिये उल्लिखित वृत्ति-समूहोंमें ऋषियोंने अहिंसा, सत्य, शौच, संयम—इन चारोंका विशेष रूपसे वर्णन किया है। अब यहाँ इनका कुछ परिचय दिया जा रहा है।

अहिंसा—‘हिंसि’ धातुमें निपेधार्थक नज् (‘अ’) समास-के द्वारा अहिंसा शब्द बनता है। इसका अर्थ केवल प्राणि-वध ही नहीं, (साधारणतः हमलोग प्राणिवध नहीं करनेको ही अहिंसा कहते हैं,) वक्ति सभी प्रकारका पर-पीड़न भी है। परपीड़न न करना ही अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, मानसिक, वाचिक। हाथसे प्रहर करना कायिक हिंसा है। मन-ही-मन किसीके प्रति हिंसाभाव रखना मानसिक और वाग्-वाणद्वारा दूसरेके मनमें आघात पहुँचाना वाचिक हिंसा होती है। शास्त्र कहते हैं—मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामुत्पीडनमहिंसा । मन, वाक् या देहसे किसीको पीड़ित न करना ही अहिंसा है।) श्रुति कहती है—‘मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।’ प्राणियो-

की हिंसा मत करो। सर्वभूतान्मवाद ही सनातनधर्मका चरम और परम तत्व है। ‘एक एवं हि भूतान्मा भूते-भूते व्यवस्थितः।’ एक ही आत्मा सब प्राणियोंमें अविद्यित है। इसलिये पीड़क और पीड़ितमें असम्बन्ध कहाँ? अहिंसा महाव्रत इसी अनुभूतिपर प्रतिष्ठित है। महर्पि पतञ्जलि कहते हैं—‘अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।’ (योगसूत्र २। ३३)। चित्तमें अहिंसा प्रतिष्ठित होनेपर सर्प, व्याघ्रादि प्राणी भी स्वाभाविक रूपसे हिंसात्याग करते हैं। यही प्राकृत भागवत-प्रेम है।

सत्य—श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें आता है—‘सत्यं परं धीमहि’ (१। १। १) ‘हम सत्यस्वरूप उसी परमत्रहस्तका ध्यान करते हैं। महात्मा गांधीने कहा है—‘Truth is God !’ सत्य ही भगवान् है। ‘परहितार्थं वाद्यनसो यथार्थत्वं सत्यम्।’ परहितमें वाक् और मनका यथार्थ भाव ही सत्य है। सत्य-भाषण, सत्योपासना सदाचारके प्रधान उपकरण हैं। योगसूत्रके अनुसार ‘सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्’ (योगसूत्र २। ३६)। सत्य-प्रतिष्ठित व्यक्तिको वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। इसके प्रमाण इस युगके चट्ठाँवके साधु वावा ताराचरण हैं। वाराणसीमें साधु वावाके आविर्मावके उत्सवके समय उनके शिष्यके श्रीमुखकी वाणी है कि साधु वावा जो कहते थे, वही यथार्थ होता था। किसी भी व्यक्तिके अतीत, वर्तमान और भविष्यतका चित्रपट उनके सम्मुख यथार्थरूपसे प्रतिमासित होता था। इसका कारण पूछनेपर वावाने कहा था—‘जो कोई व्यक्ति वारह वर्पोतक सत्यवादी रह सके, उसकी प्रत्येक वात यथार्थ होगी। इसमें संदेह नहीं।’

महामहोपाध्याय पद्मनाथ सरस्वती वाग्देवीके वरदपुत्र थे। एक दिनकी घटना है—वे एक छोटे शिशुके साथ अपने कर्मस्थल (Office)से रेलद्वारा अपने घर जा रहे थे। छोटा होनेके कारण शिशुका

टिकट नहीं लिया गया । घर पहुँचकर उसकी जन्मपत्रिका देखी तो शिशुकी अवस्था टिकटकी योग्यतासे एक दिन अविक हो रही थी । फिर क्या था ! तत्क्षण मनीआर्डद्वारा रेलवेको भाड़ा भेज दिया । परमभागवत डॉ० राधागोविन्दनाथकी सत्यनिष्ठाकी वात भी इसी तरह है । कालेजसे निकलनेके बाद उन्हे कुछ दिनोंतक कालेजभवनमें ही रहना पड़ा था । किराया देनेकी इच्छा प्रकट करनेपर कालेज-कमेटीने उसे लेनेमे असहमति प्रकट की, किंतु उन्होने—‘मैं किराया दिये बिना तो एक मुहूर्त भी यहाँ न रहूँगा’—कहकर सभीको भाड़ा लेनेपर विवश किया और वे किराया देकर ही रहे ।

✓ सत्यनिष्ठा सदाचारका श्रेष्ठ सोपान है । पर वह हममें कहाँ है । छोटा शिशु रोता है तो हम उसे शान्त करनेके लिये बंदरका मिथ्या भय दिखाते हैं, चाहे बंदर उस क्षेत्रमे कभी आता भी न हो । पुनः उसे चुप करानेके लिये मिठाई और खिलौनेके प्रलोभन देते हैं । इन सबके मूलमे मिथ्या ही तो है । जीवन-धारणके हर क्षेत्रमे हम असत्यकी ही छवि मानस-नेत्रमे अङ्कित करते हैं । व्यवसायी व्यवसाय आरम्भके पूर्व ही वजन कम करनेका चिन्तन करते हैं । दूध-पानीके सम्मिश्रणसे अविक लाभ कमानेकी हमारी दैनन्दिनी वृत्ति है । महाभागवत श्रीविजयकृष्ण गोक्षामी कहते थे कि वारह वर्ष नहीं, मात्र तीन दिनतक भी पूर्ण सत्यनिष्ठ हो सकनेपर साधन-सिद्धि अवश्यमावी है । स्वामी विवेकानन्दने भी कहा था—‘अर्थ नष्ट होनेसे कुछ खास हानि नहीं होती । स्वास्थ्य नष्ट होनेसे किंचित् हानि होती है । किंतु चरित्र भ्रष्ट होनेसे सर्वख नष्ट हो जाता है ।’ चरित्रगठनके मूलमे सत्यनिष्ठा है और सदाचारद्वारा आत्मोत्थानका पथ चरित्रगठन ही है ।

शौच—सभी प्राणियोंमें भगवान् अविष्टित है । देह और मनकी मलिनता दूर करनेका नाम शौच या पवित्रता-साधन है । शौच भी दो प्रकारका है—ब्राह्म

और आन्तरिक । देहकी शुद्धि वाहा और मनकी शुद्धि आन्तरिक शौच है । योगियाज्ञवल्क्य कहते हैं—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्याभ्यन्तरतस्थथा ।
सृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

वाह्य शौचके लिये मिट्टी और जल आवश्यक है और मनकी शुद्धिके लिये सद्गुण प्रयोज्य है । सदाचारद्वारा चित्तशुद्धि होती है । चित्तशुद्धिद्वारा आत्मोत्थान या दिव्य जीवन-लाभ हो सकता है । छान्दोग्योपनिषद् ‘अन्नमयं हि सौम्य मनः’ के अनुसार आहारके सूक्ष्मांशसे मन गठित होता है । सत्त्वगुणी आहार सदाचारकी ओर ले जायेगे, यह ध्रुव सत्य है । इस प्रकार सदाचारके द्वारा आत्मोत्थानके लिये बाह्य और मनःशौच दोनों ही प्रयोजनीय हैं ।

संयम दो प्रकारका कहा गया है—ब्राह्म-इन्द्रिय-संयम तथा मनःसंयम । पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय हमें हमेशा वहिर्मुखी बनाती हैं । पुनः मन अन्तरिन्द्रिय है । मन स्वकीय संकल्पद्वारा वहिरिन्द्रियको संयत कर सकता है । संयमका अर्थ इन्द्रियपीड़न नहीं, नियन्त्रण करना है । ब्राह्म और मनःसंयमका एकमात्र उपाय भगवदुपासना है । भगवन्मुखी मन होनेपर कामादि षड्रिपु अनायास ही वशीभूत होकर अन्तर्मुखी होनेके लिये वाध्य होते हैं । तभी भगवत् चैतन्यका उदय होता है । हर व्यापारका मूल भगवदाधन है । इस साधन-पथका ईंधन सदाचार है ।

‘आचरणसे शिक्षा दो’ श्रीमन्महाप्रभुकी यह वाणी अमृतमयी है । महात्मा गौडीये भी यही कहा है । ✓ ‘हमारा जीवन ही हमारी वाणी है ।’ शास्त्राण्य-धीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्’ (हितोपदेश ० १ । १७१)के अनुसार कुछ लोग शास्त्राध्ययन करके भी सूखे ही रहते हैं । जो उसे क्रियामे लाते हैं, वे ही वास्तविक विद्वान् हैं । हमारे उपदेश कार्यकारी नहीं होते; क्योंकि हम—

‘मुखमें राम, बगलमें दूरी’ को चरितार्थ करते हैं। सभी लोग मरते हैं, किंतु एककी मृत्युपर लोग आँसू बहाते हैं और दूसरेकी मृत्युको भूल जाते हैं। कौन-सी मृत्यु श्रेपस्कर है, यह हमें अपने विचारसे स्थिर करना है। स्वामी विवेकानन्दजीने कहा था कि ‘संसारमें पैदा हुए

हो तो एक चिह्न छोड़ जाओ।’ स्मृति-चिह्न छोड़ जाना ही दिव्य-जीवनयापन है। इसके मूलमें है—सदाचार। सदाचारसे आत्मोत्थान और उसके फलस्वरूप आत्मोपलब्धि किंवा मुक्ति—यही मानव-जीवनका चरम-परम लक्ष्य है। ✓

सदाचारसे आत्मोत्थान

(लेखक—पं० श्रीवावूरामजी द्विवेदी, एम० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न)

सदाचार (सद्वृत्ति) आत्मोत्थानका मूल कारण है। सजनोंमें सदाचारी कहलाता है। ब्रह्मचर्य सदाचारका जिस (साधन)से इस लोकमें उन्नति (यश-प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य-प्राप्ति) और परलोकमें कल्याण या मोक्षकी उपलब्धि हो, वही धर्म या सदाचार है। ‘शारीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ (कु० स० ५। ३३)के द्वारा कालिदासने मानव-शरीरको मूलतः धर्मका साधन कहा है। इस सिद्धान्तसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मानवके इहलौकिक और पारलौकिक विकासके सामग्रस्य—विधानमें ही उसके आत्मोत्थानका रहस्य निहित है; जिसका मूल आधार सदाचार है। भर्तृहरिने भी नीतिशतकमें शील—सदाचारको सभी गुणोंका अलंकार और मूल बतलाते हुए उसके इहलौकिक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया है, जिसका मानव-के लौकिक अभ्युदयपर प्रकाश पड़ता है। वे कहते हैं जैसे ऐश्वर्य (वैभव)का भूपण सजनता, वीरताका वाणीपर नियन्त्रण, ज्ञानका शान्ति, शास्त्राध्ययनका विनय, धनका समुचित स्थानपर व्यय, तपस्याका ग्रोधाभाव, स्वामित्वका क्षमा तथा धर्मका भूपण निश्छलता है, वैसे ही समस्त गुणोंका भूपण सदाचार है।

सदाचारी पुरुषका लक्षण बतलाते हुए विदुरजी कहते हैं कि जो मनुष्य अपने सुख-आनन्दसे प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखको देखकर हर्षित नहीं होता, वरन् दुःखी होता है, दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह

सजनोंमें सदाचारी कहलाता है। ब्रह्मचर्य सदाचारका साधनात्मक स्वरूप है। अर्थवेदमें उसके मन्त्रदृष्टा श्रुति कहते हैं कि ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है। राजपिं मनुने ब्राह्मणोंकी मृत्युके चार कारण बतलाये हैं—(१) वेदाभ्यास न करना, (२) आलस्यके वशीभूत होना, (३) आचार (सदाचार)का परित्याग करना और (४) दूषित भोजन करना। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणके लिये सदाचार सर्वथा पालनीय धर्म है। सदाचारकी कस्तौटीपर जो व्यक्ति खरा उत्तरता है, वस्तुतः वही सत्पुरुष है और वही महात्मा है। विदुरजी कहते हैं कि जलती हुई आगसे सोनेकी परख होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी पहचान होती है, इसी प्रकार भयकी स्थितिमें वीरकी, आर्थिक कठिनाईमें धैर्यशाली मनुष्यकी और विपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है (३। ४९)।

मनुष्यके इह-लौकिक अभ्युदयमें सदाचारका महत्व बतलाते हुए महात्मा मनुजी कहते हैं कि—आचार (सदाचार)का सम्पूर्ण पालन करनेसे आशु प्राप्त होती है, आचारसे अभिलिप्ति संतति प्राप्त होती है, आचारसे धन-ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है और आचारसे ही शरीरके अवगुण नष्ट होते हैं। सदाचार केवल मानव-जीवनके इहलौकिक अभ्युदय-का ही साधन नहीं, वरन् वह उसके पारलौकिक

अभ्युदयका भी माध्यम है। मनुष्यके जीवनका लक्ष्य परम पुरुषार्थकी उपलब्धि, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग)की प्राप्ति है। इनमेंसे प्रथम तीन पुरुषार्थ तो मानव-आत्मोत्थानके अभ्युदय (इह लौकिक उन्नति) के बोध हैं, परतु अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) आत्मोत्थान-के निःश्रेयस् (पारलौकिक विकास)का परिचायक है।

मोक्षके निम्नाङ्कित दस साधनोंमें ब्रह्मचर्य (सदाचार) का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए श्रीमद्भागवतके रचयिता श्रीव्यासजी कहते हैं कि मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण, तप, अध्ययन, स्वधर्म-पालन, शास्त्र-विवेचन, एकान्तवास जप और समाधि—ये दस मोक्षके साधन हैं। (७। १। ४६) । ब्रह्मचर्य (सदाचार)का विधिवत् पालन हो जानेपर ज्ञान एवं मुक्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मन, प्राण और शुक्रका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनमेंसे एक (ब्रह्मचर्यद्वारा शुक्र)का निरोध हो जानेपर मन और प्राणका अपने-आप निरोध हो जाता है। ब्रह्मचर्यद्वारा वीर्यका निरोध, प्रकारान्तरसे मनोनिरोधका सफल प्रयोग है। यही निरुद्ध (संयत) मन मोक्षका साधन है। मनुर्जीने इन्द्रिय-निग्रहको ब्रह्मचर्यपालनका अमोघ अख्य कहा है। इन्द्रियोंके संसर्गसे जीव दुःखी होता है तथा इन्द्रियोंद्वारा विषय-परित्यागसे जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं। विदुरजी भी कहते हैं कि मनुष्यके सामाजिक जीवनमें सदाचारका महत्त्व अक्षुण्ण है। इस ससारमें जाति-भाई तारते हैं और डुवाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी है, वे तो प्रपञ्चाभिमूत अपने भाई-वन्धुओंको तारते हैं। उन्हे सत्पथगामी बनाते हैं; परंतु जो दुराचारी है, वे उन्हे डुवा देते हैं अर्थात् उनका सर्वनाश कर देते हैं। सदाचार कुलक्षणोंका नाश करके मनको सुलभणयुक्त सत्पथ-अनुगामी अथवा मोक्षमार्गी बनाता है। ‘विनय—नम्रमाव अपयशको नष्ट करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा

ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है।’

आयुर्वेदके प्रचारक चरक एवं सुश्रुतने सदाचारको सुकृतियोंके पुण्य लोक (स्वर्णपद)का साधक बतलाते हुए कहा है कि ‘जो इस आयुर्वेदोक्त सद्बृत्त अथवा शुद्धाचरणका सम्यक् पालन करता है, वह सौ वर्षतक जीवित रहता है। धर्म अर्थ और कामविषयक इहलौकिक सिद्धिको प्राप्त करनेके पश्चात् सार्वभौम-पक्षमें समस्त ग्राणियोंकी वन्धुताको भी उपलब्ध करता है और अन्तमें पुण्यात्मा—मुमुक्षु पुरुषोंके प्राप्तव्य स्वर्गीय लोकोंमें सत् प्रयाण करता है। ‘गीता’का भी सिद्धान्त यही है कि मन और इन्द्रियोंको संयत करके निष्काम वुद्धिसे कर्तव्य कर्मका पालन करना चाहिये, इसी प्रक्रियाद्वारा साम्यवुद्धि (स्थिरवुद्धि) उत्पन्न होती है। इन्द्रियनिग्रह (साधन) और स्थिरवुद्धिकी प्राप्ति (साध्य) से निरन्तरता स्थापित करनेवाला तत्त्व ही सदाचार कहलाता है।

सदाचार अथवा ब्रह्मचर्यका महत्त्व बताते हुए महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्म पितामहजी युविप्रिरजीसे कहते हैं—‘यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है। यह सब धर्मांमि श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परम पठको प्राप्त कर लेते हैं। सदाचारका मुख्य तत्त्व दम—इन्द्रियों और मनका सयम है। धर्मके सिद्धान्तको भलीभाँति जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष दमको निःश्रेयस् (परम कल्याण)का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन धर्म है—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥

भीष्मपितामहजी धर्मराज युविप्रिरसे कहते हैं कि दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन

है। दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है।

भारतीय संस्कृतिके इतिहासमे 'आचार'की विशेष गरिमा है। 'वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिन्दू-संस्कृतिका प्रत्यक्ष रूप है। देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार'के अन्तर्गत तथा मन-बुद्धि-चित्ताहंकारकी चेष्टाएँ विचारकी परिविमे आती हैं; अतएव मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है। सदाचारका सम्पूर्ण पालन करनेवाला मनुष्य इस संसारमे दीर्घ आयु तथा ऐश्वर्य (इहलौकिक अभ्युदय) प्राप्त करता है, एवं परलोकमे अक्षय कीर्ति

अथवा निःश्रेयस्-सिद्धि प्राप्त करता है। श्रुत, शील युक्त सदाचार निकाप (कसाई) पर मानवका घरा उतरना ही उसकी आदर्शानुसूखता है। 'चाणक्यनीतिम्' सोनेके दृष्टान्तद्वारा इस वातको स्पष्ट किया गया है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निर्घण्ठन्तेऽनतापताङ्गनैः

तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥

(५।२)

अनाचार मनुष्यके जीवनको कण्टकाकीर्ण बनाता है, और सदाचारके फलस्वरूप मनुष्य ईश्वरका प्रिय भाजन बन जाता है।

सदाचार अर्थात् जीवनका धर्ममें प्रवेश

(लेखक—श्रीरामसुखजी मन्त्री)

धर्मका एक लक्षण अर्थ या स्वभाव या प्रकृति भी है। जैसे अग्निका धर्म या स्वभाव है—उष्णता और जलका धर्म है—आर्द्धता, गीलापन। इसी प्रकार मनुष्यका धर्म क्या हो सकता है? मनुष्यका स्वभाव क्या है? मनुष्य चाहता है—ऐहिक और पारलौकिक सुख तथा शान्ति। उसकी स्वाभाविक इच्छा है—सुखसे जीना, शान्तिके साथ जीना। सुख और शान्तिके साथ जीवन जीनेके जो नियम हैं, वही धर्म है। पर इसका मार्ग क्या है? वेदोमे एक शब्द आता है—'ऋत'। 'ऋतका अर्थ है—विवान (The Law)। लाओत्सेने भी इसका नाम दिया है—ताओ। 'ताओ'का मतलब होता है—नियम, तो धर्मका मतलब है—ऐसे नियम जिनका पालन हम करेगे तो सुख और शान्तिको उपलब्ध कर पायेंगे और धर्मका मतलब है—उन नियमोके प्रतिकूल हम चलेंगे तो दुःख और अशान्तिसे घिर जायेंगे।

✓ सत्-संकल्प और साधना—ये दो मार्ग सदाचारको प्रहण करने तथा दुराचारसे बचनेके हैं। एक

है स्थूल या वाह्य तथा दूसरा है, सूक्ष्म या आन्तरिक। स्थूल या वाह्य मार्ग है—सत्-संकल्प और सूक्ष्म या आन्तरिक मार्ग है—साधना। संकल्प-मार्गको अपनानेके लिये प्रातःकाल और रातको दोनो समय चित्त शान्त करके एकान्तमे बैठना चाहिये और सोचना चाहिये कि मुझमे कौन-कौनसे दुर्गुण हैं, उनका संवर्धन कैसे करूँ? और कौन-कौनसे दोष हैं, उनका निर्मूलन कैसे करूँ? इसके पश्चात् आप विचारपूर्वक यह दृढ़ संकल्प करे कि 'मुझमे जो-जो गुण विद्यमान हैं, उनका संवर्धन मैं निश्चित ही करूँगा। वैसे ही मुझमे जो-जो दूषित विकार हैं, उनका निश्चित ही त्याग करूँगा।' फिर प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही इस संकल्पको दोहराइये और रातको सेते समय दिनभरके कार्यका लेखा-जोखा लीजिये कि संकल्पके अनुसार आपने आचरण किया या नहीं? स्वयंके गुण-दोषोंका निरीक्षण तटस्थ एवं निष्पक्ष बनकर करे। आत्म-निरीक्षण एवं चिन्तन मानसिक विकासकी प्रथम सीढ़ी

है। यह प्रक्रिया लगातार अनेक दिन करनेपर धीरे-धीरे क्रमशः सफलता दिखायी देने लगेगी। दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी नजरमें आये, उन्हें एक-एक करके ऐसे निकाल फेंकें, जैसे अनाजमेसे कंकडोको वीन-त्रीनकर निकाल दिया जाता है और सत्प्रवृत्तियोंको ऐसे प्रहण करते रहे, जैसे उद्यानमेसे माली पुष्पोंको चुन-चुनकर इकट्ठा करता है। यह दोपनिर्मलनका और गुण-प्रहणताका कार्य सरल-सा लगता है, फिर भी अति कठिन है, क्योंकि विकारोंका आवेग इतना तीव्र और सहज होता है कि हम अनजाने ही इनके जालमें फँस जाते हैं और पवित्र भावोंकी रक्षाके लिये प्रयत्नशील रहनेपर भी कई कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं। इसलिये वड़ी सजगतासे पूर्ण सचेत रहकर, सावधानीपूर्वक इस कार्यको करना चाहिये। जरासे प्रमादमें, थोड़ी-सी तन्द्रामें और आलस्यमें रहे तो समझिये फिसले और गिरे। इसके लिये धैर्य, लगन और पुरुषार्थ नितान्त आवश्यक है।

दूसरा मार्ग है साधनाका, जो अतिग्रभावी और निश्चित फलदायी है। यह है—मनको एकाग्र करना, उसको बशमें करना और उसे विशुद्ध बनाना। यह कार्य ध्यानके द्वारा साध्य हो सकता है। किसी भी विचार अथवा विकारका उद्भव-स्थान अचेतन मन है। संकल्पका प्रारम्भ यहाँसे होता है और फिर यह अर्ध-चेतन और चेतन मन-तक पहुँचता है। तब हमें ज्ञात होता है कि अमुक विचार या अमुक विकार हमारे मनमें उठा। उसके बाद वह कृतिमें रूपान्तरित होता है। मनकी गहराइयोंतक पहुँचनेकी शक्ति ध्यानद्वारा ही प्राप्त हो सकती है। ध्यानके माध्यमसे हम शनैः-शनैः मनको एकाग्र करके उसको अपने बशमें कर सकते हैं। जैसे-जैसे हमारा ध्यान परिपुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे वह अन्तस्तलतक अर्थात् अचेतन मनतक पहुँचनेमें सक्षम होता चला जाता है। कृतिमें

उत्तरनेसे पूर्व ही यदि हमें विकारके उठनेका पता चल जाय, पुहुँलेसे ही यदि हमें उसका आभास मिल जाय और उसे यदि हम देखनेमें, उसका निरीक्षण करनेमें सफल हो जायें तो उठता हुआ विकार तुरंत दुर्बल हो जायगा। उसके आवेगमें शिथिलता आ जायगी और वह नष्टप्राप्त हो जायगा। इस प्रकार विकारोंपर नियन्त्रण पानेका सामर्थ्य हमें प्राप्त हो जाता है और हमारे दैनिक व्यवहारमें धीरे-धीरे सुधार होता चला जाता है। ध्यानकी विधि-को किसी अनुभवी मार्गदर्जकद्वारा ही सीखना श्रेयस्कर होता है।

वौद्धिक सदाचार और अनुभूतिका स्तर— सदाचार, सद्गुण-सत्प्रवृत्तियों तथा दुराचार, दुर्गुण और असत्प्रवृत्तियोंके भले-भुले परिणामोंको सभी लोग जानते हैं। शास्त्र-सत्सङ्ग-प्रवचन आदिमें जहाँ-कहाँ इस विषयकी चर्चा चलती है, हम उससे प्रभावित हो जाते हैं। यह प्रभाव तात्कालिक स्वरूपका होता है और ऊपरी स्तरोंपर ही रहता है। इसका परिणाम स्थायी स्वरूपसे नहीं रहता और यही कारण है कि हमारे जीवनमें इससे कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन नहीं आ पाता। ऐसा परिवर्तन तो तभी सम्भव है, जब हम इसे प्रत्यक्ष कार्यान्वयित करे—जीवनमें उनारे। केवल पढ़ने-सुनने-मात्रसे अथवा बुद्धिद्वारा समझ लेनेमात्रसे यह असम्भव है। इसे अनुभूतिके स्तरपर ही जॉचना, परम्बना और समझना होगा। तभी जीवनमें क्रान्ति घटित होगी और यही क्रान्ति फिर क्रियारूपमें परिणत होगी और तब फिर जीवनमें भी परिवर्तन आना शुरू हो जाना है, सुवारका प्रारम्भ ‘दिनायी’ देने लगता है। सदाचार वाल्य एवं आन्तरिक जगत् दोनोंकी प्रगतिका प्रवेशद्वारा है। इसीलिये इसकी अपार महिमा यत्र-तत्र गयी गयी है। फिर क्यों न हम सत्कर्म करते-करते

जीवनको पवित्र बनानेमें और अखण्ड शान्ति प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील बने रहें, जिससे एक ओर ऐहिक जीवन तथा दूसरी ओर पारलैकिक जीवन दोनों ही उन्नत बन सकें। हमारे शास्त्रोंने एवं ऋषि-मुनियोंने तीर्थ-त्रै, उपवास, जप-तप, मन्दिर-उपासना, पूजा-अर्चा, सत्सङ्ग-स्वाध्याय-ध्यान-धारणा आदिके जो भी साधन बतलाये हैं, इन्हें सामान्य-से-सामान्य मनुष्य भी अपनी पात्रताके अनुसार प्रहण कर सकता है। इन सभी साधनोंका मूँड उद्देश्य यही है कि अपनी अन्तरात्माका परिशोधन करते हुए आन्तरिक जीवनको परिमार्जित करें, परिशुद्ध बनाये। इस पवित्र बनानेके मूल उद्देश्यको सामने रखते हुए हमें अपने जीवनका सम्पूर्ण दैनंदिन व्यवहार पवित्र रखते हुए करना चाहिये। केवल बाद्य शुचिता पर्याप्त नहीं है, वह तो गौण है। अन्तरकी शुचिता विशेष महत्वकी है। यही प्रमुख और प्रधान भी है। जीवनको विशाल, महान् और मूल्यवान् बनानेके लिये आन्तर शुद्धि आवश्यक है। और जिसने अन्तर्बी मूल पवित्रताको स्थायी रूपसे धारण कर लिया है, वही सच्चे अर्थमें धार्मिक है और जिसकी अन्तरात्मा परिशुद्ध नहीं है, मलिन है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। उसकी धार्मिकता भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतः वह अधार्मिक ही है।

इन साधनोंको आचरित करते हुए यह देखना भी आवश्यक है कि हमारे जीवनमें धीरे-धीरे ही क्यों न हो, पर पवित्रताका प्रवेश हो रहा है या नहीं? यदि हो रहा है तो हम ठीक मार्गपर चल रहे हैं और पवित्रताका जीवनमें प्रवेश नहीं हो रहा है तो यह समझना चाहिये कि सच्चे धर्मसे, शुद्ध धर्मसे इसका कोई लेन-देन नहीं है। सारी क्रियाएँ ऊपरी-ऊपरी स्तरपर औपचारिकताके रूपमें दिखावेके खानिर परिपाटी निभानेके लिये ही की जा रही हैं। और यही कारण है कि इन सारी धार्मिक विधियोंको करते हुए भी,

इन सारे साधनोंको अपनाते हुए भी हमारे जीवनमें कोई परिवर्तन नहीं आता। हम कोरे-के-कोरे, जैसे हैं, बैसे ही रह जाते हैं। सारा जीवन तनावपूर्ण, अशान्त, दुःख और कष्टसे भरा हुआ वीतता जाता है। नीरसता और निराशा लिये हुए कल्पित अभावका अनुभव करते हुए निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

सत्यकी उपलब्धि—जब हमारे बाहरके और भीतरके सारे कल्प, सारे कपाय नष्ट हो जाते हैं, सारे दोष दूर हो जाते हैं तो शेष जो अवस्था बच रहती है, वही है परिशुद्ध अवस्था। इस परिपूर्ण निर्दोष अवस्थामें, उस अमूल्य सम्पदाके द्वारा खुल जाते हैं, जो हमारे भीतर छिपी पड़ी है और फिर जीवनमें कोई अभाव नहीं रह जाता। उस अनन्त समृद्धिका मार्ग मिल जाता है, जो हमारी आँखोंसे ओङ्कल है और तब जीवनसे अतृप्ति सदा के लिये विदा हो जाती है। हृदयमें उस परम आनन्दका झरना फूट पड़ता है, जो हमारे जीवनको सरावोर कर देता है। उस परम शान्तिका उदय हो जाता है, जिससे सारी लालसाओंका अन्त हो जाता है और अस्थिरता सदा के लिये तिरोहित हो जाती है। अन्ततः हमें उस परम सत्यकी उपलब्धि हो जाती है, जिसका जीवनसे छायाकी भाँति अटूट सम्बन्ध है और जिसे हम भ्रान्तिवश भूल वैठे हैं।

सदाचार ही है पहला कदम—उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनमें सदाचारका कितना बड़ा महत्व है, ऐहिक और पारलैकिक जीवनसे इसका कितने निकटका और गहरा सम्बन्ध है। इस बातको परिलक्षित रखकर यदि हमारा कदम सदाचारके पथपर पड़ जाय तो चारों ओर हरे-भरे शस्य-श्यामल प्राङ्गणसे गुजरते हुए सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्यके दर्जन करते हुए केवल मधुरता-ही-मधुरताका अनुभव लेते हुए हम निश्चित ही परम आनन्द, परम शान्तिके आखिरी मंजिलपर पहुँच जायेंगे, जो मानवका परम लक्ष्य है।

धार्मिकता सदाचारद्वारा प्रकट होती है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०)

धर्मका सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयोगी तत्त्व उसका आचरण है। जब हमारे शुभ संकल्प हमारे दैनिक कार्यों और व्यवहारमें प्रकट होते हैं तो वह सदाचार कहलाता है। सदाचारका अर्थ है—उत्तम या उपयोगी आचरण (कार्य)। जिस शुभ विचारको कर्मद्वारा प्रकट न किया जाय, उससे क्या लाभ! कोरे विचारमात्रसे व्यक्ति या समाजको कोई स्थायी लाभ नहीं होता। लाभदायक तत्त्व तो 'सत्कर्म' ही है। 'चाणक्यनीति' में कहा गया है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सूज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥
(चाणक्यनीति ४।१, १३।४, हितोपदेश, प्रस्ता० २८,)

'जीव जब गर्भमें ही रहता है, तभी उसके लिये आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण—ये पौँछो रचे जाते हैं।' चाणक्यके अनुसार पुरुषकी परीक्षा उसके आचारसे ही होती है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निधर्षणच्छेदनतापत्ताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥
(चाणक्यनी० ५। २)

'सोनेकी परख जैसे कसौटीपर घिसकर, काटकर, तपाकर और पीटकर की जाती है, वैसे ही पुरुषकी परख उसके ज्ञान, त्याग, कुल और शीलसे की जाती है।' संसारमें कर्म ही प्रधान है। कर्मके अनुसार ही कोई जन्म-मृत्युके फंदेमें पड़ा रहता है। एक अपने कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगता है, एक नरकमें पड़ता है, तो दूसरा परमात्मिको प्राप्त होता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्चनुते ।
स्वयं भासति संसारे स्वयं तसाद्विमुच्यते ॥
(सुभाषिं० भा० ४। १६२। २९०)

(जीव स्वयं कर्म करता है) और उसके शुभाशुभ फलको भी वह स्वयं ही भोगता है। कर्मके कारण ही वह संसारमें चक्र खाता और उत्तम कर्मोंके फलस्वरूप वह स्वयं ही मोक्ष भी प्राप्त करता है।

मनुष्यका जीवन गुण-दोषोंसे परिपूर्ण है। जितने अंशोंमें दोष होते हैं, उतने ही अंशोंमें हमें अपने चरित्रमें दानवत्व या राक्षसत्व मानना चाहिये। दोष-दुर्गुण निन्दा विकार हैं। ज्यो-ज्यो मानवताका विकास होता है, त्यो-त्यो गुणोंकी अभिवृद्धि होती है। सही दिशाओंमें बढ़नेका अर्थ ही है—विकारोंसे मुक्ति और गुणोंका कार्योंके माध्यमसे प्रकटीकरण। अच्छे कर्मोंसे ही यह पहचाना जा सकता है कि आदमी देवत्वके कितना निकट पहुँच गया है; क्योंकि देवत्व ही सर्वगुण-सम्पन्न हो सकता है। गुणोंका कार्योद्वारा स्पष्ट होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सच्चरित्राका अर्थ है—विषय-विकारोंसे मुक्ति, दुष्कर्मोंसे सुरक्षा, वासनाओंकी रोकथाम, चरित्रमें सत्य, न्याय, प्रेम, दया, उदारता, विनम्रता, सुशीलता और सहानुभूतिका विकास। किंतु ये सद्गुण सिर्फ कहने-सुननेकी वात नहीं हैं। प्रत्येक गुण या देवत्वकी विशेषताका पता तब लगता है, जब वह प्रत्यक्ष कर्मोद्वारा प्रकट होता है। सच्चरित्रा हमारे उत्तम कार्यों और सद्ब्यवहारसे ही प्रकट होती है। हम 'सत्य'को धारण कर रहे हैं अथवा नहीं, वह तब प्रकट होता है, जब हमारे उत्तम कार्य देखे जायेंगे। आप जो कहते हैं, वही करते भी हैं या नहीं—यह सच्चाई आपके दैनिक व्यवहारसे प्रकट होगी। 'उदारता' कहा जानेवाला गुण उन कार्योंसे स्पष्ट होता है, जिसे आप समाजके दूसरे सदस्योंके प्रति दिखलाते हैं।

आपकी वातचीतसे विनप्रता, गियाचारसे आपकी भावमङ्गिमा मान्द्रम होगी। व्यक्तिकी सुर्यालता मज्जनोचित व्यवहारपर निर्भर है। 'दया' नामक गुण अपनेसे ढीन-हीन असहायके प्रति सहायतान्सहयोगके कामोसे स्पष्ट होगा। मनुष्यकी श्रृंता, वीरता, धैर्य और कथ्यसहिष्णुता आदि कहनेमात्रकी वाते न होकर प्रत्यक्ष करनेकी है। आपका जीवन किस कोटिका है, यह आपके सदाचारसे ही स्पष्ट होता है। सच्चा सदाचारी वही है, जिसकी चारिखिक विशेषताएँ उसके दैनिक कार्योंसे प्रकट होती रहती हैं। सदाचार वह महीनेकी नैतिक मार्ग है, जिसे अपनानेसे स्वारूप्य, सुख, शान्ति और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। सदाचार बुद्धि और विवेकको परिष्कृत करता है, चरित्रको दृढ बनाता है और मनमे अद्व्य नैतिक साहस विकासित करता है।

✓ शुद्ध आचार सब सफलताओंका मूल है। नैतिक आधार स्थायी जड़ है, जहाँसे सदाचारकी उत्पत्ति

होती है। मर्यादापुर्योन्नम श्रीराम, लाली भाई भगवन्, मेवाके प्रतीक लक्ष्मण, दिदृन्वके ऋक विवाजी, वीरवा महाराणा प्रताप, भारतकी व्यतन्तताका उद्योग करनेवाले लोकमान्य तिलक, सुमारचन्द्र ब्रोम, महात्मा गांधी अपने सदाचारके कारण ही पूँज जाने हैं। इनके अनुओंके प्रति प्रेमभाव रम्यनेके लिये कदकर उनमे प्रकान्तमें बताया था कि मनकी शान्ति कंगे प्राप्त की जानी है। अनुओंको वार-चार श्रमा कर दो—यह कदकर इसा मदानन्दे बताया था कि इस प्रकारके आचरणमे हम रुद्रवाप, हृदयरोग, उदरवण आदि अन्य व्याख्यायेमें दूर रह सकते हैं। जिस मनुष्यमें रुद्राचार नहीं है, वह जड़ बृश्नी तरह है। मानव-जीवन सदाचारणके लिये ही है। अतः सदाचारका पालन करते रहें और अपने जीवनको धन्य बनाते रहें।

• जीवनका अमृत—सदाचार

(लेखक—कलाकार श्रीकमलांगकर सिंहजी)

इस संसारमे सदाचारी-दुराचारी, संयमी-व्यमिचारी, सज्जन-दृजन, निर्मल-प्रतित, धनी-निर्धन, पर्णित-मूर्ख सभी प्रकारके लोग भरे पड़े हैं। उनमें हम किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति जो आकर्षित होते हैं, उसमे उस व्यक्तिकी सुन्दरता, वेशभूपाकी विशेषता, वाणीकी मधुरता और विद्वना अथवा कार्यक्रमता आदि वाते ही हमारे आकर्षणका कारण होती है। पर इन सबसे परे किसीमें एक अन्तर्वर्ती तत्त्व भी होता है, जो जनसमूहको अपनी और स्थायी रूपसे आकृष्ट करता है। यह अन्तर्वर्ती तत्त्व होता है, उस व्यक्तिका आचार और उसके विचारोंकी पवित्रता, उसकी सत्यनिष्ठा तथा देश और समाजकी सेवामे संकल्पित मन, वचन और कर्मकी प्रकाग्रता—जिसे हम 'सदाचार' कहते हैं। सदाचारी व्यक्ति भले ही कुछ हो, उसकी वेश-भूपा आकर्षक न हो, उसकी वाणी ओज-

हीन हो अथवा उसमे बुद्धि-चापत्य और बुद्धिकी दार्शनिकता भी न हो तो भी वह अपने सद्वृत्तियोंके कारण एक दैवी प्रतिमा, एक दैवी गुणसे समाप्त होनेके नाते सबके स्थायी आकर्षणका केन्द्र होगा।

सदाचारकी भावना इतनी पवित्र है कि वह जीवनमे, समाजमे, भीतर-वाहर सब जगह पवित्रता प्रतिरित करती है और इसे ही प्रतिष्ठित करना चाहती है और हमारी सद्वृत्तियोंको भी जाग्रत् करती है। सदाचारीका सम्पूर्ण जीवन पवित्र रहता है। जिस प्रकार कलाकारकी कला उसके समस्त दृष्टिकोणको कलामय बना देती है, उसकी मात्र चित्रकला ही नहीं, उसकी समस्त कृतियों, उसकी वाणी, व्यवहार, उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने-रहने आदि सभी क्रियाओंको प्राणवान् एवं कल्पत्वक बनाना चाहती है, उसी प्रकार सत्यका ध्येय

सदाचारोंके दृष्टिकोणको शुद्ध, सात्त्विक, प्रेमिल और निर्भय तो बनाती ही है, उसके सम्पूर्ण जीवनको अपने विशिष्ट सौरभ एवं माधुर्यसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बना देती है।

सदाचार वह स्नेहयुक्त दीपक है, जो मानवको धने अन्वकारसे निकाल, असभ्यताके पङ्कसे खींचकर, वर्वरताकी सीमाका अतिक्रमण कराकर, संतोकी कोटिमे ला बैठाता है। यह मनुष्यको ऊँचा उठाता है, नरसे नारायग बनाता है। यदि आप उतने उच्च स्थानपर पहुँच जायें जहाँ दुश्मिन्ताकी गुजाइश नहीं, दुष्कर्मके लिये स्थान नहीं और दुर्भावका भी अभाव है तो आप ब्रह्म हैं और आपकी और ईश्वरकी सत्तामे कोई अन्तर नहीं है। प्राणी अपने मन, वचन और शरीरसे जैसा कर्म करता है, फिर स्वयं वैसा ही फल भोगता है। आत्मा ही सुख और दुःखको उत्पन्न करनेवाला है। आत्मा ही कर्ता-भर्ता है। सदाचारसे आत्मा मित्र है और दुराचारसे अमित्र। 'आचार ही सर्व है और अनाचार ही नरक'।

मनुष्यके जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसके आचरण भी होते हैं। कड़वे-विपर्वे विचारोंसे जीवात्मा दूषित हो जाता है। दुरे विचार दुरे कामोंसे भी भयकर है। सदिंचारोंके अभावमे सदाचार, सत्कर्म असम्भव है। ऊँचे विचार रखना पावन जीवनके लिये अनिवार्य है। सदिंचारोंका जन्म होता रहे और असत् विचारोंका स्पर्श भी न होने पाये तो मनुष्य अपनी असीम आत्म-शक्तिका प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। ऐसे ही व्यक्तियोंमे दृढ़ संकल्पकी शक्ति होती है और उसकी सुम शक्तियाँ जाग उठती हैं। विचारोंका कोई मूर्त रूप नहीं, उसका कोई आकार नहीं, मिर भी संसारमे कोई ऐसा दुद्धिमान् नहीं, जो विचारोंकी शक्तिमे विश्वास न करता हो। यह विचारोंकी शक्ति जब सकलपके रूपमे परिवर्तित हो जाती है, तब मानव-जीवनमे आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता उत्पन्न होती है। सदाचारका सीधा सम्बन्ध विचारसे

है। पहले विचार, तब आचार—इस प्रकार 'असतो मा सद्गमय'—असद्विचारोंसे निकालकर हम सदिंचारोंकी ओर चलते हैं।

✓ स्वामी विवेकानन्दजी सदा ईश्वरसे ही प्रार्थना करते थे कि उनके हृदयमें सदा सदिंचारोंका ही जन्म हो। उनके विचारोंपर असत्की छाया भी न पड़ने पाये। वे यह जानते थे कि जबतक मनुष्य अपने सदिंचारोंके अनुरूप संसारमें अच्छे कार्य नहीं करेगा, तबतक उसके साथ कौन सदृश्यवहार करेगा? ✓

सदाचारका मूल विनय है। जो उद्भव न हो, न प्र हो, चपल न हो, स्थिर हो, शिष्ठ हो; वही सदाचारी है। सदाचारीमे सहदयता, सज्जनता, उदारता, श्रद्धालुता और सहिष्णुता अपना स्फुटरूप लिये प्रत्यक्ष होती है। सदाचारीको अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है। उसमे आत्म-गौरव होता है। वह दीन-दुःखियोंकी दीनतापर अपनेको अर्पण करता है। वह सहदय और उदार होता है। वह सभ्य और शीलवान् होता है। वास्तवमे, जिसका चित्त गान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखता है, जो अपना अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं करता, जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखता, जिसका चित्त दयासे द्रवित हो जाता है, द्वेष और हिंसासे सदा ही जो मुँह मोड़े रहता है—जिसमे अमार्की क्षमता है, उसका जीवन सदा उज्ज्वल, निष्कलङ्क बना रहता है। वह अपने आचारद्वारा, अपने व्यवहारद्वारा दूसरोंको प्रसन्न रखनेकी कला जानता है। जो कुछ वह अपने प्रति चाहता है, वैसा ही दूसरोंके प्रति भी करना वह अपना वर्म मानता है—

'यद्यात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥'

✓ आचारहीन व्यक्तिको वेद या ज्ञान पवित्र नहीं करता, उसे ऊँचा नहीं उठा सकता। जब ज्ञान

क्रियाशीलतामें परिणत होता है और आचरणकी शानपर चढ़ता है, तब वास्तविक चरित्रका निर्माण होता है। मनुष्य चाहे परम ज्ञानी हो, पर सदाचारी न हो तो उसके ज्ञानका कोई मूल्य नहीं। सदाचारके अभावमें ज्ञान विषयके समान भयंकर हो सकता है। रावण विद्वान् था, ज्ञानवान् था, चारों वेद और छः शास्त्रोंका महान् पण्डित था, परंतु वह सदाचारी न था; चरित्रहीन था। अतः उसके दस सिरके ऊपर भी गदहेका सिर था। इसके विपरीत भगवान् राम केवल सदाचारके बलपर ही विजयी एवं पूज्य हुए। सदाचारसे ही मानव-जीवन सन्मार्गपर अप्रसर होता है, कोरे ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं। मनुष्य अपने जीवनमें अपने आचरणद्वारा ही चरित्रकी शक्ति अर्जित करता है। चरित्रकी शक्ति असीम है। चरित्रवान् व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी अपने चरित्र और अपने शीलगुणका त्याग नहीं करता। संसार अपने पथसे भले ही विचलित हो जाय, परंतु वह अपने सत्याचरणका पथ कभी न छोड़ेगा। सत्यकी रक्षाके लिये वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा देगा। सत्यकी रक्षा की थी—भीष्मपितामहने शर-शश्यापर; इसाने सूलीपर चढ़कर और मीराने विष-पान कर।

सच्चे उद्देश्यको लेकर हजारों आदमी शूलीपर चढ़ते रहे हैं। यदि विचार विमल हो, जीवन निर्दोष हो, उद्देश्य उच्च हो और कष्टका पहाड़ सिरपर गिर पड़े तो कष्ट नहीं होता, ग्लानि नहीं होती, वरन् सत्पुरुष अपने प्राण लेनेवालोपर दया ही करते हैं; आशीष ही देते हैं और ईश्वरसे उन्हे क्षमा कर देनेकी प्रार्थना भी करते हैं। सत्पुरुषोंकी यही महत्ता है। इनके ही लिये सामी विवेकानन्दजीने कहा है—[✓]‘सारी दुनियों ही क्यों, स्वयं अपने द्वारा भी तिरस्कृत कूपोंके हौंठ जब सूखने लगते हैं तो मौंकें स्तनोंसे वात्सल्य फट पड़ता है, वैसे ही पतित-से-पतितके लिये भी सत्यका हिमाचल

अपने वशमें कहुगम्भीरी गदा लियां रखता है।’ (Complete works of Swami Vivekananda)

गदा करनेवालेका भव तो प्रायः सर्वानि है, परंतु जो द्वारा करनेवालेका भी गदा रखता है—वह शिवत्वको प्राप्त करता है, जो भद्रगत्ये नी मानता है—उसा मैत्र यज शहद वदार्थ। मंड करन जो करदू भलार्थ॥

जीवनमें सदाचारकी प्रेरणा मुरुनिरे ही मिलती है—यही भावक्षेत्र है। वहत दिनों पहले री बात है। मिश्रमें ‘नक्षिवेन’ नामके एक नदाचारी राजा राज्य करते थे। उनके सत्याचरणमें देवता वर्ण प्रमत्न दृष्टि। प्रकट होकर नील देवताने राजाको एक नद्यार दी और कहा—‘राजन् ! यह तल्वार ले, इसे लेकर तु विद्युविजयी होगा।’ इसपर राजा बोला—‘प्रभो ! मुझे तल्वार नहीं चाहिये। विद्यु-विजय करके मैं क्या पाऊँगा ?’ ‘अच्छा तो ले यह पाखन-पत्तर ! तु देवताओंने भी अधिक धन एकत्र करेगा।’ ‘प्रभो ! अपरिमित धन पाकर अन्ततः मैं क्या करूँगा ?’ ‘तो ले, यह सर्वकी सबसे सुन्दर अप्सरा !’ ‘मगर प्रभो ! अप्सरा पाकर मैं जीवनकी कौनसी सिद्धि पा जाऊँगा ?’ ‘तो ले, यह फूलका पौधा, यह जहाँ उरोगा, वहो जड़-चेतन, शत्रु-मित्र सभी सुगन्धसे आपूरित हो जाऊँगे।’ देवताने कहा।

इसपर राजाने वही कृतज्ञताके साथ वह पौधा उससे ले लिया। देवदूत स्वर्गकी समस्त नियमतें राजा नक्षिवेनके इस चतुर प्रवीण निश्चयपर न्यौछावर करते हुए चला गया। राजाके इस चयनपर दुनियों आज भी मुख्य है। क्यों? इसलिये कि उसने ऐसी दैर्घ्यी सम्पदा चुनी, जिसे व्यक्ति सम्पूर्णतः भोगकर भी अकेला नहीं भोगता है। ऐसी सम्पदा, जो व्यक्तिसे कुछ लेती नहीं, जो व्यक्ति-व्यक्तिको विलगाती नहीं, प्रत्युत मिलाती है तथा जिसका मूल्य कभी घटता नहीं। तल्वारका पानी

उतर जाता है, धनका भी दुरुपयोग हो जाता है, सुन्दरी-की श्री ढल जाती है, किंतु फ़लका सम्मान कभी नहीं घटता। जो भी आँखें उसे देख लेती हैं, स्वयं खिल जाती हैं। जो भी दिल उसकी गन्ध छू लेता है, खुद फ़ल बन जाता है। फ़लकी सौरभसे देवता भी स्वर्गसे धरतीपर आकर वरदान विवेरने लगते हैं। वरदान ही है, सदाचारका साथ।

सदाचार सहज साधना है। यदि हम ईश्वरकी सर्वव्यापकताका चिन्तन प्रत्येक श्वासमे करते रहें—
इस अभ्याससे विरत न हों, तो हमारा जीवन सहज ही अमृतमय हो जाय। ✓

आदमी मन्दिरमें पूजा तथा आरती करके और मिथ्याकोंको मिथ्या देकर मानने लगा है कि वह सदाचारी है तथा निर्वाण-अधिकारी हो गया है, किंतु दफ्तरमें कुर्सीपर और दुकानमें बैठकर उसे झूठ बोलना है, चोरी करनी है, घूस लेना है और हर सम्भव उपायसे,

नैतिक-अनैतिक ढंगसे अपने लिये अर्थोपर्जन करना है, छलसे काम-तृप्ति करना है। पर 'सहज साधना'के लिये सारे जीवनको एक मानकर चलना होगा। जीवनका कोई खास क्षण या समय आराधनाके लिये निश्चित नहीं किया जा सकता, वल्कि जीवनके प्रत्येक क्षणको आराधनामय बनाना होगा। जीवनकी कोई खास किया नहीं, वल्कि सारी कियाएँ पूजा होगी—

'जहँ-जहँ जाऊँ सोह-परिकरमा, जोह-जोह करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दृजा ॥'

उसीका जीवन महत्वपूर्ण बनता है, जिसके जन्म तथा मृत्युने सदाचारका मार्ग प्रशस्त करनेमें सहयोग दिया है।

सदाचार आत्मगुण है—इसके द्वारा हृदय-मन्थनसे जो सत्य प्रकट होता है, वह है जीवनका अमृत और असत्य है विप। धन्य हैं सदाचारी वे, जो विषका शमन और अमृतकी निरन्तर वर्पा करते रहते हैं। ✓

किसीके कष्टकी उपेक्षा उचित नहीं

कलकत्तेके एक कालेजके कुछ विद्यार्थी वहाँका 'फोर्ट विलियम' दुर्ग देखने गये। सहसा उनके एक साथीके शरीरमें पीड़ा होने लगी। उसने अपने मित्रोंसे अपनी पीड़ा बतायी और वह सीढ़ियोंपर बैठ गया, लेकिन उसके साथियोंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया; वल्कि उपेक्षा की और उसकी हँसी उड़ाते हुए वे सब ऊपर चले गये।

ऊपर पहुँचकर एक विद्यार्थीके मनमें संदेह हुआ—'कहीं सचमुच ही तो उसे पीड़ा नहीं है?' 'वह लौट पड़ा। नीचे आकर वह देखता क्या है कि वह विद्यार्थी मूर्छित पड़ा है। ज्वरसे उसका शरीर जल रहा है। दूसरे विद्यार्थीने दौड़कर एक गाड़ी मँगायी और उसे गाड़ीमें चढ़ाकर घर ले गया। उसके अन्य साथियोंको जब पता लगा, तब उन्हें वड़ा पश्चात्ताप हुआ।

उस विद्यार्थीका नाम तो ज्ञात नहीं, जो वीमार था: किंतु जो उसे गाड़ीमें रखकर ले आया था, वह था नरेन्द्र। आगे चलकर संसारमें वही (स्वामी श्रीविवेकानन्दके नामसे विख्यात हुआ)

सदाचार मानव-मनकी महानुभावता है

(लेखक—प० श्रीजगदीशजी पाण्डेय, वी० ए०, वी-एड०)

विद्या-वैभव, कला, साहित्य एवं राज-प्रश्न्य—इन सबसे अधिक सदाचार समृद्ध तथा प्रभावपूर्ण है। एक सदाचारी व्यक्ति भौतिक रूपसे गरीब होकर भी धनी-मानी श्रीमन्तोके हृदयोपर अपना प्रभाव ढाल सकता है। नम्रता, दया, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, त्यग—जीवनके प्रायः सभी आदर्शभाव सदाचारमें ओतप्रोत हैं। सदाचार मानव-मनका उम्फुल्ल कमल है। यह दानवके मनको भी अपनी मञ्जुल रिनाथ सुगन्धसे अभिभूत कर सकता है। सदाचार आचरणकी पवित्रता है, मृदु वचनोकी मिठास है और है—विद्याका व्यावहारिक धन्वन्तरिकल्प। एक गरीब किसानकी सादगी और सचाईमें भी सदाचारका पौधा पनप सकता है, एक भूखे कंगालकी तंग-परस्तीमें भी इसका विश्वा लहलहा सकता है। इसपर किसी एक वर्गका विशेषाविकार नहीं, यह समूर्ण मानव-मनकी सच्ची मानवता है।

राजा दिलीप अपनी आश्रिता गाँको सिंहद्वारा आक्रान्त देखकर उसके रथार्थ अपना शरीर सिंहको समर्पित करनेके लिये उद्यत हो गये। यह सदाचारकी अद्भुत झौंकी है। महाभारतमें वर्णित सत्कप्रस्थीय ब्राह्मण-कथामें आता है कि किस प्रकार एक भूखे कंगाल परिवारके सदस्य बहुत दिनोंसे क्षुधातस होकर भी कठिनाईसे प्राप्त सत्तु एक अतिथिको गिलकर स्थायं मर मिटे। यह सदाचारकी जबल्ज्ञ झौंकी है। तभी तो उस उच्छिष्ट सत्तुकी

गन्धमात्रसे उस नेवलेका आवा शरीर स्वर्णमय हो गया। आजके युगमें भी बहुतसे गरीब भाई-बहन कहीसे प्राप्त रूपया-पैसा या अन्य सामग्री सूचना मिलनेपर मालिकको लौटा देते हैं। ऐसे कई उदाहरण हमलोगोंके जीवनमें मिलते हैं।

महात्मा बुद्धने किस प्रकार अपने जीवनकी परवा किये विना अङ्गुष्ठिमाल ढाकूके टिल्को जीलिया—यह सर्वविदित है। सदाचार निर्मल अन्त करणका पवित्र सलिल है। छत्रपनि शिवाजीके सैनिकोंने एक जनपदपर अधिकार करते समय एक सुन्दर कामिनीको पकड़ लाये और उसे शिवाजीके सम्मुख पेश किया। शिवाजीने सैनिकोंको कड़ी फटंकार बतायी और उस रमणीको सम्मोऽर्थित करते हुए कहा—‘मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं इतना कुरुप न हुआ होता’ और उसे सम्मानके साथ उसके घर पहुँचवा दिया। यह है—सदाचारका अनुपम उदाहरण !

इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचार जीवन एक अनमोल रत्न है। यह सत् आनन्द एक ऐसा भव्य एवं भद्र व्यवहार है, जो आचरणकर्ताके मनको तो तृप्ति प्रदान करता ही है, दूसरेको भी आनन्द-परिपूरित करता है। अतः यह सर्वथा सबके लिये अनुकरणीय है। सदाचारसे जीवनमें आनन्दवं कौन कहे, परमानन्दकी प्राप्ति होनी है।

संतका धन्यवाद !

उसमान हैरी नामके एक संत थे। वे एक बार एक गलोसे जा रहे थे। इसी समय अन्नानक उनपर ऊपरसे एक थाल राख डाल दी। संत अपने बछ्न झाड़कर प्रभुका धन्यवाद कर लोगोंने पूछा कि ‘इस समय धन्यवादका क्या प्रसङ्ग था।’ वे घोले, मैं तो अभिन्नमें जलाये जाने किंतु प्रभुने दया करके राखसे ही निर्वाह कर दिया। इसीसे मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।’

कर्णकी दानशीलता

एक बार इन्द्रप्रस्थमे पाण्डवोंकी सभामे ही भगवान् कृष्ण कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लो । वोले—‘पार्थ ! तुम्हारे राजसदनमे भी द्वारादि चन्दनके अर्जुनको यह सब अच्छा न लगा । उन्होने कहा—‘हृषीकेश ! धर्मराजकी दानशीलतामे कहाँ त्रुटि है, जो उनकी उपस्थितिमे आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं ?’ ‘इस तथ्यको तुम खयं समयपर समझ लोगे ।’ यह कहकर उस समय श्रीकृष्णने बातको टाल दिया ।

कुछ समय पश्चात् अर्जुनको साथ लेकर श्यामसुन्दर ग्राहणके वेशमे पाण्डवोंके राजसदनमें आये और बोले—‘राजन् ! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ । भोजन मैं केवल चन्दनकी लकड़ीसे बनाता हूँ और वह काष्ठ तनिक भी भीगा नहीं होना चाहिये ।

उस समय खूब वर्षा हो रही थी । युधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन-काष्ठ कहीं मिला नहीं । सेवक नगरमें गये, किंतु संयोग न था कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सब भीगा नहीं मिला । धर्मराजको बड़ा दुःख हुआ । किंतु उपाय कुछ भी न था ।

उसी वेशमे वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे भी कही । कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और निगरमें भी न मिला । कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया । राजसदनके बाह्य कलाङ्कित द्वार चन्दनके पायेके बने थे । उस्ते दूसरे उपकरण भी चन्दनके बने थे । क्षणभरमें उसके कर्णने उन सबको चीरकर एकत्र करवा दिया ले—‘भगवन् ! आप भोजन बनायें ।

था न था आतिथ्य प्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते । तृप्त होकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे

बोले—‘पार्थ ! तुम्हारे राजसदनमे भी द्वारादि चन्दनके ही हैं । उन्हे देनेमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं, किंतु दानधर्ममे जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्मरण आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय ।’

× × ×

‘आज दानशीलताका सूर्य अस्त हो रहा है ।’ जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमे गिरे, सायंकाल शिविरमें लौटकर श्रीकृष्ण खिलमुख बैठ गये । ‘अच्युत ! आप उदास हो, क्या इतनी महानता कर्ममे है ?’ अर्जुनने पूछा ।

‘चलो ! उस महाप्राणके अन्तिम दर्शन कर आयें । तुम दूरसे ही देखते रहना ।’ श्रीकृष्ण उठे । उन्होने वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाया । रक्तसे कीचड़ बनी, शवसे पटी, छिन्न-मिन्न अख-शखोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे । ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण पड़े थे ।

‘महादानी कर्ण !’ पुकारा वृद्ध ब्राह्मणने ।

‘मै यहाँ हूँ, प्रसु !’ किसी प्रकार पीड़ासे कराहते हुए कर्णने कहा ।

‘तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत अल्प द्रव्यकी आशासे आया था !’ ब्राह्मणने कहा । ‘आप मेरे घर पधारें !’ कर्ण और क्या कहते ?

‘मुझे जाने दो ! इधर-उधर भटकनेकी शक्ति मुझमें नहीं !’ ब्राह्मण रुष्ट हुए । ‘मेरे दॉतोंमें खर्ण लगा है । आप इन्हें तोड़कर ले लें !’ कर्णने सोचकर कहा ।

‘छिः ! ब्राह्मण अब यह क्रूर कर्म करेगा !’ ब्राह्मण-रूप कृष्ण और रुष्ट-से हुए ।

किसी प्रकार कर्ण खिसके । उन्होने पास पड़े एक शख्सपर मुख पटक दिया । शख्ससे टूटे दॉतोंका

खर्ण निकाला, किंतु रक्तसना खर्ण ब्राह्मण कैसे ले ।
धनुष भी चढ़ानेकी शक्ति कर्णमें नहीं थी । मरणासन्,
अत्यन्त आहत कर्णने हाथ तथा घायल मुखसे धनुष
चढ़ाकर वारुणाक्रके द्वारा जल प्रकट कर खर्ण धोया

और दान किया । अब श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । अन्तिम
समय कर्णको दर्शन देकर कृतार्थ करने दी तो पधारे थे
लीलामय श्यामसुन्दर । उनके देवदुर्लभ चरणोपर स्त्रि
रखकर कर्णने देवत्याग किया ।

सदाचारकी महिमा

(रचयिता—श्रीमदनन्दी साहित्यभूषण, विशारद, गांग्रे, साहित्यरत्न)

सदाचार-मलयानिलकी मधु सुरभि व्याप्त जिस तनमें ।
सुलभ उसे देवत्व सदा, सुविचार जागते मनमें ॥

परोपकार, हितचिन्तन, सेवा, सत्सङ्गति वह करता ।
पारसका गुण स्वतः हृदयमें क्रमशः प्रनिपल भरता ॥

छिद्रान्वेषण जिसे न भाता, परनिन्दा न सुहातो ।
अन्यकारमें नव प्रकाशकी, वही जलाता धाती ॥

ऋषि, मुनि, संत-तपसी, पूर्वज सदाचार अपनाये ।
सफल समुन्नत जीवनका सोपान इसे बतलाये ॥

शुभाचरण, निर्मल चरित्रका निर्माता, व्याख्याता ।
निष्ठा, स्नेह, सरल मानवता, सदैविवेकका दाता ॥

सदाचार कुलकी मर्यादा, जन-जनकी प्रिय थाती ।
सदा प्रेरणा देता सात्त्विक, ज्यों स्वर सुखद प्रभाती ॥

दिशि-दिशि कीर्ति-प्रसारक, उरमें नव उमंग भरता है ।
श्रद्धा-सुमन खिलाता जगमें, स्वजन-सृष्टि करता है ॥

विश्ववन्द्य पुरुषोंने इसकी महिमा विशद बतायी ।
आदि कालसे सद्ग्रन्थोंने गाथा जिसकी गायी ॥

पग-पगपर नित सदाचारका जो विचार रखता है ।
मुंदुभाषी, चिनम्र, संकल्पी, सिद्ध वही बनता है ॥

सदाचारके प्रहरी

(१)

भगवान् आद्यशंकराचार्य

शंकराचार आचार्य शंकर भारतके दार्शनिक अग्रणी आचार्य एवं महापुरुष थे। इनकी जीवनी तथा दार्शनिकतापर विभिन्न भाषाओमें हजारों श्रेष्ठ पुस्तकों हैं; इनके जन्मसमय आदिके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। आचार्यपीठके परम्परानुसार इनका आविर्भाव विक्रमसे एक शती पूर्व हुआ* था। 'दिग्विजयों'के अनुसार केरलप्रदेशके पूर्णानंदीके तटवर्ती कालडी नामक गाँवमें एक बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रा (विशिष्टा-)के गर्भसे वैशाख-शुक्ल पञ्चमीके दिन इनका जन्म हुआ था। इनके पिताने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे पुत्रजन्मके लिये भगवान् शंकरकी तीव्र आराधना की थी। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष सदाशिवने उनके पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया था। इसके फलस्वरूप उन्होंने न केवल एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्रको, बल्कि पुत्र-रूपमें स्वयं भगवान् शंकरको ही प्राप्त किया और उनका नाम भी शंकर ही रख दिया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण लोगोंको इनके बचपनसे ही मिलने लगा था। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे। दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म हुआ। इसके बाद उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके इन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेज दिया गया। केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही

व्युत्पन्न शंकर वेद, वेदाङ्गों और वेदान्तका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये! उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन आश्र्वय-चकित हो जाते थे।

विद्याध्ययन समाप्त कर ही शंकरने संन्यास लेना चाहा। उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी। माताने अनुमति नहीं दी। भला इतनी बड़ी तपस्याके बाद वरदानमें प्राप्त पुत्रको पुत्रवत्सला प्रब्रज्याके लिये अनुमति कैसे दे सकती थी? माताका नवनीत-कोमल हृदय ममता-की सीमा होता है—वस्तुतः 'माता-सद्वा ममता अन्य-की न है न होगी।' शंकरको संन्यासकी अपनी प्रवल उत्कण्ठा प्रेरित कर रही थी, परंतु सदाचारी बालकके लिये जननीकी अनुमति श्रुतिकी ही भौति अनिवार्य एवं मान्य थी। फिर भी शंकर, भगवान् शंकरके अवतार थे और भगवान्को उन्हें शंकराचार्य बनाकर सदाचार तथा अद्वैतवादकी साधनाका सम्यक् प्रचार-प्रसार कराना इष्ट था। भावीने अनुकूल परिस्थिति जुटा दी।

एक दिन शंकर माताके साथ नदीमें स्नान करने गये। वहाँ उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। माता वेचैन हो उठी। भगवान् शंकरने शंकरके मुँहसे कहलाया—'मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' पुत्रवत्सलाने अपने प्रिय पुत्रके अत्यन्त प्रिय प्राणोंके रक्षा-हेतु संन्यास ले लेनेकी अनुमति दे दी। शंकर मगरसे छूट गये। माताको प्रसन्नता हुई।

माताकी अनुमति प्राप्त कर अष्टवर्षीय स्नातक ब्रह्मचारी शंकर संन्यासी होने घरसे निकल पड़े। घर

* पं० श्रीउदयवीर शास्त्रीके 'वेदान्तदर्शनका इतिहास'का प्रथम भाग मुख्यतया इनके जन्मकालके निर्णयपर ही पर्याप्त हुआ है। इनके जन्मकाल-विमर्शके लिये उसे देखना चाहिये। उसमें कल्याणके भी कुछ उद्धरण संगृहीत हैं।

तुम्हारे दिये पिण्डदान और जलदानको ग्रहण करता है, इसमें क्या प्रमाण है ? —

स्वीकरोति यदा देही शरणं मरणं तदा ।

पिण्डोदकादिकं दत्तमादत्ते तत्र का ग्रन्थ ॥

(श्रीभगवदाचार्यकृत रा० दि० १६५)

सदाचारके विरोधी लोग सदाचारके मूल वेदोंका उपहास करते हुए कह रहे थे कि 'यदि वेदोंके क्रमरहित तथा विरुद्ध क्रमवाले वाक्य प्रामाणिक हों तो उन्मत्तोंके प्रलापमें आपको क्यों दोष दीख पड़ता है ? यदि 'जर्फरी' 'तुर्फरी' आदि वेदोंके असम्बद्ध वाक्योंको भी स्वतः प्रमाण मानते हो तो किसी अन्यके वाक्योंका स्वतःप्रामाण्य क्यों नहीं स्वीकार करते ? ' —

अकमं विक्रमं वाक्यं श्रुतीनां चेत्प्रमा भवेत् ।
तदोन्मत्तप्रलापेषु पुरोभागी कथं भवान् ॥
जर्फरीतुर्फरीत्यादि वचसां चेत् प्रमाणता ।
कस्याप्यन्यस्य वाक्येषु कोऽपराधो निरीक्ष्यते ॥

(रामानन्ददि० १ । ६९, ६८)

सदाचारविरोधी इन सभी भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करते हुए आचार्यचरणने लोगोंका समाधान किया कि परब्रह्मसे श्रवणपरम्पराद्वारा यह श्रुति जीवोंके कल्याणके लिये प्राप्त हुई है । उसी श्रौतमार्गका अनुगमन करके मनुष्य पापादि कर्मोंका अपक्षय कर सकते हैं ।

उन्होंने सदाचारका उद्घोष करते हुए सभीको सदाचारका पाठ पढ़ाया कि आचार और सद्विचार—ये दोनों ही वेदप्रतिपादित धर्म हैं । आचार—स्नान, शौच आदिसे बाह्य इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और सद्विचारसे बन्धका कारण मन शुद्ध होता है । आध्यन्तर और बाह्य दोनों शौच होना चाहिये । बाह्य पवित्रता प्रथम सोपान है और आन्तरिक पवित्रता उसके आगेका सोपान है । मनुष्योंकी बाणी सत्यसे शुद्ध होती है,

कान भगवत्कथा-श्रवणसे, पग तीर्थाटनसे, हाथ दानसे और मन दम्भादिके त्यागसे शुद्ध होता है ।

उन्होंने शिकार खेलना, चोरी करना, चोरीकी वस्तु लेना, धृत-क्रीड़ा (पासा खेलना या जूआ खेलना), मदिरा-मांस-भङ्गादिका सेवन करना, गाँजा-तमाकू-चरस आदिका पीना इत्यादि सब प्रकारके व्यसनोंको छोड़नेका उपदेश दिया । साथ ही उन्होंने सबको दुराचारका त्याग और सदाचारका पालन करनेका पाठ पढ़ाया —

वाच्यान्यरुन्तुदवचारांसि कदापि नैव
त्याज्यानि दम्भपरनिन्दनदुष्कृतानि ।

भद्राय रामचरणाम्बुरुहानुरक्तः
सत्यव्रतं प्रतिदिनं परिपालनीयम् ॥
(भगवदाचार्यविरचित रा० दि० १२ । १६)

परलोकगमनकालमें भी उन्होंने अपने शिष्योंको सदाचारपालन करनेका ही उपदेश दिया ।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने सम्पूर्ण भारतका ध्रमण कर सर्वत्र दुराचारका उच्छेद किया एवं सदाचारके बीज वपन किये । उन्होंने अपने विस्तृत शिष्य-समुदायको परम्परास्परसे इस सदाचारवृक्षका सिंचन करते रहनेका उपदेश दिया —

भक्तिकल्पलता येयं महायासेन रोपिता ।
अद्वाजलप्रदानेन रक्षणीया मुहुर्मुहुः ॥
(रा० दि० २०)

इस प्रकार उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थासे अद्यावधि सदाचारका रक्षण और पोषण होता आ रहा है, जो स्तुत्य है । परमादरणीय आचार्यचरण निःसदेह सदाचारके अमर प्रहरी हैं और—‘चाचं ते शुन्धामि… चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ (शुक्ल यजुः० ६ । १४)’ इस वेद-वचनके अनुपालक भी ।

(३)

✓ गोखामी श्रीतुलसीदासजी

व्यक्ति, समाज या देश जब चारों ओरसे निराश होकर, सर्वथा निरीह और निराश्रित होकर सच्चे हृदयसे परमात्माको पुकारता है तो हृदयसे निकली हुई वह चीख, वह टेर, वह पुकार प्रभुतक अवश्य पहुँचती है और उस पुकारपर कहणावरुणालय दयापरवश हरिको या तो खयं इस धराधामपर उत्तर आना पड़ता है या उनके संदेशका प्रसाद लेकर कोई महापुरुष हमारे बीच आ जाता है, जिसके कारण नैराश्यजनित खिन्नता तो मिट्टी ही है, साथ ही जीवनमें एक अद्भुत प्रफुल्लता और अपूर्व शक्तिका संचार हो जाता है। जब-जब भी हमने एक स्वरसे, सच्चे और आतुर हृदयसे प्रभुको पुकारा है, इतिहास साक्षी है, खयं प्रभु हमारे बीच आये हैं अथवा उन्होने किसी महापुरुषको भेजा है, जिसने हमारे भीतर प्रभुकी शक्ति और ज्योतिका संचार कर हमारे जीवनको सदाके लिये प्रभुचरणोंसे युक्त कर दिया है।

गोखामीजीका आविर्भाव जिस समय हुआ, वह समय हिंदूजातिके लिये घोर निराशाका ही था। हम चारों ओरसे अन्धकारसे घिरे हुए थे। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। हिंदीके राजाश्रित कवि अपना तथा अपने आश्रयदाता नरेशका जीवनवृत्तान्त लिखा करते थे, परंतु गोखामीजीने खत्तन्त्र हेनेके कारण ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होने भगवान्‌का लोकमङ्गल रूप दिखाकर हिंदूजातिको मिटनेसे तो बचाया ही, साथ ही व्यक्तिके जीवनमें भी आशाका उदय हुआ। हमने भगवान्‌रामचन्द्रकी भक्तिका आश्रय लिया और उसकी शक्तिसे हमारी रक्षा हुई। गोखामीजीने ठेठ पूर्वी अवधी भाषणमें हमें समझाया कि भगवान्‌ हमसे दूर नहीं हैं। वे सर्वथा

हमारे जीवनसे सटे हुए हैं। उनके ग्रन्थोंसे उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। हाँ, उनकी भक्तिजन्य दीनताकी झलक अवश्य सर्वत्र मिलती है। गोखामीजी वाल्मीकिके अवतार माने जाते हैं। आपका आविर्भाव विं० सं० १५५४की श्रावण शुक्ल सप्तमीको बाँदा जिलेके राजापुर गाँवमें एक सरयूपरीण ब्राह्मणके घर हुआ था—

पंद्रह सै चउचन विष्णे, कालिदीके तीर।

श्रावण शुक्ल सप्तमी, तुलसी धरेड शरीर ॥

आपके पिताका नाम आत्माराम दुबे और माताका नाम हुलसी था। जन्मके समय आप तनिक भी रोये नहीं और आपके बत्तीसों दाँत उगे हुए थे। आप अमुक्त मूलमें पैदा हुए थे, जिसके कारण खयं बालकके या माता-पिताके अनिष्टकी आशङ्का थी। बचपनमें आपका नाम तुलाराम था। कहते हैं—पहले छीके प्रति इनकी विशेष आसक्ति थी। एक दिन जब वे पीहर चली गयीं, आप उनके घर रातको छिपकर पहुँचे। उन्हें बड़ा संकोच हुआ और कहते हैं, उस समय उन्होने यह दोहा कहा—

हाइ मांसको देह मम, ता पर जैसी श्रीति ।

तिसु आधो जो राम प्रति, तौ न होत भवभीति ॥

यह बात आपको बहुत लगी और बिना विरमे ही आप वहाँसे चल दिये। वहाँसे आप सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये तथा जगन्नाथ, रामेश्वर एवं द्वारका एवं बद्रीनारायण पैदल गये और तीर्थाटनके द्वारा अपने वैराग्य और तितिक्षाको बढ़ाया। तीर्थाटनमें आपके चौदह वर्ष लगे। श्रीनरहिदासको आपने गुरुरूपमें वरण किया।

घर छोड़नेके पीछे छीने एक बार यह दोहा गोखामीजीको लिख भेजा—

कटिकी सीनी कनकसी, रहति सखिन सँग सोइ ।
मोहि फटेको डरु नहीं, अनत कटे दर होइ ॥

इसके उत्तरमें श्रीगोखामीजीने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, चाँधि जटा सिर केस ।
इम तो चास्ता प्रेमरस, पत्नीके उपदेश ॥

बहुत दिन पीछे वृद्धावस्थामें आप एक बार चित्रकूटसे लौटते समय अनजानमें अपने ससुरके घर जा पहुँचे । इनकी लड़ी भी दूढ़ी हो गयी थीं । बड़ी देरके बाद इन्होने उन्हे पहचाना । उनकी इच्छा हुई कि इनके साथ रहतीं तो रामभजन और पतिकी सेवा— दोनों साथसाथ करके जन्म सुधारतीं । उन्होने सवेरे अपनेको गोखामीजीके सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनायी । पर गोखामीजी तुरंत वहाँसे चलते बने ।

गोखामीजी शौचके लिये नित्य गङ्गापार जाया करते थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल एक पेड़की जड़मे ढाल देते थे । उस पेड़पर एक प्रेत रहता था । जलसे तृप्त होकर वह एक दिन गोखामीजीके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा कि मुझसे कुछ वर माँगो । गोखामीजीने श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसा प्रकट की । प्रेतने बतलाया कि अमुक मन्दिरमें नित्य सायंकाल रामायणकी कथा होती है, वहाँ कोढ़ीके बेशमें नित्य हनुमान्‌जी कथा सुनने आते हैं । सबसे पहले आते हैं और सबसे अन्तमें जाते हैं । उन्हें ही दृढ़तापूर्वक पकड़ो । गोसाईजीने ऐसा ही किया । श्रीहनुमान्‌जीके चरण पकड़कर आप जोर-जोरसे रोने लगे । अन्तमें हनुमान्‌जीने आज्ञा दी कि जाओ चित्रकूटमें दर्शन होगे । आदेशानुसार आप चित्रकूट आये । एक दिन वनमे धूम रहे थे कि दो सुन्दर राजकुमार—एक श्याम और एक गौर—एक हरिनके पीछे धनुप-वाण लिये, घोड़ा दौड़ाते दिखलायी पड़े । रूप देखकर आप सर्वथा मोहित हो गये । इतनेमें हनुमान्‌जीने आकर पूछा ‘कुछ देखा ?’ गोखामीजी

बोले—हाँ, दो सुन्दर राजकुमार इसी राहसे घोड़ेपर गये हैं । हनुमान्‌जीने कहा—‘वे ही राम-लक्ष्मण थे ।’

विं सं० १६०७को मौनी अमावस्या थी । दिन था बुधवार । चित्रकूटके घाटपर वैठकर तुलसीदासजी चन्दन घिस रहे थे । इतनेमें भगवान्‌ सामने आ गये और आपसे चन्दन माँगा । दृष्टि ऊपर उठी तो उस अपश्य छविको देखकर आँखें मुांव हो गयीं—टकटकी बैध गयी । शरीरकी सभी सुध-बुध जाती रही ।

संवत् १६३१की रामनवमी, मङ्गलवारको श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञा और प्रेरणासे आपने रामचरितमानसका प्रणयन प्रारम्भ किया । दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनमें आपने उसे पूरा किया । पूरा हो चुकनेपर श्रीहनुमान्‌जी पुनः प्रकट हुए और पूरी रामायण सुनी और आशीर्वाद दिया कि यह कृति तुम्हारी कीर्तिको अमर कर देगी ।

एक दिन कुछ चोर तुलसीदासजीके यहाँ चोरी करने गये तो देखा कि दो सुन्दर बालक धनुप-वाण लिये पहरा दे रहे हैं । चोर लौट गये । दूसरे दिन भी वे आये तो उसी पहरेदारको देखा । सवेरे उन्होने गोखामीजीसे पूछा कि आपके यहाँ कौन श्याम-सुन्दर बालक पहरा देता है । गोखामीजी समझ गये कि मेरे कारण प्रभुको कष्ट उठाना पड़ता है । अतएव आपके पास जो कुछ भी था, वह सब इन्होने छुटा दिया ।

आपके आशीर्वादसे एक विवाका पति पुनः जीवित हो गया । यह खबर बादशाहतक पहुँची । उसने इन्हे बुला भेजा और यह कहा कि कुछ करामात दिखाओ । आपने कहा कि ‘रामनाम’के अतिरिक्त मैं कुछ भी करामात नहीं जानता । बादशाहने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि जबतक करामात नहीं दिखाओगे, छूटने नहीं पाओगे । तुलसीदासजीने

श्रीहनुमान्‌जीकी स्तुति की । हनुमान्‌जीने बंदरोंकी सेनासे कोटका विघ्नं स कराना आरम्भ किया । वादशाहने आपके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगी ।

गोस्वामीजी एक बार वृन्दावन आये । वहाँ एक मन्दिरमें दर्शनको गये । श्रीकृष्णमूर्तिका दर्शन करके आपने यह दोहा कहा—

का वरनर्तं छवि आजकी, भले बने हो नाथ ।
तुलसी भस्त्रक तब नवै जब धनुष-नान लेड हाथ ॥

भगवान्‌ने आपको श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें दर्शन दिये ।

दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामलला नहद्दू, पार्वतीमङ्गल, जानकीमङ्गल, वरवै रामायण, रामाज्ञा, विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी और कृष्णगीतावली—ये बारह ग्रन्थ आपके विशेष प्रसिद्ध हैं । पर इनके अतिरिक्त तुलसी-स्तरसई, संकटमोचन,

हनुमानवाहुक, रामशलाका, छप्पयरामायण, कुण्डलिया-रामायण, ज्ञानदीपिका, जानकीविजय, तुलसीद्वजारा आदि ग्रन्थ भी आपके नामसे प्रख्यात हैं* ।

गोस्वामीतुलसीदासजीकी रामायण (रामचरितमानस) भारतके घर-घरमें बड़े आदर और भक्तिके साथ पढ़ी और पूजी जाती है । मानसने कितने विंगड़ोंको मुवारा है, कितने मुमुक्षुओंको मोक्षकी प्राप्ति करायी है, कितने भगवत्-ग्रेमियोंको भगवान्‌से मिलाया है, इसकी कोई गणना नहीं है । यह तरन-तारन ग्रन्थ है । कोई भी हिंदू इससे अपरिचित नहीं है ।

१२६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६८०की श्रावण कृष्ण तृतीया, शनिवारको आपने अस्सी बाटपर शरीर छोड़कर साकेतलोकको प्रयाण किया—

संवत् सोलह से अस्सी, अस्सी गंगके तीर ।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्ज्ञा शरीर ॥

(४)

राष्ट्रगुरु श्रीसमर्थ स्वामी रामदासजी

(लेखक—डॉ० श्रीकेशवविष्णुजी मुले)

अपने समयके महान् सदाचारवादीके नाते श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीका नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है । हुर्मायसे उस समयकी भारतवर्पकी सामाजिक, धार्मिक और नैतिक अवस्था अत्यन्त निकृष्टावस्थामें पहुँच गयी थी । स्वयं श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने उस समयकी परिस्थितिका वर्णन इस प्रकार किया है—

‘असहनीय महँगाईके कारण लोग अपने गौव और देश छोड़कर दूर चले जा रहे हैं । काफी लोग भूखमरीके शिकार हो रहे हैं । कई गौव उजड़ चुके हैं ।

* श्रीविक्रमपरिपद् काशीने चार खण्डोंमें तुलसीदासजीके प्रायः ३० ग्रन्थ टीका-टिप्पणीसहित प्रकाशित किये हैं । इनकी जीवनी, जन्मस्थान आदिपर भी अन्ततक सैकड़ों ग्रन्थ मिन्न विचारयुक्त प्रकाशित हुए हैं । इनमें बहुत भत्तमेद भी हैं । भवानीदास, चन्द्रवली पाढ़ेय, माताप्रसाद गुप्त, किशोरीलाल, डा० रामदत्त, डा० गोवर्धननाथ आदिकी पुस्तके मुख्य हैं । यहाँ जीवनी-सम्बन्धी उनकी विशेष प्रसिद्ध वातें ही दी गयी हैं ।

कैसे होगा ? ये उनके चिन्तन और मननके विषय थे । परिणामतः उन्होंने समाजके सर्वस्तरीय लोगोंके लिये सदाचारका उपदेश अपने दासबोध, मनोबोध, स्फुट ओवी, अभग आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है । वैसे तो यह कहनेमें भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीका सम्पूर्ण साहित्य ही सदाचारका उपदेश करता है ।

जनताके दुर्गुण तथा दुराचारोंका विवरण तथा विश्लेषण दासबोधमें सूख्ख, पढ़तसूख्ख, कुविदा, तमोगुण, रजोगुण, वद्ध, कण्ठ लक्षण, जनस्वभाव, श्रोता-अवलक्षण, टोणपसिद्ध आदि 'समासो'में अर्थात् अध्यायोंमें विस्तारके साथ किया है । इन दुराचारोंको नष्ट करने-हेतु श्रीसमर्थजी कहते हैं—

रूप लावण्य अभ्यासता न ये । सहज गुणासी न चले उपाये ।

काही तरी धरावी सोये । आगांतुक गणाची ।

उत्तम लक्षणे ध्यावी । सूख्ख लक्षणे त्यागावी ।

रूप और सौन्दर्य अभ्यास करनेसे बदल नहीं सकते, क्योंकि नैसर्गिक गुण नहीं बदल सकते हैं; किंतु दुष्ट और सूख्ख लक्षणोंका त्यागकर आगांतुक ऐसे उत्तम गुणोंकी प्राप्ति मनुष्यमात्रको सहज साथ है । इन उत्तम गुणोंका वर्णन 'दासबोध'ग्रन्थके उत्तम गुण, सत्त्वगुण, सद्विद्या-निरूपण, विरक्त, नवविधा भक्ति, साधक-लक्षण, सिक्षण, महत, निस्पृह-मिक्षण, चारुर्य-लक्षण, उत्तम पुरुष, शिक्षा-लेखन, कण्ठपरीक्षा, विवरण, सदैव, लक्षण, बुद्धिवाद, यत्र, उपाविष्ट, महंतराजकारण, विवेक आदि समासों या अध्यायोंमें विस्तारके साथ किया है । मानव-जीवनकी भिन्न अवस्थामें किये जानेवाले दुराचार तथा उन्हे छोड़कर स्वीकार करने योग्य सदाचारोंका वर्णन तथा विस्तृत मार्गदर्शन श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने इन समासोंमें सशक्त भाषामें किया है ।

परमार्थके परिकोक्ते लिये सदाचारका विवरण, उनके सम्पूर्ण वाद्ययमें ही व्याप्त है । उसका वि-

इतना है कि उसे मूल ग्रन्थोंमें ही देखना उचित होगा । उनके प्रमुख ग्रन्थका शीर्पक 'दासबोध' रूप्य ही संकेत करता है कि परमात्माका 'दास' बननेके हेतु मनुष्यको जिन आचार-विचारों तथा उपासनाओंका अनुसरण करना चाहिये, उसका 'बोध' देनेवाला ग्रन्थ । अतः यह सष्टु और स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थमें 'दासभक्ति'का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त होता है । यह ग्रन्थ ही समर्थ-सम्प्रदायका प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है । अतः उसपर कुछ अधिक टिप्पणी करना अनावश्यक है । इस ग्रन्थके अन्तमें श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजी कहते हैं—

भक्ताचेनि साभिमानेऽ । कृपा केली दाशारथीनेऽ ।
श्रीसमर्थकृपेची बचनेऽ । तो हा दासबोध ॥

'प्रभु श्रीरामचन्द्रने भक्तोंके साभिमानसे कृपालु बनकर उनके लिये जो कृपान्वचन कहे, वे ही इस 'दासबोध'में सगृहीत हैं । इस ग्रन्थमें बीस दशक हैं जिनका श्रवण और मनन करनेसे परमार्थ-प्राप्ति सुलभ होती है । इन बीस दशकोंमें अन्तर्भूत दो सौ समास अर्थात् अध्याय हैं । जिनका मावकद्वारा अत्यन्त विचारपूर्वक तथा विवेकसे श्रवण और मनन होना आवश्यक माना गया है । इस ग्रन्थका श्रवण, मनन और निदिध्यासन बार-बार करनेसे ही यह ग्रन्थ समझमें आ सकता है, अन्यथा नहीं । इस ग्रन्थकी फलश्रूति बताते समय श्रीसमर्थजी आश्वासन देते हैं कि इस ग्रन्थके श्रवण-मननसे मानवका आचार बदल जाता है और सशयका मूल नष्ट हो जाता है । सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और किसी भी प्रकारकी कठोर साधनाके अभाव-में भी सायुज्य-मुक्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।'

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीके 'मनोबोध' अर्थात् 'मनको स्वर्गनारका उपदेश'में दो सौ पाँच श्लोक हैं ।

मन्त, श्रुति, स्मृति, गीता इत्यादि महान्-
भुभावोद्घारा अनुभवित गर्भितार्थ, अत्यन्त

सरल और प्रासादिक भाषामें अज्ञानी तथा दुराचारी लोगोंका उद्वार बरनेके हेतु बतलाया गया है अर्थात् इन श्लोकोंका सार्थ श्रवण और मन्त्र करनेपर बद्धका साधक बनता है तथा उसे परमार्थका मार्ग सुलभतासे प्राप्त होता है। जो बुद्धिहीन हैं, उन्हें भी साधनाके लिये योग्य बनानेकी सामर्थ्य इन श्लोकोंमें है। उन्हें निश्चय ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होकर अन्तमे मुक्तिका मार्ग भी प्राप्त होता है। इस प्रकार इन श्लोकोंकी फलश्रुति बतायी गयी है।

इन दो मन्त्रोंके अलावा 'आत्माराम', 'पञ्च समासी', 'स्फुट श्लोक', 'पुराना दासवोध', 'एकोस समासी', 'स्फुट

ओवी', 'बाहुगायक' आदि ग्रन्थोंद्वारा भी श्रीसमर्थ गमदास स्थानीजीद्वारा पारमार्थिक सदाचारका विवरण दिएर्गत किया गया है।

उपासने ला इड चाल्यावे । भृद्वैद मन्त्रामि भज इसावे ॥
सत्कर्मयोगं वय बाल्यावे । वर्वासुर्दा गंतल नैल्यावे ॥

अपनी उपासना दृढ़तासे करना। मन्त्रभद्रतोंके सामने सदा नन्द व्यवहार स्वना। अपनी आयु सत्कर्ममें ही विताना और गतके सुख महामय बाने ही कद्दना। यही मानवीय जीवनका चरम उद्देश्य और यही है श्रीसमर्थ गमदास खामीजीके सदाचारसंहिता-का आदर्श।

'सर्वं जनाः सुखिणो भवन्तु'

(५)

संत पुरंदरदासके विचार

[सदाचार—जीवन-मार्गके कण्ठक और निवारण]

(लेखक—डॉ० ए० कमलनाथ 'पंकज' एम० ए०, पी-एच० डी०)

भगवान्में उन्कट भक्ति और जीवनमें सदाचारनिष्ठा—
इन दोनोंसे मानव इहलोक और परलोकोपर विजय पा सकता है। सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मानवको नामस्मरण करनेकी आवश्यकता तो है, पर केवल नामस्मरणसे मानवना परिपूर्ण नहीं होता, उसके लिये सदाचार-पालनकी आवश्यकता भी है। इसलिये भारतके भक्त कर्वियोंने नामस्मरणकी महिमाके साथ-साथ मानव-जीवनकी महानता दर्शाकर नैतिक व सदाचारपूर्ण जीवनपर बल दिया।

कन्नड़के दास—श्रेष्ठ कवि पुरंदरदास हिंदीके महाकवि सूरदासके समान कृष्णके अनन्य भक्त थे। परंतु ये एवा ही स्थानपर बैठकर पाण्डित्यपूर्ण प्रौढ़-कृतियोंकी रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये एक ग्रामसे दूसरे ग्रामतक संचार करते हुए जनता-जनार्दनकी सेवामें सदा निरत रहा करते थे। देखनेवालोंको तो ऐसा लगता था कि पुरंदरदास मिथाटनके लिये कीर्तन करने नियम्यते हैं, पर हर घरके समाने मिथा लेते समय वे कीर्तनोंद्वारा अनेक गहन तत्त्वोंको मिथाके विनिमयमें दे

जाते थे। इन्होंने मानवके लिये सदाचारपूर्ण जीवनकी आवश्यकताको बतानेके लिये, माताके समान मीठी बातोंसे, पिताके समान कठोर बचनोंसे, आचार्यके समान अधिकार-वाणीसे पतन-मार्गपर फ़िसल रहे लोगोंको सावधान किया। इन्होंने बनाया कि नैतिकताके बिना मानव परलोक-सुख प्राप्तेका किनाह ही प्रयत्न करे, व्यर्थ है। समाजमें नैतिक एवं सदाचार-जीवनकी स्थापनाके लिये उन्होंने यानवज्ञों निज बुराइयोंसे दूर रहनेको कहा, जिन्हे इन स्फीटोंमें रखा जा सकता है—

दुर्जन सङ्ग—दुर्जनोंसे दूर रहकर सत्सङ्गति प्राप्त करना सदाचार-जीवनका प्रथम सोपान है। जारण 'असत् पुरुषोका अनुगमन करनेवाले पुरुषोंकी बैरी दुर्दशा होती है, जैसे अन्धेके द्वारा चलनेवाले अन्धेकी।'

(श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३)

पुरंदरदास अपने एक पठमे बताते हैं कि दुर्जन उस कीकरके पेड़की तरह है, जिससे कोई सुख वा लाभ नहीं मिलता—

दुर्जन कीकर पेड़ समान ।
कोटे ही है, जिमची बज ॥

धूपमे आये लोगोंको जहों छाया नहीं मिलती ।
जाहने पर भी फूल नहीं मिलता भूसा नहीं मिटती ॥
पासमे जिसके फूलोंकी सुगंध नहीं मिलती ।
विषय-ज्ञोंके संगमें क्या सुख जांति कभी मिलती ?

(पुरदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद ११, पृ० ८८)

दुर्जनके सहवाससे बितना दुःख मिलता है, इसे बतानेके लिये पुरदरदास दुर्जनकी तुलना सॉप एवं वाघसे करते हैं । वे कहते हैं—

खलकी दृष्टि ही एक सॉप है,
अन्य सॉपकी खोज क्यों करे ?
गलकी दृष्टि ही एक वाघ है,
अन्य वाघकी खोज क्यों करे ?
सलका दूष ही हलाहल है,
और जहरकी खोज क्यों करे ?

(पुरन्दरदासेर-साहित्य, भाग ६, पद ३६, पृ० २६)

परनिन्दा—‘मधु तिष्ठति जिहाग्रे हृदि हालाहलं
विषम्’ (हितो० १।८२) अर्थात् सामने मीठी बातें करते हुए पीठ-पीछे निन्दा करना । यह नैतिक पतनका लक्षण समझा जाता है । ऐसे खभावको छोड़नेका प्रबोध करते हुए पुरदरदास कहते हैं—

निंदे याढ़लु बेड़ नी बात्मा ।
निनगेदेहु लोकलु परमात्मा ॥

(पुरदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद १२३, पृ० १२०)

अर्थात्—

निन्दा न करो हे नीचात्मा ।
तुमको न मिलेगा परमात्मा ॥

पुरदरदासने जहों परनिन्दा न करनेका उपदेश दिया है, वहीं यह भी कहा है कि यदि कोई निन्दा करे तो मानवको सहन करना चाहिये । कारण, इस दुनियामे मानवको प्रशंसाके साथ-साथ निन्दा भी मिलती है और यह निन्दा मानव-अभिवृद्धिका वारण भी बन जाती है ।

लोग हमारी जितनी निन्दा करते हैं, उतना ही हम अपन दुर्गुणोंको दूर करनेका अवसर पाते हैं । अतः निन्दकोका स्वागत करना चाहिये । पुरदरदास कहते हैं—

निन्दा करनेवाले रहें ।

शुकरके रहनेपर जैसे गली शुद्ध बन जाती है ।
पूर्व किंत्रे पापोंके मलको निन्दक ही खा जाते हैं ॥

अभिमान-त्याग—अन्तःवारणके नैर्मल्यके लिये अहंकार व अभिमानका परित्याग आवश्यक है । गर्व मानवको पतनके गर्तमे गिरा देता है, इसलिये पुरदरदासने लोगोंको वार-वार सावधान किया कि वे व्यर्थका अभिमान छोड़ दे—

उच्चदिन उच्चदिन येले मानदा ।

हृद्बलियं थे यम वोचिवहुता वादिश्व ॥

(श्रीकर्णाटक-हरिदासेर-कीर्तन-तरिगिणी भाग १-२,
पद ४६३, पृ० ३०४)

‘अरे मानव ! फूलकर कुप्पा न बन—तू गर्व मत कर । वाघ-जैसा यम तुझे ही ताकता गुरा रहा है । एक अन्य पदमे कवि बताते हैं कि अभिमानसे तपकी हानि होती है—

मानदिंदलि अभिमान उद्वद्वदु, मानदिंदलि तपहानि यागुवदु ।

(श्रीपुरदरदासेर-साहित्य, भाग २, पद ५५, पृ० ६४)

अर्थात्—

मानसे अभिमान होता है, मानसे तप नष्ट होता है ।

पर-नारी-मोह—भारतीय साहित्यमे जहों नारीको परम पुनीत मातृशक्तिके रूपमे अर्थर्थनीय बताया गया है, वहीं ‘किमत्र हेयं कनकं च कान्ता’ ‘द्वारं किमेकं नरकस्य नारी’ कहकर नारी-मोहसे बचनेका भी आदेश दिया गया है । श्रीमद्भागवतमे कहा गया है कि ‘वुद्विमान् पुरुषको दुष्ट लियोका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । जो मूर्ख इनका विश्वास करता है, उसे दुःखी होना पड़ता है । इनकी वाणी तो अमृतके समान कामियोंके हृदयमें संचार करती है, किंतु हृदय छुरेके समान तीक्ष्ण होता है ।’
(श्रीमद्भागवत-भावात्म्य ५ । १५)

नैतिक सदाचार-जीवनके लिये नारी-मोहसे दूर रहना आवश्यक समझा गया है। पुरंदरदासने अपने अनेक पदोंमें नारीके प्रेम-जालमें न फँसनेका उपदेश दिया है। 'कण्ठंति नोड्लु वेड' नामक पदमें वे कहते हैं—

'ओख उठाकर मत देखो। उसकी महीन मौगपर मोहित मत बनो। छीपर नजर ढालकर कीचकको

जान देनी पड़ी। रावणको सिर देना पड़ा। पर-खीसे मोह करनेवाला नष्ट हो ही जाता है।

(पुरंदरदासेर-साहित्य भाग ५, पद १०५, पृ० ७९)

उपर्युक्त विषयोंके अतिरिक्त पुरंदरदासने अपने पदोंद्वारा सत्यमापण, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-पालन, अस्तेय, परोपकार, महनशीलता, सत्सङ्ग आदिकी महिमा वताकर मानवको सदाचारपूर्ण जीवन वितानेका संदेश दिया।

(६)

भगवान् महावीर और मदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

भगवान् महावीर ईसा-पूर्व छठी शताब्दीके महान् क्रान्तिचेता धर्म-प्रवर्तक थे। उनके विन्तनमें किसी प्रकारका पूर्वाग्रह और रुढ़ धारणाएँ न थीं। उन्होंने सत्यसे साश्रात्कार करनेके बाद तत्त्व-प्रतिपादन किया था। अतः तत्कालीन लोक-धारणाके प्रतिगामी मूल्योंको प्रस्थापित करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी हिचक न हुई। उन्होंने अपने ज्ञानदर्पणमें मनुष्यकी उन शाश्वत प्रवृत्तियोंके प्रतिविम्बोंको पकड़ा, जो मानव-जातिको नैतिक पतनकी ओर अग्रसर कर रहे थे। उनके अन्तःकरणमें आध्यात्मिक मूल्योंके उत्कर्पका सुदृढ़ संकल्प था। उसी संकल्पसे प्रेरित होकर उन्होंने एक सार्वभौम और सार्वकालिक आचार-संहिता निर्मित की, जो आज ढाई हजार वर्ष बाद भी अपनी उपर्योगिताको भली प्रकार प्रमाणित कर रही है।

भगवान् महावीर किसी भी समस्याके मूल और परिणाम दोनोंको देखने थे और अस्त परिणामसे अपनी रक्षा करते हुए उसका मूल्योच्छेद करनेका पथ दिखाते थे। उनका निर्देश था—'अगमं च मूलं च विर्गं च।' धीरे-धीरे वह होता है, जो बुराईके मूल और फल दोनोंका पृथक्करण कर देता है। उनकी दृष्टिमें बुराईके संस्कारोंको मिटानेका मूल्य अविक था; क्योंकि संस्कार

मिटानेके बाद व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी वह काम करनेके लिये उद्यत नहीं होता।

भगवान् महावीरने सदाचारके जो सूत्र दिये, वे सबके लिये सदा उपयोगी रहे, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। उनकी समग्र चिन्तन-धारा मुख्यतः पाँच स्रोतोंसे प्रवाहित हुई। वे पाँच स्रोत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचोंसे सूत्रोंकी सर्वांगीण साधनाका पथ भगवान् महावीरको इष्ट था, इसलिये वे स्वयं इसी मार्गपर चले। उन्होंने उक्त पाँच सूत्रोंकी व्याख्या दो प्रकारसे की। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्मसे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहसे विरत होना चाहते थे, उन्हे विशिष्ट-साधनाका पथ दिखाया। जो व्यक्ति एक साथ इतनी बड़ी छलांगें नहीं भर सकते, उन्हे यथाशक्ति सदाचारका पालन करनेकी दिशा उपलब्ध करायी। यथाशक्तिका सीमाङ्कन व्यक्ति अपनी सुविधाके अनुसार मनमाना न करे, इस दृष्टिसे भगवान् महावीरने कुछ व्यावहारिक मानदण्ड भी स्थापित कर दिये, जिनके आधारपर सदाचारकी मूलभूत किंतु प्रारम्भिक जानकारी हो सके।

महावीर-निर्दिष्ट सदाचारका पहला सूत्र है—'अहिंसा'। इसकी परिभाषा है—चलने-फिरनेवाले निरपराव प्राणियो-

की संकल्पपूर्वक हिंसा न करना । इसका विश्लेषण है— मनुष्य या पशुओंको रजु आदिके दृढ़ बन्धनसे न बांधना, मनुष्य या पशुपर मारक प्रहार नहीं करना, मनुष्य या पशुके अवयवोंको विच्छिन्न नहीं करना और मनुष्य या पशुपर अविक भार न लादना तथा अपने आश्रित प्राणियोंके आडार-पानी आदिका विच्छेद न करना ।

उनके सदाचारका दूसरा सूत्र है—सत्य । व्यवहार और व्यवसायमें सत्यकी रावना करनेवाला व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिपर दोषका आरोपण नहीं करता । किसी व्यक्तिकी गुप्त मन्त्रणाका भेद नहीं देता । किसी व्यक्तिको असत्य सम्भापणके लिये भी प्रेरित नहीं करता । झूठा हस्ताक्षर नहीं करता तथा विवाह-विक्रय आदिके प्रसङ्गमें धरोहर लौटाने तथा साक्षी देनेके सम्बन्धमें असत्यका सहारा लेकर किसीको बोखा नहीं देता ।

सदाचारका तीसरा सूत्र चौर्यवृत्तिको निर्मूलित करनेवाला है । नीतिकारोंने चोरीको सात दुर्व्यसनोंमें एक व्यसनरूपमें खींकार कर सज्जन नागरिकोंके लिये इसे सर्वथा हेय बताया है । भगवान् महावीरने इस संदर्भमें मार्गदर्शन देते हुए कहा—तस्करीमें प्राप्त वस्तुको खरीदना, तस्करीकी प्रेरणा देना, राष्ट्रद्वारा निर्वारित व्यावसायिक सीमाओंका अतिक्रमण करना, झूठा माप-तौल करना, मिलावट करना, असली वस्तु दिखाकर नकली देना आदि प्रवृत्तियाँ मनुष्यके आचरणको दूषित करती हैं । अतः सदाचारी व्यक्तिको इन सबसे अवश्य बचना चाहिये ।

सदाचारका चौथा सूत्र है—त्रहचर्य । जीवनभर त्रहचर्यकी परिपूर्ण सावना चेतनाके उर्ध्वरोहणकी प्रशस्त दिशा है, पर सावनाका यह क्रम प्रत्येक व्यक्तिके लिये इतना सरल नहीं है । इसलिये इस विषयमें उन्मुक्त यौन-सम्बन्धों और कामोत्तेजक प्रवृत्तियोंपर अङ्गुश लगानेके लिये कुछ नियम बना दिये गये, जो इस प्रकार है—

विवाहित पति या पत्नीके अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुषके प्रति वासनाप्रक चिन्तन, वाणी और चेष्टाका परिहार करना एवं कुछ समयके लिये वेतन देकर किसीके साथ अनैतिक सम्बन्ध न रखना । अपरिगृहीत स्त्री या पुरुषके साथ गलत सम्बन्ध नहीं रखना तथा पारिवारिक व्यवस्थाके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्तिको काम-भोगके लिये प्रेरित नहीं करना एवं इन्द्रियोंके विप्रयोगमें तीव्र आसक्तिका परिहार करना ।

सदाचारका पाँचवाँ सूत्र है—अपरिग्रह । समाज और परिवारसे अनुबन्धित रहनेवाला व्यक्ति परिग्रहको सर्वथा छोड़ नहीं सकता, पर उसको सीमित अवश्य कर सकता है । इसलिये इस सदाचारको अपना आदर्श माननेवाला व्यक्ति भूमि, मकान, सोना-चौदी, पशु-पक्षी, धन-धान्य तथा अन्य धरेल्ल उपकरणोंकी सीमा करता है और कृतसीमाका अतिक्रमण नहीं करता । इससे सप्रह और शोषणमूलक प्रवृत्तियोंका परिष्कार होनेके साथ विलासिताकी वृत्ति भी नियन्त्रित होती है ।

भगवान् महावीर मानवीय मूल्योंके महान् मन्त्रदाता थे । उन्होंने इन पाँच मौलिक सूत्रोंको पोषण देनेके लिये अन्य अनेक सूत्र डिये । कहीं विस्तार और कहीं संक्षेपमें उन सूत्रोंका विश्लेषण हमें जैन-साहित्यमें उपलब्ध है । किंतु साहित्यिक उपलब्धिमात्रसे जन-जीवन सदाचारसे लाभान्वित नहीं हो सकता । सदाचारका लाभ सदाचारी बननेसे ही मिल सकता है । भगवान् महावीरने उस समय सदाचारकी जो मौलिक वाते बतायीं, वे आज भी उतनी ही मौलिक हैं । वे उस समय समस्याओंका जितना समाधान देती थीं, आज भी उतना ही देती है । वे उस युगमें मानव-जातिको जिस निरावध और स्थायी शान्तिका आश्वासन देती थीं, आज भी देती हैं । इसलिये उस सदाचार-संहिताको जीवनगत कर पल-पल उसके प्रति सजग रहनेकी अपेक्षा है ।

(७)

सदाचारके अद्वृत महरी स्वामी दयानन्द

(लेखक—डॉ० श्रीमुंश्लावतजी राय, एम० ए०, डॉ० फिल्ड०, एच०-एल० बी०)

स्वामी दयानन्द वर्तमान जागरण और सामाजिक व्यवस्थाके अप्रदृत थे। सामाजिक जीवनमें सदाचार, समानता, नारी-शिक्षा आदि गुवारोमें उनका योगदान अद्वितीय रहा। आचरणकी उपेक्षा करनेवाले सम्प्रदायोंकी अपेक्षा स्वामी दयानन्दने सदाचारपर विशेष वल ढिया है। मार्टिन लृथरकी भौति उहोने धर्मके नामपर शोषण एवं पाखण्डका निर्भाकितापूर्वक खण्डन किया। अपने जीवनकी बलि भी दे दी। उनके विचारोंसे किन्हींको कहीं गतभेद हो सकता है, परंतु सदाचारके संदर्भमें उनकी विस्मृति सर्वथा कृतज्ञता होगी।

स्वामी श्रीदयानन्दने सतरूपमें सदाचारकी व्याख्या करते हुए कहा है कि ‘धर्मयुक्त कामोका आचरण, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सद्विद्या-ग्रहणमें रुचि, जिसका सेवन राग-द्वेरहित, सत्य कर्तव्यका बोधक हो, वही माननीय और अनुकरणीय है। वेदोक्त ज्ञान और तदनुसार अनुशीलन, आचरण, यज्ञ, सत्यगापण, ब्रत, नियम और नियम—ये सदाचार हैं और आत्मा (मन)में भय, लज्जा, शङ्खा उत्पन्न करनेवाले कर्म ही दुराचार हैं। वेदोक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाला लौकिक जीवनमें कीर्ति तथा सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है। इन्द्रियोक्ता विषयासक्ति और अवर्मवृत्ति दुराचारकी ओर ले जाती है। प्रशंसासे हर्षतथा निन्दासे शोक आदि-जैवी क्षणिक अनुभूतियोंसे परे व्यक्ति, जितेन्द्रिय कहलाता है।

कभी विना पूछे अश्रवा अन्दाय एवं दृलसे पूछनेवालेको उत्तर न दे। अविक्षयेकी वीतने सात्रसे, केश श्वेत होने अथवा धनवान् होनेके कारण कोई व्यक्ति वृद्ध एवं पूज्य नहीं हो जाता; जो आस्ताण-ज्ञान-विज्ञानरहित है, वह बालक है और जो बालक भी विज्ञानका दाता है वह बृद्ध एवं पूज्य है। विद्वान् पढ़े-लिखेको ही बड़ा मानते

हैं, विद्या न पहनेवाला काठके हाथी अन्यथा चमड़ेके मृग-जंगा होता है। नाममात्रका मनुष्य है—

ये वै युवाप्यवीथानस्तं देवाः स्मविरं धिदुः ॥
(मनुस्मृति २ । १५६)

विद्वान्के लिये आवश्यक है कि विद्या-ग्राहिके साथ मधुर सम्मापणद्वारा रामाजका गार्गदर्शन करें। नियमस्नान, वस्त, अन्तपान, स्थान-गुद्धि सदाचारके अद्वृत हैं। नास्तिक, लम्पट, विद्वासवाती, नोर, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कापटी, छठी तथा दुष्ट लोगोंका साथ निपिन्द्र हैं, सत्यवादी परोपकारी, धर्मात्माजनोका साथ ही श्रेष्ठाचार है।

स्वामीजीके मतानुसार भोजन सदाचारका प्रमुख अद्वृत है। मक्ष्याभक्ष्यपर विस्तृत विचार व्यक्त करते हुए स्वामी-जीने लिखा है—जैसा भोजन होता है, वैसी ही मनुष्यकी प्रवृत्ति बनती है और प्रवृत्तिके अनुसार उसका आचरण होता है। अतः बुद्धि नष्ट करनेवाले पदार्थों—सङ्घ अन्न, मध्यमांसका सेवन नहीं करना चाहिये। मल-मूत्रके संसर्गसे उत्पन्न शाक-फल-मूल नहीं खाना चाहिये। गाँजा, भोंग, अफीम, मटिरा, बीड़ी, सिंगरेट आदिका सेवन वर्जित है।

अभक्ष्यं च छिजातीनामं ध्यप्रमवाणि च ।
(मनुस्मृति ५ । ५)

बुद्धि लुम्पति यद्ब्रव्यं मद्वारी तदुच्यते ।
(गांजाधर, प्रथम खण्ड, अ० ४ । २१)

दुराचारकी गणनामें उल्लेखनीय दोष हैं—विषयीजनों-का सङ्ग, वेस्यागमन, वेदशास्त्र-विमुख होना, अनिभोजन, अतिजागरण, पढ़ने-पढ़ानेमें आलस्य, कपट, धूर्तता तथा असत्य-गापण। इससे भिन्न एवं विपरीत संघोपासन, योगाभ्यास, विद्वानोंकी सेवा, आदर, माता-पिता और आचार्यवी श्रद्धापूर्वक सेवाद्वारा संतुष्ट रखना, अतिथि-सत्वार आदि कार्य सदाचार हैं। वैदान्वृत्तिनाले

कपटी, हठी, दुराप्रही, अभिमानी, कुतर्की साधुओंसे सावधान रहना चाहिये । प्रातःकाल उठते ही परमेश्वर-का ध्यान और दिनभर श्रेष्ठ आचरणका संकल्प करना अभीष्ट है । ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिष्ठि, आश्रित, बालक, वृद्ध, पीड़ित, वैद्य, खगोन्न-सम्बन्धी, वान्धव, माता, पिता, वहन, पुत्री, सेवकोंसे निवाद यथासम्भव कर्मी न करे । अशिक्षित तथा कुपात्रको ढान न दे । अज्ञानी दाता तथा गृहीता दोनों दुःखको प्रात होते हैं । क्षी-पुरुषोंको चाहिये कि शनैः-शनैः सदाचार और धर्मका सचय करे । परलोकमें माता-पिता-गुरु-स्त्री कोई सहायता नहीं कर सकता, धर्म ही सहायक होता है । दृढ़निश्चयी परंतु मृदुसम्भाव,

जितेन्द्रिय, शिष्ट, हिंसक तथा क्लू दुष्यन्तारियोंसे दूर रहनेवाला, दुर्वल निरीह प्राणियोंपर दया करनेवाला सदाचारी व्यक्ति अनुकरणीय है ।

आर्यसमाजके अन्तिम चार नियमोंमें सदाचारकी व्यापक परिभाषा सूत्रस्त्रपमें निहित है । १—सबसे प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार, २—अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि, ३—अपनी उन्नतिमें संतुष्ट न रहकर सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझना और ४—सामाजिक सर्वहितकारी नियमोंके पालनमें परतन्त्रता तथा हितकारी नियममें सततता ही सदाचारके आधार हैं, जिन्हे किसी भी देशकालमें अपनाया जा सकता है ।



सूक्तियोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सदाचारकी नींव सद्विचार है । सदाचारी वनना है नो हम सदैव सद्विचाररत रहें । किंतु का चिश्वास श्रात करनेले बद्रकर प्रातव्य और कुछ नहीं; और यह सदाचारीको सहज प्राप्त होता है ।

अनाचारी अपकीर्तिवश जोपित हीं मृतकसमान है और सदाचारी सुकीर्तिके फलस्सप मरकर भी जीवित रहता है ।

जो मनका सच्चा हो, वाणीका सच्चा हो, हृदयका सच्चा हो, हाथका सच्चा हो, इन्द्रियोंका सच्चा (संयर्ग) हो—संक्षेपमें, सब प्रकार सच्चा-ही-सच्चा हो, उसे सदाचारी जानो ।

आचारबानोंके आचार देश-काल और परिस्थितिकी विभिन्नतासे भिन्न-भिन्न प्रतीत भले ही हों, किन्तु मूलतः उनमें अन्तर नहीं होता ।

सदाचारीके परिचयकी आवश्यकता नहीं होती । उसका परिचय तो उस सदाचार-सुलभाईसे ही मिलता रहता है, जो उसके चतुर्दिक् सहज फैलनी रहती है ।

कोई भले ही धनी, सत्ताधीश, गुणी, पिद्वान् हो; परंतु सदाचारविहीन है नो वह एक सदाचारी-को नहीं पा सकता ।

अनाचारी सर्वसम्पन्न होते हुए भी विपद्ध ही है और आचारदान् सर्वथा विपद्ध होते हुए भी सर्वसम्पन्न है ।

सदाचारी संयमी होता है । जो रांयमी नहीं, वह सदाचारी व्यहाँ? आत्मप्रचार और अहंकार सदाचारीके सदाचारताको खा जाता है ।

आज जगत्‌में सदाचारी प्रायः दीपक लेकर खोजनेपर ही मिलते हैं, परंतु वह छिका हुआ है उन्हींपर । सदाचारी न हों तो संसार ही उचित्त हो जाय । सदाचार विश्व-व्यवस्थाका मूलधार है ।

सदाचार-विवेचन

(लेखक—पं० श्रीरामाधारजी दुबे)

मनुने कहा है कि मानव-जीवनको परिष्कृत एवं सुख-शान्तिसे समन्वित कर उसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पराकाष्ठातक पहुँचानेका जो निर्दिष्ट कर्तव्यानुष्ठान है, वही सदाचार है। 'सदाचार'के समान 'शिष्टाचार' भी एक वहुचर्चित शब्द है, पर इन दोनोंमें मौलिक अन्तर है। शिष्टाचारसे मनुष्यकी शिक्षा, सुरुचि और सम्प्रताका परिचय मिलता है तथा इससे मनुष्यके विनम्र स्वभावकी भी परेख हो जाती है, किंतु सदाचारका धर्मसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है और उसकी अवहेलना पाप समझा जाता है। शिष्टाचारको सदाचारका एक अङ्ग कहा जा सकता है, किंतु धर्मसे उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं ढीखता। शिष्टाचारकी अवहेलना करना उतना गर्हित नहीं माना जाता, जितना सदाचारकी अवहेलना करनेसे होनेवाला पाप। शिष्टाचारकी अवहेलना करनेसे अन्य व्यक्ति ही असंतुष्ट अथवा विरोधी हो सकते हैं, किंतु सदाचारकी अवहेलना करनेसे ख्ययं अपना भी अकल्याण होता है। शिष्टाचारका पालन करना आसान काम है, किंतु सदाचारका पालन करना उतना सहज नहीं है। शिष्टाचारी व्यक्ति सदाचारी हो भी सकता है और नहीं भी; किंतु जो सदाचारी होगा, वह तो शिष्टाचारी होगा ही। उदाहरणार्थ मिथ्यावादी और तस्कर भी 'शिष्टाचारी' हो सकते हैं, परंतु जो सदाचारी होगा उसमें मिथ्यावादिता एवं तस्करीकी प्रवृत्ति न होगी। अतः हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शिष्टाचार सदाचारका एक आंशिक रूप—एक अवयवमात्र होता है, न कि उसका पर्याय अथवा विकल्प। उसी प्रकार सदाचारको भी धर्मका पर्याय अथवा विकल्प न मानकर उसका एक छक्षण—अङ्गमात्र माना गया है। स्वल्पान्तरसे मनुसृति (अथाय २ के श्लोक १२) तथा याज्ञवल्यसृति (१ । ७)में यही वात कही गयी है—

थ्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः क्वामो धर्मसूलमिदं स्मृतम् ॥

‘थ्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, (सदाचारण) प्राणिमात्रमें एक आत्माका बोध और शुद्ध संकल्पसे उत्पन्न इच्छा इन सभीको धर्मका मूल समझना चाहिये।’

वास्तवमें सदाचारको न केवल हिंदू-धर्मका, अपितु सम्पूर्ण मानव-धर्मका प्राण कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सभ्य मानव-संसारका कोई भी ऐसा धर्म नहीं, जिसमें सदाचारके नियमोंका पालन करनेका आदेश न दिया गया हो। इसलिये विश्वके सभी धर्मग्रन्थोंमें सदाचारका निरूपण मिलता है, जो अपनी-अपनी संस्कृतिके अनुरूप विभिन्न ढंग और स्तरपर किया गया है। (द्रष्टव्य Encyclopedia of Religion and Ethics)

बौद्ध-धर्मके अनुसार पंद्रह सदाचार इस प्रकार हैं—(१) शील, (२) इन्द्रिय-संबंध, (३) मात्राशिला, (४) जागरणानुयोग, (५) श्रद्धा, (६) ही, (७) वहुश्रृतत्व, (८) उत्ताप अर्थात् पछतावा, (९) पराक्रम, (१०) स्मृति, (११) मति, (१२) प्रथम ध्यान, (१३) द्वितीय ध्यान, (१४) तृतीय ध्यान और (१५) चतुर्थ ध्यान।

जैन-धर्ममें जीवनके चरम छऱ्य परमानन्दकी प्राप्तिके तीन मार्ग बताये गये हैं—सद्विश्वास, सद्ब्जान और सद्बाचरण। सद्बाचरण (सदाचार)के लिये पाँच आदेश दिये गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। इनमें भी अहिंसापर सर्वाधिक जोर दिया गया है।

सिद्ध्य-धर्मके प्रवर्तक श्रीगुरुनानकदेवने भी सिक्खोंके शुद्ध आचरणपर विशेष बल दिया है। श्रीगुरुनानकदेवका जीवन विशुद्ध धार्मिक था, किंतु उनके बाद जो नौ अन्य

धर्म-गुरु हुए, उन्हें धार्मिक क्षेत्रके अतिरिक्त राजनीतिमें पदार्पण कर आत्माचारके विरोधमें मुगलोंसे लोहा भी लेना पड़ा। फिर भी इन्होंने सदाचारके अनेक निर्धारित नियमोंकी अवहेलना न होने दी। फलतः राजनीति सदाचारमें बाधक न बन पायी।

इस्लाम-धर्ममें भी सदाचारकी शिक्षा दी गयी है। अन्य धर्मोंकी तरह उसमें भी संयम, आचरण, शुद्धता, सत्यनिष्ठा आदिपर पर्याप्त जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ ‘कुरआन-शरीफ’में शराब पीने और जुआ खेलनेकी मनाही है (आयत २३५)। यतीमों (अनाथ orphans) की भलाई करनेको कहा गया है (आयत २३६)। रजस्वल-कालमें खी-प्रसङ्ग वर्जित है (आयत २३८-२४०)। नप्रता, संयम, दया, क्षमा आदिको आवश्यक माना गया है (आयत २६१) और इत्यादि सूदखोरीको निन्दा माना गया है (आयत ३१५-३२२)।

ईसाई-धर्ममें भी सदाचारका विषय प्रचुरतासे भरा पड़ा है। बाइबिलमें सदाचार-सम्बन्धी असंख्य शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। Psalms तथा Proverbs नामक अध्याय तो इस सम्बन्धमें विशेष रूपसे अध्ययन करने योग्य हैं। फिर भी मानना पड़ेगा कि हिंदू-धर्मके प्रन्थोंमें सदाचारका सबसे अधिक और विस्तृत विश्लेषण किया गया है। वेद हमारे हिंदू-धर्मके आदि ग्रन्थ माने जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानोंने उनका अध्ययन कर उन्हे गूढ़ ग्रन्थ या गुप्त प्रन्थकी सज्जा प्रदान की है। वेदोंकी कथनशैली गूढ़ है। उदाहरणार्थ—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।

(ऋग्वेद १। ८९। १, वाजसनेयियजुःसहिं २५। १४ निष्कृत ४। ११)

‘सभी ओरसे हममें शुभ विचारोंका आगमन हो।’ यहाँ यह कहा जा सकता था कि ‘हममें’ सदाचारका जागरण हो, पर ‘शुभ विचारोंका आगमन हो’—इसलिये कहा गया है कि विचार ही आचारके बीज होते हैं। जो आज

विचार है, वही कल अड्डेरित होकर आचार बन जाता है। यदि वह शुभ विचार है तो शुभ आचार (सदाचार) बनेगा ही। इस प्रकार यहाँ फल नहीं, वीजकी प्राप्ति आवश्यक मानी गयी है। सदाचारके लिये सहिचारोंकी प्राधिमिक एवं अनिवार्य आवश्यकता होती है। यही कारण है कि ‘हममें शुभ विचारोंका आगमन हो’—कहा गया है। विचार मनमें उत्पन्न होते हैं और मनकी ही प्रेरणासे इन्द्रियाँ कार्यरत होती हैं। मनमें सदा शुभ विचार ही उत्पन्न हो—मन निरन्तर शुभकी ही कामना करे, इसलिये कहा गया है कि—

यत्प्रश्नान्मुत चेतो धृतिश्च
यज्योतिरन्तरमृतं प्रजादु।
यसाच्च ऋते किं चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(वाजसने० ३४। ३)

‘जो ज्ञान, चेतना और धृतिका साधन है, जो प्राणियोंके भीतर अमर ज्योतिके रूपमें वर्तमान है और जिसके बिना कोई भी कर्म सम्पादित नहीं होता, वह मेरा मन शुभकी कामना करे।’ मनमें शुभ विचारोंके उत्पन्न होनेपर हम सूर्य और चन्द्रमाकी तरह सन्मार्गपर अग्रसर हों, कथन भी सार्थक है—

‘स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्यचन्द्रमसावित्र’
(ऋग्वेद ५। ५१। १५)

‘सूर्य और चन्द्रमाकी तरह’ कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रतिवद्धता एवं कद्गताके साथ सूर्य और चन्द्रमा ग्रकृतिके विधानका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार हम मानव भी वैतिक विधानका; सदाचरणका अनुसरण करें। दुराचारसे प्रतिरोधके लिये और सदाचारका भागी बननेके लिये धर्म-देवतासे भी प्रार्थना की गयी है—

परि माऽग्ने दुश्चरिताद्वाधस्वा
मा दुच्चरिते भज ।
उदायुपा खायुपोदस्थाममृतात् २ अञ्ज ॥
(वाजसने० ४। ३८)

‘हे अग्निदेव ! दुराचारसे मुझे दूर रखो और सदाचारसे संयुक्त करो । मैं अपरोक्षा अनुसरण करते हुए सुन्दर जीवनके साथ उत्पन्न हुआ हूँ ।’ इसी प्रकार वेदोंमें सदाचारके विषयमें अनेक रूपोंपर मिळ-गिल रूपसे उल्लेख किया गया है, जो गहरे अध्ययनका विषय है ।

सृष्टियोंमें वेद-मन्त्रोक्ता ही विस्तृत स्पष्टीकरण हुआ है, अतः उनमें सदाचारका विशद वर्णन उपलब्ध है । सृष्टियोंकी संख्या आज सौके आस-पास है । निवन्योंके अनुसार सृष्टियाँ पहले और भी अधिक थीं । इनका विषय वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म तथा व्यवहारक्रम है; परंतु समय और आवश्यकताके अनुसार किसी सृष्टिमें किसी बातको प्रधान मानकर उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है तो किसी अन्य सृष्टिमें दूसरे महत्वपूर्ण विषयको प्रधानता प्रदानकर उसका विस्तृत वर्णन किया गया है । सदाचारका उल्लेख यद्यपि दक्ष, शङ्ख, वसिष्ठ, व्यास एवं लक्ष्मीश्वरायन सृष्टियोंमें भी मिलता है, किंतु मनुसृष्टि, वृहत्पराशारसृष्टि और विष्णुसृष्टिमें सदाचारका वर्णन पर्याप्त विस्तारपूर्वक उपलब्ध है । राजर्षि मनु सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि आचारसे हीन त्रासण वेदका फल नहीं पाता और जो आचारसे युक्त है, वह सम्पूर्ण फलका भागी होता है’ (मनुसृष्टि १ । १०९) ।

इस प्रकार वेद और सृष्टि दोनोंमें कहा गया आचार ही परम धर्म है । इसलिये आत्मवान् द्विज इस आचारमें सदा संलग्न रहे ।’ फिर वे यह भी कहते हैं—

**श्रुतिस्मृत्युदितं सम्युच्चित्वद्वः स्वेषु कर्मसु ।
धर्मसूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥**

(४ । १५५)

‘श्रुति और सृष्टिमें जो सदाचार कहा गया है, जो थपने कर्ममें सम्यक् रूपसे मिला हुआ है, और जो धर्मका मूल है, उस सदाचारका पालन आलस्यरहित होकर करना

चाहिये ।’ अदिगज मनुने सदाचारके जी-जो कर्त्त्व है उन्हें अपनी रम्यनिके चौथे अध्यायके इत्योक्तमें विनाप-पूर्वक भी बताया है जिनका विद्यान्वयन हमारा कर्त्तव्य होता है ।

‘पराशरके अनुसार आचारवान् मनुष्यको आयु, धन, संतान, मुग्ध, धर्म तथा शाश्वत पर्योक्तकी प्राप्ति होती है तथा इस लोकमें भी नह विद्वानोद्गम पूज्य होता है ।’ (६ । २०८) ‘वृद्धपराशारसृष्टि’के दूसरे तथा छठे अध्यायमें सदाचारका विनाप-पूर्वक वर्णन किया गया है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ‘आचारहीन मनुष्य किसी भी कर्ममें सफल नहीं होता’—

आचारहीनतरदेहगताश्च चेदाः

शोचन्ति कि तु छतवन्त इति स्त्रिते ।
यन्नोऽभवद्वपुषि चास्य शुभप्रार्थाणे

स्थानं तदव भगवान् विधिरेव शोच्यः ॥
कर्त्तव्यं यत्नतः शोचं शोचमूला द्विजातयः ।
शोचाचारविहीनानां सर्वाः स्युर्निष्पत्त्या क्रियाः ॥

(वृद्धपराश । २११-१२)

‘आचारहीन व्यक्तिके अभ्यन्तरमें प्रविष्ट वेद इस सोचमें पड़ जाते हैं कि इस अशुभ शरीरमें हमारा प्रवेश क्योंकर हो गया, यह भगवान् ही जानें । पवित्र कायोंका अनुष्ठान यत्नपूर्वक अवश्य करना चाहिये; क्योंकि द्विजातिमात्रके लिये पवित्र कार्य ही मूल है । सदाचार-से विहीन व्यक्तियोंके सभी कार्य निप्फल होते हैं ।’

‘विष्णुसृष्टि’के अध्याय ६०से अध्याय ७१ तक गृहस्थाश्रमीके सदाचारका विशद वर्णन किया गया है, जो पठन तथा मनन करने योग्य है । सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए विष्णुसृष्टिकी उक्ति है कि—‘श्रुति और सृष्टिमें जिस सदाचारका उल्लेख है और सज्जनोद्वारा जिसका सम्प्रपत्ति सेवन किया जाता है, उस आचारका पालन धर्मकामी जितेन्द्रियद्वारा किया जाना चाहिये । आचारसे दीर्घायु तथा इच्छित गतिकी प्राप्ति

होती है, आचारसे अक्षय धन प्राप्त होता है और आचारसे अशुभ लक्षणोंका नाश होता है। सभी लक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो श्रद्धालु और सदाचारी व्यक्ति है, वह सौ वर्पोंतक जीता है।'

उपनिषदोंमें भी सदाचार-सम्बन्धी पर्यास उल्लेख है। तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्लीके अनुवाक ९ और ११ इस सम्बन्धमें विशेषतया अबलोकनीय हैं। नवम अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ शास्त्रोंमें वताये गये मार्गपर स्थं चलना भी चाहिये। अर्थात् अध्ययन और अध्यापन दोनों ही अत्यावश्यक हैं; क्योंकि शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्योंको अपने कर्तव्य तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है। अतः इसका पालन करते हुए यथायोग्य सदाचारका अनुष्ठान, सत्यभाषण, स्वर्घमपालनके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथि-की योग्य सेवा करना, सबके साथ मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना तथा शास्त्र-विधिके अनुसार संतानोत्पत्ति आदि कार्य और सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि छात्र और श्रोता उनके आदर्शका अनुकरण करते हैं। सत्यवचा ऋषि, तपोनिष्ठ ऋषि तथा नाक आदि मुनियोंके कथनानुसार सत्य, तप और शास्त्रोंका अध्ययन तीनों ही इसलिये आवश्यक हैं कि जो भी कर्म किया जाय, वह शास्त्रके अनुकूल होना चाहिये। उसके पालनरूपी तपमें दृढ़ रहना चाहिये तथा प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

अष्टादश पुराणोंमें वेदव्यासजीने वेदोक्त वार्ताओंको इतिहास और कथानकके रूपमें सुन्दर और सख्त भाषामें

आकर्षक और वोधगम्य बनाकर लोक-कल्याणका बहुत बड़ा काम किया है। एक ओर जहाँ श्रुतियोंका अनुगमन करती हुई विविध सृष्टियाँ हमारे लिये विधान अथवा आचारसंहिताका निर्माण करती हैं, वहीं दूसरी ओर अष्टादश पुराण भी मानवको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, यम, नियम, दया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, मानवधर्म, खीर्धर्म और सदाचारकी कल्याणकारी शिक्षा देते हैं। प्रायः सभी पुराणोंमें सदाचारका वर्णन उपलब्ध है, किन्तु विष्णुपुराणके तृतीय अशा, ११वें और १२वें अध्यायोंमें; शिवपुराणके विद्येश्वरसंहितामें; नारदपुराणके पूर्वभागके प्रथमपादमें; स्कन्दपुराणके ब्रह्म और काशीखण्डमें; कूर्मपुराण, ब्राह्मीसंहिता तथा भागवतीसंहिता; गरुडपुराण, पूर्वखण्डमें तथा अग्निपुराणमें सदाचारका विस्तृत विवेचन किया गया है।

महर्षि वाल्मीकिने योगवासिष्ठमें तत्त्व-निरूपणके अतिरिक्त शास्त्रोक्त सदाचार, सत्पुरुष-सङ्ग, त्याग-वैराग्युक्त सत्कर्म, वस्तु-विवेक, सद्गुण, आदर्श व्यवहार आदिपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने तो वास्तविक आर्यपुरुष उसीको माना है, जो कर्तव्यका पालन करता है और अकर्तव्यसे बचता है एवं प्रकृत आचार-विचारमें संलग्न रहता है—

कर्तव्यमाचरन् । कामकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥
(योगवासिष्ठ ६ । ३२६ । ५४)

उनकी यह भी समुद्रोषणा है कि जो व्यक्ति शास्त्रीय सदाचार एवं परिस्थिति-सम्मत तथा मनःपूर्त व्यवहार करता है वही आर्य है—

यथाच्चारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितिम् ।

व्यवहारसुपादिते यः स आर्य इति स्मृतः ॥

(योगवासिष्ठ ६ । २ । १२६ । ५५)

शास्त्रीय सदाचारका विस्तृत विवेचन योगवासिष्ठके मुमक्षु-प्रकरण एवं स्थिति-प्रकरणमें किया गया है और

वहीं सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए महर्षि वाल्मीकिका कथन है कि—

यस्तूदारच्चमत्कारः सदाचारविहारचान् ।
स निर्याति जगन्मोहास्त्वगेन्द्रः पञ्चरादिव ॥
(योगवा० मुमुक्षुप्रकरण ६ । २८)

‘जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्म-सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह ।’

गीतामें भी सदाचारके विषयमें पुराणों, स्मृतियों और उपनिषदोंकी भाँति तालिकाएँ प्रस्तुत नहीं की गयी हैं; किंतु अधिकतर इसी प्रश्नपर विचार किया गया है कि मनुष्यको अपने कर्तव्य (सदाचार) का पालन किस प्रकार करना चाहिये । उसमें कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा हमारा कार्य करनेके ढंगको विशेष महत्व दिया गया है । केवल इतना ही पर्यात नहीं है कि हमारा कार्य उत्तम हो; बल्कि हमें उसे निर्दिष्ट उचित ढंगसे करना भी चाहिये । इस विषयमें गीताका सिद्धान्त संक्षेपमें यह है कि हमारी किसी भी कार्यमें आसक्ति न होनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर कर्म-फलकी इच्छा न हो । गीताने इन तथ्योंपर सर्वाधिक प्रकाश डाला है । साथ ही मनुष्यके कर्तव्य (सदाचार) क्या हैं अथवा किसी व्यक्तिको अपने कर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रसाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
घात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुभिर्हार्हसि ॥
(गीता १६ । २४)

‘अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं । शास्त्रके विधानको जानकर तुम्हें उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।’

और यह भी कहा गया है कि ‘जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको’ (१६ । २३) । इस प्रकार शास्त्र-विहित कर्तव्यको ही गीतामें मान्यता प्रदान की गयी है और शास्त्र-विहित कर्तव्य वही है, जिनका विस्तृत स्पष्टीकरण श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदोंमें किया जा चुका है । इसी स्तरपर श्रुत्युक्त स्मार्त आचारको ही ‘धर्म’ कहकर प्रतिष्ठित किया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसके मुख्य कथानक एवं प्रासादिक उपाख्यानोंमें वर्णित जितने भी पात्र हैं, उनमें अधिकतर चरित्र मानो सदाचारके आगार हैं । इसके चित्रणमें गोस्वामीजीने उस स्वर्णिम रंगका प्रयोग किया है, जिसकी दिव्यता मानव-जगत्में सदाचार-का चिरन्तन आलोक विकीर्ण करती रहेगी । राम तो मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें अद्वितीय हैं ही, साथ ही वे पुनर्के रूपमें, शिष्यके रूपमें, युवराजके रूपमें, बड़े भाईके रूपमें, पतिके रूपमें, तपसीके रूपमें, सखाके रूपमें, राजाके रूपमें, आदर्श मानवके रूपमें—प्रत्येक रूपमें सदाचारका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करते हैं । उसी प्रकार सीता आदर्श पत्नी एवं आदर्श नारीके रूपमें सदाचारका श्रेष्ठतम दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं । भ्रातृ-भक्त भरत और लक्ष्मणके भी सदाचारकी कोई तुलना नहीं की जा सकती । सेवकके रूपमें हनुमानका सदाचार भी अद्वितीय है । निपादराज गुह, शवरी, जटायु, काकभुग्णिड, सुग्रीव, जाम्बवन्त, अङ्गद, विमीषण, मन्दोदरी आदि अनेक पात्र हैं, जिनके चरित्रसे हमें सदाचारकी उत्तमोत्तम शिक्षा प्राप्त होती है । इन पात्रोंके चरित्रमें समाहित सदाचारसे पृथक् अन्य स्थलोंपर भी मानसमें सदाचारका वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ वाल्मीकी, अरण्यकाण्ड एवं उत्तरकाण्डमें जिन संत-आसंतोंके स्वभाव और लक्षणोंपर प्रकाश डाला गया है,

उन्हें यदि हम सदाचारी और दुराचारी मान लें तो किसीको क्या आपत्ति होगी ? रामके बनवास और राजा दशरथके स्वर्गगमनसे शोकमग्न अयोध्यामें जब भरतजी ननिहालसे लौटकर आते हैं तो माताओंसे अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि इस अनर्थमें यदि मेरी सम्मति हो अथवा इसके रहस्यकी मुझे जानकारी हो तो—

जे अघ मातु पिता सुत मारें । गाहू गोठ महिसुर पुर जारें ॥
जे अघ तिय बालक वध कीन्हें । मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहर्हों । करम वचन मन भव कष्टि कहर्हों ॥

* * * *

वेचहिं वेदु धरसु हुहि लेहों । पिसुन पराय पाप कहि देहों ॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी । वेद विदूषक विस्त चिरोधी ॥
लोभी लंपट लोलुपचारा । जे ताकहिं परधनु परदारा ॥
जे नहिं साधुसंग अनुरागे । परमारथ पथ विसुख असागे ॥
जे न भजहिं हरि वरतनु पार्हे । जिन्हहि न हरि हरि सुजसु सोहाहृ
तजि श्रुतिपंथ बाम पथ चलहों । बंचक चिरचि वेषु जगु छलहों ॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देझ । जननी जैं यहु जानीं भेझ ॥

(मानस २ । १६६ । ३-४, १६७-१, ३, ४)

भरतजीकी इन उक्तियोंसे हमें यह स्पष्ट पता चल जाता है कि ये सभी दुराचारके कार्य हैं और दुराचारीकी जो दुर्गति होती है, उसकी भयंकरताकी ओर भी ये पङ्कियाँ स्पष्ट प्रकाश डाल देती हैं। रामचरितमानसमें ऐसे भी पात्रोंकी भरमार है, जो आचारहीनताके कारण निन्द्य हैं—जैसे मन्थरा, अजामिल, दण्डक, नहुष, जयन्त, शूर्पणखा, बालि, रावण आदि। उत्तरकाण्डमें वर्णित कलियुगमें मानवोंका धर्मसे विमुख, विषयासक्त, पापकर्ममें छीन आदि होनेके प्रसङ्ग दृष्टिपात करने योग्य हैं।

कलिमल ग्रसे खर्म सब छुछ राए सदग्रंथ ।

दंभिन्ह निज मति कष्टि करि प्रगट किए जहु पंथ ॥

* * * *

द्विज श्रुति वेचक भूष प्रजासनाकोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥

* * * *

जो कह ज्ञाँ मसखरी जाना । कलिजुग सोहु गुनवंत दक्षाना ॥

* * * *

सब नर काम लोभ रत क्रोधी । देव विप्र श्रुति संत चिरोधी ॥

गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी । भजहिं नारि पर पुरुष अभागी ॥

सौभागिनीं विभूषन हीना । विधवन्ह के सिंगार नवीना ॥

* * * *

सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाहू न वरनि अनीति अपारा ॥

(मानस ७ । १७ क—१९ ख ६)

इन पङ्कियोंसे तत्कालीन सदाचारहीनताकी स्थितिका बोध भी स्पष्ट हो जाता है। क्या इनसे हमें वचना नहीं चाहिये ? इनसे भी हमें सदाचारमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा मिलती है।

सास्थ्यके क्षेत्रमें सदाचार-शिक्षाके साथ ही आयुर्वेदका भोजनके सम्बन्धमें नियम है कि—

मधुरमधुरमादौ	मध्यतोऽस्त्वैकभावः
कदुकदुकमथान्ते	तिक्ततिक्तं तथैव ।
यदि सुखपरिणामं बाज्ञासि त्वं हि राजन्	
त्वज खलजनसङ्गं भोजनं मा कदाचित् ॥	

‘आस्थमें मीठा, बीचमें खड़ा, अन्तमें कटु एवं तिक्त—हे राजन्, इस प्रकार जो दुष्ट लोगोंका सङ्ग है उसे तो त्याग दें; किंतु इस प्रकारका जो भोजन है, उसे न छोड़े। दीर्घायुके लिये शिक्षा देते हुए कहा गया है—

वामशायी द्विमुखानः पण्मूत्रो छिपुरीपकः ।
स्वल्पमैथुनकारी च शतं वर्णणि जीवति ॥

वायें करवट सोनेवाला, प्रतिदिन दो वार भोजन, छः वार पेशाव और दो वार दीर्घशङ्का (मलत्याग) करनेवाला तथा स्वल्प मैथुन करनेवाला व्यक्ति सौ वर्पोत्तक जीवित रहता है।’

आज विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें उत्पादन तथा अन्य प्रक्रियाओंको समुचित ढंगसे चालू रखनेके लिये कर्मचारियों एवं नियोजकोंके सम्बन्धोंका परस्पर सहयोग पूर्ण होना आवश्यक है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये औद्योगिक आचार-संहिताका भी प्रणयन किया गया है,

जो कर्मचारियों एवं नियोजकोंपर समानरूपसे लागू है। वह भी सदाचारका एक अवयव होता है।

जो लोग नौकरी-पेशावाले हैं, वे चाहे जिस किसी भी सेवामें हों, उनकी सेवाओंके सम्बन्धमें एक नियमावली अवश्य होती है, जिसमें दुराचारके कार्योंका स्पष्ट उल्लेख रहता है और दुराचारका कार्य करनेपर दण्ड देनेकी भी व्यवस्था रहती है, जिससे सेवामें नियोजित व्यक्तिके सेवा-सम्बन्धी आचरणपर नियन्त्रण रहता है। उसी प्रकार प्रशासनद्वारा भी समाजमें शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना तभी सम्भव हो सकता है, जब समाजके व्यक्तियोंका आचरण उत्तम हो—जीवन सदाचार-मय हो। अतः इस उद्देश्यसे ही 'दण्ड-प्रक्रिया-संहिता' तथा 'व्यवहार-प्रक्रिया-संहिताएँ' बनायी गयी हैं, जो व्यक्तियोंके सामाजिक आचरणपर नियन्त्रण रखनेमें प्रशासनके लिये सहायक हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे धर्म-शासोंके अतिरिक्त जो आचार-संहिताएँ या नियमावलियाँ वर्ग-विशेष, कार्य-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेषके लिये बनायी गयी हैं, उनमें कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो हमारे उन शास्त्रीय निर्देशोंके प्रतिकूल हों। हाँ, उनमें यथास्थान आवश्यकता-नुसार संशोधन या रूपान्तर अवश्य है। इसे भी सदाचारका सामान्य प्रकरण मानना चाहिये।

हमारे अनेक महर्षियों, शास्त्रकारों तथा मनीषियों-द्वारा सदाचारपर इतना अधिक प्रकाश डालने एवं सदाचारके अनुपालनपर इतना अधिक जोर देनेके बाबजूद भी दुर्भाग्यकी बात है कि आज हम भारतवासियोंमें सदाचारके बदले भ्रष्टाचार अधिक व्याप्त हो रहा है। इसके मुख्य कारण हैं—सदियोंतक देशकी पराधीनता, पाश्चात्य सभ्यताका अन्धानुकरण तथा खतन्त्रताप्राप्तिके बाद भी चारित्रिक अथवा नैतिक उत्थानके प्रति हमारी उपेक्षा या उदासीनताकी भावना। वेदोंसे लेकर रामचरितमानसतक हमारे सभी प्राचीन एवं पथ-प्रदर्शक

सद्ग्रन्थ प्रायः आज भी उपस्थित हैं और उनमें हमारे पूर्वजोद्वारा निर्धारित सदाचारके नियमों आदिका भी उल्लेख ज्यों-कान्यों है, पर उनकी उपयोगिताकी ऐसी स्थिति दो गयी है, जैसे किसी बसके ऊपर छिपा हुआ रथ वाक्य—'अनुशासन द्वी देशको मदान् बनाता है'—किंतु उसी बसके अन्दर बिना टिकट सफर करनेवाले कनिपय यात्री बसका किराया माँगनेके कारण कंटकद्रव्या गत्रा टीप देनेपर ही उत्तरू रहते हैं। इसने यही नियर्का निकलता है कि अनुशासन अथवा मदाचार बाहरसे किसी व्यक्तिके ऊपर प्रचार, विज्ञापन अथवा किसी अन्य माध्यमसे थोपा नहीं जा सकता। उसके लिये तो आन्तरिक लगन अथवा प्रवृत्ति भीतरसे जागरित होनी चाहिये—तदनुकूल विचार उत्पन्न होना चाहिये।

ऊपर कहा जा चुका है कि विचार ही आचारके जनक होते हैं। यदि विचार अन्धे हुए तो आचार शुभ होगा ही। विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मन वहूत चक्षुल होता है और उसीकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ सारा कार्य सम्पादित करती हैं, अतः मनमें शुभ विचार उत्पन्न हों, इसके लिये चाहिये कि मनको अशुभ विचारोंकी ओर जानेसे विपर्योगमुख होनेसे, रोका जाय। तभी इन्द्रियाँ भी शुभ कार्योंकी ओर उन्मुख होगी। श्रुति, सूति पुराण, उपनिषद्, गीता, योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, रामायण, महाभारत आदि सभी ग्रन्थ हमें इन्द्रियोंको विषयोंसे विमुख रखनेके लिये पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करते हैं। शास्त्रोंमें मानव-जीवनके जिन चिरन्तन नैसर्गिक रहस्योंको प्रकट करनेकी चेष्टा की गयी है, उनकी प्रासङ्गिकताको स्पष्ट करते हुए यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य अपनी वासनाओंकी सूक्ष्म जंजीरोंमें जकड़ा हुआ उत्पन्न होता है और यदि वह उन वासनाओंकी जंजीरोंसे अपनेको मुक्त नहीं करता, तो वह इस जगत्में जीते हुए भी मानव-जीवनकी सार्थकता एवं कृतार्थतासे दूर ही रह जाता है। वह जीवन तो प्राप्त

करता है, किंतु उसकी जानकारी नहीं प्राप्त कर पाता, उसे कैसे जीना चाहिये, इस ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ ही रह जाता है और इन्होंना ही, नहीं, वह वासनाओंका अनुसरण करता हुआ नित्य नीचे ही गिरता जाता है। उसका यह पतन उसके अन्तःकरणके प्रसुप रहनेका घोतक है—उसके विवेकके निष्क्रिय होनेका परिचायक है।

हमारे शास्त्रोंमें जिस अधर्म और धर्मकी, जिस पाप और पुण्यकी, जिस दुराचार और सदाचारकी विशद चर्चा की गयी है, वह हमारे अन्तःकरणके सोये या जागरित रहनेके परिणामकी चर्चा है। हमारी विवेकहीन बुद्धिके दुष्कर्मों अथवा विवेकयुक्त बुद्धिके सत्कर्मोंकी चर्चा है और उसी क्रममें हमें अपने जीवनकी चरितार्थताकी ऊँचाईतक पहुँचानेके मार्गका भी दिग्दर्शन कराया गया है। अत. हम कह सकते हैं कि मनुष्य इस समाजमें मनुष्यका केवल रूप लेकर पैदा होता है,

मनुष्य बनकर नहीं। मनुष्य तो उसे यहाँ आकर अपनेको स्वयं बनाना पड़ता है। वह आत्मविकासकी और साथ-ही-साथ आत्मविनाशकी भी शक्ति लेकर इस मंसारमें आता है। यदि वह वासना एवं अविवेकके ही वशीभूत रह गया, उनका परित्याग कर अपनेको मनुष्य नहीं बना सका तो अपनेको पशुसे भी निकृष्ट बना डालता है। जब वह पवित्र कार्योंमें लगा रहता है तो वह अपने जीवनकी ऊँचाईपर देवत्वके सानिध्यमें होता है, जो सदाचारका लक्ष्य है, किंतु वही जब अपवित्र कार्योंमें संलग्न हो जाता है तो पशुसे भी नीचे गिर जाता है, जो कठाचारका परिणाम है। हमारे महर्पियों, शास्त्रकारों एवं मनीषियोंने सदाचारकी अनुष्ठयता और कठाचारकी हेयता प्रतिपादित की है। तदनुसार हमें आचरणकर कल्याणभागी होना चाहिये।

सदाचार और उसका मनोवैज्ञानिक धरातल

(लेखक—प० श्रीरामानन्दजी दुवे, साहित्याचार्य)

भारत सदासे चरित्रप्रधान देश रहा है। उसकी आस्था इन्द्रियोंको ऋगमें रखकर—चरित्रकी रक्षामें रही है। केवल शारीरिक सुखोपभोगको उसने अनार्य गुण माना है। पर वाहरी लहरके आनेपर इसमें कुछ अन्तर पड़ा, जिसमें सर्वाधिक अवाञ्छनीय अभिव्यक्ति है—‘खाओ, पीओ और मौज उडाओ’ (Eat, drink and be merry) यह भावना हमारे लिये सर्वथा परकीय और हेय है। अपने देशकी संस्कृति, सुख और समृद्धिकी रक्षाके लिये हमें अपने सदाचारका सहारा लेना चाहिये।

‘आचार’ शब्दका प्रयोग भारतीय वाङ्मयमें प्रधानतः दो रूपोंमें चलता है। जिस प्रकार गुणी कहनेसे सदृगुणीका ही प्रहण होता है, दुर्गुणीका नहीं; उसी प्रकार आचार शब्दसे साधारणता, सदाचार ही समझा जाता है,

अन्य आचार नहीं। हमारे साहित्यमें आचारका पूर्वोक्त व्यापक प्रयोग व्यवहारके अर्थमें होता आया है। अन्य तत्त्वोंकी भाँति आचार-तत्त्वके भी दो पक्ष होते हैं—१—सिद्धान्त और २—व्यवहार। जब हम कहते हैं—‘पर उपदेश कुमल बहुतेरे। जे आचरहि ने नर न बनेरे’, तब आचारमें हमारा अभिग्राय व्यवहारसे ही होता है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्त-पक्षपर बोलनेवाले, दूसरेको उपदेश देनेवाले तो बहुत लोग मिलते हैं, पर उसको अपने आचरणमें लानेवाले अधिक लोग नहीं मिलते। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं—‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः—’ तब यह समझना चाहिये कि जो व्यक्ति आचारसे हीन है—केवल सिद्धान्तपक्षका वाचिकरूपसे ही कथन करता है और

उसे अपने आचरणमें उतारनेसे दूर रखता है, उसे परम पवित्र वेठोका पाठ भी पवित्र नहीं बना मक्ता'— उसका उद्धार नहीं होता । अभिप्राय यह कि वेदपाठसे भी लाग उठानेके लिये आवश्यक है कि हम मनको विकारके बड़ा न होने दे और आचारयुक्त रहे; क्योंकि इसके विपरीत आचार मिथ्याचार है—

कर्मनिदिग्याणि संयम्य य आस्ने मनसा स्वरन् ।
इन्दियार्थीन विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
(गीता ३।६)

'जो मन्दवृद्धि पुरुष कर्मनिदिग्योको हठसे रोककर इन्द्रियोके भोगोको मनमें चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।' इस प्रकार समझ लेनेपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुन्य होहिं नहिं पापा', इस उक्तिका अर्थ भी सरलतासे लग जाता है ।

कलियुगमें अथवा हमारे दृढ़यकी उस अवस्थामें जब परस्पर-विरोधी भावनाओंका बबड़र चल रहा हो, सन्मार्गको ध्वस्त कर रहा हो, तब न तप विधिवत्, उत्तरता है, न यज्ञ पूरा होता है और न भगवान्की पूजा ही पूरी होती है । वह, एक पुण्य-संकल्पका— श्रीहनुमान् जीके शब्दोमें 'रामकाज'का बल—अपने अच्छे विचारका ही अवलम्बन रह जाता है । विकार हमारे मनपर चाहं जो जुल्म ढाहे, पर हम यहि विकारके हासी नहीं होते तो फिर वे स्वतः क्षीण—हतबल हो जाते हैं । अन्तमें सदाचारयताकी—धर्मकी ही विजय होती है ।

मनोविज्ञान मानसिक जीवनके तथ्योका वर्णन एवं व्याख्या करता है । तथ्योको संकलित करने तथा उनकी व्याख्या करनेका इसका कार्य अन्य किसी वर्णनात्मक अथवा व्याख्यात्मक विज्ञानके कार्यसे भिन्न नहीं है । जो हो, कभी-कभी हम आकाङ्क्षा करते हैं कि ये तथ्य जैसे हैं, उससे भिन्न होते । ऐसे सभी अवसरोपर किसी प्रमापक या किसी सामान्यकका सदर्भ रहता है । वे

विज्ञान जो प्रमापक अथवा सामान्यकांकं स्वपंक्तं अनुगम्यता-का उपक्रम करते हैं, आदर्श विज्ञान कहलाते हैं । उनमें मध्यमे महत्त्वपूर्ण तर्कशास्त्र, नीनिशास्त्र तथा मौनदर्थशास्त्र है । तर्कशास्त्र तर्कमिह विचारक, मौनदर्थशास्त्र और नीनिशास्त्र औचित्यपूर्ण क्रियाकं प्रमापका अभ्यास करते हैं ।

मधुर वाणी, मुन्दर भवन्त्य आदि शारीरिक व्यय हैं । इनका नक्किल्पर गारी प्रगाय पञ्चना है, वित्त भूमि सदाचार या जीवनवी मुन्द्र गालताओंमें अंनवर्ण सम्बन्ध नहीं है । मिल्टन अन्ते थे, किंतु वे महान् कवि हुए । अमरीकी राष्ट्रपति रज़ियेलट्टी टोंग अनुपयुक्त थी, किंतु वे अपने लेखमें भर्तोंमें पहाड़ आसीन हुए । अमुन्दरमयवाले नजारे द्वा अपनी मुन्दर उक्तियोंके लिये विद्वन्विश्रृत हुए । प्रायः नेत्र जाता है कि जिस व्यक्तिमें कोई हीनता होती है, वह शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छाद्वारा सामान्य लोगोंसे बहुत ऊपर उठ जाता है । मानविक गुणोंके अन्नांत इच्छा ही बढ़कर उड़ेग वन जाती है और उड़ेगमें एक स्वभावन्मा बनता है । इसी प्रकार किया दी चरित्रका स्वयं धारण करती है । बुद्धिके भेदसे कोई मन्दवृद्धि तथा कोई उक्तप्रवृद्धि होता है । मव कुछ हो, पर बुद्धि न हो तो मनुष्य शून्यके बावजूद है । बुद्धि हो, पर आचार न हो तो मव कुछ व्यर्थ समझिये ।

ऊपर स्वभावकी जो चर्चा की गयी है, उस दृष्टिमें व्यक्तियोंके प्रायः चार भेद किये जा सकते हैं— आशावादी, निराशावादी, अस्थिरस्वभावके ओर चौथे चिढ़चिड़े स्वभावके व्यक्ति । स्वस्थ अक्तिल्वके लिये यह आवश्यक है कि इन सब प्रकारके मानसिक उड़ेगोंमें समता हो । गह समानता चरित्रकी साधनासे हो सकती है । चरित्र पक्षके अच्छे-नुरे होनेमें कई कारण और कई आधार होते हैं । आवार जितना ऊँचा होता है, व्यक्तित्व भी उतना ही ऊँचा होता

है। जिस व्यक्तिमें आत्मसम्मानका स्थायीभाव भलीमौति विकसित होकर उच्च आदर्शके साथ सम्बद्ध हो जाता है, उसका व्यक्तित्व ऊँचा हो जाता है। आदर्श जितना ऊँचा, व्यक्तित्व उतना ऊँचा। इसीलिये ऋषियोंने कहा था—‘दीर्घ पश्यत मा ह्वस्वम्’। (वसिष्ठस्मृति)

मनुष्यकी चित्तवृत्तिके तीन पहले होते हैं—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक। चरित्रके उद्गमका पता चलते हैं तो ज्ञात होता है कि संवेदनाओं और कल्पनाओंसे भाव, प्रबल भावोंसे संवेग और स्थायीभाव बनते हैं। संवेग मनकी क्रियमाण अवस्था है और स्थायीभाव अनेक प्रकारकी क्रियाओंका परिणाम। स्थायीभावोंका समुच्चय ही सर्वोच्च स्थायीभाव—आत्मसम्मानके स्थायीभावसे नियन्त्रित होकर चरित्र बनता है। चरित्र मनुष्यकी क्रियाओंको अनुप्रेरित करता है। कृतिमें ऐच्छिक तथा अनैच्छिक—सभी क्रियाएँ समाविष्ट हैं। इनमें केवल ऐच्छिक क्रियाएँ व्यवसायमें गिनी जाती हैं। व्यवसाय(यत)का प्रारम्भ ज्ञानसे होता है। ज्ञानके पश्चात् इच्छा आती है। व्यवसाय नभी होगा, जब किसी वस्तुके ज्ञानके साथ इच्छा हो और इच्छाके साथ भी यह विश्वास हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है। क्रियात्मक अनुभवके चार सोपान कहे जा सकते हैं। प्रथमतः पर्यावरणके ज्ञानके साथ पूर्तिकी सम्भावनासहित प्रयोजन उत्पन्न हो जाता है। द्वितीयतः एक प्रयोजनपर दूसरा प्रयोजन आता है और द्वितीय सधर्प उत्पन्न होता है। प्रयोजनानकी एक समाप्ति बन जाती है। तृतीयतः आदर्श ‘स्व’को केन्द्र बनाकर प्रयत्न विकीर्ण होता है। जिस प्रयोजनके साथ प्रयत्न सम्बद्ध हो जाता है, वह प्रबल हो जाता है। चतुर्थ सोपानमें, कम महत्त्वके प्रयोजनोंका परित्याग हो जाता है और संकल्प कार्यान्वय होनेके लिये तैयार हो जाता है। विवेकशील व्यक्तिके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च आत्मवल परिस्थितिसे श्रेष्ठ है और यह सदाचारका आधार है।

मनुष्यके आचरणका संचालन या तो उसकी मूल प्रवृत्तियाँ करती हैं या उसके स्थायीभाव। स्थायीभावका रूप धारण करके ही मनुष्यके विचार उसके आचरणको प्रभावित करते हैं। जिनके आचरण नैमित्तिक मूलसे होते हैं, मूल प्रवृत्तियोंमें विना परिवर्तन किये होते हैं, उनके लिये सदाचारका प्रश्न ही क्या? इसीलिये हम पशुके आचरणमें सदाचारका प्रश्न नहीं उठाते। अवोध बालकमें भी न अधिक विचार करनेकी क्रिया होती है, न वह अपनी क्रियाओंको आत्मनियन्त्रित करनेकी चेष्टा कर सकता है और न हम उसके सदाचार-दुराचारका विशेष विचार करते हैं। उसका ‘अहं’ भाव, शरीर और उसके आस-पासकी कुछ वस्तुओंतक सीमित रहता है। जैसे-जैसे वह प्रौढ होना है, वैसे-वैसे उसका ‘अहं’ भाव विस्तृत होता जाता है और उसमें न केवल वस्तुओंकी संख्या बढ़ती जाती है, वरन् उसमें अनेक प्रकारके सिद्धान्त भी समाविष्ट होते जाते हैं। केवल विचार ऊँचे होनेसे कोई सदाचारी नहीं हो जाता। विचार जवतक स्थायीभावका रूप वारण नहीं करते, तवतक आचरणको प्रभावित नहीं कर पाते। जहाँ कोई आपत्ति आयी कि उसकी वुद्धि विचलित हुई। उसका विवेक उसे करनेको कुछ और कहता है, किंतु वह करने कुछ और लगता है। ऐसी ही स्थितिमें दुर्योग्यने कहा था—‘ज्ञानामि धर्मं न च मे प्रचृति-र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।’ (प्रपञ्चीता ६२)

‘मैं जानता हूँ कि धर्म, सदाचार क्या हैं। किंतु उसके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती और यह भी जानता हूँ कि यह अधर्म—दुराचार है, किंतु उससे निवृत्ति नहीं होती।’ इस प्रकार विचार करनेपर ज्ञात होता है कि जिस मनुष्यके सिद्धान्त ऊँचे होते हुए भी स्थायीभावका रूप प्रहण नहीं करते, वह अपने राग-द्वेषपर नियन्त्रण नहीं कर पाता और अवसर अनेपर वह मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंसे ही परिचालित हो जाता है। राग-द्वेषके

नियन्त्रणके लिये तो मूल प्रवृत्तियोंके परिवर्तन एवं स्थायीभावोंके निर्माणकी आवश्यकता होती है। मदाचार तभी दृढ़ होता है, जब उच्च स्थायीभाव बन जाय। मयौच स्थायीभाव आत्मसम्मानका स्थायीभाव होता है। इस प्रकार निरे दार्शनिककी अपेक्षा भक्तका चरित्र अधिक सुदृढ़ लगता है। कोरे दार्शनिकोंमें विचार करनेकी शक्ति तो होती है, परंतु योग्य स्थायीभावोंकी निर्वलता होती है, आत्मनियन्त्रणकी शक्तिकी कमी होती है। इसके विपरीत भक्तोंमें उच्च स्थायीभाव एवं आत्मनियन्त्रणकी दृढ़ता होती है।

इस प्रसंगमें हमारा ध्यान एक विचित्र परिस्थितिशी ओर जा सकता है। हम देखते हैं कि एक ही व्यक्तिका व्यक्तित्व एक नहीं, दो दिखलायी पड़ता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्तिके चरित्र-त्रैपको अवोध वालके चरित्रके अभावकी मौति देखता पड़ता है। ऊपर दो प्रकारके व्यक्तियों अथवा व्यक्तित्वमें मदाचार-अनाचारकी स्थितिकी चर्चा की गयी है। अब एक ही व्यक्तिमें उमकी दो अवस्थाओं अथवा व्यक्तित्वके कारण मदाचार-अनाचारकी दो स्थितियोंकी ओर संकेत किया जाता है। मदाचार-अनाचारका दृढ़ कुछ-न-कुछ प्रत्येक व्यक्तिमें होता है। कभी-कभी तो हम अपने किसी परिचित व्यक्तिके अवंगत अवश्वारको देखकर कह उठते हैं कि वह इतना बढ़ता गया! क्या वह वही है, जो पहले था? इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्यकी सभी इच्छाएँ उसे मदा एक ही दिशामें नहीं ले जाती। कोई इच्छा एक ओर ले जाती है, तो कोई दूसरी ओर। दबी हृदई इच्छा मनुष्यके भीतर अज्ञात चेतनामें पड़ जाती है। अचेतन मनकी अनेकिक वासनाएँ चेतन मनमें आने नहीं दी जातीं। चेतनाके भानर एक तनातनी छिड़ जाती है, जो भावना-प्रनियते स्थापते बनी रहती है। अन्तर्दृढ़से उत्पन्न भावना-प्रनियते भीतर-ही-भीतर रगड़ होती है। मनकी इस अवस्थाको स्नायुरोग (Nerosis)

कहते हैं। यह अवस्था प्रायः मधी मनुष्योंकी रहती है। इसके अधिक होनेमें व्यक्तिक पूर्वापर व्यवहारमें अवंगत भी अधिक होती है। मगरित व्यक्तित्व बनकर उसमें मदाचारकी स्थितिके लिये इस अवस्थाका भिन्न ज्ञाना आवश्यक है।

इस अमामञ्चस्थका ज्ञान दृष्टान्त ऊपर दिया गया है वह एकान्तर अवस्था अर्थात् पक्कके पश्चात् हमरी अवस्थाका है। इसी अमामञ्चस्थका दृमग दृष्टान्त युगपत् अवस्था अर्थात् एक ही कालमें द्विपक्षीय अवस्थाका हो सकता है। जैसे कोई वालक मामान्यम्बासे आज्ञाकारी है, मदा आज्ञापालन करनेकी इच्छा भी रखता है, परंतु कभी-कभी देखते हैं कि वह कहना नहीं करता, फटकारे जानेपर भी नहीं करता। आडतका भी प्रथम नहीं है। ऐसी उमामें कह सकते हैं कि उसमें अनेक अच्छे मानविक गुण हैं, किन्तु वे मव एक होकर काम नहीं कर रहे हैं, मव मिलाकर व्यक्तित्वकी डिकाई नहीं बना रहे हैं। व्यक्तित्व जबतक अमगित रहता है, तबतक मदाचारकी स्थिति ढाँचाडोन रहती है। उमकी एकमात्र अभिव्यक्ति नहीं होती।

मदाचारका स्थिति जानेक लिये मनकी कुछ अधिक गहराईमें, कुछ विश्लेषणमें जानेकी आवश्यकता है। मनके दो भाग किये जाते हैं—१—दृश्य या चेतन मन और २—अदृश्य या अचेतन मन। चेतन मन ब्राह्मी मंसारमें मनुष्यका मम्बन्व जोड़ता है, उसे भनेन्दुरेका ज्ञान रहता है। इसके पारे अचेतन मन है। अचेतन मनके भी दो भाग किये जा सकते हैं—एक व्यष्टि-सम्बद्ध और दृमग समष्टि-सम्बद्ध। व्यष्टिमें मम्बद्ध अचेतन मन अनेकिक होता है, किन्तु ममष्टिमें मम्बद्ध अचेतन मन नैतिक होता है। वैयक्तिक अचेतन मन पाश्वायिक है, किन्तु सामष्टिक अचेतन मन नैतिक है। अतः जो मनुष्य नैतिकताकी अवधेलना करता है, वह

अपने स्वभावकं प्रतिकूल जाता है। इसका परिणाम भी दुःखद होता है। मनकी ये तीन तहे तो सभी स्वीकार कर लेने हैं, पर इन तीन तहोंसे परे एक सर्वव्यापी अन्तर मन है। यह मन अक्षियोंका मूल केन्द्र और सृष्टिका रचयिता है। भाग्नीय शास्त्रोंमें इसे ही विराट् पुरुष कहा जाता है। जब मनुष्यका व्यक्तिगत मन विराट् मनसे सामग्रम्य स्थापित कर लेना है तो सदाचारके लिये प्रयत्न करना गेय नहीं रह जाता। जो मनुष्य अहभावको जितना अविक छोड़ता है, वह उतना ही अधिक मर्वव्यापी मनके मषीप पहुँचता है। सर्वव्यापी

मन सर्वहितंपी है, अतः मैत्रीभावनाके अभ्याससे हम अपने वैयक्तिक जीवनको सामाजिक जीवनमें मिला देते हैं। यही कारण है कि हिंसक जन्तु भी मैत्रीभावनासे प्रेरित (अहिंसासिद्ध) व्यक्तिकं मित्र बन जाते हैं—‘अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।’ यह है सदाचारके अति उत्कृष्ट प्रभावीरूपका दर्शन। इस मनःस्तरके परे तो केवल प्रपञ्चशून्य शान्ति स्थिति है, जहो दर्शन और दृश्य पदार्थका भेद समाप्त हो जाता है। इसको मनका सबसे ऊँचा सोपान कहें, चाहे आत्मा कहे, चाहे सच्चिदानन्द ! वही सभी माध्यनोक्ता प्राप्तम्य लक्ष्य या अन्तिम गति है।

सदाचार और मानसिक स्वास्थ्य

(नेत्रक — डॉ० श्रीमणिभाई भाऊ अर्मीन)

प्रसिद्ध है कि जिम मनुष्यका मन विगड़ता है, उसका स्वभाव भी विगड़ जाता है। असंयम, असंन्य, अभिमान, इर्ष्या, दम्प, क्रोच, हिंसा और कपट आदि दुर्गुण ही विगड़ स्वभावके लक्षण हैं। ये मूर्ख गेग हैं। दुःखभावका व्यक्ति इन्द्रियोंके तेज और शक्तिको खो चैठना है और शरीरको भी गेही बना देता है। अब यहाँ किम दोपसे कौन गेग होना है, थोड़ा इमपरा विचार किया जाना है।

(१) असंयम—जीभको असंयमी रखनेसे वह चाहे-जैसे स्वादमें रस लेनी है और चाहे जितना ज्ञानेको आतुर रहती है। परिणामस्वरूप पेटमें अविक या अवोध्य भोजन-जल चला जाता है और वह पेट या अँतडियोंमें रोग उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जीभके असंयमी होनेपर यहि वह चाहे-जैसी वाणी उच्चारण करे तो जीभद्वारा सम्बन्धित मस्तिष्कके ज्ञान-तन्तुओंको हानि पहुँचती है और कुछ समय पश्चात् जीभ कैंसर या लकवा हो जानेकी स्थितिमें पहुँच जाती है। जन्मसे उत्पन्न गुणों वालक वाणीके

दुरुपयोगका उपर्युक्त इस नये जन्ममें पाने हैं। यह देखकर हमे सीखना चाहिये। इसी प्रकार शरीरकी सब इन्द्रियों उनकं असंयमी व्यवहारमें ही अनेक प्रकारके गेग उत्पन्न करती हैं।

(२) असत्य—असत्य बोलनेवाले व्यक्तिकी जीवनशक्ति नष्ट होती है और वह मामान्य रोगका भी भोग बन जाता है। जीवनशक्तिका आधार ‘तेज’ है और वह ‘तेज’ असत्यसे नष्ट होता है। असत्य बोलनेवाला तेज-हीन हो जाता है। साथ ही असत्यवाणी बोलनेसे हृदय और मस्तिष्कके ज्ञान-तन्तुओंकी हानि होती है। कुछ समय पश्चात् वह हृदयके रोग, पागलपन, पश्ची, लकवा आदि रोगोंसे भी दुःखी हो जाय तो कोई आश्वर्यकी बात नहीं है।

(३) अभिमान—मनुष्यमें वायु, पित्त और कफ—तीनोंको एक साथ संनिपातके रूपमें उत्पन्न करनेवाला अभिमान है और इसीसे किसी कविने कहा है कि ‘पाप-मूल अभिमान’ !। यह अभिमान ही मनुष्योंके दुर्गुणोंका राजा है और

सब दोपो तथा रोगोंको आकर्षित करके लानेवाला बलवान् लोहेका चुम्बक है। अभिमानी व्यक्ति वायु पित्त और कफके छोटे-बड़े अनेक रोगोंसे दुःखी रहता है।

(४) ईर्ष्या—ईर्ष्या करनेवाले मनुष्यमें पित्त बढ़ जाता है, जिससे उस मनुष्यकी इन्द्रियोंकी तेजस्विता नष्ट हो जाती है। ऐसे मनुष्यकी बुद्धि और हृदय पित्तके तेजस्विते जल जाते हैं एवं वह किसी काममें प्रगति नहीं कर पाता है। ऐसे मनुष्य पित्त, पथरी, जलन, लीवर-क्लोवरी आदि रोगोंसे दुःखित रहते हैं।

(५) दम्भ—दम्भी लोग कफ*के प्रमाणमें गडवड़ उत्पन्न करते हैं। उनके दम्भी श्वाससे उनमें कफके ममान^१ भारीपन आ जाता है। उनकी समस्त इन्द्रियों तेजस्विता छोड़कर ऐश्वर्य^२ होती जाती है। शरीरकी खुरी बनावट, भारीपन, गेस और इसी प्रकार कफजन्य अनेक रोग दम्भके कारण ही होते हैं।

(६) क्रोध—विगड़ हुए मनमें अग्रक्य-जँसी अनेक कामनाओंके पूर्ण न होनेमें अवश्य उनमें विक्ष आनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। कुछ मनुष्य दम्भेकी हानि कर सकता यानहीं यह तो दैवाधीन है; परतु सर्वप्रथम वह स्वयंकी भी हानि करता ही है। क्रोध करनेमें मनुष्यके मस्तिष्कको अपने वहूमूल्य एवं अधिक ओज़शाक्तिका उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार अमूल्य ओज नष्ट हो जाता है और परिणामस्वरूप ब्रीघमशक्ति नष्ट होनी चली जाती है। तदूपरान्त क्रोधके मस्तिष्कमें आने ही ओजके विग्राह एवं विकृत प्रवाहसे मस्तिष्ककं बाननन्तु श्रीण हो जाते हैं। विजलीका प्रवाह वरसे लगे हुए वल्वको प्रामाणिक मात्रामें अनेपर तो जलाता है, परंतु अविक्ष मात्रामें अनेक वन्धुको नष्ट कर देता है और कभी-कभी तो वरको भी हानि पहुँचाता है। इससे रक्षा पानेके लिये वरके

बाहर फूजकी व्यवस्था की जाती है। मयम और विवेक ही हमारे फूज हैं। इन्हें व्याग बनाना ओजका अत्यधिक प्रवाह क्रोधके व्यपर्यासमें उत्पन्न हो जाता है और मस्तिष्कके वित्तने ही गांगोंको अनेक डाल देता है। विशेषव्यपर्यासमें कुछ मस्तिष्कको अधिक मात्रामें रक्तकी आवश्यकता पड़ती है। यह रक्तराशि मस्तिष्ककी ओर जानेवाले क्लवु रक्तप्रवाहको धीन लेता है। क्रोधी मनुष्यके मुख आग आगे कींवी आट हो जाती है, यह सबको अनुभव होगा। हँसने ममग मुँह लाल होता है। यह मुँखी ममग पौधियोंके विकारिन होनेमें, उनमें हृदयकी ओरमें खून गिन्च आनेमें तथा उन्हें विशेष युद्ध खून पिलनेसे, होता है। वैसे ही पौधियां पुलांकत होनेसे यह लालिमा लाभप्रद है और मौन्दर्यवर्धक भी है। परंतु ठीक इसके विपरीत कोशीकी अक्षु विगड़नी जाती है और बुद्धि, वल भी धीरे-धीरे उम्में झीण होने लगते हैं।

(७) हिंसा—हिंसा क्रोध और अभिमानमें उत्पन्न होती है। इसमें प्रवृत्त रहनेवाले व्यक्तिका रक्त सदा खौलता व गर्म रहता है। हिंसामें मस्तिष्क आग हृदय दोनों गंड होते हैं। अभिमान और क्रोधमें उत्पन्न रोगोंके उपरान्त ऐसे मनुष्यको हृदयमें उत्पन्न गेग भी होते हैं। पराया दुःख देखकर जो हृदय एकदम नगम बनकर द्रवित होने लगता है, वही हृदय अपने दुःखोंके मामने बज्ज-जैसा करोर भी बन जाता है। यह हृदयकी मत्त और वास्तविक स्थितिका गुण है। हिंसावाले मनुष्यके हृदयके यह गुण नष्ट हो जाने हैं। यह लोगोंका दुःख देखकर हँसता है और अपने ऊपर दुःख पड़नेपर निम्नश्रेणीका भीरु बन जाता है। तत्पश्चात् हृदयमें और मम्पूर्ण शरीरमें गर्म रक्त भ्रमण करनेसे शरीरमें वायु, पित्त और कफ इन तीनोंको

* किंतु अथर्वपरिशिष्ट ६८ एवं 'योगरत्नाकर' आदिसे कफपक्तिवालोंको ही सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा कहा गया है।

उत्पन्न करता है जिससे वह महाभयकर रोगोंका शिकार बन जाता है।

(८) छल-कपट—कपट करनेवाला व्यक्ति भी सूक्ष्मरूपसे हिंसा ही करता है। परंतु उसकी हिंसा करनेकी युक्ति मायामय कपट पूर्ण होनेसे दिखायी नहीं देती। वह साधारण विप-जैसी होती है। इससे ऐसे मनुष्य गी ऊपर वर्णित हिंसावाले व्यक्तिके समान ही रोगोंका शिकार बन जाते हैं। परंतु उसे जो रोगोंका दण्ड मिलता है, वह धीरे-धीरे असर करनेवाले विपके समान

ही होता है। [अलग-अलग सामान्य तथा महान् रोगोंसे पीड़ित वहुत-से लोगोंका जीवन मैंने देखा है। उनके पिछले कार्योंका मैंने अनुसंधान किया है, अबलोकन किया है, उनका सारांश और शास्त्रोंमें जो 'पाप और उसका फल' वर्णित है, उसके साथ तुलना करके ये वातें लिखी गयी हैं। इसमें भूल हो तो क्षमा चाहता हूँ। रोगोंमें मम्बन्धित वैज्ञानिक कारण कोई स्पष्ट ममझायेगा तो लोक-कल्याणकी दृष्टिसे मेरा श्रम सफल होगा।]

~~~~~

## सुख-समृद्धि एवं आरोग्यका मूलाधार—मूलाधार

( लेखक—आचार्य श्रीवृजमोहनजी दधीच )

सुदृढ़ खास्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अश्रुत यौवन एवं दीर्घ आयुष्यके लिये सदाचार मानो अमृत है। मारतीय आचार मर्वशा वैज्ञानिक है तथा खास्थ्यको सुदृढ़ कर दीर्घायु प्रदान करनेवाला है। महर्षि चरकका कथन है कि मानव केवल शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे ही रुग्ण नहीं होता; मन, प्राण एवं आत्मामें विकार उत्पन्न होनेसे भी वह रोगी हो जाता है। चित्तको निर्मल रखने तथा मन-प्राण एवं जीवात्माको रोगोंसे बचानेके लिये 'चरक'-सूत्र स्थानके आठवे अध्यायमें जो प्रतिवन्धात्मक दिये हैं, वे विद्वके सभी धर्मों तथा मानवमात्रके लिये परम कल्याणकारी हैं। इन निर्देशोंपर चलनेवाल सुख-समृद्धि एवं अन्य आरोग्यको निश्चित प्राप्त करता है।

नान्त्रतं ब्रूयात्—कभी असत्य न बोले। नान्यत्स्त्रियम-भिलयेत्—पर-खीकी अभिलापा न करे। नान्यच्छ्रेयम-भिलयेत्—किसी अन्यके धनकी इच्छा न करें। न वैरं रोचयेत्—किसीसे भी शश्वताकी इच्छा न रखे। न कुर्यात् पापम्—कभी पाप-कर्म न करे। नान्यदोपान् ब्रूयात्—दूसरोंके दोष-दुर्गुणोंका बखान न करे। नान्यरहस्यं

गायेत—किसीकी भी गुप्त वातको प्रकट न करे। नाधार्मिकः स्यात्—कभी भी अधर्मपथपर न चले। न नरेन्द्रद्विष्टेन सहासीत्-राजद्रोहीके साथ न वैठे। नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्त्वभिन्न भ्रुद्रैर्न दुष्टैः भ्रह्मीत्—उन्मत्त, पतित, भ्रूणहत्यारे, क्षुद्र पञ्च दुष्टका सङ्ग न करे। न पापवनान् श्रीमित्रभृत्यान् भजेत—पापवृत्तियाले, मित्र, खी एवं भृत्यका ग्रहण न करे। न धार्मिकैर्विरुद्ध्येत्—धार्मिक लोगोंका विरोध न करे। नावराजु-पासीत—नीचोंका सङ्ग छोड़ दे। न जिह्वां रोचयेत—जीभसे कटु वचन न कहे। नानार्यमात्रयेत—अनार्य पुरुषका आश्रय न ले। न संतो न गुरुन् परिवदेत्—संतो एवं गुरुजनोंकी निन्दा न करे। न साहसातिस्थान-प्रजागरस्त्वानदानाशनान्यासेवेत्—अतिमाहस, निदा, जागरण, स्नान, दान, खान-पानसे वचे। नानिसमयं भिन्न्यात्—समय एवं मर्यादाका उल्लङ्घन न करे। न गुह्यं विवृण्यात्—गुप्त वाते प्रकट न करे। नाहम्मानी स्यात्—अभिमानी न बने। न चातिब्रूयात्—ज्यादा वकावाद न करे। नार्थीरो नासुस्थितसत्त्वः स्यात्—अधीर एवं अस्थिर-चित्त न हो।

नैकः सुखी—अपने ही सुख न चाहो । न मध्ययून-  
वेश्याप्रसङ्गरुचिः—शराव, जुआ, वेश्यागमनम् (तनिक मी)  
रुचि न ले । न वालवृद्धलुभ्यमूर्खकूरकूविः सह सरयं  
कुर्यात्-वालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, कूर एव नपुसकं  
साथ गैत्री न वरं । न सर्वविश्रम्भी—हर एकपर विश्वास  
न करे । न सर्वाभिपङ्गी—हर एकको शक्तिकी दृष्टिसे  
न देखे । न कार्यकालमतिपातयेत्-कामको न टाले ।  
नापरीक्षितमतिर्निविशेत्—अपरिचित जल-यत्नम् प्रवेश  
न करे । न चातिदीर्घसूत्री स्यात्-दीर्घसूत्री न बने ।  
न बुद्धीन्द्रियाणामनिभारमादध्यात्-बुद्धि, गन तथा  
इन्द्रियोंपर अधिक भार न ढाले । न दीर्घं जल्यात्-  
दीर्घशक्ति नष्ट न करे । नापवादमनुसरेत्—अपनी निन्दा  
(अपमान) का गमण छ करे । प्रकृतिमध्येष्ठां  
न चिस्सरेत्—अपने गुण, कर्म, स्वभाव (प्रकृति) को न  
झूले, उसके विपरीत आचरण न करे । न सिद्धावृत्सेकं  
गच्छेत्तासिद्धौ इन्यम्-सफलताम् गर्व तथा असफलताम्  
दीनता न दिखाये ।

महपिं चरकने अकाल मृत्युमे वचनेके लिये भी  
सदाचारका अवलम्बन अनिवार्य माना है । उनके  
निर्देश है कि सुख, सौभाग्य, समृद्धि, आरोग्य-प्राप्तिकं  
लिये निम्नलिखित नियमोका पालन अनिवार्य है—  
(१) सदैव ब्रह्मचर्यका पालन करो, (२) ज्ञानी,

जानी एवं परोपकारी बनो, (३) मनसा वस्त्रम्  
करो, (४) मदा प्रसन्न रहो, (५) वाहन-नियामसे  
बचो, (६) मन एवं इन्द्रियोंको वशम् कर जानित  
धारण करो, (७) गायं-प्रातः दोनों गाय रमान करो,  
(८) नरण एवं गुरुका महेव मृच्छ स्वर्गो, (९),  
पश्चमे केव तथा नमोको माला करो, (१०) व्याप्ति  
वस ही पूर्णो, (११) मनको आनन्द बनाये रहो,  
(१२) पुण्य, इत्र, मुग्धन् गगणकर न अस्तु यदि  
पूलाओ, (१३) मननता वर्गी न जाओ, (१४)  
गिर, नाक, कान, पात्रसे तिय तेलमर्दन करो, (१५)  
अनियिका म्यागत करो, (१६) दृग्गियोंको मग्नाना  
करो, (१७) महेव गृह करो, (१८) मन-सिद्धान  
एवं गुरुका रमान करो, (१९) वाम ओदो, वा  
वाओ, पवित्र अन्न खाओ, (२०) मधुर दिनसारी गोमिन  
शब्दोका प्रयोग करो, (२१) मन, बुद्धि, चिन-  
अहंकारको आत्माके वशम् कर धर्मपर्याप्त चर्यो,  
(२२) धर्मका प्रचार करो, अर्चाम्ये बचो, (२३)  
फलासक्तिको लागकर पुरायार्थ करो, (२४) चिन्ना-  
रहित रहो, निर्भय, बुद्धिमान, उत्साही, दक्ष, अमाधील,  
श्रेयकं पवित्र बनो और (२५) राम-द्वेष एवं क्रोधक  
कारणोंसे दूर रहकर मुस्कराते रहो । इस प्रकारका सदाचार  
ही पूर्णता प्रदान वरता है ।

## प्रवोध

नर ! तैं जनम पाठ कहा कीनौ ?

उद्दर भरव्यौ कृकर-सूकर लौं, प्रभु को नाम न लीनौ ॥  
श्रीभगवन् सुनी नहि श्रवननि, गुरु-गोविद् नहि चीनौ ।  
भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विपथा मैं दीनौ ॥  
झूठौ सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनौ ।  
अघ कौ मेर बढाइ अधम ! तू अंत भयौ बलहीनौ ॥  
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि बाही मन दीनौ ।  
सरदास भगवन्भजन विनु ज्यौ अंजलि जल छीनौ ॥

## शास्त्रोंका निष्कर्षार्थ—सदाचार

( लेखक—प० श्रीसूरजचंद्रजी 'सत्यप्रेमी' डॉगीजी )

रामायण, महाभारत और भगवन्—इन तीनों ग्रन्थोंमें विधि-निषेध-निर्णीत-अनुष्ठेय सदाचारवा साक्षात्कार है। गोसामीजी 'मानस'में भगवान् श्रीरामके सदाचारको अङ्गित करते हुए कहते हैं—

भातकाह उठि कै रसुनाथा । मातु पिता गुरु नावहि माथा ॥

( रामच० मा० १ | २०४ | ४ )

ग्रातःकाल उठते ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने माता-पिता और गुरुजन यानी उम्रमें बड़े व्यक्तियोंके चरणोंमें मस्तक नवाते थे, जिससे कि उनके हृदयमें बड़ोंका आचरण प्रतिष्ठित हो। यह एक सामाजिक विज्ञान था, जिससे नवताके संस्कार पड़ते थे और वही ज्ञानका फल है, जैसा नीतिशास्त्रोंमें निर्दिष्ट किया गया है—

विद्या इदाति विनयं विज्ञयाद्याति पात्रताम् ।  
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम् ॥

( हितोप० प्रस्ता० ६ )

नीतिशास्त्रोंका कथन है कि विद्यासे विनय आती है, फिर विनयसे पात्रता और पात्रतासे धनकी प्राप्ति होती है तथा धनसे धर्म और धर्मसे सुख मिलता है। पात्रताका मूल विनय ही है। महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्यने 'सुवेधिनी' टीकामें सदाचारकी सुन्दर व्याख्या की है और यह भी कहा है कि

अनाचारः सदा त्यज्योऽत्याचारोऽपि सूख्यता ।

'अनाचार तो हमेशाके लिये छोड़ने योग्य है, पर अति-आचारका आग्रह—अहंकार भी सूख्यता है। वस्तुतः विचारपूर्वक आचरण ही सदाचार है।'

अभद्र्य-भक्षण, अपेय-पान और अगम्यागमन आदि दुराचार हैं—इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये। मांस अभद्र्य है, मदिरा अपेय है और परखीगमन परम

त्यज्य है। ये अनाचार तीनों कालमें वर्ज्य हैं तथा युक्ताहार-विहार ही आचरणीय सदाचार है। परमात्माने हमको तीन वस्तुएँ धरोहरके रूपमें वरदान दी हैं—तन, मन और बुद्धि। इनको दुरुस्त रखना उत्तम सदाचार है। तन्दुरुस्तीके लिये ऋषि-महर्षियोंने एक ही साधन बताया है—वह है—'तप', अर्थात् इस दरीरको तपाते रहना। साधारणतः तन्दुरुस्तीकी कस्तौटी यह है कि दोनों समय अच्छी तरह भूख लग जाय। फिर दिलकी दुरुस्तीके लिये जप आवश्यक है। दोनों समय भजनकी भूख लग जाय तो समझ लें कि दिल दुरुस्त ! उसी प्रकार बुद्धिके लिये साधारणकी आदत। दोनों समय सत्सङ्गकी भूख लग जाय तो समझ लें, अकल दुरुस्त ! बुद्ध वही है, जिसे बुद्धिका रोग है कि मेरी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् कौन है ? वह सत्सङ्ग क्यों करेगा ? पर जो अपनी बुद्धिको स्वस्थ रखना चाहता है, वह अपनेसे बड़ोंके प्रति सर्वदा विनयशील होगा और छोटोंके प्रति वात्सल्य रखेगा।

प्रभुकी तरफ विवेकपूर्वक दृष्टिसे चलना चाहिये। प्रभु व्यापकतत्त्व है, विश्वव्यापक सत्ता है, जिसके तीन नियम हैं। हम सब उन नियमोंका पालन करें, तभी जगत्में मङ्गल हो सकता है। इन नियमोंसे बुद्धिमें सत्यका प्रकाश, मनमें प्रेमका उल्लास और जीवनमें सेवाका विकास होना चाहिये। यही सदाचारकी त्रिसूत्री है।

पहले प्रजा राजाके अनुशासनमें थी। राजा महाजनके अनुशासनमें था और महाजन सज्जनोंके अनुशासनमें एवं सज्जन शास्त्रोंकी मर्यादा मानते थे तब सुख था। इस सदाचारके विपरीत हो जानेसे ही आज क्लेश बढ़ गया है। अब राजाके अनुशासनमें प्रजा नहीं है। राजा महाजन\*के मनको न मानकर बहुमतको

\* यहाँ 'महाजन'का अर्थ थ्रेष्टजन ही अभिप्रेत है, किंतु—

एकः पापानि कुरुते फलं भुद्धके महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोपेण लिप्यते ॥

( महाभा० विदुर प्रजागरपर्व ३३। ४२ )

आदि अनेक स्तरोंपर संस्कृतमें 'महाजन'का अर्थ जनसूह भी है।

मानता है और संतोंसे मनमाने शाल्क बनवाता है—इसीलिये हुःख है। पहले राजा पुण्यकर्मके उदयसे ईश-कृपासे पेटमेंसे निकलता था। वह सवके पेट भरता था। उसे अन्नदाता कहते थे; पर अब राजा, (मत-) पेटीमेंसे निकलता है। वह पेटी भरनेके फिक्रमें ही लगा रहता है। फिर वह भला किसका पेट भर सकता है? पहले सर्वसभाति-से माताका बड़ा पुत्र राजा होता था। उसमें चुनावका शगड़ा-रगड़ा नहीं था। इसलिये सर्वमान्य समुदाचार था कि उसकी आज्ञामें प्रजा चले। जब कठिनाई उपस्थित होती थी तो सदाचारी महाजनोंसे परामर्श किया जाता था। मेहना, कोठारी भंडारी, मोदी, बोहरा आदि पद-पदवियोंके अनुशासनसे सदाचारी शासन होता था—वहाँ सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द था। धर्मके लिये कोई अगड़ा न था। अपनी-अपनी योग्यता और अधिकारोंके अनुसार गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन होता था, परंतु धार्म सुविधाके सावन वह जानेसे सुख-शान्तिका साधन—सदाचार दुर्वल पड़ गया है। शाल्के अनुकूल सज्जनोंकी सलाहसे चलना ही महाजनका सदाचार है, जिसका पालन करना और कराना शासकका धर्म है। इसी प्रकारकी सुव्यवस्थित सदाचार-प्रतिष्ठारो ही देश पुनः सम्पन्न और सुखी हो सकता है।

हमारे शास्त्रोंमें वेद प्रधान हैं। ये 'सुस्त्रप्रबुद्धन्यायसे महेश्वरकी सहज श्वास-प्रश्वास गतिसे प्रकट हुए हैं—'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी', (रामचरितमानस (१। २०३। ३)। वे कर्मोंके विधि-नियेधका—

क्या करना कर्तव्य है और क्या वर्जनीय है—इसका वर्णन करते हैं। यह निर्णय वैदिक धर्म कहलाया था—यह पहला सदाचार है। दूसरा निर्णयिक साधन 'वैदान्त' शाल्क है, जो श्रीकृष्ण भगवान्‌द्वारा गीताके मायमसे उपनिषद् सार एवं व्यास वदामूलके रूपमें प्रकट हुआ है। इससे 'ज्ञान'का प्रकाश होता है। तीसरा 'सिद्धान्त' यह है, जो 'मानस'में भगवान्‌शंकरजीके द्वारा प्रकट हुआ। इससे सावनाके द्वारा सिद्ध करके परम सुखकी सृष्टि होती है। ये ही तीनों हिंदूस्थानकी संस्कृतिके निधान हैं और ये ही हमारे सदाचारके मुख्य आधार हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म ही सम्मिलित रूपसे सदाचार हैं। यदि वह भगवान्‌से जुड़ जाय तो योग हो जाता है। 'उद्योग' (उत्) ऊँचा योग है। उसका फल है—'सहयोग'—सब योग सहयोगसे सफल है। तीर्थका भगवन्नोंके अनुसार—'परस्परोपग्रहो जीवान्तम्' जीवोंका सदाचार यही है कि परस्पर सहयोग बढ़े। भगवान्‌श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।  
(गीता)

इस प्रकार परस्पर सहयोग करके परम श्रेय प्राप्त करने-का उद्योग ही सदाचार है। हमारे मन, बचन और कर्म सबको परम आनन्द दे सकें, इसी कर्तौटीपर कसकर ही हमारा आचरण 'सत्' कहला सकता है। यही सदाचार है। वीतराग महापुरुषोंने द्वादशाङ्गी वाणीमें भी सर्वप्रयम आचाराङ्गका ही उपदेश किया है और यही वात भगवान्‌वेदव्यासने महाभारतमें कही है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।

### मनुष्य और पशु

ये पां गुणेष्वसंतोषो रागो ये पां श्रुतं प्रति ।  
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पश्वोऽपरे ॥

(योगवासिष्ठ, स्थिति-प्रकरण ३२। ४२)

'जिनका इन (शम-दमादि) गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है—इनको जो और बढ़ाना चाहते हैं, जिनका शाल्के प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्यके आचरणका ही व्यसन है, वे सदाचारी ही वास्तवमें मनुष्य हैं, दूसरे (असदाचारी) तो पशु ही हैं।'

## सदाचार और संस्कार

( लेखिका—श्रीमती मञ्जुश्री एम.० ए०, साहित्यरत्न, रामायण-विगारद )

सम् उपसर्गसे परे सुट्के आगमपूर्वक कृ धातुसे घब्र प्रत्यय करनेसे 'संस्कार' शब्द बनता है। इसका प्रयोग अनेक अर्थोंमें किया जाता है। मीमांसकगण इसका 'यज्ञभूत पुरोडाश आदिकी विधिवत् शुद्धि' अर्थ करते हैं। संस्कृत-साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग है। शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य, व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धि, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिपेक, विचार, भावना, धारणा, कार्यका परिणाम, क्रियाकी विशेषता आदि अर्थोंमें इसका प्रयोग मिलता है। इन अर्थोंमें संस्कारके प्रयोगसे उसका सदाचारसे निकटतम सम्बन्ध ज्ञात होता है और वे अर्थ अधिकांशतः सदाचारके पर्यायसे छागते हैं। साधारणतः व्यावहारिक रूपमें संस्कारका अर्थ है—पवित्र धार्मिक क्रियाओद्वारा व्यक्तिके दैहिक, मानसिक, वौद्धिक और मुख्यतः आत्मिक परिष्कारके लिये किये जानेवाले अनुष्ठान, जिनसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको पूर्ण विकसित करके समाजका अभिन्न सदस्य बनते हुए मोक्षकी ओर अग्रसर हो।

विवाहादि संस्कारोंके अङ्गभूत विधान, आचार, कर्मकाण्ड आदिके नियम प्रायः विश्वके सभी देशोमें पाये जाते हैं। प्राचीन संस्कृतियोंमें इनका स्थान प्रतिष्ठित है। अब सभी आधुनिक धर्मोंमें भी कुछ संस्कारोंका प्रचलन हो गया है, किंतु वेदों तथा गौतम आदि सूत्रियोंके अनुसार हमारे यहाँ संस्कारोंकी संख्या ४८ तक रही है। इन्होंमेंसे विवाहादि कुछ मुख्य संस्कारोंका विस्तृत रूप विदेशोमें भी गया। यहाँ भारतीय संस्कारोंमें त्वच्छस्ता एवं पवित्रताका विशेष महत्व सदासे रहा है।

किसी राष्ट्रमें सुसंस्कृत सदाचारित वातावरण— मात्र अनिवार्य विविध या संविधानद्वारा नहीं लाया जा सकता, जबतक कि वह जनसामान्यके मनको

आकर्पित न करे और जनसामान्य भी ये वाते न समझे और उनका आदर न करे। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति गर्भसे ही सुसंस्कृत हो। यह कार्य आध्यात्मिक संस्कार ही करता है। देशके अपने मूल्यों और प्रतिमानोंके प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करनेके लिये प्रथल-पूर्वक संस्कार करना पड़ता है, तभी सामाजिक नीतियों और मूल्योंका विकास होता है। संस्कार जीवनके विभिन्न अवसरोंको महत्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस विचार-दृष्टिपर बल देते हैं कि जीवनके विकासका प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है; किंतु उनका सम्बन्ध मनुष्यकी वौद्धिक, भावनात्मक और आत्मिक अभिव्यक्तिसे है, जिनके प्रति मनुष्यको सदैव जागरूक रहना चाहिये। अतः संस्कार जीवनके संघटनोंको शारीरकी दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापारके समान अनाकर्पक, चमल्कारहीन और जीवन-के भावुक संगीतसे रहित होनेसे बचाते हैं और इस प्रकार वे सदाचारपूर्ण जीवनमें दीपि एवं रोचकता भर देते हैं। संस्कार ही सदाचारकी नींव होते हैं।

प्राचीन समाजशास्त्र-ऋग्यियोंने मनुष्यको सहजगत्या विकासके लिये छोड़ देनेकी अपेक्षा विवेकपूर्वक वैयक्तिक चरित्रिको पूर्वनियोजित समाजमें ढालनेकी आवश्यकताका अनुभव किया और इस प्रयोजनकी पूर्ति उन्होंने संस्कारोद्वारा की। संस्कार जीवनके प्रत्येक भागको व्याप कर लेते हैं। हलना हीं नहीं, जन्मसे पूर्व तथा मृत्युके बादके भी संस्कार हैं। जीवनके आरम्भसे ही व्यक्ति इनके प्रभावमें आ जाता है और इस प्रकार एक मुद्दद व्यक्तित्व तैयार होता है।

कहनेका तात्पर्य यह कि संस्कार सदाचारके घटक अङ्ग हैं और ये व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभीके लिये अनिवार्य-

से हैं। साधारणतः संस्कारोंको निम्नलिखित भागोंमें बाँटा जा सकता है—देह-प्राणजन्य संस्कार, बाल्यावस्थाके संस्कार, जीवनके शैक्षणिक संस्कार, विवाह-संस्कार और अन्येष्टि-संस्कार। विभिन्न प्रन्थोंमें संस्कारोंकी विभिन्न संख्याएँ दी गयी हैं। सम्प्रति विशेष प्रसिद्ध संख्या सोलह है। जनसाधारण भी पोडश संस्कार ही मानते हैं। परवर्ती स्मृतियोंमें पोडश संस्कारोंकी सूची इस प्रकार दी गयी है। (इसमें कुछ भेद भी है।) आश्वलायन-स्मृतिके अनुसार ये संस्कार निम्नलिखित हैं—गर्भावन, पुस्तवन, सीमन्त, जातकर्म, नाम-करण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, बपनक्रिया, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्तस्नान, उद्घाव, विवाहाग्नि-परिग्रह तथा अन्येष्टि।

गर्भधारणका निश्चय हो जानेके पश्चात् गर्भस्थ शिशुको पुंसवन नामक संस्कारद्वारा अभिप्रित्त किया जाता था। पुंसवनका अभिप्राय उस कर्मसे था, जिसके अनुप्राप्तसे पुरुष-संततिका जन्म हो। इस अवसरपर पठित तथा गीत पवित्र ऋचाओंमें दधि, माप, यव, पानका उल्लेख किया गया है। इस समय विधि-विधानस्थपरमें लिये गये कार्य (जैसे वटवृक्ष, सहदेवी, विश्वदेवी आदि ओषधियोंके रसका प्रयोग) गर्भवस्थाके समस्त कष्टोंको भी हटाते थे। सीमन्त या सीमन्तोन्नयन-संस्कारमें गर्भिणी छोटे केशोंको ऊपर उठाया जाता था। इस अवसरपर पठित ऋचाओंसे ग्रकट होता है कि इस संरक्षका प्रयोजन माताने ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशुके लिये दीर्घायुकी ग्रासि था। गर्भिणी छोटोंको यथासम्भव ह्वर्षिन् एवं उरुस्तित एलनेका प्रयोजन इस दातसे ज्ञात होता है कि स्त्रयं फलि छहक्के केशोंको सजाने-संधारनेवाला कार्य करता था। वे संस्कार केवल प्रथम गर्भमें ही होते थे।

जातकर्मसंस्कारका प्राकृतिक आधार प्रसवजन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियोंमें निहित था, जो माता और शिशुकी रक्षा तथा शुद्धिके सांस्कृतिक उपायोंसे भी संयुक्त हो गया। विकास-

वादके अनुसार सभ्यता, भाषा परं सामाजिक चेतनाके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यके नाम-करणकी आवश्यकताका बोन दृश्या। किंतु हिंदू इमके अपौरुषंय वेदद्वारा निर्दिष्ट होनेके कारण सृष्टिके आरम्भसे ही इसे धार्मिक संरक्षामें परिगणित करने आये हैं। सामान्यतः नामवरण-संस्कार शिशु-जन्मतो पश्चात् ग्राहकवें द्विन सम्पन्न किया जाता है। इस दिन गृहको प्रक्षालित एवं शुद्धकर यजादिद्वारा वातावरण पवित्र किया जाता है। जन्मके डेढ़-दो मास बाद वह प्रथम बार पिनाद्वारा सूर्यदर्शनके लिये गृहसे बाहर लाया जाता है। इस समय उसकी रक्षान्तर्गत लिये देवताओंसे प्रार्थना भी जाती है।

धीरे-धीरे शिशुके शारीरिक विकासके साथ ही उसके भोजनकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। प्रावः १॥ वर्ष बाद शिशुको मातासे दूत पर्याप्त मात्रामें प्राप्त नहीं होता, अतः माता एवं शिशु दोनोंकी शारीरिक स्वस्थताकी दृष्टिसे उराका अन्नप्राशन-संस्कार होता है। इस समय शिशुकी समस्त इन्द्रियोंकी संतुष्टिके लिये प्रार्थना की जाती है, जिससे वह मुख्यी तथा संतुष्ट जीवन व्यतीत कर सके। साथ ही वह संतुष्ट होने तक तृस्मिन्नों खोजमें स्वास्थ्य और नैतिकताको निष्पोका सदा चाहता है—इस बातपर भी बहु दिया जाता था। शास्त्राग्रह पहननेके लिये कान और नाकके छेदनेको प्रथा भी अति प्राचीन कालसे है। सुश्रूतने कहा होगो—जैसे अण्ड-घृष्णि, अन्नवृद्धि आदि रोगोंसे रक्षा आदिके लिये कर्ण-वेधको उपयोगी बताया है। इस दिन पहले देवताओं द्वारा गौणोंका पूजन किया जाता था, फिर दैन बातका फर्पण्डेवन करता था। दान्तमें मानवों, एवं तिजियों द्वारा वैधको दान-दक्षिणा दी जाती थी। इसके बाद मिन्नों और सम्बन्धियोंका संस्कार किया जाता था, जिससे शुद्ध सामाजिक सम्बन्धोंकी नींव दड़ हो।

बालकके बाक्षरारम्भ एवं शिक्षाका प्रारम्भ बादमें होता था। इसके लिये कोई शुभ दिन निश्चित किया जाता

था। उस दिन आरम्भमें मातृपूजन, आभ्युदयिक श्राद्ध तथा अन्य आवश्यक कृत्य किये जाते थे। तब पारलौकिक अग्निकी प्रतिष्ठा कर विद्यार्थीको आमन्त्रित कर अग्निके पश्चिममे बैठाया जाता था। इसके पश्चात् साधारण आहुतियाँ दी जाती थीं। सभी वेदोंकी अलग-अलग आहुतियाँ होती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, वेदों तथा प्रजापतिके लिये आहुतियाँ दी जाती थीं। अन्तमे आचार्य ब्राह्मण पुरोहितको पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वैदका अध्यापन आरम्भ करते थे। शिक्षाका यह अनुष्ठान बालकके मन एवं आत्मामे शिक्षाके प्रति पूर्ण रुचि उत्पन्न करता था। इस संस्कारमे मनोवैज्ञानिकता थी।

केशान्तसंस्कार भी चार वैदिक व्रतोंमेंसे एक था। इनमें प्रथम तीन व्रत अपने जीवनके वैदिक स्वाध्याय-पर निर्भर थे, जब कि केशान्त-अनिवार्यता विद्यार्थीके ज्ञाना तथा संयमपूर्ण व्यवहारसे सम्बद्ध था। यह संस्कार सोलह वर्षकी आयुमे सम्पन्न होता था। इसमें गुबकङ्के दाढ़ी, मूँछ, सिरके बाल और नख जलमे फेंक दिये जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुको एक गौद्धा दान करता था। संस्कारके अन्तमे उसे मौनव्रतका पालन करना होता था, फिर एक वर्षतक उसे कठोर अनुशासनमे रखा जाता था। खान या संमार्वतन संस्कार ब्रह्मचर्यके समाप्त होनेपर सम्पन्न किया जाता था। संमार्वतनका अभिप्राय है—वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलसे गृहकी ओर प्रत्यावर्तन। इसे वेद-खान भी कहते हैं। यह कार्य अध्ययन राग्नेपन्नता-सूचक गहत्वपूर्ण संस्कार था। विद्यार्थी-जीवनके अन्तमें किया जानेवाला सांस्कारिक खान विद्यार्थीके द्वारा विद्यासागरको पार करनेका भी प्रतीक था। विद्या एवं गुरुके प्रति निष्ठा तथा संयमका महत्व इस संस्कारसे अनायास ही अवगत हो जाता था।

विवाहाग्नि-परिग्रह-संस्कारका हिंदू-संस्कारोंमें मुख्यविद्वान् महत्वपूर्ण स्थान है। अन्ति प्राचीनकालसे

विवाहकी मान्यता है। विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था। तैत्तिरीयब्राह्मणमें अपलोक पुरुषको अयज्ञीय या यज्ञहीन कहा गया है। सृतियाँ आश्रमव्यवस्थाका पूर्ण समर्थन करती हैं तथा गृहस्थाश्रमको अनिवार्य बताती हैं। अनेक कारणोंसे विवाहको अत्यधिक आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। विवाह दाम्पत्य-जीवनको कामोपभोगकी आसक्तिसे दूरकर विवेकपूर्ण मर्यादित मार्गके अनुसरणपर बल देता है। विवाह पति-पत्नीसम्बन्धको वासना-नर्गतसे यथासम्भव बचाता है। विवाहित जीवन उत्तरदायित्वोंका जीवन है। दम्पतिपर परिवार, समाज, राष्ट्र—सभीके महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हैं। इन्हें वे अत्यन्त विवेकपूर्ण, संयमित, सदाचारित जीवन व्यतीत कर ही निभा सकते हैं। विवाह सामाजिक दृष्टिसे तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है ही, आध्यात्मिक दृष्टिसे भी उतना ही महत्वपूर्ण है। विशुद्ध प्रेमके खरूपका बोध इस संस्कारद्वारा होता है। विवाहके वन्धनमें बैधकर पति-पत्नीका प्रेम अन्धकामुकतासे बहुत दूर समर्पणमय होता है। यह प्रेम परमेश्वर-प्रातिका साधन है और इसका ज्ञान विवाहद्वारा ही होता है। विवाह सभी दृष्टियोंसे सम्पूर्णतः गृहस्थर्मको पावनता, शुचिता प्रदान करता है। जीवन कर्मक्षेत्र है। व्यक्ति विवाहके बाद ही जीवनके कर्मानुष्ठानमे सम्पूर्णतः भाग लेता है।

हिंदू-जीवनका अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि-संस्कार है। व्यक्तिके इस संसारसे प्रस्थान करनेपर उस व्यक्तिके जीवित सम्बन्धी परलोकमें उसके भावी सुख एवं सुगतिके लिये प्रत्यु-संस्कार करते हैं। धार्मिक दृष्टिकोणसे यह संस्कार इसलिये महत्वपूर्ण है किंतु दिनुद्दीनोंके लिये इस बोकङ्की धरेक्षा परलोकमा सूख दृम्य है। ‘दीधायनपितृमेधसूत्र’में कहा गया है—‘एह दुग्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारोंके द्वारा व्यक्ति इस लोकको जीतता है और मरणोत्तर संस्कारद्वारा उस लोकको। पुनर्जन्मके भावी सुधारके लिये यह

संस्कार विधि-विधानसे किया जाता है। धार्मिक दृष्टिकोणके अतिरिक्त व्यावहारिकताकी दृष्टिसे भी यह संस्कार विशेष महत्त्व रखता है। मृत व्यक्तिके परिवारवालोंको गहरे अवसाद और नराशय तथा आध्यात्म-विमुखतासे बचानेका कार्य यही करता है।

संस्कार जीवनके सम्पूर्ण क्षेत्रको परिव्याप्त करते हैं, चूँकि संस्कार कई दृष्टियोंसे सदाचारके ही पर्याय हैं, अतः वे मानव-जीवनका परिष्कार करते हैं, व्यक्तित्वका विकास करते हैं। वे मानवको पवित्रता, महत्त्व तथा गरिमा प्रदान करते हैं और मनुष्यकी समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वाकाङ्क्षाओंको गति प्रदान करते हैं।

ये जीवनके लिये सुरुचिपूर्ण, मर्यादित पथ प्रशस्त करते हैं और अन्तमे संसारसे मुक्तिके लिये सानन्द योग्यता प्रदान करते हैं। संस्कार सदाचारकी भावनाको अन्तर्मनमें प्रतिष्ठित करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका स्वधर्म होता है अर्थात् आचरण-सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं, जिन्हे वह संस्कारोद्धारा ज्ञान करता है। इसी प्रकार परिवार और समाजके प्रनि मामान्य धर्म होते हैं तथा राष्ट्रके प्रति कर्तव्य अथवा युग्मर्म होते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति इनका निर्वाह सरलतासे और दक्षतापूर्वक करता है। इस प्रकार मानव-जीवनको सदाचरित बनानेके लिये संस्कारोंका अतिशय महत्त्व सिद्ध है।

## सहिष्णुता और सदाचार

( लेखिका—कु० निर्मल गुटा, प्राथ्यापिका )

महाकवि कालिदासने कहा है—

‘विकारहेतौ सति चिकियन्ते

येपां न चेतांसि त एव धीराः ।’

( कुमारसम्भव १ । ५९ )

‘विकारके कारण उपस्थित होनेपर भी जिन महापुरुषोंका मन विकृत नहीं होता, वे ही धीर पुरुष हैं।’ मानव पूर्णशक्ति सत्-चित्-आनन्द परमात्माका अविभक्त अंश है, अतः सतः स्वभावतः अपने अनजानेमें ही उस अविरल आनन्दस्रोतकी खोजमें तत्पर रहता है, परंतु इस छोटेसे जीवनमें अनेक विकारोंका पात्र बनकर वह अनजानेमें ही अपने स्रोतको भी भूला रहता है, कभी मार्गसे भटक भी जाता है, फलतः आनन्दसे दूर रहता है। इस प्रकार समय-समयपर अनेक विकारोंका कोप-भाजन बनकर साधारण मानव अपने बहुमूल्य जीवनकी इतिश्री कर बैठता है। क्रोध इन विकारोंमें प्रबल्लित विकार है।

मनके प्रतिकूल कुछ भी होनेपर मनमें जो एक प्रकारका उद्गेग अपने-आप दूसरोंके प्रति उभर आता है, उसे क्रोध कहते हैं। जीवनमें प्रतिकूलताकी कमी

नहीं, अतः क्रोधकी भी भरमार है। पर इसी समारमें कुछ ऐसे भी महापुरुष होने हैं, जो जीवनपर्यन्त भगवद्भक्तिसे एवं अध्यात्मसे सम्पन्न होते हैं। आनन्दके अविभक्त अंश होनेके कारण वे परम शान्त, परम गम्भीर रहते हुए सभी प्रकारके विकारोंसे स्वभावतः जन्मसे ही उपरत रहते हैं। पृथ्वीतलपर इन महापुरुषोंका आविर्भाव स्वयं आनन्द-सागरमें निषम्न रहकर कुछ और संस्कारी जीवोंको इस खोजमें तत्पर करना होता है। भक्त कवि जयदेव, महाप्रसु चैतन्यदेव, महामना मालवीयजी प्रमृति इसी कोटिके मुक्तजीव थे। आज भी हमलोगोंके मध्य कुछ इस कोटिके पुरुष हैं, जिन्हें थागामी पीढ़ियाँ आनन्द-स्रोतके रूपमें स्मरण करेंगी। ऐसे मुच्छ जीवोंके जीवन-प्रसङ्गमें क्रोध या अन्य किसी विकारका प्रलय ही नहीं; क्योंकि उनका जीवन किसी भी संसारी खार्यका सम्पादन करनेके हेतु होता ही नहीं। उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कार्य, प्रतिपल-प्रतिक्षण उन शियतम प्रसुकी आराधना है, पूजा

ऐ, जो सभी विकारोंसे परे सुन्दर, स्वच्छ और आनन्दमय हैं, परंतु वे आदर्श जीवन गिने-चुने हैं। इसके लिये न कुछ करणीय है, न विचारणीय। इसके अतिरिक्त ऐसे संस्कारी जीव भी होते हैं, जो आनन्दसागरकी ओर उन्मुख होना चाहते हैं—सत्संगति या पूर्वसंस्कार जिन्हें उस प्रशस्त मार्गपर बढ़नेके लिये समय-समयपर प्रेरित करते रहते हैं। पर मायाबद्ध जीव होनेके कारण समय-असमय वेचारे अनेक विकारोंके पात्र बन जाते हैं और कभी-कभी विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न होनेपर विकार-शमनके उपाय जाननेके इच्छुक होते हैं।

जिज्ञासु व्यक्ति काम-क्रोधसे दूर रह यदि सौभाग्यसे लक्ष्यबद्ध हो चुका है, यदि वह प्रभु-प्रेमकी ग्राहिको जीवनके अन्तिम उद्देश्यके रूपमें वरण कर चुका है तब तो लक्ष्यकी प्राप्ति उसके लिये सुगम ही है। विचारनेकी बात है कि परमानन्द प्रभु कितने सुन्दर, कोपल, मस्तुल और सुकुमार होंगे। उन प्रियतम प्रभुके तनिकसे ध्यान-गत दर्शन पानेके लिये भी खिले छलोंके हास-उल्लासको अपने तन-मन-ग्राण, दृष्टि और वाणीमें सँजोनेकी आवश्यकता है। संसारका सारा हासोल्लास भी यदि अपनी दृष्टिमें सँजोकर उन प्रियतमकी ओर नेत्र उठायें तो भी वे लज्जासे झुक-से जायँगे। ऐसी है उन श्रेष्ठ प्रियतमकी मुस्कानयुक्त चितवन। इस छोटे-से जीवनका प्रतिक्षण, प्रतिपल भी मिलनकी इस तैयारीके लिये वहुत कम है, थातः साधकको प्रमादसे सर्वथा दूर रहना परमावश्यक है। तभी वह शाश्वत मधुर मिलन संभव होगा।

प्रमाद या काम, क्रोधादि असमर्थताके ही घोतक हैं, जब हम स्वरूपमें स्थित नहीं हो पाते तो हममें अज्ञानसे काम, क्रोध आदि आते हैं। साधकके जीवनमें असमर्थता-विवशता—कहीं कुछ है ही नहीं। जो कुछ वह नहीं कर पा रहा है, उसमें अपनी इच्छाके व्याहत होनेपर भी स्पष्टतः ही उसके प्रेर्ष—प्रियतमकी इच्छा पूर्ण हो रही है। एक व्यक्ति एक ही वर्तु पूर्णतः चाहता है। कौन चाहता है कि Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

वह किसी अन्यको चाहे और अपने अभीष्ट स्नेहीरूप पूर्ण परमात्माकी चाह न करे। फिर एक बात और भी तो है—वह हठीले प्रेमी क्रोध करना ही चाहें तो उन प्रेर्ष—प्रियतमपर ही कर लें, क्योंकि वे तो सर्वसमर्थ हैं न! सभी प्रकारकी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। यह तो हर्दि प्रेमी भक्तोंकी बात। उस व्यक्तिकी बात, जो किसीको अपना प्रेमास्पद बना चुका है। तन-मन-ग्राण जब किसीकी चाहनासे पूर्णतः भर जाते हैं तो विकारोंके स्थान ही कहाँ रह सकता है!

ज्ञानी साधकके पास यों ही क्रोधके लिये स्थान नहीं। वह भलीभाँति जानता है कि संसार एक रङ्ग-मञ्च है, यहाँ विभिन्न पात्र विभिन्न प्रकारके अभिनयोंका सम्पादन उस सूत्रवारके इन्डिलपर कर रहे हैं। इस नाटकमें किन्हीं व्यक्तियोंको यदि मनके प्रतिकूल आचरणका अभिनय मिला है तो वही ठीक है। किसीकी प्रतिकूलतापर हमें अपने मनको कुछ करनेका कोई धौचित्य नहीं। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वकर्म और संस्कारोंके वशीभूत होकर अपने स्वभावके अनुसार आचरण करता है। संसारके उस रङ्गमञ्चपर बस, उसे शान्तभावसे सुचारू रूपसे अपना जीवन-यापन करना है। ऐसे ज्ञानी व्यक्तिका मन स्वतः ही उस गम्भीर शान्त सागरकी भाँति होगा, जिसमें हजारों चन्द्रमा भी इकट्ठे उदित होकर ज्वरमाटा नहीं ला सकते।

यह तो हर्दि प्रभु-प्रेमी और लक्ष्यबद्ध जीवोंकी बात। अब साधारण मानवकी बात सोचनी चाहिये। सामान्य मानवको यदि वह क्रोधसे आविष्ट है तो कुछ निम्नाङ्कित बातोंपर उसे विचार करना चाहिये।

साधारण मानवको सुखी जीवन जीनेके लिये अपने घर-परिवार और समाजमें सम्मान-प्यार पानेके लिये खस्थ तन-मनकी आवश्यकता है। जिसका तन-मन खस्थ है, केवल वही व्यक्ति अपना और दूसरोंका हित-

सम्पादन कर सकता है। क्रोध मनुष्यके खास्थ्यको बिगड़ देता है। हृदयरोग-जैसे भयंकर रोग क्रोधकी उपज है। क्रोध चेहरेको विकृत कर देता है। उसके अपने परिवारके सदस्य ऐसे व्यक्तिके पास आने, बैठने, बोलने-चालनेसे कतराते हैं। अतः उसका व्यक्तित्व अभावप्रस्तु दो जाता है।

बात-नातपर क्रोध करनेसे परिवारके बधोंकी खाभाविक उन्नति रुक जाती है, उनकी कोमल भावनाएँ दब जाती हैं, परिणामखरूप बच्चे विभिन्न प्रकारकी हीन भावनाओंके शिकार बनकर समाजमें पिछड़ जाते हैं, तब कोई समय आता है जब हम पछताते रह जाते हैं—पर ‘अब पछताये होत का, जब चिड़िया उग गई खेत’। समाजमें हम प्यार और समर्पान आहंका पूते। हर व्यक्ति हमसे कतराता है। कोई अपना दिल खोलकर हमसे ब्रात नहीं करता। लोग हमें देखकर भयभीत-से हो जाते हैं और भाग निकलनेका प्रयास करते हैं। ऐसा व्यक्ति स्थय तो किसीके प्यार और विश्वासका पात्र बनता ही नहीं। जीवनमें कहीं किसीके भी दाम नहीं आता। अनेक गुणोंके होनेपर भी स्थय तो हीनभावना और अकेलेपनका शिकार बनता ही है। अपने आसपासवालोंको भी सभी प्रकारके सुख-सौभाग्यसे वस्त्रित कर देता है।

क्रोध ग्रायः स्थयं असमर्थताका घोलक होता है। अनेक बार अपने किसी तन-मनकी दुर्बलतासे पीड़ित या अभिव्यक्तिके क्षीण होनेके कारण व्यक्ति स्थयको स्पष्ट नहीं कर पाता तो क्रोधका भाजन बनता है और इस ज्वालामें दूसरे निरीह प्राणियोंको भी जलाता है। कई बार अध्यापकवर्ग इसी प्रकारके क्रोधमें विवश अनेकों निरीह प्राणियोंका जीवन बिगड़ डालता है।

एक बात और भी है। प्रथेक व्यक्तिकी कार्यक्षमता और कार्य करनेके तरीके मिन्न होते हैं। कई लोग

ज्ञानवारो ही प्रमादी—लापरवाह होते हैं। मान लीजिये कोई व्यक्ति लापरवाह है और आपके अनुकूल कार्य नहीं कर पाता तो आप उसपर क्रोध करते हैं, परंतु वह बेचारा तो खभाव-विवश होकर वैसा कार्य करता रहता है। अतः आप तो भैंसके आगे बीन ही बजा रहे हैं। यदि वह आपकी इच्छाके अनुसार सामर्थ्य होनेपर भी करना ही नहीं चाहता तो आप उसपर क्रोध करके व्यर्थ अपने समय और खाभिमानका नाश दरहे हैं। तीसरी बात यह भी हो सकती है और प्रायः हो भी जाती है कि जिस बातको आप गलत समझकर दूसरेपर क्रोध कर रहे हैं, आप स्थय ही गलत हों और उसे गलत समझकर वैमनस्यकी दीवार बीचमें खड़ी कर रहे हों। किसी भी अवस्थामें क्रोध लाभप्रद वस्तु तो है ही नहीं। अनुभवी जनोंका स्पष्ट विचार है कि जिस व्यक्तिको अपनी बात समझनेके लिये क्रोध करना पड़ता है, उसमें अपनेमें कोई कसी अवश्य है और अपनी इस कसीसे वह अपने-आप और आस-पासवालोंके जीवनको नरक बना रहा है।

मानवकी तो बात ही क्या, विशुद्ध प्रेमका यंत्र होनेके कारण पेड़-पौधे, पशु-पक्षीतक भी प्यारकः कामना रखते हैं, प्यारवाली भाषा समझते हैं। आप धैर्यसे अनुभव करके देखिये, जिस व्यक्तिको सौ बार क्रोध करके आप अपनी बात नहीं समझा सकते, उन्हें एक बार सरल निश्चल प्यारसे सहलाकर आसानीसे समझा देंगे। आपकी विजय हृदय जीतनेमें है, उसका हृनन करनेमें नहीं। और, फिर उन प्रेमगम्य प्रभुसे आपको यह अधिकार भी तो नहीं मिला कि आप दूसरोंपर क्रोध करके उनका सुधार करें। उन प्रभुकीं सदय दृष्टि आपपर पड़ रही है और आप दूसरोंको भयभीत कर रहे हैं—यह कहाँका न्याय है ?

फिर एक प्रश्न यह उठता है—क्या कहीं भी कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता

हो। क्या क्रोध वेचारा प्रभुकी सृष्टिमे सर्वथा ही निरर्थक वस्तु है? उत्तर स्पष्ट है कि विवाताकी सृष्टिमे सभी कुछ सार्थक है। अतः ऐसे भी कुछ निश्चित क्षेत्र हैं जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। कई बार आचार्यकोटिके ऊँचे उठे हुए महापुरुष अपने आश्रित-जनोंपर क्रोध करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनका यह क्रोध सार्थक है—खागतके योग्य है। इसका एकमात्र लक्ष्य आश्रितजनोंके वृत्ति-व्यवहारको परिमार्जित करके उनके मार्गको प्रशस्त करना होता है, पर ऐसे क्रोधमे स्वार्थ नहीं होता। अतः उसमे कडवाहट भी नहीं होती, वह मधुर होता है। ऐसे क्रोधका उसपर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और क्रोध करनेवालेके मनका उससे दूरका सम्बन्ध भी नहीं होता। परीक्षाका समय इसे प्रत्यक्ष कर देता है।

परिवारोमे बच्चोंके सुवारके लिये माता-पिता और विद्यालयोंके अध्यापकर्वाद्वारा ऊपरी क्रोध भी इसी प्रकार क्षम्य है; क्योंकि शास्त्रोमे आता है कि अध्यापकोंके दण्ड देनेवाले कर्तव्य, हाथ तथा हृदय सर्वमें ही अमृत रहता है। वे कल्याणके लिये ही छोटे बालकोंको ताङ्ना देते हैं। उनके हृदयका इस प्रकारके क्रोधसे तनिक भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। महाभाष्यकारने कहा है—

सामृतैः पाणिभिर्व्वन्ति गुरुबो न विपेक्षितैः ।  
( व्याकरणमहाभाष्य ८।१।८ )

तथा 'महाभाष्यप्रदीप'कार कैयट भी कहते हैं—

गुरुबो हि हितैषित्वादकुप्यन्तोऽपि भर्त्सेनम् ।  
( ८।१।८ )

अतः गुरुओंकी बालकोंपर यह ताङ्ना सदाचारामृत-का ही सृजन करती है।

## सदाचार—भक्तिका एक महान् साधनम्

( लेखक—श्री के० वी० भातखण्डे, वी० ए०, वी० टी० )

भगवान्के प्रति प्रेम ही भक्ति है। इस परम प्रेमका सेवन करनेका जिन्हे निरन्तर अवसर मिला, जिन साधु-संतोंने निजके जीवनमे ऐसा आचरण किया, उन्होंने अन्य सभी लोगोंको भक्ति-सम्पादन करनेके लिये इन आचरणों-का उपदेश किया। भगवद्भक्तिके लाभके लिये ये सदाचार संतोंने अनेक प्रकार बताये हैं। 'सदाचारके लिये सदाचार' यह सदाचारका खरूप नहीं है, भक्तिके लिये सदाचार—( Bring us to God ) यही सदाचारका खरूप है। रिंग सदाचारके लिये सदाचार इस भूमिकासे यदि सदाचारका पालन किया जाय तो जीवनमे केवल कर्मठता ही पैदा होगी। इस निरे कर्मठपनेका साधु-संतोंने अपने अनेक उपदेश-साहित्य-वाणियोद्वारा तिरस्कार किया है। विमीपण, भरत, प्रहादादिने भगवद्भक्ति निभानेमे भगवद्विरोधी माता-पिता-

भाई आदिका भी विरोध किया और भगवान्ने इनकी सहायता ही की—'बलि गुरु तज्यो...'मे सुड मंगलकारी' देवर्पि नारदने अपने भक्तिसूत्रमे भक्तिके अन्तरङ्ग साधनोपर बहुत सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। इन अन्तरङ्ग-साधनोंमें हमे भक्तिके सदाचार सर्वत्र आसानीसे देखनेको मिलते हैं। देवर्पि नारदकी भक्ति-साधनाके निर्दर्शक ये सूत्र देखिये—

'अव्यावृत्तभजनात् । लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण-कीर्तनात् । सुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा-लेशाद् चा ।'

( नारदभक्तिसूत्र ३६-३८ )

इन सूत्रोंको अच्छी तरहसे विचार करनेपर विषयों-की अनासक्ति, अज्ञान भगवद्भजन और प्रमुखतासे साधुसङ्गति—ये ही भक्तिके अन्तरङ्ग-साधन दीखते हैं। नारदप्रोक्त साधनोंकी दृष्टिसे शब्दादि विषयोंके

प्रति एकाएक अनासक्ति कठिन ही है। शाश्वोंके अनुसार विविवृत विषयोंका सेवन करनेसे धीरे-धीरे अनासक्ति होती है। 'विवीने सेवन त्यागते समन'—ऐसा श्रीसत एकनाथजीका अभिप्राय है। अहंकारहित भावनाके साथ वेदविहित सत्कर्म करनेसे भक्तिसम्पन्नता प्राप्त होकर मन शुद्ध होता है और इस शुद्धचित्तमें परमात्मा प्रकट होता है, ऐसा संतोका अनुभव है। इसी प्रकार श्रीआद्यशंकराचार्यका कथन है—'शुद्ध्यति हि नान्त-रात्मा कृष्णपदाभ्मोजभक्तिसृते' (प्रबोधसुवा० १६७)

अपना वेदविहित कर्तव्य करते हुए भी अखण्ड भगवत्प्रेमके रंगमें रँगना हमारे लिये आवश्यक है—'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युच्यते'। भगवान् का कीर्तन एकान्तमें मनमें और जनसमुदायमें सुँहसे बोलकर किया जायेगा। अग्रवान् का नाम-संकीर्तन सबसे सरल और श्रेष्ठ भक्तियुक्त सदाचार है। भगवानेंका गुण-संकीर्तन या नाम-स्मरण कर्त्ते कियों जाय—इसका निर्देशक श्रीगौराङ्गेमहाप्रभुका—'तृणादपि सुनीचेन' इत्यादि श्लोकं प्रसिद्ध है। सत्कर्मकी प्रवृत्ति, भजनकी चाह, दुर्विद्धिका नाश आदिके लिये संतोकी संगति भी आवश्यक है—'सतां संगतिर्द्युत्रं प्रथमं साधनं स्मृतम्'। श्रीरामजीने भी शवरीको उपदेश देते हुए बताया था—संत-संगति मिले, भजनमें रुचि पैदा हो, ईश्वरका स्वरूप आँखोंमें और चित्तमें वसे और शुद्ध आचरणकी प्रेरणा मिले। इन्हें ही प्राप्त करनेके लिये तुकाराम आदि महाराष्ट्रीय संतोने पंढरी और आलंदी-की यात्रादि नियमपूर्वक करनेका मीठा उपदेश सामान्य जन-समाजको दिया और जगत्का उद्धार किया।

नारदजीद्वारा प्रणीत भक्तिके आनंदिक साधनोंको ठीक ढगसे आचरणमें लानेके लिये दैवीसम्पत्तिसे युक्त सदाचारकी नितान्त आवश्यकता है। श्रीनारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रमें महत्त्वपूर्ण ऐसे दैवी गुणोंके सम्बन्धमें

भक्तोंको अमृतप्रय उपदेश किया है। दंबी गुणोंके सम्बन्धमें उपदेश करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—'अहिमासन्ध्य-शौचवद्याऽस्तिप्रयादिचारित्याणि परि पालनीयानि' (सूत्र ७८) ईश्वर सर्वत्र है—यह भावना यिर गड्ढकर दूसरेको मन, वचन या कर्मद्वारा किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाया जाय, यह अहिंसाका स्वरूप है। प्रिय भाषणके साथ ही सत्यभाषण भी दोना बहुत आवश्यक है। मात्र प्रिय भाषण हितसावक न होगा। शौचका नात्यर्थ अन्तर्वाय-शुचितासे है। दयाका आत्मिकार कार्यिक, वाचिक और मानसिक परोपकारकं कार्यमिं होता है। दयाकी बहुत बड़ी पूँजी भगवद्गत्तोंके पास होती है। भगवान्, गुरु, संत, वेद, विप्र इनका आत्मिक्यपर पूर्ण श्रद्धा होना आवश्यक है; यह दंबी गुणोंका पवित्र स्वरूप है। इन दंबी गुणोंके सदाचारका अभेद अवच भगवद्गत्त सदा धारण करते हैं।

प्रेमप्रय भगवान् को जो भाये वे वही करें, पर जिससे भगवद्गत्तिकी वृद्धि हो, हम ऐसा वर्ताव करें, ऐसी निष्ठा भक्तकी ही होती है। इस निष्ठाके अनुसार वे अपना जीवन विपुल सुन्दर सदाचारोंसे सम्पन्न करते हैं।

नारदजीने ठीक ही कहा है—

भक्तिशाखाणि मननीयानि तदुद्योगक-  
कर्मण्यपि कर्णीयानि ॥

( भक्तिसूत्र ७६ )

अतः साधकगण भागवत, रामायण, ज्ञानेश्वरी आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थोंका मनन करें और भक्तिका विरोध करनेवाले असदाचारोंका भक्तजन आचरण न करें। भक्तों-सामुओंके छिव्य जीवनमें सदाचार उत्तरे थे और इन सदाचारोंके द्वारा भागवत-धर्म वृद्धिगत हुआ और अनेक सावकोंको इससे श्रीहरिकी प्राप्ति हुई। इससे उनके धर्म-कर्म और जीवन सर्वथा मङ्गलमय हुए।

## सदाचारका सर्वोत्तम स्वरूप—भगवद्गुजन

( लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी घटन )

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः।  
जयतात् विजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः॥  
( चारुचर्चा १ )

सदाचार भगवान् अच्युतकी भाँति त्रिलोकीमें पूज्य और विजयी हो । यह सदाचार भी विष्णुके ही समान श्रीलाभयुक्त, सौभाग्यशाली, सत्यासक्त\* तथा स्वर्ग एवं मोक्षको प्रदान करनेवाला है । जो आचरण 'सत्' हो वह सदाचार कहलाता है । साधु पुरुषोंके सभी आचरण 'सत्'—भले होनेके कारण सदाचार कहलाते हैं—'साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्'।

( महाभारत अनु० १०४ । ६ )

श्रीभगवान्‌के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें भी सत् या भगवद्गुजन कहते हैं—कर्म चैव तदर्थ्यं सदित्येवाभिर्धीयते । ( गीता १७ । २७ ) । अतएव भगवान्‌का भजन ही सदाचारका मूल स्वरूप है । त्रिना भगवद्गुजनके कोई पुरुष सदाचारी नहीं बन सकता । इसीलिये कहा गया है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।  
( गीता ७ । १५ )

'मनुष्योंमें नीच एवं मूढ़ दुराचारी पुरुष मुझको नहीं भजते ।' परंतु इसके विपरीत 'यदि कोई अतिशय दुराचारी पुरुष भी भगवान्‌का अनन्यभावसे भजन करता है तो वह भगवद्गुजनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।  
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥  
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।  
( गीता ९ । ३०-३१ )

भजन करनेवालोंमें निम्नविदित २६ दैवी सम्पदा या सदाचार गुणोंका आविर्भाव होता है । १—भयका सर्वथा अभाव, २—अन्तःकरणकी भली-भाँति शुद्धि, ३—तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, ४—सात्त्विक दान ( गीता १७ । २० ), ५—इन्द्रियोंका दमन, ६—यथाधिकार अनेक प्रकारके यज्ञ ( गीता ४ । २४-३३ ), ७—सद्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवन्नामका जप-कीर्तन, ८—स्वर्धम-पालनके लिये कष्ट सहना, ९—शरीर, मन और इन्द्रियोंकी सखलता, १०—मन-वाणी-शरीरसे किसी भी प्राणीको कष्ट न देना, ११—सत्य, प्रिय और हितकर भाषण, १२—क्रोधका सर्वथा अभाव, १३—शरीरादि सांसारिक पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग, १४—चित्तकी चञ्चलताका नाश, १५—किसीकी निन्दा नू करना, १६—सभी प्राणियोंपर हेतुरहित दया, १७—विषयभोगोंमें आसक्तिका न होना, १८—कठोरताका सर्वथा अभाव, १९—ईश्वर और शास्त्रके विरुद्ध कर्म करनेमें लज्जा, २०—मन-वाणी-शरीरसे व्यर्थ चेष्टा न करना, २१—तेजस्विता ( ब्रह्मचर्य ), २२—क्षमा अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार-के दण्ड देनेकी इच्छा न रखना, २३—धैर्य अर्थात् भारी-से-भारी दुःख आनेपर भी स्वर्धमका त्याग न करना, २४—वाहर-भीतरकी शुद्धि, २५—किसीके भी प्रति शत्रुभावका न होना, २६—अपनेमें किसी भी प्रकारका अभिमान न होना ।

ये गुण भगवत्कृपासे ही आ सकते हैं । इन्हें अपना अर्जित मानवतर कभी मनमें आसक्ति या अहंकार नहीं करना चाहिये; क्योंकि अहंकार आसुरी सम्पदाका लक्षण है ।

\* भगवान् कृष्ण सत्य ( सत्य )में आसक्त कहे गये हैं और सदाचार सत्य बचनमें ।

( श्रीकृष्णकी सत्या और सत्यभामा दो पट्टमहिली प्रसिद्ध थीं । )

वास्तवमें जिसके भीतर दैवीसम्पदाके गुण होते हैं, उस भगवद्गुरुको वे ( गुण )दीखते ही नहीं हैं ।

भगवद्गुरुको गुणोंको भगवान्‌का और दोषोंको अपना समझते हैं—गुण तुम्हार समुद्दृढ़ निज दोसा ॥  
( मानस २ । १३० । २ )

अतएव दैवीसम्पदा भगवान्‌की होनेके कारण उन्हींकी कृपासे प्राप्त हो सकती है । गोखामीजी कहते हैं—

यह गुण साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ॥  
( मानस ४ । २० । ३ )

क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम कीं दाया ॥  
( वही ३ । ३८ । २ )

इसलिये दैवी-सम्पदाको प्राप्त करनेका सबसे सुगम उपाय भगवान्‌का भजन ही है—

मन क्रम वचन छाडि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥  
( मानस १ । १९९ । ३ )

भगवद्गुरुके विना प्रथम तो दैवीसम्पदाके गुण अपनेमें आते ही नहीं और यदि किसी प्रकार आ भी जायें तो वे अधिक समयतक टिकते नहीं । यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है—‘ममैवांशो

जीवलोके’ ( गीता १५ । ७ ), इसलिये दैवीगुण भी हमारे भीतर सहजरूपसे विद्यमान हैं । परंतु हम अपने वास्तविक खलूगुणको गुला दिया है और बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीरादिको ही अपना मानवत उद्देश्यतामगता कर ली है, इसी कारण वे गुण लुप्त हो गये हैं । अतएव यदि हम इन सबमेंसे अपन हटा दें और भगवान्‌के साथ अपनापन जोड़ तो ये गुण स्वामाविकरूपसे हममें आ जायेंगे । ६  
( परमात्मा ) के साथ सम्बन्ध होनेपर सद्गुणसदा स्वामाविक ही हममें आ जायेंगे—

जिमि सदगुरु सज्जन पर्हि आया ।  
( मानस ४ । १३ । १ )

इसलिये स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग व निरन्तर भगवद्गुरु वरना ही सदाचारका सबों खलूप है ।

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे  
सदाचारस्थितास्तेपामनुभावैर्धृता मही  
( विष्णुपुराण ३ । १२ । ४ )

‘जो वीतराग महापुरुष कभी क्राम, क्रोध, लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाच थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है

—६३६—

## असत्-मार्गका त्याग

गृहस्थीमें रहते हुए ही यदि साधक बनना हो, तो सत्-मार्गका ग्रहण और असत्-मार्गका त्याग ही करना चाहिये; क्योंकि कुबुद्धि छोड़े विना सुबुद्धि नहीं आ सकती । अतएव कुबुद्धि और असत्-मार्ग छोड़ना ही गृहस्थ या संसारी मनुष्यका त्याग है । ग्रपञ्चको बुरा समझकर, मनसे जब विषयोंको त्याग दिया जाता है, तभी आगे चलकर परमार्थका मार्ग मिलता है । नास्तिकता, संशय और अद्वानका त्याग धीरे-धीरे होता है । उपर्युक्त आन्तरिक त्याग तो सांसारिक और निःस्पृह ( वैरागी ) दोनों ही व्यक्तिर अच्छी तरहसे होना चाहिये ।

—दास

## सदाचार और भक्ति

( लेखक—आचार्य डॉ० श्रीमुवालालजी उपाध्याय, 'शुक्रतन', एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री )

सदाचार मनुष्यजीवनका शतदल कमल है जीवनको वहाता चलता है। उसमे वासनाओंका निर्माण नहीं होता और अहंकार एवं वासनाओंकी पुकारके न होनेसे उसमे 'अशुभ' और 'घुराई'के अनेक प्रश्न भी नहीं उठते। उसके जीवनमे केवल शुभ और सद्गुणोंके ही क्षुल खिलते हैं। उसका सारा जीवन उन सुगन्धोंसे सुचासित हो जाता है।

परम प्रभु भक्तके जीवनके केन्द्रविन्दु वन जाते हैं, इसलिये उससे प्रेम विकीर्ण होता है और सत्कर्म अपने-आप होते चलते हैं। वह अपनी गहराईयोंमें रहता है और जीवन अपने-आप उमड़ता है। जिसके हृदयमन्दिरमें अद्विल गुणसागर प्रभु ही आकर बैठ गये हो, वहाँ दुर्गुणोंके आनेका साहस कैसे होगा?—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वर्गुणैस्तत्र समाप्तते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो वहिः ॥

( श्रीमद्भा० ५ । १८ । १२ )

सदाचारका महत्त्व धर्मकी प्रत्येक स्थिति और भूमिकामें स्वीकार किया गया है; क्योंकि मानसिक हलचल और वासनाके व्याकुल आवेगोंसे अक्षुब्ध रहना प्रत्येक कार्यसाधनमें आवश्यक है। दुष्कर्मसे नाता तोड़े विना परम सत्यको नहीं पाया जा सकता। साधको अपनी समूची सत्ताको दिव्यतासे मण्डित करनेका प्रयत्न करना पड़ता है, तभी सदाचारमय जीवन बनता है; किंतु जिस प्रकार सास्थ्यकी उपेक्षा करनेवाला अपने सास्थ्यको चौपट कर लेता है, वैसे ही पवित्र और नैतिक नियमोंकी उपेक्षा करनेवाला अपने उच्चतर और दिव्यजीवनको भी नष्ट कर डालता है। इसलिये सदाचारकी इशांगा और अनाचारकी निन्दा की गयी है। परंतु भक्तिकी एक दुर्लभ विशेषता है। जब परमोज्जवल प्रभु-भक्तिके अङ्कुर छटकर फैलने लगते हैं, तब अमल, अखण्ड और प्रतिपल नव-नव भक्तिके रसासादनमें छूटे हुए भक्तके जीवनमें असद् प्रवृत्तियोंके आनेका अवसर ही नहीं मिलता। जब वह प्रभु-प्रेरित प्रत्येक परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार कर लेता है, तब वह उनके हाथका केवल यन्त्र बनकर

सदाचारकी खोजमें भटकते हुए समाज और राष्ट्रके लिये यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। भक्तके मनमे यह विश्वास रहता है कि उसके प्रभु सर्वज्ञ हैं और सभीके भीतर निवास करते हैं। सर्वज्ञ होनेके कारण वे उसके मनके संकल्प और उसके मस्तिष्कके विचारकको जान लेते हैं; अतः वह किसी कुर्कमका विचार कैसे कर सकता है? श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके लक्षणमें 'अन्याभिलापिताशून्यम्' भी जोड़ा है। इसका तात्पर्य है कि उत्तमा भक्ति वही है, जिसमें श्रीकृष्ण-सेवा-कामनाको छोड़कर और कोई भी कामना न हो, यहाँतक कि श्रीकृष्ण-सेवासे उत्पन्न होनेवाले अपने सुखकी गन्धमात्र भी जहाँ न हो।

भक्तकी चित्तवृत्तियोंकी किसी प्रकारकी बहिरङ्गता खतः बन्द हो जाती है। वह प्राणिक आवेगों और इन्द्रियोंकी पकड़से भी बाहर निकल जाता है। इन्द्रियाँ उसे परमात्मातक पहुँचानेके लिये मानो यन्त्र वन जाती हैं। शक्तरका दाना सागरमें घुलकर फिर कभी शक्त नहीं वनता। श्रीहरिरामजी व्यास लिखते हैं कि 'भक्तिके इस रससिन्धुकी माधुरी अनन्त अगाध है। जिसके तन-मनमें यह रस पैठ जाता है, उसे फिर संसारमें कुछ और नहीं सुहाता। इसके सुखके सामने और सुख हवामें पत्तेके समान उड़ जाते हैं'—'यह सुख देखत व्यास और सुख उड़त पुराने पात' ( व्यासवाणी, पृ० ३०, पद ७२ ) । रसिक भक्त इस सुखके सामने कोटि-कोटि मुक्तियोंको ठोकर लगा देता है—'अलिकुल नैन चयक रस पीवत कोटि मुक्ति पग ढेली' ( वही पद ४९ ) । गीतामें भी अत्यन्त सरस रीतिसे इस भावको व्यक्त किया गया है—

मच्चिन्ना मद्गतप्राणा वोधयन्तः परस्परम् ।  
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥  
( १० । ९ )

कामनाएँ—इच्छाएँ अहंकारको तृप्त करती हैं और अहंकार तीव्रतासे धूमती हुई फिल्म-जैसा है, प्रतिपल दीयेकी ज्योति-जैसा होता है। अतः मनुष्यकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं है। कामनाएँ धूम-धूमकर अनेक द्वारोंसे हमें पकड़ती हैं। जीवनकी यह जो चारों तरफ दौड़ है, कामनाओंकी इन पत्तोंको छीले या उखाड़े विना जीवनकी परम सम्पदाको पाने या जीवनकी गहराईमें उतरनेका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। हम जगत्‌में जितने पथोंका निर्माण करते हैं, वे सभी कामनाओंके पथ हैं और कामनाओंसे भरा हुआ चित्त कभी भी जीवनकी अतल गहराईके दरवाजे नहीं खोल सकता। परम रसको पानेके लिये हमे उसे प्रभु-भक्तिकी अनन्त लहरोंसे भरना होगा। यही

'अन्याभिलापिताशून्यम्' है। यह कृष्ण-भक्तिकी विशेषता है कि उससे हृदयके लबालब भर जानेपर कामनाओंके कल्प अपने-आप धुल जाते हैं—

शुद्धश्चति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमुते ।  
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥  
( प्रवोधमुथा० १६७ )

भक्तिका एक भेद 'शुभदा' भी है। शुभके भी चार भेद वताये गये हैं—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगनामनुरक्तना ।  
सदगुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि महर्पिंभिः ॥  
( भक्तिरसामृतमिन्दु, पूर्व० १ । १६ )

१—समस्त जगत्‌को संतुष्ट करना, २—जगत्‌के समस्त प्राणियोंका अनुराग प्राप्त करना, ३—सदगुणोंकी प्राप्ति और ४—सुख। जब मनुष्यके जीवनकी सारी ऊर्जा भक्तिके विन्दुपर दौड़ने लगे, जब जीवनकी सारी किरणें प्रेम-पर ही ठहर जायँ तो उसके लिये समस्त जगत् प्रेम, मैत्री, करुणा और आनन्दसे भर उठता है। उस समय मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण संकीर्ण वृत्ति समाप्त हो जाती है, उसके हृदयकी मलिनता धुल जाती है। आज हम मानव-इतिहासके बहुत ही उत्तेजनापूर्ण युगके द्वारपर खड़े हैं। विज्ञान और टेक्नालोजी—आधुनिक युगके आश्वासन और विनाश दोनोंसे भरे हैं। हम उनके द्वारा एक-दूसरेको प्रकाशित भी कर सकते हैं और नष्ट भी। ऐसी स्थितिमें समस्त जगत्‌को तृप्त करनेका संकल्प लेकर चलनेवाला भक्तिका यह गुण मनुष्य-मन-को सङ्घाव, सहयोग और मैत्रीकी किरणोंसे भर सकता है, जिससे एक-दूसरेसे लड़ना छोड़कर हम साथ-साथ सुखपूर्वक रह सकते हैं तथा मानवीय चेतनाको बन्दी बनानेवाली कद्रतासे भी मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य-जातिके लिये यह कितना बड़ा आश्वासन है।

तत्त्वतः, मनुष्य-जाति एक ही सूक्ष्मे गुणी हुई है। जब भक्ति इस परम सत्यके अनुभवतक ले पहुँचती है,

तब स्वार्थकी परिविर्यों और भेदकी दीवारें लड़खड़ाकर दूटकर गिर जाती हैं। भक्त अपने उपास्यके विग्रहोंमें ही सम्पूर्ण विश्वको समेट लेना है, फिर वह किससे द्वेष करे, किससे वृणा ! उसके लिये पूरी धरती ही मन्दिर बन जाती है। इसीलिये कहा गया है कि जिसने भगवान्‌को संतुष्ट कर लिया, उसने सारे जगत्को तृप्त कर दिया। उसके प्रति जगत्के समस्त प्राणी और स्थावर भी अनुरक्त हो जाते हैं—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।  
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि ॥  
( पद्मपुराण )

वेदोंसे लेकर सम्पूर्ण भारतीय धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें सदाचारके अतिशय महत्त्वका वर्णन उपलब्ध होता है। अर्थवेदके 'पृथिवी-सूक्त'में कहा गया है कि 'वृहद् सत्य (विशाल सत्य), उप्र ऋत (कठोर अनुशासन), दीक्षा (दृढ़ संकल्प), तप (मनः-संयम तथा शरीर-श्रम), ब्रह्म (विवेक) और यज्ञ आदि श्रेष्ठ गुण ही पृथिवीको धारण करते हैं'—सत्यं वृहद्वत्सुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धार्यन्ति (अर्थव० १२। १। १)

वैदिक वाच्यमें ऋतकी बड़ी गहन और व्यापक चर्चा मिलती है। वेदका यह ऋत शब्द ही अंग्रेजी-में राइट हो गया है। कठोपनिषद्‌का एक सुन्दर मन्त्र है, जिसके अनुसार जिसने बुरे आचरणका त्याग नहीं किया, जो अशान्त है, जिसका चित्त असमाहित है, वह प्रज्ञानसे—केवल बुद्धिवादसे वास्तविक तत्त्वको नहीं पा सकता ( १। २। २४ )। मनुसृति ( ४। १५५ )में भी श्रुति एवं सृति-कथित धर्मके मूल सदाचारस्थप कर्मों-

का आलस्यरहित होकर सेवन करनेका आदेश है— और यह भी कहा गया है कि रादाचारहीन मनुष्यको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, भले ही उसने वेदोंका छहों अङ्गोंकं साय पाठ किया हो। महाभारतके अनुसार केवल विद्या या तपसे कोई पात्र नहीं बनता, किंतु जिस पुरुषमें सदाचार तथा ये दोनों विद्याएँ और तप भी हों, उसीको पात्र कहा गया है—

न विद्यया केवल्या तपसा वापि पावना ।  
यत्र वृत्तमिमे चोमे तद्वि पात्रं प्रकार्तितम् ।  
( महा० शान्तिपर्व २०० )

विष्णुवर्षोत्तरमें कहा गया है—जो अहिंसा, सत्य-वादिता, दया और सभी लोगोंपर करुणासे भरा हुआ है, हे राम ! उससे केशव प्रसन्न रहते हैं—

अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेष्वनुग्रहः ।  
यस्यैतानि सदा राम तस्य तुप्यनि केशवः ॥  
( १। ५८ )

भक्तिरसामृतसिन्धुमे श्रीरूपगोसामीने साधन-भक्ति-के जिन ६४ अङ्गोंका वर्णन किया है, उनमें सदाचार-के प्रायः सभी श्रेष्ठ नियम अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार भक्ति ओर सदाचारका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। श्रुति और सृति भगवान्‌की आज्ञा हैं, उनमें निर्दिष्ट सदाचारके नियमोंके निरन्तर तथा नियमित पालनसे भक्त शीघ्र ही भगवत्कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है। वस, यही सदाचारका फल है। भगवत्कृपा अन्तिम लक्ष्य है। उसके प्राप्त कर लेनेपर—'न किञ्चिद्वशिष्यते'—कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता।

## भजनमार्गके वाचक

काम-क्रोध वड़े ही कूर हैं, इनमें दयाका नाम नहीं, इन्हें काल ही समझो। ये अधाननिधिके साँप, विषयकन्दराके वाद और भजनमार्गके घातक हैं। ये जलमें नहीं, विना जलके ही दुधो देते हैं, विना आगके ही जला देते हैं और विना शस्त्रके ही मार डालते हैं।

—संत शनेश्वर

## सदाचारकी प्रेरणा-भूमि—सत्सङ्ग

( ले०—श्रीमती डॉ० धनवतीजी )

मानवका मन, वचन और कर्मद्वारा सत्य और प्रेमयुक्त व्यवहार ही सदाचार है। शिष्ट चरित्रके सभी गुण, विनय, धैर्य, संयम, आत्मविद्यास, निर्भीकता, दानशीलता, उदारता आदि सदाचारमें समाहित हैं। ये सद्गुण सभाव तथा सिद्धान्तमें जितने सरल हैं, जीवनके व्यवहारमें उतने ही कठिन हैं। इन गुणोंके आधारपर जहाँतक मानवके आचार-विचारका प्रदृश है, वह इस क्षेत्रमें सर्वथा सतत नहीं है। पूर्वजन्मके संचित संस्कार, वंश-परम्परा तथा वातावरणका आचार-विचारपर व्यापक प्रभाव रहता है। संचित कर्मके लिये 'जैसा थोड़ा वैसा काटो' कहना ही पर्याप्त है तथा वंश-परम्पराके लिये—'वापर पूत जातिपर थोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।' कहा जाता है।

इसके पश्चात् आता है—परिवेश या वातावरण। वातावरणके प्रभावका दृष्टान्त है—काजरकी कोठरीमें कैसो हूँ मथानो जाय, एक लीक काजरकी लागि है मैं लागि है।'

यह है—दूषित वातावरणका प्रभाव, जहाँ मनुष्यका सथानापन भी काम नहीं आता। ठीक इसी प्रकार अच्छे वातावरणके प्रभावकी वात कठीरने भी इस दोहेमें कही है—

कविरा संगत साधकी, ज्यों गंधीकी वास।  
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी वास सुवास॥

अब आती है, सदाचारकी वात। इसमें संदेह नहीं कि कुछ लोग जन्मसे ही सदाचारी होते हैं, उनके लिये किसी प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा अपेक्षित नहीं होती, उनके पूर्वजन्मके संचित पुण्य ही उन्हें सदाचारी बनाये होते हैं। ऐसे सदाचारी व्यक्तियोंसे ही समाज गौरवान्वित और जन-भान्स पवित्र होता है। किन्तु जो लोग जन्मना सदाचारी नहीं हैं; साधारण हैं, सामान्य हैं, वे क्या

करें ? , यह एक प्रदृश है और इसका उत्तर है—उनके लिये प्रेरणा-भूमि है—सत्सङ्ग। सत्सङ्ग भी दो प्रकारका होता है—( १ ) साधु, सजनों तथा संतोका सतत सांनिध्य एवं ( २ ) सत्साहित्यका श्रवण, मनन तथा अध्ययन।

जहाँतक साधु-संतोके सतत सामीक्षका प्रश्न है, सूरदासजीके अनुसार तो—

जा दिन संत पाहुने आवत ।

तीरथ कोटि सनान करे पल, जैसो दरसन पावत ॥

और कवीर पहले ही कह चुके हैं—

कविरा सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाईं ॥  
अंक भरे भर भेदिया, पाप सरीरो जाईं ॥

केवल दर्शन और स्पर्शमात्र करोड़ों तीर्थमें स्नान करनेका फल तथा पाप काटनेकी सामर्थ्य रखता है। इसपर कोई शङ्का न कर बैठे, अतएव तुलसीदासजीने उदाहरण देकर बतलाया है—

धूमउ तजहू सहज कस्ताई । अगह प्रसंग सुगंध वसाई ॥

यह है सत्सङ्गतिका प्रभाव—जिसमें विषेला धुँआ देव-अर्चनाका साधन बनाता है तथा कठोर धातु सुहावना स्फूर्ण । कुछ अन्य उदाहरण देखिये—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्विते मारकतीं द्युतिम् ।  
तथा सत्सनिधानेन मूर्खों याति प्रदीपताम् ॥  
कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।  
अश्मापि याति देवत्वं महाद्विः लुप्रनिष्ठितः ॥

( हितोप०, प्रस्ता० ४२, ४६ )

एक छोटा-सा उदाहरण और—गुलाबके नीचेकी मिट्टीको मालीने मूँधा और आश्रयमें पड़ गया—अरे मिट्टीमें गुलाबकी गन्ध ! यह है मिट्टीका गुलाबकी पैखुड़ियोंसे सतत सांनिध्यका परिणाम । ठीक इसी प्रकार सूखे तथा दुर्जन व्यक्ति भी सत्सङ्गसे सदाचारी बन जाते हैं।

अकेला आदिकवि वान्मीकिका उदाहरण ही पर्याप्त है। वर्तमान समयमें भी सैकड़ों मनुष्य सजनोंके सम्पर्कसे साधु-जीवन व्यतीत करनेकी शपथ ले चुके हैं। आज-के हिन्दीके एक विद्वान्‌ने लिखा है कि रवीन्द्रनाथके पास घैठकर मुझे ऐसा अनुभव होता था, मानो भीतरका देवता जागकर समस्त सद्वृत्तियोंको जगा रहा है।

सत्सङ्गका दूसरा साधन है—सत्-साहित्यका श्रवण, मनन या अध्ययन। सत्यहरिश्चन्द्रका नाटक देखकर गौवीजी ऐसे प्रभावित हुए कि सत्य उनके जीवनका लक्ष्य बन गया और इसीके प्रभावसे वे सदाचारी 'महात्मा' हो गये तथा जन-जनकी पूजाके अधिकारी बन गये। सत्-साहित्यके सूतत अध्ययनसे जड़-मानसपर भी पत्थरपर रस्ती धिसने-जैसा कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। व्यावहारिक जीवनमें अच्छे गुणोंका प्रादुर्भाव हो, इसके लिये धर्म-प्रन्थोका नियमित पाठ तथा नैतिक शिक्षाकी आवश्यकता बार-बार दोहरायी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि

सत्-साहित्यके अध्ययनसे लोगोंका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है, दुर्गुणोंको छोड़ वे प्रसन्नतापूर्वक सद्गुणोंको अपना लेते हैं। यही है—सत्सङ्गकी प्रेरणा, जो मनुष्यको सदाचारकी ओर प्रेरित करती है।

भक्त तुलसीने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि 'सदाचारकी प्रेरणा-भूमि 'सत्सङ्ग' ही है।' तुलसीके शब्दोंमें—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहो जेहिं पाई॥  
सो जानव सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद ने आन उपाऊ॥  
(मानस १।२।३)

अच्छे गुण, वस्तु या सदाचारको प्राप्त करनेका भी एकमात्र साधन सत्सङ्ग ही है; क्योंकि तथ्य है कि 'विनु सत्संग विवेक न होई।' और, विवेकके विना सदाचारकी कल्पना ही हास्यास्पद है। सदाचारका शम्बल विवेक ही है। निष्कर्परूपसे कहना चाहिये कि सदाचारकी प्रेरणा-भूमि सत्सङ्ग ही है।

## स्वावलम्बन

वंगालके एक छोटे-से रेलवे-स्टेशनपर ट्रेन खड़ी हुई। खच्छ धुले बख्त पहने एक युवकने 'कुली ! कुली !!' पुकारना ग्रामम किया। युवकके पास कोई भारी सामान नहीं था। केवल एक छोटी पेटी थी। भला, देहातके छोटे-से स्टेशनपर कुली कहाँ ! परंतु एक अधेड़ व्यक्ति साधारण ग्रामीण-जैसे कपड़े पहने युवकके पास आ गया। युवकने उसे कुली समझकर कहा—'तुमलोग वड़े सुस्त होते हो। ले चलो इसे !'

उस व्यक्तिने पेटी उठा ली और युवकके पीछे चुपचाप चल पड़ा। घर पहुँचकर युवकने पेटी रखवा ली और मजदूरी देने लगा। उस व्यक्तिने कहा—'धन्यवाद ! इसकी आवश्यकता नहीं है।'

'क्यों ?' युवकने आश्चर्यसे पूछा। किंतु उसी समय युवकके वडे भाई घरमेंसे निकले और उन्होंने उस व्यक्तिको प्रणाम किया। अब युवकको पता लगा कि वह जिससे पेटी उठवाकर लाया है, वे तो वंगालके प्रतिष्ठित विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। युवक उनके पैरोंपर गिर पड़ा।

विद्यासागर बोले—'मेरे देशवासी वर्यथ अभिमान छोड़ दें और समझ लें कि अपने हाथों अपना काम करना गौरवकी वात है—वे स्वावलम्बी वर्नें, यही मेरो मजदूरी है।'

## पुरुषार्थचतुष्टयका मूल सदाचार

( लेखक—अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज )

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा  
 पुण्यं च कामः फलमस्य मोक्षः ।  
 असौ सदाचारतरुः सुकेशिन्  
 संसेचितो येन स पुण्यभोक्ता ॥\*  
 ( वामनपुराण १४ । १९ )

छप्पय—

सदाचार अति सरस सुतरु सुन्दर सुखदाई ।  
 जा पादप को मूल धरम ही दृढ़तर भाई ॥  
 शाखा जा को अरथ, धरम धनतै ही हैवै ।  
 काम सुमन कमनीय धरमयुत कामहिं सेवै ॥  
 पुण्यवान पावन पुरुष, सदाचार तरु सेवहीं ।  
 धरम, अरथ अरु काम सुख, मोक्ष परम फल लेवहीं ॥

आचार शब्दका अर्थ है, जो आचरण किया जाय ( आचर्यत इति आचारः ) । इसे व्यवहार, चरित्र तथा शील भी कहते हैं । आचारसे ही धर्म होता है—आचारप्रभवो धर्मः । आचारसे हीन पुरुषको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः । वह आचार कैसा हो, सद् आचार हो । सज्जन पुरुषों-द्वारा अनुमोदित आचार हो; अर्थात् साधु पुरुष, सज्जन पुरुष जिस व्यवहारको, जिस आचार-विचारको मानते हो, करते हो, उसीका नाम सदाचार है । —सतां साधूनां य आचारः स सदाचारः ।

शाखोंमें सदाचारकी बड़ी महिमा गायी गयी है । प्रायः सभी स्मृतियों तथा पुराणोंमें सदाचारके प्रकरण हैं । इनमें विस्तारके साथ सदाचारका वर्णन किया गया

है । प्रातःकालसे लेकर शयनपर्यन्त जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे सब आचार-व्यवहारके अन्तर्गत आते हैं । जो दुष्टलोगोंका आचार है, वह दुराचार कहलाता है और जो साधु-पुरुषोंका—दोपरहित निष्कलमप पुरुषोंका आचरण है, उसीका नाम सदाचार है । प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम मङ्गलमय स्तोत्रोंसे प्रातःस्मरण करना चाहिये, जिसका जो इष्ट हो उस देवताका स्मरण करके यह प्रार्थना करे कि ‘मेरा प्रभात मङ्गलमय हो ।’ हमारे यहाँ बहुतसे पुण्यपुरुष प्रातःस्मरणीय कहे जाते हैं, उनका प्रातःकालमें स्मरण करना मङ्गलमय माना जाता है; जैसे—भूगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन, ऋसु, सनकुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सात स्वर, सात रसातल, पञ्चमहाभूत, सात समुद्र, सात कुलाचल, सप्तर्णि, सात द्वीप तथा सात भुवन—ये सब प्रातःस्मरणीय हैं । प्रातःकालमें इन सबके स्मरण करनेसे आत्मा शुद्ध होता है, क्षुद्रता नष्ट होती है और ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना जाग्रत् होती है । इस प्रकार जिन महापुरुषोंमें, गुरुजनोंमें अपनी श्रद्धा हो उनका स्मरण भी प्रातःकालमें करना चाहिये । फिर शव्यासे उठकर पृथ्वीमातासे प्रार्थना करे—हे माता ! समुद्र ही आपके पहननेके बल हैं, पर्वत ही आपके स्तनमण्डल हैं, आप भगवान् विष्णुकी पत्नी हैं, मै आपको

\* सदाचार मानो एक वृक्ष है, जिसकी जड़ धर्म है और अर्थ अर्थात् धन इसकी शाखाएँ हैं । काम इस वृक्षके फूल हैं और मोक्ष इसका फल है । ऋषिगण सुकेशी राखससे कह रहे हैं—हे सुकेशिन् ! जिस पुरुषने सदाचार-रूप वृक्षका भलीभौति सेवन किया है, वह पुरुष पुण्योंका भोक्ता होता है, तात्पर्य यह कि पुण्यात्मा पुरुष ही सदाचारका सेवन करते हैं ।

नमस्कार करता हूँ । हे जननी ! मैं आपके ऊपर पैर रखता हूँ । माँ ! मेरे इस अपराधको क्षमा कर देना—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।  
विश्वपुष्टिन नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

इस प्रकार पृथ्वीसे क्षमा-याचना करके उठे । फिर शौच-दन्तधावनसे निवृत्त होकर यथाविधि स्नान करे ।

पुराणोंके अनुसार शौच जानेके बाद मिठी लगाकर अङ्गोंको शुद्ध करे । कितने अंगुलकी किस मन्त्रसे दातुन करे, इन सब बातोंका आयुर्वेद तथा पुराणोंमें विस्तारसे वर्णन मिलता है । शौच-स्नान, दन्तधावन—सबके पृथक्-पृथक् मन्त्र हैं । फिर संध्या-वन्दन, जप, उपासना, हवन आदि जो अपने कुलका सदाचार हो, उन सब कर्मोंको करे और अपने वर्ण, आश्रम, पद-प्रतिष्ठाके अनुरूप धर्मपूर्वक स्वर्धमका पालन करे । अर्थका संचय करे, धर्मपूर्वक कामका सेवन करे । फिर मध्याह्नमें धर्मानुसार संध्या-वन्दन करके स्वाध्याय करे, प्रातःकाल महाभारत आदि शिक्षाप्रद ग्रन्थ पढ़े, सात्त्विक भोजन करे । मध्याह्नमें रामायण आदि मर्यादा-ग्रन्थोंको पढ़े । रात्रिमें भागवतादि सरस धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करे । परायी स्त्रीको माताके समझे । पराये धनको मिठीके ढेलेके समान मानकर उसे लेनेकी इच्छा न करे, सबपर दयाभाव रखे । जिस कामसे अपनेको दुःख हो, जो आचरण अपनेको अच्छा न लगे, उसका व्यवहार दूसरेसे न करे । सबमें आत्मभाव रखे । सदाचारमें विवि-निषेधका ध्यान पग-पगपर रखा जाता है । ऋषियोंने, ब्रह्मवेत्ताओंने, साधुपुरुषोंने जिन बातोंका निषेध किया है, उन्हें कभी न करे—वे कदाचार हैं । जिन्हे कर्तव्य मानकर करनेके लिये कहा है, उनका आचरण करे—वे सदाचार है । हमारे यहाँ सदाचारपर सबसे अधिक ध्यान रखा गया है । दूसरेका अनादर न करे, किसीको कुछ भी दुःख न दे । विना विचारे यत्र-तत्र अशुद्ध अन्नका भक्षण न करे । कहावत Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

है—‘जैसा खाय अन्न वैसा बने मन’ । इसलिये हमारे यहाँ शरीरशुद्धि, अन्नशुद्धि और रज-वीर्यशुद्धिपर सबसे अधिक वल दिया गया है । अन्नका प्रभाव शरीरपर अवश्य पड़ता है । यह बात द्रोणाचार्य और द्रुपदके आचरणसे सिद्ध होती है । प्रसंग निम्नाङ्कित है ।

द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद एक ही गुरुकुलमें साथ-साथ पढ़ते थे । द्रुपद राजकुमार थे और द्रोणाचार्य निर्धन ब्राह्मण, किंतु गुरुकुलमें तो सभी छात्र समान-भावसे रहते थे, अतः द्रोणाचार्य और द्रुपदमें घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी । द्रुपद कहा करते थे—विप्रवर ! जब मैं राजा हो जाऊँगा, तब आपका बड़ा सम्मान करूँगा । कालान्तरमें द्रुपद राजा हो गये । द्रोणाचार्य निर्धनतामें अपना जीवनयापन करने लगे । कृपाचार्यकी बहन कृपीके साथ उनका विवाह हो गया । अश्वत्थामा एक पुत्र भी हो गया, किंतु इतने भारी शास्त्रोंऔर सर्वशक्तियोंके बेता होनेपर भी वे इतने निर्धन थे कि एक गौ भी न रख सकते थे ।

अश्वत्थामाने अन्य ऋषि-वालकोंको दूधकी महिमा गते देखकर अपनी मौसे दूध माँगा । मौने बहुत समझाया; किंतु बालहठ, बच्चा अड़ गया । ‘मैं तो दूध पीऊँगा ही’ । तब माताने जलमें आटा धोलकर बच्चेसे कहा ‘ले यह दूध है, पी ले ।’ बच्चेने पहले दूध कभी पिया नहीं था । आटेके जलको पीकर प्रसन्नतासे नाचता हुआ अन्य वालकोसे कहने लगा—‘मैं दूध पीकर आया हूँ ।’ बच्चोंने उसका तिरस्कार करके कहा—‘तेरे गौ तो है ही नहीं, दूध कहाँसे पिया ?’ तब बच्चा रोने लगा । द्रोणाचार्यको बड़ा दुःख हुआ कि इतना भारी बिदान्, शक्त-शास्त्रोंका महान् बेता मैं एक गौ नहीं ला सकता । तब उन्हे द्रुपदकी याद आयी । वे द्रुपदके दरवारमें पहुँचे और पित्र-मित्र कहकर

राजासे मिलना चाहा । इवर राजा राजमदमे भरा सिंहासनपर बैठा था । उसने ( कृष्णकी सुटासासे मिलने-जैसी बात तो दूर ) सदाचारका त्याग करके अपने उस सहपाठीका तिरस्कार किया । वह कहने लगा—‘ऐ दरिद्र ब्राह्मण ! तू गुरुकुलकी उन बातोंको भूल जा । मैंत्री वरावरवालोंमें होती है । तू निर्धन ब्राह्मण, मैं मूर्धभिपक्ष राजा, मेरी-तेरी मित्रता कैसी ! तुझे ‘सीधा’ लेना हो तो यजशालामेंसे सीधा ले ले, नहीं तो सीधे अपने घर चला जा ।’ द्रुपदकी उक्तिमें दम्भ था, तिरस्कार था ।

ब्राह्मण उसके अपमानको सहन नहीं कर सका । यहाँ उन्होंने अपनी सहिष्णुताका त्याग कर दिया । ब्राह्मणको चाहिये कि अपमानको अमृत समझकर उसे सह ले । और सम्मानको विप समझकर उससे उद्विग्न हो, किंतु वदला लेनेकी भावनासे द्रोणाचार्यने भीष्मपितामहके घरमें बच्चोंको पढ़ानेकी नौकरी कर ली । पहले आचार्योंका सदाचार यह था कि उनके घरमें विद्यार्थी पढ़ने आते थे और उन विद्यार्थियोंको भोजन देकर वे पढ़ाते थे । द्रोणाचार्यजीने इससे सदाचारके विरुद्ध आचरण किया । वे विद्यार्थियोंके घरपर भोजनके लिये खयं पढ़ाने गये । वे प्रतिक्रियाशील हो गये । अपने अपमानको भूले नहीं । द्रुपदसे वदला लेनेके लिये अपने शिष्योंसे यहीं दक्षिणा माँगी कि तुम द्रुपदको जीवित पकड़ लाओ । गुरुकी आज्ञा थी—‘गुरोराजा गरीयसी’ गुरुकी आज्ञाका पालन शिष्यका समुदाचार है—यह विचारना उसका काम नहीं है कि आज्ञाका औचित्य पक्ष है या नहीं—आज्ञा गुरुणा व्यविचारणीया ।’ वस कौरव-पाण्डव सेना लेकर चले गये और द्रुपदको पकड़ लाये । तब द्रोणाचार्यने व्यङ्गके स्वरमें कहा—‘राजन् ! मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ ।’ लजित द्रुपदने कहा—‘ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपका बंदी हूँ, मित्रताकी क्या बात ?’ आचार्यने उन्हें क्षमा नहीं किया । वे बोले—‘मित्रता वरावरवालोंमें होती है ! तुम मुझे अब अपना आधा राज्य दे दो ।’ इतना कहा ही नहीं, अपितु गङ्गाके उस पारका आधा राज्य आचार्यने ले ही लिया । यह ब्राह्मण-सदाचारके विरुद्ध कार्य हुआ ।

राजाने आधा राज्य दे दिया, किंतु अत्रिय ही था, उसने भी ब्राह्मणको क्षमा नहीं किया । शख्सोंद्वारा तो वह ब्राह्मणसे वदला ले नहीं सकता था, उसने अभिचारका आश्रय लिया । वह ऐसे ब्राह्मणकी खोजमें चला जो अभिचारकर्म ( मारणका तान्त्रिक प्रयोग ) करके द्रोणाचार्यको मार सके । सैकड़ों ब्राह्मणोंके पास गया, किंतु इस क्रूर कर्मको करनेके लिये कोई ब्राह्मण तंयार न हुआ । उस समय शङ्ख और लिखित दो भाई तन्त्र एवं कर्मकाण्डमें बड़े प्रवीण थे । राजा शङ्खके पास जाकर रोने लगा—उसने कहा—‘ब्रह्मन् ! आप दुगुनी-चौगुनी—जितनी भी दक्षिणा कहेगे, मैं देंगा । आप द्रोणाचार्यको मारनेके लिये मारक अभिचार-यज्ञ करा दीजिये ।’ शङ्खने कहा—‘राजन् ! आप ऐसा सदाचारहीन प्रस्ताव मुझसे न करे । भला, मैं दक्षिणाके लोभसे ब्राह्मणको मारनेका प्रयोग कैसे करूँ ? आप किसी दूसरे सदाचारहीन ब्राह्मणके पास जाइये ।’ सदाचारी कभी अभिचारका प्रयोग नहीं करता ।

यह सुनकर राजा महर्षि शङ्खके पैर पकड़कर रोने और नाना भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगा । तब ऋषिको दया आ गयी । वे बोले—‘राजन् ! देखो, मैं खयं तो ऐसा अभिचार-प्रयोग करा नहीं सकता, किंतु आपको एक उपाय बता सकता हूँ ।’

राजाने कहा—‘ब्रह्मन् ! उपाय ही बताइये । तब शङ्ख महर्षिने कहा—‘देखो, एक मेरा छोटा भाई है, उसका नाम है लिखित । वह अतीव सदाचारहीन है, वैसे है बड़ा विद्वान् । वह जब पढ़ता था तब भी विना आचार-विचारके खा-पी लेता था । एक दिन हम और वह साथ जा रहे थे । मार्गमें एक फल पड़ा था । उसने विना विचारे कि यह कैसा फल है, किसका है, विना धोये उसे उठाकर खाने लगा । ऐसा सदाचारहीन व्यक्ति ही अभिचारका क्रूर कर्म कर सकता है ।’ राजाके अनुनय-विनयसे लिखितने विद्वान् होते हुए भी सदाचारका त्याग करके द्रव्यके लोभसे द्रोणाचार्यको मारनेके लिये अभिचार-

यज्ञ कराया । उसी यज्ञसे धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुआ, जिसने आगे चलकर द्रोणाचार्यका वध किया । उसी यज्ञसे द्वौपदी उत्पन्न हुई, जो महाभारत-युद्धकी कारण बनी । समुदाचारके परित्यागसे ही महाभारतका इतना भारी युद्ध हो गया, जिसमें असंख्य प्राणियोंका संहार हुआ ! इसीलिये सदाचार सबके लिये सदा पालनीय है । कैसी भी विपत्ति पड़े, मनुष्यको सदाचारका परित्याग नहीं करना चाहिये । इसीलिये वामपुराणमें कहा है—

तस्मात् स्वधर्मं न हि संत्यजेत  
न हापयेच्चापि तथा स्ववंशम् ।

यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्मं  
तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरद्वच ॥  
छप्य—

सदाचार ही सूल कवर्हु नहिं ताकूँ ल्यागे ।  
कदाचार ही पाप दूरि नित तातै भागे ॥  
जो स्वधर्म कूँ ल्यागि अन्य धर्महिं अपनावै ।  
ताकूँ होवै हुःख कवर्हु सुख वह नहिं पावै ॥  
द्वुपट, द्वोण अरु लिखित ने, सदाचार ल्यागन कियो ।  
ताही तै संहार नर समर महाभारत भयो ॥  
बहुतोंके मतमें महाभारत भारतके लिये अभिशाप बना ।

## सदाचार और पुरुषार्थ

( लेखक—श्रीगमनन्दनप्रसादसिंहजी एम० ए०, डिप० इन० एड० )

मानव-जगत्‌में पुरुषार्थ ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे मानव-जीवनकी शक्ति, साहस और संकल्प जगमगा जाते हैं । सदाचारकी गङ्गोत्तरीसे संयमकी वह गङ्गा प्रस्त्रवित होती है, जो आगे चलकर शक्तिकी यमुना और उन्नतिकी सरस्वतीसे मिलकर जीवनकी त्रिवेणीके रूपमें परिणत हो जाती है और वह वहाँसे कृतार्थतारूपी मार्गको प्रशस्त करती हुई सफलता-सागरमें मिल जाती है । इतिहास इस बातका साक्षी है कि जो कर्मवीर अपने कर्मपथपर सदाचार, पुरुषार्थ और दृढ़ संकल्पके साथ आगे बढ़ता है, उसके मार्गसे विपत्तियाँ हट जाती हैं, संकटकी ऊँची घाटियाँ पराजित सिद्ध होती हैं और जगत्‌में उसे सर्वोच्च यश तथा सम्मान प्राप्त होता है । इसीलिये तो सदाचार उपादेय है ।

अपने जीवनमें सफलताकी ऊँची चोटीपर पहुँचकर जो विजयका ध्वज फहराना चाहते हैं, उनके लिये पुरुषार्थ दिव्य प्रकाश-स्तम्भ और सदाचार सच्चे जीवन-शम्बलका कार्य करता है । उपन्याससप्ताह प्रेमचन्दजीकी सदुकृति है—‘सदाचारका उद्देश्य सयम है, संयममें शक्ति है और शक्ति ही उत्थानकी आधारशिला है ।’ एक

पाश्चात्य दार्शनिकका कथन है कि सबसे शक्तिशाली व्यक्ति वह है, जो संयमी और सदाचारी है । संयमसे ही शारीरिक वल, मनोवल और आत्मवल दृढ़ होते हैं, अन्तर्दृढ़ मिटता है और चित्तकी एकाग्रता बढ़ती है । पुरुषार्थपर विश्वास ही मानवको श्रेष्ठ कार्योंके लिये प्रेरित करता है । सामाजिक उत्तरदायित्व, साहस, दृढ़ संकल्प और उच्च विचार मानव-जीवनमें आशाकी किरणे उतार लाते हैं । पुरुषार्थी और सदाचारी मनुष्य वृद्धिपृथक्त्वका प्रेरणाकेन्द्र होता है । वह अमर ज्योतिका आधार कहा जाता है । इसके विपरीत भाग्यवादी मानव पुरुषार्थका शत्रु और अपने ही अदम्य साहसका लुटेरा है । जो पुरुषार्थी और सदाचारी होता है, वह कभी थकता नहीं; वाधाओंसे ज्ञाकर आगे निकल जाता है । सच्चे पुरुषार्थी अपने जीवनमें लक्ष्य निर्धारितकर उसकी प्राप्तिके लिये भगीरथप्रयास करते हैं, क्योंकि लक्ष्यकी स्थिरता मानवकी सफलताकी सीढ़ी है । पुरुषार्थी सदाचार-के सहारे उसपर ऊपरतक चढ़ जाता है ।

महान् वक्ता डिमास्थनीजका नाम कौन नहीं जानता । प्रकृतिने उसकी लक्ष्य-प्राप्तिके मार्गमें रुकावटे

डाली थीं । वह वाल्यावस्थामे तुतलाता था और उसके साथी उसकी बातोंपर हँसते थे । उस समय कौन बता सकता था कि मुखमें कंकड़ियाँ भरकर बोलनेवाला यह बालक विश्वका प्राण्यात वक्ता होकर रहेगा । वस्तुतः उस सदाचारी बालकके जीवनमें पुरुषार्थका दिव्य आलोक प्रस्फुटित हो गया था, जो विवेकसम्मत मार्ग (सन्मार्ग) पर बढ़नेके लिये उसे प्रेरित करता रहा । इसी तरह संकल्पका धनी और निर्धारित लक्ष्यकी सिद्धिके लिये व्यग्र गैलीलियो गणितका महान् पुजारी था । पुरुषार्थी गैलीलियो गणितके अध्ययनमें दिन-रात संलग्न रहा और १८ वर्षकी उम्रमें ही उसने पेंडुलम सिद्धान्तका आविष्कार कर दिया । आगे चलकर दूरवीक्षण यन्त्रकी रचना कर वह विज्ञान-जगतमे अमरत्वका भागी बना । यदि वह सदाचार-पूर्ण पुरुषार्थके सहारे बढ़कर निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये लगता और निष्ठाको नहीं अपनाता तो विश्वका प्रसिद्ध वैज्ञानिक नहीं बन पाता ।

लक्ष्यकी स्थिरताके साथ-साथ आत्मविश्वास और साहस भी पुरुषार्थके अभिन्न अङ्ग हैं । आत्मविश्वासी कभी पराजित नहीं होता । इसी आत्मविश्वासने महाराणा प्रतापको अकवरसे जूझनेकी प्रेरणा दी और वीर शिवाजीको मुगल-सप्ताह और गंगेवसे मोर्चा लेनेका साहस दिया और नेलसनको महान् सेनापति बनाया । इसीने नेपोलियनको अल्पसे लॉघनेका उत्साह प्रदान किया था और वीर पोरसको सिकन्दरसे लड़नेकी प्रेरणा दी थी । यही आत्मविश्वास पुरुषार्थियोंका तेज, दुर्वलोंका प्रकाशदीप, जननायकोंका ओज और अनाथोंका जीवन-सर्वस्व है । आत्मविश्वास सदाचारीका एक लक्षण है ।

इस क्रममे यह कहना समुचित होगा कि साहसमें जो शक्ति निहित रहती है, वह बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको चक्रनाचूर करनेमें सहज समर्थ होती है । साहसी, पुरुषार्थी चूड़ावतने अपनी छोटी-सी सेनाके सहारे और गंगेवकी विशाल सेनाके ढाँत खट्टे किये थे । साहसी वीर

दुर्गदासने अपनी सीमित शक्तिके बलपर राजपूती शानकी रक्षा की थी । वीर शिवाजीका साहस सम्पूर्ण भारतपर छा गया था और नेपोलियनके साहसका ही प्रताप था कि देखते-ही-देखते अपराजेय आल्पस उसके पाँवोंके नीचे आ गया था । इतिहासमें ऐसे अनेक योद्धा मिलते हैं, जिनके साथियोंने उन्हे जीवन-संग्राममें विफल और पराजित समझ लिया था, किंतु आत्मविश्वास और साहसके बलपर वे सफलताकी चोटीतक जा पहुँचे । साहसमें निहित अमोघ शक्ति सदाचारकी देन होती है । वस्तुतः पुरुषार्थ और आत्मविश्वास उसका एक घटक तत्व हैं ।

पुरुषार्थीके जीवनमें एकाग्रताकी महत्ता भुलायी नहीं जा सकती । वह तो मानवके अभ्युत्थानकी अभिन्न सहचरी है । अपनी सफलताका मूल रहस्य बताते हुए चार्ल्स किंगसलेने कहा था—‘किसी कार्यको करते समय उस कार्यके अतिरिक्त संसारकी कोई अन्य बात मेरे सामने नहीं आती ।’ वीरवर अर्जुनकी सफलताके मूलमें भी यही एकाग्रता थी, जिसका अन्य बन्धुओंमें अभाव था । एकलव्य और वर्दीककी वीरता और निष्पुणताका रहस्य एकाग्रतामें निहित था । विश्वकी सभी आधुनिक महान् विस्तृतियों—महात्मा गौड़ी और खीन्द्रनाथ ठाकुर, मार्वर्स और लिंगन, पण्डित नेहरू और सरदार पटेलकी सफलताकी आधारशिला थी—यही एकाग्रता, जिसके अभावमें व्यक्तिकी प्रतिभा असमयमें ही सुरक्षाकर नष्ट हो जाती है । एकाग्रता इन्द्रिय-निग्रहका सुफल होती है जो सदाचारका आधार बनती है ।

सच्चे पुरुषार्थी अध्यवसायको अपने जीवनका मूल मन्त्र मानते हैं । भर्तृहरिने कहा है—‘हम तो कर्मको ही नमस्कार करते हैं, जिसपर विधाताका भी वश नहीं चलता ।’ महान् लेखक रस्किनकी यह वाणी भी द्रष्टव्य है—‘यदि तुम्हें ज्ञानकी पिपासा है तो परिश्रम करो । यदि तुम्हें भोजनकी आकाङ्क्षा है तो परिश्रम करो और यदि तुम आनन्दके अभिलाषी हो तो परिश्रम



कल्याण



हराजारी हुए दर भगवान् विष्णु का अनुप्रह

करो। पुरुषार्थ ही प्रकृतिका नियम है।' स्वामी विवेकानन्दकी वह दिव्य वाणी आज भी भारतीय जन-मानसमें गूँज रही है—'शरीर तो एक दिन जानेको ही है तो फिर आलसियोंकी तरह क्यों जाय?' वस्तुतः

पुरुषार्थ और सदाचारके मणि-काढ़न-संयोगसे मानव-जीवन सफल और सुरभित होता है। उसमें सूर्यका प्रताप और चन्द्रमाकी स्तिथि ज्योत्स्नाका संगम होता है। ऐसे ही जीवनसे समाज और राष्ट्रका कल्याण होता है। व्यावहारिक सदाचारीका जीवन ऐसा ही होना चाहिये।

## सदाचारी बालक ध्रुव

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।  
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥  
(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

'जो कोई धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी इच्छा करता हो, उसके लिये इन सबको देनेवाला इनका एकमात्र कारण श्रीहरिके श्रीचरणोंका सेवन ही है।'

पाँच वर्षके बालक ध्रुवने इसे ही चरितार्थ किया।

खायभुव मनुके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—सुनीति एवं सुरुचि। सुनीतिके पुत्र थे ध्रुव और सुरुचिके थे उत्तम। राजाको छोटी रानी सुरुचि अत्यन्त प्रिय थीं। वे सुनीतिसे प्रायः उदासीन रहते थे। एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें लेकर खेला रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव भी खेलते हुए वहाँ पहुँचे और पिताकी गोदमें बैठनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे। राजाने उन्हें गोदमे नहीं बैठाया तो वे मचलने लगे। तबतक वहाँ बैठी हुई छोटी रानी सुरुचिने ध्रुवको इस प्रकार मचलते देख ईर्ष्या और गर्वसे कहा—'वेटा! तूने मेरे पेटसे जन्म तो लिया नहीं है, फिर महाराजकी गोदमे बैठनेका प्रयत्न क्यों करता है? तेरी यह इच्छा दुर्लभ वस्तुके लिये है। यदि उत्तमकी भौति तुझे भी पिताकी गोदमें या राज्य-सनपर बैठना हो तो पहले तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न कर और उनकी कृपासे मेरे पेटसे जन्म ले।'

तेजस्वी बालक ध्रुवको विमाताके ये वचन-वाण लग गये। वे तिलमिला उठे। वे रोते हुए वहाँसे

अपनी माताके पास चले गये। महाराजको भी यह बात अच्छी नहीं लगी; किंतु वे कुछ बोल न सके। ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने पुत्रको रोते देखकर गोदमे उठा लिया। बड़े स्नेहसे पुचकारकर कारण पूछा। सब वाते सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। सपतीका शल्य चुम्ब गया। वे भी रोती हुई बोलीं—'वेटा! सभी छोग अपने ही भाग्यसे सुख या दुःख पाते हैं, अतः दूसरेको अपने अमङ्गलका कारण नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि तुमने दुर्भाग्यके कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। मेरा अभाग्य इससे बड़ा और क्या होगा कि मेरे आराध्य महाराज मुझे अपनी भार्याकी भौति राजसदनमें रखनेमें लजित होते हैं; परंतु वेटा! तुम्हारी विमाताने जो शिक्षा दी है, वह निर्देष है। तुम उसीका अनुपालन करो। यदि तुम्हे उत्तमकी भौति राज्यासन चाहिये तो उन कमलनयन, अधोक्षज भगवान्‌के चरण-कमलोंकी आराधना करो। जिनके पादपद्मकी सेवा करके योगियोंके भी वन्दनीय परमेष्ठी-पदको ब्रह्माजीने प्राप्त किया है तथा तुम्हारे पितामह भगवान् मनुने यज्ञोंके द्वारा जिनका यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य-भूलोक तथा खर्गलोकके भोग एवं मोक्षको प्राप्त किया है, उन्हीं भक्तवत्सल भगवान्‌का अनन्यभावसे आश्रय ले। उन कमल-लोचन भगवान्‌के अतिरिक्त तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला और कोई नहीं है। अतएव तुम उन दयामय नारायणकी ही शरण लो।'

ध्रुव सब कुछ छोड़कर तपस्याके लिये चल पड़े। मार्गमे उन्हे नारदजी मिले। देवर्पिने ध्रुवकी छढ़ निष्ठा और निश्चय देखकर द्वादशाक्षर-मन्त्र /‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’की दीक्षा दी थी और भगवान्‌की पूजा तथा ध्यान-विधि वताकर यमुनातटपर मधुवनमें जानेका आदेश दिया। ध्रुवको भेजकर नारदजी उत्तानपादके पास आये। राजाने जब सुना कि ध्रुव बनको चले गये, तब वे अत्यन्त चिन्तित हुए। अपने व्यवहारपर उन्हे बड़ी स्वानि हो रही थी। देवर्पिने आश्वासन देकर शान्त किया।

ध्रुव मधुवनमें यमुनातटपर श्रीकालिन्दीके पापद्वारी प्रवाहमे स्नान करके जो कुछ फल-पुण्य मिल जाता, उससे भगवान्‌की पूजा करते हुए द्वादशाक्षर-मन्त्रका अग्वण्ड जप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके, चौथे दिन कैवल्य और वेर खा लिया करते थे। दूसरे महीने सप्ताहमे एक बार बृक्षसे खयं टूटकर गिरे पत्ते या सूखे तृणका भोजन करके भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन वीत जानेपर केवल एक बार जल पी लेते थे। नौथे महीनमें तो बारह दिनपर एक बार वायु-पान करना प्रारम्भ कर दिये और पाँचवें महीनमें श्वास लेना भी छोड़ दिये। प्राणको वशमे करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे खड़े रहने लगे। अद्भुत तपस्या थी उस बालककी।

जब वे एक पैर बदलकर दूसरा रखते, तब उनके तेजोभारसे पृथ्वी जलमे नौकाकी भाँति डगमगाने लगती थी। उनके श्वास न लेनेसे तीनों लोकोंके प्राणियोंका श्वास बंद होने लगा। श्वासावरोधसे पीड़ित देवता भगवान्‌की शरणमे गये। भगवान्‌ने देवताओंको आश्वासन दिया—‘बालक ध्रुव समूर्णरूपसे मुझमे चित्त लगाकर प्राण रोके हुए है, अतः उसके प्राणायामसे ही आप सबका श्वास

रुका है। अब मैं जाना उसे इस तपसे निवृत करूँगा।’ तपस्याके सदाचारमे ‘प्रगु’ भी परम हो जाते हैं। जब भगवान् गलाघर बैठकर ध्रुवके पास आये, तब ध्रुव इतने तन्मय होकर ध्यान वह रह थे कि उन्हे कुछ भी ज्ञान न दो सका। भगवान् श्रीरामने अपना स्वरूप-ध्यान ध्रुवके हृदयमें अन्वित कर दिया। हृदयमे भगवान्‌का दर्शन न पाकर आकुल होकर जब ध्रुवने नेत्र खोले तो अनन्त संन्दर्भ-मानुष-धाम साक्षात् भगवान्‌का सामने दौरकर उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। हाथ जोड़कर वे भगवान्‌की सृनि करनेके लिये उम्मुक्त हुए, पर क्या सृनि करे यह ममझ ही न सके। दयामय प्रभुने ध्रुवकी उत्त्वज्या देखी। अपने निषिद्ध-पुनित्य शरणमे तप्तवी बालक ध्रुवके कापोल्को उन्होंने हृद दिया। बस, उसी अण, ध्रुवके हृदयमे तत्त्वज्ञानका प्रकाश हो गया। वे समूर्ण विद्याओंसे सम्पन्न हो गये। अब उन्होंने बड़े प्रेममे बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति की जो भागवतमे उपनिवद है।

भगवान्‌ने ध्रुवको वरदान देने हुए कहा—‘बस ध्रुव ! यद्यपि तुमने नोगा नहीं, किंतु मैं तुम्हारी हार्दिक इच्छाको जानता हूँ। तुम्हें वह पद देता हूँ, जो दूसरोंके लिये दुष्टाप्य है—सत्य ही, उस अविच्छ पदपर अवतक दूसरा कोई भी नहीं पहुँच सका है। सभी ग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल जिसकी प्रदक्षिणा करते हैं, वह ध्रुवका अटल उत्तमपद है।’

पिताके वानप्रस्थ लेनेपर तुम पृथ्वीका दीर्घकालक शासन करोगे और फिर अन्तमे मेरा स्मरण करते हुए उस सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्माण्डके केन्द्रसूत धामसे पहुँचोगे, जहों जाकर फिर ससारमे लौटना नहीं पड़ता। इस प्रकार वरदान देकर भगवान् अन्तर्वान हो गये। इस तरह ध्रुवने सत्य-स्वरूप हो गुहनिष्ठा, आत्मसंयम तथा तितिशायुक्त तपस्या-न्रत धारण वरके संसारके समक्ष आदर्श तपोमय सदाचारका अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया।

## द्याकी प्रतिमूर्ति राजा रन्तिदेव

‘कामये दुःखतसानां प्राणिनामार्तिनाशनम्’  
रन्तिदेव राजा थे—संसारने ऐसे राजाको कभी कदाचित् ही पाया हो। एक राजा और वह अन्नके विना भूखों मर रहा हो। वह भी अकेला नहीं; उसकी छी और वच्चे भी थे—कहना चाहिये कि राजाके साथ रानी और राजकुमार—सब भूखों मर रहे थे। अन्नका एक दाना भी उनके मुखमे पूरे अड़तालीस दिनोंसे न गया था।  
अन तो दूर—जल्के भी दर्शन नहीं हुए थे उन्हे।

राजा रन्तिदेवको न शत्रुओंने हराया था, न डाकुओंने छूटा था और न उनकी प्रजाने उनके प्रति विद्वोह किया था। उनके राज्यमें अकाल पड़ गया था। अवर्पण जब लगातार कई वर्षोंतक चलता रहे—प्रजा भूखी रहे तो राजाको पहले उपचास करना चाहिये, यह समुदाचारीय मान्यता थी राजा रन्तिदेवकी। राज्यमें अकाल पड़ा, अन्नके अभावसे प्रजा पीड़ित हुई—राज्यकोश और अचागारमें जो कुछ था, पूरा-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जब कोश और अचागार रिक्त हो गये—राजाको भी रानी तथा पुत्रके साथ राजवानी छोड़नी पड़ी। पेटके कभी न भरनेवाले गड्ढमे डालनेके लिये उन्हें भी तो कुछ चाहिये था। राजमहलकी दीवारोंको देखकर पेट कैसे भरते! लेकिन पूरे देशमे अवर्पण चल रहा था। कूप और सरोवरतक सूख गये थे। पूरे अड़तालीस दिन बीत गये, अन्न-जलके दर्शन न हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसीने महाराज रन्तिदेव-को पहचान लिया था। सबेरे ही उसने उनके पास थोड़ा-सा धी, खीर, हलवा और जल पहुँचा दिया। भूख-प्याससे व्यकुल, मरणासन उस परिवारको भोजन क्या मिला, जैसे जीवन-दान मिल। लेकिन भोजन मिल-कर भी मिलना नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए, जब उन्होंने एक ब्राह्मण अतिथिको आये देखा। तब इस विपत्तिमें भी अतिथिको भोजन कराये विना भोजन करनेके दोषसे बच जानेकी अपार प्रसन्नता हुई उन्हे। ब्राह्मण अतिथि भोजन करके गये ही थे कि एक

भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भोजन कराया। लेकिन शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आया। यह नया अतिथि अन्त्यज था और उसके साथ जीभ निकाले, हाँफते कई कुत्ते थे। वह दूरसे ही पुकार रहा था—‘मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं! मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।’

समस्त प्राणियोंमे जो अपने आराध्यको देखता है, वह किसी याचकको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हो। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब वचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

‘महाराज ! मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी पिला दीजिये !’ तबतक एक चाणडालकी पुकार सुनायी पड़ी। वह सचमुच इतना प्यासा था कि उसका कण्ठ सूख गया था, वह बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स्पष्ट प्रतीत होता था। महाराज रन्तिदेवने जलका पात्र उठाया, उनके नेत्र भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—‘प्रभो ! मैं ऋद्धि-सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवास हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुखी रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इसे जीवित रहनेकी इच्छावाले इस चाणडालको दे रहा हूँ। इस कर्मका कुछ पुण्यफल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंकी भूख, प्यास, श्रान्ति, दीनता, शोक, विपाद और मोह नष्ट हो जायें। संसारके सारे प्राणी सुखी हों।’

उस चाणडालको राजा रन्तिदेवने जल पिला दिया। लेकिन वे स्थय—उन्हे थव जलकी आवश्यकता कहाँ थी! अब तो विभिन्न वेष बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, महादेव शिव और धर्मराज स्थयं अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे उनके सम्मुख।

## सदाचारका आदर्श—सादा जीवन उच्च विचार

( लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित, एम० एस्-सी०, पी-एच० डी० )

सभी ग्राणी सुख चाहते हैं और वे जो कुछ भी करते हैं, वे सुखप्राप्तिके लिये ही करते हैं। किंतु किस आचरणसे सही अर्थमें दुःखाभाव होता है, इसका ज्ञान कम ही लोगोको होता है और ऐसे सदाचारको जीवनमें उत्तरनेमें विरले ही सफल होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि हमारा जीवन दुःखालय बना हुआ है। समस्त रसायनमें त्राहि-त्राहि मच्छी हुई है। हम ऐश्वो-आरामकी चीजें जुटानेमें जी-जानसे लगे हुए हैं। हम विलासिताको ही, जो अत्यन्त क्षणभङ्गर है, सुख मान बैठते हैं। खी, पुत्र, गृह, धन, आशु और यौवन—ये सभी नश्वर हैं। हम इस वास्तव सत्यको भूल जाते हैं। इन्हींकी प्राप्तिके लिये हम अहर्निश खून-पसीना वहा रहे हैं। हमारी जडपूजा-प्रायणता बढ़ती जा रही है और इस जडपूजाके लिये हम पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। सदाचार, संयम और सरलताका हास होता जा रहा है। 'मन मैला तन उजला' आज अधिक चरितार्थ हो रहा है। ऐसे विषम समयमें सादा जीवन ही इस जडपूजा-प्रायणतासे हमारा उद्धार कर सकता है। यह कर्मभूमि है और हमें हमारे कर्मानुसार ही फलोपलब्धि होती है। इस तथ्यको पूज्य गोखामी श्रीतुल्सीदासजीने बड़े ही स्पष्ट शब्दोमें व्यक्त किया है—

करम प्रधान बिस्त कर राखा। जो जस करद्द सो तस फल चासा ॥

( मानस, अयोध्याकाण्ड )

सादा जीवन जीनेकी सर्वोच्च कला है और सच्चे सुखप्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। ख्यात श्रीरामने अपने मुखारविन्दसे सदाचारी संतोकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है—

निर्मङ्ग मन जन सो मोहिपावा। मोहि कपट छल छिद्र भावा ॥

( मानस ५। ४३। ३ )

वे श्रीनारदजीसे संत-स्वभावका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सवहि सन श्रीती ॥

×      ×      ×      ×

अद्वा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति असाया ॥

×      ×      ×      ×

दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥  
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला ॥

( मानस ३। ४५। २, ४, ६-७ )

मनुष्यका सर्वोच्च विचार गणितके किसी सूत्र या क्रान्तिकारी तकनीकीमें निहित नहीं है। संसारके सभी महान् पुरुषोंने 'परहित-विचार' को ही मानवका उच्चतम विचार माना है। श्रीगोखामीजीने भी इसको मानसमें प्रतिपादित किया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

( मानस ७। ४०। १ )

सदाचरणका यही वीजमन्त्र है। जबतक मनुष्यके मनमें यह समा नहीं जाता, तबतक वह सदाचारीका स्वाँग तो कर सकता है; परंतु वस्तुतः सदाचारी हो नहीं सकता।

विचाराचारका नित्य सम्बन्ध—मनुष्यके विचारों और उसकी कर्मोंमें प्रवृत्ति दोनोंका अनादि पारस्परिक सम्बन्ध है। वृहदारण्यकोपनिषद्में ऋषियका स्पष्ट उद्घोष है—

‘स यथाकामो भवति तत्कर्तुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।

( ४।४।५ )

✓ मनुष्य जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही काम प्राप्त

करता है।' इसी तथ्यको अन्यत्र भी व्यक्त किया गया है—'आपके जैसे विचार होंगे, वैसे ही आप हो जायेंगे।' ख्यं भगवान् कृष्णने अपने श्रीमुखसे इस अनादि एवं अपृथक्करणीय सम्बन्धको समझाकर उच्च विचारोंमें मनको रमानेकी प्रेरणा दी है। तदनुसार यदि हमारा मन उच्च विचारोंसे परिपूर्ण नहीं है और मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, तो हमारी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे ( उन विषयोंकी ) कामना उत्पन्न होती है, कामना ( में विनापड़ने ) से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, सृतिके भ्रमित हो जानेसे ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और शुद्धिके नाश त्रुटेसे ( यह पुरुष ) अपने श्रेय साधनसे गिर जाता है। गचरणानुसार ही हमारे विचार भी बनते हैं। श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें—

ज्ञेमलचित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम भम भगति भमाया॥  
सम दम नियम नीति नहिं ढोलहिं। परुष वचन कवहु नहिं बोलहिं  
( मानस ७ । ३७ । ३—८ )

यह है सदाचरण करनेवाले संतोंका स्वभाव। इसके वेपरीत अनाचरण, दुराचरण करनेवाले असंतोंका स्वभाव कैसा है, वह भी देखें—

काहू की जौं सुनहिं बड़ाहै। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥  
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥  
( मानस ७ । ३९ । २-३ )

जीवनके ग्रत्येक क्षेत्रमें सादा जीवन वाञ्छनीय तथा सराहनीय है। यदि हर व्यक्ति सादा जीवन जीने लगे तो अविकाश सामाजिक कुरीतियोंका, राजनीतिक कुनीतियोंका और पारिवारिक कलहोंका स्वतः नाश हो

जाय। व्यापारिक-वाणिज्य क्षेत्रमें व्यास असंतोष, अविश्वास, असहिष्णुता, पर-शोषण-नीति आदिका हास भी प्रारम्भ हो जाय। हमारे देशमें आज सादे जीवनकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसपर सभी विचारक, राष्ट्रनेता या सुधारक जोर भी दे रहे हैं। परंतु हमारी शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक व्यवस्था और सादा जीवनमें विरोधाभास है। मानव-मूल्योंमें गिरावट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि हम अपने श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित तथा समर्थित मानव-मूल्योंकी पुनः स्थापना कर सकें तो इस विरोधाभासका परिहार हो जायगा और सादे जीवन-के साथ हमें पुनः उच्च विचारका तत्त्वज्ञान भी सुलभ हो जायगा। हमें भौतिक सुख-सुविधाओंसे नहीं, अपितु भौतिक-वादी दृष्टिकोणसे मुँह मोड़ना है। भौतिक सुविधाओं और सादा जीवनमें कोई विरोध नहीं है। सादा जीवन सर्वोदयभावनापर आधारित है और यह उच्च विचारोंका परिणाम है।

मनुष्यके अन्तिम और परम ध्येयकी उपलब्धि भी सादे जीवनसे ही सम्भव है। ( भारतीय संस्कृतिमें परमात्म-प्राप्ति ही परम उपलब्धि मानी जाती है। ) परमात्मप्राप्तिहेतु अनेक मार्गोंका निर्देशन किया गया है—मत्किर्मार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्मयोग आदि। सादे जीवनके बिना इनमेंसे एकको भी नहीं साधा जा सकता और कर्मयोग तो सादा जीवनका पर्याय माना जा सकता है। सादा जीवन-यापन करनेवाला वस्तुतः कर्मयोगी ही होता है। वह सदाचरण कर्तव्यके नाते करता है, फलासक्तिके कारण नहीं। फलासक्ति व्यक्तिको साधन-शुद्धिके ध्यानसे च्युत कर देती है। अनासक्ति साधन-शुद्धिपर अधिक जोर देती है, फलपर नहीं। सादा जीवनमें मान, दम्भ, कपट आदिका प्रायः अभाव होता है। इन दुर्गुणोंसे रहित हृदयमें ही प्रभु विराजते हैं।

## सदाचार और शिष्टाचार

( लेखक—प० श्रीउमेशकुमारजी शर्मा, गौड )

भारतवर्षकी सदाचार-पद्धति बहुत ही विशिष्ट और सर्वजनस्पृहीय है। ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि सदाचार-पद्धतिके आविष्कारक ऋषि-महर्षियोंने खयं भी सदाचार-पद्धतिके अनुरूप ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था और उन्होंने अपने जीवनमें सदाचारका जो फल प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उसको अपनी सृष्टियों तथा पुराणोंमें स्थान देकर मानव-जातिका महान् उपकार किया है। आज भी हम जब अपने पूर्वज—ऋषि-महर्षि-प्रणीत सदाचारपूर्ण धर्मग्रन्थोंको देखते हैं तो उनमें सदाचारका बहुत ही आदर्शपूर्ण वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार यदि आचरण किया जाय तो निश्चित ही मनुष्यका जीवन आदर्शमय बन सकता है।

भारतवर्षकी सदाचार-परम्परा देश-देशान्तरमें प्रसिद्ध है। भारतके सदाचारसम्पन्न महापुरुषोंके विशिष्ट गुणोंसे प्रभावित होकर ही अन्य देशोंके निवासी भारतको 'जगद्गुरु' कहते हैं। दुःखका विषय है कि आज उसी भारतके निवासी अपने पूर्वजोंके निर्दिष्ट सदाचारका त्यागकर भ्रष्टाचारकी ओर प्रवृत्त हो गये हैं, जिससे उनमें स्त्रेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता एवं आचरणहीनता आदि कुप्रवृत्तियोंका प्रादुर्भाव होता जा रहा है और राग-द्रेप, असत्य, अन्याय, पापाचार, व्यभिचार और चोरवाजारी आदिकी उप्रूपसे वृद्धि हो रही है, इससे सारा भारत सब प्रकारसे दुःखित और पीड़ित है। अतः सर्वविध कठोरेसे बचनेके लिये पूर्वकालीन ऋषि-महर्षि-प्रणीत भारतीय सदाचार-पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये। ऋषि-महर्षियों-द्वारा निर्दिष्ट सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यको निश्चित ही सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी।

हमारे स्मृतिकार ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने धर्म-प्रन्थोंमें बतलाया है कि अपने माता, पिता और गुरुको देवता समशक्त उन्हें प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर सर्व-प्रथम प्रणाम करना चाहिये। माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेमें अनेक लाभ होते हैं—अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो वलम्॥ ( मनुस्मृति २।१२१ )

'जिस मनुष्यका अपने गुरुजनोंको प्रणाम करनेका समाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और वल—ये चार वस्तुएँ वृद्धिगत होती हैं।' इसी प्रकार ऋषि-मुनियोंने हमारे लिये प्रातःकाल उठनेके बादसे रात्रिमें शयनतकके जो-जो आवश्यक कर्तव्य बतलाये हैं, उनके पालनसे सभीका कल्याण निश्चय ही होता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा जो आचरण किया जाता है, उसीके अनुसार नित्य आचरण करना चाहिये।

'श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा निर्धारित सदाचारका पालन करते हुए सदाचारमय जीवन व्यतीत करना ही प्रत्येक मनुष्यको परम धर्म है। सदाचारमय जीवनसे मनुष्यकी सर्वविध उन्नति होती है। सदाचारी मनुष्यकी सर्वत्र प्रशंसा और प्रतिष्ठा होती है तथा देवता भी सहायता करते हैं। अतः मनुष्यको सर्वदा सदाचारी बननेका प्रयत्न करना चाहिये। सदाचारी पुरुष जहाँ रहते हैं, वह भूमि पवित्र, गृह देवालय और स्थान तीर्थस्थलरूप बन जाते हैं। सदाचारी पुरुषोंमें क्षमा, दया, धैर्य, सन्तोष, शान्ति आदि सदूगुणोंकी, तेज, ओज एवं ऐश्वर्य आदि विशिष्ट विभूतियोंकी और शक्ति, पराक्रम, दृढ़ता एवं प्रताप आदि उच्चभावोंकी स्थिति रहती

है। अतः समस्त प्रकारके विशिष्ट ऐश्वर्योंकी प्राप्तिके लिये सदाचारी बनना परमावश्यक है।

मनुष्यके लिये जिस प्रकार सदाचारका पालन आवश्यक है, उसी प्रकार शिष्टाचारका भी पालन आवश्यक है। सदाचारकी तरह शिष्टाचार भी विशेष महस्व रखता है, अतः हम यहाँ भारतीय शिष्टाचारके सम्बन्धमें कलिपय आवश्यक वार्तोंका उल्लेख करते हैं, जिनका पालन प्रत्येक शिष्ट पुरुषके लिये आवश्यक है। ब्राह्मसुहृत्तमें उठकर अपने गुरुजनोंको चरणस्पर्श-पूर्वक प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। अपने घरोंमें आये हुए साधु-महात्मा, विद्वान्, ब्राह्मण और अतिथिका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सम्मान करना चाहिये। किसीके धर्मकी निन्दा या उसपर आक्षेप नहीं करना चाहिये। देवता, ब्राह्मण, साधु, महात्मा, गुरु, वेद और पतित्रिता खीकी निन्दा और परिहास नहीं करना चाहिये। यथाशक्ति दीन-दुःखियोंकी रक्षा और सहायता करनी चाहिये। अपनेसे बड़ोंकी तरफ पीठ करके बैठना और चलना नहीं चाहिये। अपनेसे बड़ोंको सदा 'आप' कहकर बोलना चाहिये। गुरु, माता, पिता और देवताकी तरफ पैर फैलाकर न तो बैठना चाहिये और न शयन ही करना चाहिये। अपनेसे बड़ो और छोटोंकी शर्या अथवा आसनपर सोना या बैठना नहीं चाहिये। राजा, ब्राह्मण, अपनेसे श्रेष्ठ, विद्वान्, गर्भवती खी, गूँगा, लङ्गड़ा, अंधा, बहरा, पागल, वालक और नशेवाजके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। अपने गुरुजनोंके दोपोंको

दूसरोंसे न तो कहना चाहिये और न सुनना ही चाहिये। गुरुजनोंका दोप देखना भी नहीं चाहिये।

किसीके साथ विश्वासघात, अभिमान, दुष्टता और कठोरता नहीं करनी चाहिये। किसीको दुःखदायी कटुवाक्य कहना अथवा गाली आदि नहीं देनी चाहिये। क्रोध और अभिमानसे सर्वथा बचना चाहिये। पराये धनको मिट्टी और परायी खीको माता समझना चाहिये। आलस्यसे, अनन्दोपसे, चोरीसे और व्यभिचारसे सर्वदा बचना चाहिये। जूँठे मुँह गौ, ब्राह्मण, अग्नि, देवता और सिरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। एक वस्त्रसे भोजन और देवपूजन नहीं करना चाहिये। विना वस्त्र पहने स्नान और शयन नहीं करना चाहिये। स्नान करनेके बाद शरीरमें तेल नहीं लगाना चाहिये। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय शयन नहीं करना चाहिये। दूसरे व्यक्तिके पहने हुए वस्त्र और जूते नहीं पहनने चाहिये। दिनमें उत्तराभिमुख और रात्रिमें दक्षिणाभिमुख बैठकर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये।

ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सूर्य और देवमन्दिरके समीपमें मल-मूत्रका त्याग करना सर्वथा निपिद्ध है। पवित्र स्थान, नदीके किनारे, जोते हुए खेत, वृक्षके नीचे, मार्गमें और गौओंके बाडेमें भी मल-मूत्रका त्याग करना वर्जित है। मल-मूत्रके त्याग करते समय बोले नहीं मौन रहना चाहिये। वालोंकी सजावट, दाँतका धोना और शीशेमें मुख देखना—ये सब पूर्वाह्नमें ही कर लेना चाहिये। दूसरोंकी मर्यादा और प्रतिष्ठाका सदा ध्यान रखना चाहिये।

## परनिन्दा गर्हित-कर्म

किसीकी निन्दा न तो अभिरुचि लेकर सुननी चाहिये और न उसे याद रखनी चाहिये। उससे उस समय तो अपनी ईर्ष्या या अहंकारकी तृप्ति हो जाती है, पर शान्तिपूर्वक विचार करनेसे वोध होगा कि धादमें घट्टत हानि होती है। दूसरेकी निन्दाको सुननेवाला भी चोरके समान निन्दित समझा जाता है।

—नेस्टर फ़ीस्ट

## पड़ोसीधर्म और सदाचार

( लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट )

‘पड़ोसीको प्यार करो !’—‘Love one’s neighbour as oneself.’—यह है ‘प्रभु ईसाद्वारा दिया गया, सदाचारका एक सूत्र। कैसा प्यार ? पैसा ही प्यार, जैसा हुप अपने-आपके लिये करते हो !’ इससे तुम्हारा जीवन निश्चल, शान्त और मधुर बन जायगा।

कानूनदौ प्रश्नकर्ता पूछता है—‘प्रभो ! कौन है मेरा पड़ोसी ! किसे मानूँ मैं अपना पड़ोसी !’ इसपर ईसा एक पहेली बुझाते हुए कहते हैं—‘एक यहूदी अमीर आदमी यहुश्वमसे यरीखो जा रहा था। उसे रास्तेमें डाकुओंने घेर लिया। उसके कपड़े उतार लिये और मार-पीटकर उसे अधमरा-सा कर दिया। बेचारा यात्री लाचार होकर वहीं पड़ा रहा। उसी राहसे एक यहूदी पादरी निकला। वह उससे कतराकर निकल गया। थोड़ी देर बाद एक दूसरा यहूदी पादरीका सहायक उधरसे निकला। वह भी उससे कतराकर निकल गया। दोनोंके बाद एक सामरी यात्री उधरसे निकला। उस बायलको देखकर उसका जी भर आया। ( यहूदी लोग समरियावालोंको अपना पड़ोसी नहीं मानते; उन्हें ‘विदेशी’ और ‘शत्रु’ मानते हैं। ) सामरीने उसके पास जाकर तेल और अंगूरका रस ढालकर उसे पढ़ियाँ बाँधीं। फिर वह उसे अपनी सवारीपर बैठाकर एक सरायमें ले गया और उसकी अच्छी सेवा-कुश्रूणा की। दूसरे दिन जब वह सामरी यात्री सरायसे जाने लगा तो उसने एक भटियारेको एक रुपया देते हुए कहा—‘देख भाई ! इस यहूदीकी ठीक ढांगसे सेवा-ठहल करना। यदि तेरा और कुछ पैसा लगे तो लगा देना। मैं लौटते समय तुम्हे भर दूँगा।’

प्रश्नकर्तासे ईसा पूछते हैं—‘तू अब बता, डाकुओंसे सताये हुए उस यहूदीका सच्चा पड़ोसी इन तीनोंमेंसे

कौन था ?’ वह बोला—‘वही सामरी, जिसने उसपर दया की !’ ईसाने कहा—‘जा, तू भी ऐसा ही कर। जिसके हृदयमें प्रेम है, उसके लिये हर आदमी पड़ोसी है, फिर वह चाहे किसी भी जातिका ल्यों न हो !’ ( Luke 10. 27-37 )

मोटे तौरपर हम ऐसा मानते हैं कि इस जिसके पड़ोसमें रहते हैं—वह हमारा पड़ोसी है। जिसके मकानकी दीवाल हमारे मकानकी दीवालसे सटी हुई है, अथवा जो हमारे आस-पास, अगल-बगल, पूरब-पश्चिम, उचर-दक्षिण रहता है, जो नित्य हमारे सामने पड़ता है—वही है, हमारा पड़ोसी। जो हमारे घरमें रहता है, हमारी सड़कपर रहता है, हमारे टोलेमें रहता है—हमारा पड़ोसी वही है। वात ठीक भी है। पास-पड़ोसमें—निकटमें रहनेवाला पड़ोसी द्वेषा ही है। पर हमने क्या इस निकटापर कभी सोचा है ? दीवालें मिली हैं, मकान मिला है, गली-सड़क मिली है, पर यदि दिल नहीं मिला तो गली-दीवाल मिलनेसे क्या ? तब वह कैसा हमारा पड़ोसी ? हम देखते हैं, प्रायः देखते हैं; लोग एक मकानमें एक ही छतके नीचे रहते-सोते हैं, एक आँगन ब्रतते हैं, एक साथ एक रसोईमें भोजन करते हैं, पर एक-दूसरेसे किसीका कोई मतलब नहीं। एक दूसरेमें कोई दिलचस्पी नहीं। और जब एक घरके लोगोंकी यह दशा है, तब पास-पड़ोस-वाले तो दूर हैं, बहुत दूर—उनकी वात ही क्या ?

एक बार एक सज्जन विनोबाजीसे आकर कहने लगे—‘हम दो आदमी एक साथ भोजन करते हैं, पर हमारी निम नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका तय किया है।’ विनोबाजीने पूछा—‘यह क्यों ? बोले—मैं नारंगियाँ खातीं हूँ, वे जहाँ खाते। वे मजदूर

हैं, इसलिये वे नारंगियों खरीद नहीं सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे ठीक नहीं लगता।'

विनोबाजीने पूछा—‘क्या एक घरमें रहनेसे आपकी नारंगियों उनके पेटमें चली जायेंगी? आप दोनोंमें आज जो व्यवहार चल रहा है, वही ठीक है। जबतक आप दोनों एक साथ खाते हैं, तबतक दोनोंके निकट आनेकी सम्भावना है। एकाध बार आप उन्हें नारंगियों लेनेका आग्रह भी करेगे। लेकिन यदि आप दोनोंके बीच ‘ख’के रक्षाकी दीवार खड़ी हो जायगी तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। हम सब भारतीय कहते हैं, हमारे संत पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ईश्वर सर्व-साक्षी है, सर्वत्र है; फिर दीवारकी ओटमें छिपनेसे क्या लाभ? इससे दोनोंका अन्तर थोड़े ही घटेगा।'

‘धीरेनदा’—धीरेन्द्रभाई मजूमदार—सर्वेदयके वयोवृद्ध सेवक है। कुछ दिनों पहले बिहारमें ग्राम-सेवाके दौरान उन्होंने एक आन्दोलन चलाया—‘अपने-अपने चूल्हे जोड़ो! ’ गौवोंमें उन्होंने देखा कि बहुतसे परिवारोंमें एक ही मकानमें, एक ही औंगनमें कई-कई चूल्हे जल रहे हैं। उन्हे यह बात अटपटी लगी। एक ही घरमें रहनेवाले सभी भाई-भतीजेके अलग-अलग चूल्हे। यह तो ठीक नहीं। तब उन्होंने चूल्हे जोड़नेका आन्दोलन शुरू कर दिया। उनकी यह मान्यता है कि एक घरमें यदि एक चूल्हा जलेगा तो पास-पड़ोसवालोंको भी मिल-जुलकर रहनेकी, एकता-की—प्रेमकी प्रेरणा मिलेगी और इस तरह हम धीरे-धीरे ‘वसुधृव कुदम्बकम्’की दिशामें बढ़ने लगेंगे।

इसाके भक्तोंकी संसारमें बहुत बड़ी संख्या है। वे लाखों-करोड़ोंमें नहीं, अरबोंमें हैं। पर उनके ‘पड़ोसीको प्यार करो’—सूत्रको कितने लोग मानते हैं, मानते हैं? इसाई लोग इस सूत्रका पालन तो संसारके सारे लड़ाई-गंगड़े सदाके ~

जाते। पर कहाँ हुआ है, ऐसा? आइये, इस सूत्रपर थोड़ा गहराईसे विचार करें। पड़ोसीको प्यार करनेका अर्थ क्या है? यही कि सबके साथ हिल-मिलकर रहना।

संत वेनेडिक्टने इसके लिये तीस लक्षण बताये हैं, वे हैं—‘पड़ोसीसे प्यार करो। किसीकी हत्या मत करो। किसीके साथ व्यभिचार मत करो। किसीकी चीज़की लिप्सा—चोरी मत करो। छूठी गवाही मत दो। सभी मनुष्यों—खी-पुरुषोंका आदर करो। अपने प्रति जो व्यवहार न चाहो, वैसा व्यवहार किसी दूसरेके प्रति भी मत करो। गरीबोंकी सेवा-सहायता करो। नंगोंको कपड़ा दो। बीमारोंको देखने जाओ। मृतक शवका सल्कार करो। किसीपर क्रोध मत करो। किसीसे बुराईका बदला लेनेकी भावना मत रखो। किसीसे छल-कपट मत करो। दयाशून्य मत बनो। किसीकी निन्दा न करो। किसीसे ईर्ष्या-डाह मत करो। लड़ाई-झगड़ेमें दिलचस्पी न लो। अपनेसे बड़ों-का आदर करो। अपनेसे छोटोंको प्यार करो। ईसाका प्रेम पानेको अपने दुश्मनोंके लिये प्रार्थना करो। अपने विरोधीसे सूर्यास्तके पहले ही सुलह कर लो।’ कैसे बढ़िया नियम हैं। पड़ोसीके प्यारका यह कैसा क्रियात्मक स्वरूप है और पड़ोसी-धर्मका कैसा बढ़िया विवेचन है।

अब हम जरा अपनेको इस कसौटीपर कस कर देखें कि हम कहाँ हैं? सबेरा हुआ नहीं कि हमने पड़ोसीके दरवाजेपर अपने घरका कूड़ा-करकट, अपने घरकी काँटोंकी बेलें फेंकी नहीं। हमारे बच्चेको ‘छीछी’ करनी है तो पड़ोसीके सामनेकी नाली इसीलिये बनी है। पड़ोसीके मकानपर सफेदी होती है, रंग लगता है, उसका कोई हिस्सा बनता है तो हमारे कलेजेपर साँप

जाता है। पड़ोसीके घर कोई नयी चीज आती सकी समृद्धि होती है, उसे सम्मान मिलता है तो जी भीतरसे जल उठता है। पड़ोसीकी निन्दा

करनेमें-सुननेमें हमारी ओंखे खिल जाती हैं। मतलब, पड़ोसीके—‘उजरे हरप विपद् वसेरे !’ (मानस १। ३। १)की मनोवृत्ति हमने पाल रखी है। कहाँ ईसाका आदेश और कहाँ हम ! कोई आपसे कहता है कि पड़ोसीको प्यार करना हमारा सहज धर्म है तो आप खटसे कह बैठते हैं—‘अजी ! पड़ोसीको प्यार करना मुश्किल है, बहुत मुश्किल ! क्यों ? रोज उससे हमारे स्थारोंकी टक्कर जो होती है। पड़ोसी हमारी जमीनको बरतना चाहता है। वह हमारी जमीनमें अपनी गाये-भैसें वाँधता है। हमारे खेतकी मेड़ कम करके अपना खेत बढ़ाना चाहता है। हम सावधान न रहे तो वह हमारा खेत अपने जानवरोंसे चरवा लेता है। हमारी फसल चुरा लेता है।

‘पड़ोसी हमसे लाभ तो पूरा लेना चाहता है, पर हमें कोई लाभ नहीं देना चाहता। हम उसके यहाँ कुछ माँगने जायें तो चीज रहते हुए भी वहाना बना देता है। पड़ोसी हमें कदम-कदमपर परेशान करता है, दुःखी करता है, सताता है, हमारे हक्कोपर हमला करता है। फिर भी आप हमसे कहते हैं—“पड़ोसीको प्यार करो !” हमसे ऐसा प्यार नहीं हो सकता। हम तो ‘शठे शाढ्यम्’ वाले जीव हैं। ईटका जबाब पत्थरसे देने-वाले प्राणी हैं। वह हमारी एक आँख फोड़ना चाहेगा तो हम उसकी दोनों फोड़ देंगे।’—जैसाको तैसा।

अब जरा हम सिक्केको उलटकर देखें। कोई हमें सताता है, कोई हमें कष्ट पहुँचाता है, कोई हमारी बहू-बेटियोपर कुदृष्टि डालता है, कोई हमारी चोरी करता है, हमारा माल हड्डप लेता है, हमारे साथ छल-प्रपञ्च करता है—तो हमें कैसा लगता है ? तब हम क्या चाहते हैं ? हम संकटमें होते हैं, कष्टमें होते हैं, पीड़ामें होते हैं, तो हमारी कैसी उल्टट इच्छा होती है कि कोई हमें इस कष्टसे, मुसीबतसे छुड़ा ले, हमारे प्रति सद्भाव दिखाये, हमारे आँसू पोछे !

तब ? अपने लिये पक्क पैमाना, दूसरेके लिये दूसरा ! Heads I win, tails you lose. ‘चित भी मेरी, पट भी मेरी !’ ‘मेरे प्रति सब सद्भाव बरतें, मैं दूसरोंके साथ चाहे जैसा व्यवहार करूँ !’ यह बात चलनेवाली नहीं। यह तो कल्पियुग है ! और कलियुग ही क्यों, नजीरके अनुसार—कलियुग नहीं, करयुग है यह,—इस हाथ दे, उस हाथ ले ! यह तो नकद सौंडा है। ‘भलाईका बड़ला भलाई, बुराईका बड़ला बुराई !’ तो सामान्य विवेकका तकाजा है कि पड़ोसीके साथ हम सदून्यवहार करें, उसके प्रति सद्भाव रखें। उससे हम प्रेम करें।

ईसा तो बहुत बाढ़में हुए, उनसे बहुत-बहुत पहले हमारे धर्मशास्त्री लोग कहते आये हैं—‘आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्’ कन्पयूशियस हो या लाओत्से—भारत हो या चीन—सब एक ही स्वर्णनियम (Golden Rule) पर जोर देते हैं कि दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने प्रति चाहते हो। भगवान् बुद्धने यहीं तो कहा था—

सद्ये तसंति दंडस्स सद्ये भार्यान्त मच्चुनो ।  
अत्तानं उपमं कल्वा न हनेभ्य न घातये ॥  
सद्ये तसंति दंडस्स सद्ये संजीवितं पियं ।  
अत्तानं उपमं कल्वा न हनेभ्य न घातये ॥

(धम्पद, दण्डवग्मो० १०। १-२)

‘दण्डसे सभी भय खाते हैं। मृत्युसे सभी डरते हैं। दूसरोंको अपने-जैसा ही समझकर मनुष्य न तो किसीको मारे और न किसीको मारनेकी प्रेरणा ही करे। दण्ड सबको अप्रिय है। जीवन सबको प्यारा लगता है। दूसरोंको अपने-जैसा ही समझकर मनुष्य न तो किसीको मारे और न किसीको मारनेके लिये उकसाये।’ भगवान् महावीर भी यहीं कहते हैं—

अज्ज्वल्यं सब्वां सब्वं दिस्स पाणे पीयायण ।  
न हणे पापिणों पाणे भय वेराओ उवरण ॥

(उच्चराष्ट्रायामनसून ६। ७)

‘सबके भीतर एक ही आत्मा है। हमारी ही तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, यह मानकर भय और वैरसे मुक्त होकर किसी प्राणीकी हिंसा न करे। किसीको न सताये।’ धूम-फिरकर वही एक बात कि हमारे प्रति दूसरे सद्ब्यवहार करें, सदाचार बरतें, इसका एक ही उपाय है—हम स्थिर भी दूसरोंके प्रति सदाचार बरतें। अत्याचार और सदाचार दोनोंका प्रतिकार है—सदाचार।

ऋग्यियोंके इस सूत्रपर ईसाने भी एक कलम लगा दी—‘तुम सुन चुके हो कि प्राचीन कालमें ऐसा कहा गया था कि अपने पड़ोसीसे प्रेम रखना और वैरीसे घैर। परंतु मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने वैरियोंसे प्रेम रखो। जो तुम्हे अभिशाप देते हैं, उन्हे आशीर्वाद दो और जो तुमसे वृणा करते हैं, उनके प्रति प्रेम करो। जो तुम्हें धिक्कारते हैं और तुम्हें सताते हैं, उनके लिये प्रार्थना करो। यदि तुम अपने प्रेम रखनेवालोंसे ही प्रेम रखते हो तो इसमें तुम्हारी कौन विशेषता रही? क्या भठियारे भी ऐसा नहीं करते? (मत्ती—५।

४३-४७) बाबा कवीरका भी वही उपदेश—  
‘जो तोकूँ कॉटा चुवै, ताहि बोउ तू फूल।’

माना अपकारीके प्रति उपकार करना आसान बात नहीं, पर हमें यदि पड़ोसी-धर्मका पालन करना है तो कुछ-न-कुछ त्याग और बलिदान करना ही पड़ेगा। अपना जीवन सुखमय बनाना है तो पड़ोसीके जीवनको सुखमय बनाना ही पड़ेगा। कारण, पड़ोसी पड़ोसी है! उसके घरमें आग लगेगी तो हमारा छप्पर भी झुल्से बिना न रहेगा। बाढ़में उसीका घर छवेगा, ऐसा नहीं, तब हमारा घर भी सूखा न रह सकेगा। उसके दरवाजेपर लगी ट्यूबलाइट्से हमारा घर भी आलेकित होगा ही। सचमुच पत्थर है वे, जो पड़ोसीकी स्थितियोंमें कोई सुधार नहीं लाना चाहते। पड़ोसी-धर्मका तकाजा है कि हम पड़ोसीके दुःख-दर्दको अपना समझकर उसमें हाथ बटायें। उसमें ‘लोक लाहु’ भी है और ‘परलोक निवाह’ भी। शिश्याचार भी है, सदाचार भी।

अब लीजिये—एक सूक्ष्मी कहानी। काश! हम इससे कुछ सीख सकें। एक सूक्ष्मी फकीर थे—अबदुल्ला बिन उम्बारक। एक दफा वे हजको गये। हजसे फारिग होकर वे कावामें ही सो गये। मुसलमानोंके पवित्र कर्तव्योंमें है—‘कावाकी जियारत करना।’ रातमें उन्होंने एक सपना देखा। एक फरिश्ता दूसरेसे पूछ रहा है—‘क्यों जी! इस साल हज करनेके लिये कितने लोग तशरीफ लाये और उनमेंसे कितनोंका हज कबूल हुआ?’ दूसरा बोला—‘हजको चालीस लाख लोग आये, मगर किसीका भी हज कबूल न हुआ।’ ‘ऐसा क्यों?’ बात ऐसी ही है। हाँ, एक आदमीका हज कबूल हुआ और तमाशा यह है कि वह हज करनेके लिये कावा तशरीफ भी नहीं ला सका था। और उसीके तुफैलमें अल्लाहने तमास हजाजियोंको बख्शा दिया! ‘कौन है यह पाकहरती?’ बोला—‘वह है दमिश्कका एक मोची—अलीबिन मूफिक!

आँख सुली तो अबदुल्ला बिन मुवारक चल पड़े दमिश्कके लिये। चलें उस खुशनसीकी कदमबोसीतो कर आये। अलीबिन मूफिकसे मिले तो उसने हाथ जोड़कर अर्ज की—‘हाजी साहब! मैं बहुत दिनोंसे हज जानेकी सोच रहा था। बड़ी मुश्किलसे मैंने ७०० दिरम (चाँदीकी बने सिक्के) बचाये। एक दिन मेरी बीवीने कहा—‘पड़ोससे कुछ ज्ञक आ रही है। जरा माँग तो लाओ, क्या पक रहा है? मेरा जी खानेको कर रहा है।’ पड़ोसीसे जाकर मैंने कहा तो वह गिड़गिड़कर बोला—‘भाई जान! मैं जो पका रहा हूँ, वह किसी आदमीके खानेके लायक नहीं है। सात दिनसे मेरे बच्चे भ्रष्ट हैं। बड़ी मजबूरीमें मुर्दा जानवरका गोश्त उठा लाया हूँ, जो आपके लिये हराम है।’

‘पड़ोसीकी यह हालत देखकर मेरा दिल दहल उठा। मैंने हजके लिये जमा सात सौ दिरम\* उठाकर उस भाईको दे दिये। मुझे लगा कि पड़ोसीकी मुसीबत दूर करना हजसे कहीं—ज्यादा बेहतर है।’

\* यह मिस्रदेशका चिक्का है, जिसका मूल्य एक रुपयेके लगभग होता है।

## सदाचार-मूर्ति—श्रीहनुमान्‌जी

‘साधु-संत के तुम रखवारे’

( लेखक—साहित्य-नारिनि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीचालव, पम० ८०, एल० ८०, एल०-एल० ८० )

‘आचारः परमो धर्मः’ की सूक्तिके अनुसार आचार ( सदाचार ) परम धर्म है । सदाचार समस्त मानवताका अलंकरण है, जो धर्मके गूढ तत्त्व-ज्ञानकी ओर प्रेरित करता है । सदाचार उस पथका प्रारम्भ है तो धर्म उसकी परिणति । सदाचारके क्रियान्वयका ही प्रतिफल धर्मकी गम्भीरताके लिये पथ प्रशस्त करता है ।

शंकर-सुवन, पवन-तनय, केसरीनन्दन, अञ्जनि-पुत्र हनुमान्‌जीमें श्रेष्ठ विभूतियोके संस्कारोका समन्वय था और वे सदाचारकी साक्षात् प्रतिमा थे । सर्वलोक-महेश्वर शिवने अपने एक अंशसे हनुमान्‌को जन्म देकर श्रीरामकी मङ्गलमयी लीलामें सहयोग किया । अतएव लोककल्याण और भगवद्गतिसे सम्पन्न होकर हनुमान्‌ने वायुके बेग और गतिसे सीतामाताके शोक-निवारणका तथा संतप्त मानवताके संकट-हरनका व्रत लिया । श्रीरामकी सेवामें संलग्न हनुमान्‌ने श्रीरामके विश्वजनीन वायोमि सहयोग दिया ।

‘वाल्मीकिरामायण’के अनुसार तेज, धृति, यश, चातुर्य तथा शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और बुद्धि—ये दस गुण हनुमान्‌जीमें सदैव विद्यमान हैं । उनकी बालोचित चपलताके कारण ऋषियोकी थोड़ी-सी खिन्चता भी उपयुक्त समयपर काम आयी । ऋषियोने कहा—‘तुम जिस बलका आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे दीर्घकालक भूले रहोगे । जब कोई दूसरा तुम्हे तुम्हारी कीर्तिका स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा ।’ एक बड़ी सीख थी कि बल और पौरुषका प्रदर्शन लोगोको सतानेके लिये नहीं होना चाहिये और न सब समय होना चाहिये ।

हनुमान्‌जीने अपने गुरुदेव भगवान् दूर्योक्ते वचन दिया था कि वे सुग्रीवकी रक्षामें संनद्ध रहेंगे । प्रतापी वालिसे भरपूर आदर पाकर भी उन्होंने कराजोर सुग्रीवका पक्ष लिया और उसे उन्नतिके उच्च शिवरथ पर्वत-चानेके साथ ही श्रीरामकी कृपाका अमित लाभ दिलानेके निमित्त बने । भगवान् श्रीराम भी प्रभग परिचयमें हनुमान्‌की संस्कार और क्रमसे सम्पन्न कन्याणगयी वाणीसे प्रभावित हुए और उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—‘इनके विद्वत्तापूर्ण शुद्ध उच्चारणसे स्पष्ट है कि ये व्याकरणशालके पारंगत विद्वान् हैं । इन्होंने वेदों और शास्त्रोका ज्ञान भी प्राप्त किया है । उत्तम संस्कार और शिष्याचार प्रत्येक प्राणीपर अपना प्रभाव डालते ही हैं । हनुमान्‌की वाग्मिताने श्रीरामको प्रभावित कर दिया ।

हनुमान्‌जीको उनके बलका बुद्ध स्मरण तो सुग्रीवने दिलाया, जब उन्हें श्रीसीताजीकी न्योजमें भेजा गया । सुग्रीवने कहा—‘कपिश्रेष्ठ ! तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुदेवके समान अवाध-गति, बेग, नेज और स्फूर्ति आदि सभी सद्गुण हैं । भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है ।’ अपने आराध्य श्रीरामसे आशीर्य पाकर उनके नामका अखण्ड जप करते हुए हनुमान्‌जी बृहद जाम्बवान्‌का निर्देशन खीकार कर उत्साहपूर्वक चल पडे । समुद्र-तटपर जाम्बवान्‌ने भी हनुमान्‌जीको उनके असीम, अपरिमित बलका सच्चा स्मरण दिलाया । उन्होंने कहा—‘हे वज्राङ्ग हनुमान् ! श्रीरामके कार्यके लिये ही तुमने अवतार लिया है । ब्रह्मादि देवताओंने तुम्हे अद्यैकिक वरदान प्रदान किये हैं । तुम अपरिमित शक्ति-सम्पन्न हो । तुम्हारी गति अवाधित और अव्याहत है । यह विशाल

कल्याण



परमसदाचारी श्रीहनुमान



समुद्र तो तुम्हारे लिये तुच्छ और नगण्य है । उठो तथा समुद्रको लॉघकर लंका पहुँच जाओ और सीतामाताके दर्शन कर तुरंत लौट आओ ।

आज्ञा-पालनमें विनम्र, कर्तव्य-निर्वाहमें सुदक्ष, वयका सम्मान करनेवाले, हृष्टयमें अनन्य भक्तिसे विभूषित, बुद्धि, तेज, शक्ति एवं पराक्रमके सजीव विग्रह हनुमानजी सेवा और सदाचार, मङ्गल एवं परोपकारके जाग्वल्यमान आदर्श हैं । समुद्रोलङ्घनकी कठिनाई उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी । उनकी प्रशस्तिमें गोखामी श्रीतुलसीदासजीने कहा—‘दुर्गम काज जगत के जैते । सुगम अनुग्रह तुम्हारे तैते ॥’

लंकामें रामदूतकी अनेक लीलाओंके बीच उनके सदाचारी स्वरूपका उन्नत उत्कर्ष दिखायी देता है । सूक्ष्म देह धारण करते हुए जब उन्होने रात्रिमें राक्षसोंके अन्तःपुरमें सीतामातांकी खोज की तो उन्हे सब कहीं विलास-मग्न, अर्द्ध-नग्न राक्षस-राक्षसी देखनेको मिले । बाल-ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हनुमानजीके मनमें क्षणमरके लिये नारी-दर्शनकं पातकके लिये आत्मग्लानिका संचार हुआ हो तो कोई आश्रय नहीं । उनके मनमें कभी तानिक गर्वका उद्देश होनेपर जिस प्रकार भगवान् श्रीराम उन्हे ज्ञान करानेमें सहायक रहे, उसी प्रकार धर्म-संकल्पके इस अवसरपर हनुमानजीके सम्म्रमका समाधान उनके इस बोधसे हुआ कि उनकी सारी निष्ठा तो सीतामाताके ध्यानमें केन्द्रित है—सुरापान और भोगविकासमें शिथिल निद्रामग्न ये हाड़-मांसके जीव तो निरे शव हैं । वस्तुतः कामजित् हनुमानमें अखण्ड सदाचारका उत्तम निदर्शन है, जो किसी भी साधारण मानवके लिये अल्प्य होते हुए भी मनोनिग्रह और सयम-सदाचारकी सतत साधनासे सुलभ भी हो सकता है । सदाचारका तात्त्विक स्वरूप मानसमें होता है और जिनकी मनःस्थिति परिस्थितियोंसे भी अस्थिर नहीं होती । वे ही तत्त्वतः सदाचारी होते हैं । हनुमानजी ऐसे ही सदाचारी ब्रह्मचारी थे ।

धर्मलोपकी चिन्ता होनेपर उन्होने स्वयं सही निर्णय लिया है—

मतो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।

शुभाग्नुभास्ववस्थासु तत्र मे सुव्यवस्थितम् ॥

( वात्सी० रा० ५ । ११ । ४२ )

‘समूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अवस्थाओंमें लगानेकी प्रेरणा देनेमें मन ही कारण होता है, किंतु वह मेरा मन सुव्यवस्थित है—तत्त्वमें सुव्यवस्थित है । ( उसमें राग-द्रेष्टका प्रभाव नहीं है; अतः परखी-दर्शन यहाँ धर्मका लोप करनेवाला नहीं हो सकता । )

तभी तो युद्धमें अमित विक्रम दिखानेवाले और द्रोणगिरिसे संजीवनी लानेवाले हनुमानजी को जगदम्बा जानकीजीने आशीर्वाद दिया था—‘क्रस ! समस्त सदूरगुण तुममें निवास करें । अजर अमर गुणनिधि सुत होहूँ ।’ और यह भी कि अनुजसमेत प्रभु तुमपर सदा अनुकूल रहें ।

समस्त सदूरगुणोंके समूह भक्तप्रवर हनुमानजी वल, सेवा और सदाचारकी मूर्ति हैं । अपने पावन चरित्रसे वे शक्ति, भक्ति, सेवा, समर्पण, त्याग और बलिदानकी प्रेरणा जगानेवाले ‘संकटहरन एवं मङ्गलमूर्ति’ हैं । उनकी तानिक उपासना उग्र मानी जाती है, परतु वे महावीर निश्छल सौम्यतापर सहज रीझनेवाले हैं । आस्तिकता और परोपकार—सदाचारके दो वडे लक्षणोंके कारण ही हनुमानजी सदैव पूजनीय हैं । कहीं श्रीराम-कीर्तन सुनकर वे हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और कहीं दीन-दुःखियोंकी सहायताके लिये ढौड़े जाते हैं । कथा-श्रवण सदाचार-निष्ठाका घोतक है । सदाचारकी अनूठी सिद्धि ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्यकी सिद्धि ही जीवन है । हनुमानजी अपने सदाचारी सदूरगुणोंके ही कारण चिरंजीवी और मङ्गलमूर्ति है । सच है—

सूर सिरोमनि साहसी, सुमति समीर कुमार ।

सुमिरत सब सुख संपदा, मुदमंगल दातार ॥

( दोहा० २३७ रामाज्ञाप्र० ५ । ४ । १ )

## चारित्र्य और सदाचार

( हेमक—श्रीरामाभ्यग्राह पितृजी )

चारित्र्य और सदाचार जीवनके दो ऐसे पहुँच हैं, जिनके सहारे यह जीवन अपने गत्तव्यप्रयत्नका पहुँच सकता है। इनके अभावमें मानव-जीवन उत्कर्षितात्मा नहीं हो सकता। अतः हनुमती उपायंयता अन्यत आवश्यक है। यही कारण है कि भारतीय धर्म-साधना एवं संस्कृतिमें चारित्र्य और सदाचारको सबसे अधिक महत्व दिया गया।

भारतीय जीवन-दर्शन जीवनके उच्च मूल्योंको महत्व देता है। भारतीय मन जिस उच्च जीवनकी कामना करता है, उसमें शील और सदाचारको, सत्य-अदिसाको, सेवा और सद्वाचको, करुणा और दयाको, क्षमा और शान्तिको एवं प्रेम और चित्रिको सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है। हमारा दर्शन धन-वैभव, ऐश्वर्य-समृद्धि तथा भौतिक सुख-सम्पदाको महत्व नहीं देता, बल्कि जीवनके उच्चतम मूल्योंको महत्व देता है। धन तो आने-जानेवाली वस्तु है। धनके समाप्त होनेपर भी हम मनुष्य बने रह सकते हैं; पर शील, सदाचार और चारित्र्यके विनष्ट होनेपर हम मानवतासे सर्वदाके लिये गिर जाते हैं। यही कारण है कि ऋषियों और महात्माओंने शील, सदाचार एवं चारित्र्यके रक्षणपर सबसे अधिक वल दिया है। नीतिज्ञ विदुरजी कहते हैं कि सदाचारकी रक्षा यत्पूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता और जाता रहता है। किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।

चारित्र्य और सदाचार एक ही सिक्केके दो पहुँच हैं, एक ही धातुखण्डके दो टुकडे हैं या एक ही भावके ने रूप है। इन दोनोंके मूलमें शील है। शील, सदाचार और चारित्र्यकी त्रिवेगी-धारामें ही समस्त

भारतीय दर्शन प्रवाहित होता रहा है। श्रीरामाभ्यग्राह, वृत्त, नारित्र्य सभी पर्यायानी शब्द हैं। मामन श्रीराम-प्रत्यो एवं शास्त्रोंमें शीर, मदाचार एवं चारित्र्यकी महिमाका गान है। श्रीरामित्यनामानुकूल प्राप्तः दृष्टान्तम् चारित्र्यसंप्रथमेहोत्तम है—‘चारित्र्येण च यो मुक्तः?’ चारित्र्य ती मानव-जीवनकी झारही धूम्री है जैसी है। क्षमाएवं शीलगमनको सबसे उत्तम मन माना जाता है—‘मैल गन्धो अनुच्छगे’ (१।१३), श्रीमद्वर्गिकमनसमें धूम्रगमं वर्गनमें शीलको नमस्ते उन्ना मामन दिया जाता है, उन्हें पताका बला गया है—

शौरज धीरत तेहि रथ जाका। मम मील हृष्णा कनका॥  
• (६।७९।१५)

इससे यह स्पष्ट है कि मानव-जीवनमें सदाचारसे महत्व अद्वितीय है। हमारा यह मानव-जीवन ज्ञानसह अस्तित्वमें रहे, उसमें मदाचारकी मुगम्भ, शीलका मुवास और चारित्र्यका परिगम रहना चाहिये। हमारे जीवनसे यदि शीलकी मुगम्भ न छिपकी, सदाचारकी ज्योनि विकीर्ण न हुई तो हमारा जीवन अर्थहीन है। शील ही जीवनकी शोभा है और सदाचार ही जीवनकी आभा है। शील, मदाचारसे हीन व्यक्तिका जीवन पनित या पशुका जीवन है; राजसका जीवन है। विदुरजी सदाचारको ही मानव-जीवनका सारसर्वत्व मानते हैं। उनकी स्पष्ट धोपणा है कि ‘सदाचारसे हीन मनुष्यका कुल—चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न हो, वह निम्न ही समझा जायगा और नीच कुलोत्पन्न मनुष्यका यदि सदाचार ऊँचा है तो वह ध्रेष्ठ माना जायगा’—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मनिः।  
अन्तेष्वपि हि जानानां वृत्तमेव विशिष्यते॥  
( मदा० उद्योग० ३६। ३० )

महाभारतमें विदुरने नीतिकी जितनी बातें बतलायी हैं, उनके मूलमें सदाचार ही निहित है। वास्तवमें सदाचार धर्मका मूल है। शास्त्रोंमें सदाचारकी जो प्रभृत प्रशस्ति मिलती है, इसका कारण यही है कि सदाचार और धर्मका आधाराधेय-सम्बन्ध है। वेदविहित अथवा शास्त्र-निर्दिष्ट आचरण ही सदाचार है। मानवके जो उच्चतम गुण हैं, उसके जो सुन्दर आचरण हैं, वे ही सदाचार हैं। सदाचारसे रहित व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।’ इसीलिये हमारे पूज्य पुरुषों और ऋषियोंने कुल, जाति, धन, वैभव, रूप आदिको महत्व न देकर शील-सदाचार और चारित्र्यको महत्व दिया। संसारमें जाति और कुलको लेकर आज कितना कोलाहल मचा है तथा कितनी अशान्ति एवं असंतोष है? लगता है—सारा संसार जाति, कुल और वर्णको लेकर ही पागल हो गया है; किंतु हमारे शास्त्र व्यक्ति और उसके चरित्र तथा शील-सदाचारको महत्व देते हैं। हमारे शास्त्रोंकी यह मान्यता है कि जाति, गोत्र, कुलकी अपेक्षा भी विशेष महत्व है—चारित्र्यका, शीलका और सदाचारका। महर्षि व्यासदेव महाभारतमें कहते हैं—

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।  
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥  
वृत्ततस्त्वयिहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।  
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्तव्यं च महद्यशः॥  
( उद्योग० ३६। २२ )

‘गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते। थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यशको प्राप्त करते हैं।’

सदाचारसे जीवनमें सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। आयु, बल, तेज, कान्ति, धन, यश,

कीर्ति, सब कुछ सदाचारपर निर्भर हैं। मनुस्मृति ( ४। १५६ ) में कहा गया है कि आचारसे सौ वर्षका दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, पुत्र-पौत्रादि उत्तम संतानें प्राप्त होती हैं, अक्षय धन मिलता है और दुर्गुणोंका नाश होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्रने, प्रत्येक जातिने, प्रत्येक धर्मने सदाचार और चारित्र्यकी महिमाका गान किया है।

रूसके महान् चिन्तक लेव तलस्तोय ( Leo Tolstoy )ने ‘धर्म और सदाचार’ नामसे एक पुस्तक ही लिख डाली है। आजका युग राजनीतिका युग है, किंतु राजनीतिके लिये भी धर्म, सदाचार और नैतिकताकी आवश्यकता है। आज राजनीतिमें जो गंदगी आयी है, उसका एकमात्र कारण है—राजनीतिमें सदाचार और नैतिकताका अभाव, धर्म और चारित्र्यकी न्यूनता। मनीषी तलस्तोयकी यह स्पष्ट मान्यता है कि ‘धर्म, सदाचार और नीतिके बिना न तो पहले, न अब कोई मनुष्य-समाज या राष्ट्र जिंदा रहा है, न रह सकता है।’ नेपोलियन बोनापार्टकी मान्यता थी—‘कर्मशील और सदाचारी बनो’ ( Be a man of Action and Character. ) अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है कि वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें वैर्झानी और बुरा कर्म नहीं किया है और जिसका मन अभिमानसे रहित है—

“The man of upright life,  
Whose guiltless heart is free,  
From all thoughts of vanity,  
Is a real man indeed.”

बाइबिलमें इसामसीहने उपदेश देते हुए कहा है—‘Blessed are those, pure in heart, for they shall see God’ वे धन्य हैं! जो हृदयसे कुद्द हैं; क्योंकि उन्हें परमात्माका दर्शन होगा।’

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् राम अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥  
 ( मानस ५ । ४४ । ५ )

अतः चारित्र्य और सदाचार मानवके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है । ये जीवनके अङ्ग हैं । इन्हें हम मानवके दो पंख कह सकते हैं । पक्षीको आकाशमे उड़नेके लिये दो पंख चाहिये । साधकको भी चिदाकाशकी यात्राके लिये ज्ञान-वैराग्यके दो पंख चाहिये । उसी प्रकार मानवको अपने जीवनके लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये सदाचार और चारित्र्यके दो पंखोकी अपेक्षा है । आदि हम मनुष्य हैं, मानव हैं । मानवका जीवन पशु-जीवन नहीं है । वह जमीनमे विल बनाकर नीचे घुसनेके लिये नहीं है । वह कीड़े-मकोड़ेकी तरह जमीनपर रेंगनेके लिये नहीं बना है । मानवका जीवन ऊपर उठनेके लिये है, ऊर्ध्व संचरणके लिये है । मानवकी परिभाषा क्या है? 'मननात्—मनुष्यः'—जो मनन करे, चिन्तन करे, वह मनुष्य है ।' मानवका यह जीवन साधारण जीवन नहीं है; यह दिव्य जीवन है । भारतके जनमानसके इष्टदेव भगवान् श्रीराम श्रीमुखसे कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर हुर्लभ सद ग्रंथन्हि गावा ॥  
 साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाह न जेहिं परलोक सेवारा ॥

( मानस ७ । ४२ । ४ )

वेद भगवान् की भी धोषणा है कि—'उद्यानं ते पुरुष नावयानम् ।' ( अर्थव० ८ । १ । ६ ) हम हैं ही ऊपर चलने ( उत्थान )के लिये । नीचेकी ओर हमे यान अर्थात् गति नहीं करनी है—'न अवयानम्' । मानवको ऊपर उठनेके लिये सदाचार और चारित्र्यका ही सहारा लेना होगा । विना इनके वह कठापि ऊपर नहीं उठ सकता ।

'कठोपनिषद्'मे नचिकेताने कितना सत्य कहा है—  
 'न विच्चेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्यको धनसे कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता । धन और वैभव तो आते-जाते रहते हैं, शृणिक और नश्वर हैं । कितने

सप्राट् और तानाशाहै आये और गये, उनके साथ ही सत्ता और सामर्थ्य, धन और वैभव सभी समाप्त हो गये । एक शायरने कितना सच कहा है—मक्तवर्णमें पैर कैलाये हुए सोते हैं तो । जर्मीमें आम्यमांतक जिनका सेहरा था एक दिन ॥' परंतु सदाचार और चारित्र्यकी पूँजी नहीं मिटती । सदाचारी, चरित्रवान् तथा शीलवान् व्यक्ति मरकर भी अमर रहते हैं । इनके सदाचरण तथा सुकर्मके सुवाससे साग संसार सुवासित रहता है । सदाचारी पुरुषका हर आचरण धर्ममय होता है । उसका हर कर्म प्रकाशकी एक किरण है और उसका हर आचरण आलोक है, जिसके प्रकाशमें सामान्य मानव-प्राणी अपना मार्ग निर्वारित करता है ।

हमारे राष्ट्रमें अति प्राचीनकालसे ही सदाचारकी एक सात्त्विक सरिता सतत प्रवाहित होती रही है; अजस्त्र स्रोत प्रवाहमान रहा है । सदाचारके इसी अक्षय स्रोतसे हम आजके युद्ध-जर्जर और विपक्षके लिये शीतल जल लेकर कल्याणका कार्यक्षेत्र सिंक कर सकते हैं, मानवताका पथ प्रशस्त कर सकते हैं, प्रेमका पावन प्रकाश विकीर्ण कर सकते हैं । सदाचारके सोपानपर आख्य होकर ही हम सर्वाय गौरव एवं आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं और चारित्र्यकी फुलवारीमें ही हम जीवन-पुण्यकी सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध फैला सकते हैं । जबतक हम अपने जीवनमें सदाचारका सुवास और चारित्र्यकी कान्ति नहीं लायेगे, तबतक हमारे जीवनमे शान्ति और विश्रान्ति नहीं आ सकती । अमृतत्वकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है । सदाचार, शील और चारित्र्यकी पावन त्रिवेणी-धारामे गोता लगाये विना वह अमृतत्व नहीं प्राप्त हो सकता ।

सदाचार और चारित्र्यकी कमीके चलते आज समस्त संसारमे एक कड़ुआहट पैदा हो गयी है, एक भयंकर तिक्ता आ गयी है । भौतिक सम्पदाके संग्रहकी होइने वातावरणको विगत बना दिया तै ।

मानवका ऐसा चारित्रिक अधःपतन किसी भी युगमे नहीं हुआ है। जीवनका प्रत्येक क्षेत्र गँदला हो गया है। सत्ता और स्वार्थने व्यक्ति और समाज दोनोंको भ्रष्ट बना दिया है। इसका एकमात्र कारण है हमारे जीवनसे शील और सदाचारका विदा होना। शील, सदाचार और चारित्र्यके हटते ही सत्य, अहिंसा, धर्म, कर्म, धन, ऐश्वर्य, शक्ति, ईमान सभी समाप्त हो जाते हैं। आज मानव-मनमें जो बेचैनी और अशान्ति आयी है, वह इसलिये कि हमारे जीवनसे सदाचारका सोता सूख गया है, शीलकी सरिता सूख गयी है।

आज हमारे ज्ञान-विज्ञान सभी व्यर्थ सिद्ध होगे, यदि हम सदाचारी नहीं हैं, शीलवान् नहीं हैं, चारित्रवान् नहीं हैं। शास्त्रो, धर्मग्रन्थों और नीतिग्रन्थोंके पढ़नेसे क्या लाभ जो आज हम दुशील बन रहे हैं, कठोर और क्रूर बन गये

हैं, हिंसक और अत्याचारी बन गये है, उद्दण्ड और अहंवादी बन गये हैं? शास्त्राध्ययनका फल तो सुशीलता और सदाचार है—‘शीलवृत्तफलं श्रुतम्’। फिर यह कड़वाहट, तिक्ता और दुःशीलता क्यों? क्या हम अपने पूज्य पुरुषों, संतो और महात्माओंके सदाचार, उनके चरित्र और उनके उदात्त विचारोंसे कुछ न सीखेंगे? क्या हमारा जीवन भी उन्हींकी तरह उदात्त और महान् नहीं बनेगा? यदि नहीं तो नर-शरीर प्राप्त करना व्यर्थ है, मानवकी योनि पाना निरर्थक है। आइये, हम फिरसे अपने जीवनमें शील, सदाचार, धर्म, नीति और चारित्र्यको प्रतिष्ठित करें, अपने जीवनको पवित्र बनायें। व्यक्ति पवित्र बन जाय तो समाज सत्त्विक हो जाय और विश्व विमल बन जाय। तो फिर हम आर्य सदाचार और शीलको अपनाकर अपना, राष्ट्रका और प्रियका कल्याण करें।

## आधुनिक वेष-भूपा और विलासितासे चारित्रिक हास

[ विलासिताकी सामग्रियोंके प्रचारसे युवक-युवतियोंके धन, स्वास्थ्य तथा चरित्रका नाश ]

अङ्गराग, अधरराग, नखरञ्जिका आदि सोलह शृङ्खारके प्रसाधनोंका वर्णन वात्स्यायनसूत्र, नाट्यशास्त्र, काव्य एवं नाटकोंके अतिरिक्त पुराणोंमें तथा महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी आया है। पुराने समयमें भी शृङ्खार किया जाता था, किंतु उस समयके शृङ्खारमें दो बातें थीं—संयम तथा सत्त्विकता। उस समयके शृङ्खार-प्रसादोंमें स्वास्थ्यके लिये हितकारी पवित्र ओपवियों पड़ती थीं। उन ओपवियोंसे युक्त शृङ्खारको धारण करनेसे शरीर स्वस्थ रहता था, चित्त प्रफुल्लित रहता था और मनपर सात्त्विक प्रभाव पड़ता था। इतनेपर भी शृङ्खार कामवर्धक ही माना जाता था। अङ्गरागादि धारण करनेका अविकार केवल गृहस्थको था और छीं तभी अपने शरीरका शृङ्खार करती थी, जब कि उसका पति उसके पास हो। अभिप्राय यह कि Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

शृङ्खार केवल पतिके सुखके लिये ही किया जाता था। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें किसी भी प्रकारका शृङ्खार वर्जित है। ‘नाकामी मण्डन-प्रियः’के अनुसार शरीरको सुन्दर दिखानेकी भावना और संयम या आदर्श—ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। सौभाग्यवती छीके लिये आदेश है कि यदि पति कहीं दूर चला गया हो तो वह सब प्रकारके शृङ्खारोंको छोड़ दे और अपने सौभाग्यके चिह्न सिन्दूर, चूड़ी आदिके अतिरिक्त अपने शरीरका अन्य कोई शृङ्खार न करे।

कोई भी अविवाहिता वालिका यदि अपनेको इस प्रकार सजाती है कि लोगोंके नेत्र सहसा उसकी ओर जायें तो यह उसके मानसिक पतनकी सूचना

है। आज तो बात इससे बहुत अधिक बढ़ गयी है। शृङ्खरकी—विलासिताकी बहुप्रचलित सामग्रियोंका उपयोग लड़कियोंके समान ही लड़के भी बहुलतासे करने लगे हैं। विद्यालयोंके छात्रोंके लिये तो ये विलासिताकी सामग्रियाँ आवश्यक पदार्थ बन गयी हैं। अध्ययनके स्थानपर उनका ध्यान अपनेको सजाये रखनेपर अधिक रहने लगा है। फलतः उनके चरित्रके विनाशकी चर्चा आज सर्वत्र है।

विद्यार्थीका भूपण है—शील, सहिष्णुता एवं अध्ययन। भारतीय समाजोंके युवराज भी गुरुकुलोंमें भूमिपर ही सोते थे और भिक्षामें मिला रुखा-सूखा अन्न खाते थे। उनकी कमरमें मूँजकी मोटी रसी होती थी, जिसमें वे कौपीन लगाते थे। उनके शरीरपर मृगचर्म रहता था और हाथमें एक लकड़ीका दण्ड। मस्तक उनका या तो घुटा (मुड़ा) रहता था उसपर जटाएँ होती थीं। उनका स्वस्थ, सुदृढ़ शरीर और तेजोमय मुख देवताओंके समान प्रतीत होता था। इसके विपरीत, आज-का विद्यार्थी भड़कीले वस्तोंमें ढका, मुखपर क्रीम-पाउडर लगाये, खियोंके समान बालोंको बार-बार हिलाता, सजाता, दुर्वल, नित्तेज और सर्वथा दयनीय प्रतीत होता है। वचपनमें ही नेत्रोंकी ज्योति क्षीण हो जानेसे उसे उपनेत्र (चश्मा) लगाना पड़ता है। उसकी विलासप्रियता उसके चरित्रिको नष्ट कर देती है। फलतः वह युवक होनेपर भी वृद्ध-जैसा दीखता है—विलासिता उसे वृद्धावस्थामें पहुँचा रही है।

पहले कन्याएँ प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान कर लेती थीं। वे गौरी-पूजन करती थीं। उनका आभूषण था लज्जा। शील और संकोचकी वे सूर्ति होती थीं। घरमें मालाके घरेलू कामोंको यथासम्भव पूरा कर लेनेका उनमें पूरा उत्साह होता था। उनके मुखपर लज्जाके साथ भोलापन भी रहता था। लेकिन आज तो नींद दृटते शय्यापर ही चायकी आवश्यकता

होती है। इसके बाद तुरंत पाउडर-क्रीम लेकर मुखको सजाना आवश्यक हो जाता है। घरके काम करना तो दूर, अपने स्वयंके कामके लिये भी सेवकोंकी आवश्यकता होती है। इस विलासप्रियताके कारण चरित्र, स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य भी नष्ट होते चले जा रहे हैं। चरित्रसे सौन्दर्य चमक उठता है और उसके बिना सौन्दर्य धूमित हो जाता है। पर चरित्रकी ओर दृष्टि ही कहाँ है?

आज भारतीय जीवनपर पाश्चात्य सौन्दर्य-विज्ञान (Aesthetic Seince, Douglas Ainslie)का प्रभाव मुस्पष्ट है। किंतु इन पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक आदिमें जो पदार्थ पड़ते हैं, उनका यह सहज स्वभाव है कि वे त्वचाकी कोमलता तथा स्खाभाविक सौन्दर्यको नष्ट कर देते हैं। किसी ऐसे व्यक्तिको, जो नित्य पाउडर लगाता है, सवेरेके समय जब उसने अपना शृङ्खर न किया हो, आप देख लें तो आपको उसके पीले, बदरंग चेहरे से धृणा हो जायगी। त्वचामें जो एक प्रकारकी मनोहर स्निग्धता होती है, पाउडरका उपयोग करते रहनेसे वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार विलासिताके ये पदार्थ स्खाभाविक सौन्दर्यको नष्ट करके इस बातके लिये विवश कर देते हैं कि व्यक्ति अपनेको कृत्रिमरूपसे सदा सजाये रहे। जब वह इन पदार्थोंका उपयोग किये बिना दूसरोंके सामने जाता है तो उसका चेहरा, उसकी त्वचा रुखी तथा अनाकर्षक दिखायी देती है।

यह कैसे सम्भव है कि नखोपर, ओष्ठपर तथा शरीर-पर आप जो पदार्थ ल्याते हैं, उनका कोई भाग आपके पेटमें न पहुँचे। नख तथा ओष्ठ रँगनेमें जिन रँगों तथा पदार्थोंका उपयोग होता है, उनमेंसे अनेक विषेले भी होते हैं। वे पेटमें पहुँचकर पाचनक्रियाको दूषित कर देते हैं, जिससे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरमें जो रोम हैं, उनकी जड़ोंमें सहस्रों सूक्ष्म छिद्र (रोमकूप) हैं। इन छिद्रोंसे पसीनेके द्वारा शरीरका दूषित हृव्य सदा बाहर आया करता है। पाउडर, स्तो आदिके

उपयोगसे ये रोमछिद्र बंद हो जाते हैं। पसीनेके प्रवाहमे बाधा पहुँचती है। शरीरका दूषित द्रव्य निकल नहीं पाता। इससे त्वचाकी कान्ति नष्ट हो जाती है। त्वचा-सम्बन्धी रोगोकी आशङ्का बढ़ जाती है। ऐसे लोगोंको यदि कोई त्वचा-सम्बन्धी रोग (खुजली आदि) हो जाता है तो बहुत कष्ट होता है। साधारण फुंसियों भी ऐसी त्वचापर अत्यन्त पीड़ा देनेवाली बन जाती हैं। विलासिताकी वस्तुओंमे पाउडर, स्लो, क्रीम, लिपस्टिक, नखका रंग आदि सेवन करनेवालोंको प्रायः आमाशय तथा त्वचाके रोग भी होते हैं।

विलासिताकी सामग्रियोंका अधिक उपयोग युवक तथा युवतियाँ करती हैं। विद्यालय एवं महाविद्यालयोंमे पढ़नेवाले छात्र एवं छात्राएँ अन्धाधुन्ध इन वस्तुओंका उपयोग करने लगे हैं। उनके माता-पिता तथा अभिभावक समझते हैं कि उनके बालक पढ़ते हैं और पढ़ाईमें खर्च होता ही है, किंतु सच्ची बात यह है कि छात्र-छात्राएँ माता-पिताकी गाढ़ी कमाईका धन विलासिताकी सामग्रियोंमें, सिनेमा तथा पार्टीयोंमें एवं अम्बर्क्षणमें नष्ट करते हैं। अपने परिवारकी स्थितिका उन्हे तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे नहीं सोचते कि वर्ष वस्तुओंमें वे जो पैसा नष्ट कर रहे हैं, वह उनपर विश्वास करनेवाले उनके अभिभावकने कितने यत्नसे प्राप्त किया है। पाउडर, स्लो, क्रीम, हेजलीन, लिपस्टिक, सेंट आदि वस्तुओंके उपयोगसे केवल धनका नाश होता हो, इतनी ही बात नहीं, इनके द्वारा चरित्रका नाश भी होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। इन वस्तुओंमें प्रायः हानिकर एवं अपवित्र पदार्थ पड़े होते हैं। कुछ तो चर्वां-जैसे या उससे भी अपवित्र पदार्थ इनमेंसे अनेक वस्तुओंमें पड़ते हैं और फिर इनको मुख एवं होठक लगाया जाता है। जो लोग ओचारका तनिक भी ध्यान रखते

हैं, उन्हे इन वस्तुओंके उपयोगसे सर्वथा ही दूर रहना चाहिये। आचारसे ही सदाचारकी रक्षा हो सकती है।

श्रीरोम्यारोलैंने निःशब्दीकरणके सम्बन्धमे कहा था कि 'शब्द युद्धके प्रतीक हैं। जब सभी राष्ट्र अपने-अपने शब्दाल्लं बढ़ानेकी धुनमे लगे हैं, तब युद्ध अनिवार्य है। इससे कोई मतलब नहीं कि सभी राष्ट्र युद्ध न करनेके पक्षमें हों ही।' इसी प्रकार यह भी सोचनेकी बात है कि शृङ्खारका लक्ष्य क्या है? शृङ्खार किया जाता है—दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको सुन्दर सिद्ध करनेके लिये, दूसरोंके नेत्र अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, अपने-को सुन्दर सिद्ध करने तथा दूसरोंकी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टाके मूलमे काम-भावना होती है।

एक बार एक परिचित विडान् कह रहे थे—'ये लड़कियों आधुनिक वेष-भूषामें सज-सँवरकर, नंगे सिर, खुली झुजाएँ अपने अर्धनग्न शरीरका प्रदर्शन करती बाजारोंमें निकलती हैं और फिर शिकायत करती है कि लोग उन्हे कुदरिसे देखते हैं।' अपनेको इस प्रकार प्रदर्शनकी वस्तु बनानेका तात्पर्य दूसरा हो ही क्या सकता है? क्या यह शिष्ट और भारतीय परम्परा है, क्या यह सदाचारके विपरीत नहीं है?

शृङ्खार करनेवालेके मनमें क्या है, इससे कोई मतलब नहीं। शृङ्खार स्थियं शरीरके प्रति एक आकर्षण है। इसके द्वारा अनजानमें ही कामुकता बढ़ती रहती है, दूसरेके नेत्र आकर्षित होते हैं और फिर यह आकर्षण एवं पतनका भी कारण बन जाता है। जैसे—राष्ट्र चाहें या न चाहे, शब्दाल्लंकी वृद्धि होगी तो युद्ध होकर ही रहेगा, वैसे ही शृङ्खारप्रियता आयगी तो चरित्रिका नाश होगा ही। शृङ्खरिता सच्चरित्रिताकी विरोधिनी है।

आजकल अज्ञानवश माताएँ छोटे शिशुओंको भी पाउडर लगाकर सजाती हैं। बालककी कोमल त्वचापर इसका बहुत ही हानिप्रद प्रभाव पड़ता है।

बालकके लिये भूमियों से ज्ञा न्यायावधि न गरज्याएँ हैं। शिशुके अङ्गोंमें शुद्ध मरणोंके सेवायी मार्गिक करनेसे शिशुके जहाँ पुष्ट होने हैं। नव्योंकी पाउडर, कीम आदि नहीं ल्याना चाहिये। इसी बालकका स्वास्थ्य नहीं होता है।

आवश्यकता तो इस बातही है कि स्फुरण विलासिताके पदार्थोंका विवेदोंमें देशमें जाना सर्वांग वंड मदान्वाचमन्त्रित रूप होती।

इहे और ऐसी भूमि भिर्गार मन्त्रमन्त्री भूमि, लिये हुए रहने वाली है। इसे भूमि नहीं कहा जाता है। प्रथमका वर्णनहै इस रामायणी चाहिये अथ इसी वर्षोंमें व गदान्वाचमन्त्रित रूप होती।

## सर्वसुखी एवं मदाचारी बननेके लिये आचरणीय कर्तव्य

[ यदि तुम चाहते हो कुछ— ]

करना—तो गुरुजनों एवं गुणियोंका यथायोग्य सम्मान और उनकी यथावध्यक नैवा-शुद्धता करो।

जानना—तो स्वयं अपने एवं अपने कर्तव्योंको जानो।

जीतना—तो कोध, लोभ, मान, छल, कास्ट, कर्म-वासना आदि आन्मोक्षतिमें वापरक, गमक, विकारोंकी जीतो।

त्यागना—तो कुविचारो, दुराचारो और दृश्यसत्त्वोंको त्यागो।

वचना—तो मात्र नामधारी गुरुओं एवं दुराचारी मित्रोंकी संगतिसे बचो।

लिखना—तो जिससे स्व-परका हित हो, सर्ववैसा ही लिखो।

सोचना-विचारना—तो स्वयंको योग्य, गुणी एवं सुखी बनानेकी बात सोचो।

देना—तो मदान्वाचमन्त्रित रामायणी, लिये रखेमें अपने गम, भूमि, भास्तु भास्तुओंको दो।

लेना—तो जहाँमें भी गिर्व, रामायणी प्रकृती विकारोंको।

राना—तो शरीर एवं गम, दोनोंको ही तो नम बनाये रखो, ऐसी ही गालिक वस्तुओंको लाभो।

रीता—तो प्रभु-गुण-मानवा गम्भुर रूप रिजो।

योग्यना—तो प्रिय, स्वप्न और स्व-पर-हितकारी बनन बोलो।

देवना—तो अपने दोरोंतथा दूसरोंहंगुणोंको देनो।

मुनना—तो श्रीमगमनकी गुणगाम, रामचर्ची एवं पीदितोंकी आद सुनो।

शान्ति प्राप्त करना—तो राम-वैष्ण, ईर्ष्यानृथा, माया-गोष, गमता और दुराशा-निराशा आदिकी बातें न करी सोचो, न करो।

—शीशान्तिनन्द जैन

## चरित्र-निर्माणका प्रेरणा-स्रोत—‘श्रीरामचरितमानस’

( लेखक—प० श्रीरामप्रसादजी अवस्थी, एम० ए०, शास्त्री, ‘मानस-व्यास’ )

सदाचार मानवताका वह प्रकाश-स्तम्भ है, जहाँसे सर्वतोमुखी प्रतिभाकी देदीप्यमान रश्मियाँ प्रसुटित होती हैं। व्यक्ति ही समाजका धटक है। सदाचारी व्यक्ति ही समाज तथा सशक्त राष्ट्रका निर्माण करता है। व्यक्तियोंसे समाजका और समाजसे राष्ट्रका परस्पराश्रित सम्बन्ध होता है। राष्ट्रका उन्नयन, उत्कर्ष, वहाँके निवासियोंके चरित्रपर निर्भर होता है। चरित्रमें वह सब कुछ आ जाता है, जो विचारके आचारमें परिणत हो जानेसे समृत होता है।

गोखामी तुलसीदासकी अमरकृति—‘मानस’ अपने-आपमें चरित्रकी विशद व्याख्याका एक विश्वकोश-सा है। चरित्र मानवका सर्वस्व है। मानव-उत्थानका वह उच्चतम शिखर है, जहाँसे गिरकर पुनः मूलस्थानपर पहुँचना दुष्कर होता है—

गिरि ते जो भूपर गिरै, मरै सो एकहि बार ।

जो चरित्रगिरि ते गिरै, बिगरै जनम हजार ॥

रामचरित्र विश्वमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श चरित्र है और ‘मानस’ उसका परिष्कृत प्रतिनिधि है। वह सदाचारकी प्रेरणाका मूल उत्स है। यही कारण है कि इसमें अवगाहन करनेवालेका जीवन आदर्श, अनुकरणीय बन जाता है। मानसके प्रतिपाद्य तत्त्व हैं—श्रीरविकुल-मण्डल-मण्डन मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम। उनका विशद चरित्र ही सदाचारकी सर्वाङ्गीण प्रतिभा है। नित्य नवीन जीवनमें उछालसकी उपलब्धि उनके चरित्र-श्रवण, मननके द्वारा होती है। इसीलिये इसकी फलश्रुतिमें कहा गया है—

सुनहिं विमुक्त बिरत अरु विषद्दृढ़। अहहिं भगति गति संपत्ति नहै ॥  
जे गावहिं यह चरित्र सँभारे। तेह एहि ताल चतुर रखवारे ॥

जिस समय आत्मायियोंकी दूती बोल रही थी, अत्याचारका तुमुल नाद छाया था, क्षत्रियोंका वाहुवल क्षीण हो चुका था, ज्ञान-भानु अस्ताचल-शृङ्गमें समा चुका था, चोटियाँ विलुप्ति और वेटियाँ प्रकम्पित थीं, उसी समय तुलसीने श्रीरामचरितका विशद यश जनताके समक्ष उपस्थित किया। उन्होंने श्रुति-शास्त्र-पुराणोंका समस्त सदाचार-सार राघवके यशमें रख दिया और असाध्यको साध्य, अगम्यको गम्य कर दिया। आज तुलसी विश्वके मानसमें राजहंसके रूपमें विराजमान हैं।

सदाचरणपूर्वक भक्ति एवं भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन-क्रमका विधान ‘मानस’ इस प्रकार करता है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। विनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

विनु सतसंग न हरि कथा तेहि विनु भोह न भाग ।

भोह गर्ये विनु राम पद होइ न दड अनुराग ॥  
मिलहिं न रघुपति विनु अनुरागा। किए जोग जप जाग विरागा ॥

भ्रातृत्वका अलौकिक उदाहरण श्रीराम और भरतके पारस्परिक सौहार्द, सौजन्यमें दीर्घता है। भरत यदि ‘मेरे सरन रामहि की पनही’के उद्घोपक है तो राम उनके नामके जापक हैं। यह कहना कठिन है कि चरित्रवलम्ब कौन आगे है। भ्रातृत्वका ऐसा सदाचार और कहाँ है?

अनेक स्थलोंपर चरित्रकी झाँकी मानसमें विस्तारसे वर्णित है। पितासे पुत्रका, भाईसे भाईका, पतिसे पत्नीका, मित्रसे मित्रका क्या व्यवहार होना चाहिये—इसका विवेचन वड़ी शालीनताके साथ मानसमें सँजोया हुआ है। मानसके चरित्रनायक श्रीराम है, जो आदर्शके अनूठे उदाहरण है। अतः कहा गया है कि विश्वमें ऐसा कौन है, जो श्रीरामका अनुक्रती न हो—‘लोके न हि स विद्यते यो न राममनुव्रतः।’

इष्टके बिना जीवनके अनिष्ट दूर नहीं होते। श्रीराम ही इष्ट हैं, उपास्य हैं एवं जीवनके पग-पगपर आनेवाली परिस्थितियोंके दिव्य आलोक हैं। भारतको राष्ट्रके रूपमें एवं मानवके चरित्र (ज्ञान-कर्म) के स्वरूपमें श्रीरामको चिह्नित किया गया है—

हिम गिरि कोटि अचल रुद्रीरा। कोटि सिंहु सत मम गंभीर॥

तुलसीके राम ब्रह्म भी हैं, ऐतिहासिक भी हैं और सभी परिस्थितियोंमें, सर्वकालमें, सर्वदेशमें उपलब्ध भी हैं। यहाँतक कि रामके अतिरिक्त कुछ अन्य हैं ही नहीं। वे भारतके शीर्पभाग हिमालयके समान अडिग हैं और उनकी कटि एवं अधोभागमें अनन्त सिन्धु सुशोभित है। हिमालयके समान उनका ज्ञान अडिग और सिन्धुके समान उनका कर्म प्रगल्भ है। अतः भगवान् श्रीराम उत्तरभागसे दक्षिणभागकी यात्रा करते हैं, मानो शीर्पस्थ ज्ञानको कर्ममें उनार रहे हैं। हिमालयसे पुण्य-सलिला भागीरथीका उद्गम है और अनन्त सिन्धुमें उनका विलय होता है। इसी प्रकार भगवान् अनन्त, भगवान्की शक्ति अनन्त, भगवान्का शासन अनन्त और भगवान्का प्रेम अनन्त है। श्रीरामकी मान्यताका सशक्त उदाहरण कविवर ‘विनय’में देते हैं। दीनोंके प्रति प्रगाढ़ प्रेमके कारण वे उपास्य हैं। वन-यात्रासे पूर्व तथा वापसीके बाद भी माता कौसल्या, भगवती जानकी, गुरुमाता अरुन्धती और जनकपुरके सम्बन्धियोंके यहाँ उन्हें मधुर भोजन करनेका

अवसर मिला। पर जब पुढ़ा गया कि भोजनमें बाद कौमा है तो श्रीरामने शाश्रीनता-दिश्यतायुक्त वामिना-महित शवरीकी फल-मायुरीदा अभिनन्दन किया—

धर गुर गृह, प्रिय मठन मासुरे भाद् उच्च जर्ह पट्टमर्द।  
तत्र तर्ह कठि नवरी के फलन की शक्ति मायुरी न पार्ह॥

आनिश्वरकी स्मृतिका यह उदाहरण यदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिलेगा। लक्ष्मणदो राष्ट्रस्थलमें शक्तिवाग लगा है, किन्तु उनकी वेदनाको गौण भ्याह देखत श्रीराम विमीपणके कल्पाणका ही विचार कर रहे हैं—

रन पर्यो षंडू विभीषण दी दो योज्य उद्य अभिष्ठाह॥

(विनयर० १६८। ३)

आश्रितकी चिन्ता हमारे प्राचीन सदाचारवा प्रनीक है। जिस पिताने रनेद् एवं धर्मकी रक्षामें अनन्त शरीर भी छोड़ दिया, उससे भी अधिक गीरुका रनेद् इन शब्दोंमें प्रस्तुतिन होता है—

नेह निवाहि दैह तजि दमस्य, दीरनि अचल भृत्याह॥  
ऐमेहु पितु तें अधिक गीरुपर मगता गुन गरुत्ताह॥

(विनयर० १६४। २)

कृतव्रताका यह कितना श्रेष्ठ आदर्श है ! श्रीरामका चरित्र, जीवन सभी कुछ अपनेमें ही सीमित नहीं है। उनका चरित्र और जीवन विक्षेपे, किये आदर्श सदाचार है एवं ‘मानम्’ है उनका उज्ज्यवन प्रेरणा-स्रोत। मानस आदर्श चरित्र और अनुकरणीय सदाचारका सदूरन्धर है। वस्तुतः मर्यादा कविका वह मर्यादा काव्य-प्रन्थ है।



## सदाचार-संज्ञिवन

अपने आचरणकी वहुत सँभाल रक्षोः क्योंकि जहाँ चाहो, खोजो—सदाचारसे बढ़कर सहायक जीते-मरते कहीं नहीं पा सकते। जिस पुरुषका आचरण पवित्र है, उसकी सभी इच्छत करते हैं, इसलिये सदाचारको प्राणोंसे भी अधिक मूल्यवान् समझा। दृढ़प्रतिष्ठ सदाचारसे कभी नहीं हटते: क्योंकि वे जानते हैं कि सदाचार-स्थागसे कितनी आपत्तियाँ आती हैं।



## सदाचार

( लेखक—पूज्यपाद महात्मा ठाकुर श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज )

श्रीविष्णुपुराणमें महर्षि और्व कहते हैं—‘गृहस्थ व्यक्ति प्रतिदिन देवता, गो, ब्राह्मण, सिद्धपुरुष, वृद्ध एवं आचार्यगणोंकी अर्चना करे एवं प्रातः तथा संध्याकालोंमें संध्यादेवीको प्रणाम करे। वह होमद्वारा अग्नि आदिका उपचरण करे और सदा संयत होकर अनुपहत वस्त्रद्रव्य, महौपथि, गारुडरत्न आदि माझलिक वस्तुएँ धारण करे तथा अपने केश चिकने एवं परिष्कृत रखे। वह सुगन्धित, मनोहर वस्त्र एवं उत्तम श्वेत पुष्प धारण करे, कभी किसीका कुछ अपहरण न करे, किसीको कभी अप्रिय वाक्य न कहे, मिथ्या प्रियकथन भी न करे, परदोषवर्णन न करे, अन्यकी सम्पत्तिको देखकर लोभ न करे, किसीसे वैर न करे, निन्दित पथग्रहण न करे और नदी-कूल-छायाका आश्रय न ले। पण्डित लोकविद्विष्ट, पतित, उन्मत्त, बहु-शत्रु-समन्वित, कुदेशस्थित, वेशया या वेश्यापति, अल्प लाभसे गर्वित होनेवाले, मिथ्यावादी, अतिव्ययकारी, परनिन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता न करे। स्रोतस्विनी (नदी) आदिके स्रोतरहित स्थानमें या तीव्र धारमें स्नान न करे। प्रज्वलित गृहमें प्रवेश न करे। वृक्षके शिखरपर आरोहण न करे। मुख ढके बिना जम्हाई न ले। दण्ड-से-दण्डका धर्षण न करे। नासिका-कुञ्चन न करे। श्वास एवं खाँसी खुले मुखसे न छोड़े। उच्च हास्य एवं सशब्द अधोवायु परित्याग न करे। नखवाद्य या नखद्वारा तृणच्छेद न करे एवं नखद्वारा भूमिपर लेखन न करे।

विचक्षण व्यक्ति शमश्रुचर्वण, लोष्टमर्दन न करे। अपवित्र अवस्थामें सूर्यादि ज्योतिष्पदार्थ तथा ब्राह्मणादि एवं प्रशस्त पदार्थोंका दर्शन न करे। निर्वसना परनारी एवं उदयास्तकालीन सूर्यका दर्शन न करे। शब्दर्शन करके एवं शवगन्ध ग्रहण करके घृणा न करे; क्योंकि शवगन्ध सोमका अंश होता है।

रात्रिकालमें चतुष्पथ, चैत्यवृक्ष, इमशान, उपवन एवं दुष्टा नारीसे बचकर चले। अपनेसे पूज्य व्यक्तियों, देवता, ध्वज तथा तेजःपुञ्ज-पदार्थकी छायाका अतिक्रम विज्ञ व्यक्ति न करे। कल्याणकामी व्यक्ति शून्य-गृहमें निवास न करे एवं एकाकी एकान्त घनमें न रहे। केश, अग्नि, कण्टक, अपवित्र वस्तु, भस्म, तृष्ण, स्नान-जलसे आर्दभूमिका दूरसे ही परित्याग करे। अनार्यव्यक्तिका आश्रय न ले। हिन्द्र प्राणीके पास न जाय। निद्राभद्रके बाद अधिक देरतक पड़ा न रहे। कुटिल व्यक्तिसे स्नेह न करे। अधिक समयतक निद्रा, जागरण, अवस्थान, स्नान, उपवेशन, शश्या-सेवन तथा व्यायाम न करे। प्राज्ञ व्यक्ति दन्तघाती एवं सींगवाले जीवोंके पास न जाय। सामनेकी हवा और धूप तथा नीहारका परित्याग करे। नग्न होकर स्नान, निद्रा तथा आचमन न करे। होम, देवपूजा आदि क्रिया, आचमन, पुण्याहवाचन, जपकार्यमें एकवस्त्र होकर प्रवृत्त न हो।

कुटिलमन मानवका साथ कभी न करे। क्षण-मात्रका साधु-सङ्ग प्रशस्त है। ज्ञानी जन उत्तम या अधम जनोंसे विरोध नहीं करते हैं। विवाद और विवाह समशील लोगोंके साथ ही करना चाहिये। वस्तुतः ज्ञानी जन किसीसे भी विवादारम्भ नहीं करे। निष्फल शत्रुता न करे। अल्प हानि सह लेना ठीक किंतु किसीसे शत्रुता करके अर्थलाभ करना उचित नहीं। स्नानके बाद शुद्ध परिपूत वस्त्र या हाथद्वारा शरीरमार्जन नहीं करना चाहिये। केश-कम्पन नहीं करना चाहिये। स्नानके बाद जलसे बाहर स्थलपर आचमन करना चाहिये। पदसे पदमें आधात न करे। पूज्य व्यक्तिके सामने पाँव न पसारे। गुरुजनोंके सामने सदा विनयी रहे, वीरासनका परित्याग करे। देवाल्य, चौराहा,

पूज्य व्यक्ति और मङ्गल-द्रव्यादिको वामाङ्ग करके न जाय। पण्डितजन सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, पूज्य व्यक्ति इन सबके सामने बैठकर मल-मूत्र त्याग न करे। खड़े होकर पेशाव न करे। मार्गमें पेशाव न भरे। श्लेषा, मल-मूत्र तथा रक्तका लहून न करे। आहारके समय, देवपूजा, माझलिक कार्य, जप, होम आदिके समय एवं महाजनोंके समीप श्लेषाका त्याग न करे, दीक्षित नहीं। अशिष्ट (अकुलीन) नारीका विश्वास न करे। किंतु उसका जानकर तिरस्कार न करे। उसके प्रति ईर्ष्यालु न हो। उसपर किसी भी प्रकार धींस न जमाये। सदाचारपरायण विद्वान् व्यक्ति, माझलिक वस्तु—पुण्य, रत्न, शृततथा पूज्य व्यक्तिको नमस्कार किये बिना घरसे बाहर न निकले। चतुष्पथको नमस्कार करे। यथावसर होमादि कार्य करे एवं विद्वान्-साधु व्यक्तियोंका सम्मान करे। जो व्यक्ति देव, ऋषिगणके पूजक हैं, पितरोंके प्रति श्राद्ध-तर्पण करते हैं, अतिथि-सत्कार-प्रायण है, वे ही उत्तम लोकमे जाते हैं। जो जितेन्द्रिय होकर समयपर स्वल्प, हितकर प्रिय वाक्य बोलते हैं, उन्हें देहावसानके बाद आनन्दग्रद अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। जो धीमान्, श्रीमान्, क्षमावान्, आस्तिक एवं विनीत हैं, वे सत्कुलोत्पन्न विद्याबृद्ध व्यक्तियोंके योग्य उत्तमलोकमें गमन करते हैं।

सूर्य एवं चन्द्रप्रहणके समय, पर्वोंके दिन, अशौच-समय या अकालमें तथा मेवगर्जनके समय पण्डित व्यक्ति अध्ययन न करे। जो सबके बन्धु हैं एवं मत्सरहित तथा भीत व्यक्तिको आश्वस्त करनेवाले हैं,

उनके लिये र्खार्गाद्यम अनि सामान्य नहीं है। जो शशी-रक्षा बरना चाहते हैं, वे धूप तथा वर्षायात्रमें छतरी (छाने) द्या प्रयोग करें। गत्रिकालमें गात्र या बनमें प्रवेश करते समय दण्डपाणि (हन्त-दग्धनभारी) होकर नक्के पूँज बाहर जाने समय गदा पादुका प्रहण करे। दायें-न्यायें, ऊपर या दूर देशमें दृष्ट पण्डित व्यक्ति न चले। चढ़ते समय सामनेसे चार दाय दृग्की भूमियों देशमें दृष्ट चलें। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर पूर्णोक्त आचरणोंका पालन तथा अन्यान्य दोषोंके हेतुको विनष्ट करता है, उसके धर्म, अर्थ, बाग और मोक्षमें किञ्चित् वाचा नहीं पहुँचती। पापी व्यक्तियोंके प्रसिद्ध भी जो पाप न करे, किरणीकं निष्ठुर वाक्योंके बदले प्रिय वाक्य बोले, जो समूर्ण प्राणियोंके बन्धु हैं एवं उस बन्धुत्व-निवन्धनके लिये आर्द्धचित्त हैं, मुक्ति उनके हाथोंमें होती है। जो व्यक्ति सदा सदाचारपरायण, वीतराग, काम-क्रोध-न्योग-जवी हैं, उन्हींके सहारे पृथ्वी अवस्थित है। सत्य सत्रमें प्रीति जग्नाश्च नहता है। जहाँ सत्य कहनेसे पितीका अनिष्ट होता हो, वहाँ मौन रहना चाहिये और जहाँ प्रिय वाक्य द्वितीय तथा युक्ति-संगत न हो, वहाँ प्रिय वाक्य भी न कहे। क्योंकि द्वितीय वाक्य नितान्त अप्रिय होनेपर भी अनन्त श्रेष्ठस्वर होता है। जो वार्य इहलोक और परलोकमें प्राणियोंके लिये मङ्गलकारी हो, चुद्रिमान् व्यक्ति उसी काममें मनसा, वाचा, कर्मणा दत्तचित्त होता है। सदाचारके ये कुछ पालनीय नियम हैं, जिनके आचरणमें आ जानेपर लोक और परलोक दोनोंका सुधार सम्भव है। सर्वीको इनका आचरण मनोयोगसे करना चाहिये।

### साधुके लक्षण

जो झूट नहीं बोलता, परनिन्दा नहीं करता, सहृण्योंको धारण करता है, सबसे निर्वैर है, सबमें समझावसे आत्माको देखता है और श्रीहरिके चरणोंका प्रेर्मा है वही साधु है।

## सदाचारका मूल मन्त्र—भगवत्-शरणागति

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी गर्मा )

यजुर्वेद ( २२ । २२ )मे याजक परमात्मासे प्रार्थना करता है कि 'प्रभो ! हमारे राष्ट्रमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, छी-पुरुष, दूध देनेवाली गये उत्पन्न हों, सुभिक्ष बना रहे, वृक्ष फल-फूलसे लडे रहे तथा आपकी कृपासे हमारे योग-क्षेमका समुचित प्रबन्ध ( कल्पना ) होता रहे—'योगक्षेमो नः कल्पताम् ।'\* इसी श्रुतिका अनुसरण करते हुए महर्षि गौतम अपने वैदिक धर्मसूत्र ९ । ६३-६४ मे 'योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् । नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः' की आज्ञा देकर 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'को चरितार्थ करते हैं । अर्थात् सदाचारी पुरुष योगक्षेमके लिये परमेश्वर, श्रेष्ठ राजा, देवता, गुरु आदिका आश्रय ले । मनु आदि अन्य सृष्टिकार भी ऐसा ही कहते हैं । गीता ( ९ । २२ ) मे ख्ययं भगवान् भी इसका समर्थन करते हुए अनन्य आश्रितोंके अपने द्वारा योगक्षेम-वहनकी वात कहते है—'योगक्षेमं वहाम्यहम् ।' इसपर अनेक भाष्य एवं विस्तृत व्याख्याएँ है । महाभारतान्तर्गत 'नारायणीयम्'के अनुसार इसमे शरणागतिका भाव है और कहा गया है कि भगवान् अहंकाररहित पूर्ण शरणागत व्यक्तिद्वारा, सदाचारका सम्पूर्ण पालन कराकर उसे शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं सम्पूर्ण योग-ज्ञान-कौबल्यादिप्रदानरूप योगक्षेमका वहन करते हैं । इसमे—'लाद दे, लदा दे और लादनेवालेको साथ कर दे'—का भाव है—

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।  
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

( महा० शा० ३४८ । ७२ )

\* यह मन्त्र कृष्णयजुः काठकसंहिता ४५ । १४, तैत्तिरीय-संहिता ७ । ५ । १८, मैत्राय० सं०३ । १२ । ६ और शुक्ल काष्ठ-संहिता २४ । ३०-३२मे भी आया है । इसके प्रयोगकमपर मीमांसादर्शन, काण्ड, माध्यदिनशतपथ, कात्यायन-ओत्रसूत्र कर्क, देवयाजिकभाष्य-पद्धतियोंमे मीमांसा है । ऋग्वेद १० । १६६ । ५ की प्रार्थना भी कुछ ऐसी ही है । उसमें कुछ-कुछ सर्वर्गविद्याका भाव है ।

सदाचारके प्रेरक भगवान्—वस्तुतः वेदोंसे लेकर गीतातक सभी सञ्चालिकोंका पर्यवसान-तात्पर्य भगवत्-शरणागतिपूर्वक सदाचरणमें ही है—'मामेकं शरणं वज' 'एकमात्र मेरी शरणमें आओ' आदि । इसका कारण यही है कि सदाचार तथा जीवकी सारी वाहा एवं अन्तश्चेष्टाओंके प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं । कौपीतकि ब्राह्मण ( ३ । ९ )की श्रुति कहती है— 'एष ह्यैवैनं साधु कर्म कारयति' 'यह परब्रह्म परमात्मा ही जीवसे श्रेष्ठ कर्म कराकर उसे श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त कराता है' । 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' भी यही कहता है—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' । 'वेदान्त-सूत्रके' 'परात्मु तच्छ्रुतेः' ( २ । ३ । ४१, २ । १ । ३४, १ । १ । २ ) आदि प्रायः पचासो सूत्र भी जीवकी समस्त चेष्टाओंको ईश्वरायत्त ही मानते हैं । उपनिषदोंके 'स कर्ता कारयिता जनाधिपः'—वही कर्ता तथा सब कुछ करानेवाला है, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' ( बृहदारण्यक ० ५ । ७ । २२ ), वह आत्माके भीतर बैठकर आत्माको नियन्त्रित करता है । भगवत्के 'योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमाम् प्रसुप्ताम्' ( ४ । ९ । ६ )

—मेरे अन्तःकरणमे प्रविष्ट होकर सोयी परावाणीको प्रेरित करता है, तथा सभी गायत्रीमन्त्रोंके—मैपरमात्माका ध्यान, शरण ग्रहण करता हूँ, वे मुझे सदाचारमें प्रेरित करे—का यही भाव है । कर्मबन्धनसे मुक्तिका भी यही मार्ग है । गीताके भी—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।  
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुद्धानि मायथा ॥  
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । ( १८ । ६१-६२ )

—'ईश्वर सभी प्राणियोके हृदयदेशमें स्थित होकर अपनी मायासे यन्त्रारुद्ध जीवोंको घुमाता, प्रेरित करता

है' तुम सर्वात्मना उन्हींकी शरण लो, 'मत्तः स्मृतिर्दीनं-  
मपोहनं च' ( १५।१५ ) में ही ज्ञान, सृष्टि और  
उनके विलोपका कारण हूँ आदि कथनोंसे भी यही  
बात सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतादिमें ब्रह्माजीसे स्वयं  
भगवान्‌ने कहा है कि आपसे तपस्या एवं प्रार्थना आदि मैंने  
ही करवायी है, यह मेरी ही कृपाका परिणाम है—

यच्चकर्थाङ्गं मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाद्वितम् ।  
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥  
( श्रीमद्भा० ३।९।३८, मत्स्यपु० २७३। १३-१५ )

"भागवतमें ही भक्तराज वृत्रासुर भी कहता है कि  
इन्द्र ! यह समस्त भूतवर्ग कठपुतलीकी तरह उस  
परमात्मा विष्णुके सर्वथा परतन्त्र है—।"

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।  
एवं भूतानि मध्यवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥  
( श्रीमद्भा० ६।१२।१० )

गोखामी तुलसीदासजीके 'मानस'के—

उमा दारु जीवित की नाहूँ । सबहि नचावत राम गुसाहूँ ॥  
नर मरकट इव सबहि नचावत । राम खगेस वेद अम गावत ॥  
'उर प्रेरक रघुवंस विभूपन' ( ७।११२।१ ) 'माया-  
प्रेरक सीव' ( ३।१५ ) प्रेरकानंत वन्दे तुरीयं  
( विनयपत्रिका ५३।३ ) 'जव प्रेरक प्रभु वरजै' ( विनयप०  
८९।४ ) आदि कथनोंमें भी वही वेदानुगतिता है ।

सदाचारद्वारा प्राप्य भी भगवान्—इन्हीं सब  
कारणोंसे श्रुतिपुराणोंने सदाचार-पालनके लिये और उसके  
एकमात्र परमलक्ष्य प्रभुकी प्राप्तिके लिये भी भगवच्चरणोंकी  
शरणागतिको, उनकी सृष्टिको ही परमोचित एवं सर्वथा  
निष्कण्टक मार्ग बतलाया है—

'श्रुतिपुरानसद् ग्रन्थं कहाहों । रघुपति भगवि विना सुख नाहीं ॥  
'सर्वध्युं कालेषु मामनुस्तर युध्य च' ( गी० ८।७ ) ।

'सदा मुझे स्मरण करो और (खर्वणीश्वरादि) युद्ध सदाचार-  
का पालन करो ।' धूव, प्रह्लाद, नारद, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव-  
जी आदि आप पुरुषोंका भी यही उपदेश एवं आचार है—  
सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार विमारद ॥  
सब कर मत खगनायक एहा । करिए राम पद पंकज नेहा ॥  
( मानस ७।१२१।६ )

अतः मम भगवन्स्मरण, नमन और शरणागतिपूर्वक  
सदाचारका पालन करना चाहिये ।

सदाचार स्वयं भी भगवान्—यह ( १०।१ ) के इशा-  
वास्यादि मन्त्र, 'धर्मस्त्वं वृग्रुपश्चृक् लोकानां त्वं परो  
धर्मः' ( वात्मा० ६।११७।११ ) तथा गतांके धर्मार्पणों  
( ८।२४ ) 'परमात्मा स्माधितः' ( गी० ६।७ )  
आदि वचनोंसे युद्ध सदाचार, संयम न्यर्थं भी गमना  
सिद्ध है। तभी 'मुपुनावयवस्यन्दसावर्म्येण चर्गन्ति दि'  
( योगवाचिष्ठ ५।४०।२० ) 'मुनि गुन गान स्माधि विमारी'  
( मानस ७।४१।४ ) आदिसे श्रेष्ठ आचारोंका समा-  
धिवत् ही महात्म्य है। योगवाचिष्ठमें जडसमाविकी अपेक्षा  
तत्त्वदर्शनपूर्वक जाप्रत् व्यवहार; लोकसंग्रहको वार-वार श्रेष्ठ  
बतलाया गया है ( मुमुक्षु व्यव ० १२।२२, उपशम उत्त० )।  
निजमहिमामें प्रतिष्ठित श्रीभगवान्‌का अवतार-धारणपूर्वक  
सदाचारका एवं अधर्मका संहरण भी यही सिद्ध करता है।

इस प्रकार श्रद्धा-विनय तथा सम्प्रदृष्टियुक्त सदाचार-  
पालनसे मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है । परं धर्मत्वा या  
सदाचारी बननेके भावके अहंकार तथा दम्भ, मोहादिसे अवश्य  
बचना चाहिये; क्योंकि इनसे ज्ञानियों एवं सदाचारियों-  
तकको भी पग-पगपर स्खलनका भय बना रहता है—

शानिनामपि चेतांसि देवी भगवती दि सा ।  
बलादाकृष्ण मोहाय महामाया प्रयच्छुति ॥  
( दुर्गास०, प्रवोधचन्द्रोदय०, अमृतोदय० आदि )

साथ ही कारयिकी शक्ति भी वही है । औपनिषद्  
समयमार्गियोंके—'सैषा प्रसन्ना वरदा चृणां भवति  
मुक्तये । सा विद्या परमा मुक्तेऽनुभूता सनातनी  
तथा 'धर्म्याणि'... चुकृती करोति, भवतीप्रसादात् ।'  
( दुर्गास० ४।१६ ) आदि कथनोंका भी यही रहस्य है।  
उस शक्ति या शक्तियुक्त ब्रह्मकी कृपाशक्ति और प्रसादसे  
ही सच्चे योगक्षेमका—निर्विघ्न सदाचारका पालन-कार्य  
चल सकता है और परम लक्ष्यकी प्राप्ति भी हो सकती  
है। इस वैदिकसूत्रोक्त शरणागतिद्वारा कभी गिरने-पड़ने  
या मार्गभ्रष्टाकी नौबत नहीं आती—'न पतेन्न  
स्खलेदिह ।' ( श्रीमद्भा० ११।२।३५ )

## श्रीरामस्नेहि-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

( लेखक—श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री, रामस्नेहि-सम्प्रदायाचार्य, लेड्डा )

सदाचार वह है, जो सत्पुरुषोद्धारा आचरित या सदूच्रब्रह्म से सम्बद्ध हो। 'रामस्नेहि-सम्प्रदाय' की सब प्रकारके सदाचारोंमें आस्था है। इसमें श्रीरामजीकी इष्टेपासना है, सत्त्वगुणमय श्रेष्ठ आचरण ( रहन-सहन ) है तथा पूर्ववर्ती महापुरुषोंके वर्णित ग्रन्थोंमें समस्त सद्गुणोंके द्वारा पालनीय सिद्धान्तोंका विवेचन है।

जिस सदाचारके सेवनद्वारा हम इस लोक व परलोकमें पूर्णतया सुखी बन सकते हैं, यह सम्प्रदाय उसीका एक प्रतिरूप ( प्रतिक्रिया ) है; क्योंकि इसका प्रादुर्भाव ही विश्ववन्धुत्वके साथ सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है। इसलिये इसके द्वारा जहाँ हमें नाम-साधनके द्वारा आत्मकल्याणका मार्ग उपलब्ध होता है, वहाँ सबको सब प्रकारके सुख देनेवाले पूर्ण सदाचारकी शिक्षा भी मिलती रहती है। इस सम्प्रदायके समस्त पूर्वाचार्य जिस सदाचारको अच्छा मानते थे, उन्होंने उसका स्पष्ट वर्णन अपने वाणीसाहित्यमें कर दिया है। रामस्नेहि-सम्प्रदायके अनुयायी बननेवाले भक्तजनोंको सर्वप्रथम दुर्व्यसनोंसे मुक्त होकर एक श्रीराम महाराजका इष्ट वारण करने और तत्त्वविचारशील होकर सत्य बोलने आदिकी शिक्षा ढी जाती है और तत्प्रथात् ढीक्षा।

'एष इक्षराम कंठि भल राखो, तत का तिलक असत मत भालो॥'

इस सम्प्रदायके पूर्ववर्ती आचार्येनि 'नियम-पञ्चदशी' आदि वाणी-ग्रन्थोंके द्वारा सदाचारके ग्रायः सभी मुख्य सिद्धान्तोंपर प्रकाश छालकर हमारा पथ प्रशस्त किया है, जो एक उत्तम सदाचारीके लिये परमावश्यक होते हैं। इस पञ्चदशी 'नियम' का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—( १ ) अपने इष्ट निर्गुण ब्रह्म ( श्रीराम महाराज ) की उपासना करना। ( २ )

वेदवाणी आदिमें पूर्ण आस्था रखते हुए अधिक-से-अधिक प्रचार करना। ( ३ ) शारीरिक सुख छोड़कर अधिक-से-अधिक भजन, राधन, सदूच्रन्थोंका स्वाध्याय पठ आदि करना। ( ४ ) महापुरुषों ( भक्तों )के प्रति श्रद्धा रखते हुए सत्सङ्ग-सेवा आदि करना। ( ५ ) सात्त्विक एवं हिंसारहित साधनोंसे जीवन-निर्वाह करना। ( ६ ) ईश्वरेच्छापर निर्भर रहकर ( संतोषपूर्वक ) उद्घम करते रहना। ( ७ ) नियमपूर्वक प्रभुप्रसाद-चरणामृत, दर्शनादि प्राप्त करना। ( ८ ) शील-शान्ति एवं सन्तोष रखते हुए सत्य-हित व मितभाषी बनना। ( ९ ) काम-क्रोधादिको छोड़कर पर-स्ती आदिको माता-वहन मानते हुए संयमित जीवन-यापन करना। ( १० ) कपड़ेसे छानकर जलका उपयोग करना। ( ११ ) दूसरोंके सुख-दुःखोंको अपना ही मानते हुए सबकी सेवा करना। ( १२ ) प्राणिमात्रको आत्म-स्वरूप देखते हुए किसीको कष्ट न पहुँचाना। ( १३ ) सत्त्वगुणका आश्रय रखते हुए सबके साथ समताका व्यवहार करना। ( १४ ) तमाकू, भौंग, मदिरा आदि समस्त दुर्व्यसनोंसे सदा दूर रहना। ( १५ ) संत-वाणीद्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलते रहना।

( रामस्नेहि-धर्मप्रकाश, प्रारम्भिक प्रकरण पृ० ७-८ )

'रामस्नेहि-धर्म' जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें सांसारिक वासनाओंसे हटाकर मानवको भगवदुन्मुख करता है। इस सदर्भमें खेड़ापा आचार्यचरण श्रीरामदासजी महाराजके अत्यन्त सरल, किंतु सारगर्भित शब्दोंमें सदाचारकी मुख्य-मुख्य शिक्षाओंका संक्षिप्त निर्दर्जन यहाँ पर्याप्त है—  
वाणी-संयम—

काहू तैने जीभढ़ी, राम विना कहै वेण।  
रामदास इक रामविन, कूण तुम्हारो वेण ॥

**सधुर घचन—**

मीठी छाणी पोलिचो, शासा सोय लियार ।  
चुग पावै साँई सिलै, औरा को उपगार ॥

**सहजशीलता—**

रामदास ऐसे हुयो, ज्यूं सारग पागाण ।  
ठोकर मारे सब दुनी, तोहिण न अन्तर काण ॥

**विनयशीलता—**

गान बड़ाई कूतरी, साहिवके दरवार ।  
खुबुता लाठी बहिरो, लेना खाचा पार ॥

**कुसङ्गका त्याग—**

उज्जल नीर बकाशका, पट्टा धरणीं धाय ।  
मैली सूँ मिल बीछड़ा, यूं कूसंगत धाय ॥

**कपटभावका त्याग—**

भावे केश सुंदाय ले, भावे केश नवार ।  
रामा साँई साच बिन, रीझे नहीं लियार ॥

**काथनी-करनीकी समावता—**

कथणी तो बहुती कथे, रहणी रंच न काय ।  
रामदास रहणी विनां, कैसे मिले खुदाय ॥

**निन्दा-निपेध—**

रामा नीच न निन्दिये, मव मूँ निग्गा होय ।  
किणीक औसर आयकर, हुख देवेना तोय ॥

‘रामस्नेही-धर्म’ सादसके साथ साधनवर निन्तर  
धागे बढ़नेके लिये उद्घोषित करता है ।

दुर्व्यस्तोमे ( जो कि आजकल ददाचारका नामो-  
निशान पिटानेके लिये गदामारीकी तरह फैल रहे हैं  
उनमें ) अतन्त दोष व पाप दिखाया है ।

यह धर्म दूर्ये दिग्गजटी सदाचार—अविनाशपूर्ण  
आचरणकी ओरसे द्वावत आनन्दित गदाचारमय  
सदाचारकी ओर प्रेरित करता है—

कुराघार शादार है, पहाड़ाया निरन्तर ।  
जातम धारा विचार विन, न रे न कुशला ध्वेन ॥  
( श्रीदृग्ददामजी )

इस धर्मजे पिटान्त प्राणीपात्रको भावद्वार मानने हृषि  
उनकी यथादक्षि निया-गुच्छ वरनेका नियम देते हृषि  
व्यक्तिको पूर्ण सदाचारकी ओर प्रेरित नहीं सर्वथ निर्भय  
दना देते हैं—

क्षारी कुं डर कालका, निहर न दीमे कोर ।  
हरिया जा कुं छर नहीं, राम गनेही रोय ॥  
( श्रीरिंगमदामजी म० )

इन प्रकार रामस्नेही-सम्प्रदायका प्रायः मध्यूर्ण  
साहित्य और सिद्धान्त मानवको नाना प्रकारके द्वाचारोंसे  
टटाकर सदाचारनी ओर ले जानिवाला पृथ-प्रदर्शक है ।

## सदाचार-साखी

✓ शील संतोष दया आभूपण, क्षमा भाव बहाऊँ हो ।  
खुरति निरति साँईमें गावूँ, आज दिशा नहीं जाऊँ हो ॥  
गर्व-गुमान पाँच से पेलूँ, आपों मान उड़ाऊँ हो ।  
साहिवकी सखियन सूँ कवह, राम-देप नहीं लाऊँ हो ॥  
पाँचूँ पकड़ पच्चीसूँ चूरूँ, चिगुण कूँ विसराऊँ हो ।  
चौथी दाव चेत कर खेलूँ, मौज मुक्ति की पाऊँ हो ॥  
इस विधि करके राम रिक्षाऊँ, प्रेम प्रीति उपजाऊँ हो ।  
अनंत जन्मको अन्तर भागी, रामचरण हरि भाऊँ हो ॥

—रामस्नेही-सम्प्रदायके संत स्वामी श्रीरामचरणजी महाराज

## हमारे राष्ट्रिय जीवनकी आधारशिला—सदाचार

( लेखक—प० श्रीभृगुनदनजी मिश्र )

मानव-सभ्यताका इतिहास इस वातका साक्षी है कि जब और जहाँ भी सदाचारके नियमोंकी अवहेलना हुई और निरङ्गुश स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ किया गया, तभी वहाँ सर्वप, विघटन एवं युद्ध हुए हैं। व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं सार्थपरायणताकी भावना मनुष्यकी बुद्धि एवं विवेकको कुण्ठित कर देती है, जिससे वह असदाचारी, भोगपरायण एवं दुराग्रही बनकर पतन तथा विनाशके मार्गपर अग्रसर हो जाता है और उसके दुराचरणसे समाजमें अनेक दोष एवं बुराइयाँ पनपने लगती हैं—भारतीय ऋषि-महर्षियोंने मानवमात्रके कल्याणके लिये सुन्दर समाज-रचनाके उद्देश्यसे सदाचारी जीवन अपनानेपर विशेष जोर दिया है और ‘आचारः प्रथमो धर्मः’का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार मनुष्यकी मानसिक एवं वौद्धिक योग्यताओंसे भी बढ़कर सदाचरणको विशेष महत्व दिया गया है।

अधिकतर पाश्चात्य दर्शनिकोंने केवल सद्विचारोंको ही व्यक्तित्वके विकासका मूल मान लिया है, जब कि भारतीय दर्शनिकोंने सद्विचारोंके साथ-साथ ‘सदाचरण’-को व्यक्तिके विकासका मूल माना है। केवल विचारों या शब्दोंमें उतनी शक्ति नहीं होती, जितनी सदाचारी व्यक्तिके व्यक्तित्वमें निहित होती है। व्रततुतः सदाचरणके धनी व्यक्तियोंके अनुपातसे ही समूची मानवताके लिये कल्याणकारी समाजका ठोस निर्माण सम्भव होता है। अतीतकालमें हुए महापुरुषों तथा व्रतमान युगके महापुरुष रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी गमतीर्थ, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महामना मालवीय, लोकमान्य तिलक आदिके जीवनचरित्रोंसे और उनकी ओजस्वी वाणीद्वारा जनसमाजमें जाप्रत् की गयी नवचेतनाका स्पष्ट दर्शन होता है। ये महान् विमुक्तियाँ संयम एवं सदाचारकी

प्रतीक थीं। साधारण समाजसुधारकों एवं जननेताओंकी मौखिक शब्दावली तो ग्रामोफोन या टेप-रिकार्डरके समान है, जिसका सुननेवालोंपर क्षणिक प्रभाव अवश्य होता है, जब कि संयमी एवं सदाचारी व्यक्तियोंका जीवन मानव-समाजको दिशा-निर्देशनमें युगोत्क प्रकाशस्तम्भकी भाँति पश्चप्रदर्शन करता रहता है। प्रचारकी अपेक्षा आचारका महत्व होता है।

सदाचरणका महत्व प्रत्येक धर्ममें विस्तारपूर्वक वतलाया गया है। उसका किसी अन्य धर्मके सिद्धान्तोंसे मतभेद नहीं है। सांसारिक सुखोपभोग, जिनके संसारसे मनुष्यकी शक्ति, सामर्थ्य तथा समयका दुरुपयोग होता है, उनका मर्यादित किया जाना समूचे मानव-समाजके लिये विश्वहितमें नितान्त आवश्यक है। मनुष्यकी जिन प्रवृत्तियोंसे समाजके बहुसंख्यक वर्गको आघात पहुँचता हो, विश्वमें तनाव एवं सर्वप्रति उत्पन्न होता हो, उनकी गणना तो असदाचार अथवा दुराचरणमें ही हो सकती है। आजके युगमें जब हम ससारमें बढ़ते हुए कलह, कलेश, अशान्ति एवं उच्छृङ्खलतापर दृष्टिपात करते हैं तो उसका मूल कारण मनुष्योंका असदाचारी जीवन-यापन ही दिखायी देता है। हर नगरमें नियप्रति घटित होनेवाली चोरी, डकौती, लूठमार, हत्या, बलात्कार आदि अनाचारसम्बन्धी घटनाएँ नियप्रति ही हमारे सुननेएवं देखनेमें आती रहती हैं, जिन्हे शासनके कानून एवं शक्तिके प्रयोगद्वारा भी रोका जाना सम्भव नहीं जान पड़ता है, किंतु इनका रोकना नितान्त आवश्यक है।

व्यक्ति या समाजके सुवारके लिये कानून या सत्ताका प्रयोग तो एक बाहरी अस्थायी प्रयत्नमात्र है। मनुष्योंके मन-स्थितिज्ञमें परिवर्तन हुए विना बाहरी प्रयोग पूर्णरूपेण सफल सिद्ध नहीं हो सकते।

संयमी एवं मदाचारी व्यक्तियोंका जीवन उम सुगन्धित पुष्टेयानके समान है, जिसकी प्रभावक सुगन्धमे निकटवर्ती जलसमृह प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। मदाचारीजीवनसे समाज एवं राष्ट्रका ही नहीं, अपिनु नारे विकास कन्याण-साधन होना है।

आज किसी भी विचारशील किं वा विवेकी पुस्तका हृदय इस बातको दंगकर दुःखित हुए विना नहीं रह सकता कि हमारे देशको राजनीतिक स्वतन्त्रताप्राप्तिके तीस वर्ष बाद भी उसके गण्डिय जीवनमें नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति होनेके बजाय अनैतिकता एवं चरित्रहीनताकी ही अविक्ष वृद्धि हुई है। कुछ भौतिक प्रगति तथा औद्योगिक उत्तिमात्राको ही गण्डकी सफलताओंका प्रतीक नहीं माना जा सकता; उसे अविक्ष-से-अविक्ष मिथ्या संतोष ही कहा जा सकता है। मनचाहा रहन-महन, उच्छृङ्खला, अनुशासनहीनता, परपीड़न (हिंसा), अपहरण, बलात्कारादि चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार, मुनाफालोरी आदि वुराइयोंने सारे समाज एवं राष्ट्रको अवःपतनकी जिस स्थितिमें पहुँचा दिया है, क्या इसीको हम अपनी प्रगति मान लें? और क्या शासनके कानूनोंके भयसे इन समस्त उपर्युक्त वुराइयोंपर कोई नियन्त्रण हो पाया है? यदि सत्ता एवं कानूनके प्रयोगसे स्थितिमें कोई मुश्वर अवतक नहीं हो सका तो हमारे राजनीताओं या मामाजिका आर्यकर्त्ताओंने इसका हल खोजेका अन्य कोन-सा प्रयत्र किया है?

हमारे विचारने अपने बड़ों तथा नवयुवकोंमे सदाचार एवं चरित्र-निर्माणकी शिक्षापर पूरा जोर दिये विना समाज एवं राष्ट्रके जीवनमें उपर्युक्त राष्ट्रवासी वुराइयोंका दूर होना सम्भव नहीं जान पड़ता। अनः शामकीय, अहंतास्कीय तथा निजी विद्यालयोंमें सर्वप्रथम सदाचार तथा चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी शिक्षा प्रकल्प करना आवश्यक एवं अनिवार्य कर दिय जाय। साथ ही नवयुवकों, अमिकों तथा बुनिजीवी

बगंकि संगठन एवं संस्थाओंमे उच्चकोटिके प्रशिक्षित चरित्रवान् मामाजिका आर्यकर्त्ताओंको—चाहे वे गृहस्थ हों या बानप्रस्थ, साधु हों या संत—उनको भी सदाचार एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी विषयोपर प्रतिदिन या सप्ताहमें कम-से-कम दो बार प्रेरणा एवं उद्घोषन देनेकी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे संयमी, सदाचारी एवं चरित्रवान् पीढ़ीका निर्माण सम्भव हो सके।

हमारे देशके अतीत भाल्के इतिहासमे महाराज हरिथन्द, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, धर्मराज युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमपितामह आदिके जीवन-चरित्रोंमें सदाचारण एवं संयमके बलसे अहुत शार्य एवं पराक्रम दिखाने तथा अनेक भयंकर परिस्थितियोपर विजय प्राप्त करनेकी अहुत गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। परम शूरवीर एवं दृष्टप्रतिक्ष महाराणा प्रताप, ल्यागमूर्ति भामाशाह, अन्याय एवं अन्याचारके प्रबल विरोधी महाराज शिवाजी—(जिन्होंने साम्राज्य, पड़, धन, रूप, सौन्दर्य-तकके बड़े-बड़े प्रलोभनोंको ठुकराकर अपनी सच्चित्रिता, ल्याग एवं देशमक्तिका परिचय दिया उन)की सदाचारसे ओतप्रोत गाथाएँ हमारे लिये कितनी प्रेरणाप्रद हो सकती हैं, इस बातको हमारे राष्ट्रनायक तथा समाज-सुवारक अच्छी तरह जानने हैं। किंतु जनसाधारणजो उपदेश देनेमें पूर्व उन्हे स्वयंको पूर्ण सदाचारी तथा चरित्रवान् बना होगा; क्योंकि उनके आदर्शोंका ही जननामान्य अनुशीलन तथा अनुगमन करने हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामे बहुत ही स्पष्ट धोपणा कर दी गयी है—

यद्यदाचरनि श्रेष्ठस्तन्देवेतरो जनः ।  
स यत् प्रमाणं कुरुते लेकस्तद्भुवर्तत ॥  
यदि व्यहं न चर्तव्यं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।  
मम दर्माद्भुवर्तन्ते मसुद्याः पार्थं सर्वरः ॥

( ३ । २१, २३ )

मदाचारजा अर्थ है—मन, वाणी तथा कर्मसे सल्लके अनुकूल धाचरण करना।

वरतुतः सदाचरणसे मानव-जीवनका जो सर्वतोमुखी विकास होता है, उसमे एक-न्द्रो नहीं, अनन्त गुणोंकी प्रतिभा प्रकट होती है और जिसका चमत्कारी प्रभाव सर्वसाधारण लोगोंके जीवनको प्रभावित करता है। भारतीय जीवन-दर्शनकी यह विशेषता है कि मनुष्यका प्रत्यक्ष सदाचरण ही जनमानसके मन-

मस्तिष्कको स्वेच्छापूर्वक बढ़ा देनेकी सामर्थ्य रखता है। सदाचारी व्यक्ति अपनी ओज़्जिनी विचारधारासे जन-जीवनमें जिन उत्साह-शक्ति, सामर्थ्य, त्याग एवं कर्तव्यपरायणताओं भावनाओंको जाग्रत् कर देना है, वे समाज एवं राष्ट्रके जीवनको महान् पवित्र एवं उच्चतरस्तरपर पहुँचा देती हैं।

## सदाचारका अनिवार्य पक्ष—‘अनुशासन’

( लेखक—प्रो० श्रीदेवेन्द्रजी व्यास, एम० ए०, हिंदी, संस्कृत )

अनुशासनवादी ( स्थूल ) एवं आन्तर ( सूक्ष्म ) के भेदसे दो प्रकारका है। आत्मसकेतित सूक्ष्म अनुशासनको आन्तर या आत्मानुशासनकी संज्ञा दी जाती है और पर-प्रेरित अथवा वाह्य नियन्त्रणको वाद्य-अनुशासनकी। जो पूर्ण एवं श्रेष्ठ है, वही सत् परमात्मा है। हमने सत्‌को स्वीकार किया है। सत् ही सत्य है, ज्ञान है, प्रकाश है, प्रभा है और असत् असत्य है, अन्धकार है। इसीलिये उपनिषदोंमें कहा गया है—

असतो मा सद्गमय, तस्मै मा ज्योतिर्गमय ॥

इस रात् सत्य, श्रेष्ठ तथा फिर पूर्णकी प्राप्तिके लिये जो आचरण किया जाय, वह सदाचार है और पूर्ण सत्यकी प्राप्ति, जिना अनुशासनके सम्भव नहीं।

अनुशासनका जीवनमें वही महत्व है, जो समाजमें विधि-नियंत्रण कानूनवाद। वेद भी विधि-नियंत्रणमय होते हैं। वैदिक साहित्य करणीय-अकरणीय कार्योंका संकेत देता है। विधि-नियंत्रणमय होनेके कारण अनुशासन भी सादर पालनीय है। जिसने अनुशासनको पूर्णतः जान लिया, पालन किया वह सदाचारी हो गया।

योगके नियम आन्तर अनुशासनके अन्तर्गत आते हैं और समाजके नियम वाह्य अनुशासनके अन्तर्गत।

क्रोध द्विलानेपर भी चुप रहनेमें शुद्धिमानी और महत्व है। शक्तिकी परीक्षा तो जीभके रोकनेमें है तथा इससे भी बढ़कर महत्व मलके धेगको रोकनेमें है।

‘भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्चिदस्तपो दीक्षासुपनिषेदुर्ग्रो नतो राष्ट्रं वलमोजश्च जानम्’ ( अथवेद १९ । ४१ । १ ) इस अर्थवेदोक्त राजानुशासनका सम्बन्ध भी सामाजिक सदाचारसे है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होनेके कारण समाजके अस्तित्वके प्रति भी पूर्ण उत्तरदायी है। समाजसे ही उसकी सत्ता है और उससे समाज सत्तात्मक है। इसीलिये उपर्युक्त वेदमन्त्रमें कहा गया कि दीक्षा, तप एवं अनुशासनसे ही राष्ट्रमें वल, ओज एवं समुद्दिकी परिव्याप्ति हुई। तैत्तिरीयारण्यकके अनुशासनमें आत्म-सम्बन्धी सदाचार भी है और समाजके प्रति सदाचारणीय कर्मोंकी चर्चा भी है। अपने परिवेशमें किस प्रकारका व्यवहार हो, वह भी वहाँ बताया गया है। इस अनुशासनमें केवल शिष्यके ही दायित्वकी बात हो, ऐसा नहीं, अपितु आचार्य खयके कर्मोंकी भी चर्चा करते हैं। जो हमारे सुचरित है वे ही तुम्हे करने चाहिये अन्य नहीं। वैदिक आचार्योंका यह आदेश-उपदेश-अनुशासन आज भी उतना उपयोगी है, जितना उस समयमें था। समाजके प्रति यह ‘सुचरित’ सदाचार-पर निर्भर है और सदाचार अनुशासनपर आवारित है, अतः यह वैदिक अनुशासन ही सदाचारका मेस्टदण्ड है।

—जग्ग एलन

## सदाचारसेवी कुछ आदर्श शासक तथा राजपुरुष ( १ )

आत्मज्ञानी महाराज अश्वपति

एक बार अनेक ऋषि तथा ऋषिपुत्र एकत्र हुए। उनमे आत्मा तथा व्रहके सम्बन्धमें विचार होने लगा, किंतु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाये। इसलिये वे परामर्शकर महर्पि उदालकके पास पहुँचे। लेकिन उन्होंने कहा कि—‘इस वैश्वानर आत्माका ठीक-ठीक वोध तो महाराज अश्वपतिको ही है। हम सब उनके समीप चले। वे हमारा समाधान कर देंगे।’

बहुत-से ऋषि एवं ऋषिपुत्रोंको एक साथ आये हुए देखकर महाराज अश्वपतिको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सबका अभिवादन किया और यथायोग्य आसनोंपर बैठाया। महाराजने उनके यथाविधि चरण धोये। चन्दन, माला, पुण्य आदिसे उनका पूजन किया। इसके पश्चात् उनके भोजनके लिये नाना प्रकारके खादिष्ट सात्त्विक पदार्थ स्वर्णथालोंमें परोसे तथा दक्षिणाके रूपमें स्वर्णराशि भी निवेदित की। भारतीय संस्कृतमें अतिथि-सत्कार आदर्श समुदाचार है। लेकिन उन अन्यागतोंने न तो भोजनका स्पर्श किया और न धन लेना ही स्वीकार किया। वे वैश्वानर विद्याके भूखे थे, लौकिक-मधुर अन्न और स्वर्ण-राशिकी दक्षिणाके नहीं।

ज्ञानी अश्वपतिको ऋषियोंके इस व्यवहारसे तनिक आश्र्य न हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—‘मैं जानता हूँ कि शास्त्रोंमें राजाका अन्न अपवित्र बतलाया गया है, और वह इसलिये है कि राजा चोर, डाकू, अनाचारी आदिपर अर्थात् लगाता है। पापियोंतकका कुत्सित धन-संप्रहर कर खजाना भरता है। प्रजाके पापमें भी राजाको भाग मिलता है। लेकिन वास्तवमें सच्ची बात तो यह है

कि, ‘मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है और न कोई मध्यप ही, कोई अनाचारी पुरुष तो है ही नहीं; फिर अनाचारिणी की कहाँसे आयेगी? ऐसी अवस्थामें आप सब मेरे यहाँ भोजन क्यों नहीं करते? मेरा अन्न नया धन तो निर्दोष है।’

उन ऋषियोंने कहा—‘राजन्! मनुष्य जहाँ जिस प्रयोजनसे जाता है, उसका वह प्रयोजन पूर्ण हो, यही उसका सत्कार है। हम सब आपके पास धनके लिये नहीं आये हैं, अपितु वैश्वानर-आत्माका ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। आप उसीकी पूर्ति कीजिये।’

‘आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें, कल आपलोंगोंकी बातपर विचार करहँगा।’ महाराज अश्वपतिने उस दिन हँसवार बात टाल दी। ब्रह्मर्पियोंको कुछ विचित्र-सा लगा।

‘राजाने हमारे प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं दिया? उन्होंने कल भी उत्तर देनेका निश्चित आश्वासन नहीं दिया है।’ भोजन करके अग्निशालमें बैठे वे अतिथि परस्पर विचार करने लगे। हम सब अविधिपूर्वक प्रश्न करेगे तो उत्तर कैसे मिलेगा? महर्षि उदालकने बतलाया—‘हम जिज्ञासु होकर आये और उच्चासनोंपर बैठकर पूजन स्वीकार करने लगे। ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकार नहीं होती। विद्या भी जलके समान अधःप्रवाहिनी है। जो नीचे बैठेगा, विनष्ट होगा, ज्ञान उसकी ओर जायगा। हमने इस शिष्याचारका पालन नहीं किया है।’

दूसरे दिन उन लोगोंने हाथमें समिधा ली और विनम्र भावसे महाराजके समीप गये। तब महाराज अश्वपतिने उन्हे आत्मज्ञानका उपदेश किया। वे कृतकृत्य हो गये।

( २ )

### सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र

सत्य मूल सब खुशत चुहाप्त । वेद पुरान प्रगट मनु गाए ॥  
महर्षि विश्वामित्रजीकी कृपासे सशरीर स्वर्ग जानेवाले  
और वहाँसे देवताओंद्वारा गिराये जानेपर वीचमें ही  
अवतक स्थित रहनेवाले महाराज त्रिशङ्कुका उपाख्यान  
विख्यात ही है । राजर्षि हरिश्चन्द्र (पाणि० ६।१।५३)  
इन्हींके पुत्र थे । ये प्रसिद्ध दानी, भगवद्वक्त तथा धर्मात्मा  
थे । इनके राज्यमें कभी अकाल नहीं पड़ता था, भूमारी नहीं फैलती थी और दूसरे कोई दैविक या  
भौतिक उत्पात भी नहीं होते थे । प्रजा सुखी,  
प्रसन्न और धर्मपरायण थी । महाराज हरिश्चन्द्रकी  
सत्यनिष्ठा तीनों लोकोंमें विख्यात थी । देवर्षि नारदसे  
महाराजकी प्रशंसा मुनकर देवराज इन्द्रको भी ईर्ष्या  
हुई और उन्होंने परीक्षा लेनेका निश्चय करके  
इसके लिये विश्वामित्रजीको तैयार किया ।

विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे स्वप्नमें ही  
राजासे सम्पूर्ण राज्य दानमें ले लिया और दूसरे दिन  
अयोध्या जाकर उनसे राज्यको मौंग लिया । सत्यवादी  
राजाने स्वप्नके दानको भी सत्य ही माना और पूरा राज्य  
तथा कोश मुनिको सौंप दिया । हरिश्चन्द्रने काशी  
जाकर रहनेका निश्चय किया । इसके बाद ऋषि  
विश्वामित्रने कहा—‘इतने बडे दानकी साझताके  
लिये दक्षिणा दीजिये ।’

अब राजा हरिश्चन्द्र, जो कल्पक पृथ्वीके  
एकच्छव समाट थे, कंगाल हो गये थे । अपने पुत्र  
रोहिताश्व तथा पत्नी शैव्याके साथ वे काशी आये ।  
दक्षिणा देनेका दूसरा कोई उपाय न ढेखकर पत्नीको  
उन्होंने एक ब्राह्मणके हाथ , , , के लिये  
वेच दिया । (बालक रोहित  
विश्वामित्रजी जितनी दि वह

इतनेसे पूरी नहीं हुई । राजाने अपनेको भी  
भृत्य-वृत्तिपर बेचना चाहा । उन्हें काशीके एक  
चाण्डालने श्मशानपर पहरा देनेके लिये और मृतक-कर  
बसूल करनेके लिये खरीद लिया । इस प्रकार हरिश्चन्द्रने  
ऋषिको दक्षिणा देनेका अपना व्रत निभाया । उन्होंने  
अपने और अपने परिवारको बेचकर भी साझता चुकायी ।

सोना अग्निमें पड़कर जल नहीं जाता, वह और  
दीसिमान् हो जाता है । इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष  
भी संकटोंमें पड़कर और चमक उठते हैं अतः धर्मसे  
पीछे नहीं हटते । उनकी धर्मनिष्ठा विपत्तिकी अग्निमें  
भस्म होनेके बढ़ले और उज्ज्वलनम हो जाती है,  
हरिश्चन्द्र चाण्डालके सेवक हो गये । एक चक्रवर्ती  
समाट श्मशानमें रात्रिके समय पहरा देनेके कामपर  
लगानेको विवश हुए । परंतु हरिश्चन्द्रका वैर्य अडिग  
रहा । उन्होंने इसे भी भगवान्का अनुग्रह ही  
ममज्ञा; क्योंकि सत्यका सदाचार उनका शम्बुल था ।

महारानी शैव्या आज पतिदेवके धर्मका निर्वाह  
करनेके लिये ब्राह्मणके यहाँ वात्री हो गयी । नन्हा-सा  
सुकुमार बालक ब्राह्मणके यहाँ आज्ञाका पालन करता,  
डॉटा जाता और चुपचाप रो लेना ! एक दिन संध्या-  
समय कुछ अन्धकार होनेपर रोहिताश्व ब्राह्मणकी पूजाके  
लिये फूल तोड़ने गया था, वहाँ उसे सर्पने काट लिया ।  
बालक गिर पड़ा और प्राणहीन हो गया ! महारानी  
होकर भी ‘वैवारी’ शैव्या लाचारीमें पड़ी थी । उसका  
एकमात्र पुत्र उसके सामने मरा पड़ा था, न तो कोई  
उसे दो शब्द कहकर धीरज दिलानेवाला था और न  
कोई उसके पुत्रके शवको श्मशान ले जानेवाला ही था ।  
रात्रिमें अकेली, रोती-विलखती वह अपने हाथोंपर  
पुत्रके शवको लेकर उसकी — न — लिये — ॥

गयी। श्रमशानके खासी चाण्डालने हरिदिवन्दको आग दे रखवी थी कि बिना कर दिये बोर्ड भी लाश जलने न पाये। शैव्याका रोना मुनकर हरिदिवन्द वहाँ आ पहुँचे और कर माँगने लो। हाय ! हाय !! अयोध्याके चक्रवर्तीकी महारानीके पास आज था ही क्या, जो बढ़ करमें दे। आज अयोध्याके असत्रय युवराजकी लाश उसकी माताके सामने पड़ी थी। गता कर दिये बिना उसे जला नहीं सकती थी। शैव्याके सूरनकान्दनसे हरिश्चन्दने उसे पहचान लिया। कितनी करुणामय दिल्लि हो गयी—अनुमान किया जा सकता है। पिताके सामने उसके एकमात्र पुत्रका शव लिये पनी बिल्लु रही थी और भूत्य पिताको उस कंगालिनीसे भी कर बगूल करना ही था। परंतु हरिदिवन्दका धर्म अविचल था। उन्होंने कहा—‘भद्रे ! जिस धर्मके लिये मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा और रोहितको छोड़ा, जिस धर्मके लिये मैं यहाँ चाँडालका गेवक बना, तुम दासी बनी, उस धर्मको मैं नहीं छोड़ूँगा। तुम मुझे धर्मपति डटे रहनेमें सहायता दो। पत्नीका यही धर्म है। आर्य लक्ष्मीओंका यही सदाचार है।’

शैव्या पतित्रिता थी। पतिकी धर्मशाके लिये जिस महारानीने गच्छ छोड़कर दासी बननानक स्त्रीकार किया था, वे पतिके धर्मका आदर न करें—यह कैसे सम्भव था ! परंतु आज माताके सामने उसके पुत्रका निर्जीव जरीर था माता शोक-विहृत थी। फिर भी उसे दाह तो करना ही था। पतिका भूत्यर्वम कर माँग रहा था और देनेको कुछ नहीं था। कैसे क्या हो ? विकट समस्या थी इस शोकमयी परिस्थितिमें। अन्तमें उस देवीने कहा—‘धर्मश्रेष्ठ नाथ ! मेरे पास तो दूर्माण भी नहीं हैं। यही एक मैंठी माड़ी है, जिसे मैं पहने हूँ, इसके अच्छलसे ढककर बेटेके शवको मैं ले आयी हूँ। आपके पुत्रके शवपर कफनतक नहीं है। आप मेरी इसी साड़ीको ही आवा फाड़कर ले लें

‘करा’ के गत्रमें। सामका सम्बन्धमें अनिष्ट रहे हैं अन्त्येष्टिन्द्रस्ता भी हो जाय ।’

हरिदिवन्दने सातीया आग भाग लेता स्त्रीकार कर लिया। ऐसे ही ईश्वरने गाड़ी मारना चाहा, स्वयं भगवान विष्णु प्रकट हो गये ! सब धौर धर्म समवानके स्वराप हैं। एही स्वयं लक्ष्मा द्वारा है, वही स्वयं विष्णु गृहज्ञ है। देवताओंमें साथ नहीं आ गई। धर्ममें प्रकट होकर दृष्टि कि मैं स्वयं चाँडाल बना रहा। इन्हें असूक्ष्म अरके कुपार रोकतास्त्रमें जीवित कर दिया ! धर्घ्य सदाचारी किसी नहीं हुई !

भगवानने हरिदिवन्ददो भन्दिका नामान दिया। इन्हें उनमें पनीके साथ मशारी स्वर्ग चलनेकी प्रार्थना की। हरिदिवन्दने कहा—‘मेरी प्रजा मेरे विदेशमें इन्हें दृष्टि नहीं। मैं अपने प्रजाजन्मोंको छोड़कर स्वर्ग नहीं जाऊँगा।’ यह या उन युगमा प्रत्याक्षम्य ।

इन्हें कहा—‘राजन ! आपके इन्हें पुण्य है कि आप अनन्त कालक धर्ममें रहे। तर तो भगवानका विवाह है। प्रत्यक्ष लोगोंके कर्म मिळ-मिल है। मत्र एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं ? कर्मवाद कर्मोंके कर्त्ताओंको अलग-अलग फल देनेका विवाह करता है। यह अव्याहत मिहान है ।’

राजा हरिश्चन्दने कहा—‘मैं अपना समस्त पुण्य अपने प्रजाजनोंको देना हूँ। मैं स्वयं स्वर्ग जाना नहीं चाहता। आप उन्हीं लोगोंको स्वर्ग ले जायें। मेरी प्रजाके लोग स्वर्गमें रहें। मैं उन सबके पाप भोगने अकेले नक जाऊँगा।’ महाराजकी यह उदारता, ऐसी प्रजावृत्सन्नता देखकर देवता संतुष्ट हो गये। महाराजके प्रभावसे समस्त अयोध्यावासी अपने स्त्री-पुत्रादिके साथ सद्वेष स्वर्ग चले गये। हरिदिवन्दका सन्याचरण आदर्श वर्ष्य सदाचरण बन गया और हरिश्चन्द्र ‘सन्य हरिश्चन्द्र’ बन गये। उनकी अलौकिक कथा सदा-के लिये आदर्श सन्य-सदाचारी दिव्य गाथा बन गयी।

( ३ )

### गो-सेवा-व्रती महाराज दिलीप

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।  
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

इक्ष्वाकुवंशमे महाराज दिलीप वडे ही प्रसिद्ध राजा हो गये हैं । वे वडे भक्त, सदाचार-परायण धर्मात्मा एवं प्रजापालक थे । महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किंतु उन्हे कोई संतान न थी । एक बार ये इसके लिये अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर गये और अपने आनेका कारण बताकर उनसे विनय-पूर्वक सन्तान-प्राप्तिका उपाय पूछा ।

महर्षि वसिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—‘राजन् ! आप एक बार देवासुर-संग्राममे गये थे । आप वहाँसे लौटकर जब आ रहे थे, तब रास्तेमे आपको कामधेनु गौ मिली । आपके सामने पड़नेपर भी आपकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उसे प्रणाम नहीं किया—प्रणम्यको प्रणाम न करना यह आपका समुदाचारोल्लङ्घन था । कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको संतानहीनताका शाप दे दिया । मर्यादाभद्रका यही प्रतिविधान होता है । उस समय आकाशगङ्गा वडे जोरोसे शब्द कर रही थी, इससे आपने उस शापको सुना नहीं । अब इसका एक ही उपाय है कि किसी भी प्रकार उस गौको आप प्रसन्न कीजिये । वह गौ इस समय यहाँ नहीं है, पर उसकी वछिया मेरे पास है, आप सदाचार-परायण-व्रती होकर उसकी सेवा करे । भगवान् ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ।’ गो-न्राहणकी सेवा सर्वथा अमोघ (सफल) होती है ।

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामे लग गये । वे प्रातः वडे ही सवेरे उठते, उठकर गौकी वछियाको दूध पिलाते, ऋषिके हवनके लिये दूध दुहते और फिर गौको लेकर जंगलमे

चले जाते । गौ जिधर भी जाती, उसके पीछे-पीछे चलते । वह बैठ जाती तो स्थान मी बैठकर उसके शरीरको सहलाते । हरी-हरी दूध उखाड़कर उसे खिलाते, जिधर ही वह चलती, उधर ही चलते । सारांश कि महाराज छायाकी तरह गौके साथ-साथ रहते । इस प्रकार महाराजके इक्कीस दिन व्यतीत हो गये ।

एक दिन वे गौके पीछे-पीछे जंगलमे जा रहे थे । गौ एक बहुत वडे गहन वनमे प्रविष्ट हो गयी । महाराज भी पीछे-पीछे धनुपसे लताओको हटाते हुए आगे चले । एक वृक्षके नीचे जाकर उन्होने देखा कि गौ नीचे है, उसके ऊपर एक सिंह चढ़ बैठा है और उसका वध करना चाहता है । महाराजने तरकसरो वाण निकालकर उस सिंहको मारना चाहा, किंतु उनका हाथ जहाँ-कात-तहाँ जड़वत् रह गया । यह क्या ? अब वे क्या करने ! उन्होने अव्यन्त दीनतासे कहा—‘आप कोई सामान्य सिंह नहीं है, आप देवता हैं । इस गौको छोड़ दीजिये, इराके बदलेमे आप मुझे जो भी आज्ञा दे, मै करनेको तैयार हूँ ।’ सिंहने मनुष्यवाणीमे कहा—‘यह वृक्ष भगवती पार्वतीको अव्यन्त प्रिय है, मुझ कुम्भोदरको शिवजीने स्थायं अपनी इच्छासे उत्पन्न करके इसकी रक्षामे नियुक्त किया है । यहाँ जो भी आता है, वही मेरा आहार है । यह गौ यहाँ आयी है, इसे ही खाकर मै उदर-पूर्ति करूँगा । अब इस विषयमे आप कुछ भी नहीं कर सकते ।’ विकट समस्या उपस्थित थी । महाराज दिलीप विवश थे ।

महाराज दिलीपने कहा—‘वनराज ! यह गौ मेरे गुरुदेवकी है, मै इसके बदले आपको सब कुछ देनेको तैयार हूँ, आप भले मुझे खा ले, पर इसे छोड़ दे ।’

सिंहने बहुत समझाया कि ‘आप महाराज हैं, प्रजाके प्राण हैं, गुरुको ऐसी लाखो गौएँ देकर संतुष्ट कर सकते

हैं। आप इस सुसाध्य उपायके रहते इतना बड़ों त्याग क्यों करते हैं? किंतु महाराज अपने निश्चयको दुहराते रहे। अन्तमें वह सिंह उनके मांस खानेको तैयार हो गया। महाराज जमीनपर पढ़ गये। पर वे देखते क्या हैं कि न तो वहाँ सिंह है, न वृक्ष, मात्र कामवेनु ही वहाँ खड़ी है। उसने कहा—‘राजन्! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। यह सब मेरी ही माया थी, आप मेरा दूध अभी दुहकर पी ले, आपके पुत्र होगा।’ महाराजने कहा—‘देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किंतु जबतक आपका बछड़ा न पी लेगा, गुरुके यज्ञार्थ दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजीकी आज्ञा न होगी, तबतक मैं दूध कैसे पीऊँगा?’

इसपर गौ बहुत संतुष्ट हुई। गौ संध्याको महाराजके आगे-आगे भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँची।

( ४ )

### सर्वस्वदानी महाराज रघु

सूर्यवंशमे जैसे इक्षवाकु, हरिश्चन्द्र आदि वहुत प्रसिद्ध राजा हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी वडे प्रसिद्ध, पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्होंके नामसे ‘रघुवंश’ प्रसिद्ध हुआ। इनके जन्मकी कथा यहाँ ऊपर आचुकी है। इन्होंके नामके आधारपर मर्यादा-गुरुपोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंश-विमूषण, रघुनाथ आदि नाम प्रचलित हुए। ये वडे वीर, दानी और धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिविजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छ्र सम्राट् हुए। ये अपनी प्रजाओंको विलुप्त कष्ट-रहित-सुखी देखना चाहते थे। ‘राज्यकर’ भी ये, वहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे। उनसे किसी प्रकारका कर बमूल नहीं करते थे। इनका शासन आदर्श था और चरित्र सदाचारपूर्ण।

सर्वज्ञ ऋषि तो पहले ही सब जान गये थे। महाराजने जाकर जब यह सब वृत्तान्त कहा, तब वे प्रसन्न होकर बोले—‘राजन्! आपका मनोरथ पूरा हुआ। गौकी कृपासे आपके बड़ा पराक्रमी पुत्र होगा। आपका वंश उसके नामसे चलेगा।’ रघुवंशका ‘अथ’ नन्दिनीके आशीर्वादसे प्रतिफलित हो गया। भारतीय सदाचार-पद्धतिमें गो-सेवा ही सदासे माझ्यप्रद है।

नियत समयपर ऋषिने नन्दिनीका दूध राजा और रानीको दिया। महाराज अपनी राजधानीमें आये और रानी प्रजावती हुई। यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही वालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विद्यात हुआ। ये महाराज दिलीप श्रीरामचन्द्रजीके वृद्धप्रपितमह थे। आदर्श सदाचारी रघुकुलका सदाचार विश्व-विश्रुत रहा है। गो-ब्राह्मणकी पूजा इस वंशकी विशेषता थी।

एक बार ये राजसभामें बैठे थे। इनके पास महर्षि वरतन्तुके शिष्य कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको आये देखकर महाराजने उनका विवित् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्धसे उनकी पूजा की। भला ऐसे आदर्श शासक शिष्टाचार-का उल्लङ्घन कैसे कर सकते थे। ऋषिकुमारने भी उनकी पूजा विवित् ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—‘व्रक्षन्! आप कैसे पवारे और विना कुछ अपना अभिप्राय बताये लौटे क्यों जा रहे हैं? मैं यद्यपि आपके आगमनसे कृतकृत्य हूँ, पर सेवाके बिना संतोष नहीं हो रहा है, अतः अपने शुभागमनका प्रयोजन कहे।’

ऋषिकुमारने कहा—‘राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक

प्रयोजनसे आपके पास आया था, किंतु मैंने सुना है कि आपने विश्वजित् यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्ध देनेके लिये भी धातुका कोई पात्र नहीं बचा है। आपने मुझे मिट्टीके पात्रमें अर्ध दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता। आपका कल्याण हो; मैं जाता हूँ।'

राजने कहा—‘नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये। मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।’ कौतने कहा—‘राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर साझोपान्न चौदह विद्याओंका अध्ययन किया है। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—‘हम तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।’ गुरुजीके यो कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने जल्लाकर कहा—‘अच्छा तो चौदह कोटि सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।’ मैं इसीलिये आपके पास आया था।’

महाराजने कहा—‘ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें विजय-सामर्थ्य रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख चला जाय यह मेरे लिये परिवादका नया विषय होगा। आप तबतक मेरी अग्निशालमें चतुर्थ अग्निके रूपमें निवास कीजिये, जबतक कि मैं कुवेर-लोकपर चढाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको देनेकी व्यवस्था कर रहा हूँ।’

महाराजने सारथीको रथ सुसज्जित करनेकी आज्ञा दी और निश्चय किया कि प्रातः प्रस्थान करूँगा। किंतु प्रातः

होते ही कोपाध्यक्षने आकर साश्र्वद महाराजसे निवेदन किया कि ‘महाराज ! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोप सुवर्ण-मुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि कोश स्वर्ण-मुद्राओंसे भरा हुआ है। वहाँ जितनी स्वर्ण-मुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं। उन्होंने राजासे कहा—‘महाराज ! मुझे तो केवल चौदह कोटि ही चाहिये। इतनी मुद्राओंको लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल गुरुजीके लिये दक्षिणामात्र द्रव्य चाहिये।’ महाराजने कहा—‘ब्रह्मन् ! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अविकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?’

भारतीय सदाचारकी यह अनूठी घटना है कि दाता याचककी वाञ्छासे अधिक देना चाहता था और याचक आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता था। आज भी वे दोनों अभिवन्ध हैं।

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको दे दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे और याचक वह, जो आवश्यकतासे अधिक न ले। अयोध्यायासियोंने दोनोंकी प्रशंसा की।

( ५ )

### ग्रेमप्रवण विदेहराज जनक

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्तमे ।  
कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥  
( श्रीमद्भा० १ । ७ । १० )

‘जिनकी माया-ग्रन्थियों टूट गयी हैं, ऐसे आत्माराम, आसकाम, जीवन्मुक्त मुनिगण भी भगवान् श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि उनमें ऐसे ही दिव्य गुण हैं।’

महाराज निमिका शरीर मन्थन करके ऋषियोंने जिस कुमारको प्रकट किया, वह 'जनक' कहा गया। माताके देहसे न उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उनकी मैथिल संज्ञा भी हुई। इस वंशमें आगे चलकर जो भी नरेश हुए, वे सभी जनक और विदेह कहलाये। इनमें १४ जनक तो विशेष प्रसिद्ध हुए ( द्रग्न्य महाभारतनामानुकमणिका कोश, गीताप्रस )। महर्षि याज्ञवल्क्यकी कृपासे ये सभी राजा योगी और आत्मज्ञानी हुए। इसी वंशमें उत्पन्न सीताजीके पिता महाराज 'सीरध्वज' जनकको कौन नहीं जानता? आप सर्वगुणसम्पन्न और सर्वसद्बावाधार, परम तत्त्वज्ञ, कर्मज्ञ, असाधारण ज्ञानी, धर्मधुरधर और नीतिनिष्ठुण महान् पण्डित थे। आपकी विमल कीर्ति विविध भाँतिसे गयी गयी है, परंतु आपके यथार्थ महत्त्वका पता बहुत थोड़े लोगोंको लग सका है। तुलसीदासजी इन्हे प्रणाम करते हुए कहते हैं कि मैं योगको राज्यभोगमें गुप्तकर रखनेवाले महाराज जनक तथा उनके सम्पूर्ण परिवारकी वन्दना करता हूँ।

प्रनवडं परिजन सहित विदेहू । जाहि राम पद गूढ सनेहू ॥  
जोग भोग महै राखेड गोहै । राम विलोकत प्रगटेऽ सोहै ॥

( मानस १ । १७ । १-२ )

पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दधनके अवतार महाराज श्री-राघवेन्द्रके साथ श्रीजनकजीका जो अत्यन्त 'गूढ सनेह' और 'नित्य योग' ( प्रेमका अभेद सम्बन्ध ) है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

प्रायः लोग महाराज जनकको एक महान् ऐर्ष्य-सम्पन्न राजा, नीतिकुशल प्रजारञ्जक नरपति समझते हैं। कुछ लोग इन्हे ज्ञानियोंके आचार्य भी मानते हैं, परंतु आपके अन्तस्तलके 'निगूढ प्रेम'का परिचय बहुत कम लोगोंको है। सीताके स्वयंवरकी तैयारी है, देश-विदेशके राजा-महाराजाओंको निमन्त्रण दिया गया है। पराक्रमकी परीक्षा देकर सीताको प्राप्त करनेकी

लालसासे बड़े-बड़े रूप-गुण और वल-बीर्यसे सम्पन्न राजा-महाराजा मिथिलामें पथार रहे हैं।

इसी अवसरपर गान्धिके पुत्र मुनि विश्वामित्रजी अपने तथा अन्यान्य ऋषियोंके यज्ञोंकी रक्षाके लिये अववेश महाराज दशरथजीसे उनके प्राणाविक प्रिय पुत्रद्वय श्रीराम-लक्ष्मणको माँगकर आश्रममें लाये थे, यह कथा प्रसिद्ध है। श्रीविश्वामित्र मुनि भी महाराज जनकका निमन्त्रण पाते हैं और दोनों राजकुमारोंको साथ लेकर मिथिलाकी ओर प्रस्थान करते हैं। रास्तेमें शापप्रस्ता मुनिपत्नी अहल्याका उद्धार करते हुए परम कृपालु श्रीकौसलकिशोरजी कनिष्ठ भ्रातासहित गङ्गा-स्नान करके बनोपवनके प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए जनकपुरीमें पहुँचते हैं और मुनिसहित नगरसे बाहर मनोरम आम्रवाटिकामें ठहरते हैं।

मिथिलेश महाराज इस शुभ संवादको पाकर श्रेष्ठ समाजसहित विश्वामित्रजीके दर्शन और स्वागतार्थ आते हैं और मुनिको साधाङ्ग प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। इतनेमें फुलवारी देखकर श्रीराम-लक्ष्मणकी श्याम-गौर-शरीर किशोर वयवाली, नेत्रोंको परम उख देनेवाली, अखिल विश्वके चित्तको चुरानेवाली 'युगलजोड़ी' वहाँ आ पहुँची—स्याम गौर मृदु वयस किसोरा। लोचनसुखद विश्व चित्त चोरा ॥ ये थे तो बालक, परंतु इनके आते ही लोगोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब लोग उठ खड़े हुए—'उठे सकल जब रसुपति आए।' अब विश्वामित्र सबको बैठाते हैं। विनय और अनुशासनसे दोनों भाईं शील-संकोचके साथ गुरुजीके श्रीचरणोंमें बैठ जाते हैं। यहाँ जनकरायजीकी बड़ी विचित्र दशा होती है। उनकी प्रेमरूपी सूर्यवान्तमणि श्रीरामरूपी प्रत्यक्ष प्रचण्ड सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त कर द्रवित होकर वह चलती है। उनका गुप्त प्रेमधन श्रीरामकी मधुर छवि देखते ही सहसा प्रकट हो गया। युगोंके संचित धनका खजाना अकस्मात् खुल पड़ा।

मूरति मधुर मनोहर देखी । भएउ विदेहु विदेहु विसेपी ॥

प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि विवेकु धरि धीर ।

बोलेउ मुनि पढ नाइ यिरु गठगढ गिरा गभीर ॥

कहहु नाथ सुंदरदोउ बालक । मुनिकुलतिलकिकि नुपुकुलपालक ॥

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय वेष धरि की सोह आवा ॥

सहज विरागरूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥

ताते प्रभु पूछड़े सतिभाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥

जनकजी कहते हैं—‘मुनिनाथ ! छिपाइये नहीं, सच वतलाइये—ये दोनों बालक कौन है ? मैं जिस ब्रह्मे लीन रहता हूँ, क्या वह वेदवन्दित ब्रह्म ही इन दो रूपोमे प्रकट हो रहा है ? मेरा सामानिक ही वैरागी मन आज चन्द्रमाको देखकर चकोरकी भौति वेसुध हो रहा है ।’ जनकजीकी इस दशापर विचार कीजिये ।

जनकका मन आत्मनिक प्रेमके कारण विवशतया शील-सौन्दर्यनिवान ब्रह्मसुखको छोड़कर श्रीरामरूपके गभीर, मधुर सुवासमुद्रमे निमग्न हो गया । कैसी विचित्र दशा थी !

इन्हहि विलोकत अति अनुरागा । वरवस ब्रह्म सुखहि मनव्यागा ॥

धीरतुद्वि महाराज जनकके लिये यही उचित था । अभेद भक्ति-निष्ठ विदेहराजकी पराभक्ति संशयरहित है । यहौं ज्ञान भक्तिका संवल वन गया—इसी प्रकार वे वारातकी विदाईके समय जब अपने जामातासे मिलते हैं, तो उनका प्रेमसमुद्र मर्यादाको पार कर जाता है । उस समयके उनके वचनोमे असीम प्रेमवी मनोहर छटा है । थोड़ी उस समयकी झाँकी भी देखिये । वारात विटा हो गयी । जनकजी पहुँचाने-के लिये साथ-साथ जा रहे हैं । दशरथजी लौटाना

चाहते हैं, परंतु प्रेमवश राजा लौटते नहीं । दशरथजीने फिर आग्रह किया तो आप रथसे उतर पड़े और नेत्रोसे प्रेमाश्रुओंकी धारा वहाते हुए उनसे विनय करने लगे । बार बार मारड़े कर जारे । मनु परिहरै चरन जनि भोरे ॥

धन्य जनकजी ! धन्य आपकी गुप्त प्रेमाभक्ति !

उन्हे जब श्रीरामके बनवास और भरतकी राज्य-प्राप्तिका समाचार मिला तो उन्होने पूरा समाचार—भरतकी गतिविधि जाननेके लिये गुप्तचरोको अयोध्या भेजा । भरतलालके अनुरागका परिचय पाकर वे चित्रकूट अपने समाजके साथ पहुँचे । चित्रकूटमे महाराजकी गम्भीरता जैसे मूर्तिमान् हो जाती है । वे भरतजीसे न तो कुछ कह पाते हैं और न कुछ श्रीरामसे ही कहते हैं । उन्हे भरतकी अपार भक्ति तथा श्रीरामके परात्पर खरूपपर अट्रट विश्वास है । महारानी कौसल्यातक सुनयनाजीद्वारा उनके पास संदेश भिजवाती है, किंतु वे कहते हैं कि भरत और श्रीरामका जो परस्पर अनुराग है, उसे समझा ही नहीं जा सकता । वह अतर्क्ष्य है—

देवि परंतु भरत रघुवर की । ग्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥

खय महाराजके बोधभरित चित्तमे कितना निष्पृद्ध प्रेम है, इसका कोई भी अनुमान नहीं कर सकता । जनकजी कर्मयोगके सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, ज्ञानियोमे अग्रगण्य हैं और वारह प्रधान भागवताचायोमि हैं, उन्हे क्या कोई समझे—वे अपाह हैं ।

ज्ञानको प्रेमके पवित्र द्रवरूपमे परिणत करके उसकी अजस्र सुधाधारासे जगत्को प्लावित कर देना ही उसकी महानता है । श्रीजनकजीने यही प्रत्यक्ष कर दिखला दिया ।

( ६ )

### सत्यप्रतिज्ञ पितामह भीष्म

परित्यजेयं बैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।

यद्वाप्यधिकमेताथ्यां न तु सत्यं कथञ्चन ॥

—भीष्म ( महाभारत )

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओको मनुष्य-लोकमे जन्म लेना था । श्रीगङ्गाजीने उनकी माता होना स्वीकार किया । वे महाराज शंतनुकी पत्नी हुईं । सात

वसुओंको तो जन्म लेते ही उन्होंने अपने जलमें डालकर उनके लोक भेज दिया, पर आठवें वसु थोंको शंतनुजीने रख लिया । इसी बालकका नाम 'देवत्रत' हुआ । महाराज शंतनु दाशराजकी पालिना पुत्री सत्यवतीपर मुग्ध हो गये और उससे विवाह करनेकी इच्छा व्यक्त की । किंतु दाशराज चाहते थे कि उनकी पुत्रीकी संतान ही सिंहासनपर बैठनेकी अधिकारिणी मानी जाय, तब वे महाराजको अपनी कन्या दें । सिद्धान्तः महाराजका सत्यवतीपर मुग्ध होना कुछ अखाभाविक-सा था, पर वे उसके लिये अपने ज्येष्ठ पुत्रील पुत्र देवत्रतका स्वत्व छीनना नहीं चाहते थे । उनकी यह विवशता थी कि वे सत्यवतीकी आरक्षि भी नहीं छोड़ पाते थे । वे उदास रहने लगे ।

मन्त्रियोंसे पिताकी उदासीका पता लगाकर देवत्रत दाशराजके पास गये और कहा—‘मैं राज्यासन नहीं छूँगा ।’ जब दाशराजने आशङ्का की कि आप तो राजाद्वारा पर नहीं बैठेगे, पर आपकी संतान राज्यके लिये झगड़ सकती है ।’ तब उन्होंने आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा की । देवताओंने इस प्रतिज्ञासे प्रसन्न होकर उनपर पुष्पवर्षा की और ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करनेके कारण उनको ‘भीष्म’ कहकर सम्बोधित किया । महाराज शंतनु अपने पुत्रकी पितृभक्तिसे परम सन्तुष्ट हुए । मातृ-पितृ-भक्ति सदाचारकी अनूठी कड़ी है । उन्होंने भीष्मको आशीर्वाद दिया—‘वेटा ! जब तुम चाहोगे, तभी तुम्हारा शरीर छूटेगा । तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी ।’

भीष्मजीने भगवान् परशुरामसे धनुर्वेद सीखा था । जब परशुरामजी काशिराजकी कन्या अम्बाकी प्रार्थना मानकर भीष्मजीके पास आये और उनसे कहने लगे कि ‘तुम उस कन्यासे विवाह कर लो’, तब इन्होंने बड़ी नप्रतासे कहा—‘गुरुजी ! मेरिलोकीके राज्यके लिये

या रामीके गिरावस्तु दिने अपना दोनोंसे भी अंगिक गणन् पड़के लिये वे सवालोंकी जड़ी छोड़ देता ।

परशुरामजीने वाय दिग्याया और अन्मेंसे दोनों युद्ध करनेको लाभ लोगये । वाय ही उत्तरगंगाम हुआ । भूमियोंने भीष्मको समझाना चाहा, पर उन्होंने कहा—‘यथा, दगा, नमक लोग और व्यामधारे में धारनमें राय लाय नहीं कर सकता । मैं यहाँमें नीट नहीं लिए हूँगा । मेरी प्रतिज्ञा है कि ग्रनितव्यत आवास मात्रा हुआ मी पर फिरे न रहूँगा ।’ अन्में देवताओंके कान्दसे परशुरामजीको ही मानना पड़ा । मीमकर बन अटक रहा । सत्याचारका ऐसा लकड़ और अद्वितीय उदाहरण अन्यज अहों पड़ेगा ; लितांके दूरवालके उल्लङ्घनपर भी पुत्रने सदा चारका समझूँ पालन किया ।

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र जर गये, तब भरतवंशकी रक्षा एवं राज्यके पालनके निमिन सत्यवतीने भीष्मको सिंहासनपर बैठने तथा संतानोपादन करनेके लिये कहा । इसपर इन्होंने गानामे कहा—‘पश्चभूत चाहे अपना गुण छोड़ नै, सूर्य चाहे तेजोहीन हो जायें, चन्द्रमा चाहे दीनल न रहे, इन्द्रमेंसे बल और धर्मराजमेंसे धर्म चाहे चल जाय, पर त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता । मातः ! तुम इस विषयमें भुज्जसे बुढ़ मन कहो ।’

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भीष्मजीने ही पहले कहा—‘तेज, बल, पराक्रम तथा सभी गुणमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ है और वे ही अप्रूपजा पानेके अधिकारी हैं । जब इस व्रतसे जलकर शिशुपाल तथा उसके समर्थक उनकी भर्त्सना करने लगे, तब उन्होंने खुलकर घोपणा करते हुए कहा—‘हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति तथा विनाशकं सूल कारण है । इन्हींके द्वारा यह सचराचर विश्व रक्षा गया है । ये ही अव्यक्त प्रकृति हैं, ये ही वर्ता ईश्वर हैं, ये ही

समस्त भूतोंमें सनातन ब्रह्म हैं । ये ही सर्वश्रेष्ठ एवं सबके पूज्य हैं । समस्त सद्गुण श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ।' सदाचारी-ब्रह्मचारी भीष्म श्रीकृष्णके ब्रह्म ( तात्त्विक-स्वरूप )को पहचान रहे थे ।

आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म है, इसीलिये भीष्मजी महाभारतके युद्धमें दुर्योधनको उसके अन्यायों-के लिये सदा धिक्कारते हुए भी सचाईसे उसके पक्षमें लड़ते रहे, पर हृदयसे धर्मपर स्थित पाण्डवोंकी विजय ही उन्हे अभीष्ट थी । उन्होंने 'यतो धर्मस्ततो जयः'के लिये ही स्वयं अपनी मृत्युका उपाय बताया और युधिष्ठिरको अपने वधके लिये आज्ञा दी । यह थी उनकी न्याय-निष्ठा, जो उन-जैसे सदाचारीमें ही सम्भव थी ।

महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने शख्स प्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी । दुर्योधनद्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मजीने प्रतिज्ञा कर ली कि 'भगवान्को शख्स प्रहण करा कर ही रहूँगा ।' दूसरे दिनके युद्धमें भीष्मने अर्जुनको अपनी वाण-व्यापासे विकल कर दिया । भक्त-वत्सल भगवान् अपने भक्तके प्राणोंकी रक्षाके लिये अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके सिंहनाद करते हुए अर्जुनके रथसे कूद पडे और हाथमें रथका टूटा हुआ पहिया लेकर भीष्मकी ओर दौडे । सेनामें हाहाकार मच गया । लोग चिछाने लगे—'भीष्म मारे गये ! भीष्म मारे गये !!' पृथ्वी कॉपने लगी, किंतु भीष्म देख रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्रका पीताम्बर कधेसे गिरकर भूमिमें लोटता जा रहा है । वे ( श्रीकृष्ण ) युद्धभूमिमें रक्तसे ल्यपथ हो बढ़ते चले आ रहे हैं । अल्को उड़ रही हैं । भालपर स्वेद तथा शरीरपर कुछ रक्तकी बूँदें झलझल रही हैं । भूकुटियाँ कठोर किये वे हुकार करते आ रहे हैं । भीष्म मुग्ध हो गये भगवान्की भक्तवत्सलतापर । वे उनका स्वागत करते हुए बोले—

'पुण्डरीकाक्ष ! देवदेव ! आइये ! आइये ! आपको मेरा नमस्कार । पुरुषोत्तम ! आज इस युद्धभूमिमें आप

मेरा वध करें । परमात्मन् ! श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! आपके हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण अवश्य होगा । आज मैं त्रिलोकीमें सम्मानित हूँ । प्रभो ! इच्छानुसार आप अपने इस दासपर प्रहार करें ।' अर्जुनने दौड़कर पीछेसे श्रीभगवान्के चरण पकड़ लिये और बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर लौटा लाये । अर्जुनके प्रेममें वे प्रतिज्ञा भूल चुके थे ।

भीष्मजीके हृदयमें भगवान्की यह सूर्ति वस गयी । वे उसे अन्ततक भूल न सके । सूरदासजीने भीष्म-जीका मनोभाव इस प्रकार प्रकट किया है—  
दा पट पीतकी फहरान ।

कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं विसरति वह बान ॥  
रथ ते उत्तरि अवनि आतुर हूँवै, कच रजकी लपटान ॥  
मानों सिंह सैल ते निकस्यो, महामत्त गज जान ॥  
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेडकी कान ॥  
सोईं सूर सहाय हमारे निकट भए हैं आन ॥

भीष्मजीने अपनेको रणशब्दा देनेकी विधि स्वयं बतायी थी । जब शिखण्डीको आगे करके अर्जुन उनपर वाण चलाने लगे, तब भी उन्होंने शिखण्डीपर आघात नहीं किया । इसे कहते हैं विकट स्थितिमें भी समुदाचार—मर्यादाका यथावृत् पालन ।

पितामह भीष्मका रोम-रोम वाणोंसे विध गया । जब वे रथसे गिरे तो उनका शरीर उन वाणोपर ही उठा रह गया । केवल उनका मस्तक लटक रहा था । पितामहने अर्जुनसे कहा—'वत्स ! मेरे योग्य एक तकिया दो ।' अर्जुनने तीन वाण उनके मस्तकमें मारकर सिरको ऊपर उठा दिया । दुर्योधनके भेजे चिकित्सक जब वहाँ आये, तब पितामहने उन्हे आदरपूर्वक लौटा दिया । यह थी उनकी धैर्य और सहिष्णुताकी सीमा ।

महायुद्ध समाप्त होनेपर जब युधिष्ठिरका अभिपेक हो गया, तब वे रात्रिमें एक दिन भगवान् श्रीकृष्णके पास गये । युधिष्ठिरने भगवान्को प्रणाम करके कुशल पूछी, पर उन्हे कोई उत्तर नहीं मिला । उन्होंने देखा

कि श्रीकृष्णचन्द्र ध्यानस्थ हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है। युधिष्ठिरने पूछा—‘प्रभो! भला आप किसका ध्यान कर रहे हैं?’ भगवान्‌ने वताया—दशरथाया-पर पड़े हुए, पुरुष-श्रेष्ठ भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मेरा मरण किया था, अतः मैं भी उनका ध्यान करनेमें लगा था। मैं उनके पास चला गया था।’

भगवान्‌ने किए कहा—‘युधिष्ठिर! वेद एवं धर्मके सर्वश्रेष्ठ ब्राता, नैषिक व्रतचारी पितामह भीष्मके न रहनेपर जगतके ब्रानका सूर्य अम्त हो जायगा। अतः वहाँ चलकर तुमको उनमें उपर्देश लेना चाहिये।’ वै सदाचार और धर्मके तात्त्विक उपर्देश हैं।

युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर भाव्योंके माय जहाँ भीष्मजी दशरथायापर पड़े थे, वहाँ गये। वडेवडें ब्रह्मवेता ऋषिमुनि वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थे। श्रीकृष्णचन्द्रने पितामहमें कहा—‘आप युधिष्ठिरको उपर्देश करें।’ भीष्मजीने वताया कि ‘मेरे शरीरमें वाणोंकी अत्यधिक पीड़ा है, इससे मन स्थिर नहीं है।’ उन्होंने स्पष्ट कहा—‘आप जगद्गुरुके सामने मैं उपर्देश करूँ, यह माहस में नहीं कर सकता।’

भगवान्‌ने स्नेहपूर्ण वाणीमें कहा—‘पितामह! आपके शरीरका कलंग, सूर्यांदाह, ग्यानि, ध्रुधा-पिपासा, मोह आदि सब अभी नह दो जाऊँ और आपके अन्नकरणमें सब प्रकारके ब्रानका रुरण हो। आप जिस विद्याका चिन्तन करें, वह आपके चित्तमें प्रत्यक्ष हो जाय।’ भगवान्‌की छुगमें पितामहकी मारी पीड़ा दूर हो गयी। उनका चिन्तन था यो गम। उनके दद्यमें भूत, मविय, वर्तमानका नमन जान यथावत नमून—(प्रकट) हो गया। उन्होंने वडें उन्हाँदेसे युधिष्ठिरको धर्मके नमन अद्वेदा उपर्देश किया। [भीष्मपितामहका नदाचारगेप्रदेश मद्भामारत्के अनुशासन और आन्तिपर्वमें दृष्टव्य है।]

अन्तमें सूर्यके उत्तरग्रहण होनेपर पूर्ण नौ पैंतीम वर्ष की अवध्यामें मावशुद्ध अग्नीको नैकड़ों ब्रह्मवेता ऋषि-मुनियोंके बीचमें दशरथायापर पड़े हुए, पितामहने अपने सम्मुख घडे पीताम्बरपर्णी श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन तथा स्तुति करने हुए चित्तको उन प्राम पुरुषमें थियन करके शरीरका परिवार कर दिया।

## महात्मा भीष्मका सदाचार-धर्मोपदेश

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीतिन्ने सर्वदेवताः ॥  
सर्वश्रियाभ्युपगनं धर्ममाहुर्मनीषिणः। पृथ्यैतं लक्षणोहेतुं धर्मधर्ममें युधिष्ठिर ॥  
सन्यं धर्मस्तपो योगः सन्यं ब्रह्म सनातनम्। सन्यं यजः परः प्रोत्कः नवंसत्ये प्रतिष्ठिनम् ॥  
तास्ति सन्यात् परोधर्मो जानृतात् पातकं परम्। स्थितिर्हि सन्यं धर्मस्य तसान् सन्यं न लोपयेत् ॥

(मद्भागत, अन्नि०)

भीष्मजी कहते हैं—पिता ही धर्म, पिता ही स्वर्ग और पिताकी सेवा ही मवमें वडी तपन्या है। पिताके प्रभवन होनेपर सभी देवता ग्रमन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! जो वनाय अपनेको प्रिय जान पड़ा है, वहाँ सब यदि दूर्मोक्ते प्रनि किया जाय तो उसे ही मनीयी पुरुष धर्म मानने हैं। मनेपरमें धर्म-अधर्मको पहचाननेका वही लक्षण समझो। सत्य ही धर्म, तपस्या और योग है; सत्य ही सनातन ब्रह्म है और सत्य ही सबमें श्रेष्ठ यज्ञ है; सन्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित हैं; सन्यसे बढ़कर दूसरा कोई वर्म नहीं है और द्वादुसे बढ़कर और कोई पातक नहीं है, सत्य ही धर्मका आवार है। अतः सन्यका कभी लोप नहीं करे।

## महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे सदाचारकी आदर्श शिक्षा

( ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

महाराज युधिष्ठिरका जीवन सदाचारका महान् आदर्श था । जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लाभगउसी प्रकार द्वापरयुगमें केवल नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिरको भी आदर्श पुरुष कहा जा सकता है । अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मके पालनके सम्बन्धमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एव अनुकरणीय है । भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला मानो एक अलौकिक पश्च-प्रदर्शक उयोतिःस्तम्भ है । वे सद्गुण और सदाचारकी मूर्ति थे । जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिपूर्ण हो जाता था । उनके-जैसा धर्मपालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है ।

गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छल्युक्त भापण किया, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप करते रहे । उनका व्यवहार इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, ख्ती, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे । इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सदृश्यव्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी । तात्पर्य यह कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी, ईश्वरभक्त, धीर, वीर और गम्भीर स्वभाववाले तथा क्षमाशील एवं धर्मात्मा थे । कल्याण चाहनेवाले महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जाता है । उनके गुण और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है ।

निवैरता—एक समयकी वात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और द्रुशासन आदि भाइयोंके सहित वड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको संताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया, जहाँपर पाण्डव निवास करते थे । देवराज इन्द्र उसके उद्देश्यको जान गये । वस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि ‘शीघ्रतासे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको वौध लाओ !’ देवराजकी इस आज्ञाको पाकर वह गन्धर्व दुर्योधनको युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित वौधकर ले चला । किसी प्रकार जान वचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरंत महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा । और उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया तथा दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की । महाराज युधिष्ठिर दुर्योधनकी रक्षाके लिये तुरंत प्रस्तुत हो गये । उन्होंने कहा—‘नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन ! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शक्ति ग्रहण करके तैयार हो जाओ ! जरा भी विलम्ब मत करो । देखो, गन्धर्व दुर्योधनको वंदी बनाकर लिये जा रहे हैं । उसे तुरंत छुड़ाओ !’ महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—‘मेरे वीरश्रेष्ठ बन्धुओ ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका, महान् कर्तव्य है । शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है । मैने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस वंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये ढौड़ पड़ता, पर अब विवशता है । इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो ! जाओ—जलदी जाओ !’ कुरुनन्दन भीमसेन ! यदि वह गन्धर्वराज

समझानेसे न माने तो तुमन्हेग अपने प्रबल पराक्रमसे अपने भाई दुर्योधनको उमकी कैंदसे छुड़ाओ । इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन बचनोको मुनकर भीमसेन आडि चारों भाईयोंके मुख्यपर प्रसन्नता द्या गयी । उन लोगोंके अव और मुजदण्ड एक साथ कड़क उठे ।

उन सबकी ओरसे महाराज अर्जुनने कहा—महाराज ! आपकी जो आज्ञा । बदि गन्धर्वराज समझाने-तुआनेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है; नहीं तो

✓ यह माना पृथ्वी गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी ।

अर्जुनकी इम प्रतिज्ञामो मुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली । इवर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े । सामना होनेमर अर्जुनने धर्मराजके आज्ञानुसार दुर्योधनको मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने इनकी एक न सुनी । तब अर्जुनने घोर उद्घारा गन्धर्वोंको परामर्श दिया । तत्पश्चात् परामर्श चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको बंदी बनानेका कारण बताया । यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्रम हुआ । वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये । धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतत मुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी वंशियोंको मुक्त करा दिया । फिर उम्होंने हृषीकेश का आश्रासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी । दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया । कृष्ण-मुनि तथा नान्दगंगेग धर्मराज युविष्टिरकी प्रशंसा करने लगे ।

यह है महाराज युविष्टिरके आडर्श जीवनकी एक घटना और निर्दिष्ट नशे वर्मगच्छना अनृद्या उदाहरण ! उनके मनमें दृष्ट दुर्योधनकी काली करततोंको सुनकर क्रोधकी छायाका सर्व भी न हुआ । उन्होंने जल्दी ही उम्होंने गन्धर्वराजके लित बन्धनसे मुक्त करता दिया । यही नहीं, उनकी इस क्रियामे दुर्योधन

दुःखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण बचनोंसे उम्हों आशासन भी दिया । मित्रोंकी तो बात ही क्या, दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमरा क्या कर्तव्य है, इमकी जित व्यक्त्यसे हमें धर्मराज युविष्टिर दे रहे हैं ।

**धैर्य—**दुर्योधनने कर्गकी सम्मतिये ग्रन्थिके द्वारा धर्मराज युविष्टिरको छलसे ज्ञामें द्वाराकर दावपर खद्दी दृढ़ द्रौपदीओं जीन लिया था । उनके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःखानने द्रौपदीको क्रेश पछादकर छीबने हुए भी सभामें उपस्थित किया । द्रौपदी अपनी लंब बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी । सभी सभा द्रौपदीके व्याकुलनमें भरे हुए वहग्रामी लड़नको मुनकर दुःखी हो रही थी । किंतु दुर्योधनके भयमें विद्वाँ और विराजें सिवा किर्तने भी उनके इम वृगित कुर्कमका विरोदनक नहीं किया । द्रौपदी उस समय रजवला थी और उम्हें शरीरपर एक ही बत था । ऐसी अवस्थामें भी दुःखानने भरी सभामें उम्हारा बड़ी चक्र उसे नंगी कर देना चाहा । और, कर्ग नाल प्रकारके दुर्वचनोद्गारा द्रौपदीका अपमान करने लग । दृष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जांघ डिक्कदाकर उम्हर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हड़ ही कर दी । वस्तुतः भारतकी एक सभी अवकांक प्रति अन्याचारकी यह पराकाशा थी !!

अब भीमसेनसे न रहा गया । कोवके भारे उनके हैठ फड़कने लगे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किंतु धर्मराजकी आज्ञा और मन्त्रनें विना उनमें कुछ भी करने न बना । वर्मिमा युविष्टिर तो बचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब दंग्व-सुनकर भी मौनबन धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे । द्रौपदी चीख उठी । उसने अपनी ग्रामके लिये आखोमे आम् भरकर सारी सभासे अनुतोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया । अन्तमें उसने सबसे निरांश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके

लिये पुकारा । आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान् ने ही द्वौपदीकी लाज बचायी । हमे यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धर्यको देखना है । वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमे वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता, परंतु उन्होंने उस समय धर्यका सच्चा स्वरूप प्रत्यक्ष करके दिखला दिया (जो सदाचारका एक स्तम्भ है) । धन्य है अपूर्व धर्यशाली सदाचारी युधिष्ठिरजी महाराज !

**अक्रोध, क्षमा—**महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे । महाभारतके वनपर्व (अ० २७-२९)मे एक कथा आती है कि द्वौपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमे क्रोधका संचार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की । उन्होंने महाराजसे कहा—‘नाथ ! मै राजा द्वूपदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ, मुकुंडोंको जगन्नामे मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दुःखसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे माल्हम होता है कि आपमे जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है । परतु देव ! जिस मनुष्यमे तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने योग्य ही नहीं है । जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध करके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है, परंतु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो, उसको भी क्षमा करते रहना

१-आत्मान च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।

२-(वन० २९ । ८)

३-वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कहिंचित् । नाकार्यमस्ति कुद्रस्य नावाच्य विद्यते तथा ॥

(वन० २९ । ५)

४-शक्नोतीहैव यः सोऽुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स मुखी नरः ॥

(गीता ५ । २३ )

क्षत्रियका धर्म नहीं है । अतः सामिन् ! जान-बूझकर नित्य ही अनेक अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके, पात्र नहीं, प्रत्युत क्रोधके पात्र है । इन्हे समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये । यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—‘द्वौपदी ! तुम्हारा कहना ठीक है, किंतु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है, वह अपनेको और उसको दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है ।’ अतः द्वौपदी ! धीर पुरुषोद्धारा त्यागे हुए क्रोधको मै अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ ? क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है । वह अपने गुरुजनों-का भी नाश कर डालता है । श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है । क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितको भी मार देती है ।

‘क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान विलुप्त नहीं रहता, वह वात-की-वातमे अनर्थ कर डालता है । उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता ।’ वह मनमे जो आता है, वही बकने लगता है । अतः तुम्हीं बतलाओ, महा अनर्योंके मूल कारण क्रोधको मै कैसे आश्रय दे सकता हूँ ? द्वौपदी ! क्रोधको तेज मानना अज्ञता है । वास्तवमे जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता । ज्ञानियोंका यह बचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमे क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है, उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है ।

कुञ्चन्तमप्रतिकुञ्चन् द्वयोरेप चिकित्सकः ॥  
( वन० २९ । ९ )

सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातनलोकको प्राप्त करता है।

‘महामुनि कश्यपने तो कहा है कि ‘क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है।’

इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है। क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य—सब कुछ है। इस चराचर जगत्को भी ‘क्षमा’ने ही धारण कर रखा है। तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा ही है। जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ। तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, कर्मियोंको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये रहते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये। द्वौपदी। तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर। क्षमाशील होना परम सदाचार है।’

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके

प्रति निकले हुए धर्मगत्तके ये वचन अकोविंशति ज्वलन्त उदाहरण हैं। तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र हूँड़नमें भी नहीं मिलता। क्षमा सदाचारका महत्वपूर्ण अनुदेश है।

सत्य—महाराज युविष्टिर सत्यवादी थे, यह शावतथा लोक दोनोंमें ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजमें अपने गाड़ियों तथा द्वौपदीके कर्त्रोंकी ओर श्याम दिलाकर ब्रह्ममें लाए हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की। इसपर महाराज युविष्टिरने उत्तर दिया—‘भीमसेन ! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता और प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप धर्मको मानता हूँ। तू मेरी प्रतीक्षाको सच मान।’ कुलवंशियोंके सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रनिन्दासे मैं जरूर भी विचलित नहीं हो सकता। तू बीज बोकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह बनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर।’ भीमसेनने फिर प्रार्थना की—‘महाराज ! हमलोग तेरह महीनेतक तो बनवास कर ही चुके हैं, बेटके शब्दानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्यों न समझ

५—क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्। य एतदेवं जानाति स सर्वे धन्युमर्हन्ति ॥

६—(क) क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावित्वा । क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेद भूत जगत् ॥

( वन० २९ । ३६-३७ )

(ख) ‘क्षमा’का एक अर्थ पृथ्वी भी है।

७—क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनोम् । क्षमा सत्यवता सत्य क्षमा यज्ञः क्षमा श्रमः ॥

८—तां क्षमां तादृशी कृष्णे कथमसद्विधस्त्यजेत् । यस्या ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥  
( वन० २९ । ४०-४१ )

९—क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता । यदा हि क्षमते सर्वे ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

( वन० २९ । ४२ )

१०—महाभारत बनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसङ्ग है।

११—मम प्रतिज्ञां च निवौध सत्यां वृणे धर्ममृताज्जीविताच्च ।  
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥

( वन० २४ । २२ )

लें ?<sup>२</sup> किंतु धर्मराजने इसको भी छल्युक्त सत्यका आश्रय लेना मानकर उसे खीकार नहीं किया । वे अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे ।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे । सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अङ्गुल ऊपर उठकर चला करता था । सत्यपालनका इतना माहात्म्य है । महाभारतमें तो एक जगह कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेध-यज्ञोंके फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये, किंतु उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध हुआ ।<sup>३</sup> वस्तुतः सत्य सदाचारका प्रमुख अङ्ग है ।

परंतु पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका संसार कहाँ जा रहा है ।

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता—एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिण-का रूप धारण किया । वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी ( यज्ञार्थ अग्नि उत्पन्न करनेवाली काष्ठभथनी ) को अपने सींगोंमें उलझाकर साथ लिये हुए जंगलमें चले गये । ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही । ब्राह्मणने धर्मराज युधिष्ठिरसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको हुँढ़वाकर उसे दे दे, जिससे अग्निहोत्रका काम बंद न हो । यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारो भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये । किंतु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी

भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये । कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर तकुल जलकी खोजमें निकले । वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये । परंतु ज्यों ही उन्होंने वहोंके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाशवाणी दुर्द्वारा—‘माद्रिपुत्र नकुल ! यह स्थान मेरा है । मेरे प्रश्नोका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता ! इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोका उत्तर दो, फिर स्थायं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ ।’ किंतु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन थे, उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया । फल-स्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी । इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम—ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवाह न करते हुए जलपान कर लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी । अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्थायं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा । वहाँ उन्हे अपने चारो भाइयोंको मरा हुआ देखकर बड़ा भारी दुःख तथा आश्रव्य हुआ । वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे । जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखायी पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीरपर कोई धाव ही दीख पडे । अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई कारण समझमें नहीं आया । थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े, तब फिर वही

१२—अस्माभिरुषिताः सम्यवने मासाङ्गयोदशा । परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥

( वन० ३५ । ३२ )

‘यो मासः स संवत्सर इति श्रुतेः’ ।

१३—अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुल्या धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्वि सत्यमेव विजिष्यते ॥

( शान्ति० १६२ । २६ )

आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरबाहीके साथ जल पी लिया। इसलिये मैंने ही इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युविष्टिरने कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युविष्टिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया।

यहाँ उन सारें-कें-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युविष्टिरने यक्षसे कहा—वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्त्वाको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुथा कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमे रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका द्विकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके व्यागसे मनुष्य सदका प्रिय होता है। क्रोधके व्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके व्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके व्यागसे सुखी होता है। स्वर्वर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमे करना दम है, सहन करनेका नाम अमा है, अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है, तत्त्वको यथार्थस्पर्से जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तमावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छा (ऋजुता) का

नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्यापि है। जो सब भूतोंके हितमे रत है, वह साधु है और जो निर्दयी है, वह असाधु है। धर्मपालनमें सूक्ष्मता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलय है, शोक करना ही सूखता है, स्वर्वर्ममे ढटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्तान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित है। नास्तिक ही सूखता है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करनेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें संताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहंकार ही महान् अज्ञान है। मिथ्या धर्मचिरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोपोंको देखना पिशुनता है।

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, व्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याद्युद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन वोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी वचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर और आश्र्य क्या है?'' जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-मविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसंदेह सबसे बड़ा धनी है।'' इस प्रकार अनेक प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युविष्टिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज युविष्टिरने अपने भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्र्यवचकित

१४—अहन्यहनि भूतानि गन्ठन्तीह यमालयम्। शेषाः स्यावरमिच्छन्ति किमाश्र्यमतः परम्॥

(वन० ३१३। ११६)

१५—तुल्ये प्रियाप्रिये वस्य मुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥

(वन० ३१३। १२१)

होकर पूछा—‘अजी ! दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार वाहुवलका तुम्लोगोंको भरोसा है, उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ?’ महाराज युधिष्ठिरने कहा—‘जो मनुष्य अपने धर्मका पालन नहीं करता है, या यों कहो कि उसका त्याग कर देता है, धर्म भी उसे छोड़ ( तिरस्कृत कर ) देता है । परंतु जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है ।’<sup>१६</sup> यक्ष ! मुझको लोग सदा धर्मपरायण समझते हैं, मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता ।<sup>१७</sup> मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो खियों थीं, वे दोनों पुत्रवती बनी रहे, ऐसा मेरा निश्चित विचार है । इसलिये मेरा भाई नकुल ही जीवित हो, क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है । मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ ( कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र नकुल भी जीवित हो जाय ); क्योंकि समता ही सब धर्मोमें सबसे बड़ा धर्म है ।

महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ । उसने कहा—‘हे युधिष्ठिर ! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो । तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायें ।’ यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे । महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की । तब यक्षने खुलकर कहा—‘वत्स युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ । तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस व्राज्यकी अरणी उठा ले गया था ।’ इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा

१६—धर्म एव हतो हन्ति धर्मां रक्षति रक्षितः ॥

१७—जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाह सदा विभो । दाने तपसि सत्ये च मनो मैं सततं भवेत् ॥

( वन० ३१४ । २४ )

१८—उपपन्नो गुणैरतैः स्वमावेनासि पाण्डव । भवान् धर्मः पुनश्चैव यशोक्त ते भविष्यति ॥

( वन० ३१४ । २५ )

युधिष्ठिरसे वर मॉगनेके लिये कहा । महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—‘देव ! आप सनातन देवोके देव हैं । मैं आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया । आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा । विभो ! मुझको आप यही वर दे कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लैं तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे । ( मैं सदाचारमें लगा रहूँ । )’ धर्मने कहा—‘पाण्डव ! ये गुण तो स्वभावसे ही तुमामे वर्तमान हैं । तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुगने मुझसे जितनी वस्तुएँ मॉगी हैं, वे सब तुम्हे प्राप्त होंगे ।’ यह कहकर धर्म अन्तर्वान हो गये ।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको हमलोग समझें । इस प्रकार धर्मराजके सदाचारसम्पन्न महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण करे तो क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंसे बचकर दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके उपासक हो सकते हैं, जिससे हमारा कल्याण निश्चित है ।

पवित्रताका प्रभाव—जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाईयोंके साथ विराट-नगरमें छिपे हुए थे, तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला । सभी समासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परतु सभी निफल हो गये । अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी । उन्होंने कहा—‘अवतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काम लाये गये हैं तथा अभी काममें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं; क्योंकि साधारण दूतोद्वारा उनका पता नहीं लग

सकता है। उनकी खोज करनेका साधन यह है, आप-  
लोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें। जिस देश और राज्यमें  
पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका  
अमङ्गल नहीं हो सकता। उस देशके मनुष्य निश्चय ही  
दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय,  
सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी  
प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित  
होंगी तथा सब लोग स्वर्धमके अनुसार आचरण करनेवाले  
होंगे।<sup>१९</sup> वहाँ निःसंदेह अच्छी तरहसे वर्पा होती होगी।  
सारा-का-सारा देश प्रचुर धनधान्यसम्पन्न और पीड़ारहित  
होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे,  
पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक  
होगा और वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गौएँ  
होंगी। वहाँ स्वयं धर्म मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे।  
वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, संतोषी  
तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे। देवताओंकी पूजामें  
प्रीति रखनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे।  
वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। हे तात !  
महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परमशान्ति,  
धृति, क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता,  
सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं। ऐसे धर्मत्मा  
युधिष्ठिरको बड़े-बड़े त्राप्तियाँ भी नहीं पहचान सकते, फिर  
सावारण मनुष्यकी तो वात ही क्या है ? इस प्रकारके  
भीष्म महाराजके बचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका  
समर्थन किया।

महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी।  
इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाशा हो गयी है।

१९—तत्र तात न तेपां हि राजां भाव्यमसाम्प्रतम् । पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥  
दानशीलो वदान्यञ्च निभृतो हीनेपेवकः । जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥  
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः । हृष्टः पुष्टः युचिर्दद्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥  
नासूको न चापीर्षुनीभिमानी न मत्सरी । भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥

( विराटप० २८ । १४—१७, ३०—३२, आश्रम० १४ । १० )

जिस धर्मराजके निवास करनेसे वहाँका देश पवित्रताकी  
चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी  
कल्पना भी आजके हमलोग नहीं कर सकते ! किंतु  
यह अतिशयोक्ति नहीं, तथ्य है।

**उदारता**—महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता  
भी अद्भुत थी। जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके  
लिये लाक्षाभवनमें मेजा, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको  
तेरह वर्पके लिये बनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी  
दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके  
पन्द्रह वर्प वाद तपस्या करनेके लिये बन जाते समय  
दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब  
धनकी याचना की और उसपर उनके साथ महाराज  
युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया, उसको देखकर हृदय  
मुग्ध हो जाता है। महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका  
यह संदेश सुनते ही विदुरसे कहला मेजा कि 'मेरा  
शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है। मेरे  
धरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है। आप इन्हें इच्छानुसार  
संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं।' इस वचनको  
सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे  
भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयदथ, दुर्योधन आदि पुत्र-  
पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहदोंका श्राद्ध करके दान  
देने लगे। वस्त्र, आभूपण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये  
हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी  
गयीं। बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने  
जिसको सौ देनेको कहा था, उसे हजार और जिसे  
हजार देनेको कहा था, उसे दस हजार दिये गये।  
तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त

कर देता है, उसी प्रकार भौति-भौतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान, देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

अब हमन्योग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारताकी ओर देखे और फिर आजकलकी संकीर्णतासे उसकी तुलना करे तो हमे आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी वात तो दूर रही, आजकलके अविकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदोंके प्रति भी कैसा असद्-व्यवहार करते हैं, यह फिसीसे छिपा नहीं है। उनकी वृद्धावस्था आनेवर उनके लिये साधारण अन्न-व्रस्तकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती। यह अवस्था भारतीय सदाचारकी दृष्टिमें अत्यन्त चिन्त्य है।

त्याग—खगरोहणके समयकी कथा है। महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्वौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके वर्फमें गिरकर सर्ग सिधार गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता वच गया था, वही धर्मराज युधिष्ठिरका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। युधिष्ठिरने कहा—‘यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ सर्ग चलेगा।’ देवराज इन्द्रने कहा—‘नहीं, कुत्तेके लिये सर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।’ इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—‘धर्मराज ! आप यह क्या कह रहे हैं ? भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस बुन्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता। डरे हुएको, भक्तको, ‘मेरा कोई नहीं है’—ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं

कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायें। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है।’

यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—‘हे युधिष्ठिर ! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, अपनी धर्मपत्नी प्यारी द्वौपदीको छोड़ दिया तब इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है ? युधिष्ठिरने उत्तर दिया—‘देवराज ! उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मेरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, लीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना—इन चारों पापोंके वरावर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्पत्ति है’। अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।’

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म—जो कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—‘युधिष्ठिर ! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर सर्गतकका परित्याग कर दिया, अतः तुम्हारे त्यागकी समता कोई सर्गवासी भी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।’ इस प्रकार साक्षात् धर्म तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर सर्गमें ले गये।

आज भी सहस्रों नर-नारी वदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, परंतु साधियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है ? कुत्ते आदि जानवरोंकी वात तो छोड़ दे, आजकलके तीर्थयात्रियोंके यदि निकट-स्म्बन्धी भी संयोगवश मार्गमें वीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं

छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हमलोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधि-पीड़ितों और दुःखप्रस्तोकी सहायता करनी चाहिये। उन्हे मार्गमे छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मङ्गलमय भगवान्के पवित्र धामके पटको त्रंद कर देना है। यदि हम अपने ऐसे कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमे कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं! ( जनसेवा भगवान्की भक्ति ही है। यथासाध्य हमें सेवासे चूकना नहीं चाहिये। )

**उपसंहार—**इस संसारमे बहुत-से धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किंतु ‘धर्मराज’ शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे ‘धर्मराज’ के नामसे प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमे धर्मके जितने लक्षण वतलाये गये हैं, वे प्रायः सभी उनमें विद्यमान थे। सृतिकार महाराज मनुने धर्मके जो दस लक्षण वतलाये हैं<sup>२३</sup>, वे तो मानो उनमे कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छव्वीस लक्षण<sup>२४</sup> तथा महर्पि पतञ्जलिके वतलाये हुए दस यम-नियमादि<sup>२५</sup> भी प्रायः उनमे विद्यमान थे। और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही

थे। इस लेन्में उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परंतु उनका सारा जीवन ही सहुण और सदाचारसे ओतप्रोत था। ( सदाचारकी शिक्षाके लिये इतना पर्याप्त है। )

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सहुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, वल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रखा। सत्य-पालन तो उनका प्राण-पण था। इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और वुद्धिमत्तासे परिपूर्ण होता था—यह यक्षकी आत्मायिकासे भी सग्रह हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी। उनकी पवित्रता तो यहोंतक बड़ी हुई थी कि उनकी निवास-भूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-इमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर उनसे अधिष्ठित देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें वात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी टुकरा दिया था। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थ-त्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थ-त्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरमिमानता, निर्झमिता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमे एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्बन्ध सदाचारी महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कन्याणमे तनिक भी संदेह न रह जायगा।

२१—वृत्तिः क्षमा दमोऽस्तेय शोचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमकोद्यो दग्धकं धर्मलक्षणम्॥ ( मनु० ६। ९२ )

“वृत्ति, क्षमा, दम, अस्तेय ( चोरी न करना ), शोच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—धर्मके ये दस लक्षण हैं। ”

२२—गीता १६ वे अध्याय के १, २, ३ इलोंकोको देखिये।

२३—अहिंसासत्यास्तेयव्रह्मचर्यापरिप्रहा यमाः ( योग० सू० २। ३० )

‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं।’

शोचमतोपतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। ( योग० सू० २। ३२ )

‘शोच, स्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं।’

## प्रशासनमें सदाचार

( लेखक—डॉ० श्रीमुरेन्द्रप्रसादजी गर्ग, एम० ए०, एल०-एल० वी० )

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सदाचारकी महत्ती आवश्यकता है; पर प्रशासनमें तो यह अपरिहार्य है। ‘यथा राजा तथा प्रजाः’के नियमानुसार प्रशासनिक अधिकारियोंके निजी जीवनके भलेकुरे आचरणोंका प्रभाव जनता एवं अधीनस्थ जनोंपर पड़े विना नहीं रह सकता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

‘श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, वही दूसरेको भी मान्य और अनुकरणीय होता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जिस आचरणको प्रमाण मानता है, दुनियाके लोग उसका अनुसरण करते हैं ( ३ । २१ ) । भाव यह कि श्रेष्ठ पुरुषका आचरण समाजके लिये दृष्टान्त है। प्रशासनिक अधिकारीके सदाचारी होनेसे अत्यन्त सुख-शान्ति-व्यवस्थाका प्रादुर्भाव खतः होता है। प्रशासनिक अधिकारीमें धर्म एवं नीति-संगत अनेक गुण होने चाहिये। उनमेंसे कुछ यहाँ अङ्गित किये जा रहे हैं।

**मधुर व्यवहार—**प्रत्येक अधिकारीको उसके सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ अत्यन्त मधुर व्यवहार करना चाहिये। मधुर व्यवहारका अर्थ यह नहीं है कि वह धर्म, नियम एवं कानूनोंको ताकपर रखकर जनताकी इच्छाएँ पूरी करे। इसका अर्थ यह है कि वह व्यवहारमें कठोरता न बरते। जो सहायता-सहयोग नियमान्तर्गत हो, उसे अवश्य दे। जनता उससे आतङ्कित न हो, अपितु यह समझे कि अधिकारी उन्हींके परिवारका एक सम्मानित सदस्य है। उर्दूके कविनें कहा है—‘अगर जबान मीठी है तो जहान मीठा है।’ जनताका सच्चा प्रेम एवं सम्मान प्राप्त करनेके लिये अधिकारीको अत्यन्त मधुरभाषी होना चाहिये। वह किसी भी परिस्थितिमें तामसिकताका शिकार होकर कठोर-कर्कश शब्द मुँहसे न निकाले।

एकमात्र जनतोप ही पर्याप्त नहीं, अपितु अपने अधीनस्थोंके साथ भी मधुर एवं कोमल व्यवहार करना चाहिये। अधीनस्थोंकी वास्तविक आवश्यकताओं, कठिनाइयोंको समझना और मानव-दृष्टिकोण अपनाना तथा उन्हे कष्टसे बचाना प्रशासनिक अधिकारीका परम धर्म है।

**निष्पक्षता—**अधिकारीको हर दशामें सर्वथा निष्पक्ष तथा न्याययुक्त बने रहना चाहिये। किसी भी सिफारिश, दलवंदीय अनुचित प्रोत्साहनके वशीभूत होकर उसे कोई कार्य नहीं करना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उसकी निजी हानि होती हो तो भी कोई विचार न करे और भर्तृहरिके उपदेश—‘न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः’—को सदा ध्यानमें रखे। हमारे देशमें ब्रिटिश-कालमें भी ऐसे उच्चाधिकारी हुए हैं, जिन्होंने न्यायोचित कार्यवाही करनेमें अप्रेज अधिकारियोंकी तनिक परवा न की और उनके सामने कभी नहीं झुके। निष्पक्ष न्याय एवं व्यवहारसे एक-मात्र जनता ही नहीं, सरकार भी संतुष्ट एवं प्रसन्न होती है। कभी-कभी दुर्दैववश कोई अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारीसे खार्थवश किसी कार्यमें पक्षपातपूर्ण व्यवहार-की कामना करता है, पर सदाचारीको न्यायसे ही चिपके रहकर अपनेको निष्पक्ष रखना चाहिये।

**भ्रष्टाचार—**अधिकारीको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे सदा मुक्त रहना चाहिये। अपने उचित वेतनके अतिरिक्त नाममात्रके किसी प्रकारके लाभकी आशा वह कर्त्तव्य न रखे। ‘अनुचित आय’के लिये लोभ करना अथवा उसका समर्थन देना भ्रष्टाचार है। इससे नैतिकता तथा पापाचारको बढ़ावा मिलता है।

प्रशासनतन्त्रको स्वस्थ रहने तथा प्रशासनको स्वच्छ रखनेके लिये एवं निजी सदाचारिता और उन्नतिके लिये भी

भ्रष्टाचारसे सर्वथा बचना चाहिये । सरकारी सामग्री—टाइप-राइटर, स्टेशनरी, वाहन, टेलीफोन आदिका निजी कार्य-हेतु उपयोग करना भ्रष्टाचारके अन्तर्गत है । पर मोहवेश इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता । एक-मात्र उत्कोचका लेना ही भ्रष्टाचार नहीं है । भ्रष्टाचारके अनेक रूप हैं । प्रशासनिक अधिकारीको सर्वकारी सावधान रहकर अपनेको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे उन्मुक्त रखना चाहिये ।

भ्रष्टाचारके दो मुख्य कारण हैं—आर्थिक कठिनाई एवं अर्थलोलुपता । आर्थिक कठिनाईका हल अनुचित रूपसे धनार्जन नहीं, अपितु अपनी आवश्यकताओंको सीमित करना, मितव्ययी बनना और शुद्ध आयको सद्विवेकसे व्यय करना है । जहाँतक अर्थलोलुपताका प्रश्न है, यह रोग लोकके अन्तर्गत आता है और इसकी न कोई सीमा है, न चिकित्सा । वस, एकमात्र कर्मके सिद्धान्त, परलोक आदिके विचार, भगवद्भजन एवं संसङ्गके द्वारा अनुचित धनसंग्रहकी वृत्तिको रोका जा सकता है । न्याय और धर्मसे उपर्जित धनसे ही मानव सुख प्राप्त कर सकता है । उपनिषद्‌का प्राचीन सिद्धान्त है—‘मा गृथः कस्य स्विद् धनम् ।’(शुक्लयजुः० ४० । १) अपने सुखके लिये दूसरेके धनकी लिप्सा मत करो ।

**अनुशासन**—अधिकारीको अत्यन्त अनुशासनप्रिय होना चाहिये । स्वयं अनुशासनके नियमोंका पालन करना, समयपर कार्यालयमे आना, कार्यालयके समयमें निजी काम न करना अथवा अन्य प्रकारसे समयको नष्ट न करना और समयपर कार्यालय छोड़ देना भी आवश्यक है । अपने कार्यका समायोजन इस प्रकार किया जाय कि वाढ़ोंमें अकारण तारीखें बदलनेसे पक्षकारोंको परेशानी

न उठानी पड़े । बुलाये गये सभी गवाहोंकी साझी निपिवद्ध करना और उन्हें समयपर छुट्टी दे देना, प्रवास (कॅम्प)को प्रोप्रामानुसार पूरा करना और जनताके दृःख्य-उद्देश्यका सदाचारके अङ्ग हैं । थोड़ेमें विभागीय कर्तव्य-संहिताके अनुसार अपने समस्त कर्तव्यका समुचित पाठ्न करना सदाचारिता है ।

अधिकारीको परम सात्त्विक आहार भगवद्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये । वह नशीली वस्तुएँ—शराब, बीड़ी, सिगरेट आदि सर्वथा छोड़ दे और भोज्यको भगवद्पर्यणके प्रसाद-रूपमें पाये । ऐसा करनेसे उसके संस्कार शुद्ध होगे । इसके अतिरिक्त नित्य प्रातः सरकारी कार्यपर लानेसे पूर्व पूजा, जप, ध्यान आदि करना आवश्यक है । इस दैवकार्यमें लगाया गया समय सर्वोक्तुष्ट होता है और दिनभर सात्त्विक बुद्धि बनी रहती है । राजकीय कार्यकी कठिनाईयाँ स्वतः दूर हो जाती हैं । इस कार्यमें भारतके प्राचीन इतिहास, पुराण, राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र एवं विद्वानोंके विचारोंसे भी पर्याप्त सहायता और प्रेरणा मिल सकती है ।

राज्यके प्रशासनाधिकारियोंको भारतीय प्राचीन नीति-ग्रन्थों, आदर्श शासन-पद्धतियो एवं प्राचीन आदर्श राजनयिमों और शासकोंका जीवन-चरित्र पढ़ना-पढ़ाना चाहिये । इस प्रकारका अनुशीलन उन्हें पर्याप्त ज्ञान (अनुभव) प्रदान करेगा, जिससे वे न्यायपरायण होकर अपने कर्तव्योंका यथार्थ-रूपमें पालन कर देशको अधिक खन्छ लोकहितकारी आदर्श प्रशासन देनेमें सक्षम हो सकेंगे ।

## सदाचार और समाज

( लेखक—डॉ० श्रीधर्मध्वजजी त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० )

सदाचारका आशय है—सत्यका आचरण, अनुसरण। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वैयक्तिक प्रयासोद्धारा जीवनके एक अपरिहार्य व्यवहारके रूपमें धारण एवं विकसित की जा सकती है। इस प्रवृत्तिकी प्राप्तिके लिये मानवको सतत जागरूक रहना पड़ता है। मानव जिस वर्ग अथवा समुदायसे सम्बन्धित होता है, उस वर्ग एवं समुदायकी स्थितियोका उसपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। साथ ही उस व्यक्तिविशेषकी क्रियाओंका भी वहाँके वातावरणपर किसी-न-किसी सीमातक प्रभाव पड़ता ही है। व्यक्ति और समाजका इस प्रकार अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। वह सामाजिक चेतना-प्रवाहसे अपनेको पृथक् रखनेमें सर्वथा असमर्थ होता है।

समाज मानवसमुदायका एक विशाल स्वरूप है। विभिन्न वर्गोंके मनुष्य इसी समाजमें अपनी मानसिक, शारीरिक क्रियाओद्धारा समाजको व्यवस्थित, विकसित एवं गति प्रदान करनेका कार्य सम्पादित करते हैं। मानवकी सहज प्रवृत्ति है—विश्लेषण करना, समीक्षा करना और दूसरोंके भले लगनेवाले कार्योंका अनुसरण करना और अन्तमें तदनुरूप अपने चरित्रका विकास करना। प्रायः देखा जाता है कि प्रतिभावान् बालक बाल्यावस्थासे ही सामाजिक स्थितियोंका सम्यक् अध्ययन करके अपने चरित्रमें उनका समावेश करनेका प्रयास करते हैं। कुसंगतियों एवं संकीर्ण परिधिमें सोचनेवाले बालक विपरीत दिशामें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते जाते हैं। इसका मूलकारण है—स्थीय आन्तरिक संस्कार, समाजकी स्थिति एवं उसमें निवास करनेवाले उत्तरदायी नागरिकोंकी क्रियाएँ। अंग्रेजी साहित्यके सुप्रसिद्ध साहित्यकार विलियम वर्डस्वर्थने बालकोंकी कोमल प्रवृत्तिका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—“Child is the father of man” तात्पर्य ‘बालक सदैव

मनुष्यकी उन क्रियाओंका अनुसरण करता है, जिन्हें समाजमें करते हुए देखता है और वह वैसा ही बनता है।

सदाचारकी प्रवृत्ति सहसा उत्पन्न नहीं होती। यह एक ऐसी निर्मल-शीतल धारा है, जिसका उद्गम मानवकी बाल्यावस्थासे ही सम्भव है। साथ ही समाजकी उस स्थितिसे सम्बन्धित है; जिसमें सत्यवृत्तियोंका निर्माण होता है। यदि कोई यह प्रयास करे कि सदाचारकी विजयिनी पताका मात्र एक दिनमें फहरा दी जा सकती है तो यह अतिरिक्तना है। समाजमें सदाचारका व्यापक प्रभाव हो अथवा सामाजिक चेतना सदाचारके अविच्छिन्न प्रवाहसे निरन्तर आप्लावित रहे—एतदर्थ सम्पूर्ण समुदायको त्याग, परोपकार, सात्त्विकता, अनाविल चिन्तन, विनम्रता एवं सदाशयताका समावेश अपने चरित्रमें करना आवश्यक है। इसी धर्मीपर ऐसे अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं, जिन्होंने अपनी दिव्य वाणी एवं अपने सत्यासोसे अनेक प्रकारके संघर्ष-विरोध सहते हुए भी समाजको सदाचारकी सुदृढ़ नींवपर प्रतिष्ठापित करनेका प्रयास किया है।

पृथ्वीपर जब-जब अनाचार, अत्याचार एवं अधर्म-की अभिवृद्धि होती है, तब-तब एक अद्भुत शक्तिका प्रादुर्भाव होता है, जो इस विप्रम स्थितिपर नियन्त्रण रखती है और मानवताको आपद-मुक्त कर देती है।

सामाजिक चेतनाको किस प्रकार व्यवस्थित किया जाय अथवा मानव-समुदाय किस प्रकारकी प्रवृत्तिका अनुसरण करे, जिससे समाजमें मानवका अस्तित्व सुरक्षित रहे—यह आजकी आवश्यकता है। समाजमें मानवको मानवताका ब्रत किसी भी दशामें भड़ नहीं करना चाहिये, अन्यथा वह अपने पुरातन सिद्धान्तोंके राजमार्गसे च्युत होकर पङ्किल-पथमें चला जायगा।

ऐसी स्थितिमें जीवन एक प्रदृश-चिल बनता ही रह जायगा और सामाजिक अंगठियोंका जो जार उटेगा, सम्भव है, वह सम्पूर्ण मानवताको भी निपल जाय।

सदाचारवा जीवनकी प्रत्येक रांगमे धनिष्ठतम्  
सम्बन्ध है। यदि हम चाहें कि इसकी उपेता करने  
जीवन व्यतीत कर लें तो यह अनि दृष्टर है। गमांगमें  
ही 'परिवार'की स्थिति है। यदि मानव समाजके  
विकासकी बात नहीं सोचता तो कोई आधार नहीं;  
क्योंकि समाजका निष्पान्वं प्रतिशत व्यक्ति भर्त्रप्रयत्न  
'ख'पर केन्द्रित होता है। इस 'ख'में वह ऐसे उग्राम  
परिवार ही समिलित हैं। यदि वह अपने परिवारके  
प्रति चिन्तित होता है तो क्रमशः वह नामांकिका नेतृत्वामे  
जुड़ जाता है। दया, शरण, परोपकार, मानवर्भूति,  
स्नेह-मगता, करणाकी भावनासे सिंपा लोकह—'धर्मर्थव्य  
कुदुम्यकम्'की भावनाकी ओर अप्रमर होता है।  
यदि व्यक्ति केवल अपनी भाँतिका आवश्यकताओंकी  
पूर्तिमें ही प्रतिक्षण दिस रहता है तो उसका जीवन  
पशु-पक्षियोंसे भी निम्नस्तरका है। पशु-पक्षी भी अपने  
बच्चोंके क्षिये अपनन्ध-मगत्व प्रदर्शित करने हैं। ऐसा  
मनुष्य प्रस्तरकी कलोरतम शिल्प है, जो अनगढ़, नीतम्  
एवं उपेक्षित है।

सदाचार मानवका धर्म है। सदाचारका गत्र क्षणिक प्रभाव नहीं है, शास्त्रोमे इमका पारलैकिक महत्व भी बनाया गया है। सदाचार ही मनुष्यको जीवनमें उन्नतिशील सुखी-दुःखी, जय-नामकी स्थिति उत्पन्न करता और जरामरगकी स्थितिसे क्षपर ले जानेका कार्य करता है। सदाचारकी महिमा अनन्त है। भारतीय मनीषियोने सदाचारको सामाजिक चेतनासे विच्छिन्न करना मानवताका विनाश सिद्ध किया है। इस सम्बन्धमें कठिपय उद्धरण कथनकी पुष्टि-हेतु उद्धृत है—

(क) मरान्याग्रह भवनं गोदावः सदापारं हि पापम् ।  
 (ग) अनाग्रह प्राप्तं विद्वानिष्टयं तेऽप्युत्तम् ।  
 (ग) सः ल्याण्णं सम्भवं मनुष्या महात्मया ।  
 तेऽप्युत्तम्यान्वे त्र एवा इति ग्रन्थान्वयः ॥

म ग्रन्थ का यह सर्वोच्च दिवसांका भवानीकृत  
अग्रण विश्वे इत्यत्र नवीनिति या भवाना। इसका  
माना है क्षेत्रद्वय ग्रन्थ के जैसे उपर्युक्त ग्रन्थों के  
तत्त्वविद्या विभासाली उपर्युक्त यही विभासाली  
स्वेच्छामिक विभासाली। माना जाता है कि अस्ति, अन्ति,  
राजनीतिर, मानविकीर और विविध विभासाली विभासालीका  
प्रशान विभासाली विभासाली विभासाली विभासाली है।  
'सर्वभूतालिङ्गरूप' अथवा 'प्रहितालिङ्गरूप' विभासाली  
का प्रेरणालोक भी यह भवाना ही है। अर्थात् भवाना  
परमो भव्यतः, 'सत्यमेव जयति', 'प्रभादेष्व मा भावो'—  
आदि अष्टवर्णीका रसाकर भवाना-रूप ही है। भवाना इस  
साथ उपर्युक्त ग्रन्थ ग्रन्थ ग्रन्थ ग्रन्थ ग्रन्थ है, यह  
यह विर्विद्या विभासाली है।

सरचार्की भवनाता विषयारी प्रसार आनंदक  
है। विभक्ति पार्टीनाम परिवर्तनोंमें इसकी महत्वा  
एवं आवश्यकताको नकला नहीं जा सकता। इन्हीं  
उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी उपेक्षाका  
अधिग्राय है—मानवताका विनाश। मनुष्ण शक्तिपुरुज़  
हैं, वह भनीभृत होकर यजिया विश्वाल समृद्ध द्रव्याएँ  
हैं—जो सरानारको गति प्रदान करता है। इसस्थिरे  
मानव-इकाईकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।  
बूँदसे ही समुद्रकी गति है।

समाजके सदाचारकी स्थापनाका यह मूलमन्त्र है। अपनी अतीतकी मान्यताओंको यदि अक्षुण्ण रखना है, सदाचारकी नींवको सुदृढ़तम करना है तो मानव-मनकी विषम अवस्थाओंका सम्प्रभु अध्ययनकर परिवर्तित समाजके परिवेशमे समाधानोंको खोजना होगा और सदाचारकी प्रतिष्ठा प्रत्येक दशामे करनी पड़ेगी। सदाचार ही विषम परिस्थितियोंमें 'कोमलतम पँखुड़ियो'-को पथमे विभानेका कार्य करेगा। इसकी सम्भावनापर

समाजको भी चिन्तन करना होगा, अन्यथा मात्र वाद-विवादसे अथवा अतीतके स्वप्निल उड़ाहरणोंसे कार्य-सिद्धि असम्भव है। प्राचीन मान्यताओं, सत्प्रयासों एवं उक्षेत्र विचारोंको लेफर आधुनिक सामाजिक स्थितियोंका समन्वय करके ही सदाचारकी स्थितिको बनाये रखा जा सकता है। 'सदाचारका जयघोप' सदा होता रहा है और होता रहेगा—धूत सत्य है—

आचारः परमो धर्मः सर्वशास्त्रानुमोदितः ।  
प्रशस्तश्चापि द्वप्रान्तैर्दिश्याद्विर्वहणी त्रियम् ॥

## दूषित अन्नका प्रभाव

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था। धर्मराज युधिष्ठिर एकक्षत्र सम्राट् हो गये थे। श्रीकृष्ण-चन्द्रकी सम्मतिसे वे महारानी द्रौपदी तथा अपने भाइयोंके साथ युद्धभूमिमें शरशश्यापर पड़े प्राणत्यागके लिये सूर्यके उत्तरायण होनेके प्रतोक्षार्थी धर्मज भीष्मपितामहके समीप आये थे। युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर भीष्मपितामह उन्हें चर्ण, आश्रम तथा राजा-प्रजा आदिके विभिन्न धर्मोंका उपदेश कर रहे थे। यह धर्मोपदेश चल ही रहा था कि महारानी द्रौपदीको हँसी आ गयी।

'वेटी ! तू हँसी क्यों ?' पितामहने उपदेशको वीचमें ही रोककर पूछा।

द्रौपदीने संकुचित होकर कहा—'मुझसे भूल हुई पितामह ! मुझे क्षमा करे ।'

पितामहको इससे संतोष नहीं हुआ। वे बोले—'वेटी ! कोई भी शीलवती कुलवधू भक्त गुरुजनोंके सम्मुख अकारण नहीं हँसती। तू गुणवती है, सुशीला है। तेरी हँसी अकारण नहीं हो सकती। संकोच छोड़कर तू अपने हँसनेका कारण बता ।'

हाथ जोड़कर द्रौपदी बोली—'दादाजी ! यह बहुत ही अभद्रताकी बात है; किंतु आप आज्ञा देते हैं तो कहनी पड़ेगी। आपको आज्ञा मैं टाल नहीं सकती। आप धर्मोपदेश कर रहे थे तो मेरे मनमें यह बात आयी कि 'आज तो आप धर्मकी ऐसी उत्तम व्याख्या कर रहे हैं, किंतु कौरबांकी समाजमें जब दुःशासन मुझे नंगी करने लगा था, तब आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था ! मुझे लगा कि यह धर्मका ज्ञान आपने पीछे सीखा है। मनमें यह बात आते ही मुझे हँसी आ गयी, आप मुझे क्षमा करें ।'

पितामहने शान्तिपूर्वक समझाया—'वेटी ! क्षमा करनेकी कोई बात नहीं है। मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था, परंतु दुर्योगनका अन्यायपूर्ण अन्न खानेसे मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी, इसीसे उस दूतसभामें धर्मका ठीक निर्णय करनेमें असमर्थ हो गया था। परंतु अब अर्जुनके बाणोंके लगानेसे मेरे शरीरका सारा रक्त निकल गया है। दूषित अन्नके बने रक्त शरीरके बाहर निकल जानेके कारण अब मेरी बुद्धि शुद्ध हो गयी है, इससे इस समय मैं धर्मका तत्त्व ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ ।'

## सुशीला नारीकी दिनचर्या

खच्छ रखती हैं, घर-छारको बुहार सदा, धान कूट लेतीं और चाकी भी चलाती हैं । सूत कातती हैं और माखन भी विलोतीं वे, भोजन विशुद्ध निज हाथसे बनाती हैं ॥ करतीं सिलाई सीख डेतीं नित-लालको हैं, करतीं स्वाव्याय निज पतिको जिमानी हैं । आय और व्ययका हिसाब नित्य लिखतीं वे, हरि-गाथा सुनि पुण्य जीवन वितानी हैं ॥

## नारी और सदाचार

( लेखक—श्रीमूलचन्द्रजी गौतम, एम० ए० ( हिंदी, संस्कृत ), वी० एड० )

‘समस्त मानवी सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—यही दो विभाग हैं । पशु, पक्षी भी नर और मादा दो विभागोमें बँटे हैं,—पालत् पशुओंको छोड़कर गेप सभी आयुर्पर्यन्त स्थायीरूपसे साथ-साथ रहते हैं । फिर, इसके पीछे भी सात जन्म एक साथ निभानेकी वात कहते हैं । इसके पीछे कोई कारण है, पर पशु और मनुष्यमें आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी समानता होते हुए भी मनुष्य-बुद्धिके कारण, धर्म एवं ज्ञानशीलताके कारण अंदरसे बहुत कुछ मिश्र है । यही एक कारण है जो मानवके मनमें आचारकी एक आवश्यकता बनकर उत्पन्न होता है, आखिर वह भी तो पशुओंकी तरह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकता है, फिर परिवार, समाज, समूह, देशकी संज्ञाओंकी उसे क्या आवश्यकता है । लेकिन यह आवश्यकता है; क्योंकि मानवकी प्रवृत्ति प्रारम्भमें चाहे जितनी स्वतन्त्र रही हो, वादमें एक आचारसे नियन्त्रित होती रही है ।

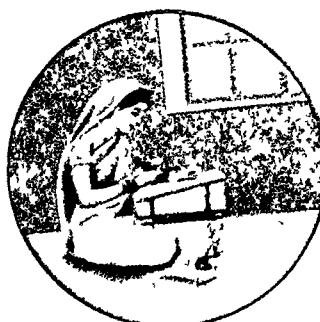
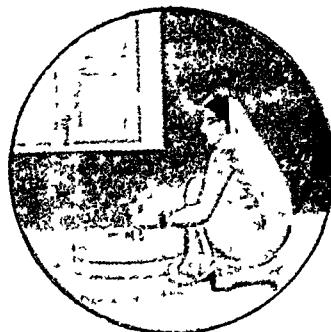
यही सदाचार प्रारम्भसे हमारे ऋषियों, मुनियोंद्वारा प्रर्णात् ग्रन्थोमें, उनके मौखिक प्रवचनोमें अभिव्यक्त होता रहा है । मानवकी आकाङ्क्षा आत्म-विकासके प्रति रहती है । कुछ संकुचित विचारोमें, सीमामें न रहकर वह असीमतक पहुँचना चाहता है, पूर्ण होना चाहता है; अपूर्णना उसे खलती है । इसीलिये- सत्-युगसे ही आचारकी प्रधानता रही है । स्मृतिकारोने इस सदाचारकी धारणाको नियमोका रूप प्रदान किया । इन्हीं

नियमोके आधारपर व्यक्तिकी उत्कृष्टता-निकृष्टताका भी निर्धारण होता रहा है । सदाचारी अन्त्यज भी ब्राह्मण-जैसा सम्मान प्राप्त कर सकता था । दुराचारी ब्राह्मण भी निन्द्य होता था । किसी समाजकी, संस्कृतिकी श्रेष्ठता उसके सदाचारी व्यक्तियों, सदस्योपर निर्भर करती है । आज यदि समाज पतित हो गया है, उसमें नैतिक मूल्योंका अभाव है, भक्ष्याभव्यक्ता प्रचलन हो गया है तो कारण एक ही है कि लोग आचारविहीन हो गये हैं ।

वेदों और यज्ञोंके नामपर समाजमें पशुवलिका प्रचलन हो गया था । वादमें जैनियों एवं वौद्धोंने इसका विरोध किया । यह विरोध उपनिषदोंकी विचारधाराके अनुसार था । ईशोपनिषद्में स्पष्टः कहा गया था कि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।  
सर्वभूतेषु चात्मां ततो न विजुगुप्सते ॥

जो व्यक्ति सभी भूतप्राणियोमें स्वयंको देखता है वह सभी प्राणियोमें अपने आत्माको देखकर किसीसे धृणा नहीं करता । यही धारणा वादमें स्मृतियोमें एक व्यापक सदाचार लेकर उपस्थित हुई थी । इस धारणामें परर्खा-प्रधनके त्यागके साथ समग्र जीव-जगत्के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया । यही आचारका मूलमन्त्र, मूल दृष्टिकोण रहा । इससे वड़ा कोई सदाचार वस्तुतः हो भी नहीं सकता; क्योंकि व्यक्ति अपने साथ सम्मानका व्यवहार चाहता है,





अपने लिये समग्र सुख-सुविधाएँ चाहता है, साथ ही सबको अपने आत्मरूपमें देखता है तो तुरंत दूसरोंकी सेवाके लिये प्रस्तुत हो जाता है, अभेदरूपमें अपनी ही सेवा करता है, दूसरोंको सुख देता है, उनके बारेमें अच्छे विचार रखता है अर्थात् सदाचारके द्वारा आत्माको महत्त्व देता है। यही आत्मभाव विश्वरूपमें परिवर्तित हो जाता है, भेदभाव मिट जाता है; सारा संसार एक कुटुम्ब बन जाता है और फिर इसी सदाचार-से यह भावना उठती है—

सबकी सेवा न परायी, वह अपनी सुख-संस्कृति है। अपना ही अणु-अणु कण-कण, हयन्ता ही तो विस्मृति है॥

( कामायनी )

सदाचारी व्यक्ति केवल अपने परिवारी जनो—माता-पिता, भाई-बहन, पुत्रादितक ही सीमित न रहकर समग्र जगत्के जीवोंके साथ तादात्म्य अनुभव करता है। सारा जगत् उसे सियाराममय दिखायी देने लगता है। सियारामके प्रति जो उसके आदर्श हैं, पूज्य है, ईश्वर है, वह दुराचरण कैसे कर सकता है। वह तो रामके नाते अपने सम्बन्ध निर्धारित करता है, आत्माके नाते सबके सामने विनय, सम्मान और कृतज्ञताके साथ नतमस्तक हो जाता है। अतः हमारे यहाँ सदाचारकी यह भावना विश्वात्मभावकी प्रेरक है। किसीके प्रति द्वेष, ईर्ष्या, कलहकी भावना नहीं रहती। यही कारण है कि सदाचारी व्यक्ति निर्भय, निःशङ्क होता है। वह आत्मोन्नतिके शिखरकी तरफ बढ़ता जाता है और दैवी सम्पदाका अक्षय स्रोत उसकी रक्षा करता है। इधर दूसरी तरफ दुराचारी व्यक्ति सदैव दूसरोंके अपकारमें लगा रहता है, अपने शत्रुओंको नीचा दिखानेको दाँव पेंच लगाता रहता है। उसका हृदय प्रत्येक समय ईर्ष्या, द्वेषकी प्रचण्ड अग्निमें जलता रहता है, शान्ति उसे चाहते हुए भी नहीं मिल पाती; क्योंकि शान्ति सदाचारीके लिये है, कदाचारीके लिये कदापि नहीं।

आज सदाचारका उपदेश तो बहुत होता है, परंतु उसका पालन कुछ भी नहीं किया जाता। इन बातोंसे व्यक्तिका निजका नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक पतन तो होता ही है, समाज भी दुराचारपूर्ण हो जाता है और इसी दुराचारकी समाप्तिके लिये, दुराचारियोंके विनाशके लिये, धर्मकी स्थापनाके लिये श्रीकृष्णका आगमन होता है। दुराचार बढ़ता क्यों है? इसका कारण इतना ही है कि चबनेमें देर लगती ही है गिरनेमें तो क्षणभरकी भी देर नहीं लगती। एक ही दुराचरण ( पाप ) पुण्योंके द्वारके प्रभावको समाप्त कर देता है और यह सामाविकरूपसे ही होता है; क्योंकि मानवकी सहज प्रवृत्ति पापकी ओर ही होती है, पुण्य तो वडे प्रयत्नसे ही हो पाता है। गेदको अगर ढलानके ऊपरी भागसे छोड़ दिया जाय तो वह तुरंत ही सबसे नीचे स्थान-पर पहुँच जायगी; परतु ऊपर चबानेके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा। लेकिन फिर भी तनिक-सा मौका मिलते ही वह नीचे ही आनेका प्रयास करेगी। इसी प्रकार सदाचारका पथ प्रयत्नसाध्य है, श्रमसाध्य है, दुराचारका पथ सहज पतनका गर्त है। गीताके तृतीय अध्यायमें अर्जुनने कृष्णसे यही पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।  
अनिच्छन्नपि वार्ष्ण्यं वलादिव नियोजितः॥

( ३६ )

‘कृष्ण! फिर यह पुरुष वल्पूर्वक लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पापका आचरण करता है?’ और भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुणसे उत्पन्न यह कार्य अतृप्ति काम-भावनाका ही है, इसीके परिणामस्वरूप जीवकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह सदाचार और दुराचारका विवेक नहीं कर सकता। इसी प्रकारका उत्तर दुर्योधनने अन्वर्मसे प्रवृत्ति तथा धर्मकी निवृत्तिके संदर्भमें दिया था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः  
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।  
(प्रपत्नीता)

और यही कारण है कि मानवके लिये मन और इन्द्रियों-के संयमकी वात मीठामें कही गयी है; क्योंकि कर्मन्दियों-को रोककर मनसे कामके विषयका चिन्तन मिथ्याचार है, सदाचार नहीं । अतः सदाचारके लिये सत् प्रवृत्ति, प्रवृत्ति इच्छा-शक्ति, अदम्य साहस और धैर्यकी परम आवश्यकता है ।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि पुरुष और ली ही ही इस समग्र मानवी सुष्ठिमें सदाचारके दृढ़ स्तम्भ है । उनमें एक सदाचारी हो, दूसरा दूराचारी हो तो गाडीका चलना हुःसाथ है, असम्भव है; सदाचारी श्रेष्ठ समाजकी स्थापना भी असम्भव है । अतः समाजमें जगतमें पुरुषों और लियो—दोनोंका उत्तरदायित्व है । वे उत्कृष्ट सदाचारमय समाजकी स्थापनामें, सदाचारका पालन करनेमें योग दें । यदि वे ऐसा न कर स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आचारविहीन हो जाते हैं तो यह उनके पतनका लअण है । इस सदाचारके पालनमें लीका उत्तरदायित्व कुछ अविक है—ऐसा मैं मानता हूँ और इसका भी कारण है । प्रारम्भसे ही कन्याको सदाचार, पातिव्रतधर्म, परिवर्तधर्म, गुरुजनोंकी सेवा आदिकी शिक्षा दी जाती है । इन सबका यदि वह अश्रद्धा: पालन करती है तो इसका प्रभाव आगे आनेवाली संततिपर पड़ता है; क्योंकि उसका मानस एक लम्बे अन्तरालके माँके मानससे, उसके गर्भकालीन चिन्तनसे जुड़ा रहता है । इन्हीं कारणोंसे लियोको गर्भवारणकालसे लेकर वर्षोंके जन्मनक विशेषरूपसे धार्मिक, उत्साहयुक्त, ग्रेमपूर्ण वातावरणमें रखनेका निर्देश शाखोमें दिया गया है । इस प्रकारके वातावरणके विषयीत यदि माको गंडे, अवार्मिक, कलहपूर्ण, अभावमय वातावरणमें रखा जाता है तो संतान भी वैसी ही होती है; क्योंकि उसके आन्तरिक मनके

निर्माणका यही नमय है । जिन गश्तापुरोंने जन्म सार्थक किया है, उसके पीछे रूपें उनकी माताओंकी प्रेरणा, उठात भावना ही विवाह दिव्यायी पदती है । अतः निश्चित है कि सदाचारपूर्ण नमाजका सम्बन्ध उत्तरदायित्व लियोपर निर्भर करता है । यही कारण या कि समाजमें लियोंका सम्मानजनक स्थान बना था । मनुने कहा है—

यत् नार्यस्तु पृज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।  
यत्रैतास्तु न पृज्यन्ते नर्वास्त्रनाशत्वाः कियाः ॥  
(मनुस्मृति ३ । ५६)

‘जहाँ नारियोंका आदर होता है वहाँ सभी देवता निवास करते हैं और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।’

अब राम क्यों पैदा नहीं होने, इमलिये कि, कोई मौ कौमल्या बनना नहीं चाहती, सदाचार निभाना, नहीं चाहती, पनिपरायणा होना नहीं चाहती । हनुमान्, गणेश, कृष्ण, अर्जुनको पैदा करनेके लिये अब कोई माँ तैयार हो जायगी या उन्हें इसी प्रकारके पुत्रोंकी आवश्यकता होगी, यह एक दुरास्त-कल्पना ही है ।

चाहे जो हो, इना सत्य है कि मौ ही बालकका मूलब्रोत है, वह त्रोत जैसा होगा—सदाचार-युक्त या दुराचारयुक्त, उसका जल (बालक) भी वैसा ही होगा । इस तथ्यपर समाजको कोसना व्यर्थ है । अगर पूछा जाय कि सदाचार-धर्म क्या है, तो एक ही उत्तर होगा—ही, सदाचारिणी ही । जिस समाजमें, कुलमें ही सदाचारिणी है, वहाँ अनाचार, व्यभिचार, अधर्म हो नहीं सकता, ऐसी संतान भी नहीं उत्पन्न हो सकती । अतः सारे सदाचारका मूल सदाचारिणी ही है ।

गोस्त्रामी तुलसीदासजीने लियोके सदाचारपर विशेष बल दिया है, उनके पातिव्रतधर्मकी महत्त्वका प्रतिपादन किया है । अनुसूयाद्वारा सीताको दिये गये पातिव्रतधर्मके उपदेशमें इमी सदाचारकी शिक्षा

है। वहाँ पतिपरायणताको ही श्रेष्ठ गुण माना है। गोसामीजीने लिखा है—

एकदृ धर्म एक व्रत नेमा। कायं वचन भन पति पद ग्रेमा॥  
(मानस ३। ४।५)

संसारमें भी सदाचारका ही महत्त्व अधिक है, क्षणिक सुखोंका नहीं। जहाँ खीके लिये परपुरुषको भोग दृष्टिसे देखना पाप है, वहाँ आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये परनारीका ललाट भाद्रशुक्रा चतुर्थीके अशुभ चन्द्रमाके समान पतनकारक है। गोसाइजीकी प्रत्येक नारी-पात्रा—चाहे वह मन्दोदरी हो या त्रिजटा हो—पतिव्रतधर्मका पालन करती है।

निष्कर्ष यह कि सदाचार और धर्म खीके ऊपर निर्भर रहते हैं—ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। खी विशेषरूपसे सदाचारिणी हो, तभी समाजको दोषमुक्त, धर्म तथा सदाचारयुक्त किया जा सकता है और तभी महाराज अश्वपतिके राज्यकी तरह आदर्श राज्य हो सकेगा, जिसमें चोर-मद्यप, स्वैरी-स्वैरिणी

न थे। आजके युगमें आचारके दर्शन विरले स्थानोंपर, विरले व्यक्तियोंमें हो पाते हैं। तीर्थस्थानोंमें भी अनाचार, दुराचार व्याप हैं; समाजमें दुःख, रोग, असंतोष-जैसे दुर्गुण व्याप हैं; क्योंकि व्यक्ति क्षणिक सुखके लिये, भोगके लिये सब तरहका अनाचार करनेको तैयार है। चारों ओर अनाचारका ताण्डव हो रहा है। इसे तभी रोका जा सकता है, जब सभी पुरुष तथा खी सदाचारका उपदेश हृदयसे पालन करे, इन्द्रियसुखको संयमित करके आत्मविकास, आधारिक उन्नतिके पथपर बढ़ें। फिर समाज अपने-आप सुधर जायगा। पशुप्रबृत्ति समाप्त कर मानव मानव होगा। विश्वात्मभाव विकसित होगा, फिर कौन किससे घृणा करेगा, कौन किसे छोगा, धोखा देगा। आवश्यकता है कि हमारी मातापैं सदाचारका पालन करें, अच्छे विचार रखें, इससे संताने भी वैसी ही उत्पन्न होंगी जिससे सदाचारयुक्त स्वस्थ समाजकी स्थापना स्थितः हो सकेगी।

## कदाचारका कुपरिणाम

संसारमें मनुष्य अपने क्षणिक सुखके लिये नाना प्रकारके दुष्कर्म कर डालता है, उसे यह खवर नहीं रहती कि इन दुष्कर्मोंका फल हमें अन्तमें किसी प्रकार भुगतना पड़ेगा। इस जीवनमें जो नाना प्रकारके दुःख हम लोगोंको उठाने पड़ते हैं, वे हमारे पूर्वकर्मोंके ही फल-भोग हैं। यह देह मुख्यतः कर्मका साधन है और यह लोक मुख्यतः कर्मलोक है। इस शरीरके रहते जो भोग प्राप्त होता है, वह कितना ही अधिक होनेपर भी उस भोगसे तो कम ही है, जिस भोगकी पूर्णताके लिये मनुष्यको मृत्युके पश्चात् भोग-देह प्राप्त होता है। यह भोग-देह भी दो प्रकारका है—एक तो वह सूक्ष्म शरीर, जिससे सत्कर्मके फलस्वरूप स्वर्गादि भोग भोग जाता है और दूसरा वह यातनादेह, जिससे दुष्कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारकी नारकीय यन्त्रणाएँ भोगी जाती हैं। मृत्युके पश्चात् तुरंत ही नवीन मनुष्य-

देह नहीं प्राप्त होता। नया देह प्राप्त होनेके पूर्व मनो-मय और प्राणमय देहसे सुकृत-दुष्कृतके सुख अथवा दुःखस्वरूप फल उसे भोगने पड़ते हैं।

सुकृतोंके स्वर्गादि सुखस्वरूप फल हैं, जो इस संसारमें प्राप्त होनेवाले सुखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं और दुष्कृतोंके नरकादि दुःखस्वरूप फल हैं, जो इस जीवनमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं। श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें उन भोगोंके भोगनेके स्थान—नरकोंका वर्णन है। यदि मनुष्यको उन नरकोंकी जानकारी हो तो वह अनेक ऐसे दुष्कर्मोंसे बच सकता है, जिनके अति भीपण परिणामोंकी कल्पना भी अज्ञानके कारण उसे यहाँ नहीं होती।

कुछ लोग तो श्रीमद्भागवत और गरुडादि पुराणोंमें इन नरकोंकी वात पढ़-खुनकर उसे असत्य समझनेमें ही अपनी

बुद्धिमत्ता समझते हैं, जैसे बिल्लीको देखकर कवृतर आँखें मीच लेनेमें ही अपना समाधान समझ बैठता है। परंतु इस तरह आँखें बंद कर लेनेमात्र से न तो कवृतर बिल्लीसे बच पाता है, न हमलेग अपने कर्मोंके भीषण परिणामोंसे बच सकते हैं। कुछ लोग यह भी तर्क करते हैं कि मनुष्य जब मर जाता है, तब उसका शरीर तो यहीं छूट जाता है, फिर इन दुःखोंको भोगता ही कौन है? परंतु थोड़ा विचार करें तो उन्हे यह मालूम होगा कि सुख-दुःख जितने मन और प्राणको होते हैं, उतने शरीरको नहीं होते। मरनेके बाद मनोमय और प्राणमय कोश तो रहते ही हैं, पर्यावरण शरीर छूटनेपर इन्हें आतिवाहिक या यातनादेह भी प्राप्त होते हैं। यातना-शरीर इसको इसीलिये कहते हैं कि यह इस प्रकारके उपाडानोंसे बना होता है जिससे वह यातनाभोग ही करता रहता है। वह जलती हुई आगमें दग्ध होनेपर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ श्रीमद्भागवत निर्दिष्ट नरकोंका विवरण दिया जा रहा है। इसमें मृत्युके पश्चात् नरकोंमें प्राप्त होनेवाली उन भीषण पीड़ाओंका वर्णन है, जो जीवके उस देहको यमदूतोंद्वारा दी जाती हैं—जैसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें गिरना, कोड़ोंकी मारका पड़ना, जलाया जाना, क्षत-विक्षत होना इत्यादि।

ये सब कष्ट जिस शरीरको प्राप्त होते हैं, वही यातनाशरीर है। यह पर्यावरण शरीर जलने, गिरने, मरने, मारे जाने आदिके जो-जो कष्ट अनुभव करता है, वे सब कष्ट यातना-शरीरको भी होते हैं। पर्यावरण शरीरसे इस शरीरमें विशेषता यह है कि पर्यावरण शरीर जलाने आदिसे जल जाता है, अङ्ग-भङ्ग हो जाता है, नष्ट हो जाता है, परंतु यातनाशरीर इन सब कष्टोंको केवल भोगता है, पर्यावरण शरीरकी तरह वह नष्ट नहीं होता। यातनाभोगके लिये ही यह शरीर प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें जिन मुख्य २८ नरकोंका

वर्णन है, उनके नाम, उनके पात्र और उन्हें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

### नरक-अपराधी और दण्ड

(१) तामिस्त—परथन, परस्ती और परपुत्रका हरण करनेवाला मनुष्य काल्पाशसे बाँधा जाकर इस नरकमें ढकेला जाता है। वहाँ उसे भूख-प्यास लगती है, पर खानेपीनेको कुछ नहीं मिलता। दण्ड-ताडन-तर्जनादि बड़ी पीड़ाएँ दी जाती हैं।

(२) अन्धतामिस्त—जो किसी पुरुषको धोग्या देकर उसकी पत्नीके साथ समागम करता है तथा जो इस शरीरको आत्मा और धनको आत्मीय समझकर प्राणियोंसे द्रोहकर केवल अपने ही शरीर, खी, पुत्र और कुतुंबका भरण-पोपण करता है, ऐसे दोनों ही प्रकारके लोग इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ उनकी स्मृति भ्रष्ट और बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

(३) रौरव—निरपराध प्राणियोंकी जो हिंसा करता है, वह इस नरकमें गिरता है, यहाँ वे ही प्राणी महाभयंकर रुरु नामक सर्पसे भी अधिक भयंकर जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

(४) महारौरव—प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर जो अपने शरीरका भरण-पोपण करता है, उसे यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ रुग्ण उसके शरीरको नोच-नोचकर खाते हैं।

(५) कुम्भीपाक—सजीव पशु या पश्चीको मारकर जो उसका मांस रँधता है, वह इस नरकमें गिरकर अपने-आपको जलते हुए तेलके कड़ाहमें सीजता हुआ पाता है।

(६) कालसद्ब्र—पितर, ब्राह्मण और वेद—इनका द्रोही इस नरकमें गिरता है। वहाँ ताँवेकी दस सहस्र योजन विस्तीर्ण समतल भूमि है, जो सदा जला करती है। इस जलती हुई भूमिपर उसे नीचेसे तो अग्नि जलाती है

## मृगतृष्णा



असदाचरण (दुर्गुण - दुराचार) और परिणाम



और ऊपरसे सूर्यकी किरणें। अंदरसे भूख-प्यासकी आग भी सताती है। उसकी व्यथा बड़ी ही भयंकर होती है।

वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है, कभी चारों ओर दौड़ता-फिरता है। मारे हुए पशुओंके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्ष उसे ऐसी यातना भोगनी पड़ती है।

(७) असिपत्रबन—आपत्तिकालके बिना भी स्वेच्छासे जो वेदमार्ग छोड़कर पाखण्डमत ग्रहण करता है, वह असिपत्रबनका भागी होता है। यहाँ यमदूत उसे कोड़ोंसे मारते हैं। उस मारकी यातनासे वह इधर-उधर भागता है, पर असिपत्रोंमें दोनों ओर धार रहता है, इससे उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। अत्यन्त व्याकुल होकर वह वार-वार मूर्छित हो-होकर गिरता है।

(८) सूकरमुख—अदण्डनीय व्यक्तिको अन्यायसे अथवा किसी ब्राह्मणको जो शासक या शासकीय अधिकारी शरीरदण्ड देता है, वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ वह कोल्हमे ईखकी तरह ढबाया जाता है, जिससे उसके सब अङ्ग फूटने लगते हैं। वह आर्त्तखरसे चिछाता और वार-वार मूर्छित होता है।

(९) अन्धकूप—सब जीवोंकी वृत्ति ईश्वरद्वारा नियत है—यह जानकर तथा किसी भी जीवकी वेदनाको समझनेकी क्षमता रखकर जो मच्छर आदि जीवोंको मार डालता है, वह इस नरकमें गिरता है और यहाँ उसके द्वारा मारे गये सब पशु, पक्षी, साँप, मच्छर, ज़ँ, खटमल आदि उससे बदला लेते और काटते हैं। घोर अन्धकारमें उसकी निदा भङ्ग होती है और कहीं चैनसे ठहरनेकी जगह उसे नहीं मिलती, महाक्लेश उसे निरन्तर होते हैं।

(१०) कृमिभोजन—खानेकी चीज सबको न देकर जो आप ही खाता है, जो पञ्च-महायज्ञ आदि नहीं करता, उसे कृषिगण कौपैके समान विषाभोजी कहते हैं और वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ लाखों योजन चौड़ा

एक कृमिकुण्ड है, जिसमें गिरकर वह उन कीड़ोंको खाता है और कीड़े उसे खाते हैं।

(११) संदंश—जो कोई चोरी करता है या वल्पूर्वक ब्राह्मणके सुवर्ण आदि छीनता है अथवा और किसीका भी सुवर्ण हरण करता है, वह यमदूतोंद्वारा नरकमें लाया जाता है एवं अग्निपिण्ड तथा सन्दंशद्वारा उसका शरीर क्षत-विक्षत किया जाता है।

(१२) तपस्सर्मि—जो पुरुष या ली अगम्यागमन करते हैं, वे इस नरकको प्राप्त होकर पुरुष लीकी जलती हुई लोहेकी प्रतिमासे और ली जलते हुए लोहेकी पुरुष-प्रतिमासे लिपटाये जाते हैं।

(१३) वज्रकण्टकशालमली—मनुष्येतर योनियोंमें जो सह्यास करता है, वह इस नरकमें गिरता है और वज्रतुल्य काँटोंवाली शालमलीपर यमदूतोंद्वारा चढ़ाकर घसीटा जाता है।

(१४) वैतरणी—जो शासक अथवा शासनपुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी धर्मको दूषित करता है, वह मरकर वैतरणीमें गिरता है। यह एक नदी है, जो सब नरकोंको धेरे हुए है। इसमें हिंस जल-जन्तु रहते हैं, जो उसे खा जाते हैं; किर भी उसके प्राण नहीं निकलते। वह अपने अधर्मका स्मरण करता हुआ विष्टा, मूत्र, पीव, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेडा, मांस और वसासे परिपूर्ण इस वैतरणीमें वहता रहता और अत्यन्त व्यथित होता है।

(१५) पूयोद—शूद्राके पति होकर जो लोग अपने शौच, आचार और नियमसे पतित होते हैं और वेहया होकर स्वेच्छाचारी बनकर धूमते हैं, वे पीव, विष्टा, इलेष्मा और लारसे भेरे हुए इस पूयोद नामक नरकसमुद्रमें गिरते और इन्हीं वीभत्स पदार्थोंको भक्षण करते हैं।

(१६) प्राणरोध—जो ब्राह्मण कुत्ते और गधे पालते हैं और शिकार करते हैं, वे इस नरकमें गिरकर यमदूतोंके शरसन्धानके लक्ष्य बनते हैं।

(१७) विश्वसन—जो केवल दम्भके लिये यज्ञमें पशु-हिंसा करते हैं, वे इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ यमदूत उन्हें अनेक यातनाएँ देकर उनके अङ्ग चूर-चूर कर डालते हैं।

(१८) लालभक्ष—द्विजकुलमें उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति कामके वश हो सगोत्रा खीमें गमन करता है उसे शुक्रकी नदी रूप इस नरकमें गिरकर शुक्रपान करना पड़ता है।

(१९) सारमेयादन—दस्युवृत्ति करनेवाले और विपपान करनेवाले लोग तथा गाँवों और काफिलोंको लूटनेवाले राजा या राजसैनिक इस नरकमें गिरते और सात सौ बीस कुत्तोंकी वज्रकराल दाढ़ोंसे चबाये जाते हैं।

(२०) अवीचिमान्—जो साक्षी देनेमें झूठ बोलता है, क्रय-विक्रयमें कम तौलता है, दान देते मिथ्या बोलता है, उसे यमदूत सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचे सिर ऊपर पैर कर निरालम्ब, अवीचिमान् नरकमें गिरा देते हैं। यहाँ स्थल भी पापाणपृष्ठस्थ तरंगशून्य जलके समान जान पड़ता है। नीचे गिरनेमें प्राणीका शरीर चूर्ण हो जाता है, पर उसके प्राण नहीं निकलते। इस तरह वार-वार वह वहाँसे उठाकर ऊपर लाया जाता और फिर गिराया जाता है।

(२१) अयःपान—जो द्विज, द्विजपत्नी, व्रती जाने या अनजानेमें मध्यपान करते हैं, उन्हें मरनेपर यमदूत पटक देते हैं और छातीपर वल्लूर्वक पैर देकर आगमें गला हुआ शीशा पिलाते हैं।

(२२) क्षारकर्द्म—खयं अधम होकर भी जो अपनेको बड़ा मानता और मारे घमण्डके अपनेसे जन्म, तप, विद्या, सदाचार, धर्ण और आश्रमसे श्रेष्ठ पुरुषको आदर नहीं देता, उनका निरादर करता है, वह जीवन्मृत मनुष्य 'क्षारकर्द्म' नरकमें गिरता है। वहाँ उसका सिर नीचे हो जाता है और वह अनेक यातनाएँ भोगता है।

(२३) रक्षोगणभोजन—जो लोग अन्य पुरुषोंके प्राण लेकर भैरवादिकी वलि देते हैं और जो ख्याँ मनुष्यों और पशुओंका मांस खाती हैं, वे खी-पुरुष रक्षोगणभोजन नरकमें गिरकर उन्हीं मारे हुए, राखसख्पको प्राप्त पशुओं और पुरुषोंद्वारा खड़गसे काटे जाते हैं और उनके भोजन बनते हैं।

(२४) शूलप्रोत—वन या ग्रामके पशु-पक्षी सभी जीना चाहते हैं, उन्हें जो अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाकर शूल या सूत्रसे अङ्ग छेदकर उड़ाते या यन्त्रणा देते हैं, वे शूलप्रोत नरकमें गिरते हैं। उन्हें यमदूत शूलीपर चढ़ाते हैं और भूख तथा प्यासके मारे उन्हें तड़पना पड़ता है। कंक, बट आदि तीक्ष्ण चौंचवाले पक्षी उन्हें चौंच मार-मारकर जर्जर कर डालते हैं। तब वे अपने अनाचारोंका स्मरण कर पश्चात्ताप भरते हैं।

(२५) दन्दशूक—जो मनुष्य उग्रस्वभाव बनकर प्राणियोंको भयभीत करता है वह मरनेपर दन्दशूक नरकमें गिरता है। वहाँ पञ्चमुख, सप्तमुख विषधर सर्प आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं।

(२६) अवटनिरोध—प्राणियोंको जो अन्धे गढ़े या अन्धे कुर्हे या अँवेरी गुफाओंमें बंद कर देते हैं, वे अवटनिरोधन नरकके भागी होते हैं। वे वैसे ही बंद और अन्वस्थानोंमें कैद होते हैं और वहाँके विप्रमय धुर्णेसे उनका दम धुटा करता है।

(२७) पर्यावर्तन—अतिथि-अन्यागतके आनेपर क्रोधसे लाल-लाल आँखें निकालकर जो मानो अंगारे वरसाता है, वह पर्यावर्तन नरकमें गिरता है। उसके नेत्र वज्रचब्बु कंकादि पक्षियोंद्वारा निकाले जाते हैं।

(२८) सूचीमुख—धनके गर्वसे जो अपनेको श्रेष्ठ समझता है—दूसरोंको वक्त दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंसे अपने धनके विप्रमयसे सरांक रहता है, धन-व्ययकी चिन्तासे सूखता रहता और यक्षकी तरह उसीकी रक्षामें दक्ष रहता है, उसका सदुपयोग या भोग नहीं करता,

वह मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरकर यमदूतोद्वारा सुझयोंसे छेदा जाता और सिया जाता है।

ये अड्डाईस नरक मुख्य हैं। वैसे साधारण नरक तो सहस्रों हैं। जितने प्रकारके दुष्कर्म हो सकते हैं, उतने ही प्रकारके नरक हैं, ऐसा समझा जा सकता है। पर ये अड्डाईस नमूने इस बातका अनुसंधान करनेके लिये काफी हैं कि किसी प्रकारके दुष्कर्मका कैसा फल हो सकता है। कर्म और उसका फल किसी वृक्षके बीज और फलके समान ही हैं।

इनका परस्पर विच्छेद नहीं हो सकता। यातनादेहसे दुष्कर्मोंके फलमोगके पश्चात् नरकसे उद्धार होकर नया जन्म होता है और यह जन्म यदि मनुष्यजन्म है तो पूर्व कर्मोंके शेष फलको इस नवीन शरीरमें भोगते हुए भावी सुधारनेके साधनका अवसर मिलता है। इसलिये शाखोंका सर्वत्र यही उपदेश है कि पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको अपने ही कर्मका फल जानकर इस मनुष्य-शरीरको स्थायी सुख देनेवाले सत्कर्मोंमें लगाना चाहिये।

### शुभाशंसा

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूपकः ।  
सत्याचारसमायुक्तः सतांचारः प्रसीदतु ॥  
यस्य संस्थापनार्थाय काले काले जगद्गुरुः ।  
अजोऽपिसन्नव्ययात्मा चात्मानं सृजति स्वयम् ॥  
रक्षार्थं यस्य धर्मस्य धर्म्याचारस्य सर्वथा ।  
धार्मिकाः संस्कृतिज्ञात्य आर्याः प्राणांश्च तत्यजुः ॥  
सोऽयं पीडितो विष्णो ! सदाचारपराङ्मुखैः ।  
भ्रष्टाचारेण संतसो दुर्वलत्वं गतस्तथा ॥  
सदाचारप्रचारार्थं सर्वभूतहिताय च ।  
विश्वजन्यां मति यच्छु उद्धर्य भनांसि नः ॥  
‘तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।’

वेदो, धर्मशास्त्रों और पुराणोंमें प्रतिपादित चारों वर्णों और चारों आश्रमोंको सुशोभित करनेवाला, सच्चे व्यवहारसे युक्त सज्जनोंका आचरण—सदाचार विश्वमें फैले और फूलेफूले।

जिस मर्यादारूप सदाचारके प्रतिष्ठापनके लिये समय-समयपर भगवान् अजन्मा और अनश्वर होते हुए भी स्वयं अपनेको प्रकट करते हैं, और जिस धर्म और धर्म्याचारकी सब प्रकारसे रक्षा करनेके लिये ही पुराने धार्मिक और सांस्कृतिक ( संस्कारी ) आर्योंगोने अपने प्राणोंका भी त्याग ( वलिदान ) किया, हे विष्णो ! वह ( धर्म सदाचार ) आज सदाचारसे पराङ्मुख हुए लोगों-( और व्यवहारों- ) द्वारा पीड़ित और भ्रष्टाचारसे संतस है। अतः सब प्राणियोंकी भलाईके लिये उस सदाचारके प्रचारार्थ हमें विश्व-कल्याण-कारिणी मति दीजिये और तदर्थ हमारे मनको ऊपर उठाइये। ‘वह हमारा मन मङ्गलमय संकल्पवाला हो—‘तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।’

## क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

कलिका प्रभाव तीव्रतासे बढ़ रहा है। जन-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे अरीति, अनीति, अनाचार, अत्याचार, दुराचार एवं भ्रष्टाचार व्याप्त हो चला है। चारों ओर अनर्थ, अपराव, द्वेष, दुर्भावके काले घने मेघ अन्धकार फैलाते बढ़ते चले जा रहे हैं। सदूच्यवहार, सदाचार और शिष्ठा-शालीनताका प्रकाश धुंधला पड़ता जा रहा है। आज विश्व विविध ताप-संतापों और दुःख-दूँदोंसे संतप्त है। मानवता दिक्खमित है। विश्वकी कल्याणकारिणी व्यवस्था विगड़ती जा रही है। देशकी साधारण जनता, धार्मिकजन, संत-महात्मा, आचार्यगण और मान्य मनीषी इस स्थितिको अवाञ्छनीय एवं चिन्त्य अनुभूत कर रहे हैं। उनका अनुभव-निर्देश है कि संसारमे जबतक सदाचारकी पुनःस्थापना नहीं हो जाती तबतक विश्वमे सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। सदाचारकी उपयोगिता और उपादेयता निर्धाराद है। अपने देश और संस्कृतिके लिये तो वह एकमात्र प्राण-तत्त्व है।

सदाचारके महत्त्वप्रतिपादन, उसकी समसामयिक एवं शाश्वत उपादेयता एवं उपयोगिताको सर्वोपरि स्वीकार करते हुए प्रभुकी कृपा-प्रेरणासे 'कल्याण'ने अपने ५२वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'सदाचार-अङ्क' प्रकाशित करनेका लघु प्रयास किया है। यह जैसा भी वन पड़ा है, कल्याणके प्रेर्मी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इस अङ्कमें जो कुछ भी उपयोगी और अच्छी—सदाचार प्रेरक सामग्रियाँ एकत्र हो सकी हैं, उनका सारा श्रेय हमारे उन पूज्यपाद आचार्यों, संत-महात्माओं और श्रद्धेय मनीषियोंको ही है, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर लोकहितकी दृष्टिसे ऐसी सामग्रियाँ भेजकर हमें सहयोग देनेकी कृपा की है। यह अन्यन्त इतन-हात्मने हृती सभी आंदेरंगीच विद्वान् लक्ष्मक-

महानुभावोंका आभार मानते हैं। उनके सदूचारपूर्ण विचारोंसे 'कल्याण'के लाखों पाठक लाभ उठायेंगे और इससे उन सभी लेखक महानुभावोंको प्रसन्नता भी होगी—ऐसा हमारा विश्वास है। उनकी कृतियोंसे लोगोंको अधिकाधिक प्रेरणा मिले और सदाचारका जन-जनसे प्रचार हो—यही हमारी प्रभुसे मङ्गल-प्रार्थना है।

जिन लेखकोंके लेख हम स्थानाभाव या विलम्बसे आनेके कारण विवशतया विशेषाङ्कमें या यथास्थान प्रकाशित नहीं कर पाये हैं, उन सबसे हम विनीत क्षमाप्रार्थी हैं। हमारी अल्पज्ञताके कारण सामग्रीके चयन, संयोजन, अनुवाद आदि सम्पादन-कार्योंमें अनेक त्रुटियाँ रह सकती हैं, इसी प्रकार मुद्रणमें भी ( अक्षर-संयोजन-प्रफूल्हा, आदि देखनेमें ) असावधानीसे जो भी भूलें रह गयी हैं, उन सबके लिये भी हम सम्मान्य लेखक महानुभावों और पाठक-पाठिकाओंसे क्षमायाचना करते हैं।

इस अङ्कके प्रकाशनसे सदाचारकी हमारी सुस, भव्य भावनाएँ कुछ भी जग सकीं, हम असदाचारकी दिशा बदलकर किंचित् भी सदाचारकी ओर प्रवृत्त हो सकेते यह भगवान्की मङ्गलमयी कृपाका शुभ परिणाम होगा। वस्तुतः इसमें जो कुछ शुभ तथा सत् है—सब भगवान् एवं संतोंका है, जो असत् और प्रमाद है, वह हमारी अल्पज्ञताका है। पूज्यचरण संत-महात्मा, आचार्य, विद्वान्—सभी उनुभाव हमें ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिससे हम सब और हमारा देश-राष्ट्र अपनी संस्कृति और सदाचारका जीवन व्यतीत करते हुए भगवान्के मङ्गलमय स्वरूपको सदा स्मरण रखें। उनकी आज्ञा 'मामनुस्मर युध्य च' के अनुसार खकर्त्तव्योंके यथावत् पालनमें कभी शिथिल न बनें, सर्वदा तत्पर रहें। उँच शान्तिः शान्तिः शान्तिः। विनीत-प्रार्थी—मोतीलाल जालान



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

Icreator of  
hinduism  
server!

